THE

VIDYABHAWAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA

92

INDIAN WISDOM

OR

EXAMPLES

OF THE

RELIGIOUS, PHILOSOPHICAL, AND ETHICAL DOCTRINES OF THE HINDŪS:

WITH A BRIEF HISTORY

OF THE CHIEF DEPARTMENTS OF SANSKṚT LITERATURE

AND SOME ACCOUNT OF THE

PAST AND PRESENT CONDITION OF INDIA,

MORAL AND INTELLECTUAL.

BY

SIR M. MONIER WILLIAMS

BODEN PROFESSOR OF SANSKRIT IN THE UNIVERSITY OF OXFORD

HINDI TRANSLATION

BY

DR. RAMKUMAR RAI

THE

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

1965] VARANASI-1 [Phone : 3076

द्वितीय संस्करण का

आमुख

भारत और भारतीय साहित्य में बढ़ती हुई रुचि के कारण प्रस्तुत ग्रन्थ की इतनी माँग हुई कि प्रथम संस्करण निकालने के प्रायः तत्काल बाद ही एक द्वितीय संस्करण का मुद्रण प्रारम्भ करना आवश्यक हो गया। अतएव मैं उन समीक्षाओं में दिये गये सुझावों का लाभ उठाने में असमर्थ रहा हूँ, जो अब तक निकल चुकी हैं। तथापि, प्रस्तुत संस्करण में कुछ साधारण परिवर्तन किये गये हैं; साथ ही प्रोफेसर डब्ल्यू० डी० ह्विटनी की कृपा से, जिन्होंने मेरे पास बहुमूल्य टिप्पणियाँ भेजने में विलम्ब नहीं किया, मैं पृष्ठ १७४ पर ज्योतिष के अध्याय को परिवर्तित करने में समर्थ हो सका हूँ।

भारत के प्रमुख विद्या-केन्द्रों की यात्रा करने के लिए इंगलैण्ड छोड़ते समय मैं स्पष्ट कारणों से संस्कृत साहित्य के उन अंशों का अधिक पूर्ण विवरण नहीं दे पाया हूँ जिनका केवल एक संक्षेप मैंने व्याख्यान १५ में दिया है।

अपनी सम्पूर्ण अपरिवर्तनीयताओं के साथ-साथ भारत अब शिक्षा की दिशा में ऐसी द्रुत गति से अग्रसर हो रहा है कि ऑक्सफोर्ड के संस्कृत के प्राध्यापक भी, यदि स्वयं को बढ़ते हुए ज्ञान एवं उपलब्धियों के स्तर पर बनाये रखना चाहते हैं तो उन्हें उन कतिपय विशिष्ट देशीय पण्डितों से व्यक्तिगत रूप से सम्पर्क रखना होगा जिनकी प्रतिभा हमारे ऊँचे भारतीय विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में विकसित हुई है और जिन्होंने हमारी सरकार के अधीन उपलब्ध सुविधाओं से विद्या की विभिन्न शाखाओं में वैशिष्ट्य प्राप्त किया है।

इतनी लम्बी यात्रा प्रारम्भ करने में मेरे प्रेरक हैं, बोडेन पद के लिये जो मेरे ऊपर ऋण है उसका विचार, अपने कार्य-क्षेत्र को विस्तृत करने की इच्छा, भारतीय धार्मिक साहित्य के अनेक गूढ अंशों पर जिनका अनुशीलन अब तक योरोपीय विद्वानों ने नहीं किया है विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करने की आकांक्षा, और यह आशा कि लौटने तक मेरा स्वास्थ्य एवं बल सुरक्षित रहेगा, मेरे अपने क्षेत्र में मेरी उपयोगी शक्तियाँ बढ़ी रहेंगी, और मैं इतना समर्थ हुआ रहूँगा कि उससे अधिक योगदान दे सकूँ जितना मैंने अब तक इंगलैण्ड एवं भारत को परस्पर अधिक परिचित कराने के लिए या ऑक्सफोर्ड को भारतीय अध्ययनों का आकर्षक केन्द्र, और उसकी व्याख्यानशालाओं, संग्रहालयों एवं पुस्तकालयों को भारतीय विषयों के ज्ञान का अचूक स्रोत बनाने के लिए किया है।

ऑक्सफोर्ड, अक्तूबर १८७५,

प्रथम संस्करण का

आमुख

प्रस्तुत ग्रन्थ[1] एक ऐसे अभाव को पूरा करने का प्रयत्न करता है, जो बोडेन प्रोफेसर के रूप में प्रायः मुझसे पूछे जाने वाले इस प्रश्न से मेरे मस्तिष्क में बराबर खटकता रहा है कि क्या किसी एक ग्रन्थ से संस्कृत साहित्य के स्वरूप एवं विषयों का एक उत्कृष्ट और सामान्य ज्ञान प्राप्त करना सम्भव है ?

इस पुस्तक के पृष्ठों में एक अन्य ध्येय को भी सिद्ध करने का अभिप्राय रक्खा गया है। इन पृष्ठों में भारत के पवित्र एवं दार्शनिक साहित्य के अंशों के अनुवादों एवं व्याख्याओं के माध्यम से शिक्षित अंग्रेजों को हिन्दुओं के मस्तिष्क, विचार-प्रवृत्ति एवं रीतियों में अन्तर्दृष्टि तथा विश्वास और व्यवहार के एक ऐसे दर्शन का शुद्ध ज्ञान प्रदान करना भी उद्दिष्ट है जो कम से कम तीन सहस्र वर्षों से अबाधित रूप में प्रचलित रहा है और अब भी ईसाई-भिन्न संसार में एक प्रमुख धर्म के रूप में प्रचलित है।[2]

निःसन्देह शिक्षित अंग्रेजों के लिए यह उचित नहीं हो सकता, और न यह सम्भव ही है, कि वे अपने हिन्दू सह-मनुष्यों एवं सह-प्रजाओं की साहित्यिक रचनाओं, विधियों,

---

[1] यह ग्रन्थ मेरे पदेन व्याख्यानों पर आधृत है।

[2] प्रस्तावना पृष्ठ २१ एवं पृष्ठ २ पर दी गई चेतावनी देखिये। यद्यपि योरोपीय राष्ट्रों ने पिछली अट्ठारह शताब्दियों में अपना धर्म परिवर्तित कर दिया है, तथापि हिन्दुओं ने आंशिक अपवादों के अतिरिक्त ऐसा नहीं किया। इस्लाम ने आठवीं एवं उसके बाद की शताब्दियों में कुछ लोगों का तलवार के बल से धर्मपरिवर्तित किया। अन्ततः ईसाई सत्य भी उन्नीसवीं शताब्दी में आगे बढ़ रहा है एवं अपनी नैसर्गिक शक्ति से अपना मार्ग बनाता जा रहा है। किन्तु हिन्दुओं के धार्मिक विश्वास, क्रियाएँ, रीतियाँ एवं विचार-प्रवृत्तियाँ मनु के समय, पाँच सौ वर्ष ई० पू०, से सामान्यतः बिल्कुल परिवर्तित नहीं हुई हैं। निःसन्देह उनमें वृद्धि हुई है, किन्तु उन्हीं वर्ण-व्यवहारों एवं आचार-नियमों (आचार, व्यवहार, देखें पृष्ठ २१७) में से अनेक अब भी प्रचलित हैं। एक भिक्षुक भी कभी-कभी प्राचीन स्मृतिकारों द्वारा विहित शब्दों में ही भिक्षा माँगेगा (भिक्षां देहि, मनु २.२९, कुल्लूक) और आज भी, यदि कोई विद्यार्थी भारतीय पाठशाला में अनुपस्थित होता है तो वह कभी-कभी यह कह कर क्षमा माँगता है कि उसे एक प्रायश्चित करना था (देखिये पृष्ठ १७८, लन्दन ओरिएण्टल कांग्रेस में दिये गये प्रोफेसर स्टेंजलर के भाषण का ट्रूबनर द्वारा प्रस्तुत विवरण—ट्रूबनर्स रिपोर्ट ऑफ प्रोफेसर स्टेंजलर्स स्पीच ऐट दि लन्दन ओरिएण्टल कांग्रेस)।

संस्थाओं, धार्मिक विश्वासों एवं नैतिक उपदेशों से अब भी अधिक अनभिज्ञ बने रहें। पूर्व तथा पश्चिम अब दिनोंदिन परस्पर निकट आते जा रहे हैं और विशेषतः ब्रिटेन-शासित भारत वाष्प, विद्युत, एवं स्वेज नहर द्वारा हमारे इतना निकट आ गया है कि हिन्दू समुदाय की दशा—मानसिक, नैतिक एवं भौतिक—स्वतः ही तथा अनिवार्य रूप से हमारे ध्यान में प्रविष्ट होती जा रही है। अब अज्ञानता के लिए निश्चित आधिकारिक सूचनाओं की कठिनाई का तर्क प्रस्तुत करना उचित नहीं कहा जा सकता। हमारी सरकार ने दीर्घकाल से महारानी के भारतीय राज्यों के अतीत एवं वर्तमान इतिहास पर प्रकाश डालनेवाले प्रत्येक विषय के अन्वेषण में अत्यन्त उत्साहपूर्वक ध्यान दिया है।

सम्पूर्ण भारत का एक साहित्यिक पर्यवेक्षण हाल ही में यह निश्चित करने के लिए किया गया था कि सुररक्षित रखने योग्य कौन सी संस्कृत पाण्डुलिपियाँ सार्वजनिक एवं वैयक्तिक पुस्तकालयों में विद्यमान हैं। इस कार्य में योग्य विद्वान् नियुक्त किये गये हैं एवं जहाँ तक इन लोगों ने प्रगति की वहाँ तक के उनके परिश्रमों का परिणाम प्रकाशित हो चुका है।

साथ ही साथ, मेजर-जनरल ए० कनिङ्घम की देखरेख में एक पुरातत्त्व सम्बन्धी पर्यवेक्षण भी सफलतापूर्वक किया गया है और इसके अत्यन्त रोचक परिणाम उपलब्ध हुए हैं जो चार बडे सचित्र ग्रन्थों के रूप में भारत सरकार द्वारा प्रकाशित एवं वितरित किये गये हैं। इसमें हाल में निकली हुई १८७१–७२ वर्ष की रिपोर्ट है।

एक नृवंशविद्या सम्बन्धी (Ethnological) पर्यवेक्षण भी बंगाल में प्रारम्भ किया गया है तथा विभिन्न आदिम जातियों के चित्रों से युक्त 'डिस्क्रिप्टिव इथनोलॉजी ऑफ बंगाल' नामक कर्नल डाल्टन रचित बृहत् ग्रन्थ १८६२ ई० में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ है। इसके पूर्व सर जार्ज कैम्पबेल ने 'इथनोलॉजी ऑफ इण्डिया', भारतीय नृवंशविद्या का एक बहुमूल्य पथप्रदर्शक ग्रन्थ लिखा था।

एक औद्योगिक (Industrial) पर्यवेक्षण भी डॉ० फोर्ब्स वाट्सन (Dr. Forbes Watson) के योग्य निर्देशन में अंशतः किया जा चुका है, जिनका प्रस्ताव है कि एक नये संग्रहालय एवं भारतीय संस्था का निर्माण कर उसे इण्डिया आफिस से सम्बद्ध किया जाय।

अपरंच, सर जार्ज कैम्पबेल ने अपने बंगाल के शासनकाल में भारत की सभी भाषाओं—आर्य, द्राविडीय एवं आदिम जातीय—के उदाहरणों के तुलनात्मक प्रपत्र निर्मित, मुद्रित एवं प्रकाशित करवाये, जिनकी व्यावहारिक उपयोगिता के विषय में मुझे कुछ कहने की आवश्यकता नहीं।

किन्तु अन्य आधिकारिक प्रकाशन भी प्रत्येक अंग्रेज को, जो उचित प्रमाणों के देखने क कष्ट उठायेगा, अधिक सुलभ हैं।

जिनका प्राच्य ज्ञान का आकाश अब तक नैराश्यपूर्ण ढंग से इस प्रकार मेघाच्छन्न था कि पवित्र भूमि के अतिरिक्त प्रत्येक देश उनकी दृष्टि से ओझल हो गया था, उनके लिए भारत की ओर की दिशा स्वच्छ हो गई है। उन्हें केवल '१८७२–७३ में भारत की नैतिक

एवं भौतिक उन्नति तथा दशा' का विवरण (रिपोर्ट ऑफ दि मॉरल एण्ड मैटीरिअल प्रोग्रेस एण्ड कण्डिशन आफ इण्डिया ड्यूरिङ्ग १८७२-७३) पढ़ना है, जिसे इण्डिया आफिस ने प्रकाशित तथा श्री सी० आर० मर्खम ने सम्पादित किया है। यद्यपि यह अनावश्यक समझा जायगा तथापि मैं यहाँ यह विचार टाँकने की आज्ञा चाहूँगा कि सद्यः उल्लिखित ग्रन्थ शुष्क तथ्यों एवं आँकड़ों के केवल आधिकारिक विवरण जैसे नीले आवरण में रखे जाने की अपेक्षा एक अधिक सुन्दर रूप दिये जाने योग्य है। इसके पृष्ठ हमारे पूर्वी साम्राज्य से सम्बद्ध प्रत्येक—धर्म प्रचार की उन्नति को भी सम्मिलित कर—विषय पर मूल्यवान् सूचनाओं से भरे पडे हैं, एवं सावधानी से खींचे गये जिन मानचित्रों से यह युक्त है, वे अपने आप में एक उच्चकोटि के ज्ञानवर्द्धक अध्ययन हैं। जो किया जा रहा है एवं जो भी करना है उसका जैसा स्पष्टीकरण इस रिपोर्ट में है वह प्रत्येक विचारवान् व्यक्ति को विनत बना सकता है तथा उत्साह प्रदान कर सकता है। किन्तु यतः यह ग्रन्थ सर्वोच्च पदाधिकारियों के वर्ग से उद्भूत हुआ है, अतः यह स्वतः ही हमारे भारत की आवश्यकताओं के ज्ञान में एवं उन्हें पूरा करने के लिए हमारे प्रयत्नों में महान् उन्नति का प्रमाण और उसके निवासियों के कल्याण के लिए हमारे भावी प्रयत्नों का द्योतक है।

यही वात सर जार्ज कैम्पबेल के १८७२-७३ के अन्तर्गत वंगाल में उनके ही शासन पर दिये गये वृहत् विवरण के विषय में भी कहनी चाहिये। यह प्रायः नौ सौ पृष्ठों का अठपेजी आकार का ग्रन्थ है जो रोचक तथा मूल्यवान् सूचनाओं का भण्डार प्रस्तुत करता है।[1]

यह स्थिति भी वहुत महत्त्वपूर्ण एवं प्राच्य तथा पाश्चात्य विचारों और ज्ञान के विनिमय की वृद्धि करने वाली है कि प्रायः 'टाइम्स' समाचार पत्र के प्रत्येक अंक में भारयीय विषयों पर या तो योग्य लेख एवं उसके संवाददाताओं से प्राप्त रोचक पत्र होते हैं अथवा वह बौद्धिक जागरण एव क्षोभ की कोई उपलब्धित अंकित करता है जो अपूर्व रूप में हिमालय पर्वतों से लेकर कन्या-कुमारी तक फैला हुआ है।

पूर्व और पश्चिम में वढते हुए अन्योन्य सम्वन्ध का एक और प्रमुख लक्षण यह है कि आजकल की प्रत्येक मुख्य सामयिक पत्रिका नये वगाल, मद्रास, एवं बम्बई की वार्तो एव

---

[1] एक अन्य अत्यन्त ज्ञानप्रद प्रकाशन, यद्यपि उपरोल्लिखित आधिकारिक विवरणों से भिन्न लक्षणों वाला, एम० गार्सिन डि तास्सी का 'भारत की साहित्यिक दशा का वार्षिक समीक्षण' (Revue Annuelle) है जिसे ये प्रसिद्ध प्राच्यविद्याविद् प्रतिवर्ष कृपा करके मुझे तथा अन्य अनेक विद्वानों को उपहार स्वरूप भेजते हैं। यह हिन्दुस्तानी व्याख्यानों के उद्घाटन के समय प्रतिवर्ष भाषण के रूप में दिया जाता है। यद्यपि इसमें अधिक विशिष्ट रूप से उर्दू एव अन्य भाषाशास्त्रीय अध्ययनों के विकास का विवेचन होता है, तथापि यह वर्तमान में हो रहे बौद्धिक एवं सामाजिक जागरणों तथा शिक्षा एवं ज्ञान की सभी शाखाओं में होनेवाली उन्नति का एक पूर्ण एव विश्वसनीय विवरण प्रस्तुत करता है।

कार्यों—बुद्धिमत्तापूर्ण एवं अबुद्धिमत्तापूर्ण—का अधिकाधिक ध्यान रखने के लिए अपने को वाध्य अनुभव करती है। एक न एक प्रकाशन द्वारा हमारा ध्यान निरन्तर देशीय धार्मिक समाजों—यथा ब्रह्म-समाज, सनातन-धर्म-समाज, धर्म सभा इत्यादि[1]—की ओर अथवा साहित्यिक एवं वैज्ञानिक संघों एवं संस्थाओं के कार्यों की ओर आकृष्ट रहता है। जब कि प्रायः हमें देश-भाषाओं की पत्रिकाओं के[2] या ऐसे मनस्वी हिन्दुओं के भाषणों के अंश भी मिलते हैं जो समय-समय पर भारत का भ्रमण ईसाई धर्म-प्रचारकों के समान नहीं अपितु हिन्दू धर्म का परिष्कार करने एवं भारतीय विचार तथा अनुभूति के स्तर का उत्थान करने का ध्येय रखते हुए एक ऐसे उत्साह के साथ करते हैं जो स्वयं ईसाई धर्म के योग्य है। यह सब प्राच्य विषय में उस उत्साहपूर्ण रुचि का एक निश्चित निर्णायक है, जो अब पश्चिमी देशों की जनता के मस्तिष्क में घर बना रही है।

इंगलैण्ड एवं भारत में बढते हुए वैयक्तिक सम्पर्क के प्रमाणस्वरूप इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य है हमारे मध्य हिन्दुओं एवं मुसलमानों की उपस्थिति। अधिक प्रतिभाशाली एवं प्रबुद्ध देशीय व्यक्तियों में अनेक व्यक्ति वर्ण एवं परम्परा के उन पूर्वाग्रहों को तोडकर, जिन्होंने उन्हें बन्दियों के समान उनकी अपनी भूमि में शृङ्खलाबद्ध कर रखा था, अब हमारे देश की यात्रा करते हैं एवं हमारा, हमारी संस्थाओं, विधियों एवं साहित्य का अध्ययन करने के लिये हमारे विश्वविद्यालयों में भी आते हैं। उनमें से कुछ ने भारतीय कॉलेजों में पहले से ही अंग्रेजी की पूर्ण शिक्षा भी प्राप्त कर ली है। यह भी कहा जाता है कि वे कभी-कभी हमारे बीच हमारी भाषा, हमारे इतिहास, एवं हमारे उच्चकोटि के लेखकों के विषय में स्वयं हम जितना जानते हैं उससे अधिक ज्ञान रखते हुए आते हैं। जो कुछ भी हो, कम से कम इतना स्पष्ट है कि अंग्रेज एवं हिन्दू अन्ततः एक दूसरे की ओर साहचर्य का हाथ बढा रहे हैं तथा इस चेतना के प्रति जागरुक हो रहे हैं कि उनके अपने देशों की विगत एवं वर्त्तमान-बौद्धिक, नैतिक, एवं भौतिक-दशा के अध्ययन के कर्त्तव्य से अब शिक्षित व्यक्ति नहीं बच सकते, चाहे ये पूर्व में हों या पश्चिम में।

---

[1] ये ब्रह्म समाज या भारत में संस्थापित ईश्वरवादी समाज के दो वर्ग प्रतीत होते हैं। एक वेद का आश्रय लेता है एवं हिन्दू धर्म को शुद्ध अद्वैतवाद में लाने का ध्येय रखता है जो वेद में अन्तर्हित है। ये ईश्वरवादी स्वर्गीय राममोहन राय के अनुयायी हैं। दूसरा समाज वेद को अस्वीकार करता है एवं एक स्वतन्त्र, अधिक शुद्ध ईश्वरवाद का प्रतिपादन करता है। इसके वर्तमान नेता केशवचन्द्र सेन हैं।

[2] भारत की क्षेत्रीय भाषाओं की पत्रिकाओं एवं समाचार-पत्रों की संख्या में वृद्धि उल्लेखनीय है, जिनका निर्देशन बडी योग्यता एवं प्रतिभा के साथ देशीय सम्पादक करते हैं। एक उर्दू एवं हिन्दी समाचार-पत्र, जिसका नाम 'मङ्गल-समाचार-पत्र' है तथा जिसे ठाकुर गुरु प्रसाद सिंह बेस्वान में मुद्रित एवं प्रकाशित करते हैं, उनकी कृपा से नियमित रूप से मेरे यहाँ आता है।

वस्तुतः, हमारे मस्तिष्क में यह तथ्य नितान्त बलपूर्वक नही घुसाया जा सकता कि अच्छे कानून बनाये जा सकते हैं, न्याय किया जा सकता है, सम्पत्ति के अधिकार सुरक्षित रक्खे जा सकते हैं, रेल-पथों एवं विद्युत टेलिग्राफों का जाल बिछाया जा सकता है, प्रकृति की विशाल शक्तियाँ जनता के कल्याण के लिये नियन्त्रित एवं नियमित की जा सकती हैं, युद्ध, सक्रामक रोग एवं दुर्भिक्ष की तीन घोर विपत्तियाँ दूर या कम की जा सकती हैं—यह सब कुछ किया जा सकता है—और इससे भी बढ़कर हमारे धर्म के सत्य का धुआँधार उपदेश दिया जा सकता है; बाइबिल के अनुवाद प्रचुर रूप में वितरित किये जा सकते हैं। किन्तु यदि इन सबके होते हुए भी, हम उनके मस्तिष्क एव स्वभाव का अध्ययन करने के कर्त्तव्य की उपेक्षा करते हैं जिन पर हम शासन करना एवं सदैव के लिये प्रभाव छोड़ना चाहते हैं, तो कोई पारस्परिक विश्वास नही प्राप्त किया जा सकता, किसी वास्तविक सहानुभूति का अनुभव नही किया जा सकता, उनकी प्रेरणा नहीं दी जा सकती। इस प्रकार के अध्ययन से अनिवार्यतः प्राप्त होनेवाली सामञ्जस्य की चेतना से समन्वित होकर सभी अंग्रेज—चाहे वे इगलैण्ड में निवास करते हों या भारत में, चाहे पादरी हो या गृहस्थ, ईसाई धर्म एवं उत्तम सरकार के लक्ष्य को विरोधपूर्ण विवादों या गिन्नियों तथा रुपयों के उत्साहहीन दानों की अपेक्षा अधिक योग दे सकते हैं। हमें यह नही भूलना चाहिए कि यह विशाल पूर्वीय साम्राज्य हमारे शासन में राजनीतिक तथा सामाजिक प्रयोगों का स्थान होने के लिए अथवा अपना व्यापार बढाने, अपने को गर्वान्वित अनुभव करने या अपना सम्मान कराने के प्रयोजन के लिए नही सौंपा गया है, अपितु इसलिए कि एक विस्तृत जनसंख्या अनुरंजित, लाभान्वित एवं उत्थापित की जा सके, और ईसाई धर्म के पुनरुद्धारक प्रभाव का इस देश में सर्वत्र प्रसार किया जा सके। तब हमने अपना यह कर्त्तव्य कैसे सम्पन्न किया है? इस समय बहुत कुछ किया जा रहा है; किन्तु जो परिणाम सिद्ध हुये हैं उनका मुख्य रूप से श्रेय ईसाइयों, हिन्दुओं, बौद्धों एव मुसलमानों में अधिक सौहार्द की भावना एवं सद्भाव के विकास को है। इन उत्तम परिणामों के बढने की आशा तभी की जा सकती है जब ईसाई धर्म के विरोधी एवं सम्प्रति भारत, ब्रिटेनशासित बर्मा, तथा लंका में प्रचलित तीन प्रमुख धार्मिक दर्शनों के यथार्थ स्वरूप का परीक्षण प्रत्येक द्वारा पवित्र माने गये लिखित विवरणों के निष्पक्ष अनुशीलन द्वारा किया जाय, जब ईसाई धर्म, ब्राह्मण धर्म, बौद्ध धर्म एवं इस्लाम के बीच सम्बन्ध के विषयों को अधिक महत्व दिया जाय, तथा ईसाई निष्ठापूर्वक हृदय एव आत्मा से, शरीर एव मस्तिष्क से एक यथार्थ दर्शन के प्रचार में अपने को तल्लीन करते समय अधिक निष्पक्षता से अन्धविश्वासों एवं हेत्वाभासों के नीचे दबे हुए सत्य के अंशों का अन्वेषण करने को अग्रसर हों।

ऐसी स्थिति में यह स्मरणीय है कि सस्कृत साहित्य—भारत के धर्म एवं रीतियो में जो कुछ पवित्र है उससे बद्ध, जैसा कि यह सदैव से रहा है—हिन्दुओं के सभी विश्वसनीय ज्ञान का स्रोत है; और यदि अग्रेज भारत की जनसख्या (देखें प्रस्तावना का पृष्ठ १६–२०) में से प्रायः दो सौ लाख (या प्रायः छः भागों में पाँच भाग) के स्वभाव एव मस्तिष्क को समझना चाहते हैं तो उन्हें इस साहित्य की ओर मुडना चाहिए।

संस्कृत साहित्य के कतिपय विभागों का पूर्ण रूप से वर्णन पिछले वर्गों में विविध, योग्य, एवं विश्वस्त विद्वानों ने किया है। असम्बद्ध रचनाओं के सुन्दर अनुवाद एवं अधिक प्रचलित काव्यों के उत्कृष्ट पद्यबद्ध रूपान्तर समय-समय पर योरप में प्रकाशित होते रहे हैं अथवा पत्रिकाओं, समीक्षाओं एव ऐतिहासिक प्रकाशनों में बिखरे पड़े हैं। किन्तु जहाँ तक मैं जानता हूँ अब तक प्रस्तुत ग्रन्थ के समान मध्यम आकार का—सामान्य पाठकों के लिए सुलभ—ग्रन्थ नहीं रहा है जो किसी एक विद्वान् द्वारा अंग्रेजों को, जो आवश्यक रूप से संस्कृतज्ञ नहीं है, वैदिक एवं वैदिकोत्तर संस्कृत साहित्य के मुख्य विभागों की अविच्छिन्न रूप-रेखा प्रदान करने का स्पष्ट ध्येय लेकर अन्य देशों की साहित्यिक रचनाओं के साथ तुलना के लिए उदाहरण रूप में काम देने लिए चुने हुए अंशों के अनुवाद सहित रचा गया हो।

एक अभिनव एव कठिन कार्य को ऐसी शैली में सम्पन्न करने के प्रयत्न में, जो सम्भवतः प्राच्य विद्यार्थियों के लिए उपादेय होते हुए भी सामान्य पाठकों को एवं विशेषतः परिष्कृत मस्तिष्कवाले उन लोगों को बोधगम्य हो, जो प्राच्यदेशीय न होते हुए भी उन विषयों पर जिसकी वे अब उपेक्षा नहीं कर सकते, यथार्थ सूचना प्राप्त करने के इच्छुक हैं। मैंने जिस योजना का अनुसरण किया है वह स्वयं इन व्याख्यानों एव इनसे सम्बद्ध टिप्पणियों के अनुशीलन से पर्याप्त स्पष्ट हो जायगा। मेरे विषय एव ध्येय के सम्बन्ध में भ्रान्ति एव अतिव्याप्त कल्पनाओं का परिहार करने के लिए तथा अन्य विद्वानों के प्रति मेरे आभारों को जानने के लिए पाठकों को टिप्पणी सहित पृष्ठ १–३ तथा टिप्पणी २ सहित पृष्ठ १५ देखना चाहिए। जो कुछ वहाँ कहा गया है उसके साथ मैं इतना और कहूँगा कि यतः वैदिक साहित्य पर अब तक योरप में अनेक विद्वानों ने, एव अमेरिका के प्रोफेसर डब्ल्यू० डी० ह्विटनी एव अन्य लोगों ने बड़ी योग्यतापूर्वक प्रकाश डाला है, अतः मैंने इस विषय के इस भाग का विवेचन यथासम्भव संक्षेप में किया है। अपरंच भारतीय दर्शन सदृश विस्तृत एवं गहन जिज्ञासा-क्षेत्र का मेरा पर्यवेक्षण अनिवार्यतः एक रूपरेखा मात्र है। अन्य योरोपीय विद्वानों के साथ मैं डॉ० फ़िट्ज़-एडवर्ड हाल का उनके संस्कृत साहित्य के इस एवं अन्य विभागों में योगदानों के लिये और विशेषतः उनके 'नेहेमिअह्' नीलकण्ठ के 'हिन्दू दार्शनिक मतों का तार्किक खण्डन' (रैशनल रिफ्यूटेशन ऑफ दि हिन्दू फिलसॉफिकल सिस्टम्स) के लिये बहुत ऋणी हूँ।

मुझे यह बता देना चाहिये कि यद्यपि प्रस्तुतः ग्रन्थ को स्वतः पूर्ण बनाने का ध्येय रखा गया है तथापि मैं साहित्य के परवर्ती भाग में से कुछ को इसके बाद की व्याख्यानमाला में पूर्णरूप में विवेचित करने के लिये सुरक्षित रख छोडने को बाध्य हो गया हूँ।

यह सम्भव है कि कुछ अंग्रेज पाठकों ने भारतीय विषयों पर इतना अल्प ध्यान दिया हो कि इन पृष्ठों का अनुशीलन करने के पूर्व उन्हें अन्य प्रारम्भिक व्याख्याओं की आवश्यकता पड़े। उनके लाभ के लिये मैंने एक प्रस्तावना लिख दी है जो मुझे आशा है सभी के लिये पर्याप्त रूप से मार्ग प्रशस्त कर देगी।

अन्ततः मै भारत की सरकारों को, जो संरक्षण एवं आश्रय उन्होंने मेरे परिश्रमों को प्रदान किया है उनके लिये, सम्मानपूर्वक धन्यवाद देने का कृतज्ञतापूर्ण कर्तव्य पूरा करता हूँ। एडिनबर्ग के डा० जान म्यूर एवं कैम्ब्रिज के प्रोफेसर ई० बी० कोवेल—इन दो विद्वानों के प्रति भी, वर्तमान व्याख्यानमाला के प्रूफ संशोधन के लिये ऋणी हूँ। तथापि, मेरे द्वारा प्रतिपादित किसी अभिनव मत के लिये इन विद्वानों को उत्तरदायी नहीं समझना चाहिये। कई स्थलों पर अनेक वक्तव्यों को उनके परामर्श के अनुसार परिमार्जित किया है, तथापि कुछ विषयों में अपने अनुसन्धानों की वैयक्तिकता सरक्षित रखने के ध्येय से मैंने अपना एक स्वतन्त्र मार्ग अपनाना ही श्रेयस्कर समझा है। योरप एवं भारत के विद्वान् प्राच्यविद्याविद्, जो इस कार्य को, जिसमें मैंने हाथ लगाया है, कठिनाई को यथार्थतः समझने में समर्थ हैं, मेरे दोषों पर उदार दृष्टि डालेंगे। जिस प्रकार मैं उनकी आलोचनाओं का कृतज्ञतापूर्वक स्वागत करूँगा, उसी प्रकार मैं उनसे प्रोत्साहन की भी आशा रखूँगा, क्योंकि प्रायः मैं अपनी गवेषणाओं में आगे बढ़ता गया हूँ और जब मैंने अपने सम्मुख एक स्पष्टतः निःसीम अन्तरिक्ष को उद्घाटित होते पाया तो मैंने अपने को एक ऐसे मूर्ख व्यक्ति जैसा अनुभव किया है जो एक दुर्बल और क्षुद्र नौका में दुस्तर समुद्र को पार करने का प्रयत्न करता है और इस प्रकार महान् संस्कृत कवि की प्रसिद्ध उक्ति को अपने ही ऊपर घटित किया है :—

तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥

ऑक्सफोर्ड, मई १८७५

विषय-सूची

प्रस्तावना

इस प्रस्तावना[1] में मैं पहले यह स्पष्ट करने का प्रयत्न करूँगा कि किस प्रकार हिन्दू जाति के विचारों एवं व्यवहारों का यथोचित ज्ञान प्राप्त करने के लिए संस्कृत साहित्य ही एकमात्र कुञ्जी है। दूसरे यह दर्शाने का प्रयत्न करूँगा कि किस प्रकार इस समय विश्व में ईसाई धर्म से टक्कर लेने वाले तीन बड़े धार्मिक दर्शनों—ब्राह्मणधर्म, बौद्धधर्म एवं इस्लाम—के अध्ययन के दृष्टिकोण से भारत पर हमारा आधिपत्य विशिष्ट उत्तरदायित्वों एवं अवसरों से संयुक्त है।

विषय को स्पष्ट करने के लिये हम अत्यन्त संक्षेप में उस महान देश के विगत एवं वर्तमान इतिहास का अवलोकन कर लें, जिसकी बढ़ती हुई जनसंख्या शनैः शनैः पिछले अथवा दो सौ पचास वर्षों में या तो हमारे आधिपत्य में चली आयी या प्रायः हमारी इच्छा के विरुद्ध हमारे संरक्षण में रहने को बाध्य कर दी गई।

'इण्डिया' नाम हिन्दू शब्द के ग्रीक एवं रोमन रूपान्तरों से व्युत्पन्न है, जिसका प्रयोग पारसी लोग अपने आर्य बन्धुओं के लिये करते थे, क्योंकि आर्य सिन्धु (जिसका उच्चारण वे 'हिन्धु' करते थे और जिसे अब 'इण्डस' कहते हैं) की धाराओं[2] के चारों ओर के जनपदों में बस गये थे। ग्रीस के निवासियों ने, जिन्होंने संभवतः भारत के विषय में अपनी प्रथम धारणायें पारसियों से प्राप्त की थीं, कठोर महाप्राण को मृदु में परिवर्तित कर दिया और हिन्दुओं का नाम 'इण्डो' रक्खा (हेरोडोटस ४-४४, ५-३)। हिन्दू आर्यों का गंगा के मैदानों में विस्तार हो चुकने के बाद पारसियों ने पंजाब और बनारस के बीच के सम्पूर्ण क्षेत्र का हिन्दूस्तान या 'हिन्दुओं का घर' नाम रक्खा और

---

[1] इस प्रस्तावना में दिये गये विवरण के कुछ असम्बद्ध अंश 'दि स्टडी ऑफ संस्कृत इन रिलेशन टु मिशनरी वर्क इन इण्डिया' विषयक उस व्याख्यान में समाहित हैं, जो मैंने १९ अप्रैल १८६१ को दिया था और जिसे मेसर्स विलिअम्स एण्ड नोर्गेट ने प्रकाशित किया है। यह व्याख्यान अब भी प्राप्य है।

[2] सात नदियों (सप्त सिन्धवः) का, मुख्य नदी एवं सरस्वती के साथ पजाब की पाँच नदियों को गिनाकर उल्लेख किया गया है। प्राचीन फारसी या जण्ड में हमें 'हप्तहेन्दु' नाम मिलता है। यह सुविदित है कि एक ही वस्तु के नामों का परस्पर संबद्ध जातियों द्वारा उच्चारण किये जाने पर प्रारम्भिक 'स्' और 'ह्' में एक सामान्य ध्वनिविषयक परिवृत्ति घटित होती है।

यही नाम वर्तमान समय में भारत में, विशेषतः मुसलमान जनसंख्या द्वारा प्रयुक्त किया जाता है[1]। तथापि इण्डिया के लिये लौकिक नाम, जैसा कि सामान्यतः संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त होता है और सम्पूर्ण संस्कृत भाषी समाज द्वारा, विशेषतः बंगाल और दखन में मान्य है, भारत या भारतवर्ष है: अर्थात् उस 'राजा भरत[2] का देश', जिसने प्राचीन समय में एक विस्तृत भूभाग पर शासन किया होगा।

निःसन्देह ऐसी कल्पना नहीं की जायगी कि हमारे पूर्वी साम्राज्य में हमें साधारण मनुष्य जातियों से व्यवहार रखना होता है। हम वहाँ ऐसी असभ्य जातियों के संपर्क में नहीं आते जो योरोपीयों की उत्कृष्ट शक्ति एवं प्रतिभा के सम्मुख विनीत हो सकें, प्रत्युत हम ऐसे महान् एवं प्राचीन लोगों के बीच जा पहुँचते हैं, जो कुछ तो हमारे ही कुल में अपने उद्भव के चिह्न ढूंढ़ते हुए उस समय सभ्यता के एक ऊँचे पद पर आसीन हुए जब हमारे पूर्वज असभ्य थे, और जिनके पास अंग्रेजी का नाममात्र का भी अस्तित्व होने के शताब्दियों पूर्व एक परिष्कृत भाषा, एक संवर्द्धित साहित्य, और दर्शन की दुर्बोध पद्धतियाँ वर्तमान थीं।

१८७२ ई० की जनगणना के अनुसार भारत की जनसंख्या कम से कम २४० लाख[3] होती है। मनुष्यों का इतना विशाल संघात, निःसन्देह एक

---

[1] हिन्दूस्तान नाम उचित रूप से सतलज और बनारस के बीच के क्षेत्र का है। इसका विस्तार कभी-कभी नर्मदा और महानदी नदियों तक भी माना जाता है परन्तु बंगाल या दखन तक नहीं।

[2] हिमालय और विन्ध्यपर्वतों के बीच के सम्पूर्ण क्षेत्र के लिए मनु (२. २२) द्वारा प्रयुक्त नाम आर्यावर्त या 'आर्यों का निवास' है और यह भी भारत के उस भाग के लिए लौकिक अभिधान है। संस्कृत काव्य में पाया जानेवाला भारतवर्ष का दूसरा नाम जम्बू-द्वीप है (देखिए पृ० ४०९)। बौद्ध रचनाओं में यह भारत के लिए प्रयुक्त है। वस्तुतः यह सम्पूर्ण पृथ्वी के लिए काव्यीय नाम है (देखिए पृ० ४०९) जिसका भारत एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाग समझा जाता था। ऋग्वेद १. ९६. ३ में 'भारत' का अर्थ 'धारक', 'पोषक' हो सकता है और भारतवर्ष संभवतः 'पोषण करने वाली भूमि' का अर्थ दे सकता है।

[3] इनमें से लगभग २७ लाख देशीय राज्यों के हैं। अकेले बंगाल प्रान्त में यह संख्या १८७१-७२ की जनगणना के अनुसार ६८,५६,८५९ होती है जो किसी भी पूर्व के अनुमान से बहुत अधिक है। इनमें केवल १९,८५७ योरोपीय हैं एवं १०,२७९ यूरेशियाई। इसके विस्तारों का एक नितान्त विशद एवं रोचक विवरण सर जार्ज कैम्पबेल ने अपने बंगाल एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट में दिया है। यह अब तक की गई जनगणनाओं में प्रथम वास्तविक जनगणना है। १७८७ में सर विलिअम्स जोन्स ने सोचा कि बंगाल,

राष्ट्र नहीं। योरोप की भाँति भारत भी प्रायः एक महाद्वीप है। अत्यन्त प्राचीन काल से इसके वैभव ने एशिया और योरोप के विविध एवं क्रमागत देशान्तराधिवासियों तथा आक्रमणकारियों को आकृष्ट किया है। इसके निवासी उतने ही एक दूसरे से भिन्न हैं जितनी विभिन्न महाद्वीपीय जातियाँ, और ये उनके समान ही भिन्न भाषाएँ भी बोलती हैं।

हम पहले उन आदिम असभ्य जातियों को पाते हैं जिन्होंने मध्येशिया और टार्टरी (Tartary) तथा तिब्बत के समतल मैदानों से निकलकर क्रमिक अभिप्रयाणों द्वारा भारत में प्रवेश किया[1]।

तब वह महान् हिन्दू जाती आती है, जो मूलतः उस आदिम परिवार की

बिहार, उड़ीसा (बनारस को भी मिलाकर) की जनसंख्या २,४०,००,००० थी; कोलब्रूक ने १८०२ में इसे ३,००,००,००० तक बताया; १८४४ में इसका अनुमान ३१,००,००० किया गया और पिछले वर्षों में इसे लगभग ४० या ४१ लाख माना गया है। अब यह पाया गया है कि बंगाल का अन्न उत्पादन करनेवाला क्षेत्र प्रतिवर्ग मील पर इंगलैण्ड के ४२३ और यूनाइटेड किंगडम के २६२ की तुलना में ६५० प्राणियों का है। तीन प्रेसिडेन्सी नगरों में बम्बई (देशवासी जिसे मुम्बई कहते हैं) के लिए ६,४४,४०५ निवासी, कलकत्ता (कालिकाता) के लिए ४,४७,६०० और मद्रास (शेन्न-पत्तनम्) के लिए ३,९७,५२२; किन्तु बम्बई के उपनगरों की गणना करने पर यह साम्राज्य में लन्दन के बाद दूसरा नगर ठहरता है। यदि ऐसा कलकत्ता और मद्रास के विषय में भी किया गया होता तो कलकत्ता की संख्या (सर जी० कैम्पबेल की रिपोर्ट के अनुसार) ८,९२,४२९ होती और यह तीनों शहरों में सबसे बड़ा होता। भारत में प्रायः प्रत्येक व्यक्ति नियमतः और निःसन्देह एक धार्मिक कर्त्तव्य के रूप में विवाह करता है (देखिए इस ग्रंथ का पृ० २३६)। कोई बच्चा सर्दी और बाहर रहने से नही मरता। जैसे ही बच्चा माँ का दूध छोडता है, चावल खाने लगता है, दो या तीन वर्ष तक नंगे रहता है और किसी प्रकार के देखभाल की आवश्यकता नही रखता। जनसंख्या की परिणामभूत वृद्धि शीघ्र ही गम्भीर चिन्ता का विषय उपस्थित कर देगी। हिन्दू पूर्णतः स्थान छोडने के विरोधी हैं। पहले जनसख्या का विनाश करने वाली तीन बडी शक्तियाँ थीं—युद्ध, अकाल और महामारी—जिन्हें कुछ लोग धरती की उत्पादन शक्तियों एव इनसे पोषित होने वाले व्यक्तियों की सख्या के बीच सन्तुलन बनाये रखने के लिए ईश्वरेच्छया विद्यमान रहने वाली विपत्तियाँ मानते हैं। प्रसन्नता की बात है कि भारत में हमारे शासन ने इन उत्पातों को कम कर दिया है किन्तु जनसंख्या की अतिवृद्धि के लिए पर्याप्त अवरोधक हमें कहाँ मिलेगा ?

[1] पिछली जनगणना के अनुसार ये आदिम जातियाँ भारत की संपूर्ण जनसख्या में १,४२,३८,१९८ हैं। इनके विवरण के लिए इस ग्रन्थ का पृ० २०३ टि० २ और पृ० २२७ टि० २ देखिए।

सदस्य है जिसने स्वयं को आर्य या सभ्य कहा और जो ऐसी भाषा बोलती थी जो एशिया में संस्कृत, प्राकृत, ज़ण्ड, फारसी, एवं आर्मीनयन, तथा यूरोप में हेल्लेनिक, इटालिक, केल्टिक, टयूटनिक एवं स्लावोनिक भाषाओं का सामान्य स्रोत है। आदिम जातियों से परवर्ती समय में, परन्तु उन्हीं के समान मध्ये-शिया के समतल मैदानों के किसी भाग—संभवतः बखारा के पड़ोस में ओक्सस के स्रोतों के चारों ओर के क्षेत्र—से चलकर वे लोग भिन्न जातियों में विभक्त हो गये और योरोप, फारस और भारत में बस गये। हिन्दू आर्य अपने परिवार की पारसी शाखा से पृथक् होकर पंजाब में एवं पवित्र सरस्वती नदी के निकट बस गये। वहाँ से इन्होंने गंगा के मैदानों को पार किया और सम्पूर्ण मध्य भारत पर अधिकार करते हुए, मूल निवासियों के साथ घुलते-मिलते, उन्हें आर्य बनाते और अवरोध उत्पन्न करने वालों को दक्षिण की ओर या पहाड़ियों की ओर खदेड़ते हुए आर्यावर्त कहलाने वाले सम्पूर्ण क्षेत्र में फैल गये। (देखिये पृ० १७, टि० १) किन्तु महान् आर्यजाति द्वारा आक्रान्त होने के बाद भी भारत प्रत्येक आक्रमणकारी के चंगुल में सरलता से आता प्रतीत होता है। हेरोडोटस (४-४४) निश्चित रूप से यह बताता है कि इसे डेरियस हिस्टास्पीज़ (Darius Hystaspes) ने पराभूत किया। यह विजय, यदि कभी हुई हो तो बहुत एकपक्षीय रही होगी। ३२७ ई० पू० के लगभग सिकन्दर महान् का इण्डस नदी के किनारों पर आक्रमण एक सुविदित तथ्य है। भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग एवं पाँच नदियों के क्षेत्र के सम्बन्ध में, जिनके नीचे जलयानों में यूनानी टुकड़ियों का संचालन निअर्कस (Nearchus) ने किया था, प्रथम प्रामाणिक सूचना योरोपीयों को इस आक्रमण से ही प्राप्त हुई। सेल्यूकस निकाटोर (Seleukos Nikator) के राजदूत, मेगास्थनीज, ने पलिबोथ्र (देखिए टिप्पणी, पृ० २२२) में अपने दीर्घकालीन प्रवास के बीच और विवरण एकत्र किये जिनसे स्ट्राबो (देखिए पृ० २७२, टि०), प्लिनी, अरिअन और अन्य व्यक्तियों ने लाभ उठाया। दूसरे देशान्तराधिवासी, जो एक दीर्घ कालावच्छेद के उपरान्त इस स्थल पर आते हैं, पारसी लोग हैं। पारसियों की यह छोटी शाखा (जो अब भी, पिछली जनगणना के अनुसार संख्या में सत्तर हज़ार से अधिक नहीं थी) अपने मूलदेश से सातवीं शताब्दी में खलीफा उमर के नेतृत्व में विजय करनेवाले मुहम्मद के अनुयायियों द्वारा बहिष्कृत कर दी गई थी। फारस के प्राचीन धर्म पूजा, अर्थात् सर्वोच्च सत्ता की अग्नि के प्रतीक-रूप में पूजा—पर टिके रहकर और अपने साथ अपने पैगम्बर जोरोस्तर (देखिए पृ० ६) का जण्ड-अवेस्ता नाम का अपना धार्मिक ग्रन्थ साथ लिए ये लोग लगभग ११०० वर्ष पहले सूरत के आस पास बस गये और बड़े

व्यापारी तथा जलयान निर्माता बने।[1] दो या तीन शताब्दियों तक हम इनके इतिहास के विषय में कुछ नहीं जानते। इण्डो-आर्मेनियन[2] लोगों की भाँति किसी भी सीमा तक इनकी वृद्धि नहीं हुई और न ये हिन्दू जनसंख्या के साथ घुल मिल ही सके; परन्तु ये अपनी उन व्यस्त क्रियाशील वृत्तियों के कारण ध्यानार्ह हैं जिनमें ये योरोपीयों के साथ प्रतिद्वन्द्विता रखते हैं।

तदुपरान्त मुहम्मद के अनुयायी (अरब, तुर्क, अफगान, मुगल, और पर्शियन) आये, जिन्होंने विभिन्न समयों[3] में भारत में प्रवेश किया। यद्यपि ये

---

[1] पारसी पहले फारस में यज्द में बसे हुए प्रतीत होते हैं, जहाँ उनमें से कुछ अब भी विद्यमान हैं। जण्ड-अवस्ता में निम्न विषय हैं: १. पाँच गाथायें, अथवा गीत एवं प्रार्थनाएँ (छन्द में वैदिक प्रार्थनाओं से मिलती-जुलती), मात्र जो स्वयं जोरोस्तर की रचना समझी जाती हैं और जो दो विभाषाओं (जिन दोनों में से पुरानी को हॉग ने गाथा कहा है) में लिखित यज्न Yazna (अथवा यज्न = यज्ञ) के अंश हैं; २. वेन्दिदद (Vendidad) या विधिसंहिता; ३. यष्ट, जिनमें सूर्य एवं अन्य देवताओं के लिए प्रार्थनायें हैं। विस्परद (Visparad) नाम का एक दूसरा अंश भी प्रार्थनाओं का संग्रह है। पेशोतून दस्तूर बहरामजी सुन्जन अपने दिनकर्द (Dinkard) (हाल ही में बम्बई में प्रकाशित एवं जोरोस्तर के जीवन और जोरोस्तर धर्म के इतिहास से युक्त एक प्राचीन पहलवी ग्रन्थ) की एक टिप्पणी में हमें सूचित करते हैं कि अवस्ता के तीन भाग हैं: १. गाथा; २. दाते (Date) और ३. मथ्रे (Mathre)। १. छन्द में है और अदृश्य जगत् का विवेचन करता है; २. गद्य में है और आचार के नियम प्रस्तुत करता हैं; ३. इसमें प्रार्थनाएँ एवं उपदेश तथा सृष्टिरचना के विवरण हैं। हिन्दू और जोरोस्ट्रियन दर्शन स्पष्टतः एक ही स्रोत से उत्पन्न हुए हैं। अग्नि और सूर्य दोनों में ही पूज्य हैं; किन्तु जोरोस्तर (वस्तुतः जरथुस्त्र स्पितम) ने यह शिक्षा दी कि परमात्मा ने दो अवर प्राणियों की सृष्टि की—ओरमज्द (अहुर-मज्द) अर्थात् कल्याणकारी शक्ति और अरिमन अर्थात् दुष्ट आत्माएँ। इनमें पहली दूसरी का नाश करेंगी। यह द्वैत का सिद्धान्त वेद के लिए अप्रकृत है।

[2] भारत के आर्मेनियन लोगों का स्थान पारसियों के समान ही है, किन्तु उनकी संख्या उनसे अल्प है (प्रायः पाँच हजार)। वे अधिक बिखरे हुए हैं और अपने मूल देश से अधिक आवागमन का संबन्ध रखते हैं। प्रायः नये आते रहते हैं परन्तु उनमें से कुछ भारत में शताब्दियों से रहते चले आ रहे हैं और श्यामवर्ण के हैं। बहुधा वे व्यापारी एवं साहूकार होते हैं तथा ईसाई होने से सामान्यतः योरोपीय वेश-भूषा धारण करते हैं। उन्हें पूर्वी चर्च का यहूदी (Jews) कहा जा सकता है, क्योंकि यद्यपि वे बिखरे हुए हैं तथापि वे साथ-साथ रहते एवं एक दूसरे का भरण-पोषण करते हैं। कलकत्ता में उनका एक बड़ा चर्च और व्याकरण की पाठशाला भी है। उनके पवित्र ग्रन्थ प्राचीन आर्मेनियाई भाषा में लिखे हुए हैं। दो आधुनिक बोलियों में अरारात के दक्षिण-पूर्व में पारसी-आर्मेनियाई लोगों द्वारा बोली जाने वाली विभाषा इण्डो-आर्मेनियाई लोगों में बहुप्रचलित है।

[3] मुहम्मद के उत्तराधिकारियों ने प्रायः एक सौ वर्षों तक दमास्कस में निवास करने

अब सम्पूर्ण जनसंख्या के प्रायः षष्ठांश (या, पिछली जनगणना के अनुसार लगभग इकतालिस लाख) हैं। इनमें से अधिकांश इस्लाम धर्म स्वीकार करने वाले हिन्दुओं के वंशज समझे जाते हैं।[1] राजनीतिक दृष्टि से तो ये

के बाद ७५० में बगदाद में अपनी राजधानी बनायी और वहाँ से उनकी शक्ति अफगानिस्तान के भीतर फैल गई। फिर भी अरब वाले भारत में अस्थायी स्थिति के अतिरिक्त कुछ और न प्राप्त कर सके। ७११ में खलीफ वलीद प्रथम के अधीन मुहम्मद कासिम एक सेना का नेता बनाकर सिन्ध भेजा गया था, किन्तु ७५० में मुसलमान देश से बाहर खदेड दिये गये और ढाई शताब्दियों तक भारत पश्चिम से आने वाले आक्रमण कारियों से अदूषित रहा। ९५० वर्ष के आस पास जब एशिया में अरबों के राज्य का ह्रास होने लगा, तो तारतारों की क्रूर जातियों को, जो तुर्क नाम से ख्यात थी (वह ओट्टोमन (Ottoman) जाति नहीं जिसने आगे चलकर योरोप में आधार बना लिया, अपितु, अल्ताई पहाडों से आए हुए कबीले) खलीफाओं ने अपनी पौरुषहीन सेनाओं में शक्ति प्रवाहित करने के लिए नियुक्त किया। ये जातियाँ मुहम्मद की अनुयायी बन गईं और शनैः शनैः इन्होंने सत्ता भी अपने हाथों में ले ली। अफगानिस्तान के प्रान्त में सवक्तगीन ने, जो कभी केवल एक तुर्की दास था, शासन का अपहरण कर लिया। उसके पुत्र महमूद ने अफगानिस्तान के अन्तर्गत गज़नी में अपना साम्राज्य स्थापित किया और भारत पर अपने तेरह आक्रमणों में से पहला आक्रमण १००० सन् में किया। तेरहवीं शताब्दी में मंगोल या मुगल कबीलों ने विख्यात चंगेज़ खाँ के नेतृत्व में तुर्की या तातर जातियों को पराभूत कर दिया और १३९८ में तिमूर ने तातरों एवं मंगोलों की एक सम्मिलित सेना बनाकर भारत पर अपना सुप्रसिद्ध आक्रमण किया। देश का विध्वंस करके वह लौट गया, किन्तु उसके वंश में उसके बाद छठें शासक बाबेर (बाबर) ने अफगानिस्तान को जीता और वहाँ से १५२६ में भारत पर आक्रमण करके उसने मुगल साम्राज्य की स्थापना की, जिसे १५५६ में उसके पौत्र (हुमायूँ के पुत्र) अकबर ने एक दृढ़ नींव पर संस्थापित किया। एक बहुत ही उल्लेखनीय व्यक्ति शेरशाह सूरी ने पहले हिन्दुस्तान के साम्राज्य का अपहरण कर लिया था और इसे प्रचुर समृद्धिशाली अवस्था में पहुँचा दिया था। मुगलों की शक्ति, जो अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के अधीन उस समय तक तीव्रता से बढती रही, और औरंगजेब के अधीन चरमोत्कर्ष पर पहुँची, शाहआलम (बहादुरशाह), जहानदारशाह और फर्रुख-सियर के अधीन क्षीण होने लगी; और मुहम्मदशाह के समय में, जो औरगजेब से चौथा था अफगानिस्तान पर और वहाँ से भारत पर फारसी आक्रमण हुए जिसे नादिरशाह ने (१७३८ ई०) अफगानों से फारस में किए गए उनके उपद्रवों का बदला लेने के लिए किए थे। इस कारण यह प्रतीत होता है कि सभी अवस्थाओं में भारत के सभी मुसलमान आक्रमणकारी अफ़गानिस्तान से होकर आये और हिन्दुओं को जीतने का प्रयास करने के पूर्व वे सामान्यतः वहाँ बस गये थे। इस कारण एवं अफगानिस्तान के निकट होने से यह निष्कर्ष निकलता है कि मुसलमान देशान्तराधिवासियों में से अधिकांश अफगान रक्तवाले रहे हैं।

[1] अकेले बंगाल प्रान्तों में मुसलमानों की संख्या २,०६,६४,७७५ है, जो कदाचित

सम्प्रभु बन बैठे परन्तु कभी भी हिन्दुओं का स्थान ग्रहण करने में समर्थ नहीं हुए जैसा कि इन्होंने अपने पूर्व की जातियों का स्थान ले लिया था। इसके अतिरिक्त मुहम्मद के अनुयायी शासकों की अनेक विषयों में अपनी भारतीय-प्रजाओं के दुराग्रहों के सम्मुख झुक जाने की नीति थी। इस कारण भारत के मुसलमान अंशतः हिन्दुओं से प्रभावित हो गये, तथा भाषा, प्रवृत्तियों एवं चरित्र की दृष्टि से जितना इन्होंने हिन्दुओं को प्रदान किया उससे अधिक उनसे ग्रहण कर लिया।[२]

भूमण्डल के किसी भी अन्य देश में पायी जाने वाली सख्या से अधिक हैं; जिससे यदि इगलैण्ड के पास केवल ये ही प्रान्त हों तो स्वयं खलीफाओं के वर्तमान प्रतिनिधि की अपेक्षा अधिक मुसलमानों पर शासन करते हुए वह सभी मुस्लिम शक्तियों में सर्वोपरि होगा (देखिये प्रस्तावना का पृ० ३६, टि० १)। भारतीय मुसलमानों में बृहत् भाग सुन्नी हैं (देखिए प्रस्तावना, पृ० ४४)। बहुत थोड़े शीआ हैं जो बगाल में या निःसन्देह भारत के किसी भाग में (अवध और कुछ जिलों को छोडकर जहाँ पर्शियन परिवारों के वशज हैं) पाये जाते हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि बिहार में जनसमूह का विशाल भाग हिन्दू है और यह बेजोड बात है कि बंगाल की विशाल मुग़ल राजधानियों, यथा ढाका, गौर और मुर्शिदाबाद में मुस्लिम सबसे अधिक संख्या में नही हैं अपितु कृषकों एवं श्रमिक वर्गों में मिलते हैं। सर जार्ज कैम्पबेल ने कहा है कि बंगाल में मुसलमानी आक्रमण ने हिन्दू-धर्म को दुर्बल आधार पर आश्रित पाया। जनता की भावनाओं पर इसका प्रभाव दुर्बल था। आर्य तत्त्व उत्तर भारत से प्रायशः आयात नये रक्त द्वारा ही केवल अपने को जीवित रख सका। इस कारण ऐसा हुआ कि जब मुस्लिम विजेताओं ने निचले डेल्टा पर तलवार और कुरान के साथ आक्रमण किया तो वे पूर्णतः असत्कृत न थे। उन्होंने ऐसे जनसमूह में समानता की घोषणा की जो वर्ण द्वारा निम्न बना दिया गया था। इस कारण बंगाल में इस्लाम को स्वीकार करने के लिए इससे प्राप्त होने वाले सामाजिक पदोन्नति से प्रेरणा पाकर विशाल जनसमूह मुसलमान बन गया। उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों मे एवं विशाल मुग़ल राजधानी दिल्ली के आस-पास, जहाँ हिन्दू सदैव से अधिक जागरूक और स्वतन्त्र रहे हैं, केवल चार लाख मुसलमान हैं। तथापि पजाब में प्रायः साढ़े नौ लाख हैं।

इस्लाम और हिन्दू धर्म के बीच एक महान् अन्तर यह है कि पहला सदैव फैलनेवाला है और अन्य धर्म छोडकर उसे अगीकार करनेवालों को ढूंढता है, जब कि दूसरा सिद्धान्ततः ऐसा नही कर सकता। एक ब्राह्मण जन्म लेता है बनाया नहीं जाता। तथापि व्यवहार रूप में मनुष्यों का कोई समूह व्यवसाय के ऐक्य द्वारा एक नई जाति बना ले सकते हैं और वर्तमान समय के ब्राह्मण उन्हें हिन्दू रूप में स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत रहते है।

[१] इस कारण ऐसा होता है कि भारतीय मुसलमानों की छोटी श्रेणियाँ जाति का भेद प्रायः हिन्दुओं जैसी ही कठोरता से मानती हैं। उनमें से बहुत एकसाथ खान-पान तो रखती हैं परन्तु आपस में विवाह का सम्बन्ध नहीं रखती।

हिन्दू-आर्य तत्त्व ने योरोपीय तत्त्वों के प्रभुत्व एवं सम्मिश्रण के विपरीत भी भारत में अपना प्राधान्य नहीं खोया। पुर्तगालियों, डचों, डेन, और फ्रांसीसियों ने एक के बाद एक इसके समुद्र तटों पर पैर जमाया और उनका प्रभाव अब भी विच्छिन्न स्थलों में बना हुआ है।[1] सबसे अन्त में अंग्रेज सम्पूर्ण देश में फैले और इस समय हमारी राजनीतिक प्रभुता, जितनी कभी मुसलमानों की थी, उससे अधिक है।[2] फिर भी, जनसंख्या का बृहत् संघात तत्त्वतः हिन्दू है, और जिसे हम इण्डो-आर्यन जाति कह सकते हैं उसका नैतिक प्रभाव अब भी सर्वोपरि है।

---

[1] बाद के समयों में भारत में चीनियों के निरन्तर आगमन होते रहे परन्तु केवल पुरुषों के ही। पुर्तगालियों ने भारत में अभी तीन स्थान अपने अधिकार में रखे हैं, नामतः गोआ, दामन और पश्चिमी किनारे पर डिउ का द्वीप। डचों के अधिकार में कभी हुगली के दाहिने किनारे पर चिनसुरा, और तंजोर के समुद्री किनारे पर नेगपतम था; किन्तु लगभग १८२४ वर्ष में उन्होंने ये दोनों हमें सौंप दिये और बदले में सुमात्रा के समुद्रतट के हमारे स्वत्व प्राप्त कर लिये। हमारा सुमात्रा के समुद्रतट का हस्तान्तरण बाद में गम्भीर भूल समझा गया जिसको दूर करने के लिए सर स्टैम्फोर्ड रैफिल्स ने १८२४ में (पड़ोसी सुल्तान के साथ एक सन्धि करके) सिंगापुर का चीन के साथ हमारे व्यापार के हित मध्यवर्ती बन्दरगाह के रूप में अंग्रेजी राज्य को औपचारिक संक्रमण कर दिया। डेन्स ने कभी ट्रंक्वेबार और सेरामपुर पर अधिकार रखा, जिनमें से दोनों को हमने उनसे १८४४ में क्रय कर लिया। १८४६ में उन्होंने बालासोर में हमें एक छोटा कारखाना अर्पित कर दिया, जहाँ पर पुर्तगालियों तथा डचों का योरोपीय सम्बन्ध के आरम्भिक कालों में अधिकार था। फ्रांसीसियों ने अब भी कारोमण्डल समुद्रतट पर पाण्डिचेरी और कारिकल, हुगली के दाहिने किनारे पर चन्दरनगर, मालाबार समुद्रतट पर माहे और गोदावरी के मुहानों के निकट यनावन (Yanaon) अपने अधिकार में रखे हैं।

[2] यद्यपि हमारा प्रान्त के बाद प्रान्त को अपने राज्य में मिलाते जाना सदैव न्यायसंगत नहीं हो सकता, तथापि यह वस्तुतः कहा जा सकता है कि हमारा राज्य शनैः शनैः हमारे ऊपर लाद दिया गया है। हमारा भारत के साथ पहला सम्बन्ध केवल वाणिज्य सम्बन्धी था। व्यापारिक संगठन, जिसका नाम 'गवर्नर्स एण्ड कम्पनी आफ लण्डन मर्चेण्ट्स ट्रेडिंग टू दि ईस्ट इण्डीज़' था, १६०० में बनाई गयी। डाइरेक्टरों के प्रथम कोर्ट की सभा २३ सितम्बर १६०० को हुई और प्रथम शासन पत्र (चार्टर) पर उस वर्ष की ३१ वीं दिसम्बर को रानी एलिजाबेथ ने हस्ताक्षर किया। पहला कारखाना बम्बई के उत्तर सूरत में ताप्ती के मुहाने के निकट १६१३ में बनवाया गया। १६६१ में बम्बई का द्वीप अंग्रेजों को पुर्तगाल ने इनफैण्टा कैथेराइन के विवाहांश के रूप में उसके चार्ल्स द्वितीय के साथ विवाह के अवसर पर समर्पित कर दिया, किन्तु इसका अन्तिम रूप से स्वत्व चार वर्षों तक रुका रहा। चार्ल्स ने १६६९ में इसे ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथों में सौंप दिया। दूसरा कारखाना हुगली के किनारे कलकत्ता से उत्तर १६३६ में बनाया गया। कम्पनी के आधिपत्य में मद्रास १६४० में आया और स्वयं

यद्यपि उत्पत्ति, धर्म, रीति, और भाषा के ऐक्य से यह जाति चाहे कितनी भी घनिष्टता से एक साथ सम्बद्ध हो और आर्येतर जन-समूह पर चाहे कितना भी शक्तिशाली प्रभाव छोड़ती हो, तथापि ऐसी विभिन्नतायें भारत के लोगों को पृथक् करती हैं जो कभी योरोप के सम्पूर्ण महाद्वीप को विभाजित कर देनेवाली

कलकत्ता को कम्पनी ने १६९८ में क्रय किया। प्लासी का युद्ध, जिसके समय से अंग्रेजी साम्राज्य की वास्तविक स्थापना प्रारम्भ होती है, २३ जून,१७५७ को हुआ था।

अब भी भारत में देशीय राज्यों की एक बडी संख्या विद्यमान है। इण्डिया आफिस रिपोर्ट के अनुसार वे ४६० से अधिक हैं। कुछ, जैसे नेपाल, केवल हमारी सम्प्रभुता स्वीकार करते हैं, किन्तु यह सीमान्त देश भी हमारे 'रेजिडेण्ट' का सत्कार करता है। दूसरे समुचित शासन करने की संविदा के अन्तर्गत हैं; अन्य हमें उपहार देते हैं या सेना की टुकडियाँ देते हैं। कुछ को जीवन मृत्यु का अधिकार है और कुछ प्राणदण्ड के अभियोगों को अंग्रेजी न्यायालय में ले जाने के लिए बाध्य हैं। प्रायः सबको दायाद के न होने पर उत्तराधिकारियों को गोद लेने की आज्ञा है और इस प्रकार उनकी अविच्छिन्न स्थिति संरक्षित रहती है। आधिकारिक आलेख उन्हें बाहर वर्गों में विभक्त करता है: १. इण्डो-चीनी, दो उपविभागों में, जिनमें हैं—अ. बसे हुए राज्य, **नेपाल** (जिसके मुख्य मन्त्री और वास्तविक शासक सरजंग बहादुर हैं); **सिक्किम** (जिसका राजा तुमुलुंग और चुम्बी दो नगरों में रहता है और जिसने हाल में ही कुछ भूभाग हमें अर्पित किया है); **भूटान** (एक दुर्दान्त पहाडी जनपद), और **कूचविहार**। ब. चीनी स्वभाव और शारीरिक रचना वाली पहाडी जातियाँ। २. **छोटानागपुर, उड़ीसा,** मध्य प्रान्तों और **जयपुर** (उडीसा) क्षेत्र में आदिम गोण्ड और कोल जातियाँ। ३. नेपाल के पूर्वी सीमान्त से काश्मीर तक **हिमालय** के बीच के राज्य जिन पर सामान्यतः राजपूत सरदार राज्य करते हैं। ४. इण्डस के उस पार की **अफ़गान** और **बलूची** सीमान्त जातियाँ। ५. सरहिन्द के मैदानों के **सिख** राज्य जिन्होंने सतलज और यमुना के बीच की उस श्रेष्ठ भूमि को घेर रखा है जो कभी सरस्वती के जल से सींची जाती थी। ६. तीन मुसलमानी राज्य, जो भौगोलिक दृष्टि से दूर-दूर हैं परन्तु बहुत ऐक्य रखते हैं, वे हैं, **रामपुर** (रुहेलखण्ड में एक जिला जो वारेन हेस्टिंग्ज के समय के रोहिल्ला राज्य का प्रतिनिधित्व करता है), **भावलपुर** (जो सतलज द्वारा पंजाब से पृथक् कर दिया गया है) और सिन्द में **खैरपुर** (या खीरपुर)। ७. **मालव** और बुन्देलखण्ड, जिनमें से पहला मराठी शासन के एक भाग का प्रतिनिधित्व करता है और इसमें मध्यभारत के जो प्रमुख राज्य सम्मिलित हैं, वे हैं, **ग्वालियर** का राज्य, जिसका शासन महाराज **सिन्धिया** करते हैं; **होल्कर** शासित जिला; **धार** का राज्य जिसका शासन पुअर नाम का तीसरा मराठी वंश करता है: **भोपाल** का मुसलमानी राज्य, और **रीवाँ** जिलों को मिलाकर बुन्देलखण्ड। ८. **राजपूताना** की प्राचीन संप्रभुताएं, जिनमें पन्द्रह राजपूत राज्य (जैसे उदयपुर, जयपुर आदि), दो जाट और एक मुसलमानी (टोंक) राज्य सम्मिलित है। ९. गुजरात के देशीय राज्य: बम्बई के उत्तर में, इनमें मुख्य बडौदा का राज्य है जिसका शासन गुइकवार या गुइकोवार करते हैं ['गुई' 'गई' अर्थात् गाय के लिये है; 'क्वार' या 'कोवार' ('कुंवार') सम्भवतः

और अब भी पृथक् करनेवाली विभिन्नताओं के ही समान बड़ी या उनसे भी अधिक विपुल हैं। उत्साही हिन्दूस्तानी, युद्धप्रिय सिख, महत्त्वाकांक्षी मराठी, गर्वीले राजपूत, कठोर गुरखा[1], चिन्तनशील बंगाली, व्यस्त तेलुगू, सक्रिय

कुमार = कुमार 'राजकुमार' का विकृत रूप है, परन्तु मराठी में एक शब्द है 'गायक्य' अर्थात् चरवाहा, गोपालक। वह चरवाहों की जाति और एक मराठा सेनाधिकारी से उत्पन्न हुए हैं]। १०. बम्बई के दक्षिण में मराठी राज्य, जो शिवाजी द्वारा स्थापित मराठी सत्ता के अवशेषों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनमें **सतारा** १८४८ में मिला लिया गया था, परन्तु **कोलापुर** अब भी बचा है; उन्नीस दूसरे राज्य वहाँ के प्रमुखों के अल्पवयस्क होने के कारण हमारे प्रबन्ध के अन्तर्गत हैं। ११. दखन में हैदराबाद (या हेदराबाद) का मुसलमानी राज्य, जिसका शासन **निजाम** करते हैं; इस समय निज़ाम के अल्पवयस्क होने से वहाँ का शासन प्रबन्ध सर सालार जंग और शम्श-उल-उमरा करते हैं। १२. **मैसूर** का राज्य, जिसके वृद्ध राजा को सेरिंगापतम् के घेरे का स्मरण था। उनकी मृत्यु १८६८ में हो गई और उनके बाद एक बालक गद्दी पर बैठा, जिसके लिए इस समय हम इस राज्य का शासन करते हैं। इनके साथ इनके पड़ोसी दो मलयालम राज्यों को भी गिनना चाहिए, जिन्हें **ट्रावन्कोर** और **कोचीन** कहा जाता है। इनमें दोनों का शासन प्रबन्ध राजा और श्रेष्ठ मन्त्रिगण उत्तमता के साथ करते हैं। यहाँ अंग्रेजों के भारत में प्रथम बार बसने के सम्बन्ध में एक मुसलमान इतिहासकार का वर्णन दिया जाता है: १०२० वर्ष (१६११ ई०) में दिल्ली के सम्राट् जहाँगीर ने, जो सम्राट् अकबर के पुत्र थे, अंग्रेजों को गुजरात प्रान्त के अन्तर्गत सूरत नगर में एक कारखाना बनवाने के लिए भूमि दी। यही इन लोगों की हिन्दूस्तान के तटों पर पहली बस्ती थी। अंग्रेजों के एक पृथक् राजा है, जो पुर्तगाल के राजा से स्वतन्त्र और उसके प्रति कोई निष्ठा नहीं रखते। इसके विपरीत ये दो जाति के लोग जहाँ भी मिलते हैं एक दूसरे को मौत के घाट उतार देते हैं। वर्तमान में सम्राट् जहाँगीर के हस्तक्षेप के परिणाम-स्वरूप वे परस्पर शान्तिपूर्वक रहते हैं, यद्यपि केवल परमात्मा जानता है कि कितने दिनों तक वे एक ही नगर में अपने कारखाने रखने और परस्पर सौहार्द्र और मित्रता के सम्बन्धों सहित रहने के लिए सहमत रहेंगे' (सर जार्ज कैम्पबेल की माडर्न इण्डिया, पृ० २३, में उद्धृत)। भारत में अंग्रेजी राज्य के उदय का एक सुन्दर विवरण प्रोफेसर डब्ल्यू० डी० ह्विटनी ने अपने ओरिएण्टल एण्ड लिंग्विस्टिक स्टडीज (प्राच्य एवं भाषा-विषयक अध्ययनों) की दूसरी माला में दिया है जो मेसर्स ट्रूबनर एण्ड क० के यहाँ प्राप्य है।

[1] 'गोरख'—संस्कृत गोरक्षक का लघुरूप—के लिए प्रयुक्त 'गुरखा' शब्द का अर्थ है 'गो-पालक'। नेपाल के मूल निवासी अधिकांशतः भोट या तिब्बतीय परिवार के हैं और इस कारण बौद्ध हैं; किन्तु हिन्दुओं की शाखाओं ने इन पर्वतीय क्षेत्रों में विभिन्न ऐतिहासिक कालों में प्रवेश किया और उन्होंने इस भूभाग की सत्ता प्राप्त कर ली। वे सम्भवतः अवध के समीपवर्ती देश और पहाड़ियों के नीचे के **गोरखपुर** नाम के जिले से आये हुए चरवाहा जाति के लोग थे। नेपाल के कुलदेवता शिव के एक रूप हैं, जिन्हें

तमिल, धैर्यवान् परिआ, परस्पर उतने ही या उससे भी अधिक भिन्न हैं जितने प्रफुल्ल केल्ट, कठोर सैक्सन, उद्यमी नार्मन, विनीत स्लाव, साहसी अंग्रेज और उद्धत स्पेनवासी।

इन विभिन्नताओं को अनेक कारणों ने मिलकर उत्पन्न किया है। जलवायु का अन्तर स्वभाव को परिवर्तित करने में अपना प्रभाव रखता है। आदिम जातियों के साथ तथा मुसलमान एवं योरोपीयों के साथ सम्पर्क की भी भारत के विभिन्न भागों में विभिन्न रूप से प्रतिक्रिया हुई है। उन जिलों में भी, जिनमें हिन्दू एक नाम से पुकारे जाते हैं और एक ही भाषा बोलते हैं, विभिन्न वर्गों में बँटे हुए हैं और जाति के ऐसे अवरोधों द्वारा एक दूसरे से पृथक् हैं जो योरोप के सामाजिक विभेदों की अपेक्षा कहीं अधिक दुर्लंघ्य हैं। तत्त्वतः इस पार्थक्य में उनके धर्म का एक अनिवार्य सिद्धान्त सन्निहित है। भारतीय वर्ण-व्यवस्था का विकास कदाचित् इस असाधारण जनसमुदाय के इतिहास में सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता है।

सामाजिक विधान के रूप में और उन परम्परागत नियमों के अर्थ में जो समाज की श्रेणियों को पृथक् करती हैं, जातिभेद निःसन्देह सभी देशों में विद्यमान है। किन्तु हमारे लिए जाति एक धार्मिक विधान नहीं है। इसके विपरीत, यद्यपि हमारा धर्म, श्रेणी के विभेदों की आज्ञा देता है तथापि हमें यह भी शिक्षा देता है कि ईश्वर की पूजा में इस प्रकार के विभेद को स्थान नहीं देना चाहिए, और यह कि ईश्वर की दृष्टि में सभी मनुष्य समान हैं। हिन्दुओं की वर्ण-व्यवस्था इससे आपाततः भिन्न है। मनु (देखिए पृ० २२१) के अनुसार हिन्दू सिद्धान्त यह है कि ईश्वर मनुष्यों को असमान समझता है। जिस प्रकार उसने पक्षियों या पशुओं के अनेक प्रकार बनाये उसी प्रकार वह विभिन्न प्रकार के मनुष्यों की सृष्टि करता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र एक दूसरे से भिन्न उत्पन्न हुए हैं और रहने चाहिए (कम से कम प्रत्येक पृथक् अस्तित्व में), और किसी हिन्दू को वर्ण-व्यवस्था का उल्लङ्घन करने के लिये बाध्य करना उसे ईश्वर के विरुद्ध एवं प्रकृति के विरुद्ध अपराध करने के लिए बाध्य करना है। यह सत्य है कि भारत में वर्णव्यवस्था के अनन्त नियम प्रधानतः सामाजिक अर्थव्यवस्था एवं विधान के तीन विषयों पर आश्रित हैं :

गोरखनाथ नाम दिया गया है। इनके पुजारी योगी होते हैं। ये लोग और इनकी पूजा पहले गोरखपुर में समान रूप से फैली हुई थी'—एशियाटिक रिसर्चेज, भाग १७ पृ० १८९।

१—भोजन और उसका निर्माण;[1] २—परस्पर विवाह;[2] और ३—व्यावसायिक वृत्ति।[3] परन्तु एक धार्मिक जनता में, जो इन नियमों को अपने धर्म के पवित्र अध्यादेश मानती है, किसी का भी उल्लंघन एक घोर अपराध बन जाता है। यह उल्लेखनीय तथ्य है कि भारत के कारागारों में प्रायः ऐसे कठोर अपराधी हैं जो हमारी दृष्टि में दुष्कर्म के निकृष्टतम रसातल में गिरे हुए हैं, परन्तु जिन्होंने जाति को नियमनिष्ठा युक्त कर्म पर स्वयं को गर्वान्वित समझते हुए, अपने स्वाभिमान का एक कण भी नहीं खोया है और जो सबसे गुणवान् व्यक्ति द्वारा, यदि वह सामाजिक श्रेणी में उनसे हीन है, बनाया गया भोजन ग्रहण करने के लिए बाध्य किये जाने पर घृणा के साथ विरोध करेंगे।

वर्ण की उत्पत्ति और विकास का—इसके नियमों की कठोरता का एवं सामाजिक विधान की अपेक्षा धार्मिक विधान के रूप में इसकी अद्यावधि कार्यरत शक्ति का—पूर्ण विवेचन पृ० २१०, पृ० २२२ आदि पर मिलेगा। इसके

---

[1] **भोजन का बनना** भी पूर्णतः वैसा ही महत्त्वपूर्ण विषय है जैसा एक साथ **भोजन करना।** निम्न जाति के व्यक्ति के हाथों बनाया गया भोजन दोष उत्पन्न करता है। कुछ जातियाँ जूता पहने हुए भोजन बनाती हैं : किन्तु अधिकाश हिन्दू इस प्रकार बनाये गये भोजन को घृणा की दृष्टि से देखेंगे, क्योंकि चमड़े से दोष उत्पन्न होता है। नौका या जलयान के ऊपर बनाये गये भोजन को जाति नष्ट करनेवाला माना जाता है; इस प्रकार, गंगा के प्रवाह में बहती हुई नौका को कभी-कभी रुकना पड़ता है जिससे देशीय यात्री अपना भोजन किनारे पर बना सकें; सम्भवतः इस कारण कि काष्ठ को दोष फैलानेवाला माना जाता है। निःसन्देह यह नहीं कहा जा सकता कि वर्णव्यवस्था के नियम इन्हीं तीन विषयों तक सीमित हैं। अशुद्ध पशुओं के विषय में एक हिन्दू का विचार बहुत अस्थिर होता है। वह अपने घर या शरीर पर पक्षियों के आगमन को अपवित्रता का स्रोत समझकर भयभीत होता है किन्तु हंसों के विषय में ध्यान नहीं देता। प्रसन्नता का विषय है कि आवश्यकता और लाभ के विपरीत, रेल मार्गों और वैज्ञानिक अन्वेषणों के विपरीत, जाति प्रथा की अब एक नहीं चल सकती।' (देखिए पृ० २११ के नीचे उद्धरण)

[2] देखिए : मिश्रित जातियों के ऊपर टिप्पणी, पृ० २१०, एवं पृ० २२३ टिप्पणी सहित।

[3] जातिकृत वृत्तियों की कठोरता ने ही सेवकों के विशाल वर्ग को आवश्यक बना दिया है। जो व्यक्ति केश काटता है वह वस्त्र धोने के काम से अपने को हीन अनुभव करता है और जो व्यक्ति कोट झाड़ता है वह किसी भी स्थिति में कमरा झाड़ने के लिए सहमत न होगा, जब कि दूसरा व्यक्ति जो भोजन परोसता है किसी भी दशा में छाता ढोने के लिए नहीं सहमत होगा।

अतिरिक्त, बौद्धधर्म के उदय और उसके विपरीत प्रभाव के वर्णन के लिए पाठक को पृ० ५२, आदि देखना चाहिए।

इस विषय का निर्देश करना अभी शेष है कि हिन्दू धार्मिक विश्वास का यह स्वरूप ही भारत के लोगों में महान् विभिन्नताओं को स्रोत था।

प्रत्येक धर्म को, जो धर्म कहा जाने योग्य है, तीन मुख्य दिशाओं में विकसित होनेवाला कहा जा सकता है : १—विश्वास की दिशा; २—क्रियाओं एवं कर्मकाण्ड की दिशा; ३—सिद्धान्त या वैधिक ज्ञान की दिशा; जिनमें से एक या दूसरे को मानसिक पक्षपात या मनोवृत्ति की विलक्षणता के अनुसार प्राधान्य दिया जाता है। मैंने पृ० ३५ एवं ३१७–३१९ पर यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि विकास की प्रथम दो सरणियाँ धर्म के एक सामान्य या लौकिक पक्ष का प्रतिनिधित्व करती हैं, जब कि तीसरी इसके गूढ़ स्वरूप को प्रदर्शित करती है और इसके अधिक गम्भीर अर्थ की एकमात्र विवेचक है।

लौकिक हिन्दू धर्म से अधिक सरल कुछ नहीं है। यह एक ऐसा धर्म है जिसे दो शब्दों—आध्यात्मिक विश्वदेवतावाद (देखिए पृ० ३५)—द्वारा व्यक्त कर सकते हैं। इस प्रकार का विश्वदेवतावादी धर्म सभी विश्वासों में सरलतम है, क्योंकि यह ऐसी शिक्षा देता है कि एक विश्वात्मा के अतिरिक्त कोई वस्तु वस्तुतः अस्तित्व नहीं रखती; प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा उस आत्मा से अभिन्न है; और प्रत्येक व्यक्ति का सर्वोच्च लक्ष्य सदैव के लिए क्रिया, भोग, एवं जीवन से मुक्ति पाना तथा ऐसे आध्यात्मिक ज्ञान की दृष्टि से गम्भीर चिन्तन में संलग्न रहना होना चाहिए, जो उसे भिन्न अस्तित्व के मात्र भ्रम से मुक्त करे और इस ज्ञान का प्रकाश प्रदान करे कि वह स्वयं एक विश्वरूप सत्ता का अंश है।

दूसरी ओर न तो इससे अधिक आर्जवरहित कुछ और हो सकता है और न इस धर्म के लौकिक और प्रचलित स्वरूप से अधिक बहुविध एवं अनन्त प्रशाखाओं में संविभक्त होने योग्य ही कुछ हो सकता। गूढ और लौकिक हिन्दू धर्म के बीच इस स्पष्ट खाई के ऊपर तादात्म्य के स्थान पर निर्गम शब्द रखकर सेतु बनाया जाता है।

लौकिक हिन्दू धर्म यह मानता है कि परमात्मा अपनी इच्छा से मायावी स्वरूप धारण कर आनन्द ले सकता है। दूसरे शब्दों में, वह अपने को उसी प्रकार विविध रूपों में प्रकाशित कर सकता है जिस प्रकार प्रकाश इन्द्रधनुष में अनेक रंगों में प्रकट होता है, तथा श्रेष्ठ देवों (ईश, ईश्वर, अधीश), अनुषंगी देवता (देव), दैत्य, यक्ष, शुभ एवं दुष्ट आत्मायें, मनुष्य और पशुओं

समेत समस्त दृश्य एवं भौतिक पदार्थ उसी से निर्गमित हुए हैं; और यद्यपि कुछ समय के लिए उससे पृथक् अस्तित्व रखते हैं, तथापि उन्हें अन्त में अपने स्रोत में ही पुनः विलीन हो जाना है। हिन्दू धर्म के इन दोनों स्वरूपों को आगे आने वाले व्याख्यानों में (पृ० ३५ एवं ३१३-३२६ पर) पूर्णतः स्पष्ट किया गया है। वहाँ दिये गये विवेचनों से हिन्दू धार्मिक दर्शन का बहुविध स्वरूप और अन्यतम प्रसारत्व समझ में आ जायगा।

वेद से प्रारम्भ होकर इसका सभी धर्मों से कुछ ग्रहण करनेवाले और सभी मस्तिष्कों के अनुकूल[1] दृष्टिकोण प्रस्तुत करनेवाले रूप में अन्त होता है। इसके अपने अध्यात्मिक और भौतिक स्वरूप हैं; गूढ़ और सामान्य स्वरूप हैं। इसके अपने विषय ओर विषयाश्रित स्वरूप हैं, इसके शुद्ध और अशुद्ध स्वरूप हैं। यह एक साथ ही अस्पष्ट रूप से विश्वदेवतावादी है; कट्टर अद्वैतवादी है, स्थूलरूप में बहुदेववादी है, और उदासीन ढंग से अनीश्वरवादी भी। इसका एक व्यावहारिक पक्ष है, और दूसरा भक्तिविषयक, तथा उससे भी पृथक् चिन्तन विषयक। नैयमिक अनुष्ठान में रहने वाले इसे सर्वसंतुष्टि प्रदाता मानते हैं। जो कार्यों की प्रभावपूर्णता को अस्वीकार करते हैं और श्रद्धा को ही एकमात्र आवश्यक वस्तु बताते हैं, उन्हें इसके घेरे से भटकने की आवश्यकता नहीं। जो परमात्मा और मनुष्य के स्वरूप पर, भौतिक वस्तु के आत्मा के साथ सम्बन्ध पर, पृथक् अस्तित्व के रहस्य एवं दुःख की उत्पत्ति पर विचार करने में आनन्द पाते हैं। वे भी यहाँ अपने चिन्तन का प्रेम लगा सकते हैं। और प्रायः अनन्त विस्तार एवं अनेकरूपता की यह क्षमता एक ही इष्ट देवता की पूजा करनेवाले लोगों में भी प्रायः अगणित सांप्रदायिक विभाग उत्पन्न करती है। ये विभिन्नताएँ सामाजिक विभेदों के साथ धर्म के घनिष्ठ सम्बन्ध द्वारा और भी बढ़ जाती हैं।

जिस प्रकार मुसलमानों एवं ईसाइयों के धर्म (उनके रंगों के समान) उनकी विशिष्ट रचना, वातावरण एवं जातीय भावनाओं के सर्वथा अनुकूल माने जाते हैं, उसी प्रकार निम्न वर्गों की अपेक्षा उच्च वर्गों को, अशिक्षितों की

---

[1] मेरी धारणा है कि इस सिद्धान्त पर ही बम्बई के सर मंगलदास नाथूभाई, के० एस० आई०, एक उत्साही कच्चे धर्मप्रवर्त्तक के साथ एक समय यह तर्क करते हुए बताये जाते हैं कि स्वभाव से ईसाई होने के कारण हिन्दुओं का धर्मपरिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं होती। इसके साथ ही उन्होंने कहा : 'किन्तु मैं ईश्वर को धन्यवाद देता हूँ कि तुम अंग्रेज ही ईसाई बनाये गये थे, अन्यथा तुम लोग इस समय तक संसार की हड्डी तक का भक्षण कर गये होते।'

अपेक्षा शिक्षित व्यक्तियों को, स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों को उच्च कोटि के धर्म के योग्य समझा जाता है।

इसके विविध स्वरूप के साथ-साथ हिन्दुओं के धार्मिक विश्वास की वस्तुतः कोई एक सुस्पष्ट संज्ञा नहीं है। कभी हम इसे हिन्दू धर्म कहते हैं तो कभी ब्राह्मण धर्म, किन्तु ये देशीय लोगों को मान्य नाम नहीं हैं।

तब यदि जाति, बोली जाने वाली भाषा, चरित्र, सामाजिक संगठन, एवं धार्मिक विश्वासों की इतनी महान् विभिन्नतायें एक ऐसे विशाल जनसमुदाय में विद्यमान हैं जो इतने विशाल भूभाग पर फैली है कि उसमें प्रत्येक प्रकार की मिट्टी, जलवायु और शारीरिक आकार का प्रतिनिधित्व पाया जा सकता है, तो न्यायतः यह प्रश्न उठता है कि हम अंग्रेजों के लिए इन विभिन्नताओं के सम्मुख उस जनसमूह का जो हमारे शासन में आ पड़ा है, कोई वस्तुतः सन्तोषप्रद ज्ञान प्राप्त करना कैसे संभव हो सकता है? इस कठिनाई की केवल एक ही कुञ्जी है। प्रसन्नता की बात है कि, यद्यपि, भारत में कम से कम बोली जाने वाली बीस भाषायें (प्रस्तावना पृ० ३२) हैं, तथापि चाहे यह जाति, बोली, श्रेणी और धर्म में कितनी भी भिन्न हो, इसकी एक ऐसी पवित्र और संवर्धित भाषा है, एक ऐसा साहित्य है जिसे सभी हिन्दू धर्म के अनुयायी समान रूप से स्वीकार करते हैं और आदर देते हैं। वह भाषा है संस्कृत और वह साहित्य है संस्कृत साहित्य जो 'वेद' या विस्तृत अर्थ में, 'ज्ञान' का भंडार और हिन्दू आध्यात्मविद्या, दर्शन, नय, और देवशास्त्र का वाहन है। यह हिन्दू-धर्म की गूढताओं एवं विरोधोक्तियों के लिए एकमात्र पथ प्रदर्शक है और एक ऐसा सहानुभूतिपूर्ण बन्धन, जो विद्युत् की श्रृंखला के समान भारत के प्रत्येक जनपद में विपरीत स्वभावों वाले हिन्दुओं को संयुक्त करता है। सौभाग्य से इस साहित्य के सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं रोचक अंश मूल और अच्छे अनुवाद दोनों ही रूपों में अब सबके लिए सुलभ हैं।

यहाँ मुझे यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि हिन्दुओं की प्राचीन भाषा के लिए प्रयुक्त संस्कृत नाम उस भाषा के उच्च कोटि के परिष्कृत रूप को दी गई एक कृत्रिम संज्ञा है जिस भाषा को मूलतः महान् आर्य जाति की भारतीय शाखा भारत में ले आई: यह मौलिक भाषा शीघ्र ही आर्यों से पूर्व विद्यमान आदिम जातियों की बोलियों के सम्पर्क से परिवर्तित हो गई, और इस प्रकार उन आर्य अधिवासियों की विलक्षण भाषा बन गई जो पंजाब की सात नदियों के प्रतिवेश में एवं इनके उपान्त जनपदों (सप्त सिन्धवः = जण्ड में 'हप्त हेन्दु') में बस गये। इस प्रकार हिन्दुओं की बोली के रूप में विकसित इस मौलिक भाषा का सर्वाधिक सटीक नाम है हिन्दू-ई (= सिन्धू-ई)।

३ भा० प्र० भू०

इसका प्रमुख परवर्ती विकसित रूप उसी प्रकार हिन्दी' कहलाया, जिस प्रकार सैक्सन लोगों की विभाषा 'निम्न जर्मन' जब इङ्गलैण्ड में परिष्कृत हुईतो एंग्लो-सैक्सन कहलायी। किन्तु बहुत शीघ्र ही भारत में ऐसी घटना घटी जो सभी सभ्य देशों में घट चुकी है। बोली जानेवाली भाषा, जब एक बार इसका सामान्य आकार एवं रूप नियत कर दिया गया तो, दो शाखाओं में विभक्त हो गई, जिसमें से एक विद्वानों द्वारा परिवर्द्धित की गई और दूसरी अशिक्षित जन समूह द्वारा प्रचलित एवं विविध रूप से प्रान्तीय बन गई। तथापि, भारत में शिक्षित अल्पसंख्यक लोगों के अधिक व्यावर्तन, बृहत्तर बहुसंख्यक जनसमूह के गुरुतर अज्ञान, तथा गर्वोन्मत्त पुरोहित वर्ग द्वारा ज्ञान की कुञ्जी अपने हाथ में रखने की अभिलाषा से यह पार्थक्य अधिक स्पष्ट, अधिक नानारूप तथा उत्तरोत्तर अधिक प्रगाढ़ हो गया। इस कारण, व्याकरण ही, जिसे दूसरे राष्ट्र साध्य का साधन मात्र मानते थे, भारतीय पण्डितों द्वारा स्वयं साध्य के रूप में देखा जाने लगा और इसे सूक्ष्म बनाकर एक ऐसे गूढ़ विज्ञान का रूप दे दिया गया, जिसके चारों ओर पारिभाषिक शब्दों का कटीला घेरा खड़ा हो गया[1]।

भाषा ने भी, जो व्याकरण के साथ उसके अनुरूप ही सश्रम निर्मित की गई थी, 'हिन्दू-ई' या 'हिन्दुओं की बोली' जैसे स्वाभाविक नाम का परित्याग कर दिया और भ्रष्ट उद्‌देश्यों से अपना पूर्ण पार्थक्य तथा धर्म एवं साहित्य में अपना एकान्तिक विनियोग सूचित करने के लिए एक कृत्रिम संज्ञा, नामतः संस्कृत 'पूर्णतः परिष्कृत वाणी' (सम् = συν, con, कृत = factus 'निर्मित); ग्रहण की जबकि 'प्राकृत' संज्ञा—जिसका अर्थ 'मौलिक' तथा 'व्युत्पन्न' वाणी हो सकता है—सामान्य बोली को दी गई। यह स्वतः ही एक उल्लेखनीय परिस्थिति है; क्योंकि यद्यपि योरोप में भी एक समान प्रकार का पार्थक्य घटित हुआ है, तथापि हम ऐसा नहीं पाते हैं कि वर्तमान में आधुनिक राष्ट्रों की सामान्य बोली और साहित्यिक भाषा के लिये जैसी विभिन्न संज्ञायें हैं उनसे किसी भी प्रकार अधिक रूप में लैटिन और ग्रीक भाषायें विद्वत्समाज की भाषा होने पर लैटिन और ग्रीक नामों को खो बैठीं।

---

[1] कुछ लोग यह सोच सकते हैं कि यह बोली वैदिक सूत्रों की भाषा के प्रायः अनुरूप थी, और वैदिक भाषा प्रायः विशुद्ध प्राकृत रूप प्रस्तुत करती है (यथा 'कृत' के लिए 'कुट')। किन्तु वैदिक संस्कृत भी श्रमकृत रचना प्रस्तुत करती है जो सरल मौलिक भाषा होने की कल्पना से कठिनाई से मेल खाती हैं (उदाहरणार्थ, गूढ़ व्याकरण रूपों के प्रयोग में); और प्रचलित भाषा तथा वैदिक भाषा में भेद दर्शाने के लिये पाणिनि छन्दस् (वेद) के विपरीत 'भाषा' पद का प्रयोग करते हैं।

संस्कृत नाटक एक ओर इस भाषाविषयक साधना का और दूसरी ओर विश्लेषण का एक दर्शनीय उदाहरण प्रस्तुत करते हैं (देखिए पृ० ४५९)। इस प्रकार उत्पन्न भाषा के इन दो रूपों की तुलना एक ही माता-पिता के दो बच्चों से की जा सकती है—एक, संस्कृत नाम का और कला के प्रत्येक उपकरण से शिष्ट है; दूसरा, प्राकृत का नाम का जिसे अत्यधिक असभ्य बनने के लिये स्वतन्त्र कर दिया गया।

भारतवर्ष की वर्तमान बोली जाने वाली भाषायें—बङ्गाली, उड़िया या ओड़िया ('ओड्र-देश' उड़ीसा की), मराठी, गुजराती, पंजाबी एवं अपने परिवर्तनों सहित हिन्दी[1]—विश्लेषण की परवर्ती अवस्थाओं में विद्यमान, तथा विभिन्न स्थानों की आदिम बोलियों के सम्मिलन से बहुशः परिवर्तित प्राकृत[2] का प्रतिनिधित्व करती हैं।

---

[1] हिन्दी से मेरा तात्पर्य हिन्दुओं की उस बोली से है, जिसका प्रतिनिधित्व प्रेमसागर और तुलसीदास की रामायण में हुआ है। डॉ० फिट्ज-एडवर्ड हाल के अनुसार, प्रेमसागर सर्वाधिक लौकिक हिन्दी का आदर्श नही उपस्थित करता। निःसन्देह एक आधुनिक साहित्यिक हिन्दी भी है जो अधिकाश शुद्ध संस्कृत से उधार लेती है और दूसरी अरबी और फारसी शब्दों से इतनी मिश्रित है कि उसे एक अलग ही नाम दिया गया है हिन्दूस्तानी (प्रस्तावना पृ० ३६ टि०)। हिन्दी, हिन्दुस्तानी एव उपरोल्लिखित भाषाओं के अतिरिक्त सिन्धी, कश्मीरी, नेपाली, असामी, पश्तू (अफगानिस्तान की), सिंहली (लंका की) बर्मी, पाँच द्राविडिअन (प्रस्तावना पृ० ३४, टि० १) तथा अर्द्धद्राविडी आइई भाषाएँ हैं। देखिए श्री बीम्स का बहुमूल्य तुलनात्मक व्याकरण (कम्परेटिव ग्रामर)।

[2] संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत के विभिन्न रूप (जिनमें से दो प्रधान रूपों—महाराष्ट्री एवं शौरसेनी—की व्याख्या **वररुचि** ने अपने व्याकरण **प्राकृत-प्रकाश** में किया है, जिसके सम्पादक प्रोफेसर ई० बी० कौवेल हैं) आधुनिक जनभाषाओं की दशा में विकास के अन्तिम स्तर का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्राचीन बोली जाने वाली भाषा के पालि या मागधी नामक प्रारम्भिक भाषा रूप का एक व्याकरण और अपना विस्तृत साहित्य है, जिसका अध्ययन श्री आर० सी० चाइल्डर्स के शब्दकोष से पर्याप्त सुकर हो जायगा। लका में पालि बौद्ध धर्मप्रचारकों द्वारा उस समय प्रचलित की गई जब बौद्धधर्म का विस्तार होने लगा था और अब यह लका तथा बर्मा की पवित्र भाषा है जिसमें उनका सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य लिखा हुआ है। विलक्षण बात यह है कि इसके साथ पहले एक दूसरी समान भाषा लका में जमी हुई थी जो वर्तमान सिंहली भाषा के रूप में विकसित हुई है। द्वितीय एव तृतीय शताब्दी ई० पू० के प्रस्तर अभिलेखों (Rock Inscriptions) की भाषा से पालि का निकट सम्बन्ध है और सम्भवतः यह पालि के पहले की भाषा है। नेपाल के उत्तरी बौद्धों के ललितविस्तर (देखिए पृ० ५३, टि० १) में पाई जाने वाली गाथाओं की भाषा को कुछ लोग प्रचलित भाषा का एक और भी अधिक प्राचीन रूप मानते हैं, जिससे प्राकृत के, इस पद का सामान्यतः जनता की उन बोलियों के लिए प्रयोग करते हुए जो आधुनिक जनभाषाओं के पहले स्थित थीं, चार विभिन्न

तथापि, यह कल्पना नहीं की जानी चाहिए कि संस्कृत की रचना के इस दृष्टिकोण को ग्रहण करने में मेरा यह अभिप्राय है कि इसका बोली जानेवाली भाषाओं के साथ एक प्रकार का पितृवत् सम्बन्ध भी नहीं है। संस्कृत को जब पण्डितों ने अत्यन्त उत्कृष्ट रूप में समृद्ध कर दिया तो वह एक अर्थ में मृत हो गई, किन्तु दूसरे अर्थ में वह अब भी प्राणवान् है और जनता की वाणी में, उनकी सभी बोलियों[1] में नूतन जीवन प्रवाहित करती हुई जीवित है। कारण, जनभाषायें, जो संभवतः अपनी प्रथम उत्पत्ति में संस्कृत से स्वतन्त्र थीं, अब सबकी सब अपने शब्द-भण्डार को समृद्ध करने के लिए भूरिशः संस्कृत की ऋणी हैं।[2]

तब यदि किसी जनसमूह की केवल भाषा—अनन्यसंसक्त शब्दों की मात्र व्युत्पत्ति, उनके रूप एवं अर्थ में हुए परिवर्तनों का इतिहास—उसके अतीत एवं वर्तमान की नैतिक, बौद्धिक और भौतिक दशा का उत्कृष्ट पथप्रदर्शन प्रस्तुत कर सकती है, तो यह बात उसके साहित्य के विषय में कितनी अधिक सत्य होनी चाहिए! यहाँ हमें पुनः यह उल्लेखनीय तथ्य उपलब्ध होता है कि जाति, वर्ण, रीतियों, धर्म, एवं जलवायु की विभिन्नताओं के होते हुए भी भारत के पास आद्यावधि एक वास्तविक साहित्य है, जिसे समान रूप से सभी स्वीकार करते हैं, जो सबका सामान्य दाय भाग है।

योरोपीय देशों में साहित्य भाषा के साथ परिवर्तित होता है। प्रत्येक

श्रेणियाँ हो सकती हैं: १. गाथा, २. अभिलेख, ३. पालि, ४. नाटकों की प्राकृत (कोलब्रूक के निबन्धों का प्रोफेसर ई० बी० कोवेल का संस्करण २. २१)।

[1] हिन्दुओं की विद्वत्तापूर्ण भाषा एवं साहित्य के अनुशीलन के हितार्थ बनारस, कलकत्ता एवं अन्य स्थानों में स्थापित संस्कृत महाविद्यालय अच्छा कार्य कर रहे हैं, किन्तु, सबके बाद जनभाषाओं के ऊपर संस्कृत की छाप प्रारम्भिक महत्त्व का विषय है। क्योंकि हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सम्पूर्ण भारत में शिक्षा का सामान्य विस्तार मुख्यतः जनभाषाओं के माध्यम से होना चाहिए न कि केवल अंग्रेजी द्वारा। इस तथ्य के ज्ञान से ही इलाहाबाद में सर विलिअम म्यूर के नये कालेज (म्यूर युनिवरसिटी कॉलेज) की स्थापना हुई है, जिससे अनेक जनभाषाओं की पाठशालाएँ सम्बद्ध की जायंगी। जनभाषाओं के अध्ययन एवं उनके माध्यम द्वारा शिक्षा के विस्तार के सन्दर्भ में मैं सर चार्ल्स ट्रेवेलिएन (Sir Charles Trevelyan) के 'ओरिजिनल पेपर्स आन दि ऐप्लीकेशन आफ द रोमन अल्फाबेट टू द लैंग्वजेज़ ऑफ इण्डिया' पढ़ने की सलाह दूँगा, जिसका संपादन मैंने १८५९ में किया था (लागमैन्स)।

[2] ये दक्षिण-भारतीय भाषाओं—तमिल, तेलुगू, कनाड़ी, मल्यालम एवं तेलगू के के विषय में भी घटित होता है, यद्यपि यह स्वरूप में आर्य नहीं अपितु तूरानी या संश्लेषणात्मक परिवार की भाषाएँ हैं।

आधुनिक विभाषा का अपना साहित्य है जो सम्बद्ध जनसमूह की वास्तविक दशा का सर्वोत्तम प्रतिनिधि होता है। इटली वालों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए जब हमारे पास उसका आधुनिक साहित्य है तो हमें लैटिन पढ़ने की आवश्यकता नहीं। किन्तु हिन्दू जनभाषाओं का साहित्य (संभवतः तमिल को छोड़कर) अब भी कठिनाई से साहित्य नाम के योग्य है। अधिकांश अवस्थाओं में तो यह संस्कृत की ही प्रत्युत्पत्ति है।[1] भारतीय समाज की भूत एवं वर्तमान दशा समझने के लिए—हिन्दू मस्तिष्क की संकुल रचना-ग्रन्थियों को खोलने के लिए, तथा अन्यथा अव्याख्येय असंगतियों की व्याख्या करने के लिए—हम केवल संस्कृत साहित्य पर ही भरोसा रख सकते हैं।

संस्कृत काव्य, नाटक, विधि, और दर्शन की एकमात्र भाषा, एक अगाध तथा स्पष्टतः अस्तव्यस्त धार्मिक दर्शन की एकमात्र कुञ्जी, और हिन्दुओं के हृदयों तक पहुँचने का एक अमोघ माध्यम है, चाहे वे कितने भी अशिक्षित अथवा कितने भी असम्बद्ध हों। तत्त्वतः यह भारत के लिये उससे भी अधिक महत्त्व रखता है जितना सुधारयुग में लौकिक एव पादरियों का साहित्य योरोप के लिए महत्त्व रखता था। यह हिन्दू मस्तिष्क पर एक अधिक प्रगाढ़ चिह्न छोड़ता है। प्रत्येक हिन्दू, वह चाहे कितना भी निरक्षर हो, अज्ञात रूप में इससे प्रभावित होता है; और प्रत्येक अंग्रेज, चाहे पूर्व से वह कितना भी अनभिज्ञ हो यदि संस्कृत का पर्याप्त ज्ञान रखता है तो हमारे भारत के भूभागों के प्रत्येक कोने से शीघ्र ही सुपरिचित हो जायगा।

मैं विश्वास करता हूँ कि ये विचारणायें मेरे भारतीय साहित्य के इतिहास एवं स्वरूप का कुछ बोध कराने के प्रयत्न को युक्तिसंगत सिद्ध करेंगी।

तथापि यह स्पष्टतः समझ लेना चाहिए कि इस ग्रन्थ में उद्धृत भारतीय विद्वत्ता के दृष्टान्त सामान्यतः चित्र का केवल भव्य रूप ही प्रस्तुत करते हैं। वस्तुस्थिति के यथार्थ चित्र का रूप देने के लिए इस वर्णन में अनेक काली रेखाओं एवं छायाओं का भी सन्निवेश करना पड़ेगा।

---

[1] हिन्दूस्तानी (अन्यथा, जो उर्दू कहलाती है) के सम्बन्ध में, जो उत्तर पश्चिम जिलों की देश भाषा है और योरोप में फ्रेंच की तरह सम्पूर्ण भारत में चलती है, यह नहीं कहा जा सकता कि तिमूर के समय, प्रायः १४०० ई० के पहले यह एक पृथक् भाषा की श्रेणी में थी, जबकि इसका अन्तिम रूप से निर्माण तिमूर के उर्दू या शिविर में हिन्दी को मुसलमान आक्रामकों की अरबी और फारसी के साथ मिलाकर किया गया। इसका गद्य साहित्य जैसा है वह संस्कृत की अपेक्षा अरबी से अधिक ग्रहण करता है और नितान्त आधुनिक है। इसके सबसे बड़े कवि सौदा की रचनाएँ एक सौ वर्ष से अधिक पुरानी नहीं हैं।

हिन्दू दर्शन में जो कुछ भी उत्तम एवं सत्य है उन्हीं को प्राधान्य देने के मेरे आधार व्याख्यान १ के पृष्ठ ४ की टिप्पणी में वर्णित हैं। फिर भी, यहाँ मुझे उनके अतिरिक्त कुछ और कहना है।

यह मुझे उपयुक्त अवसर प्रतीत होता है जब सभी विचारवान् ईसाइयों को अपनी स्थिति पर पुनर्विचार करना चाहिए; और यदि आधुनिक भौतिकवादियों की भाषा का प्रयोग करें तो—उन्हें स्वयं को अपने परिवर्तित वातावरणों से पुनः समायुक्त करना चाहिए। पूर्वी राष्ट्रों की रचनाओं के निष्पक्ष अध्ययन के निमित्त मार्ग अब शीघ्रता से प्रशस्त किया जा रहा है। ईसाई धर्म के विरोधी तीन बड़े दर्शनों—ब्राह्मण धर्म, बौद्धधर्म एवं इस्लाम—के पवित्र ग्रन्थ अन्ततः अब सबके लिये प्राप्य हैं और ईसाई उनका अध्ययन करने के कर्त्तव्य से अब प्रमाद नहीं कर सकते।[1] संसार के सभी निवासी बड़ी

---

[1] उन ग्रन्थों के विषय में जिन पर विश्व के तीन बडे मिथ्या धर्म आश्रित हैं हमें न क़ेवल ब्राह्मणधर्म एवं इस्लाम के ग्रन्थ—नामतः वेद एवं कुरान—मूल पाठों के मुद्रित संस्करण एवं विभिन्न अनुवाद (देखिए पृ० ८-११) दोनो में प्राप्य हैं, अपितु बौद्धों की पवित्र नियमसंहिता भी—जो पालि नाम की (देखिए, प्रस्तावना पृ० ३३, टि० २) प्राचीन भाषा में लिखित हैं—अब सुलभ हो रही हैं। इसका नाम 'त्रि-पिटक' 'तीन पिटारियाँ या मंजूषाएँ इसके तीन भागों में विभाजन का द्योतक है : अ. सूत्र (पालि सूत्र) रचनाएँ जिनमें महान् बुद्ध के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक उपदेश हैं। ब. विनय-धर्माचार्यों की आचार सहिता, या वे रचनाएँ हैं जो भिक्षुकों (देखिए पृ० ५६) के जीवन को अनुशासित करने के लिए नियमों एवं दण्डों का विधान करती हैं। स. अभिधर्म (पालि-अभिधम्म) आध्यत्मविद्या एवं दर्शन इन तीन प्रकार की रचनाओं का पाठ पहली सभा के अवसर पर बुद्ध के तीन शिष्यों, क्रमशः आनन्द, उपालि एवं काश्यप ने किया था।

अ. में पाँच उपविभाग हैं : १. **दीघ-निकाय** (दीर्घ-नि०) लम्बे सूत्रों का सग्रह; २. **मज्झिम-निकाय** (मध्यम-नि०) मध्यम विस्तार के सूत्रों का संग्रह; ३. **सन्युत्त-निकाय** (सयुक्त-नि०) सूत्रों के समूह; ४. **अन्गुत्तर-निकाय,** अन्य सूत्रों का सग्रह; ५. **खुद्दक-निकाय,** (क्षुद्रक-नि०) छोटे सूत्रों का सग्रह जो निम्न पन्द्रह विभिन्न रचनाओं में है : १. **खुद्दक-पाठ,** छोटे पाठ, 'जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसाइटी' में श्री आर० सी० चाइल्डर्स द्वारा संपादित एवं अनूदित; २. **धम्म-पद,** धार्मिक उपदेश (शब्दशः धर्म पर पद या शब्द); ३. **उदान,** प्रार्थना के सूक्त; ४. **इतिवुत्तक्रम,** वे उपदेश जिनमें इतिवुत्तम् 'ऐसा कहा गया है' का प्रयोग मिलता है; ५. **सुत्त-निपात,** सामयिक सूत्र, ६. **विमानवत्थु,** स्वर्गीय प्रासादों की कथायें, ७. **पेतवत्थु,** प्रेतों की कथाएँ; ८. **थेर-गाथा;** ९. **थेरी-गाथा,** पुजारी एवं पुजारियों में श्रेष्ठ लोगों से सम्बद्ध; १०. **जातक,** बुद्ध के पूर्व जन्म; ११. **महा-निद्देस,** विशाल व्याख्या; १२. **पति-सम्भीदा,** पतियों की व्याख्या;

तीव्र गति से आवागमन की बढ़ती हुई सुविधाओं के द्वारा एक साथ खिंचे आ रहे हैं, एवं सेण्ट पाल की महान् उक्ति कि, 'परमात्मा ने मनुष्यों की सभी जातियों को एक रक्त से बनाया है' (एक्टूस १७-२६), प्रतिदिन अधिक बल-पूर्वक हमारी समझ में आती जा रही है। वाष्पपरिचलित मुद्रणालय तथा रेलपथ एवं टेलिग्राफ एक महान् कार्य करते हुये तीव्र परिवर्तन ला रहे हैं। वे प्रतिदिन हमारे ऊपर अद्यावधि अगम्य क्षेत्रों को ढूँढ़ निकालने के नये कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व लादते जा रहे हैं। निःसन्देह, अब हम जेण्टाइल्स के उस

---

१३. **अपदान,** शौर्य के कार्य; १४. **बुद्ध-वंश,** गोतम के पूर्व के बुद्धों का इतिहास; ५. **चरिया-पिटक,** अनुष्ठानों एवं कर्मों की मंजूशा।

ब. में पाँच उपविभाग हैं : १. पाराजिक; २. पाचित्तिय; ३. चूलवग्ग; ४. महावग्ग; ५. परिवार।

स. में सात उपविभाग हैं : १. धम्म-संगणी; २. विभंग; ३. कथावत्थु; ४. पुग्गल; ५. धातु; ६. यमक; ७ पाट्ठान।

अ. विभाग के पाँच उपविभाग **खुद्दक-निकाय** की पन्द्रह रचनाओं में **धम्म-पद, सुत्त-निपात** एवं **जातक** सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

धम्मपद, या विधि के उपदेश—जो पूर्णतः छन्द में है—व्याख्या (अर्थ-कथा या अट्ट-कथा) के अशों सहित कोपेनहागेन के डॉ० फाउसबेल द्वारा संपादित एवं प्रोफेसर वेवर (इण्डिशे स्ट्राइफेन १. ११८) तथा प्रोफेसर मैक्स मूलर द्वारा अनूदित हैं।

सुत्त-निपात का अनुवाद हाल ही में सर एम० कुमार स्वामी ने किया है (ट्रूबनर, १८७४)। इसमें सिद्धान्त एवं व्यवहार पर उक्तियाँ हैं और यह गद्य एवं पद्य में है—कभी-कभी कथोपकथन के रूप में—सम्भवतः यह अशोक के राज्यकाल में २४६ ई० पू० (देखिए पृ० ५८) में हुई तीसरी बौद्ध सगति के समय का है—इसकी तुलना वसिष्ठ के रामायण (देखिए पृ० ३६०) में राम को दिये गये वसिष्ठ के उपदेशों से की जाती है।

इन पन्द्रह में दसवीं रचना, अर्थात् जातक का भी अंशतः सम्पादन एवं अनुवाद फाउसबेल ने किया है (दस जातकों का थोडे समय पहले, ट्रूबनर, १८७२; पाँच अन्य जातकों का १८६१ में)।

अ. ब. स. विभागों के अन्तर्गत ऊपर दी गई ग्रन्थों की दीर्घ सूची लंका के दक्षिणी बौद्धों के पवित्र शास्त्र का रूप प्रस्तुत करती है। नेपाल के उत्तरी बौद्धों का त्रिपिटक सम्भवतः भ्रष्ट हो गया है और कुछ विस्तारों में अपने रूप में बडा हो गया है, यद्यपि ग्रन्थ के नाम—जहाँ तक अद्यवधि ज्ञात है—सब प्रकार से वे ही हैं। **सद्-धर्म-पुण्डरीक** एवं **ललित-विस्तर** (देखिए पृ० ५३, टि०) कभी इसी शास्त्र से सम्बद्ध समझे जाते थे किन्तु अब यह एक भ्रम सिद्ध हो गया है। पहली पुस्तक के बरनफ (Burnuf) कृत अनुवाद में (जिसे उन्होंने लोटस डि ला वोन्नी लोई कहा है) उत्तरी एव दक्षिणी त्रिपटकों के वैषम्य के ऊपर एक टिप्पणी प्रारम्भ की गई थी परन्तु उनकी असामयिक मृत्यु से वह अधूरी रह गई।

महान् ईश्वरदूत के उदाहरण का अनुसरण करने के लिए वाध्य हैं, जिसने जेण्टाइल लोगों से आलाप करते समय उन्हें 'धर्मभ्रष्ट' कहकर धिक्कारने के स्थान पर अत्यन्त ईश्वर-भीरु कहा और उन्हीं के कवियों में से एक ऐसे कवि की कविता के अंश का ईसाई सत्य के समर्थन के लिए उद्धरण दिया (एक्ट्स १७-२८) जिसने ईसाईयों के प्रति लिखते हुए उन्हें यह आदेश दिया कि वे किसी भी सत्य, साधु, न्याय्य, पवित्र, सुन्दर या उत्तम ख्याति की वस्तु की ओर से अपनी आँखें न वन्द करें. चाहे वह वस्तु जहाँ कहीं भी पाई जाती हो, और यह प्रवोधन दिया कि यदि कोई सद्गुण हो और कोई प्रशंसा हो तो उन्हें इन पर अवश्य विचार करना चाहिए (फिल्० ४-८)। निःसन्देह यह समय है जब हमें इस प्रकार भाषण करने और व्यवहार करने से विरत होना चाहिए था कि मानों जेण्टाइल्स के सत्य और ईसाइयों के सत्य दो नितान्त भिन्न वस्तुएँ हैं। निःसन्देह, जब हम हिन्दुओं की अपेक्षा अधिक सुविधाओं के अन्तर्गत होते हुए भी अपने दोषों पर लज्जा के साथ विचार करते हैं, तो हमें हिन्दू स्वभाव या हिन्दू रचनाओं में जो कुछ भी सत्य एवं उच्चकोटि का है उसे कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार कर लेना चाहिये।

हमें महात्मा पीटर के शब्द भी उस समय नहीं भूलना चाहिए जब—अपनी असन्दिग्ध श्रेष्ठता के पद से मिथ्या दर्शनों के अनुयायियों, यथा ब्राह्मणों, बौद्धों, पारसियों, पिंड-पूजकों एवं मुसलमानों पर दृष्टिपात करते हुये यद्यपि वे एक दूसरे से विस्तृत खाइयों द्वारा पृथक् हैं—हम उन सबको एक समूह के अन्तर्गत रख देने के अभ्यस्त हो गये हैं, मानो वे परमात्मा के राज्य से समान रूप में दूर हैं। उन सबको, या पहले चार को ही, 'भ्रष्टधर्म' या 'मूर्तिपूजक'[1]

[1] मैंने हाल ही में एक ईसाई एव एक उच्च संस्कृति के व्यक्ति द्वारा लिखित एक योग्य निवन्ध पढ़ा है, जिसमें 'धर्मभ्रष्ट' (Heathen) पद हत्यारों एवं दुष्टों के लिए प्रयुक्त किया गया है। इस तथ्य से मैं यह सोचता हूँ कि उजाड भूखण्डों एव उसके उपान्त जनपदों के निवासी प्रायः उच्छृङ्खल तथा अज्ञानपूर्ण होते थे। दूसरा लेखक कतिपय मूर्ख आवारा लोगों के विषय में कहता है : 'ये धर्मभ्रष्ट' ('These Heathen') इत्यादि। तथ्य की दृष्टि से मेरा विश्वास है कि यह इस पद का अप्राकृतिक प्रयोग नहीं और इस प्रकार के वाक्यांश जैसे 'धर्मभ्रष्ट व्यवहार' (Heathenish conduct), 'धर्मभ्रष्ट कल्पनाएँ (Heathenish ideas) हमारे बीच निन्दार्थक विशेषणों के रूप में सामान्यतः प्रचलित हैं। तब, क्या हम अब भी इस एक पद का ईसाई धर्म को न माननेवाले सभी लोगों के लिए सामान्य नाम के रूप में प्रयोग कर सकते हैं, चाहे वे (प्राचीन काल के कार्नेलिअस के समान) कितने भी ईश्वर भीरु एवं सदाचारी हों? Corruptio optimi pessima को भूलकर हम मुहम्मद के अनुयायियों को अपवाद रूप में रखते हैं। यह सत्य है कि वाइविल के अनुवादक सामान्यतः Heathen को 'जेण्टाइल राष्ट्र' के समानार्थक

के नाम से पुकारते रहना, मानो जैसे वे सभी समान रूप से मूर्तिपूजक होने से एक वर्ग में रखे जाने चाहिए, इन धर्मविधाओं के साथ हमारे बढ़ते हुए परिचय की वर्तमान परिवर्तित परिस्थिति में, एक ऐसा व्यापार प्रतीत होता है जो उस महान् देवदूत की भावना के पूर्णतः विरुद्ध है, जिसने जेण्टाइल लोगों को उपदेश देते समय उन्हें विश्वास दिलाया कि ईश्वर ने उसे किसी भी मनुष्य को साधारण या अपवित्र न कहने की शिक्षा दी थी; और यह घोषणा की कि ईश्वर व्यक्तियों का श्रद्धालु नहीं था किन्तु प्रत्येक राष्ट्र में जिस किसी ने उससे भय रखा और पुण्य के कार्य किये उसे उसने स्वीकार किया (एक्ट्स १०.३४, ३५; रोम० २.१०, ११, १४, १५; ३.२९ भी देखिए)।

आज विश्व के सभी राष्ट्रों के लिये अधिकाधिक यह कर्त्तव्य होता जा रहा है कि वे एक दूसरे का अध्ययन करें, एक दूसरे की विश्वास-पद्धतियों में प्रवेश करें और उनकी तुलना करें, किसी धर्म के निष्ठावान् एवं उत्साहपूर्ण अनुयायियों का उल्लेख करने में निन्दात्मक उक्तियों का त्याग करें, तथा परिश्रम के साथ यह ढूंढें कि वे पद्धतियाँ एवं सिद्धान्त जो उनकी अपनी श्रद्धा एवं आचार का पथप्रदर्शन करते हैं, एक सत्य आधार पर आश्रित हैं या नहीं।[१] इस कार्य के लिये निःसन्देह हम अंग्रेजों को, जिनके शासन में भारतवर्ष निविष्ट है, विशेष सुअवसर एवं उत्तरदायित्व प्राप्त है। क्योंकि भारत में तीनों बड़े धर्मों का, जो इस समय ईसाई धर्म के विरोध में खड़े हैं—ब्राह्मणधर्म, बौद्धधर्म एवं इस्लाम—प्रतिनिधित्व होता है। निःसन्देह, ब्राह्मणधर्म संख्या की दृष्टि से सर्वाधिक शक्तिशाली है। फिर भी, जैसा हम देख चुके हैं (प्रस्तावना, पृ० २१) मुसलमान इसकी जनसंख्या के षष्ठांश हैं।[१] जहाँ तक बौद्धधर्म का सम्बन्ध

शब्द के रूप में प्रयुक्त करते हैं, किन्तु यह इन दोनों शब्दों की कुछ व्युत्पत्ति सम्बन्धी समानताओं की भ्रमपूर्ण कल्पना पर आश्रित है। ग्रीस और रोमनिवासी, जिन्होंने शेष सम्पूर्ण विश्व को 'असभ्य' कहा है, हिन्दु जो दूसरे व्यक्तियों को 'म्लेच्छ' कहते हैं, तथा मुसलमान जो मुहम्मद में विश्वास न रखनेवालों को 'काफिर और गब्र' कहते हैं कभी भी, जहाँ तक मुझे ज्ञात है, इन शब्दों का प्रयोग दुष्टों एवं अपराधियों के लिये नहीं करते। यह एक प्रश्न बन जाता है कि यदि हमें ईसाई धर्म के संस्थापक के दृष्टान्त का अनुसरण करना है तो क्या हमें एक ऐसे विशेषण के लिये जो अब बहुत कुछ अत्यन्त निन्दार्थक हो गया है, 'जेण्टाइल्स' या 'अविश्वासी, या 'ईसाई-भिन्न (Non-Christian) राष्ट्र' जैसे पदों का प्रयोग नहीं करना चाहिए ?

[१] इस प्रस्तावना पृ० २१ पर यह पढ़कर कुछ लोग चौंक सकते हैं कि इङ्गलैण्ड संसार में सबसे महान् मुसलमानी शक्ति है और सम्भवतः जितनी मुस्लिम प्रजा तुर्की साम्राज्य के शासक के पास है उसके दूने से भी अधिक हमारी महारानी के अधीन है। भूमण्डल की वर्तमान जनसंख्या का स्थूलरूप में तेरह सौ लाख होने का अनुमान करने पर कन्फ्यूशियन

है, हमने यह प्रदर्शित किया है (पृ० ५२-६०) कि ब्राह्मणधर्म से इसका सम्बन्ध कुछ विषयों में वैसा ही है जैसा ईसाई धर्म का जूडाइज्म से; और यद्यपि यह सत्य है कि ईसाई धर्म के विपरीत, जिसका उदय सेमेटिक ज्यू लोगों में हुआ और आगे चलकर योरोप के आर्यों में प्रचारित हुआ, बौद्ध धर्म भारत के आर्यों में उत्पन्न हुआ और आगे चलकर तूरानी जातियों में फैला (देखिए पृ० ६, व्याख्यान १, एवं पृ० ६ टि० १), तथापि भारत निःसन्देह इस अति-प्रचलित दर्शन का मूल स्थान था—जो बहुसंख्यक मानव जाति का नाम मात्र का धर्म था। इसके अतिरिक्त नाटकों (यथा मालती माधव, पृ० ४७०) के एक अनुशीलन से यह जाना जा सकता है कि आठवीं शताब्दी ई० के अन्त तक हिन्दू एवं बौद्ध धर्म का भारत में एक साथ अस्तित्व था और वे एक दूसरे के प्रति सहिष्णु भी थे। पृ० १२४—१२७ का एक निर्देश यह स्पष्ट कर देगा कि बौद्ध दर्शन एवं बौद्ध विचारों ने हिन्दू धर्म पर एक गम्भीर प्रभाव छोड़ा है, और वे हमारे सम्पूर्ण पूर्वी साम्राज्य, में विशेषतः जैनों के बीच, (देखिए पृ० १२४) अब भी यत्र-तत्र बिखरे पाये जाते हैं। बौध धर्म, जैसा कि सुज्ञात है, लंका, पेगू एवं ब्रिटिश बर्मा की हमारी सहप्रजा का धर्म है और यह भारत के उपान्त जिलों, यथा चित्तगांग, दार्जिलिंग, आसाम, नेपाल, भूटान एवं सिक्किम में अब भी पाया जाता है।

अतएव ईसाई धर्म और विश्व के तीन[1] प्रमुख मिथ्या धर्मों के, जिस रूप

धर्मावलम्बियों (कुंग-फू-त्स्जे के अनुयायी, पृ० ६, टि० १) एवं ताओइस्त (लाउ-त्स्जे के अनुयायी) लोगों को मिलाकर बौद्ध धर्मावलम्बी प्रायः ४९० लाख होंगे; ईसाई ३६० लाख, मुस्लिम या मुहम्मद के अनुयायी १०० लाख; एवं ब्राह्मण धर्मावलम्बी हिन्दू तथा अर्ध-हिन्दू १८५ लाख। अन्य धर्मों में यहूदी प्रायः ८ या ९ लाख होंगे; जैन, पारसी सिख मिलकर प्रायः ३ या ४ लाख। अफ्रीका, अमेरिका एवं पोलिनेशिया के पिण्ड (Fetish) पूजक सम्भवतः शेष १५३ लाख होते हैं। १८७२ की जनगणना यह प्रदर्शित करती है सम्पूर्ण भारत में प्रोटेस्टेण्ट ईसाई धर्म को स्वीकार कर लेने वाले ३,१८,३६३ व्यक्ति थे। ईसाइयों, बौद्धों एवं मुसलमानों का धर्म प्रचारशील, और यहूदी, हिन्दुओं, पारसियों का का अप्रचारशील है। धर्मप्रचारण की भावना के बिना अविच्छिन्न जागरूकता एव वृद्धि नहीं हो सकती; और यह भावना ईसाई धर्म के स्वयं तत्त्व का अङ्ग है, जिसके प्रथम धर्मप्रचारक स्वय ईसामसीह (Christ) थे।

[1] पिछली जनगणना के अनुसार भारत में बौद्धों एवं जैनों की संख्या प्रायः तीन लाख (२६,२९ २००) होती है। सर जार्ज कैम्पबेल की रिपोर्ट में बगाल प्रान्तों में बौद्धों की संख्या ८६,४९६ दी गई है। यद्यपि जैनधर्म में बहुत कुछ बौद्धधर्म के समान है, तथापि यह पूर्णतः भिन्न दर्शन है। जैन सदैव अपने को हिन्दू कहते हैं और माने भी जाते हैं (देखिए, पृ० १२६ टि० १)। राजेन्द्रलाल मित्र के अनुसार जैन धर्मशास्त्र पचास

में वे आज भारत में पाये जाते हैं, बीच सम्बन्ध के विषयों का निर्देश करना आगे के पृष्ठों के उद्देश्यों में से एक है।[1]

इस सामान्य धरातल को बौद्ध धर्म की अपेक्षा, और इस्लाम की भी अपेक्षा, ब्राह्मण धर्म में अधिक पाया जा सकता है। इसके प्रमाण में मैं पाठक को बौद्ध धर्म के सारांश के लिए पृ० ५२-५९ देखने का निर्देश करूँगा; प्रचलित एवं गूढ़ दोनों प्रकार के हिन्दू धर्म के सारांश के लिए, पृ० ३५, ३१४ और पृ० १३ टिप्पणी १; संसार की सृष्टि से सम्बद्ध हिन्दू विवरण[2] के लिए पृ० २३, २१९; महाप्रलय के वर्णन के लिए पृ० ३१, ३८४; हिन्दू तथा मुस्लिम प्रकाशित वचन एवं तत्वदर्शन के सिद्धान्तों के लिए पृ० ७-९; मौलिक पाप की हिन्दू विचारधारा के लिए पृ० १४२ टिप्पणी १; मानवजाति की क्रमिक भ्रष्टता के हिन्दू विचार के लिए पृ० २२२, टि० ३; यज्ञों एवं धार्मिक

विभिन्न ग्रन्थों में निबद्ध है जिन्हें सामूहिक रूप से सूत्र और कभी **सिद्धान्त** कहते हैं, इनका वर्गीकरण दो भिन्न प्रकार से किया जाता है: प्रथम—**कल्पसूत्र** एवं **आगम** नाम के दो भागों में। पहले भाग में पाँच ग्रन्थ आते हैं और दूसरे में पैंतालिस। दूसरा—आठ विभिन्न भागों में बाँटा जाता है: १. ग्यारह **अंग**; २. बारह **उपांग**; ३. चार **मूलसूत्र**; ४. पाँच **कल्पसूत्र**; ५. छः **छेद**; ६. **दसपयन्न**; ७. **नन्दि-सूत्र**; ८. अनुयोग-द्वार-सूत्र। इनमें से कुछ की चार टीकायें हैं जिनके नाम हैं **टीका, निर्युक्ति, चूर्णी** एवं **भाष्य**; इस प्रकार मूल के साथ ये पंचविध (**पञ्चाङ्ग**) सूत्र होते हैं। ये अंशतः संस्कृत में एवं अंशतः मागधी प्राकृत में हैं और पचास ग्रन्थों का योग ६,००,००० श्लोकों के बराबर बताया जाता है (देखिये 'नोटिसेज आफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स' सं० ८, पृ० ६७)।

[1] निःसन्देह, प्राचीन फारस का धर्म भी, जिसे कभी जोरोस्ट्रियानिज्म कहा जाता है-एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं रोचक धर्म (देखिए पृ० ५)—उपलब्ध होता है परन्तु पारसी संख्या में स्वल्प हैं (देखिए टिप्पणी, प्रस्तावना पृ० १९ पर)।

[2] प्रोफेसर बनर्जी ('इण्डियन एण्टिक्वरी', फरवरी १८७५) का विचार है कि संसार की सृष्टि के हिन्दु विवरण में बाइबिल में दिये गये जलसमूह की सतह पर चिन्तामग्न आत्मा के प्रकाशन के चिह्न विद्यमान हैं; तथा नागों की कल्पना, जो नीचे के क्षेत्र में रहने वाले आधे सर्प और आधे मनुष्य थे बाइबिल में आये हुए उस सर्प के विवरण से मेल खाती है, जो दण्ड दिये जाने के पहले, जिसके द्वारा यह रेंगने वाला सर्प बन गया, सम्भवतः मौलिक रूप से नागों के अनुरूप ही प्राणी था। आयु (चन्द्रवंशीय) के पाँच पुत्रों में सबसे बड़े पुत्र की कथा से तुलना कीजिए, जिसका नाम नहुष था और जिसे अगस्त्य ने उसके तपस्या द्वारा इन्द्रपद प्राप्त करके ऋषियों को कन्धे पर अपनी पालकी ढोने के लिये बाध्य करने और कुछ को ठोकर मारने पर उसकी अत्यन्त गर्वोन्मत्तता के लिए सर्प हो जाने का शाप दिया था (मनु ७.४१; विष्णु-पुराण, पृ० ४१३ महाभा० ५ ३४३)।

अनुष्ठानों[1] के लिए पृ० ३०, टि० १, एवं पृ० २४२; पापमुक्त करने के जल के रहस्यमय प्रभाव[2] के लिए पृ० २३७-२३९, २६९ (पृ० २३९, नीचे से पंक्ति १० की भी तुलना कीजिए); पुनर्जन्म अथवा द्वितीयजन्म के लिए पृ० २०१, २४६; प्रायश्चित और शुद्धि के लिए पृ० २६९, २७०; अवतार और एक उद्धारक (Saviour) की आवश्यकता विषयक हिन्दू कल्पना के लिए पृ० ३१२-३२७; हिन्दू त्रिदेवों के त्रिविध प्रकाशन के लिए पृ० ३१४; प्रार्थना, स्नान, पवित्र ग्रन्थों की आवृत्ति, भिक्षादान, व्रताचरण आदि धार्मिक कर्त्तव्यों से सम्बद्ध हिन्दू एवं मुस्लिम शिक्षाओं के लिए पृ० १००—१०२, २२८ (टिप्पणी २ सहित), २५१; वर्तमान में इन कर्त्तव्यों के वास्तविक आचरण के लिए पृ० २४२ टिप्पणी १; आत्म-निग्रह और उपवास आदि के लिए पृ० १००—१०२; और अन्ततः नैतिक और धार्मिक भावनाओं के दृष्टान्तों के लिए पृ० २७४-२८९, ४३८, ४३९, ४४८-४५३ को निर्दिष्ट करूँगा।

कहीं यह निष्कर्ष न निकाल लिया जाय कि इन चारों धर्मपद्धतियों की तुलना में पूर्ण औचित्य एवं निष्पक्षता का प्रतिपादन करते हुए मैंने वर्तमान ग्रन्थ में अपने धर्म के सर्वप्रमुख पद को स्वल्प परिमाण में भी निम्नतर बनाने का ध्येय रक्खा है, अथवा विश्व के अन्य धर्मों के साथ ईसाई धर्म को एक अशोभनीय प्रकाश में रखने के लिए कुछ लिखा है, इसलिए मैं इस भूमिका को कुछ ऐसे मुख्य विषयों की ओर मुड़ते हुए समाप्त करता हूँ, जो मेरे विचार

---

[1] हिन्दुओं में 'यज्ञ करना' अर्थ में दो धातुएँ हैं, 'हु' (=पुरानी धु) और 'यज्'। प्रथम का प्रयोग अग्नि में घृत की आहुतियों तक ही सीमित है; दूसरे का यज्ञ करने एवं सामान्य रूपेण यज्ञों से देवताओं का आदर करने में प्रयोग होता है। एक तीसरी धातु 'सु' का प्रयोग सोम के रस द्वारा—विशेषतः इन्द्र देवता को आहुति देने के लिए होता है—जो भारत में यज्ञ का प्राचीनतम रूप है (पृ० ३० पर टि० १)। यज्ञ की कल्पना सम्पूर्ण हिन्दू पद्धति में सन्निविष्ट है। यह प्राचीनतम कल्पना है जो उनके धार्मिक ग्रन्थों में प्रकट होती है और किसी भी साहित्य में—यहूदी लोगों के भी साहित्य में—यज्ञ विषय पर इतने शब्द नहीं है जितने संस्कृत साहित्य में। यह उल्लेखनीय है कि देवताओं को चढाये गये भोजन को जब पुरोहित विभक्त करके खा लेते हैं और चावल को लोगों में बाँट देते हैं तो वह प्रसाद कहलाता है।

[2] पवित्र नदियों में स्नान करना—विशेषतः गंगा में एवं विशिष्ट तीर्थों में, यथा हरिद्वार एवं प्रयाग में—आत्मा को सभी पापों से निर्मल करता है। इस कारण मृतप्राय व्यक्तियों को नदी के किनारे लाया जाता है एवं प्रायः उनके मुख में तुलसी की पत्तियाँ डाली जाती हैं। इस कारण से ही गंगा का जल (तथा अन्य पवित्र तरल पदार्थ) राजाओं के अभिषेक (देखिए पृ० ५०१ एवं तुलना रामायण २.१५.५) तथा शपथ के समय प्रयुक्त होता था।

से, हमारे अपने धर्म के विशिष्ट लक्षण हैं और जो उसे स्पष्टतः अन्य सभी धर्मों से सम्पूर्ण मानव जाति की पुनरुत्पत्ति करने में समर्थ एकमात्र दैवी योजना के रूप में पृथक् करते हैं।

मुझे तब ऐसा प्रतीत होता है कि इन चार धर्मों—ईसाई धर्म, इस्लाम, ब्राह्मण धर्म एवं बौद्ध धर्म—की एक साथ तुलना करने में उस सर्वोच्च अपार्थिव सत्य की सपन्नता का सूक्ष्म परीक्षण, जो चारों में से केवल एक के अधिकार मे हो सकता है तथा जिसे, यदि मानवजाति के एकमेव पिता द्वारा उसके सभी प्राणियों के कल्याण के लिए अलौकिक ढङ्ग से प्रदान किया गया हो तो—सभी स्थानों पर प्रवाहित होने के निमित्त से युक्त होना चाहिए, इन दो प्रश्नों के उत्तर मे सन्निहित माना जा सकता है : पहला, वह चरम पदार्थ जिस पर प्रत्येक का लक्ष्य है ? दूसरा किन साधनों एवं किस कर्तृत्व द्वारा इस लक्ष्य को सिद्ध होना है ?

१. हम बौद्ध धर्म से प्रारम्भ करते हैं, क्योंकि धार्मिक दर्शन के रूप मे यह सबसे निम्न है। वस्तुतः यह सच्चे अर्थ मे धर्म की संज्ञा प्राप्त करने की योग्यता नहीं रखता, या उसका दावा भी नहीं करता; यद्यपि संख्या की दृष्टि से यह चारों धर्मों मं सर्वाधिक शक्तिशाली है। अब प्रथम प्रश्न के सम्बन्ध मे :—

विशुद्ध बौद्ध जिस पदार्थ को लक्ष्य बनाता है, वह, जैसा कि हमने पृ० ५५ पर दर्शाया है, निर्वाण या अग्नि शिखा के समान बुझ जाना है,—दूसरे शब्दों में—पूर्ण विनाश है। यह सत्य है कि केवल श्रमणों या भिक्षुकों को ही सीधे निर्वाण का ध्येय रखनेवाला कहा जा सकता हैं (देखिए पृ० ५६, ५७)। उपासक या गृहस्थ लोग जीवन की भावी दशाओं की समृद्धि या विपत्ति पर कर्मों के प्रभाव के विषय में ही सोचते है। किन्तु यदि व्यक्तित्व एवं पूर्व स्थितियों की स्मृति सुरक्षित नहीं है तो मृत्यु को सम्पूर्ण विनाश के अतिरिक्त अन्य रूप में कैसे माना जा सकता है ?

२. ब्राह्मण धर्म इससे अधिक ऊँचे स्तर पर पहुँचता है, क्योंकि इसमें इस धर्म के महान् लक्ष्य एवं उद्देश्य के रूप में परमात्मा के साथ संयोग की एक सैद्धान्तिक अतिकांक्षा है (देखिए पृ० ४९०)। तथापि, इस संयोग का वस्तुतः अर्थ है एक अद्वितीय स्वयं-भू आत्मा के साथ तादात्म्य या उसमें विलयन, जैसे नदियाँ समुद्र में विलीन हो जाती हैं। इस कारण, ब्राह्मण धर्म का वस्तुतः मनुष्य के व्यक्तित्व का नाश करने मे अन्त होता है, और यदि सिद्धान्ततः नहीं तो व्यवहारतः यह अपने अनुयायियों को उसी संपूर्ण विनाश में पहुँचाता है, जिसे बौद्धों ने अपना लक्ष्य बनाया है। तत्त्वतः इन दोनों दर्शनों को शिक्षायें जितनी ही अधिक उच्चकोटि की और जितनी ही अधिक गूढ़ हैं

उतनी ही अधिक स्पष्टता से वे अपने को अपने वास्तविक रंगों में, सभी क्रियाओं, व्यक्तित्व, आत्म-चेतना, एवं वैयक्तिक अस्तित्व के विनाश द्वारा जीवन के कष्टों से मुक्ति पाने के लिए केवल योजनाओं के रूप में, प्रदर्शित करते हैं।

३. अब हम इस्लाम की ओर मुड़ते हैं। मुहम्मद ने जो लक्ष्य कुरान के शिष्यों के सम्मुख रखा वह था एक भौतिक देवलोक (जन्नत[१]) में प्रवेश, जिसे छायादार उपवनोंवाला, मधुर फलों के प्राचुर्य से युक्त, प्रवाहमान स्रोतों (अन्हार) द्वारा सिक्त, कृष्णाक्षी हूरों से पूर्ण, तथा अद्वितीय शारीरिक आनन्दों से आकीर्ण वर्णित किया गया है। निःसन्देह यह सत्य है कि आध्यात्मिक सुखों एवं ईश्वर की कृपा भी इसके आनन्दों के एक भाग बताये गए हैं तथा मनुष्य के व्यक्तित्व का स्थायित्व भी ध्वनित है। किन्तु, फिर भी, एक पवित्र ईश्वर अपने जीवों से अपरिमित दूरी पर रक्खा गया है और उसके साथ घनिष्ट संयोग अथवा उसके सान्निध्य की प्राप्ति भी मुक्ति का मूलमन्त्र नहीं है।

४. ब्राह्मण धर्म, बौद्ध धर्म, एवं इस्लाम के विपरीत, ईसाई धर्म में लक्षित एक पदार्थ निश्चित रूप से एक पवित्र ईश्वर के प्रति ऐसा उपगमन एवं उसके साथ ऐसा संयोग है जो न केवल मनुष्य की अपनी व्यक्तिगत इच्छा, शक्ति, एवं व्यक्तित्व के स्थायित्व को सुरक्षित रखेगा अपितु उन्हें गहनता भी प्रदान करेगा।

तथापि, संभवतः दूसरे प्रश्न के उत्तर में ही इन चार धर्मों की महान् विभिन्नताएँ सर्वाधिक स्पष्ट हैं।

प्रत्येक दर्शन का लक्ष्यभूत पदार्थ कैसे एवं किन साधनों द्वारा स्पष्टतः प्राप्त होता है? इसका उत्तर देने में, हम क्रम को उलट कर अपने धर्म से प्रारम्भ करते हैं।

१. ईसाई धर्म घोषणा करता है कि यह अपना लक्ष्य समग्र मनुष्य के आमूल परिवर्तन एवं उनके स्वभाव के सम्पूर्ण नवीकरण से कथमपि अन्यून साधन द्वारा सिद्ध करता है: जिस साधन से यह नवीकरण संपन्न होता है उसे एक प्रकार का पारस्परिक स्थानान्तरण (Mutual transfer) या स्थाननिवेशन (Substitution) कहा जा सकता है, जो परमात्मा एवं मानव स्वभाव के बीच एक दूसरे को प्रभावित करते हुए पारस्परिक विनिमय एवं

---

[१] मुसलमानों का विश्वास है कि सात (या आठ) स्वर्ग हैं जो आनन्द की कोटियों का प्रतिनिधित्व करते हैं, तथा सात नरक (जहन्नम) हैं, जिनमें सातवाँ या सबसे गहन दंभियों के लिये, छठा मूर्तिपूजकों के लिये एवं तीसरा ईसाईयों के लिए है।

सहकारिता उत्पन्न करता है। बाइबिल दृढ़ता से कहता है कि मनुष्य परमात्मा की प्रतिमा रूप में रचा गया था, किन्तु उसका स्वभाव एक कलंक से दूषित हो गया जो मानव के प्रथम प्रतिनिधि एवं मनुष्य जाति के पिता के पतन से उत्पन्न हुआ था और जो केवल एक प्रतिनिधिरूप मृत्यु से ही दूर हो सका।

इस कारण दूसरे प्रतिनिधि मनुष्य—ईसा—ने, जिनका स्वभाव ईश्वरीय एवं निष्कलंक था, स्वेच्छापूर्वक एक पापी की मृत्यु झेली जिससे प्राचीन कलुषित स्वभाव का कलंक भी जो उन पर स्थानान्तरित हो गया था, विनाश प्राप्त करे। किन्तु इतना ही नहीं है। हमारे धर्म का महान् मौलिक सत्य ईसा की मृत्यु के तथ्य में उतना निहित नहीं जितना कि उनके अविच्छिन्न जीवन के तथ्य में निहित है (रोम० ८.३४)। पहला तथ्य यह है कि उन्होंने अपनी स्वतन्त्र इच्छा से प्राण दिये; किन्तु दूसरा और अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि वे फिर उठ खड़े हुए और शाश्वत् जीवित हैं। वे मृत्यु के लिये जीवन प्रदान कर सकते हैं एवं कलंक के स्थान पर, जिसे उन्होंने दूर किया है, स्वयं अपने अपार्थिव स्वभाव में अंश प्रदान कर सकते हैं।

यही पारस्परिक विनिमय है जो ईसाई धर्म की विशेषता है और जो इसे सभी धर्मों से पृथक् करता है—यह एक विनिमय है एक कलंक-दूषित पिता से उत्पन्न वैयक्तिक मनुष्य एवं मनुष्य बनाये गये तथा हमारे द्वितीय पिता होने वाले वैयक्तिक परमात्मा के बीच। हम एक सड़ी हुई जड़ से पृथक् एवं जीवित जड़ पर आरोपित कर दिये गये हैं। हम प्रथम आदम से परम्परया प्राप्त भ्रष्ट इच्छा, दूषित नैतिक भावना, एवं विकृत निर्णयों से दूर होते हैं तथा पुनः—रचनात्मक शक्ति—नवीकृत इच्छाएँ, बुद्धिमता के अभिनव स्रोत, सदाचार एवं ज्ञान[1] द्वितीय आदम के अक्षय्य अपार्थिव मूल

[1] ईसाई धर्म पर यह आरोप लगाया गया है कि यह ज्ञान की वृद्धि को प्रतिबद्ध करता है; किन्तु जिस एक ज्ञान की यह निन्दा करता है वह ऐसा निःसार ज्ञान है जो फूल उठता है 'Puffeth up' (१. कोर० ८.१,२)। 'ईश्वर प्रकाश है' या स्वयं ज्ञान ही है। जितना ही एक ईसाई ईश्वरतुल्य होता जाता है उतना ही वह प्रकाश की वृद्धि का लक्ष्य रखता है, चाहे वह धर्म में हो या विज्ञान में। ईसा के विषय में कहा गया है कि 'उनमें बुद्धिमत्ता एवं ज्ञान के सभी भण्डार छिपे हुए हैं' (कोल० २.३)। सत्य एक होना चाहिए, एवं सभी सत्य को उसके और उसकी कृपा द्वारा उद्भूत बताया गया है (सेण्ट जान १.१७)। इसके विपरीत, अन्य धार्मिक दर्शन बहुत सी ऐसी वस्तुओं से भरे पड़े हैं जो विज्ञान की प्रत्येक शाखा में मिथ्या हैं, जिससे भूगोल का एक सरल पाठ भी ऐसे धर्मों के प्रत्येक विचारवान् व्यक्ति की निष्ठा को हिलाने लगता है।

से प्राप्त करते हैं, जिसके साथ श्रद्धा की एक सरल क्रिया द्वारा हम संयुक्त हो जाते हैं। इस ढङ्ग से ईसाई धर्म का महान् लक्ष्य सिद्ध होता है। अन्य धर्मों के उनके अपने नैतिकता के सिद्धान्त एवं उपदेश हैं, जिन्हें उनमें जो अधिक निन्द्य एवं निरर्थक तत्त्व हैं उनसे सावधानीपूर्वक पृथक् किया जाय तो वे ईसाई धर्म के सिद्धान्तों एवं उपदेशों से भी समानता कर सकते हैं। किन्तु इन सबके अतिरिक्त ईसाई धर्म में एक ऐसी वस्तु है जो अन्य धर्मों में नहीं है और वह है—एक वैयक्तिक परमात्मा (Personal God) जो सदैव मुक्त कृपा या ऐसी पुनरुद्धारक चेतना प्रदान करने के लिए जीवित रहता है, जिस चेतना द्वारा मानव स्वभाव की पुनः सृष्टि होती है, और वह पुनः ईश्वरतुल्य बनाया जाता है। इसी के माध्यम से मनुष्य पुनः 'हृदय से पवित्र' होकर तथापि अपनी इच्छा, आत्म-चेता एवं व्यक्तित्व को धारण करते हुए परमपिता परमात्मा के निकट पहुँचने एवं सर्वदा के लिए उसके समीप रहने योग्य हो जाता है।

२. इसके विपरीत इस्लाम में मुहम्मद को परमात्मा का पैगम्बर मानने के अतिरिक्त और कुछ नहीं माना जाता। उन्होंने देवत्व के मनुष्यत्व के साथ किसी संयोग[1] का दावा नहीं किया। उनका मानव स्वभाव भी निर्मल नहीं

---

[1] उन्होंने अपने को एक नये धर्म का संस्थापक भी नही कहा; किन्तु यही कहा कि उन्हें इस्लाम (प्रस्तावना पृ० ५०) एवं इसके प्रमुख सिद्धान्त—ईश्वरत्व का ऐक्य—की घोषणा करने के लिए भेजा गया था जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन कुरान अत्यन्त सुन्दर भाषा में करता है (अध्याय २.२५६, २४.३६)। कुरान में परमात्मा (अल्लाह) के एक सौ नाम हैं जो उसके विशेषणों के द्योतक हैं। इनमें 'दयालु', 'कृपापूर्ण' प्रायशः आते हैं। किन्तु मुहम्मद ने बताया कि ईश्वर न तो उत्पन्न करता है और न उत्पन्न किया जाता है। कुरान के अध्याय २ में हम पढ़ते हैं : 'पूर्व और पश्चिम परमात्मा के अधिपत्य में हैं अतएव जिस ओर तुम उनकी प्रार्थना करने के लिए मुख करते हो उस ओर परमात्मा का मुख होता है; क्योंकि परमात्मा सर्वव्याप्त एवं सर्वज्ञ है। लोग कहते हैं "परमात्मा ने बच्चों को जन्म दिया है", "ईश्वर ऐसा न करे।" तथापि, मुहम्मद ने यह अस्वीकार नहीं किया कि ईसा एक पैगम्बर और ईश्वर दूत थे। उन्होंने अपने को केवल उनसे बाद का और उनसे महत्तर पैगम्बर होने का दावा किया। कुरान (४१.६) में इस प्रकार है : "मेरी के पुत्र, ईसा, ने कहा, 'ऐ इजराइल के सन्तानों, मैं ही परमात्मा का दूत हूँ। उस विधि को जो मेरे सम्मुख घोषित किया गया, दृढ़ करता हुआ एवं उस देवदूत के शुभ समाचार लेकर तुम्हारे पास भेजा गया हूँ, जो मेरे बाद आवेगा और जिसका नाम अहमद होगा (= मुहम्मद, ग्रीक में मुस्लिम विद्वानों ने ऐसा सुझाया है कि इसे उपरोक्त प्रकार से लिखा जाना चाहिए)'। "किन्तु यद्यपि इस प्रकार गर्व के साथ उन्होंने ईसा का उत्तराधिकारी होने का दावा किया, तथापि परमात्मा के देवत्व में किसी प्रकार का हिस्सा लेना उनकी सम्पूर्ण शिक्षाओं के विपरीत था। उन्होंने उन अद्भुत कार्यों (आयत, करामत) पर भी अपना दावा नहीं किया, जिन्हें उन्होंने स्वयं अपनी क्रिया से

माना गया और न तो उन्होंने मध्यस्थता या प्रतिनिधित्व के कार्यों का अधिकार जताया। उनकी मृत्यु सामान्य मनुष्य के समान हुई; और निःसन्देह वे कब्र

सम्पन्न किया था। यह कहा जाता है कि कुछ सन्देह रखने वालों ने उनसे सफा पहाड़ी को स्वर्ण में परिवर्तित कर एक चिह्न देने की प्रार्थना की, किन्तु उन्होंने इस आधार पर ऐसा करना अस्वीकार कर दिया कि परमात्मा ने उन्हें यह ज्ञान दिया था कि यदि इस चमत्कार को देखने पर भी वे विश्वासरहित बने रहे तो उन सब का नाश हो जायगा। अपने आगमन का जो एकमात्र चिह्न उन्होंने बताया वह स्वयं कुरान था। उन्होंने स्वयं को सद्यःउत्पन्न शिशु के समान अशिक्षित अथवा दूसरे शब्दों में पूर्णतः निरक्षर व्यक्ति बताया, जिसे अलौकिक सुन्दर भाषा में एक ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ था। तथापि, यह पूर्णतः सत्य है कि मुहम्मद के जीवनी लेखकों ने बाद में अपने पैगम्बर से अनेक चमत्कारों का सम्बन्ध जोड़ दिया। उदाहरणार्थ यह परम्परा से चला आ रहा है कि लोहे की एक छड लेकर उन्होंने एक विशाल शिलाखण्ड पर इतनी शक्ति से प्रहार किया कि वह खण्ड-खण्ड हो गया और उस प्रहार से ऐसी ज्योति निकली जिसकी चमक मेदिना से फारस में मदेन तक हुई। लैलत उल् मि'राज नाम की रात को उन्होंने बुर्राक नाम के एक कल्पित खच्चर पर चढ़कर जरूसलम से स्वर्गारोहण किया। उन्होंने चन्द्रमा को (शक्क उल-कमर नाम के चमत्कार द्वारा) तोड़ा। उन्होंने एक सैनिक की आँख अच्छी की। एक डण्डे को तलवार बना दिया। उन्होंने अपनी अंगुलियाँ रिक्त पात्रों पर रखीं और उनमें जल की धारायें फूट पड़ीं। एक भेड के कलेजे से उन्होंने १३० मनुष्यों को भोजन कराया। कुछ रोटियों एवं एक मेमने से उन्होंने एक लाख व्यक्तियों को भोजन कराया और बहुत से टुकड़े शेष भी रह गये। एक बार उन्होंने परमात्मा की प्रार्थना द्वारा सूर्य को, जब वह प्रातः अस्तगत हो चुका था, फिर से लौटा लिया। जब उन्होंने मक्का (मक्काह) में प्रवेश किया तो पर्वतों एवं वृक्षों ने उन्हें प्रणाम किया और कहा, 'तुम्हें शान्ति मिले ऐ परमात्मा के दूत।'

यहाँ पुनः उपरोक्त बातों के विपरीत, यह ध्यान देने योग्य है कि बाइबिल में प्रायः निन्यान्नवे नाम ईश्वर मानव रूप स्वयं ईसा के लिए प्रयुक्त किये गये हैं तथा ईसाई वैयक्तिक ईसा (Personal Christ) को चमत्कारों के एक चमत्कार रूप में एवं उनके वैयक्तिक पुरुद्धार (Personal resurrection) के चिह्नों के चिह्नों के रूप में प्रमाणित करते हैं; जबकि स्वयं ईसा ने 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' के अतिरिक्त किसी अन्य ग्रन्थ को प्रमाण नहीं माना; न तो उन्होंने कोई दूसरा ग्रन्थ लिखा या किसी ग्रन्थ के लिखने का आदेश ही दिया। उन्होंने चिह्नों का अन्वेषण करने की अबाधित अतिकांक्षा की निन्दा करते हुए अपने किए हुए चमत्कारों की अपेक्षा अपने व्यक्तिगत दृष्टान्त, शब्द, एवं कार्यों को अधिक महत्व दिया। हम यह भी देख सकते हैं कि 'न्यू टेस्टामेण्ट' की भाषा में प्राप्त कलारहित अकृत्रिम सरलता एवं जिसे हम शैली की काल्पनिक आभा कह सकते हैं। उसकी नितान्त अनुपस्थिति मुहम्मद के मिथ्या प्रकाशन (Revelation) के अंशों की यत्नकृत प्रगल्भोक्तियों के साथ उल्लेखनीय विरोध प्रदर्शित करती हैं। चमत्कारों के विषय में रेव० जी० रेनोल्ड का एक बहुमूल्य लघु ग्रंथ देखिए, जिसका नाम 'हाउ डिड क्राइस्ट रैंक द प्रूफ्स आफ हिज मिशन ?' (हैचर्डस् १८७२)।

से पुनः उठ खड़े नहीं हुए[1] जिससे कि उनके अनुयायी उनमें पारलौकिक जीवन एवं जीवनदायी शक्ति के अविरल स्रोत प्राप्त कर सकते जिस प्रकार शाखाएँ जीवित मूल से रस एवं पोषक तत्त्व ग्रहण करती हैं। न तो मुसलमान ही उन्हें किसी ऐसी पुनरुत्पादक शक्ति का स्रोत मानते हैं जो उनके सम्पूर्ण अस्तित्व को परिवर्तित करने में समर्थ हो। परमात्मा की दया के विषय में कुरान में जो कोई भी सिद्धान्त प्रतिपादित हो, परलोक व्यवहारतः केवल मुसलमानों को ही उन धार्मिक कर्त्तव्यों के कठोर पालन द्वारा प्राप्त है जिन्हें परमात्मा एक निरंकुश सम्प्रभु एवं कठोर कार्याध्यक्ष के रूप में सौंपता है[2]। यदि ये धार्मिक

---

[1] तथापि, उनकी स्वाभाविक मृत्यु हुई नहीं बतायी जाती, अपितु एक यहूदी स्त्री द्वारा विष दिये जाने से उनकी मृत्यु बतायी जाती है।

[2] मुहम्मद इस्लाम तथा अपने धर्मोपदेश में निष्ठा, पश्चात्ताप, प्रार्थना का अनुष्ठान, उपवास, भिक्षादान, तीर्थयात्रा, एवं कुछ शब्दों (विशेषतः कुरान के अंशों) की निरन्तर आवृत्ति को स्वर्ग प्राप्त करने के अमोघ साधन बताते हैं। एक स्थान पर, कष्ट, सहनशीलता, परमात्मा के भय में विचरण, एवं उससे आसक्ति को महत्व दिया गया है (देखिए साले का कुरान २९.१–७; ४.२१; १८.३१; २०.६१; २१.९४; २२.१४; २३.१)। तथापि यह मानना होगा कि अन्यत्र कुरान कहता है कि स्वर्ग की प्राप्ति में सत्कर्मों का कोई वास्तविक पुण्य प्रभाव नहीं है तथा सदाचारी केवल परमात्मा की कृपा द्वारा ही वहाँ प्रवेश पाते हैं। वस्तुतः इस्लाम में प्रत्येक कर्म 'कृपावान् एवं दयाशील परमात्मा (बिस्मिल्लाह अर-रहमान अर-रहीम) को साक्षी बनाकर' किया जाता है। परन्तु यह टाँक लेना चाहिए कि कुरान किसी भी प्रकार क्रमबद्ध एवं अविरुद्ध नहीं है। प्रसंग की आवश्यकता के अनुसार यह असंबद्ध अंशों के रूप में प्रदान किया गया था, एवं प्रायः अस्तव्यस्त एवं विरोधपूर्ण होने से इसे परम्परागत उपदेश द्वारा स्पष्ट एवं विकसित करने की आवश्यकता पड़ी। इन परम्पराओं को सुन्नह कहा गया गया है एवं सुन्नी उसको कहते हैं जो केवल कुरान पर ही नहीं किन्तु उन परम्पराओं पर आधृत मुहम्मद के नियमों का पालन करता है जिनकी व्याख्या इस्लाम के चार बड़े विद्वानों या नेताओं, शाफि-ई' हनीफ, मालिक एवं हन्बल, ने की है। इनमें से प्रत्येक एक सम्प्रदाय का नेता है। यह टाँक लेना चाहिए कि शीआ— 'शी' अत, (एक सम्प्रदाय के मनुष्यों का दल) से व्युत्पन्न नाम—सुन्नियों के वैसे ही विरोधी हैं जैसे प्रोटेस्टेन्ट रोमन कैथोलिकों के। ये सुन्नियों की परम्पराओं को अस्वीकार करते हैं; उनसे वे मुहम्मद के हिज्र (९८५ ई०) के प्रायः २६३ वर्ष पश्चात् अब्बासी खलीफाओं (मुहम्मद के चाचा अब्बास के वंशज, जिन्होंने बगदाद और फारस पर ७४९ से १२५८ ई० तक खलीफाओं के रूप में शासन किया) में से एक के नेतृत्व में अलग हो गये थे। वे अपने को 'शी' था' नहीं बल्कि 'अदलीयह', 'अधिकारी समाज' कहते हैं तथा मुहम्मद के प्रथम तीन उत्तराधिकारियों, अबूबक्र, उमर एवं ओथमान (पहले दो मुहम्मद के श्वशुर थे एवं तीसरा उनका जमाता था) का खलीफा होना अस्वीकार करते हैं जिन्होंने मदीना में शासन किया था। शिआ लोग इन तीनों को उत्तराधिकार (खलीफाई) का अपहरणकर्त्ता मानते हैं, जिस पर वे दूसरे जमाता, चौथे खलीफा अली (पैगम्बर की पुत्री

अभ्यास वस्तुतः एक निर्जीव रूप से बढ़कर हैं तो वह जीवनतत्त्व जो उन्हें चेतना प्रदान करता है मुहम्मद से उद्भूत नहीं माना जा सकता। तथापि निष्पक्षता का तकाजा हमें यह स्वीकार करने के लिये बाध्य करता है कि एक उल्लेखनीय विषय में प्रत्येक वास्तविक मुसलमान ईसाइयों के लिए एक उत्तम आदर्श उपस्थित करता है। इस्लाम शब्द का अर्थ है 'परमात्मा की इच्छा के सम्मुख 'सम्पूर्ण समर्पण' तथा मुसलमान वह है जो उस इच्छा के प्रति बिना असन्तोष के स्वयं को समर्पित कर देता है। वही निष्पक्षता यह प्रश्न भी उठाती है कि क्या इस्लाम के अनुयायी का आत्मसमर्पण अपने पिता पर सभी वस्तुओं के जीवन एवं प्राण के लिए आश्रित रहनेवाले प्रिय बालक के समर्पण की अपेक्षा कठोर स्वामी के क्रोध से भयभीत रहनेवाले अधम दास का समर्पण नहीं हो सकता ?

३. ब्राह्मणधर्म के विषय में हमें यह निष्पक्ष रूप से कहना पड़ेगा कि इसके अधिक पूर्णतः विकसित दर्शन के अनुसार, परमात्मा के साथ संयोग का लक्ष्य स्पष्टतः वैयक्तिक देवता में निष्ठा द्वारा, कर्मों द्वारा, एवं ज्ञान द्वारा साध्य

फातिमा के पति तथा हसन एव हुसेन के पिता) का अधिकार बताते हैं जिसे वे अपने वास्तविक इमामों में पहला मानते हैं एवं जिसने अपने पुत्रों सहित कूफा पर राज्य किया था। तुर्की, मिस्रदेशीय, एवं भारतीय मुसलमान अधिकांशतः सुन्नी हैं, जब कि फारस के मुसलमान शीआ हैं। शीआ लोगों का यह सिद्धान्त, जिसे इस्लाम का प्रतिक्रियात्मक रूप कहा जा सकता है, निःसन्देह मुहम्मद के मौलिक धर्म से अधिक आध्यात्मिक है। जब इसका फारस में विकास हुआ तो यह कुछ अंश में जोरोस्तर के प्राचीन धर्म से प्रभावित हुआ, जो इसके पहले इस देश में प्रचलित था। वहाँ शीआ सम्प्रदाय ने अन्ततोगत्वा एक प्रकार के आध्यात्मिक दर्शन को जन्म दिया जो सूफीमत कहलाया—यह भारतीय वेदान्त (देखिए इस ग्रन्थ का पृ० ३६) से इतना मिलता-जुलता है कि इसे दो विचारधाराओं पर आधृत बताया गया हैं : १. परमात्मा के अतिरिक्त कोई भी वस्तु तत्वतः अस्तित्व नहीं रखती; उनके अतिरिक्त सब भ्रम है। २. परमात्मा के साथ संयोग मानव प्रयत्न का परम लक्ष्य है (देखें इस ग्रन्थ का पृ० १०९)। शीआ लोग मुहर्रम (उनके चन्द्र वर्ष का प्रथम मास) में एक विशिष्ट दिन को अली के पुत्र हुसेन के वध की वार्षिकी बड़ी विधि से मानते हैं। हसन अपनी पत्नी द्वारा विष देकर मार दिया गया था, किन्तु हुसैन कर्बला में प्रथम उमय्यद खलीफ (सामान्यतः मुआविय नाम से अभिहित) के पुत्र यजीद द्वारा मार डाला गया था, जिसने मुहम्मद की प्रिय पत्नी आइशा (अबूबक्र की पुत्री) के भड़काने पर अली के वंशजों के उत्तराधिकार का विरोध किया, शासन धारण किया, और खलीफा का पद दमिश्क स्थानान्तरित किया। इस कारण शीआ लोग मक्का न जाकर कर्बला की तीर्थयात्रा करते हैं। वहाबी वहाब नामक व्यक्ति द्वारा स्थापित एक नया धर्मोन्मादियों का सम्प्रदाय है। इन्हें इस्लाम में उसकी मौलिक पवित्रता में पुनः लाने का ध्येय रखनेवाला प्रतिक्रियावादी सुधारक कहा जा सकता है।

माना जाता है। इस विषय में ब्राह्मणीय विचार की कुछ रेखायें ईसाई धर्म की रेखाओं को काटती हैं। किन्तु विविध हिन्दू देवताओं का वाह्य व्यक्तित्व सूक्ष्म परीक्षण करने पर एक अस्पष्ट आध्यात्मिक तत्त्व में विलीन हो जाता है। यह सत्य है कि परमात्मा मनुष्य रूप धारण करता है तथा मानवीय एवं ईश्वरीय का वाह्य संयोग—तथा क्रिया का वाह्य विनिमय और स्रष्टा एवं उसकी सृष्टि के बीच मधुर सहानुभूति—उत्पन्न करते हुए मनुष्यों के कल्याण के लिए मध्यस्थता करता है। किन्तु क्या ईश्वरीय एवं मानवीय व्यक्तित्वों में कोई वास्तविक पारस्परिक क्रिया या सहकारिता हो सकती है, जबकि उस सर्वोच्च सत्ता की सभी वैयक्तिक अभिव्यक्तियाँ—देवता और मनुष्य—अन्ततोगत्वा अनन्त के ऐक्य में विलीन हो जाती हैं एवं कुछ भी स्थिररूप में उससे भिन्न नहीं रह जाता? यह मानना पड़ेगा कि सर्वाधिक उत्कृष्ट भाषा का प्रयोग कृष्ण (विष्णु) के लिए किया गया है, जो सम्पूर्ण जीवन एवं शक्ति के स्रोतभूत सर्वात्मा के एक कल्पित रूप हैं (देखिए पृ० १४०–१४४ एवं पृ० ४४६, ४४७ भी देखें); किन्तु यदि उनका अद्वैत परमात्मा से तादात्म्य स्थापित किया जाय तो वे केवल हिन्दू दर्शन के अनुसार, पुनः अपने में लीन करने के लिये जीवन प्रदान करने के अर्थ में, जीवनी शक्ति के स्रोत हो सकते हैं। दूसरी ओर, यदि उन्हें सर्वोच्च सत्ता का केवल अवतार या उसकी अभिव्यक्ति माना जाय तो ब्राह्मणधर्म के एक मुख्य सिद्धान्त द्वारा, जीवन की धारा होने से बहुत दूर, उनका स्वयं का जीवन भी एक उच्चतर स्रोत से उद्भूत होना चाहिए, जिसमें वह अन्तन्तः विलीन हों जबकि उनके देवत्व का दावा परमात्मा से भिन्न व्यक्तित्व का निम्न प्राणियों की अपेक्षा अल्पतर अंश धारण करने के कारण ही हो सकता है।

४. अन्ततः बौद्ध धर्म में—जैसा हमने पृ० १८ पर दर्शाया है—व्यक्तित्व का विनाश एवं अस्तित्व का संहार—जो इस दर्शन का परम लक्ष्य है–इन्द्रियों के दमन, आत्म-निग्रह एवं कर्मनिवृत्ति द्वारा निष्पन्न होता है। बुद्ध कोई देवता नहीं प्रत्युत जो कुछ प्रत्येक मनुष्य बन सकता है उसके एक आदर्श हैं। अतएव वे, निःसन्देह, स्वयं ही विनष्ट होने पर अस्थायी जीवन का भी स्रोत नहीं हो सकते। केवल उच्च नैतिकता में ही बौद्धधर्म ईसाई धर्म से समानता रखता है। क्या बौद्ध धर्म द्वारा प्रस्तुत नैतिकता के अभ्यास का एकमात्र प्रेरक—अर्थात् एक ओर अनस्तित्व की कामना एवं दूसरी ओर असंख्य भावी अस्तित्वों से सम्बद्ध आशाएँ एवं भय—जो अस्तित्व जीवन के सचेतन तादात्म्य द्वारा असंबद्ध किये जाते हैं—मात्र अन्धविश्वासपूर्ण भ्रान्ति से बढ़कर हो सकता है?

इन अतृप्तिकर दर्शनों से, चाहे वे बुद्धिमत्तापूर्ण एवं उच्चकोटि की भावनाओं से कितने भी युक्त हों, योरोपीय देशों के जीवित एवं शक्तिशाली ईसाई धर्म की ओर मुड़ते हैं, चाहे वह अपने वास्तविक पद से कितना भी दयनीय रूप में पतित क्यों न हो, अथवा नाममात्र के अनुयायियों—बिना इसकी शक्ति के केवल नाम एवं रूप को धारण करने वालों—की असमानताओं एवं दोषों से चाहे कितना भी अनाहत क्यों न हो।

उपसंहार में मैं एक और तथ्य का उल्लेख करूँगा, जो स्वतः हमारे धर्म को सम्पूर्ण मानव जाति की आवश्यकताओं के उपयुक्त एकमात्र दर्शन—परमात्मा द्वारा भूमण्डल की सभी चारों दिशाओं में उसके सभी बुद्धिमान प्राणियों, चाहे पुरुष या स्त्री, की बुद्धि पर शनैः शनैः आरोपित किया जानेवाला मुक्ति के एकमात्र सन्देश—के रूप में प्रमाणित करता है। उस तथ्य से मेरा तात्पर्य स्थान से है जो यह पुरुषों के सन्दर्भ में स्त्रियों को प्रदान करता है। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि पूर्व के बड़े धार्मिक वादों में स्त्रियों के पतन से अथवा कम से कम उनकी कल्पित हीनता से उत्पन्न दोष ही एशियाई राष्ट्रों की उन्नति एवं उत्थान में प्रधान अवरोध बने हुए हैं। इसके प्रमाण के लिए तथा इसके समान विषयों पर अधिक जानकारी के लिए मैं पाठक को इस ग्रन्थ के पृ० २४७–२४९, ४२५-४३० की ओर निर्दिष्ट करता हूँ।

कदाचित् सामान्य रूप से भारत के निवासियों से ऐसे प्रश्न पर एक योरोपीय दृष्टिकोण से विचार की आशा रखनी प्रायः असम्भव एवं तर्कहीन है। तथापि, वे प्रबुद्ध हिन्दू एवं लोकहितैषी अंग्रेज महिलायें, जो अब सम्पूर्ण पूर्व में स्त्री-शिक्षा के प्रसार में रुचि ले रही हैं, भारत की नारियों को उनके वर्तमान पद से ऊँचे पद पर उठाने का प्रयत्न करने के लिए भारत के ही पवित्र ग्रन्थों से उत्तम प्रमाण प्रस्तुत कर सकते हैं। उन्हें केवल इस प्रकार के अंशों का उद्धरण देना है जैसे इस पुस्तक के पृ० ४२६, टिप्पणी १ एवं पृ० ४२७ पर दिये गये हैं। इनके साथ महाभारत १.३०२८ आदि में दी गई पत्नी की उत्कृष्ट परिभाषा को भी लिया जा सकता है, जिसका मैं यहाँ प्रायः शब्दशः रूपान्तर प्रस्तुत करता हूँ :—

> भार्या मनुष्य का आधा भाग होती है, उसका श्रेष्ठतम सखा होती है। भार्या धर्मार्थकाम त्रिवर्ग का मूल एवं भवसागर पार करने में श्रेष्ठ सहायक होती है। प्रियम्वदा पत्नियाँ निर्जन में साथी होती हैं, धर्मकार्यों में पिता होती हैं एवं कष्ट में माता होती हैं। भार्या जीवन के दुर्गम वन में विश्रामस्थान होती है।

जब इस प्रकार की भावनाएँ भारत के पवित्र साहित्य में उपलब्ध हैं, तो

आश्चर्य नहीं यदि इस आशा का उदय हो रहा है कि चिरस्थायी दुराग्रह अन्ततः समाप्त होंगे, हिन्दू एवं मुसलमान दोनों एक दिन स्वीकार करने को बाध्य होंगे कि ईसाई धर्म के सर्वाधिक बहुमूल्य परिणामों में से एक है स्त्री-पुरुष की समानता,[1] तथा इसके सर्वाधिक मूल्यवान उपहारों में से एक है पुरुष को स्त्री की पुनर्प्राप्ति, उसके लिए केवल अत्यन्त आवश्यक सहायता के रूप में ही नहीं—केवल उसके सर्वोत्तम मन्त्री एवं साथी के ही रूप में नहीं—अपितु धार्मिक विशेषाधिकारों में उसके सहभागी रूप में एवं धार्मिक योग्यताओं में यदि उससे श्रेष्ठ नहीं तो उसके समकक्ष रूप में।

हिन्दुओं के आधुनिक धार्मिक सम्प्रदाय

इनमें से कुछ का विवरण प्रस्तुत ग्रन्थ के पृ० १२३ टिप्पणी १, एवं पृ० ३१८ टिप्पणी २ में उपलब्ध होगा। इनका पूर्ण विवरण प्रोफेसर एच० एच० विलसन ने अपनी रचनाओं के भाग १ में दिया है, जिसका सम्पादन डॉ० रास्ट ने किया है। तीन बड़े सम्प्रदाय हैं : अ. वैष्णव जो विष्णु को त्रिमूर्ति के प्रमुख देवता (देखें पृ० ३१५) के रूप में पूजते हैं। ब. शैव, जो शिव की आराधना करते हैं। स. शाक्त, स्त्री देवता देवी (जो सामान्यतः शिव की पत्नी मानी जाती है) की पूजा करते हैं। प्रत्येक सम्प्रदाय विभिन्न रीतियों एवं मस्तक पर लगाये जाने वाले साम्प्रदायिक चिह्नों (जिन्हें तिलक कहते हैं) से पृथक् किया जाता है। ये तीनों विभिन्न पंथों में विभक्त हैं जिनमें प्रत्येक में दो प्रकार के मनुष्यों के वर्ग हैं—याजकीय या आश्रमिका, तथा गृहस्थ।

(अ) वैष्णवों के छः प्रमुख मत हैं: १. रामानुज या श्री-सम्प्रदायी, जिसकी स्थापना रामानुज नाम के समाज सुधारक ने की थी। ये बारहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में दक्षिण भारत में हुए थे। ये केशों की जड़ से लेकर दोनों भौंहों तक दो लम्बवत् श्वेत रेखाएँ एवं नाक की जड़ के ऊपर दोनों को जोड़ती हुई पतली रेखा का तिलक लगाते हैं। ये अपने दर्शन को वेदान्त ग्रन्थों, विष्णु एवं अन्य पुराणों से ग्रहण करते हैं एवं अपने भोजन के विधिवत् निर्माण एवं एकान्तता के लिए उल्लेखनीय हैं। रामावत् नाम का मत इनसे स्वल्प भिन्न है। २. रामानन्द-मत जिसकी स्थापना रामानुज के शिष्य रामानन्द ने की थी। ये भारत में गंगा के क्षेत्र में अनगिनत मिलते हैं एवं रामचन्द्र तथा

---

[1] महाभारत से भी प्राचीन एवं आधिकारिक हैं तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ३. ३. १ (देखें इस ग्रन्थ का पृ० २८) एवं मनु० ९.४५, १३० (इस ग्रन्थ के पृ० २८०, २६४) जो कहते हैं कि 'एक पत्नी मनुष्य का आधा भाग है'; कि 'पति अपनी पत्नी के साथ एक व्यक्ति होता है' एवं 'पुत्री पुत्र के ही समान है।' शिव का अर्ध-नारी स्वरूप भी (देखें पृ० २०६ टि० २) इसी सत्य की ओर संकेत करना प्रतीत होता है।

सीता की पूजा करते हैं। ३. कबीर के अनुयायी, जो रामानन्द के बारह शिष्यों में सर्वाधिक प्रख्यात हैं, एवं जिनका जीवनचरित्र उन लोगों के प्रमुख ग्रन्थ 'भक्तमाल' में वर्णित हैं। ये चौदहवीं शताब्दी के अन्त के आस-पास तक जीवित थे एवं इन्हें जन्म से मुसलमान बताया गया है। कबीरपथी (पन्थी) उत्तर या मध्य भारत में पाये जाते हैं। ये एक ईश्वर में विश्वास रखते एवं हिन्दुओं की सभी क्रियायें नहीं करते तथापि विष्णु (राम) को सर्वोच्च आत्मा का एक रूप मानकर पूजते हैं। ४. वल्लभाचार्य या रुद्र-सम्प्रदायी, जिसकी स्थापना वल्लभाचार्य ने की थी। इनका जन्म १४७९ ई० में हुआ था एवं शैवों के साथ शास्त्रार्थ में इन्हें महान् सफलता मिली थी। ये अपने पीछे ८४ शिष्य छोड़ गये थे। इन लोगों ने अपने सिद्धान्त भागवतमहापुराण एवं वल्लभ की रचनाओं से ग्रहण किए। ५. मध्व या ब्रह्म सम्प्रदायी, मध्वाचार्य द्वारा स्थापित (पृ० १२३ टिप्पणी)। ये विशेषतः दक्षिण भारत में पाये जाते हैं। यद्यपि ये वैष्णव हैं तथापि इनका झुकाव शिव की ओर दिखाई पड़ता है। ६. बंगाल के वैष्णव, चैतन्य द्वारा स्थापित, जिन्हें कृष्ण का अवतार माना जाता है। ये कृष्ण के प्रति भक्ति द्वारा पृथक् किये जाते हैं, जिनका नाम ये निरन्तर रटते रहते थे।

(ब) शैव सामान्यतः मस्तक पर दिंगतसम तिलक एवं रुद्राक्ष की गुरियों की माला द्वारा जाने जाते हैं। लिंग रूप शिव (देखें पृ० ३१६ टि० १) के अनेक मन्दिर हैं किन्तु महान् शैव आचार्यों, यथा शङ्कर (पृ० ३१८ टि० १) के सिद्धान्त सामान्य जनता के लिये अत्यधिक कठोर एवं दार्शनिक हैं (पृ० ३१७)। शैवों के पुराने मत ये हैं : रौद्र जो अपने मस्तकों पर त्रिशूल का चिह्न बनाते हैं (पृ० ३१६, टि० ३); उग्र, जो बाहुओं पर डमरू का चिन्ह बनाते हैं; भाक्त, जो अपने मस्तक पर लिंग बनाते हैं; जङ्गम, जो यह चिह्न सिर पर धारण करते हैं; पाशुपत (पृ० १२३ टिप्पणी) जो इसे शरीर के अन्य अंगों पर बनाते हैं। कुछ अधिक आधुनिक मत ये हैं १. दण्डिन् : दण्डधारण करनेवाले भिक्षुक; २. दशनासी-दण्डी जो दश वर्गों में विभक्त हैं और जिनमें से प्रत्येक शंकर के चार शिष्यों के दस शिष्यों में से एक का नाम धारण करता है; ३. योगी (या जोगी) जो प्राणायाम, समाधि, एवं चौरासी आसनों द्वारा शिव में लय की साधना करते हैं (देखें पृ० ९९); ४. जंगम जिन्हें लिंगवत् (सामान्यतः लिंगा-ईत) कहते हैं, और जो अपने शरीर पर लिंग धारण करते हैं; ५. परम हंस, जो पूर्ण रूप से ब्रह्म के ध्यान में लीन रहते हैं; ६ अघोरी या अघोरपथी जो भयंकर एवं उग्र तपस्याओं द्वारा शिव को प्रसन्न करते हैं; ७. ऊर्ध्वबाहु—जो एक या दोनों बाहुओं को सिर के ऊपर उठाकर

कई वर्षों तक खड़े रखते हैं; ८, आकाश मुखी, जो आकाश की ओर देखते हुए अपना सिर पीछे की ओर झुका रखते हैं। जो शैव कभी एक डंडे के ऊपर खोपड़ी बाँधकर घूमते हैं उन्हें खट्वाङ्ग कहते हैं।

(स) शाक्तों के दो मुख्य मत हैं जो पृ० ४९१–४९२ पर दिये गये हैं। हैं शक्ति की पूजा द्वारा अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त करने का लक्ष्य रखते हैं।

पृ० ३१८ टिप्पणी २ में गिनाए गये अन्य सम्प्रदायों में गाणपत्य एवं सौर्य को इस समय कठिनाई से महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। भागवत को वैष्णवों का एक भाग कहा जाता है। वे भगवत् या सर्वोच्चसत्ता में श्रद्धा को मोक्ष का साधन बताते हैं (शाण्डिल्य के अनुसार, पृ० १३२,३) इन्हें कभी-कभी पञ्च-रात्र भी कहते हैं क्योंकि इनके सिद्धान्त नारदपञ्चरात्र में प्रतिपादित हैं।

विष्णु (कृष्ण) के एक रूप, जिसे विट्ठल या विठोबा कहते हैं, महाराष्ट्र के अन्तर्गत पण्ढरपुर में प्रचलित देवता हैं, एवं वे मराठी के प्रसिद्ध कवि तुकाराम के इष्टदेव हैं। दादू के अनुयायी (दादू-पंथी) भी विष्णु के भक्त होते हैं; दादू १६०० ई० में जयपुर में रहते थे।

सिखों (संस्कृत 'शिष्याः') के सम्बन्ध में: ये लाहौर में १४६९ ई० में लाहौर के निकट उत्पन्न (पृ० ३१८, टिप्पणी २) नानक शाह के अनुयायी हैं। ये महान् समाज सुधारक बहुत कुछ कबीर से प्रभावित प्रतीत होते हैं जो इनसे पहले हुए थे। सिखों के ग्रन्थ या पवित्र शास्त्र प्राचीन पंजाबी में लिखित हैं एवं ये नागरी के एक परिवर्तित रूप गुरुमुखी का व्यवहार करते हैं। इनका पवित्र नगर अमृतसर है।

भिक्षुक भक्त जो स्वेच्छा से तपस्या एवं व्रताचरण करते हैं और जिन्हें संन्यासी (प्रायः शैव संप्रदाय वाले), वैरागी (प्रायः वैष्णव सम्प्रदाय के) योगी या जोगी, (देखें पृ० १००) नागा (नग्न), नंगे रहने वाले भक्त) तथा फकीर (जिनमें अन्तिम नाम मुसलमानों तक ही उचित रूप से सीमित होना चाहिए) विविध नामों से पुकारा जाता है, भारत में बड़ी संख्या में हैं।

ट्रावन्कोर एवं कोचीन में सीरिया के ईसाईयों का एक रोचक सम्प्रदाय है जिसका एण्टिओच के कुलपतित्व के अन्तर्गत एक पादरी होता है। ये अपने सम्प्रदाय का मूल प्रायः ५० ई० में सेण्ट थॉमस एवं ऐसे उपनिवेश तक ढूँढ निकालते हैं, जो ३०० वर्ष बाद सीरिया छोड़कर अन्यत्र चला गया।

भारतीय प्रज्ञा

वैदिक सूक्त

अगले अध्यायो मे मैं प्राचीन हिन्दू लेखकों की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण धार्मिक, दार्शनिक, और नैतिक शिक्षाओ के उदाहरणो को, संस्कृत साहित्य के अपने ही काल-क्रम मे व्यवस्थित करके प्रस्तुत करना चाहता हूँ। इस कार्य मे प्रवृत्त होने के साथ-साथ मैं उपलब्ध विषय-वस्तु की बहुलता तथा एक सीमित परिधि के अन्तर्गत उनके प्रति न्याय कर सकने की अपनी असमर्थता से भी परिचित हूँ। पाश्चात्य विद्वानो को संस्कृत साहित्य के वैभव का समुचित बोध कराना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। सम्भवत: गम्भीर योरोपीय आलोचक क्लिष्ट पुन-रुक्तियो, अनावश्यक विशेषणो, और अयथार्थ अहकारोक्तियों की प्रचुरता से परिपूर्ण रचनाओ की प्रशंसा करने मे उसी प्रकार संकोच करेगा जिस प्रकार उज्ज्वल उष्ण-कटिबन्धीय आकाश की छाया मे पोषित वास्तविक प्राच्यो को एक शिक्षित अँग्रेज़ की निस्पृह और नितान्त सरल लेखन-शैली की प्रशंसा करने के लिये सहज ही उद्यत नही किया जा सकता। हिन्दू लेखकों की सम्पूर्ण रचनाओ मे यदि वे आकर्षक कल्पनायें तथा उदात्त भावनाये न होती जो शब्दजाल से इन्हें पृथक करके अध्ययन करनेवाले विद्यार्थियो को कृतार्थ करती हैं, और यदि विस्तार की इस समस्त प्रवृत्ति के साथ-साथ ही संस्कृत साहित्य के कुछ क्षेत्रो मे सक्षिप्तीकरण की कला के अत्यन्त सफल प्रयोग का वह तथ्य भी न होता जो अन्यत्र दुर्लभ है, तो हम प्राय: यह कह सकते थे कि हिन्दू लेखको की विशिष्टता का उनकी रचनाओ के विस्तार, गुण, और परिमाण के आधार पर मूल्याकन किया जा सकता है। सम्भवत: भारतीय लेखको की अतिविस्तार की इस स्वाभाविक प्रवृत्ति ने, केवल प्रतिक्रिया के नियमानुसार ही नही वरन् (विस्तार के) अत्यधिक बोझ से त्रस्त और क्षीण हो जाने पर स्मृति की सहायता और पुनर्वर्द्धन की आवश्यकता के कारण ही, संक्षिप्तता की इस सर्वथा विपरीत पराकाष्ठा को जन्म दिया है। स्थिति जो कुछ भी हो, संस्कृत का प्राय: प्रत्येक विद्यार्थी इसकी साहित्यिक कृतियो मे, नि:सन्देह ही, परिमाण और गुण दोनो ही दृष्टि से एक अद्वितीय वैषम्य देखेगा। परिणाम-स्वरूप, हिन्दू साहित्य का सतत अध्ययन करने मे हमें अत्यन्त प्रचुर वाग्प्रपंच से अत्यन्त गूढ संक्षिप्तता की ओर, पूर्ण बुद्धिमत्ता से बालसुलभ अबुद्धिमत्ता की ओर, सूक्ष्म तर्क से विशुद्ध हेत्वाभास की ओर, और उच्च नैतिकता से—जो प्राय ईसाई

धर्म के समान ही प्रभावशाली भाषा मे व्यक्त है—सामाजिक स्थिति से सम्वन्धित ऐसे उपदेशो की ओर अग्रसर होना पड़ सकता है जो संस्कृति और सभ्यता के निम्नतम स्तर के साथ भी कदाचित ही संगत हो सकते है।

ऐसी स्थिति मे यह सरलतापूर्वक समझा जा सकेगा कि यद्यपि इन व्याख्यानो में अपने को केवल सर्वोत्कृष्ट रचनाओ के उद्धरणो तक सीमित रखना ही मेरा उद्देश्य है, तथापि इसका यह अर्थ नही निकलता कि प्रत्येक उद्धृत दृष्टान्त शैली या बुद्धिमत्ता के एक आदर्श रूप मे प्रस्तुत किया जायगा। मेरा प्रत्यक्ष ध्येय हिन्दू चिन्तन के विकास को अविच्छिन्न रूप में स्पष्ट करना है, और जिन अंगो को मैं यहाँ प्रस्तुत करूँगा यदि उनसे संबद्ध साहित्य के भागो का संक्षिप्त विवरण देकर परिचय देता चलूँ तो उन्हे तत्त्वत. समझना और भी सरल हो जायगा।[१]

इस विषय को क्रम एवं तारतम्य प्रदान करने के लिए हिन्दू धर्म तथा साहित्य-रूपी प्रासाद के आधार—वेद—से प्रारम्भ करना आवश्यक होगा।

प्रसन्नता की वात है कि 'वेद' शब्द अब उन अंग्रेजो को सुविदित है, जो अपने भारतीय सह-प्रजाओं के इतिहास एवं साहित्य मे रुचि रखते है। अतः मुझे एक ऐसे विषय पर कुछ कहने की आवश्यकता नही, जो वस्तुतः सुपरिचित अथवा कम से कम पहले ही अनेक सुलझे हुए एवं योग्य विद्वानो द्वारा विवेचित हो चुका है। नि सन्देह, अधिकांश शिक्षित व्यक्ति विश्व के अन्य धर्मो का समीचीन एवं पक्षपातरहित अध्ययन करने के कर्तव्य से अवगत होने लगे हैं, क्योकि क्या यह स्वीकार नही किया जा सकता कि मानव जाति को प्रदत्त मौलिक सत्य के चिह्नो का अन्वेषण प्रत्येक धार्मिक दर्शन में, चाहे वह कितना भी भ्रष्ट क्यो न हो, तत्परता के साथ करना चाहिए, जिससे जब जीवित शिला का कोई खण्ड उपलब्ध हो[१] तो उसे (यदि ऐसा कहा जाय तो) उसके

---

[१] नि.सन्देह हमे दूसरे धर्मो के अपने विवेचन मे पूर्णतः न्यायसंगत होने के लिए अध्ययन करना चाहिए, तथा एक ऐसा उचित स्पष्ट दृष्टिकोण रखने का प्रयत्न करते हुए जो प्रत्येक मिथ्यादर्शन के शुद्धतम रूप को ग्रहण करता हो एवं केवल उन्ही विकृतियों, वाह्यवेष्टनो एवं विस्तारो तक ही सीमित न हो जो प्रत्येक धर्म मे उसके उत्कृष्ट एव सत्यतापूर्ण तथ्यो को अस्पष्ट करते हुये प्रायः लुप्त कर देते हैं, हमे उन धर्मो के अपने विवेचन मे मिथ्यावाद की छाया तक से दूर रहना चाहिए। धर्मप्रचारक अच्छा कार्य कर सकते हैं यदि वे "ऐन एसे ऑन कॉन्सिलिएशन इन मैटर्स ऑफ़ रिलीजन, वाई ए वंगालसिविलिअन" (एक वंगाल के नागरिक द्वारा लिखित धर्म के विषयो मे सामञ्जस्य पर एक निवन्ध) पढ़े जो कलकत्ता मे १८४९ मे प्रकाशित हुआ है। वे

चारो ओर के सम्पूर्ण दोष-समूह को जीवित बनाये रखने के लिए एक आश्रय के रूप मे तत्काल परिवर्तित किया जा सके ? सभी अवस्थाओं मे यह उचित रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि यदि क्षीयमाण धार्मिक दर्शनों के विगलित जाल के अन्तस्तल मे कुछ भी सत्य अथवा गम्भीर वस्तु नही प्रदर्शित की जा सकती, तो ईसाई धर्म की सत्यता कम से कम इस ढंग से और अधिक स्पष्ट रूप मे दर्शायी जा सकती है तथा इसका महत्व भेद-प्रदर्शन द्वारा और भी सुस्पष्ट किया जा सकता है।

विलिअम जोन्स के, उनकी 'डिस्कोर्स ऑन द फिलॉसफी आफ दि एशिआटिक्स' (उनकी रचनाओ का भाग ३, पृ० २४२ इत्यादि) मे दिये शब्दों पर भी विचार करें। इम महान् प्राच्य-विद्याविद् ने वहाँ यह विचार प्रदर्शित किया है कि हमारे ईश्वरी धर्म को, जिसका सत्य ऐतिहासिक प्रमाणों से पूर्णतः सिद्ध है, ऐसे योगदानो की आवश्यकता नही, जिसे अनेक व्यक्ति यह कहकर प्रदान करना चाहते हैं कि विधर्मी देशों के बुद्धिमान मनुष्य उन दो ईसाई सिद्धान्तों से अनभिज्ञ थे जो हमे यह शिक्षा देते हैं कि हमे दूसरों के प्रति वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा हम दूसरो से अपने प्रति चाहते हैं, तथा यह भी कि बुराई के बदले भलाई करनी चाहिए। पहला सिद्धान्त कन्फ्यूसस की उक्तियों में मिलता है, एव इन दोनो सिद्धान्तो की भावनाएँ अनेक हिन्दू शिक्षाओं में पायी जा सकती है। एक या दो उदाहरण हितोपदेश में ही मिल जायेंगे, एवं सर वि० जोन्स ने यह उदाहरण दिया है : "सुजनो न याति वैरम् पर-हित-बुद्धिर्विनाश-कालेऽपि छेदेऽपि चन्दनतरु. सुरभयति मुखं कुठारस्य", 'सज्जन व्यक्ति जो केवल शत्रु का कल्याण चाहता है, उसके द्वारा विनष्ट किये जाने पर भी उसके प्रति वैरभाव नही रखता, (जिस प्रकार) चन्दन का वृक्ष काटे जाते समय भी कुल्हाड़ी की धार को सुगन्धित ही करता है।' सर वि० जोन्स का कथन है कि यह श्लोक तीसरी शताब्दी ई० पू० में लिखा गया था। बॉर्टलिक ने इसे अपने 'इन्डिश्श स्प्रिश्श' में दिया है। प्रोफेसर आउफेष्ट, अपने शार्ङ्गधर पद्धति पर लिखित हाल के एक लेख मे उस पद्धति के एक समान श्लोक का उल्लेख करते हैं जो रविगुप्त द्वारा लिखित बताया गया है। फारसी कवि शीराज़ के सादी ने अरबो से एक उक्ति ग्रहण की है, "जिसने तुम्हे चोट पहुँचाया है उसकी भलाई करो', तथा 'ईश्वर की सच्ची निष्ठावाले व्यक्ति अपने शत्रु के भी हृदय को कष्ट नही पहुँचाते', (अध्याय २, कथा ४)। सर वि० जोन्स ने हाफिज का भी इस प्रकार उद्धरण दिया है :—

"इस पूर्व की सीप से अपने शत्रु को प्रेम करना सीखो,
जो हाथ तुम्हारे ऊपर दुःख ढाते हैं उन्हें मोतियों से भरना सीखो।

चारों ओर के सम्पूर्ण दोप-समूह को जीवित बनाये रखने के लिए एक आश्रय के रूप मे तत्काल परिवर्तित किया जा सके ? सभी अवस्थाओं में यह उचित रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि यदि क्षीयमाण धार्मिक दर्शनों के विगलित जाल के अन्तस्तल मे कुछ भी सत्य अथवा गम्भीर वस्तु नही प्रदर्शित की जा सकती, तो ईसाई धर्म की सत्यता कम से कम इस ढंग से और अधिक स्पष्ट रूप मे दर्शायी जा सकती है तथा इसका महत्व भेद-प्रदर्शन द्वारा और भी सुस्पष्ट किया जा सकता है।

विलिअम जोन्स के, उनकी 'डिस्कोर्स ऑन द फिलॉसफी आफ दि एशिआटिक्स' (उनकी रचनाओं का भाग ३, पृ० २४२ इत्यादि) मे दिये शब्दों पर भी विचार करें। इस महान् प्राच्य-विद्याविद् ने वहाँ यह विचार प्रदर्शित किया है कि हमारे ईश्वरी धर्म को, जिसका सत्य ऐतिहासिक प्रमाणो से पूर्णतः सिद्ध है, ऐसे योगदानों की आवश्यकता नही, जिसे अनेक व्यक्ति यह कहकर प्रदान करना चाहते हैं कि विधर्मी देशो के बुद्धिमान मनुष्य उन दो ईसाई सिद्धान्तों से अनभिज्ञ थे जो हमे यह शिक्षा देते हैं कि हमें दूसरों के प्रति वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा हम दूसरो से अपने प्रति चाहते हैं, तथा यह भी कि बुराई के वदले भलाई करनी चाहिए। पहला सिद्धान्त कन्फ्यूसस की उक्तियो में मिलता है, एवं इन दोनों सिद्धान्तो की भावनाएँ अनेक हिन्दू शिक्षाओं मे पायी जा सकती है। एक या दो उदाहरण हितोपदेश में ही मिल जायेंगे, एवं सर वि० जोन्स ने यह उदाहरण दिया है : "सुजनो न याति वैरम् पर-हित-बुद्धिर्विनाश-कालेऽपि छेदेऽपि चन्दनतरुः सुरभयति मुखं कुठारस्य", 'सज्जन व्यक्ति जो केवल शत्रु का कल्याण चाहता है, उसके द्वारा विनष्ट किये जाने पर भी उसके प्रति वैरभाव नही रखता, (जिस प्रकार) चन्दन का वृक्ष काँटे जाते समय भी कुल्हाड़ी की धार को सुगन्धित ही करता है।' सर वि० जोन्स का कथन है कि यह श्लोक तीसरी शताब्दी ई० पू० में लिखा गया था। बॉटलिक ने इसे अपने 'इन्डिश्श स्प्रिश्श' में दिया है। प्रोफेसर आउफेष्ट, अपने शार्ङ्गधर पद्धति पर लिखित हाल के एक लेख में उस पद्धति के एक समान श्लोक का उल्लेख करते हैं जो रविगुप्त द्वारा लिखित बताया गया है। फारसी कवि शीराज़ के सादी ने अरबो से एक उक्ति ग्रहण की है, "जिसने तुम्हे चोट पहुँचाया है उसकी भलाई करो', तथा 'ईश्वर की सच्ची निष्ठावाले व्यक्ति अपने शत्रु के भी हृदय को कष्ट नही पहुँचाते', (अध्याय २, कथा ४)। सर वि० जोन्स ने हाफिज़ का भी इस प्रकार उद्धरण दिया है :—

"इस पूर्व की सीप से अपने शत्रु को प्रेम करना सीखो,
जो हाथ तुम्हारे ऊपर दुःख ढाते हैं उन्हे मोतियो से भरना सीखो।

यदि विश्व के मुख्य धर्मों[1] की तुलना एव उनके वीच सम्बन्ध के विपयो को सर्वत्र लुप्त करनेवाले परिवेष्ठनो को दूर फेकने का प्रयत्न हमारे लिये प्रतिदिन अधिकाधिक आवश्यक होता जा रहा है, तो निःसन्देह जूडाइज्म एवं ईसाई धर्म के बाद ब्राह्मण धर्म और प्राचीन फारस के धर्म (जिसके वन्वन के समय जूडेइज्म को प्रभावित करने की वात कही जाता है) के साथ अपने सम्वन्ध, तथा मानव जाति के लगभग इकत्तीस प्रतिशत के धर्म, वौद्धधर्म, से अपने निकट सम्वन्ध, इन दोनो ही कारणो से सर्वप्रथम हमारा ध्यान आकृष्ट करने का दावा रखता है।[2] अव यह द्रष्टव्य है कि सीधे व्यक्तीकरण की कल्पना, यद्यपि

इस शिला के समान तुच्छ विद्वेषपूर्ण अभिमान से मुक्त बनो, उन कलाइयो को रत्नो से सजाओ, जो तुम्हारे कलेजे मे छुरा भोकती है। देखो ! यहाँ वह वृक्ष पत्थरो की चोट खाने पर भी अमृतमय फल या शीतल पुष्पों का ही उपहार देता है। सम्पूर्ण प्रकृति चिल्लाकर कहती है : क्या मनुष्य को इतना भी नही करना चाहिए कि वह चोट पहुँचानेवाले को सुख पहुँचावे तथा तिरस्कार करनेवाले को आशीर्वाद दे।"

शार्ङ्गवर के संग्रह मे महाभारत से एक भाव दिया गया है, जो प्रायः सेण्ट मैथ्यू ७.३ के अनुरूप है।

[1] ये संख्या मे आठ है, जैसा कि प्रोफेसर माक्स म्यूल्लेर ने अपने 'साइंस आफ रिलीजन' मे दिखाया है; यथा—१. जूडेइज्म, २. ईसाई धर्म, ३. ब्राह्मण धर्म, ४. वौद्धवर्म, ५. जोरोस्तर धर्म, ६. इस्लाम; तथा चीनी दार्शनिको के दर्शन यथा ७. कन्फ्यूशस (कुग–फू–त्स्जे, 'कूग वंश का महात्मा' का लैटिन भापा का रूप), ८. लाउ–त्स्जे (वृद्ध पण्डित अथवा महात्मा)। ये आठो इन आठ ग्रन्थो पर आश्रित हैं, यथा : १. ओल्ड टेस्टामेण्ट, २. न्यू टेस्टामेण्ट, ३. वेद, ४ त्रिपिटक, ५. जण्ड-अवस्ता, ६. कुरान, ७. पाँच ग्रन्थ अथवा कीग (यि, शू, शी, लि–कि चून्त्सिउ) तथा चार शू या ग्रंथ, जिनमें से कुछ की रचना मेन्सिअस (मंग–त्स्जे) ने की थी; ८. तउ–ते–कीग (तर्क एवं गुण का ग्रन्थ); और ये सात भाषाओ मे हैं, यथा—हेब्रू, २. ग्रीक, ३. संस्कृत, ४. पालि, ५. जण्ड, ६. अरवी, ७. ८ चीनी। इन आठ धर्मों मे केवल चार (दूसरा, तीसरा, चौथा और छठा) ही वर्तमान मे यथासंख्य महत्त्वपुर्ण है।

[2] अपितु मानव जाति के २।३ से अधिक अभी ईसाई-भिन्न है (देखे टिप्पणी, भूमिका पृ० ३५ पर)। ईसाई धर्म और वौद्धवर्म, जो विश्व के दो सर्वाधिक प्रचलित धर्म हैं, एवं अपने तत्त्व मे ही जो परस्पर सर्वाधिक विरोधी हैं, साथ ही साथ, जिन दोनो मे नैतिक शिक्षा की सर्वाधिक समान आधारभूमि

ग्रीस और रोम देश के निवासियों[1] ने स्पष्टत: कभी भी एक निश्चित ढंग से स्वीकार नही की, तथापि सर्वप्रथम हिन्दुओ को, दूसरे, प्राचीन ज़ोरोस्ट्रियन फ़ारसी लोगों का प्रतिनिधित्व करने वाले पारसी लोगों को, और तीसरे, उन जातियो को जिन्होंने मुहम्मद[2] द्वारा स्थापित एवं इस्लाम नाम से अभिहित धर्म को

है, उन जातियो द्वारा अस्वीकृत कर दिये गये है जिन्होंने इन्हे जन्म दिया था; किन्तु जब दोनो को दूसरी जातियो ने स्वीकार कर लिया तो दोनो के अनुयायियो की संख्या सर्वाधिक हो गई। एक सेमेटिक जाति से उत्पन्न होकर ईसाई धर्म आर्यों मे फैला है; बौद्धधर्म, हिन्दू आर्यों मे उद्भूत होकर मुख्यत: तूरानी जातियो मे फैला है। बौद्धधर्म भारत से लङ्का को बहिष्कृत कर दिया गया और वहाँ अब भी विद्यमान है। वहाँ से यह बर्मा, श्याम, तिब्बत, चीन एवं जापान मे पहुँचा। ईसा की प्रथम शताब्दी तक यह चीन में संस्थापित हुआ नही प्रतीत होता और जापान मे बहुत बाद तक भी नही पहुँचा था। इन देशो मे इसने जो स्वरूप धारण कर लिया है वह महान् भारतीय बुद्ध द्वारा प्रवर्त्तित दर्शन से पर्याप्त भिन्न तथा उसका बृहद् जन-समूह द्वारा अनुसरण वास्तविक होने की अपेक्षा नाममात्र का ही अधिक है। सभी प्रकारो की (सूर्य, वायु एवं वर्षा की; पृथ्वी, पर्वतों, नदियों, वृक्षों, खेतों इत्यादि की, तथा मृत व्यक्तियों की) कल्याणकारी एवं दुष्ट आत्माओ में अन्ध-विश्वास चीनी लोगों में सर्वत्र प्रचलित प्रतीत होते हैं, जब कि अधिक शिक्षित व्यक्ति, मुख्यत: 'कूग-फू-त्स्जे' (कन्फ्यूसस) एवं 'लाउ-त्स्जे' द्वारा उपदिष्ट प्राचीन नैतिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तो के ही अनुयायी है। लाउ-त्स्जे ने ताउ (Tau) अर्थात् 'मार्ग' नाम की एक विश्वात्मा मे श्रद्धा रखने की शिक्षा दी अत: उनके अनुयायी 'ताउ-इस्ट' या ताउवादी कहलाते है।

[1] नुमा पाम्पिलिअस (Numa pompilius) के विषय मे कहा जाता है कि उन्होंने अपनी प्रेरणा सिद्ध अप्सरा एगेरिया (Aegeria) से प्राप्त की थी, जिस प्रकार ग्रीक कवियो के विषय मे देवी म्यूज़ेज से प्रेरणा प्राप्त करने की बात कही जाती है।

[2] महान् अरबदेशीय छद्म—अनागतवादी (पैगम्बर) का नाम सामान्यत: मुहम्मद कहा जाता है जिसका अर्थ है 'अत्यन्त प्रशंसित' या 'प्रशसनीय।' हम उनके प्रवर्तित धर्म को बहुत स्वाभाविक ढग से मुहम्मदवाद कहते है किन्तु उन्होने स्वयं प्रवर्तक होने का कोई दावा नही किया। इस्लाम शब्द का अर्थ है 'ईश्वर की इच्छा एवं अध्यादेश के सम्मुख समर्पण', जिसके पूर्व अद्वैत की शिक्षा देने के लिये प्रेषित होने का मुहम्मद ने एक पैगम्बर-रूप मे दावा किया।

स्वीकार कर लिया है, यह पूर्णत सुज्ञात है। फिर भी, हमे इस धारणा से सतर्क रहना चाहिए कि हिन्दुओ के लिए वेद वस्तुतः बाइबिल जैसा स्थान रखता है; अथवा उनके लिये यह ठीक वैसा ही है जैसा अवस्ता पारसियो के लिए या कुरान मुसलमानों के लिए। इस प्रकार की धारण इन भिन्न धार्मिक दर्शनो का अध्ययन करने मे अनिवार्यत. कुछ भ्रम उत्पन्न करेगी। कारण अवस्ता शब्द सम्भवतः ज़ोरोस्तर (उचितरूप मे 'ज़रथुस्त्र' और फारसी मे 'जर्दुश्त') द्वारा प्रदत्त उस 'नियत ग्रन्थ' का अर्थ रखता है, जो लिखित एवं पहलवी[१] भाषा मे टीका तथा व्याख्याओ से युक्त था, जैसे कि हिब्रू पवित्र रचनाओ मे 'ओल्ड टेस्टामेण्ट', चैल्डी अनुवादो एवं 'टार्गुम्ज़' नामक व्याख्याओ के परिशिष्टों से सवलित था।

पुन', 'कुरान' शब्द दृढतापूर्वक 'पाठ' अथवा 'वह जिसे प्रत्येक व्यक्ति को पढ़ना चाहिए'[२] का अर्थ रखता है, और केवल एक ऐसे ग्रन्थ के लिए प्रयुक्त होता है जो स्पष्टत. एक रचयिता की कृति है। मुहम्मद के अनुसार इसका रचयिता सशरीर रमज़ान के महीने मे 'अल कादर'[3] नाम कीं रात को स्वर्ग से उतरा, यद्यपि मुहम्मद को कुरान का प्रकाशन विभिन्न समयो में अध्याय-अध्याय के अनुसार देवदूत गैबरील द्वारा हुआ। वस्तुत, मुहम्मद ने अंगीकार किया है कि उनके स्वयं निरक्षर होने पर भी, सत्य-धर्म के प्रचारार्थ, व्यक्तीकरण को लिपिवद्ध करने के लिए ईश्वर ने उन्हे विशिष्ट रूप से उपदेश दिया एवं आश्चर्यजनक रूप से शक्ति प्रदान की। (देखिये भूमिका)

इसके विपरीत, 'वेद' शब्द का अर्थ है 'ज्ञान' और यह संज्ञा उस अपार्थिव

---

[१] पहलवी एक परवर्ती ईरानी विभाषा है, जो ज़ण्ड एवं अभिलेखो की प्राचीन फारसी के बाद उद्भूत एवं पारसी या पाज़ण्ड तथा फिरदौसी की फारसी के रूप में विकसित हुई। ज़ण्ड शब्द पहले व्याख्या का अर्थ रखता था, बाद मे यह भाषा के लिए प्रयुक्त होने लगा।

[२] 'कुर्-आन' 'पढना' अरबी धातु 'कर-अ' 'पढना' से क्रियार्थक सज्ञा है। कुरान के ९६ वें अध्याय में यह आदेश दो बार दुहराया गया है, 'ईश्वर को साक्षी देकर पढ़ो', 'उस परमदयालु परमात्मा को साक्षी करके पढ़ो जिसने कलम के उपयोग की शिक्षा दी है।'

[3] अर्थात् 'कद्र' या शक्ति की रात्रि। कुरान का ९७ वां अध्याय इस प्रकार प्रारम्भ होता है: 'निःसन्देह हमने अलकद्र की रात में क़ुरान को धरती पर भेजा।'—देखिये साले का अनुवाद।

अलिखित ज्ञान को दी गई है, जिसके स्वयं-भू[1] से श्वास के समान निःसृत होने एवं किसी एक व्यक्ति को नही अपितु ऋषि या प्रबुद्ध महात्माओं के सम्पूर्ण वर्ग को प्रदत्त होने की कल्पना की गई है। उनके द्वारा इस प्रकार उपलब्ध यह अपार्थिव ज्ञान लिखित रूप में नही अपितु श्रवणेन्द्रिय के माध्यम से निरन्तर मौखिक आवृत्ति द्वारा आचार्यों की एक परम्परा से होकर संक्रमित हुआ। यहाँ हम दैवी प्रेरणा का एक ऐसा सिद्धान्त पाते हैं जो छाद्मिक अनागतवादी (पैगम्बर) मुहम्मद एवं उसके अनुयायियों, अथवा विश्व में किसी भी दूसरे धर्म के सर्वाधिक उत्साहपूर्ण अनुगामियो द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त से भी श्रेष्ठतर है। यह पूर्णतः सत्य है कि इस ज्ञान को, यद्यपि स्वयं इसके तत्व को रहस्यपूर्ण ढग से 'शब्द' या 'उच्चरित ध्वनि' (जिसे अनन्त माना गया है) से बद्ध कहा गया है, अनन्तः लिखित स्वरूप तो दिया गया किन्तु इसके लेखन एव पठन की प्रेरणा नही दी गई। यहाँ तक कि ब्राह्मणो ने, केवल जिनके अधिकार मे इसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति थी, इसका निषेध किया। अपरञ्च, अन्त मे जब अपने अविच्छिन्न विकास के कारण यह केवल मौखिक सक्रमण के लिये अत्यन्त विषम हो गया तब यह वेद, कुरान के समान एकमेव ग्रन्थ मे नही अपितु ऐसी रचनाओ की एक सम्पूर्ण माला मे फूट पड़ा, जिसकी

[1] मनु. १ ३ मे वेद को ही 'स्वयं भू' कहा गया। तथापि, वेद की उत्पत्ति के विवरणों मे अनेक विरोधोक्तियाँ हैं, जो, ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मणो के सम्मुख विघ्न नही उपस्थित करती या इसकी अपौरुषेय उत्पत्ति मे हस्तक्षेप नही करती। एक विवरण इसे स्वय-भू से, अ-दृष्ट की शक्ति द्वारा, बिना उसके चिन्तन एवं विचार के ही, श्वास के समान नि.सृत बताता है; दूसरा चार वेदो को ब्रह्मन् से उसी प्रकार उत्पन्न मानता है, जिस प्रकार जलते काठ से धुआँ; अन्य विवरण उसे तत्त्वों से उत्पन्न कहता है; उससे भी अन्य गायत्री से। अथर्ववेद में एक मन्त्र (१९.५४) उनकी उत्पत्ति, काल या 'समय' से बताता है। शतपथ-ब्राह्मण का कथन है कि स्रष्टा ने तीन संसारों पर चिन्तन किया, उससे तीन ज्योतियाँ उत्पन्न हुई : अग्नि, वायु, एवं सूर्य; जिनसे क्रमश ऋग्-यजुर् एव सामवेद उत्पन्न किये गये। मनु (१. २३) इसी की पुष्टि करते हैं। पुरुष सूक्त मे तीन वेदों की उत्पत्ति रहस्यमय बलिपशु, पुरुष, से बतायी गयी है। अन्ततः, मीमासको ने वेद को स्वयमेव एक अनन्त ध्वनि, एवं इसे अनादिकाल से इसके मन्त्रो के उच्चारक या प्रकाशक से स्वतन्त्र रूप मे विद्यमान बताया है। इस कारण प्रायः इसे 'श्रुत' 'जो सुना गया हो' कहते हैं। इन सबके विपरीत प्रायः हम स्वयं ऋषियो को यह कहते हुए पाते है कि मन्त्रो की रचना स्वयं उन्ही लोगो ने की थी।

रचना वस्तुत अनेक शताब्दियों मे विभिन्न समयो पर विभिन्न कवियों एवं लेखको के एक समूह ने की थी।

अतएव, कुरान और वेद में यह महान् अन्तर है कि जहाँ कुरान के अध्ययन को सभी सभ्य मुसलमान एक पवित्र कर्तव्य समझते हुये उसका निरन्तर अभ्यास करते हैं, वही वेद, लिखित स्वरूप मे आ जाने के बाद भी, वहुसख्यक हिन्दू समाज के लिए एक वन्द पुस्तक वना रहा, एव उपनिपद् नाम की कतिपय परवर्ती रचनाओ को छोडकर आजतक भी शिक्षित व्यक्तियो द्वारा प्राय: पूर्णत: अपठित है, भले ही यह अधिक आदृत एवं इसका अपार्थिव प्रमाण निश्चित पथप्रदर्शक के रूप में नामत सर्वस्वीकृत हो।[1]

इस वेद मे क्या है ? अपने उदाहरणो की योजना को स्पष्ट करने के लिए हम इसे तीन भिन्न भागो में विभक्त मान सकते है, यथा—

१. मन्त्र या ग्रन्थों एवं छन्दवद्ध सूक्तो के रूप में प्रार्थनाएँ तथा प्रशस्तियाँ।

२. ब्राह्मण या गद्य में लिखित याज्ञिक शिक्षाये एवं दृष्टान्त।

३. उपनिपद्, 'रहस्य एवं गूढ सिद्धान्त', जो उपरोक्त ब्राह्मग से संयुक्त एवं गद्य तथा सामयिक छन्द मे रचित हैं।

हम मन्त्र-भाग से प्रारम्भ करते हैं। इससे उन प्रार्थनाओं, आवाहनों एवं सूक्तो का तात्पर्य है, जो संकलित किये गये हैं एवं महान् भारोपीय जाति की भारतीय शाखा के अन्तिम रूप से उत्तरी भारत मे वस जाने के बाद से परम्परया हमारे साथ चले आ रहे हैं, किन्तु जिनकी रचना, नि:सन्देह विभिन्न समयो मे (कदाचित् १,५०० तथा १,००० वर्प ई० पू० के वीच) कवियों की एक क्रमागत श्रेणी ने की थी। यद्यपि ये रचनायें काव्यीय गुण मे बडी असमान एवं अनेक लम्बी आवृत्तियों तथा वाल्यताओ से परिपूर्ण हैं, तथापि ये नितान्त रोचक एवं महत्त्वपर्ण हैं, कारण इनमे कतिपय प्राचीनतम धार्मिक

[1] वेद का सर्वोपरि एवं अस्खलनशील प्रामाण्य इतना स्वत: सिद्ध माना गया है कि इसके लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नही और यह विवेक एवं तर्क के क्षेत्र से परे है। मनु स्मृति पर भी घटित करते हैं (१.१०)। वे कहते हैं : 'श्रुति से वेद का तात्पर्य है एवं स्मृति में विधिग्रन्थो का; इनके विपयो पर कभी सन्देह नही करना चाहिए'। तथापि मनु के देशीय संस्करणो मे ऋग्वेद के मन्त्रो से अनभिज्ञता प्रदर्शित होती है। कुल्लूक की टीका सहित कलकत्ता मे प्रकाशित संस्करण विद्वत्तापूर्ण है, परन्तु प्राय: जहाँ कही मनु ने ऋग्वेद के मन्त्रों का उल्लेख किया है (यथा ८.९१; ९ २५०, २५२, २५३, २५४ मे) उन स्थलों पर इस सस्करण मे अशुद्धियो ने मूल एवं टीका को चौपट कर दिया है।

विचारधारायें तथा उस मूल आर्य जाति-समूह की आदिम भाषा के कतिपय प्राचीनतम ज्ञात रूप समाहित है, जिसकी ग्रीक, रोम, केल्ट, टयूटन रशिअन एवं पोल जातियाँ शाखाएँ है।

ये रचनाएँ पाँच प्रमुख संहिताओं या मन्त्रों के संग्रहों मे समाविष्ट है, जिन्हे क्रमश: ऋक, अथर्वन्, सामन्, तैत्तिरीय एवं वाजसनेयि कहा गया है। इनमे ऋग्वेद-संहिता—जिसमे एक हजार सत्रह सूक्त है—सर्वाधिक प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण है, जब कि अथर्ववेद संहिता सबसे अर्वाचीन मानी जाती है किन्तु सर्वाधिक रोचक है। यत ये ही दो वैदिक सूक्त-ग्रन्थ है जो पृथक् मौलिक संग्रह[1] कहे जाने योग्य है; अतएव हम इन्ही तक अपने उदाहरणो को सीमित रक्खेंगे।

प्रश्न उठेगा कि इन संग्रहो की प्रार्थनाये एवं सूत्र किन देवताओ को

---

[1] अथर्ववेद (जिसका सपादन प्रशंसनीय रूप मे प्रो० रॉथ एवं प्रो० ह्विटनी ने किया है) मनु के समय मे चतुर्थ वेद के रूप मे मान्य नही प्रतीत होता, यद्यपि उन्होने अथर्वन् एवं अंगिरस् को हुए ज्ञानोन्मेष का वर्णन किया है (११. ३३)। अध्याय ११ के श्लोक २६४ मे वे कहते है;

ऋचो यजूंषि चान्यानि सामानि विविधानि च।
एष ज्ञेयस्त्रिवृद् वेदो यो वेदैनं स वेदवित्॥

सामदेव एवं यजुर्वेद की दो तथा-कथित संहिताएँ (तैत्तिरीय एवं वाजसनेयिन् अथवा कृष्ण एवं शुल्क) अधिकांशत: ऋक् से ग्रहण करती है और वे केवल ब्राह्मणीय ग्रन्थ हैं जिनकी आवश्यकता हिन्दू आर्यों द्वारा क्रमिक रूप मे संवर्द्धित क्रियाविधि के संकीर्ण हो जाने से उत्पन्न हुई। मनु ४१२३ इत्यादि में सामदेव का एक अद्भुत उल्लेख आता है: ऋग्वेद के देव देवता लोग हैं, यजुर्वेद के लक्ष्य मनुष्य हैं, सामवेद के पितृगण, इस कारण इसकी ध्वनि अपवित्र हैं। तथापि, कुल्लूक ने अपनी टीका मे यह लिखने की सावधानी बरती है कि सामवेद वस्तुत: अपवित्र नही अपितु केवल बाहर से ही ऐसा है। इस अपवित्रता का आभास कदाचित् मृत व्यक्तियो के साथ इसके सम्बन्ध एवं अशौच के समय इसकी आवृत्ति से उत्पन्न हुआ हो। सामवेद वस्तुत. ऋक् के कुछ भागों की प्रत्युत्पत्ति है जो विपर्यस्त एवं अंशत. यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं। ऐसा कहा जाता है कि सम्पूर्ण सामवेद के केवल अठहत्तर मन्त्र ऋक् के वर्तमान संस्करण मे नही मिलते। इसके मन्त्र की सर्वाधिक संख्या ऋक् के नवम मण्डल से आहृत हैं जो सोम वनस्पति की स्तुति मे हैं, कारण सामवेद उद्गातृ पुरोहित के सोम-अनुष्ठानो के लिये प्रार्थना-अंशो का एक संग्रह है, जिस प्रकार यजुष् अध्वर्यु द्वारा अनुष्ठित यज्ञो के लिये है।

सम्बोधित किये गये हैं ? यह एक रोचक प्रश्न है, क्योंकि सम्भवतः ये वे ही देवता थे जिनकी पूजा उन्ही नामो से हमारे आर्य-पूर्वज अपने उस आदिम निवासस्थान पर करते थे जो मध्येशिया के समतल भूभाग मे किसी स्थान पर, सम्भवतः वोखारा के क्षेत्र मे ओक्सम के स्रोतों से अधिक दूर नही था।[१] इसका उत्तर है : वे उन भौतिक शक्तियो की पूजा करते थे जिनके सम्मुख सभी राष्ट्र, यदि वे पूर्णतः प्रकृति की ज्योति से प्रभावित हुए है तो, अपने जीवन के प्रारम्भिक काल मे स्वभाव-प्रेरित होकर प्रणत हुए है, तथा जिनके सम्मुख अधिक संस्कृत एवं प्रवुद्ध व्यक्ति भी यदि आराधना मे नही तो भय एवं श्रद्धा मे विनत होने के लिये वाध्य होते हैं।

हमारे आर्य-पूर्वजो के सम्मुख उनके एशियाई वासभूमि मे प्रकृति की शक्तियो मे परमात्मा की शक्ति उससे अधिक स्पष्ट रूप से प्रदर्शित होती थी जितनी आज हमारे सम्मुख है। भूभाग, निवासगृह, भेड़ो के झुण्ड, पशुओं के समूह, मनुष्य एवं पशु, वायु, अग्नि एवं जल पर पूर्वीय प्रदेशो की अपेक्षा अधिक आश्रित थे; तथा सूर्य की किरणें एक ऐसी क्षमता से युक्त प्रतीत होती थी जो किसी योरोपीय देश के अनुभव का विषय नही। ऐसी स्थिति में इस पर चकित नही हो सकते कि इन शक्तियो को हमारे पूर्वदेशीय पूर्वजों ने एक देवता के विभिन्न स्वरूपों मे या प्राधान्य के लिये सघर्षरत पृथक् प्रतिद्वन्द्वी देवताओ की वास्तविक अभिव्यक्तियों के रूप मे स्वीकार किया था। इसमे भी आश्चर्य नही कि इन महान् शक्तियों पर सर्वप्रथम काव्यीय रूप में चेतना का आरोप किया गया और तत्पश्चात् जब ये स्वरूपों, गुणों, एवं व्यक्तित्वों से विभूषित कर दी गई तो इन्हें पृथक् देवताओं के रूप मे पूजा जाने लगा। यह भी नितान्त स्वाभाविक ही था कि प्रत्येक देवत्वारोपित शक्ति—वायु, वर्षा, प्रचण्डवात, सूर्य या अग्नि—को उन विशिष्ट अन्तरिक्ष के प्रभावो के अनुसार जो विशेष निवासक्षेत्रो पर पड़ते थे, अथवा वर्ष की ऋतुओ के अनुसार जब प्रत्येक के प्राधान्य अथवा निवारण की प्रार्थना की जाती थी, एक असमान प्रमुखता तथा असमान श्रद्धा प्रदान की गई।

यही वेदो मे प्रदर्शित धर्म था तथा ईसा के वारह या तेरह शताब्दी पूर्व भारोपीयो का आदिम दर्शन की। प्रथम देवत्वारोपित शक्तियाँ वे प्रतीत होती है जो आकाश एवं वायु मे आविर्भूत थी। सर्वप्रथम इनका एक अधिक अस्पष्ट मूर्त्तीकरण के अन्तर्गत सामान्यीकरण किया गया है जैसा कि धार्मिक कल्पनाओं को स्वरूप प्रदान करने के प्राथमिक प्रयत्नो मे स्वाभाविक था। कारण, यह

---

[१] प्रोफेसर ह्विटनी इस सामान्य धारणा पर सन्देह करते हैं ('लेक्चर्स' पृ० २००)

ध्मान दिया जा सकता है कि सभी धार्मिक दर्शन, अत्यन्त बहुदेववादी भी, विश्व को नियन्त्रित एवं नियमित करनेवाली एक अपार्थिव शक्ति या शक्तियों मे किसी अस्पष्ट मौलिक विश्वास से ही उद्भूत है। यद्यपि सहस्र आकारो से युक्त असंख्य देवता या देवियाँ ऐसे अविचारशील लाखो व्यक्तियो की भावनाओ को प्रभावित करते हुए हिन्दू देवकुल मे भरे पडे है, जिनकी धार्मिक कल्पनाओ के लिए क्षमता बाह्य प्रतीको की अपेक्षा रखती हुई मानी जाती है, तथापि यह सम्भव है कि प्रथम आर्य-पूजको के लिये एक इससे भी सरल ईश्वरवादी दर्शन रहा हो : जैसा कि वर्तमान समय का विचारपूर्ण हिन्दू भी अपने देवशास्त्र के कठिन पथ से एक अपार्थिव स्वयं-भूत सत्ता, एक सर्वव्याप्त आत्मा का, बोध करते हैं जिसके ऐक्य मे सभी दृश्य प्रतीक पुञ्जीभूत एवं जिसके तत्त्व में सभी अस्तित्व समाविष्ट होते हैं।

वेद मे यह ऐक्य शीघ्र ही विविध प्रशाखाओ मे फैल गया। केवल थोडे से सूक्तों में ही एक अपार्थिव स्वयं-भू सर्वव्याप्त आत्मा की सरल कल्पना उपलब्ध होती है और इनमे भी सम्पूर्ण प्रकृति में विद्यमान एक परमात्मा की कल्पना कुछ उलझी हुई एवं अस्पष्ट है।[1] कदाचित् सर्वाधिक प्राचीन एवं

[1] यद्यपि यह वेद मे अस्पष्ट रूप मे वर्णित है, मनु के समय मे यह स्पष्टतः विवेक्षित हो गयी थी; बारहवे अध्याय के अन्तिम श्लोक (देखिए १२३–१२५) कुछ उसकी अग्नि मे सर्वातिरिक्त ढंग से विद्यमान् रूप मे पूजा करते हैं; दूसरे मनु या जीवो के स्वामी मे; कुछ अत्यन्त स्पष्टतः इन्द्र मे विद्यमान् रूप मे; दूसरे पवित्र वायु मे और अन्य सर्वोच्च अनन्त आत्मा के रूप में। इस प्रकार मनुष्य, जो अपनी ही आत्मा मे सब भूतो मे व्याप्त सर्वोच्च आत्मा का दर्शन करता है, उन सबके प्रति समबुद्धि प्राप्त करता है और वह अन्ततः परम तत्त्व मे लीन हो जायगा। ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त (१०. ९०) मे, जो परवर्ती सूक्तो मे से एक एवं कदाचित् प्राचीनतम् ब्राह्मण से अधिक पूर्व का नहीं है, एक आत्मा को पुरुष कहा गया है। परवर्ती दर्शन मे अधिक प्रचलित नाम है ब्रह्मन्, नपुसक लिङ्ग (कर्ता,-ब्रह्मा) जो बृह् 'विस्तृत होना' धातु से व्युत्पन्न है तथा विश्व के सर्वत्र फैलनेवाले तत्त्व अथवा सम्पूर्ण विश्व मे व्याप्त पदार्थ को सूचित करता है। क्योकि, यह स्पष्ट है कि यह परवर्ती दर्शन उतना अद्वैतवादी नही था (जिससे मेरा अर्थ है एक वैयक्तिक सत्ता के रूप मे स्वीकृत, विश्व से बहिर्भूत, किन्तु इसकी रचना एवं नियन्त्रण करनेवाले परमात्मा मे विश्वास) जितना विश्वदेवतावादी ब्रह्मन् नपुसक लिङ्ग मे 'सरल अनन्त सत्ता' जो एकमेव ऐसा वास्तविक अनन्त तत्त्व है जो जब वास्तविक व्यक्त अस्तित्व मे अविर्भूत होता है तो ब्रह्मा कहलाता है, जब यह विश्व के रूप मे स्वयं को विकसित

सुन्दर देवकरण द्यौः[1] या आकाश का, 'द्यौष-पितर' या 'स्वर्गीय पिता' (ग्रीक एवं रोमन लोगो के ज्यूस या जूपिटर) के रूप मे था। तब द्यौस् से घनिष्ट रूप मे सम्बद्ध एक देवी थी, अ-दिति या 'अनन्त विस्तार', जिसे आगे चलकर सभी देवताओ की जननी माना गया। तदुपरान्त उसी कल्पना का एक विकसित स्वरूप वरुण, 'आच्छादक आकाश', नाम से सम्मुख आया, जिसे प्राचीन पारसी (ज़ण्ड) देवशास्त्र के 'अहुर मज्द', या 'ओर्मज्द' का, तथा ग्रीक 'औरनोस' से साम्य रखता बताया गया है—किन्तु यह अधिक आध्यात्मिक कल्पना थी जिसने ऐसी पूजा को विकसित किया जो महान् दर्शन के स्वरूप को प्राप्त हुई। पुन:, इस वरुण की कल्पना एक दूसरे अस्पष्ट मूर्तीकरण के साथ की गई जिसे मित्र (= फारसी 'मिथ्'), 'दिन का देवता', कहा गया है। कुछ समयोपरान्त दैवी क्षेत्र के इन चेतनवत् रूपो को इतना अस्पष्ट समझा गया कि वे साधारण मस्तिष्को मे धार्मिक कल्पनाओ के विकास के अनुकूल नही रह गये। अतएव शीघ्र ही महान् आच्छादक आकाश ने स्वयं को पृथक् शक्तियों एवं गुणो से युक्त पृथक पार्थिव स्वत्वों मे विश्लिष्ट किया। प्रथम जलमय अन्तरिक्ष—इन्द्र के नाम से मूर्तीकृत, जो अपने तुषार के भण्डार (इन्दु) को प्रवाहित करने के लिये सतत प्रयत्नशील है, किन्तु सदैव वृत्र नाम की एक विरोधी शक्ति या पापात्मा से बाधित है; तथा दूसरे, वायु—जिसकी कल्पना या तो वायु नाम के एक ही व्यक्तित्व के रूप मे की गयी है अथवा क्षितिज की प्रत्येक दिशा से प्रसूत, एवं मरुत या 'प्रचण्डवात के देवताओं' के रूप में मानवीकृत और भ्रमणकारी शक्तियो के एक सम्पूर्ण समूह-रूप मे की गई है। साथ ही साथ, इस विकेन्द्रीकरण की क्रिया मे—यदि मैं इस पद का व्यवहार कर सकूँ तो—कभी विशुद्ध रूप मे स्वर्गीय वरुण, आदित्य नाम के आकाशस्थानीय सात गौण देवताओ (बाद मे इनकी संख्या बारह तक बढ़ गई, एवं ये वर्ष के विभिन्न मासों मे सूर्य के विविध स्वरूप माने जाने लगे) के रूप मे एक स्थान पर ढकेल दिये गये, और तदुपरान्त उन्हें जलों के ऊपर राज्य मिला जब वे वायु को छोड़कर पृथ्वी पर विश्राम करते थे।

करता है तो विष्णु, एव जब अपने को पुन: सरलसत्ता में विलीन कर लेता है तो शिव कहलाता है। अन्य असंख्य देवता एवं गन्धर्व भी उस नपुसक ब्रह्म की अभिव्यक्ति मात्र हैं जो अकेले अनन्त है। यह अब भी भारत का वास्तविक विश्वदेवतावादी दर्शन प्रतीत होता है।

[1] 'द्यु' या 'द्यो' से वैसे ही जैसे प्राचीन जर्मन 'टिउ' या 'ज़िउ' जो प्रोफेसर माक्स म्यूल्लेर के अनुसार, 'मार्स' का एक प्रकार बन गया (जिससे 'टच्यूज्डे' हुआ है)। 'द्यौपपितर्' के लिए ऋग्वेद ६. ५१, ५ देखिये।

इन पृथक्-पृथक् देवत्वारोपित भौतिक शक्तियों मे, निःसन्देह पूजा का सर्वप्रिय पात्र वह देवता था जो तुषार एवं वर्षा प्रदान करता था, और जिसकी पूर्वीय कृषक उत्तरी-कृषको की अपेक्षा अधिक उत्कण्ठा के साथ इच्छा रखते थे। अतएव इन्द्र—आरम्भिक भारतीय देवशास्त्र का जूपिटर प्लूविअस—नि.सन्देह वैदिक पूजको का प्रमुख देवता है: कम से कम इस अर्थ मे कि उनकी प्रार्थनाओ एवं सूक्तो की महत्तर संख्या इन्द्र को सम्बोधित है।

तथापि, विना ताप की सहायता के वर्षा क्या कर सकती है? एक शक्ति, जिसकी प्रचण्डता ने हिन्दू मस्तिष्क को भय द्वारा प्रभावित शक्ति, एवं उसे इसके धारक को दैवी गुणो से संयुक्त करने के लिये प्रेरित किया होगा। अतएव वैदिक पूजको का दूसरा महान् एव कुछ दृष्टियो से याज्ञिक कर्मो से सम्बद्ध होने के कारण सर्वाधिक महत्वपूर्ण देवता अग्नि (लैटिन 'इग्निस्') 'अग्नि' का देवता है। सूर्य भी, जो सम्भवत· आरम्भ मे ताप के मौलिक स्रोत के रूप मे पूजित था, अग्नि का एक दूसरा रूप माना जाने लगा। वह उसी दैवी शक्ति की अभिव्यक्ति था जिसे आकाश मे स्थानान्तरित कर दिया गया और इस कारण अल्पतर अभिगम्य था। दूसरा देवता, 'उषस्', उषाकाल की देवी स्वभावत· सूर्य से सबधित हुआ एवं उषस् आकाश की पुत्री मानी गयी। दो अन्य देवता, 'अश्विन द्वय,' उषस् से सम्बद्ध, शश्वत् युवा, सुन्दर, स्वर्ण-निर्मित रथ मे यात्रा करने वाले, एवं उषस् के प्राग्गामी बताए गये। इन्हे स्वर्गीय चिकित्सक, 'रोगो के विनाशकर्ता' के रूप मे कभी-कभी दस्रा तथा कभी-कभी नासत्या, 'कभी असत्य न होने वाले', कहा गया है। ये दो ज्योतिर्मय स्थलो या किरणो के मूर्तीकरण प्रतीत होते हैं जिनके सूयर्दोय के पूर्व स्थिति की कल्पना की गयी है। यम, 'मृत आत्माओं के देवता', सहित ये ही वेद के मन्त्र-भाग के प्रमुख देवता है।[1]

किन्तु यहाँ यह पूछा जा सकता है कि यदि आकाश, वायु, जल, अग्नि एवं सूर्य की इस प्रकार विश्व के सर्वोच्च सार्वभौम परमात्मा की अभिव्यक्तियो के रूप मे पूजा की जाती थी तो क्या प्राचीन हिन्दुओ के लिए पृथ्वी भी एक पूजा की वस्तु नही थी? यह कहना चाहिए प्रारम्भिक धर्म मे भूमि भी

[1] यह ध्यान देने योग्य है कि मन्त्रों मे त्रिमूर्ति (ब्रह्मा, विष्णु एव शिव) का कोई उल्लेख नही जो परवर्ती समय मे इतनी प्रचलित है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी, जो आगे चलकर हिन्दूधर्म का एक आवश्यकता तत्त्व वन गया, वेद के मन्त्र भाग मे नही उपलब्ध होता। वर्ण-विभाग का केवल स्पष्टत उल्लेख एक सूत्र (पुरुष-सूक्त) में हुआ है, जो सामान्यतः अपेक्षाकृत अर्वाचीन रचना माना जाता है।

'पृथिवी', 'जो विस्तृत हो', नाम से सभी भूतो की माता के रूप मे मानी जाकर दैवी सन्मान प्राप्त करती है। अपरञ्च, अनेक देवताओ को पृथ्वी एवं 'द्यौस्' 'आकाश' के कल्पित संयोग से उत्पन्न सन्तान माना गया था। आकाश और पृथ्वी का यह काल्पनिक विवाह नि.सन्देह एक नितान्त स्वाभाविक कल्पना थी तथा परवर्ती देवशास्त्र के अधिकाश की व्याख्या इससे की जा सकती है। किन्तु यह उल्लेखनीय है कि जब धार्मिक पूजन अधिक स्वार्थमय स्वरूप से युक्त हो गया तो पृथ्वी ने, जो स्पष्टतः मनुष्य के नियन्त्रण मे अधिक थी एवं जो उतने आवश्यक रूप मे अराधना की आवश्यकता रखती प्रतीत नही हुई जितने कि उससे अधिक अनिश्चित् वायु, अग्नि, एवं जल, देवताओ मे अपना महत्व खो दिया एवं प्रार्थना अथवा सूक्त मे कदाचित् ही सम्वोधित हुई।

आगे आने वाले सूक्तों का अधिक अच्छी प्रकार मूल्याङ्कन करने के लिए यह ध्यान मे रखना चाहिए कि उनमे प्रार्थित देवीकृत शक्तियाँ संभवतः वैदिक काल मे प्रतिमाओं या विग्रहो द्वारा नही अभिव्यक्त थी, अपितु नि.सन्देह प्रारम्भिक पूजको ने अपने देवताओ को अपनी ही कल्पनाओं मे मानव स्वरूप से अवेष्टित किया।[1]

अव मैं अपने उदाहरण अथर्ववेद के चतुर्थ काण्ड के सुप्रसिद्ध सोलहवे सूक्त के प्रायः शव्दशः अनुवाद से प्रारम्भ करता हूँ, जो वरुण या 'आच्छादक आकाश' की स्तुति है।[2]

---

[1] देखिए डा० म्यूर का संस्कृत टेक्स्ट्स भाग ५, पृ० ४५३।

[2] जिसका सुन्दर अनुवाद डा० म्यूर (संस्कृत टेक्स्ट्स—संस्कृत उद्धरण—भाग ५. पृ० ६३) तथा प्रोफेसर माक्स म्यूल्लेर ने किया है। यह सोचा जा सकता है कि अतिरिक्त अनुवाद देकर मैं पिष्टपेषण ही करने जा रहा हूँ, किन्तु यह ध्यान मे रखना चाहिए कि चूंकि इन व्याख्यानो का उद्देश्य निरन्तर हिन्दू ज्ञान एव साहित्य के विकास को मुहावरेदार अंग्रेजी भाषा में रूपान्तरित सुन्दर उदाहरणो के द्वारा स्पष्ट करना है, अतएव मैं विषय का उचित निवेदन करने मे साहित्य के प्रत्येक विभाग के सुन्दर अंशों को केवल इस कारण से कि उनका अनुवाद दूसरे लोग कर चुके है, छोड नही सका। तथापि, मैं यहाँ एक वार यह कृतज्ञता के साथ स्वीकार करता हूँ कि अपने रूपान्तर में मैंने डा० म्यूर के विद्वत्तापूर्ण अनुवादो एवं काव्यीय भावविस्तारो से, तथा प्रोफेसर माक्स म्यूल्लेर की रचनाओ एवं वर्लिन के ए० वेवर की रचनाओ से पर्याप्त सहायता ली है। यह समझ लेना चाहिए कि मैंने अपने उदाहरणो को इन अनुवादो का प्रतिद्वन्द्वी अनुवाद प्रस्तुत करने के लिये नही दिया है। जहाँ तक संभव हो सका है उन्हे सटीक अंग्रेजी शव्दो के प्रयोग के साथ शव्दशः वनाने

शक्तिशाली वरुण, जो ऊपर शासन करता है, नीचे इन लोगो पर इस प्रकार दृष्टिपात करता है जैसे वह अत्यन्त निकट हो। जब मनुष्य कोई कार्य चोरी से करने की सोचते है तो वह उसे जानता रहता है। कोई भी व्यक्ति वरुण के समक्ष खडा नही रह सकता, चल नही सकता, और गहन अन्धकार मे या एकान्त गुहा मे उससे बचकर छिप नही सकता। वरुण उसे देख लेता है, उसकी गति को समझ लेता है। दो पुरुष एकान्त मे बैठकर कोई गुप्त मन्त्रणा कर सकते है, किन्तु सम्राट् वरुण वहाँ तीसरा बनकर खडा रहता है, और वह सब कुछ देखता है। यह सीमारहित पृथ्वी उसकी है, यह विस्तृत आकाश उसका है जिसकी गहनता को कोई मनुष्य नाप नही सकता। दोनो समुद्र[1] उसके शरीर मे समा जाते है फिर भी वह एक छोटे से जलाशय के भीतर निवास करता रहता है। जो कोई आकाश के उस पार भी भागता है वह राजा वरुण के फन्दे से बच नही सकता। उसके अनेक दूत इस संसार पर निरन्तर भ्रमण करते रहते है और हजारों नेत्रो से इस संसार के निवासियो की छानबीन करते रहते है। जो कुछ भी इस पृथ्वी पर है, जो कुछ आकाश मे है, और जो कुछ भी इससे परे है, उन सबको राजा वरुण देखता है। मनुष्य के नेत्रो के निमेष[2] भी वह गिनता है। वह ससार को इस तरह उठाता है जैसे जुआड़ी गोटियो को चलता है। हे राजा वरुण! तुम्हारे विनाशकारी पाश पापियों को सात बार बाँधे, असत्यभाषियो को बाँधे, पर सत्यभाषण करनेवालो पर कृपा करे।[3]

का प्रयत्न किया गया है और इस कारण मैने मुक्त-छन्द ही अपनाया है; किन्तु समय-समय पर वे अनुवादो के स्थान पर भावार्थ है, यत्रतत्र वाक्य या शब्द छोड दिये गये है एवं उनका क्रम भी परिवर्तित अथवा कई अशो को एक साथ सयुक्त कर दिया गया है जिससे वे पढने मे एक अविछिन्न खण्ड के समान लगते है। वस्तुतः यह देखा जायगा कि मेरा मुख्य ध्येय सामान्य पाठको एवं उन विद्यार्थियो तथा शिक्षित व्यक्तियो के लिये मूल का ऐसा अंग्रेजी रूपान्तर प्रस्तुत करने का रहा है, जो अनिवार्यत संस्कृत न होते हुए भी हिन्दू साहित्य मे प्रवेश प्राप्त करने के इच्छुक है।

[1] अर्थात्, वायु एव समुद्र।

[2] पलक का गिरना मनुष्यत्व का एक विशिष्ट चिह्न है जो मनुष्यों को देवताओ से पृथक् करता है; तुलना, नल ५. २५; माघ ३.४२।

[3] मनु ८. ८२ से तुलना कीजिए: 'असत्य बोलनेवाले साक्षी वरुण के

प्राचीन आर्य देवता वरुण से मै अधिक पूर्ण रूप मे भारतीय देवता इन्द्र पर आता हूँ।

निम्नलिखित पक्तियाँ हिन्दू जूपिटर प्लूवियस से सम्वद्ध विभिन्न प्रकीर्ण अंशो को एक साथ मिलाती है।[1]

हे अग्नि के जुड़वे भाई इन्द्र! जब तू उत्पन्न हुआ तो तेरी माता अदिति ने तुझे पर्वत पर उगे हुए सोम का बलवर्द्धक रस पिलाया जो—जीवन का स्रोत था—तुम्हारे अगो को अक्षय शक्ति प्रदान करने वाला था। तब वज्रबाहु के जन्म पर भय से त्रस्त होकर सौ जोडोवाले उस वज्र से डर कर जिसे त्वष्टा ने बनाया था, पर्वत टूटने लगे, पृथ्वी काँपने लगी, आकाश थर्रा गया। तू बिना-प्रतिद्वन्द्वी के उत्पन्न हुआ, तू मनुष्यो और देवो का राजा हुआ, जीदिका तथा अन्तरिक्ष की वस्तुओ का नेत्र हुआ। हे अमर्त्य इन्द्र! तू दुर्दिन और अन्धकार का घोर शत्रु है; महान् बुद्धिमान है; शत्रुओ का दारुण संहार करनेवाला है, योद्धा है, अप्रतिहत शक्तिवाला है। तू हम प्रार्थना करनेवालों की रक्षा करनेवाला है। हम तेरी प्रार्थना करते है, हमारी प्रार्थनाएँ तेरा उसी प्रकार आलिङ्गन करती हैं जैसे प्यारी पत्नी अपने पति का आलिङ्गन करती है। तू हमारा रक्षक है; मित्र, भ्राता, पिता, माता, एक साथ सभी कुछ है। पिताओं मे सर्वाधिक पिता का भाव रखने वाला है। हम तेरे हैं, तू हमारा है। अपनी कृपादृष्टि हमारी ऊपर कर, हम तेरी प्रार्थना करते हैं। हमे एक या कई अपराधो के लिये न मार। हमें आज क्षमा कर दे; कल क्षमा करना, प्रतिदिन क्षमा कर देना। देख तुझसे लड़ने आ रहे हैं: अहि, वृत्र और असुरों की लम्बी सेना चली आ रही है। जल्दी कर, उस सोम का पान कर, जो तुझे उत्तेजित करता है और अपने सुनहले रथ पर चढ़कर, लाल-लाल ऋभु के बनाए[2] घोड़ो को जोतकर, मरुतो को साथ लेकर, युद्ध के लिए चल दे। व्यर्थ मे असुर तेरे साथ मोर्चा लेने का साहस कर रहे हैं। व्यर्थ मे वे हमसे हमारे जल का भण्डार छानने का प्रयत्न

पाशो से कसकर बाँधे जाते हैं?' कुल्लूक ने इन पाशो की 'सर्पो की बनी रज्जु' (पाशः सर्प-रज्जुभि.) व्याख्या की है।

[1] इन मन्त्रो एवं आगे आनेवाले मन्त्रों का आधारभूत मूलपाठ डा० म्यूर की रचनाओ के ५ वें भाग मे मिलेगा। उसमे इन्द्र का एक पूर्ण काव्यात्मक वर्णन भी मिलेगा (पृ० १२६–१३९)

[2] ऋभुः (ग्रीक 'ओरफ्यूस') वेद के दिव्य कलाकार थे।

कर रहे हैं। तेरे वज्र का प्रहार होते ही पृथ्वी काँपने लगती है । तेरा शत्रु टुकडे-टुकडे होकर भूलुण्ठित हो जाता है, उसके नगर धूल में मिल जाते है, उसकी सेनाएँ विनष्ट हो जाती है, उसके दुर्ग टुकड़े-टुकड़े होकर ध्वस्त हो जाते है । तब अवरुद्ध हुई जल की धाराये दीर्घकाल के बन्धन से मुक्त होकर पृथ्वी पर प्रवाहित होने लगती हैं । उमड़ती हुई नदियाँ अपने घर, समुद्र, की ओर बढ़ती हुई वज्रबाहु की विजय की घोषणा करती हैं ।

इसके बाद हम सर्वमहत्वयुक्त वैदिक देवता, अग्नि, 'अग्नि के देवता' पर आते है, जो विशेषत: यज्ञसम्बन्धी अग्नि का देवता है । मैं यहाँ उससे सम्बन्धित कतिपय वर्णनो का भावार्थ प्रस्तुत करूँगा :

अग्नि ! तू पुरोरित है, ऋत्विज है, राजा और रक्षक है, यज्ञ का पिता है । हम मनुष्यो की प्रार्थनाएँ सुनकर तू हमारी प्रार्थनाएँ एवं उपहार लेकर स्वर्ग को दूत बनकर जाता है । तेरा जन्म तीन प्रकार का है : कभी वायु से तो कभी जल से, और कभी दो अरणियो[1] से तू जन्म लेता है; तू एक महान् देवता है, स्वामी है, प्राण और अमरत्व का दाता है । अपने रूप मे तू एक है पर मनुष्यों के लिये तू तीन रूप धारण करता है तू पृथ्वी पर अग्नि, वायु मे विद्युत, और द्युलोक मे सूर्य इन तीन रूपो को प्रदर्शित करता है । तू हर गृह में एक प्रिय अतिथि है—पिता, भ्राता, पुत्र, मित्र, स्वामी, रक्षक, सभी कुछ है । हे प्रकाशमय सात किरणोवाले देवता ! हमारे समक्ष तेरा रूप कितने विविधरूपो मे आता है । हम तुझे स्वर्ण के शरीरवाला, चमकते हुए केशवाला देखते हैं । तेरे मुख से लपटें निकल रही हैं, तेरे मुख के जलते हुए जबड़े और दाँत सभी वस्तुओं का भक्षण करते हैं । कभी तुझे हम हजारो चमकती हुई सीगोवाला देखते है, और अब तू सहस्रो नेत्रो से अपनी ज्वाला फैला रहा है । तू सोने के रथपर चढ़कर आ रहा है जिसे वायु हाँक रहा है, जिसमे लाल घोडे जुते हुये हैं । तू अपने रथ के मार्ग का चिन्ह कृष्णवर्ण बना रहा है । हे शक्तिशाली देवता ! हम प्रार्थना करनेवालो की रक्षा कर; हमें पाप के कलुष से मुक्त कर; और जब हम मरे तो चिता पर हमे दया से जलाना । शरीर को सारे पापो के साथ जला देना किन्तु हमारी आत्मा को ऊपर ले जाना, सुख और आनन्द के लोक मे, जहां हम पुण्यात्माओ के साथ सदैव निवास करे ।

---

[1] अग्नि उत्पन्न करने के लिए प्रयुक्त अश्वत्थ वृक्ष के दो खण्ड ।

दूसरे देवता, सूर्य[1], जिनके कार्यों की विविधता के अनुसार, विविध नाम हैं—यथा सवितृ, अर्यमन्, मित्र, वरुण, पूषन्, जो कभी-कभी द्यु-स्थान के पृथक् देवताओं का पद भी प्राप्त कर लेते हैं। जैसा पहले स्पष्ट किया जा चुका है, यह वैदिक पूजको के मस्तिष्क मे अग्नि से सम्बद्ध है एवं प्राय. इन्हें सात अरुण अश्वो द्वारा (जो सप्ताह के सात दिनो का प्रतिनिधित्व करते है) खीचे जाने वाले रथ मे विराजमान वर्णित और उपस् के उपरान्त दृष्टिगोचर होनेवाला कहा गया है। यहाँ इन देवता को संबोधित एक सूक्त का उदाहरण है (ऋग्वेद १.५०) जो प्राय: शब्दश अनूदित है :—

> देखो, उषा की किरणें अग्रगामियो के समान सूर्य को ऊपर ले जाती है जिससे मनुष्य उस महान् सर्वज्ञ देवता को जान सकें। तारे चोरो की तरह रात्रि के साथ उस सब कुछ देखनेवाले चक्षु के समक्ष छिपते जा रहे है जिसकी किरणें उस देव की उपस्थिति प्रकट कर रही हैं। वह लोक-लोक मे अपनी तीव्र किरणो से प्रकाशमान होता जा रहा है। हे सूर्य ! तू मनुष्यो के लोक के उस पार सदैव तीव्र गति से यात्रा कर रहा है। तू सवसे प्रमुख है। तू प्रकाश की सृष्टि और उससे सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशमय करता है। तू सभी मनुष्य एवं द्युलोक के प्राणियो के नेत्रो के समक्ष उदित होता है। हे प्रकाश देनेवाले वरुण ! तेरी तेज़ दृष्टि बड़ी शीघ्रता से एक के बाद एक इस प्राणमय कर्मरत संसार का पर्यवेक्षण और उस विस्तृत आकाश मे प्रवेश करती है, हमारे दिनो और रात्रियों को नापती है, सभी जीवो को देखती है। ज्वालामय केशसमूहोवाले दिन के देवता सूर्य ! तेरी सात लाल घोड़ियाँ तेरे तेज़ चलनेवाले रथ को खीचती हैं। इन अपने आप जुते हुए अश्वो के साथ तेरे रथ की सात पुत्रियाँ हैं, तू आगे बढ़ता है। हम इस अन्धकार के परे तेरे प्रकाशपूर्ण लोक को प्राप्त करेंगे, हे सूर्य ! देवताओ मे देव !!

इस सूक्त से सबद्ध होने से यहाँ सुप्रसिद्ध गायत्री का भी उल्लेख किया जा सकता है। यह सूर्य की उसके 'सवितृ' या जीवनप्रदाता-रूप मे लघु प्रार्थना एव सभी वैदिक रचनाओ मे पवित्रतम है। वर्तमान समय मे भी सम्पूर्ण भारत मे प्रत्येक ब्राह्मण अपनी दैनिक पूजा मे इसका प्रयोग करता है, यद्यपि इसका अर्थ सभी नही समझते। यह ऋग्वेद ३.६२,१० मे आता है एवं निम्न रूप मे इसका शब्दश अनुवाद किया जा सकता है :—

---

[1] यास्क, इन्द्र, अग्नि, एवं सूर्य को देवो की वैदिक त्रिमूर्ति का रूप देते है।

हम स्वर्गीय सविता देव के श्रेष्ठ गौरव का ध्यान करे। वह हमारी बुद्धि को प्रकाशित करे ('तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि, धियो यो नः प्रचोदयात्')[1]

क्या हम यह अनुमान नहीं कर सकते, जैसा सर विलिअम्स जोन्स ने किया है, कि हिन्दू अनन्तकाल से इस मन्त्र को जिस महान् श्रद्धा की दृष्टि से देखते आ रहे हैं वह प्रदर्शित करती है कि अधिक प्रबुद्ध पूजक, दृष्टिगोचर सूर्य के रूप मे उस दैवी ज्योति की अर्चना करते थे जो उनकी बुद्धियो को प्रकाशित कर सकती थी ?

यहाँ मैं सटीक रूप मे वैदिक उषस्, या उषा के वर्णन से युक्त एक लघु रूपान्तर प्रस्तुत करता हूँ :—

> हे उषा, सुनहली देवी ! तुझे नमस्कार है। तू अपने चमकते हुए रथ पर अपनी माँ से सजाई-सवाँरी गई सुन्दर युवती के समान आ रही है। तू अपने सभी गुप्त सौन्दर्य को हमारी प्रशंसा से भरी हुई आँखों के सामने प्रकट कर रही है; जिस प्रकार अपने सौन्दर्य का गर्व रखनेवाली पत्नी अपने पति के सम्मुख लजाते हुए अपना आवरण हटाती है और प्रेमपूर्वक देखनेवाले पति को वह सौन्दर्य नित्य नूतन और आकर्षक दिखाई पड़ता है। वर्षों से तू चली आ रही है पर फिर भी तू युवती है। तू उन सबका प्राण और जीवन है जो प्राण और जीवन धारण करते हैं। तू प्रतिदिन अनगिनत सोनेवालों को मानो मृत्यु से जगाती है। तेरे आने पर पक्षी अपने घोसलों से निकल कर आकाश मे चहकने लगते हैं, मनुष्य जागकर अपने काम पर चल देते हैं; वे धन, सुख और यश के लिये कार्य करना प्रारम्भ कर देते है।

वैदिक देवताओ के विषय को छोडने के पूर्व, मैं यम या मृत-आत्माओं के देवता के विषय मे भी कुछ शब्द कह देता हूँ। यह विश्वसनीय रूप से निश्चित प्रतीत होता है कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त वेद के मन्त्र भाग मे कोई स्थान नहीं रखता।[2] और न सूक्तो के रचयिता सभी कर्मों एवं वैयक्तिक अस्तित्व से मुक्ति पाने की इच्छा के प्रति कोई सहानुभूति प्रदर्शित करते हैं, जो परवर्ती समय मे ब्राह्मणो की आध्यात्मविद्या एवं दर्शन की एक उल्लेखनीय विशेषता बन गई।

---

[1] द्रष्टव्य है कि इसके ऋषि या रचयिता विश्वामित्र थे, जो एक क्षत्रिय थे।

[2] मण्डल १. १६४, ३२ मे 'बहु-प्रजा.' का अर्थ 'बहु जन्म भाक्' अर्थात् अनेक जन्मो को पाने वाला, किया गया है; किन्तु इसका अर्थ 'अनेक सन्तानों वाला' हो सकता है।

किन्तु आत्मा की अमर्त्यता एवं भावी जीवन के अनेक परोक्ष उल्लेख हैं जो ऋग्वेद के अन्तिम अंशों मे अधिक स्पष्ट एवं निश्चित हो जाते हैं। अन्तिम मण्डल का एक सूक्त पितृ-देवताओ या पितरों, अर्थात् उन मृत पूर्वजो की आत्माओ के प्रति है जिन्होंने स्वर्गीय सुख का पद प्राप्त कर लिया है एवं सुख की तीन विभिन्न अवस्थाओ मे निवास करते हुए माने जाते है—उनमें सर्वश्रेठ उच्चर आकाश मे, मध्यम बीच की वायु मे, एवं सबसे अवरकोटि वाले पृथ्वी के समीप के निम्नतम अन्तरिक्ष मे निवास करते हैं। उनकी सदैव श्रद्धा एवं पूजा की जानी चाहिए। उनकी अध्यक्षता यम देवता करते हैं जो कल्याणकारी या दुष्टस्वभाववाले सभी मृतात्माओं के शासक है। इसके पहले के आख्यान इस देवता को प्रथम मनुष्य के रूप मे (जिसकी जुड़वा भगिनी यमी है) तथा मृत मनुष्यों मे सर्वप्रथम व्यक्ति के रूप मे वर्णित करते है। इसी कारण इसे अन्य मरनेवाले मनुष्यों की आत्मा को उसी लोक मे ले जानेवाला वताया गया है। तथापि कतिपय अनुच्छेदो मे मृत्यु को इसका दूत कहा गया है। यह स्वयं स्वर्गीय प्रकाश में निवास करता है जहाँ मृत व्यक्ति ले जाये जाते हैं एवं जहाँ वे इसका तथा पितरो का सान्निध्य प्राप्त करते हैं। वेद में इसे मृत व्यक्तियों का निर्णय करने एवं उन्हे दण्ड देने से कोइ प्रयोजन नही है (जैसा कि परवर्ती देवशास्त्र मे), किन्तु इसके दो भयानक कुत्ते हैं, जिनकी चार आँखे हैं और जो इसके निवास-भवन के द्वारपाल है। यहाँ ऋग्वेद के दशम मण्डल के विविध सूक्तों से उद्धृत इसके विषय की कुछ कल्पनायें प्रस्तुत हैं :—

> महान् सम्राट् यम का हम उपहार और प्रार्थना से पूजा करते है। वह मरनेवाले मनुष्यो मे प्रथम था, मृत्यु की तीव्र नदी का साहस से सामने करनेवाला प्रथम व्यक्ति था, स्वर्ग के मार्ग को वनाने वाला और अपने दिव्य निवासस्थान में दूसरो का स्वागत करने वाला वह प्रथम व्यक्ति था। उसके द्वारा विजित लोक को हम से कोई शक्ति छीन नही सकती। हे राजा यम! हम भी आते है। जो उत्पन्न हुआ है उसकी मृत्यु अवश्य होगी और वह भी उस मार्ग पर अवश्य आवेगा जिस पर तू चल चुका है—वह मार्ग जिस मार्ग से मनुष्यो की पीढियो और हमारे पितरो ने भी एक-एक करके प्रस्थान किया है। हे मृत व्यक्ति की आत्मा! जाओ—उस प्राचीन मार्ग पर जाने से न डरो, जिससे हमारे पूर्वज जा चुके है। जाओ, देवताओ से मिलने के लिये जाओ, अपने उन सुखी पितरो के यहाँ जाओ; उनके साथ जाकर सुखपूर्वक निवास करो। चार नेत्रोवाले उन कुत्तो द्वारा

रक्षित द्वार को पार करने में मत डरना, जो मृत आत्माओं पर निगरानी रखते है। हे आत्मा, अपने घर जाओ, अपना पाप और लज्जा पृथ्वी पर छोड़ जाओ, अपना पुराना भव्यरूप धारण करो जो विशुद्ध है, सभी दोषो से निर्मल है।

अब मैं किञ्चित परिवर्द्धित अनुवादो द्वारा ऋग्वेद के दो सर्वाधिक उल्लेखनीय सूक्तो का कुछ भाव स्पष्ट करने का प्रयत्न करूँगा। प्रथम (मण्डल १०, १२९), जिसके कुछ अंशो की तुलना जॉब (Job) के ३८ वे अध्याय से की जा सकती है, सृष्टि के रहस्य को इस प्रकार वर्णित करने का प्रयत्न करता है :—

सृष्टि के आदि मे न तो सत् था और न असत्; उस समय न तो आकाश ही था और न ऊपर अन्तरिक्ष ही। तो इस विश्व के चारो और क्या था, यह किम आधार पर आवृत था? क्या यह गहन जल निधि के भीतर था? उस समय न तो मृत्यु थी, न तो अमर्त्यता थी, न तो दिन था, न रात्रि थी, न प्रकाश था, और न तम था। केवल एक सत् अपने ही प्राण से जीवित था उसके अतिरिक्त कुछ भी नही था। न तो कुछ ऊपर था और न उसके परे कुछ था। तब तम से आवृत्त तम पहले हुआ, तब सभी जल ही जल हुआ। जिसके बाद सोम हुआ, जिसमे 'एक' शून्य से आवृत्त पडा था, तुच्छ से आवृत्त था। तब स्वयं अपनी ओर मुडते हुए अपनी ही शक्ति से तप की शक्ति से वह उत्पन्न हुआ। उसमें काम उत्पन्न हुआ जो मन का प्रथम बीज था, जिसको विद्वान् व्यक्ति सत् और असत् को जोडने वाला प्रथम बन्धन कहते है। यह प्रकाश, जिसने जीवन की ज्योति जलाई, तब कहाँ था? पहले यह कहाँ था! क्या यह ऊपर मिला था? क्या उत्पन्न करने वाली शक्तियाँ थी? क्या नीचे कोई सुप्त जीवनी शक्ति थी? कौन जानता है? कौन बता सकता है? यह संसार कैसे और किससे उत्पन्न हुआ है? देवता स्वयं ही इस संसार की उत्पत्ति के उपरान्त उत्पन्न हुए है। तब कौन इस सृष्टि की उत्पत्ति के रहस्य को बता सकता है? जो कुछ भी हो, इसकी रचना की गई या नही की गई, यह बनाई गई या नही बनाई गई? वही जानता है जो इसका अधीक्षक है। जो सर्वज्ञ है, वह सब कुछ जानता है। या वह भी नही जानता?

दूसरा उदाहरण ऋग्वेद के प्रथम मण्डल (१२१) से है। पहले के समान

यह भी उन लोगो के लिए उत्तम तर्क प्रस्तुत करता है जो यह मानते हैं कि हिन्दुओ का शुद्धतर धर्म उचित रूप से अद्वैतवादी है :

किस देवता की हम हवि के साथ पूजा करें ?[1] तो हम उस सुनहले वालक की पूजा करे जो प्रारम्भ मे उत्पन्न हुआ, जो सवका स्वामी उत्पन्न हुआ, जो सभी भूतो का एकमात्र स्वामी है—जिसने पृथ्वी की रचना की, आकाश का निर्माण किया, जो प्राण देता है, शक्ति देता है, जिसकी आज्ञाओ का पालन देवता करते है, जिसका आश्रय-स्थान स्वर्ग है, जिसकी छाया मृत्यु है, जो अपनी शक्ति से सभी प्राणवान, सुप्त, जागृत् संसार का सम्राट है, जो मनुष्यो और पशुओं पर शासन करता है, जिसकी महत्ता की घोपणा हिमयुक्त पर्वत, समुद्र की नदियाँ करती हैं; जिसके वाहु ये विस्तृत लोक हैं, जिसने इस आकाश को रोक रक्खा है, पृथ्वी को दृढतापूर्वक स्थित कर रक्खा है, और सर्वोच्च द्युलोक को सँभाला है और जिसने इन मेघों को वायु मे फैला रखखा है, जिसकी ओर पृथ्वी और आकाश दोनों काँपते हृदय से देखते है, जिसमे व्यक्त होकर उगता हुआ सूर्य ससार के ऊपर चमकता है। जहाँ कही आकाश मे विखरे जल गये हैं और उन्होंने फलोत्पादक वीज तथा उत्पादक अग्नि गिराई है, वहाँ वह उत्पन्न हुआ. जो सभी देवो का जीवन तथा प्राण है, जिसकी दृष्टि विस्तृत मेघो को देखती है—जो शक्ति का स्रोत है, यज्ञ का कारण है—जो देवताओं के ऊपर एकमात्र देवता है। वह हमे आघात न पहुँचाये, वह पृथ्वी का स्रष्टा है, आकाश की रचना करनेवाला है; समुद्र का, दूर-दूर तक फैले जलनिधि का भी वह स्रष्टा है।

अव मैं कतिपय मन्त्र (जो नियमित क्रम मे एवं शब्दश: अनूदित नहीं हैं) प्रसिद्ध पुरुष सूक्त से उद्धृत करता हूँ, जो ऋग्वेद के सर्वाधिक अर्वाचीन सूक्तों मे से एक है (मण्डल १०. ९०)। यह हिन्दू अद्वैतवाद के विश्वदेवता-वाद के क्रमिक सक्रमण तथा उस वर्णव्यवस्था के प्रथम पूर्वाभास का दृष्टान्त प्रस्तुत करेगा, जिसने अनेक शताब्दियो से भारत को वन्धन मे वाँध रक्खा है :

पुरुष[2] के सहस्र शीर्ष है, सहस्र नेत्र, सहस्र पाद। वह पृथ्वी के सभी

---

[1] मूल मे इस प्रश्न की प्रत्येक मन्त्र के अन्त मे आवृत्ति की गई। इसका एक शब्दश: अनुवाद म्यूर के संस्कृत टेक्स्ट्स, भाग ४, पृ० १६ पर मिलेगा।

[2] उपनिषदों एवं तत्त्व-समास के अनुसार सर्व-व्याप्त, स्वयं-भू आत्मा को 'पुरि शयनात्', शरीर मे निवास करने के कारण, पुरुष कहा गया है।

ओर व्याप्त होता है। तथापि उसने दश अंगुल[1] के आकार से ही विश्व को व्याप्त कर रक्खा है। वह सभी कुछ है, भूत, भव्य, सब कुछ है। वह अमृत का देवता है। सम्पूर्ण जीव केवल उसके चतुर्थांश है, जो कुछ स्वर्ग मे है वह उसका त्रिपाद है। उस पुरुष से विराज उत्पन्न हुआ और विराज से पुरुष उत्पन्न हुआ,[2] जिसे देवों एवं ऋषियो ने अपना बलिपशु बनाया। पुरुष को पशु बनाकर उन्होने यज्ञ किया। जब उन्होने उसे विभक्त किया तो उसके किस प्रकार अश किये ? उसका मुख क्या था ? उसकी बाहुएँ क्या थीं ? उसके ऊरु क्या थे और उसके पैर कौन थे ? ब्राह्मण उसका मुख था, राजन्य[3] को उसको बाहुएं बनाया गया, वैश्य उसके ऊरु थे और शूद्र उसके पैरो से उत्पन्न हुए।

मैं मन्त्रों के अपने उदाहरणो को दो सूक्तों के किञ्चित परिवर्द्धित रूपान्तर के साथ समाप्त करता हूँ—एक सभी भूतों के स्रोत के रूप मे मानवीकृत काल की स्तुति मे एवं अथर्ववेद से उद्धृत है; दूसरा रात्रि को सम्बोधित और ऋग्वेद से लिया गया है।[4]

अग्रोल्लिखित कालसूक्त है (अथर्ववेद १९. ५३)। अन्त के कुछ मन्त्रो को छोड़ दिया गया है, एक या दो पंक्तियो का क्रम भी परिवर्तित कर दिया गया है एवं कुछ पक्तियाँ इसी विषय के दूसरे सूक्त से उद्धृत कर जोड़ दी गयी है :

काल सप्तरश्मि वाले अश्व के समान है। वह सहस्र नेत्रवाला है,

---

[1] डा० म्यूर ने (शब्दशः) अनुवाद किया है : 'उसने दश अंगुलियो के विस्तार से पृथ्वी को आक्रान्त किया।' कठोपनिषद् (२. ४. १२) कहता है कि पुरुष, 'आत्मा', अँगूठे के बराबर आकार का है (अंगुष्ठ-मात्र)।

[2] यह इस कथन का समानार्थक ही है कि पुरुष एवं विराज् तत्वतः एक ही हैं। विराज, एक गौण स्रष्टा के रूप मे, कभी पुरुष कहा गया है, कभी स्त्री। मनु (१ ११) कहते है कि पुरुष 'प्रथमपुरुष' ब्रह्मा कहलाया और सर्वोच्च स्वयं-भू आत्मा द्वारा उत्पन्न किया गया था। १. ३२ मे वे कहते हैं कि ब्रह्मा (देखिए कुल्लूक की टीका) अपने तत्त्व को विभाजित कर आधे पुरुष एव आधे स्त्री हो गये। स्त्री से विराज् उत्पन्न हुआ; विराज् से मनु उत्पन्न हुए—जो सभी भूतो के द्वितीय रचयिता एव स्रष्टा हैं।

[3] द्वितीय वर्ण या क्षत्रिय को यहाँ राजज्य कहा गया है। तीसरी पंक्ति में 'कृषक' से तृतीय वर्ण या वैश्य वर्ण से तात्पर्य है।

[4] दोनो का शब्दशः अनुवाद डॉ० म्यूर ने किया है; टेक्स्ट्स, भाग ५, पृ० ४०८; भाग ४, पृ० ४९८.

अनश्वर है, उत्पादक है, सभी वस्तुओं को आगे बढ़ानेवाला है। उसी पर विद्वान् एवं मनीषी आरोहण करते हैं। सात चक्रो, सात धुरोवाले रथ के समान काल बढ़ता जाता है। उसके चलनेवाले चक्र यह सभी संसार और उसकी धुरी अमृत है। वह देवताओ मे सर्व प्रथम है। हम उसे पूर्ण घट के समान देखते है। हम उसे विविध रूपो मे बढते हुए देखते हैं। वह संसार को उत्पन्न करता है और उसका आच्छादन करता है। वह उनका पिता है, उनका पुत्र है। उसके समान कोई शक्ति नही है। भूत तथा भविष्यत् , काल से उत्पन्न होते हैं। सभी पवित्र ज्ञान एवं तपस्यायें उससे उत्पन्न होती है। उससे पृथ्वी और जल उत्पन्न होते है। काल से, उगनेवाला, ताप देनेवाला और अस्त होनेवाला सूर्य उत्पन्न होता है। काल से वायु उत्पन्न होता है। काल के द्वारा ही पृथ्वी विस्तृत है। काल के द्वारा ही नेत्र देखते हैं। मन, प्राण, नाम, सभी काल मे देखे जाते हैं। काल के आगमन पर सभी आनन्द उठाते हैं—काल इस ससार को जीतनेवाला सम्राट् है, सर्वोच्च लोक, पवित्र लोको, सभी लोंको को जीतनेवाला है। वह सदैव आगे बढ़ता जाता है।

रात्रिसूक्त मेरा अन्तिम उदाहरण है। यह ऋग्वेद के दशम मण्डल (१२७) से लिया गया है :

रात्रि देवी अपनी शोभा मे अपने चारों ओर अपने असंख्य नेत्रो से देखती हुई आ रही है। वह अमर्त्य देवी है। अपना आवरण वह गहरे, ऊँचे भूप्रदेशो पर, और पर्वतों पर डालती है। किन्तु शीघ्र ही प्रकाश उसके अन्धकार को दूर कर देता है। वह शीघ्र ही अपनी भगिनी उषा को बुलाती है, और तब प्रत्येक अन्धकारपूर्ण छाया दूर भाग जाती है। हे दयालु देवी ! अपने सेवको पर कृपा करो जो तुम्हारे आगमन पर विश्राम करते हैं जिस प्रकार पक्षी रात्रि को विश्राम करते हैं। देखो ! मनुष्य एवं पशु तथा पक्षिगण और बाज पक्षी भी विश्राम करने चले गये है। तुम हमसे दूर जाओ, हे रात्रि ! तुम भेड़िया हो। चोरों को दूर करो, और हमे सीमा के पार ले चलो। हे उषा ! ऋण के चुकानेवाले व्यक्ति को, इस अन्धकारपूर्ण और दृश्य गहनता को, दूर करो जो हमें अपनी बाहुओ मे बाँधने आया था। हे रात्रि, दिन की कृष्णवर्ण पुत्री ! मेरी प्रार्थना के सूक्तों को स्वीकार करो जो मैं तुम्हे एक विजेता को दिये गये उपहार के समान अर्पित करता हूँ।

व्याख्यान २

ब्राह्मण एवं उपनिषद्

इस प्रकार वैदिक मन्त्रों के अंशो मे अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने का प्रयत्न करके हम सम्प्रति वेद के दूसरे भाग की ओर मुडते है, जिसे ब्राह्मण, अर्थात् याज्ञिक शिक्षा एवं दृष्टान्त कहा गया है। मन्त्र-भाग से इस भाग का सम्बन्ध बहुत कुछ मोज़ाइक विधि से टैलमड (Talmud), और कुरान से हदीस् या सुन्न के सम्बन्ध के अनुरूप है। तथापि, एक उल्लेखनीय अन्तर भी है; कारण अकेले मोज़ाइक विधि ही जिउ लोगो के लिए दैवी विधि का प्रकाशन है, और कुरान भी मुसलमानों के लिए वही स्थान रखता है, जबकि ब्राह्मण भी वैसे ही वेद एवं श्रुति हैं—तथा हिन्दुओं के प्रकाशन सिद्धान्त के अनुसार वैसे ही प्रकाशन हैं—जैसे कि मन्त्र।

तत्त्वत: वर्ण एवं ब्राह्मण जाति के प्राधान्य की दृष्टि से, ये ब्राह्मण, सूक्तों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। तथापि, जब हमें ब्राह्मणों के वर्ण्य विषय को स्पष्ट करना होता है, तो हम उनके स्वरूप की यथार्थत: परिभाषा देना कठिन पाते हैं। सामान्यत: उन्हे विधि एवं अर्थवाद, अर्थात् नियम एवं व्याख्याओं के दो वर्गों में विभक्त कर्मकाण्ड सम्बन्धी शिक्षाओ का संग्रह माना जाता है। वस्तुत: वे अस्तव्यस्त एवं क्रमहीन गद्य रचनाओं की एक माला है (जिनमे से प्राचीनतम सात या आठ शताब्दी ई० पू० मे लिखा गया होगा), जिनका उद्देश्य यज्ञों मे मन्त्रो के प्रयोग के नियम देते हुये कतिपय मन्त्रो एवं छन्दो के अर्थ एवं फल पर विचार करना, तथा विरोधी वचनो (निन्दा) एवं आख्यानो और प्राचीन कथाओ के रूप मे दृष्टान्तों के सामयिक उपयोग द्वारा यज्ञो की उत्पत्ति, अर्थ, एवं व्यवहार की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करते हुए पुरोहितों को उसके कार्य के सम्पादन मे उपयोग के लिए कर्मकाण्ड के ग्रन्थो के रूप मे सहायता करना है। इन रचनाओ के अत्यधिक वाग्विस्तार के कारण ये कर्मकाण्ड की निर्देशिकाओं के रूप मे उस समय तक व्यवहारत: उपयोगहीन थे जब तक कि इन्हें स्वय सूत्रो या सक्षिप्त नियमों के रूप मे, जिनका आगे वर्णन किया जायगा, निर्देशो से संवलित नही कर दिया गया।

सहिताओ या मन्त्रों के संग्रहों मे प्रत्येक के अपने ब्राह्मण है। इस प्रकार, ऋग्वेद के ऐतरेय-ब्राह्मण तथा कौषीतकि (या शाङ्खायन) ब्राह्मण है।

यजुर्वेद की दो संहिताओं के तैत्तिरीय-ब्राह्मण एवं शतपथ-ब्राह्मण हैं,[1] जिनमें अन्तिम, जो वाजसनेयि-संहिता का है, कदाचित् इन रचनाओ के अन्तर्गत सर्वाधिक पूर्ण एवं रोचक है। सामवेद के आठ ब्राह्मण है, जिनमे सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं प्रौढ या पञ्चविंश, ताण्ड्य, एवं षड्-विंश। अथर्ववेद का भी गोपथ[2] नाम का एक ब्राह्मण है।

यद्यपि इन ग्रन्थो का अधिकांश विषय केवल मूर्खतापूर्ण याजकीयोक्तियो से बढ़कर और कुछ नही, तथापि ये किसी भी ऐसे व्यक्ति को बहुमूल्य सामग्री प्रदान करते हैं जो ब्राह्मण धर्म एवं अनेक विलक्षण तथा रोचक आख्यानो के विकास के अन्वेषण मे रुचि रखता है।

इन आख्यानो में एक सर्वाधिक उल्लेखनीय आख्यान, जो पुरुष-बलि की कल्पना का परिचय देता है, एतरेयब्राह्मण[3] (हॉग का सस्करण ७. १३; तुलना ऋग्वेद १. २४, १२ इत्यादि, ५. २, ७) में आने वाला 'शुन शेपाख्यान' है। इसके अनेक विद्वानो ने सुन्दर अनुवाद किये हैं। मैं यहाँ इस आख्यान के एक अंश का सारांश प्रस्तुत करता हूँ:

> राजा हरिश्चन्द्र के कोई पुत्र नही था। उन्होंने महर्षि नारद से पूछा: 'पुत्र होने से क्या फल मिलता है?' नारद ने उत्तर दिया—'पुत्र के द्वारा पिता अपने ऋणों को चुकाता है।[4] उसमे आत्मा से आत्मा ही उत्पन्न होता है। पिता के लिये पुत्र-प्राप्ति का आनन्द सभी आनन्दों से बढ़कर है। अन्न प्राण है, वस्त्र रक्षक है, स्वर्ण आभूषण है, प्रिय पत्नी सभी मित्रो मे श्रेष्ठ है, पुत्री दया[5] का पात्र होती है किन्तु पुत्र स्वर्ग से उतरी हुई ज्योति के समान है। वरुण देवता के पास जाओ

[1] वाजसनेयि-संहिता सहित बर्लिन के प्रोफेसर ए० वेबर द्वारा संपादित।

[2] यह ब्राह्मण अन्य ब्राह्मणों की अपेक्षा कम प्राचीन होना चाहिए, क्योकि कुछ लोगो के अनुसार अथर्ववेद अधिक प्राचीन ब्राह्मणों की रचना के समय श्रुति या प्रकाशन के अंग के रूप में स्वीकृत नही था।

[3] प्रोफेसर एच० एच० विलसन ने यह अनुमान किया है कि यह ब्राह्मण प्रायः छः शताब्दी ई० पू० में रचा गया था। इसे कभी-कभी आश्वलायन ब्राह्मण भी कहा जाता है।

[4] मनुष्य पुत्रोत्पत्ति तक अपने पूर्वज का ऋण धारण करता है, क्योकि मृत पुरुषो का आनन्द कतिपय यज्ञकर्मो (श्राद्ध नामके) पर आश्रित है, जिसे पुत्र ही करते हैं।

[5] जो लोग पूर्व मे रह चुके हैं कदाचित् यह समझ सकेंगे कि यहाँ पुत्री के जन्म को विपत्ति क्यों कहते हैं।

और प्रार्थना करो कि 'हे देव ! एक पुत्र दीजिए और मैं उस पुत्र की बलि आपको दूंगा।' राजा हरिश्चन्द्र ने ऐसा ही किया और उसके उपरान्त उनको रोहित नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। एक दिन पिता ने अपने पुत्र से इस प्रकार कहा—'मेरे पुत्र ! मैने तुम्हे उस देवता को अर्पित किया है जिसकी कृपा से तुम प्राप्त हुए अतः यज्ञ मे बलि होने के लिए प्रस्तुत होओ।' पुत्र ने 'नही' कहा और 'अपना धनुष लेकर उसने अपने पिता का गृह त्याग दिया।

कथा मे आगे यह वर्णन आता है कि जब वरुण अपने वाग्दत्त बलि की प्राप्ति के विषय मे निराश हो गये तो उन्होने हरिश्चन्द्र को जलोदर रोग से पीड़ित करके दण्ड दिया। इसी बीच—

छ. वर्षों तक हरिश्चन्द्र का पुत्र वन में घूमता रहा। एक दिन उसने एक भूखे ब्राह्मण को देखा। उसका नाम अजीगर्त था। क्षुधा से वह बहुत पीडित था। उस ब्राह्मण साधु के साथ उसकी पत्नी और उसके तीन पुत्र थे। तब रोहित ने उससे कहा—'हे ब्राह्मण ! तुम्हारे एक पुत्र के लिये मैं तुम्हे सौ गाये दूंगा ?' पिता ने अपने ज्येष्ठ पुत्र को बाँहों मे बाँधकर कहा—'मैं इससे अलग नही हो सकता।' तब माता अपने कनिष्ठ पुत्र से लिपट गई और रोती हुई बोली 'मैं इससे दूर नही रह सकती।' तब उनके दूसरे पुत्र, शुनःशेप, ने कहा—'पिता जी मैं जाऊँगा।'[१] इस प्रकार रोहित उस बालक को साथ लेकर अपने

[१] ब्राह्मण केवल इतना ही कहता है कि वे अपने मझले पुत्र को बेचने के लिए सहमत हो गये। शुन.शेप का स्वयं को अपनी इच्छा से अर्पित करने की कल्पना रामायण से ली गई हो सकती है (१. ६१, ६२) जहाँ यह कथा इस प्रकार कही गई है :—

"अयोध्या के राजा अम्बरीष ने एक यज्ञ का अनुष्ठान किया, किन्तु पशु को इन्द्र चुरा लेता है। तब ऋत्विज् राजा से कहते है कि या तो स्वयं पशु को ही ढूढना पड़ेगा या उसके स्थान पर पुरुष को पशु बनाना होगा। अम्बरीष वास्तविक बलिपशु की खोज में पृथ्वी पर घूमते है। अन्त मे ऋचीक नाम के ब्राह्मण से उनकी भेट होती है, जिसे वह उसके एक पुत्र के लिए एक हजार गो-इत्यादि पशु प्रदान करते है। ऋचीक अपने ज्येष्ठ पुत्र को देना अस्वीकार करता है। उसकी पत्नी कनिष्ठ पुत्र को नही छोड़ती। इस पर मध्यम पुत्र जाने को प्रस्तुत होता है, और स्वीकार कर लिया जाता है। जब यज्ञ मे उसकी बलि दी जानेवाली है उस समय विश्वामित्र उसे बचाते है, जो उसे अग्नि की एक प्रार्थना तथा इन्द्र एवं विष्णु के प्रति उक्त दो सूक्तों की शिक्षा देते हैं।"

पिता हरिश्चन्द्र के निकट आया और वोला—'पिता जी यह वालक मेरे स्थान पर वलिपशु वनेगा।' इस पर हरिश्चन्द्र वरुण के पास पहुँचे और वोले—'हे देव ! इस वालक को मेरे पुत्र के स्थान पर स्वीकार करें।' वरुण ने कहा कि इसी की वलि दो, क्योंकि व्राह्मण की वलि क्षत्रिय की वलि से उत्तम है।

इसके उपरान्त, अभिप्रेत वलि के साथ यज्ञ का अनुष्ठान प्रारम्भ किया गया। चार वड़े ऋषियों ने ऋत्विजों का कर्म किया, किन्तु उन्होने किसी भी व्यक्ति को उस वालक को यूप से वाँधने के लिए प्रस्तुत नही पाया। उसका पिता अजीगर्त, जो उस वालक के पीछे-पीछे यज्ञ-स्थान पर गया था, सम्मुख आया और वोला :—

'मुझे सौ गायें दो और मैं उसे वाँधूगा।' उन्होने उसे सौ गायें दी और उसने वालक को वाँध दिया। किन्तु इस पर भी कोई उसका वध करने के लिए उद्यत नही हुआ। तव पिता ने कहा—'मुझे एक सौ गायें और दो और मैं इसका वध करूँगा।' फिर उन्होने एक वार उसे सौ गायें दी और पिता ने अपने पुत्र की वलि देने के लिये खड्ग उठा लिया। तव वालक ने कहा—'मुझे देवताओं की प्रार्थना कर लेने दीजिए, कदाचित् वे मुझे मृत्यु से मुक्त कर दें।' अतः शुनःशेप ने सभी देवो की प्रार्थना वेदमन्त्रों से की और देवताओ ने उसकी प्रार्थना सुन ली। वह यज्ञ वलि से मुक्त कर दिया गया और हरिश्चन्द्र भी स्वस्थ हो गये।'

इस आख्यान के परिशिष्ट-रूप मे मैं ऐतरेय ब्राह्मण, काण्ड २ (हॉग१.८) से निम्न विलक्षण अंश उद्धृत करता हूँ, यद्यपि यह क्रमवद्ध एवं पूर्णतया शव्दशः अनूदित नही है :

"देवताओ ने एक पुरुष का यज्ञ के लिए वध किया। किन्तु इस प्रकार वध किये गये उस पुरुष से वह अंश जो यज्ञ के लिये योग्य था निकल कर एक अश्व मे जा घुसा। तव यज्ञ के लिए अश्व योग्य पशु वन गया। देवताओ ने अश्व की वलि दी किन्तु उसमे से भी यज्ञ का योग्य अंश निकलकर मेष मे जा घुसा। उसमे से निकलकर वह अज में गया। यज्ञीय अंश दीर्घकाल तक अज मे रहा इस कारण वह प्रधान रूप से यज्ञ बलि के योग्य हो गया।[1]

---

[1] यह वडा विलक्षण है, क्योकि यह यह प्रदर्शित करता है कि यदि कभी किसी सीमा तक पुरुष-यज्ञ प्रचलित था तो इसका स्थान पशुओ की वलि ने ग्रहण कर लिया, जिन्हे यहाँ उनके प्रत्येक वर्ग को नैसर्गिक प्रभाव के अनुसार

देवताओं ने यज्ञ के द्वारा स्वर्गारोहण किया। उन्हे भय था कि मनुष्य एवं ऋषि उनके यज्ञ को देखकर यह न पूछने लगें कि यज्ञ का अनुष्ठान कैसे होता है और कही वे भी उनके पीछे स्वर्ग न पहुँच जॉय। इसलिये उन्होने यूप के अग्रभाग को नीचे रखकर उसे समाप्त कर दिया। उसके बाद मनुष्यो एवं ऋषियो ने उस यूप को खोदा और उसके तीक्ष्णभाग को ऊपर कर दिया। इस प्रकार वे यज्ञ से परिचित हो गये और वे भी स्वर्गलोक पहुँच गये।"

निम्न पंक्तियाँ ऐतरेय-ब्राह्मण (हॉग का संस्करण १. २३) के, जो कदाचित् सातवी या आठवी शताब्दी ई० पू० मे लिखा गया है, एक विलक्षण आख्यान की रूपरेखा प्रस्तुत कर सकती है :—

देवता एव असुर परस्पर युद्ध कर रहे थे। दुष्ट असुरो ने इन लोको को अपना दुर्ग बना लिया जैसे एक शक्तिशाली सम्राट दुर्ग बना लेता है। तब उन्होंने पृथ्वी को एक लोहे का दुर्ग बनाया, वायु को रजत का दुर्ग बनाया, और आकाश को स्वर्ग का दुर्ग बनाया। उसके बाद देवताओं ने एक दूसरे से कहा—'इन दुर्गों के विपरीत हम दूसरे

उनकी उपयुक्तता के नियमित क्रम में गिनाया गया है। इस प्रकार के यज्ञ देवता को प्रसन्न करने वाले माने जाते थे, यद्यपि हिन्दू की आहुतियों का एक ध्येय देवताओं को वास्तविक भोजन प्रदान करना था, क्योकि भोजन उनके जीवन की एक कल्पित आवश्यकता थी। अश्वमेध या 'अश्व-यज्ञ' अत्यन्त प्राचीन कर्म था, क्योंकि ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १६२, १, तथा १६३ वें सूक्त का भी इस कर्म मे उपयोग होता था। यह सभी पशुयज्ञो में प्रधान समझा जाता था। परवर्ती समय मे इसका माहात्म्य इतना बढा दिया गया कि एक सौ अश्वमेध यज्ञ, कर्त्ता को इन्द्र को स्वर्ग से हटाने योग्य बना देते थे। कुछ लोगो का विचार है कि अश्व का वस्तुत: वध नही होता था अपितु वह यूप मे केवल बाँधा जाता था। हार्डविक ने अपने मूल्यवान् ग्रन्थ 'क्राइस्ट एण्ड अदर मास्टर्स' मे हिन्दू यज्ञों के पॉच वर्गों पर कुछ रोचक विचार दिये हैं (भाग १. पृ० ३२४)। ये पाँच वर्ग है—१ अग्निहोत्र: प्रत्येक सायंप्रात. अग्नि मे पकी हवियाँ एवघृत की आहुतियाँ (देखिए पृ० २५१); २. दर्शपूर्णमास : प्रतिपद् एवं पूर्णमासी को पाक्षिक बलिकर्म; ३. चातुर्मास्य : प्रत्येक चार मास पर यज्ञकर्म; ४ अश्वमेध एवं पशुयज्ञ: पशुओ की बलि सहित किये गये यज्ञ; ५. सोमयज्ञ: सोम के रस की (विशेपत: इन्द्र को) बलि तथा आहुति। बकरो की बलि अब भी काली के लिए होती है, परन्तु बौद्धधर्म ने भारत मे पशु बलि समाप्त करने का प्रयत्न किया।

संसारों की रचना करें।' तब उन्होने यज्ञवेदियाँ बनाईं जहाँ उन्होंने त्रिविध अग्नि मे आहुतियाँ की। उस प्रथम यज्ञ से उन्होंने असुरों को पृथ्वी पर बनाए हुए दुर्गों में से मार भगाया। दूसरे यज्ञ से वायु के दुर्गों से, और तीसरे यज्ञ द्वारा उन्हें आकाश से भी दूर कर दिया। इस प्रकार दुष्ट असुरो को देवताओं ने इन लोकों से दूर भगाकर विजय प्राप्त की।

इसके उपरान्त मैं शतपथ-ब्राह्मण (प्रोफेसर वेबर का संस्करण १. ८, १, १) के सुज्ञात आख्यान के अंश का रूपान्तर देता हूँ जो जलप्लावन की इण्डोयोरोपीय परम्परा को प्रस्तुत करता है, जैसा कि यह भारत मे ईसा के अनेक शताब्दी पूर्व, कदाचित् डेविड के समय के आस-पास विद्यमान थी :—

प्राचीन काल मे मनु[1] नामके महर्षि रहते थे जिन्होंने अपनी तपस्याओं एवं प्रार्थनाओं से स्वर्ग के स्वामी की कृपा प्राप्त कर ली। एक दिन उन्होंने प्रक्षालन के लिए जल हाथ में लिया। जैसे ही उन्होने अपने हाथ का प्रक्षालन किया एक छोटा मत्स्य उनके हाथ मे आया और मानव वाणी मे इस प्रकार बोला—'मेरी रक्षा करो और मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा।' मनु ने पूछा—'मैं तुम्हारी रक्षा कैसे करूँ?' मत्स्य ने उत्तर दिया—'जब तक हम मत्स्य छोटे होते हैं हमारे लिये निरन्तर भय रहता है; क्योकि मत्स्य मत्स्य का भक्षण कर जाते है, इसलिये मुझे एक घड़े मे रक्खो, तब मैं उससे बड़ा हो जाऊँगा।' इस प्रकार मनु से कहकर मत्स्य तीव्रता से कुछ बड़ा हो गया; तब वह बोला—'कुछ वर्ष मे जलप्लावन होगा, अतएव एक नौका बनाओ, मेरी प्रार्थना करो, जब प्लावन हो तो नौकापर चढ़ जाना मैं बचाऊँगा।' मनु ने ऐसा ही किया और मत्स्य की रक्षा की, उसे सुरक्षित रूप मे समुद्र पहुँचा दिया। जिस वर्ष मत्स्य समुद्र मे पहुँचा उसी वर्ष उन्होने एक नौका बनाई और उसकी पूजा की। जलप्लावन के समय वे नौका पर चढ गये। शीघ्र ही उनके निकट मत्स्य आया और उसके सींग से मनु ने नौका की रज्जु बाँध दी। इस प्रकार जल के ऊपर मनु उत्तर पर्वत पर पहुँचे। तब मत्स्य ने

[1] परवर्ती पुराकथाशास्त्र के अनुसार ये मनु वह प्रथम मनु नही थे जो प्रसिद्ध स्मृति के रचयिता माने जाते हैं किन्तु साँतवे अथवा वर्तमान युग के मनु (वैवस्वत) थे, जिन्हें मानव जाति का रचयिता माना जाता है। ये अपनी तपश्चर्या द्वारा इस घोर कलियुग मे परम सत्ता की कृपा के लिये आराधना करते हुए वर्णित किये गये है।

मनु से कहा—'मैंने तुम्हारी रक्षा की है, इस नौका को इस वृक्ष से बाँध दो, किन्तु जितने शीघ्र जल कम हो जाय उतने शीघ्र तुम पर्वत से उसके पीछे-पीछे उत्तर आना।' इस प्रकार वह उत्तरी पर्वत से उतरे। जलप्लावन ने सभी जीवों का नाश कर दिया था, केवल मनु बच रहे। सन्तान की इच्छा से उन्होने यज्ञ किया। एक वर्ष एक पुत्री उत्पन्न हुई। वह मनु के निकट पहुँची और मनु ने उससे पूछा—'तुम कौन हो ?' उसने उत्तर दिया—'मै आपकी पुत्री हूँ।' मनु ने कहा—'तुम इतनी सुन्दर कैसे हो ?' उसने उत्तर दिया—'मै जल पर छोडी गई आपकी आहुति से उत्पन्न हुई हूँ, आप मुझसे सुख प्राप्त करेंगे, मेरा यज्ञ मे उपयोग कीजिए।' उसके साथ उन्होंने यज्ञ किया और बडी तपस्या के साथ पुत्र की इच्छा से धार्मिक कर्मों का सम्पादन किया। इस प्रकार मनुष्य उत्पन्न हुए जिन्हे मनु का पुत्र कहते हैं। जो कुछ भी सुख उन्होने उसके साथ माँगे वे सभी पूर्णतः उन्हे प्राप्त हुए।

इसके अनन्तर हम देखेंगे कि इस कथा मे आनेवाले मत्स्य को महाभारत मे स्रष्टा, ब्रह्मा, का एक अवतार कहा गया है, जिन्होने मनु को जलप्लावन मे नष्ट होने से बचाने के लिए यह रूप धारण किया था।

मन्त्रों की अपेक्षा ब्राह्मण अधिक स्पष्टता से भावी जीवन मे विश्वास व्यक्त करते हैं। वे यह भी कहते हैं कि परलोक मे सभी प्राणियो को उनके कर्मों के अनुसार फल मिलता है किन्तु पुनर्जन्म का सिद्धान्त, जो आगे चलकर हिन्दू धर्म का अनिवार्य तत्त्व बन गया, विकसित नही हुआ है।[1] शतपथ-ब्राह्मण (१०.४,३,९) मे एक उल्लेखनीय अनुच्छेद है, जिसका कुछ बोध इन पंक्तियो से प्राप्त किया जा सकता है—

देवता निरन्तर मृत्यु के भय से त्रस्त थे, जो सबका नाश करनेवाला है। इस प्रकार तपस्या के साथ उन्होने प्रार्थना की और यज्ञादि कर्म सम्पन्न किये। वे अमर बन गये। मृत्यु ने देवताओ से कहा : 'जिस प्रकार तुम लोगों ने अपने को अमर्त्य बना लिया है उसी प्रकार मनुष्य भी अमर्त्य होने लगेंगे और मुझसे अपने को मुक्त कर लेंगे। तब मनुष्य मे मेरा अंश ही क्या रह जायगा ?' देवताओं ने उत्तर दिया 'इस समय के बाद कोई भी व्यक्ति सशरीर अमर्त्य नही होगा; तुम उसके शरीर पर अधिकार रक्खोगे, वह केवल तुम्हारा रहेगा;

[1] प्रोफेसर वेबेर के 'इण्डिश्श स्ट्राइफेन' का तीसरा भाग देखिए, एवं पृ० ६८ के टिप्पणी १ से तुलना कीजिए।

जो ज्ञान या धार्मिक कर्मों से अमृतत्त्व को प्राप्त करेगा वह सर्वप्रथम अपना शरीर तुम्हे (मृत्यु को) अर्पित करेगा ।'

मैं ऐतरेय ब्राह्मण (डॉ० हाग का संस्करण ३. ४४) से उद्‌धृत एक दूसर अंश देता हूँ :

'सूर्य कभी डूबता या उगता नही । जब लोग सोचते हैं कि सूर्य डूब रहा है, तो वह केवल दिन के अन्त पर पहुँच कर परिवर्तन करता हुआ (विपर्यस्यते) नीचे रात्रि बना देता है और उसकी दूसरी ओर दिन कर देता है । जब लोग सोचते हैं कि प्रात.काल उसका उदय होता है, तब वह नीचे दिन कर देता है और उसकी दूसरी ओर रात्रि । वस्तुत उसका कभी अस्त नही होता । जो यह जानता है कि सूर्य कभी डूबता नही वह सूर्य के स्वरूप के साथ आनन्द प्राप्त करता है और उसी लोक मे निवास करता है [अथ यदेनं प्रातरुदेति मन्यन्ते रात्रेरेव तदन्तमित्वा अथ आत्मानं विपर्यस्यते अहरेव अवस्तात्कुरुते रात्री परास्तात् । स वै एष न कदाचन निम्रोचति, न ह वै कदाचन निम्रोचत्ये-तस्य ह सायुज्यं सरूपता सलोकतामश्नुते य एवं वेद]

हम ब्राह्मणों के विषय को उस हिन्दू-मस्तिष्क की तीक्ष्णता को श्रद्धाञ्जलि देते हुए समाप्त कर सकते हैं जो कॉपर्निकस (Copernicus) के जन्म के २००० वर्ष से अधिक पूर्व के समय मे भी कतिपय विचक्षण नाक्षत्रिक अनुमान करता हुआ प्रतीत होता है ।

उपनिषद्

अब मैं वेद के तीसरे विभाग पर आता हूँ जिसे उपनिषद् या गूढ सिद्धान्त (रहस्य) कहा गया है । उपनिषद् (जो 'उप' तथा 'नि' उपसर्ग पूर्वक 'सद्' धातु से व्युत्पन्न है[1]) कुछ ऐसी गूढ वस्तु का अर्थ रखता है जो वाह्यतल मे अन्तर्हित या उसके नीचे गुप्त होता है । ये उपनिषद् वस्तुतः उसके मूल में स्थित हैं, जिन्हें हिन्दू धर्म का दार्शनिक पक्ष कहा जा सकता है । ये मन्त्र एवं ब्राह्मण के समान ही केवल 'श्रुति' या प्रकाशन ही नही अपितु वर्त्तमान समय मे केवल ये ही व्यवहारतः सभी विचारवान् हिन्दुओ के वेद हैं ।

तत्त्वतः, प्रायः प्रत्येक धार्मिक दर्शन में दो पक्ष होते प्रतीत होते है । कदाचित् विश्व का एक धर्म, जो शिक्षित एवं अशिक्षित दोनो के सम्मुख एक ही सिद्धान्त प्रस्तुत करता है, ईसाई धर्म है । इसके गूढतर सत्य रहस्यमय हो सकते हैं परन्तु वे मनुष्यो के किसी एक वर्ग तक सीमित नही हैं वरन् सबके

[1] देशीय विद्वानो के अनुसार 'उप-नि-षद्' का अर्थ है 'सर्वोच्च आत्मा के ज्ञान के प्रकाशन द्वारा अज्ञान का उपशमन ।'

ग्रहण करने के लिए खुले हैं और उनका समान रूप से सभी बोध प्राप्त करते है। अन्य धर्मों के साथ स्थिति भिन्न है। हम जानते है कि ग्रीस एवं रोम-वासियो के तथाकथित रहस्य केवल दीक्षित लोगो के लिए ही संरक्षित थे। कुरान का भी जह्र नामक एक साधारण एवं स्पष्ट अर्थ, तथा बट्न नामक एक अन्य गूढ़ एव अधिक गम्भीर तात्पर्य माना गया है; एवं परवर्ती समय में इस गूढ़ शिक्षा से फारस मे सूफीमत नामक विश्वात्मवादी दर्शन का एक दुर्बोध सम्प्रदाय भी विकसित हुआ।

वेद या पवित्र ज्ञान की हिन्दू कल्पना भी इसके अत्यन्त अनुरूप है। इसकी दो पृथक् शाखाये कही गई हैं। प्रथम को कर्मकाण्ड कहते हैं जो मन्त्र एवं ब्राह्मण दोनों को ग्रहण करता है। यह उस विशाल जनसमुदाय के लिए है जो धर्म को बाह्य कर्मों से पुण्य-संग्रह के रूप के अतिरिक्त अन्य रूप में समझने मे असमर्थ है। इनके निमित्त एक परमात्मा, जो वस्तुतः स्वरूपरहित है, स्वयं को मानव बुद्धि के धरातल पर नीचे लाने के एक मात्र ध्येय से अनेक रूप धारण करता है। इसके विपरीत, वेद की दूसरी शाखा को ज्ञानकाण्ड कहते है एवं यह केवल उन अल्पसंख्यक लोगो के लिए है, जो परमार्थ ज्ञान की क्षमता रखते हैं।[1]

यह पूछा जा सकता है कि यह परमार्थ ज्ञान क्या है? इसका उत्तर यह है कि उस व्यक्ति का दर्शन, जिसे परमार्थ वेद का अधिकारी कहते हैं, अनुपम ढंग से सरल होता है। वह सभी भूतो के ऐक्य मे विश्वास रखता है। दूसरे शब्दों में यह कि विश्व मे एक ही सत्य सत्ता है, जो सत्ता इस विश्व का ही रूप है। स्पष्ट है कि यह एक सरल विश्वदेवतावाद है। किन्तु कम से कम यह एक अत्यन्त आध्यात्मिक कोटि का विश्वदेवतावाद है, क्योंकि इस एक सत्ता को महान् विश्वात्मा माना गया है, जो एकमात्र यथार्थतः विद्यमान आत्मा है, जिससे बाह्यतः अस्तित्व रखनेवाले सभी भौतिक पदार्थों का तादात्म्य होता है, एवं जिसमें मनुष्यो की पृथक् आत्मायें, जो मिथ्या रूप से उससे ही उत्पन्न समझी जाती हैं, अन्ततोगत्वा विलीन हो जाती हैं।

यही वह विश्वदेवतावादी सिद्धान्त है, जो कतिपय अधिक प्राचीन उपनिषदों में सर्वत्र उपलब्ध होता है, यद्यपि यह प्रायः गूढ भाषा एवं काल्पनिक रूपक से परिवेष्टित है। इन रचनाओ की प्रायः १५० की सूची दी गई है, किन्तु भारत मे विश्वसनीय ऐतिहासिक आलेखों के अभाव से इनमे से किसी की निश्चित रूप से तिथि निर्धारित करना असम्भव है। तथापि इनमे से कुछ अधिक प्राचीन, ईसा के पूर्व ५०० वर्ष पुराने, हो सकते हैं। ये उन आरण्यको के

[1] एक के अन्तर्गत कर्म का अर्थ है, दूसरे मे सभी कर्मों से विरक्ति का। वेद के इस विभाजन को मनु ने स्वीकार किया है, देखिए १२.८८

परिशिष्ट हैं जो ब्राह्मणों के कतिपय ऐसे श्रद्धोत्पादक एवं गूढ अध्याय है जिन्हें वनों के एकान्त मे पढने की आवश्यकता होती थी। उचित ढंग से प्रत्येक ब्राह्मण का अपना आरण्यक है, किन्तु उनके गूढ सिद्धान्त वाह्य विपयो से इतने मिश्रित हो गये थे कि उपनिपद् नाम के अध्याय विश्व की उत्पति, देवता के स्वरूप, आत्मा के स्वरूप, एवं आत्मा तथा स्थूल द्रव्य के अन्योन्य सम्वन्ध सदृश कठिन प्रश्नो के अधिक निश्चितता के साथ अन्वेपण करने के उद्देश्य से जोड़े गये प्रतीत होते है।

उन गूढ़ भापा, काल्पनिक व्युत्पत्तियो, यत्नकृत रूपकों, एवं वालिश कल्पनाओ के जाल के वीच, जो उपनिपदो के पाठक को आकुल कर देती है, परवर्ती दर्शन के प्राथमिक तत्वो का अन्वेषण करना एक रोचक विपय है। अपरंच इन ग्रंथो के ब्राह्मणो के साथ सम्वन्ध का अवलोकन करना भी ज्ञान-पूर्ण है, जो आख्यानात्मक वर्णनो के प्रायश. प्रयोग एवं याज्ञिक क्रियाओ के उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है। यद्यपि दोनो की भापा समय-समय पर प्राचीन है, तथापि मन्त्रो की भाषा की अपेक्षा कम प्राचीन एवं लौकिक साहित्य से स्वल्प भिन्न है।

कतिपय सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपनिपद् ये है—ऋग्वेद का ऐतरेय-उपनिपद् एवं कौपीतकिब्राह्मण उपनिपद्[१]; यजुर्वेद की तैत्तिरीय–संहिता से सम्वद्ध तैत्तिरीय; वृहदारण्यक उसी वेद की वाजसनेयि–संहिता के शतपथ-ब्राह्मण से सम्वद्ध है, तथा ईश या ईशावास्य इस दूसरी संहिता का एक वास्तविक अंग (४० वाँ अध्याय) है (किसी उपनिषद् के ब्राह्मण की अपेक्षा संहिता से सम्वद्ध होने का यह एकमेव उदाहरण है)। छान्दोग्य तथा केन[२] सामवेद से सम्वन्ध रखते है, तथा प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य एवं कठ अथर्ववेद से। इनमें से कतिपय रचनाओं मे (जो सामान्यत· संवाद के रूप मे छन्द मे सामयिक पाठान्तरो सहित गद्य में लिखी गई हैं) आकर्पक कल्पनाएँ, मौलिक विचार, एवं उदात्त भावनायें यत्र-तत्र उपलव्ध हो सकती है, जैसा कि मैं यहाँ प्रदर्शित करूँगा। मैं अपना उदाहरण एक अत्यन्त छोटे उपनिपद्—ईशोपनिपद्[3]—के लगभग: आधे भाग के प्राय: शव्दश: अनुवाद से प्रारम्भ करूँगा—

जगत् मे जो कुछ स्थावर-जंगम है वह सव ईश्वर के द्वारा आच्छाद-

---

[१] 'विव्लिओथेका इण्डिका' के लिए प्रोफेसर कॉवेल द्वारा संपादित एवं अनूदित।

[२] जिसे 'तलव-कार' भी कहते हैं एवं इसे अथर्ववेद का भी वताया जाता है।

[3] इसका योग्यतापूर्वक सम्पादन एवं गद्य में अनुवाद डॉ० रूअर ने किया है। सर वि० जोन्स ने ईश का अनुवाद किया है, परन्तु शव्दश: नही।

नीय है। उस संसार के त्याग-भाव से तुम अपना पालन करो। किसी के धन की इच्छा न करो। इस लोक में अग्निहोत्रादि पवित्र कर्म करते हुए सौ वर्ष का जीवन जीने की इच्छा करो। इस प्रकार मनुष्यत्व का अभिमान रखनेवाले तुम्हारे लिए इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नही है जिससे तुम्हे अशुभ कर्म का लेप न हो। वे असुर सम्बन्धी लोक आत्मा के अदर्शन रूप अज्ञान से आच्छादित हैं। जो आत्मा का हनन करने वाले व्यक्ति हैं वे मृत्यु के उपरान्त उन्ही लोकों को प्राप्त होते है। वह आत्म तत्त्व अपने स्वरूप से भी विचलित न होनेवाला, एक, तथा मन से भी तीव्र गतिवाला है। उसे इन्द्रियाँ प्राप्त नही कर सकती क्योकि वह उन सबसे बहुत आगे विद्यमान है। वह स्थिर होने पर भी अन्य सभी गतिशील वस्तुओ का अतिक्रमण करता है। उसके रहते हुए ही वायु समस्त प्राणियो के प्रवृत्ति रूपी कर्म का विभाग करता है। वह आत्मतत्व चलता है और नहीं भी चलता। वह दूर है और समीप भी। वह सबके अन्तर्गत है और फिर भी इस सम्पूर्ण ससार के बाहर भी। जो व्यक्ति सम्पूर्ण भूतो को आत्मा मे ही और जो सभी भूतों मे आत्मा को ही देखता है वह इस कारण किसी प्राणी से घृणा नही करता। जिस ज्ञानी व्यक्ति के लिए सम्पूर्ण जीव आत्मा ही हो जाते हैं, उस एकत्व देखने वाले व्यक्ति को शोक कहाँ हो सकता है और मोह कहाँ हो सकता है। वह आत्मा सर्वगत, शुद्ध, अशरीरी, अक्षत, स्नायुरहित, निर्मल, अपापहत, सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, सर्वोत्कृष्ट और स्वयम्भू है। उसी ने नित्य-सिद्ध संवत्सर नामक प्रजापतियों के लिये यथायोग्य रीति से अर्थों का विभाग किया है।

इसके उपरान्त हम बृहदारण्यक-उपनिषद् के, जो एक विस्तृत एवं श्रमावह किन्तु महत्त्वपूर्ण रचना है, विभिन्न भागो से उद्धृत कतिपय अंशों को ले सकते हैं—

"इस विश्व मे सर्वप्रथम यहाँ कुछ भी नही था। यह सब मृत्यु से ही आवृत्त था। यह अशनाया से आवृत था। अशनाया या भक्षण की इच्छा ही मृत्यु है।" (१.२,१)

"जिस प्रकार मकड़ा तन्तुओं पर ऊपर की ओर जाता है, तथा जैसे अग्नि से अनेक छोटी चिनगारियाँ ऊपर उठती है, उसी प्रकार इस आत्मा से समस्त प्राण, समस्त लोक, समस्त देवगण, और समस्त भूत विविध रूप से उत्पन्न होते हैं।" (२. १, २०)

"इस संसार मे ही रहते हुए हम उसे जान सकते हैं; यदि उसे नही जाना तो महान् हानि है। जो व्यक्ति उसे जान लेता है वह अमृत हो जाता है, किन्तु अन्य दुःख ही प्राप्त करते हैं। (४. ४, १४)

"जब भूत और भविष्यत् के स्वामी इस प्रकाशमान आत्मा को मनुष्य साक्षात् समझ लेता है, तो वह उस आत्मा से अपनी रक्षा करने की इच्छा नहीं रखता।" (४. ४, १५)

"जिसके नीचे संवत्सरचक्र चक्कर लगा रहा हैं उस सूर्य इत्यादि ज्योतियों के ज्योति-स्वरूप (ज्योतिषां ज्योतिः) अमृत आत्मा की देवगण आयु कहकर उपासना करते हैं।" (४. ४, १६)

"जो उसे प्राण का प्राण, चक्षु का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र, तथा मन का मन जानते हैं वे उस पुरातन एवं अग्रच ब्रह्म को जानते हैं। (४. ४, १८)

"ब्रह्म को मन से ही देखना चाहिए। उसमें नाना कुछ भी नही है। जो उसमें विविधता देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है।" (४. ४, १९)

"वह परब्रह्म (जो अन्तररहित और उपाधिशून्य है) पूर्ण है। वह सोपाधिक ब्रह्म भी पूर्ण है। इस (कार्य रूप) पूर्ण से (कारणरूप) पूर्ण ही उत्पन्न होता है। इस पूर्ण से पूर्ण (अविद्याकृत अन्यत्वाभास) निकाल लेने पर पूर्ण ही शेष रहता है।"

"मैं ब्रह्म हूँ"। जो कुछ भी यह जानता है कि "मैं ब्रह्म हूँ" वह यह सर्व हो जाता है। उसके पराभव मे देवता भी समर्थ नही होता, क्योकि वह उनका आत्मा ही हो जाता है।" (१.४,१०)

"वनस्पति वृक्ष के समान ही मनुष्य होता है—यह बिल्कुल सत्य है। वृक्ष के पत्ते होते है और पुरुष के शरीर मे लोम होते हैं। वृक्ष की बाहरी छाल के समान मनुष्य के शरीर मे त्वचा होती है। इस पुरुष की त्वचा से रक्त निकलता है। वृक्ष की छाल से भी गोद निकलता है। वृक्ष और पुरुष की इस समानता के कारण ही जिस प्रकार आघात लगने पर वृक्ष से रस निकलता है, उसी प्रकार चोट खाये हुए पुरुष-शरीर से रक्त प्रवाहित होता है। किन्तु यदि वृक्ष को काट दिया जाता है तो वह अपने मूल से पुन. और भी नवीन होकर अंकुरित होता है, इसी प्रकार यदि मनुष्य को मृत्यु काट डाले तो वह किस मूल से उत्पन्न होगा ? यह मूल विज्ञान आनन्द ब्रह्म है। (३. ९, २८)

सामवेद के छान्दोग्य-उपनिषद् में कतिपय रोचक अनुच्छेद हैं। सातवें अध्याय मे नारद एवं सनत्कुमार के बीच एक संवाद है, जिसमें सनत्कुमार, परमात्मा के स्वरूप की व्याख्या करते हुए कहते है कि चार वेदों, इतिहासों,

पुराणों एवं इस प्रकार की रचनाओ का ज्ञान विश्वात्मा ब्रह्म के ज्ञान के अभाव मे व्यर्थ है। (७. १, ४)

"इन ग्रन्थो का ज्ञान केवल नाम है; नाम से बढ़कर वाणी है; मन, वाणी से भी बढ़कर है; संकल्प मन से भी श्रेष्ठ है; चित्त संकल्प से भी उत्कृष्ट है; ध्यान चित्त से भी बढकर है; और ध्यान से भी बढकर विज्ञान है; विज्ञान से महत्तर बल है, और सर्वश्रेष्ठ प्राण है। जिस प्रकार रथ के चक्र मे अरे लगे होते हैं, उसी प्रकार इस प्राण मे सारा जग समर्पित है।[१]

प्राण मे श्रद्धा एवं निष्ठा रखना चाहिए। उसे ऐसा व्यापकत्व समझना चाहिए जो अपने प्रकाश मे पूर्ण है। वह व्यापक प्राण ऊपर-नीचे, पीछे-आगे, दक्षिण-उत्तर सर्वत्र व्याप्त है। वही विश्व की आत्मा है। वह स्वयं परमात्मा है। जो व्यक्ति इस तत्त्व का ज्ञान रखता है, उसे मृत्यु, दुख, रोग का भय नही रहता।"

किन्तु कही इस वर्णन से देवता का आकाश के साथ भ्रम न उत्पन्न हो, इसलिए आगे चलकर यह कहा गया है कि वह अज्ञेय रूप मे सूक्ष्म है एवं हृदय के एक सूक्ष्म प्रकोष्ठ मे निवास करता है: और कही यह उसके सीमित होने का विचार उत्पन्न न करे इसलिए उसे आगे चलकर सम्पूर्ण सृष्टि का कोष कहा गया है।

इस ग्रन्थ के एक दूसरे भाग (६ २०) मे मानवीय आत्माओं की नदियो से तुलना की गयी है—

"ये नदियाँ पूर्ववाहिनी होकर पूर्व की ओर बहती है, तथा पश्चिमवाहिनी होकर पश्चिम की ओर। ये समुद्र से (वाष्प रूप मे) निकल कर फिर समुद्र मे मिल जाती है और समुद्र ही हो जाती हैं।"

पुनः (८.४ मे) परमात्मा की एक सेतु से तुलना की गई है, जिसे रोग, मृत्यु, दुख, सद्गुण या दुर्गुण पार नही कर सकते।

"इस सेतु को पार कर पुरुष अन्धा होने पर भी अन्धा नही होता, विद्ध होने पर भी अविद्ध होता है, उपतापी होने पर भी अनुपतापी होता है, इसीसे इस सेतु को पार कर अन्धकार-रूपी रात्रि भी दिन ही हो जाती है, क्योकि यह ब्रह्मलोक सर्वदा प्रकाशस्वरूप है।"

---

[१] प्राणसूक्त, अथर्ववेद ११.४ (म्यूर के टेक्स्ट्स भाग ५, पृ० ३९४) से तुलना कीजिए। यह इस प्रकार प्रारम्भ होता है 'प्राण को नमस्कार है, जिसके अधीन यह ससार है, जो सबका स्वामी बना है, जिस पर सभी आधृत हैं।' इस वेद के मूल का प्रोफेसर डब्ल्यू० डी० ह्विटनी एवं प्रोफेसर आर० रॉथ ने विद्वत्तापूर्ण ढंग मे संपादन किया है।

यहाँ छान्दोग्य उपनिषद् (६. २) के एक अनुच्छेद का अंश है, जो वेदान्त-सिद्धान्त 'एकमेवाद्वितीयम्' से युक्त होने से महत्त्वपूर्ण है।

"आरम्भ मे यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था। उसी के विषय में किन्ही ने ऐसा भी कहा है कि आरम्भ मे एकमात्र अद्वितीय असत् ही था। उस असत् से सत् की उत्पत्ति होती है। किन्तु असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? अतः आरम्भ मे यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था। उस (सत्) ने ईक्षण[1] किया 'मैं बहुत हो जाऊँ—अनेक प्रकार से उत्पन्न होऊँ।' इस प्रकार (ईक्षण कर) उसने तेज उत्पन्न किया। तेज ने ईक्षण किया 'मैं बहुत होऊँ'। इस प्रकार ईक्षण कर उसने जल की रचना की। इसी से जहाँ कही पुरुष शोक करता है उसके शरीर मे स्वेद उत्पन्न हो जाते हैं। उस समय तेज से ही जल की उत्पत्ति होती है। उस जल ने ईक्षण किया 'हम बहुत होवें, अनेक रूप से उत्पन्न हो।' उसने अन्न की सृष्टि की। इसी से जहाँ कही वर्षा होती है वहीं बहुत सा अन्न होता है। वह अन्नाद्य जल से ही उत्पन्न होता है। उस (सत्) ने ईक्षण किया 'मैं इस जीवात्मरूप से इन तीनो देवताओ मे प्रवेश कर नाम और रूप की अभिव्यक्ति करूँ।"

मुण्डक-उपनिषद्[2] मे कतिपय रोचक अनुच्छेद है। निम्न अंश द्वितीय मुण्डक के द्वितीय खण्ड (५) से उद्धृत है—

"इस एक आत्मा को ही जानो, और इसके विपरीत सभी बातों का त्याग करो, यही अमृत का सेतु है।"

तृतीय मुण्डक (१. १-३) के अधोलिखित विशिष्ट अंश को सांख्यमतावलम्बी अपने द्वैतवादी सिद्धान्त के समर्थन मे उद्धृत करते है, किन्तु वेदान्ती

---

[1] मैं यहाँ डा० रूअर का अनुसरण करता हूँ। मूल से उद्धृत अंश का पदच्छेद यहाँ दिया जाता है: सद् एव इदम् अग्रे आसीद्, एकम् एव अद्वितीयम्। तद् ह एके आहुर् असद् एव इदम् अग्रे आसीद, एकम् एव अद्वितीयम्, तस्माद् असतः सज् जायेत। कुतस् तु खलु स्याद् इति, कथम् असतः सज् जायेत इति। सत् तु एव इदम् अग्रे आसीद् एकम् एव अद्वितीयम्। तद् ऐक्षत बहु स्याम् प्रजायेय इति, तत् तेजो असृजत। तत् तेज ऐक्षत बहुस्याम् प्रजायेय इति, तद् अपो असृजत्। ता आप ऐक्षत बहुः स्याम प्रजायेमहि इति ता अन्नम् असृजन्त। तस्माद् यत्र क्व च वर्षति तद् एव भूयिष्ठम् अन्नम् भवति। सा इयं देवता ऐक्षत अहम् इमास् तिस्रो देवता जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य नाम-रूपे व्याकरवाणि इति।

[2] मुण्डक नाम 'मुण्ड', क्षौर करना, से व्युत्पन्न है, क्योकि जो व्यक्ति इस उपनिषद् के सिद्धान्त को समझ लेता है उसके सभी भयो का क्षौर हो जाता है।

भी इसका उपयोग करते है। यह ऋग्वेद के एक मन्त्र पर आश्रित है, (१. १६४, २०) जिसकी व्याख्या सायण ने वेदान्तीय अर्थ[1] मे की है :

"साथ-साथ रहनेवाले तथा एक ही आख्यानवाले दो पक्षी (परमात्मा तथा जीवात्मा) एक ही वृक्ष (शरीर) पर आश्रय करके निवास करते है। उनमे से एक (जीवात्मा) स्वादिष्ट या मधुर पिप्पल (कर्मफल) का भोग करता है और दूसरा भोग न करके केवल देखता रहता है। (परमात्मा के साथ) एक ही वृक्ष पर निवास करनेवाला जीव मोहित होकर, सासारिक बन्धनों मे बँधकर अपने दीन स्वभाव के कारण शोक करता है। किन्तु जिस समय (ध्यान द्वारा) अपने सांसारिक बन्धनो से मुक्त योगियो से सेवित तथा उसकी महिमा का दर्शन करता है उस समय वह शोकरहित हो जाता है। जिस समय द्रष्टा सुवर्णवर्ण और ब्रह्मा के भी उत्पत्तिस्थान उस जगत्कर्ता ईश्वर पुरुष को देखता है उस समय वह विद्वान् पाप-पुण्य दोनो को त्यागकर निर्मल हो अत्यन्त समता को प्राप्त हो जाता है।"

यहाँ उसी उपनिषद् से दो या तीन उदाहरण दिये जाते हैं—

"जिस प्रकार मकड़ी जाले को बनाती और निगल जाती है, जैसे पृथिवी मे ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं, और जैसे सजीव पुरुष से केश एवं लोम उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार उस अक्षर परमात्मा से यह विश्व उत्पन्न होता है।" (१.१ ७)

"जिस प्रकार अत्यन्त प्रदीप्त अग्नि से उसी के समान रूपवाले हजारों

---

[1] मन्त्र इस प्रकार है :

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया सामानं वृक्षपरिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकसीति ॥

'दो पक्षी साथ-साथ मित्र के समान एक ही वृक्ष पर रहते है; उनमें एक मधुर पिप्पल का स्वाद लेता है दूसरा बिना आनन्द पाये हुए देखता है।' इस उपनिषद् की व्याख्या करते हुए 'सखाया' का अर्थ 'समान-ख्यातौ' अर्थात् एक ही नाम के, करते है। उनका यह भी कथन है कि पिप्पल या अश्वत्थ (पवित्र पीपलवृक्ष), जिसके मूल ऊपर हैं एव शाखायें नीचे, एक दृष्टान्त है, और प्रत्येक वृक्ष, जो अदृश्य जड़ से निकलता है, इस शरीर का प्रतीक है, जो वस्तुतः ब्रह्मा से उत्पन्न होता है और उसी के साथ जिसका ऐक्य है। कठ ६.१ तथा भगवद्गीता १५. १-३ मे उसी वृक्ष को विश्व का प्रतीक कहा गया है। इसे वटवृक्ष का पुल्लिग माना गया है।

स्फुलिङ्ग निकलते है उसी प्रकार उस अक्षर आत्मा से विविध भावरूप आत्मा उत्पन्न होते है और पुनः उसी मे लीन हो जाते हैं।" (२.१.१)

"जिस प्रकार निरन्तर बहती हुई नदियाँ अपने नाम-रूप को त्यागकर समुद्र मे अस्त हो जाती है उसी प्रकार बुद्धिमान व्यक्ति नाम-रूप से मुक्त होकर दिव्यात्मा को प्राप्त हो जाता है जो महान् से भी महत्तर है। जो कोई उस परब्रह्म को जान लेता है वह ब्रह्म ही हो जाता है।" (३ २.८,९)

सर्वाधिक प्राचीन एवं महत्वपूर्ण उपनिषदों मे एक है कठोपनिषद्। भारत में इसे बहुत ख्याति प्राप्त है एवं योरोप के भी संस्कृत के विद्यार्थी इससे सुपरिचित है। यह नचिकेता के आख्यान से प्रारम्भ होता है।

वह एक ऐसे महात्मा का धर्मात्मा पुत्र था जिन्होने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति ऋत्विजो को दान कर दी और क्रोध के आवेश मे अपने इस पुत्र को मृत्यु को अर्पित कर दिया।

नचिकेता के मृत्यु के निवास पर जाने का वर्णन किया गया है। वहाँ यम को प्रसन्न करने पर उसे तीन वरदान मिलते है। उस युवक ने प्रथम वर के लिये यह माँगा कि वह जीवित हो जाय तथा उसके पिता पुनः उस पर स्नेह रखें; दूसरे वर मे यह माँगा कि वह अग्नि का रहस्य जान सके जिसके द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति होती है। जब उससे तीसरा वर माँगने के लिये कहा गया तो उसने मृत्यु के देवता से इस प्रकार प्रार्थना की—

"मनुष्य को मृत्यु के उपरान्त कुछ लोग कहते हैं कि 'वह (आत्मा) रहता है' और कोई कहते है 'नही रहता'। आपसे शिक्षा प्राप्त कर मै इसे जान सकूँ, यही मेरे वरो मे तीसरा वर है।"

मृत्युदेवता उसे इस वर के अतिरिक्त कोई अन्य वर माँगने की बात कहकर टालना चाहते हैं; किन्तु जब युवक परलोक के रहस्यों के ज्ञान-प्राप्ति की प्रार्थना पर दृढ रहता है तो यम अन्ततः झुक जाते है एवं उसके अभिप्रेत विषय की इस ढंग से विस्तृत व्याख्या करते है—

> श्रेय (विद्या) और है तथा प्रेय (अविद्या) अन्य है। ये दोनों विभिन्न प्रयोजनवाले हैं एवं ये ही मनुष्य को बाँधते है। इन दोनो मे श्रेय को ग्रहण करनेवाला कल्याण प्राप्त करता है तथा जो प्रेय का वरण करता है वह मनुष्य के उच्च ध्येय, पुरुषार्थ से, पतित हो जाता है। ..विवेकी पुरुष प्रेय के स्थान पर श्रेय का ही वरण करता है, परन्तु मूर्ख व्यक्ति योग-क्षेम के निमित्त प्रेय का वरण करता है।

हे नचिकेतः ! तूने प्रियजन एवं प्रियरूप भोगो को असार समझ कर त्याग कर दिया है तथा उस धनप्राया निन्दित गति को नही प्राप्त हुआ, जिस मार्ग में बहुत से अज्ञानी व्यक्ति डूब जाते है। विद्या और अविद्या नाम के दो अन्य मार्ग है जो परस्पर अत्यन्त विपरीत स्वभाव वाले एवं विपरीत स्वभाव देनेवाले है। मैं तुझे विद्याभिलाषी मानता हूँ क्योकि तुझे अनेक लोभों ने विचलित नही किया। वे अविद्या के भीतर रहनेवाले स्वयं बड़े बुद्धिमान एवं पण्डित माननेवाले अज्ञानी पुरुष अन्धे से ही ले जाये जाने वाले अन्धे के समान अनेक कुटिल गतियो की इच्छा करते हुए भटकते रहते है। धन के मोह से अन्धे हुए ऐसे अज्ञानी व्यक्ति को परलोक का साधन नही दिखाई पड़ता। यह लोक है, परलोक नही है—ऐसा माननेवाला व्यक्ति बारम्बार मेरे वश मे आता है। जो अनेक व्यक्तियो को सुनने के लिए भी प्राप्त नही होता, जिसे अनेक व्यक्ति सुनकर भी नही समझते, उस आत्मतत्त्व का उपदेश देनेवाला भी आश्चर्य रूप है, उसको प्राप्त करने वाला भी निपुण व्यक्ति ही होता है, तथा कुशल आचार्य द्वारा उपदिष्ट ज्ञान भी आश्चर्य रूप है। उस कठिनाई से दीख पड़ने वाले, गूढ स्थान मे अनुप्रविष्ट बुद्धि मे स्थित, गहन स्थान मे रहने वाले पुरातन देव को आध्यात्म योग की प्राप्ति द्वारा जानकर बुद्धिमान् पुरुष हर्ष-शोक को त्याग देता है। यदि मारनेवाला आत्मा को मारने का विचार करता है तथा मारा जानेवाला उसे मारा हुआ समझता है तो वे दोनों ही उसे नही जानते है, क्योकि वह न तो मारता है और न मारा जाता है। वह अणु से भी अणुतर और महान् से भी महत्तर आत्मा जीव की हृदय-रूपी गुहा में स्थित है। वह स्थित हुआ भी दूर तक जाता है, शयन करता हुआ भी सब ओर पहुँचता है; जो शरीररहित तथा नित्यों में अनित्यरूप है वह आत्मा प्रवचन द्वारा प्राप्त होने योग्य नही है, और न धारण शक्ति या अधिक श्रवण से प्राप्त होता है। वह जिस आत्मा का वरण करता है उसी आत्मा के द्वारा उसका ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

इसी उपनिषद् की तृतीय वल्ली (३, ४, इत्यादि) मे आत्मा की तुलना एक रथी से की गई है: शरीर रथ है, बुद्धि सारथि है, मस्तिष्क रशना, इच्छाये या इन्द्रियाँ अश्व, एवं इन्द्रियो के विषय मार्ग हैं। अज्ञानी व्यक्ति रस्सियों को खीचने मे ध्यान नही देता, जिसके परिणाम-स्वरूप इन्द्रियाँ, अनियन्त्रित उद्दण्ड

अश्वो के समान यत्र-तत्र अपनी इच्छानुसार सारथि को साथ लेकर भटकती हैं।[१]

पाँचवी वल्ली (११) मे निम्न उक्ति आती है—

"जिस प्रकार सम्पूर्ण लोक का नेत्र होकर भी सूर्य नेत्र-सम्बन्धी वाह्यदोषों से लिप्त नही होता उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतो का एक ही अन्तरात्मा संसार के दुःख से लिप्त नही होता, अपितु उनसे वाहर रहता है।"

मैं अव इन ग्रन्थों में एक सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ श्वेताश्वतर[२] से कतिपय उद्धरण देता हूँ, जो यह प्रदर्शित करेगे कि किस प्रकार उपनिषदो के रचयिताओं ने परम सत्ता के विशेपणों की बिना क्रम एवं प्रायः स्पष्ट विरोध सहित ढेरी लगा दी है—

> उसे हम जान सकते है, वह सभी शासको का शासक है, देवों का देव है, स्वामियों का स्वामी है, महत्तम से भी महत्तर है, प्रकाशपूर्ण सत्ता है, विश्व का भर्त्ता है, सभी पूजाओं के योग्य है। उसका कोई कारण नही, कार्य नही। वह कारण है, कारणो का प्रधानतम कारण है। उसके समान कोई नही है। उसकी सत्ता सर्वोच्च है, तथापि वह विविध है, स्वाश्रित है, विवेक एवं ज्ञान से कर्म करनेवाला है। वह एक देवता सभी भूतों मे व्याप्त है, उनके हृदय में निवास करता हुआ साक्षी है, विश्व का स्रष्टा है। वह इस विश्व का ज्ञाता आत्मा और सवका मूल है। काल को रचनेवाला तथा प्रत्येक सद्गुणों से युक्त है, सर्वज्ञ है, सभी शरीरी भूतो का स्वामी है। तीन गुणों का स्वामी है। मनुष्य के अस्तित्व का कारण, वन्धन, मोक्ष, नित्य, सर्व-व्याप्त, अवयवहीन, सर्वज्ञ, शान्त, निर्मल, निर्दोष, प्रकाश, तथा अमृत का सेतु है। सूक्ष्मतम से भी सूक्ष्मतर है, बहुविध है, विश्व मे प्रवेश करने वाला है, सर्वसुखयुक्त, अजन्मा, अज्ञेय है, ऊपर, नीचे

---

[१] तुलना कीजिए मनु २.८८ "इन्द्रिय विषयो मे स्वेच्छा से विचरण करने वाली इन्द्रियो के संयम मे, जो मनुष्य को यत्रतत्र दौड़ाती हैं, एक वुद्धिमान् व्यक्ति को परिश्रमपूर्वक प्रयत्न करना चाहिए, जैसे एक सारथि उद्दण्ड अश्वों को नियन्त्रण मे रखता है।" इसी प्रकार प्लेटो, फिड्रस (Phaedrus) (५४, ७४) मे आत्मा की तुलना एक सारथि (तर्क) से करता है जो पंखवाले ऐसे घोड़ो की जोड़ी को हाँकता है, जो एक (इच्छा) वागडोर के नियन्त्रण में है, एवं अपने उद्दंड एवं दुष्ट घोड़े (क्षुधा) का नियन्त्रित करने का प्रयत्न करता है।

[२] यजुर्वेद का है, यद्यपि कभी-कभी (कोलब्रूक के अनुसार) अथर्ववेद के सग्रहो मे पाया जाता है। देखिए वेवर का इण्डिश्श स्टूडीएन १.४२०–४२९।

और मध्य मे है, मानव नेत्रों के लिये अदृश्य है, सभी भूतों को गति देने वाला है। उसका नाम श्री है। वह अद्वितीय, असीम, पूर्णात्मा, सहस्रशीर्ष, सहस्रनेत्र, सहस्रपाद, भूत और भव्य का अधिपति है। अनन्त आकाश में व्याप्त है। केवल हृदय द्वारा ज्ञेय है। जो कोई उसे जानता है अक्षय शान्ति एवं अमृतत्व प्राप्त करता है।[1]

मैं उपनिषदो के इन उद्धरणो को कृष्ण-यजुर्वेद से सम्बद्ध मैत्रायणी या मैत्रायणीय[2] नाम के एक लघु उपनिषद् के प्रथम अध्याय के एक अंश के रूपान्तर से समाप्त करता हूँ—

अस्थि, चर्म, शिरा, झिल्ली, पेशी, रक्त, निष्ठ्रत से निर्मित, मल एवं अपवित्रता से पूर्ण शरीर मे वास्तविक आनन्द की क्या वस्तु हो सकती है? इस दुर्बल शरीर मे क्या आनन्द है जो क्रोध, आकाक्षा, लोभ, मोह, भय, दुःख, ईर्ष्या, घृणा, प्रियजनो से वियोग एवं घृणित व्यक्तियो से संयोग का विषय है; जो निरन्तर क्षुधा, पिपासा, रोग, विकलांगता, विकास, पतन तथा मृत्यु का घर है उस शरीर में वास्तविक आनन्द क्या प्राप्त हो सकता है?[3] ससार नाश की ओर बढ रहा है; घास, वृक्ष, पशु जन्म लेते और मर जाते हैं, किन्तु वे क्या हैं? पृथ्वी के शक्तिशाली व्यक्ति अपने आनन्दो तथा वैभव को छोड़कर चले गये हैं, इस ससार को छोड़कर प्रेतलोक को चले गये हैं, परन्तु वे क्या है? इससे भी उच्च योनि वाले देवता, गन्धर्व और दानव सभी चले गये है, परन्तु वे क्या है? क्योकि उनसे भी अधिक उच्च योनि वाले चले गये है। विशाल समुद्र भी सूख गये है,

---

[1] इनमे से अधिकाश विशेषण श्वेताश्वतर उपनिषद् के इन खण्डो मे पाये जायेंगे, ६.७, ८, ११, १७, १९; ४.१४, १७, १९ इत्यादि, पृ० २४ पर दिये गये पुरुषसूक्त के उद्धरण से तुलना कीजिए।

[2] इसे मैत्रायणी, मैत्रायण, मैत्री, मैत्रि भी कहते हैं। दूसरे नाम के अन्तर्गत यह बिब्लिओथेका इण्डिका के लिये प्रोफेसर ई० बी० कॉवेल द्वारा उत्तम रूप मे सम्पादित एवं अनूदित है। इसमे पाँच अध्याय हैं, जिनमे से पहले का गद्य मे अनुवाद बिना किसी नाम के सर वि० जोन्स ने किया था। मेरा रूपान्तर अंशतः उनके अनुवाद पर आधृत है, किन्तु मैने प्रोफेसर कॉवेल के अधिक सटीक अनुवाद से सहायता ली है।

[3] मनु ६.७७ से तुलना कीजिए।

पर्वत गिर पड़े हैं, ध्रुव भी स्थानभ्रष्ट हो चुका है, नक्षत्रों को बाँधने वाला तन्तु टूट चुका है, सम्पूर्ण पृथ्वी महान जलप्लावन मे डूब चुकी है, सर्वोच्च दैवी शक्तियाँ भी स्थानभ्रष्ट हो चुकी हैं। इस संसार में वास्तविक आनन्द कहाँ मिल सकता है ? ऐ परमात्मा ! तुम्हीं हमारे एक मात्र शरण हो, हमारी रक्षा करो।[1]

---

[1] निम्न उक्ति इस ग्रन्थ मे अन्तिम पंक्ति के पूर्व आती है :

"अन्धोदपानस्थो भेक इव अहम् अस्मिन् संसारे"

मैं इस संसार मे एक सूखे हुए कूएँ मे पड़े हुए मण्डूक के समान स्थित हूँ।

मार्कस ऑरेलिअस (Marcus Aurelius) के कतिपय वैराग्यपूर्ण विचारों से तुलना कीजिए जिन्हे रेव० एफ़० डब्ल्यू फरार (Farrar) ने अपने 'सीकर्स आफ्टर गॉड' में दिया है :

'Oil, sweat, dirt, filthy water, all things disgusting—so is every part of life'.

'Enough of this wretched life, and murmuring, and apish trifles'.

'All the present time is a point in eternity. All things are little, changeable and perishable'.

'तैल, स्वेद, मल, मूत्र ये सभी घृणित हैं—इसी प्रकार है जीवन का प्रत्येक भाग।'

यह कष्टमय जीवन, यह असन्तोष एवं ये तुच्छ संघर्ष अब वहुत हो चुके।'

'सम्पूर्ण वर्तमान काल अनन्त का एक विन्दु है, सभी वस्तुएं तुच्छ, परिवर्तनीय और नश्वर हैं।

व्याख्यान ३

दर्शन के मत

मुझे अब सामान्य रूप से दर्शन के उन छः मतों का विवेचन करना चाहिए जिनका विकास उपनिषदों से हुआ। उन्हे कभी तो षड्शास्त्र कहा जाता है, और कभी षड्दर्शन। वे हैं—

१. न्याय, गौतम द्वारा स्थापित।

२. वैशेषिक, कणाद द्वारा।

३. सांख्य, कपिल द्वारा

४. योग, पतञ्जलि द्वारा,

५. मीमांसा, जैमिनि द्वारा।

६. वेदान्त, बादरायण या व्यास द्वारा।

ये सूत्रो मे उच्चारित हैं, जिन्हे प्रत्येक मत के अनुवर्ती शिक्षाओ का आधार माना जाता है।[1]

इनमें से किसी का काल असन्दिग्ध रूप मे निश्चित करना उतना ही असम्भव है जितना संस्कृत साहित्य की किसी एक रचना का काल निर्धारित करना। अपरञ्च, यह भी निर्णय देना व्यवहार्य नही कि दर्शन के इन छः मतो मे समय की दृष्टि से कौन किससे पहले उत्पन्न हुआ। हम इतना ही कह सकते

---

[1] ये सूत्र प्राय इतने संक्षिप्त एवं गूढ़ है कि बिना व्याख्या के पूर्णतः अबोधगम्य हैं। इन्हे प्रायः 'सूत्र' कहा जाता है, परन्तु ये वस्तुतः यथासंभव अतिसंक्षिप्त ढंग के स्मृति-प्रबोधक हैं, जिन्हें प्रत्येक मत के आचार्यों को पुनर्स्मरण मे सहायता प्रदान करने के लिए निपुणतासहित विन्यस्त किया गया है। सम्भवत इस प्रकार उच्चरित सूत्रों की सर्वप्रथम व्याख्या करनेवाले उनके रचयिता ही थे। क्रमागत पीढियों मे (सामान्यतः तीन के वर्ग मे) अन्य अनेक भाष्यकारों तथा लेखको ने उनका अनुगमन किया, जो प्राय जिस विशिष्ट शाखा से सम्बद्ध होते थे उसी शाखा के सिद्धान्तो को अपने निबन्ध या उपसंहार मे वर्णित कर देते थे। सभी भाष्यकारों मे सर्वाधिक विख्यात महान शङ्कराचार्य हैं, जो मलाबार के निवासी और कदाचित् ६५० एवं ७४० ई० के बीच मे विद्यमान थे। इन्होने उपनिषद्, वेदान्तसूत्र एवं भगवद्गीता के भाष्य आदि मिलाकर प्राय. अगणित ग्रन्थों की रचना की।

है कि ईसाई सन् के प्रारम्भ होने के ५०० वर्ष पूर्व इण्डो-आर्य जाति मे एक महान् जागरण होता दिखाई पड़ता है, जैसा कि ग्रीस देशवासियो के मस्तिष्क मे तथा तात्कालिक सभ्य संसार मे सर्वत्र विचारशील मस्तिष्कों मे भी हुआ था। जिस समय भारत मे बुद्ध का उदय हुआ, उसी समय ग्रीस के विचारक पाइथागोरस (Pythagoras), फारस मे ज़ोरोस्तर, और चीन मे कन्फ्यूसस हुये। मनुष्य उत्कण्ठा से इस प्रकार के प्रश्नो पर विचार-विमर्श करने लगे—मैं क्या हूँ? मैं कहाँ से आया हूँ? मैं कहाँ जा रहा हूँ? मैं अपने वैयक्तिक स्थिति की चेतना को कैसे स्पष्ट कर सकता हूँ? मेरे पार्थिव एवं अपार्थिव स्वरूप मे क्या सम्बन्ध है? यह संसार क्या है जिसमें मै अपने को पाता हूँ? क्या किसी बुद्धिमान, भले और सर्वशक्तिमान् प्राणी ने इसकी असत् से रचना की है? या यह किसी अनादि बीज से स्वयमेव विकसित हुआ है? अथवा यह नित्य अणुओ के सयोग से संघटित हुआ है? यदि किसी अपरिमित ज्ञानवाली सत्ता ने इसकी रचना की है, तो इस संसार की दशाओं की असमानताओं—अच्छा तथा बुरा, सुख तथा दुःख—का कारण क्या हो सकता है? क्या स्रष्टा का स्वरूप है, या वह स्वरूपहीन है? क्या उसके कोई गुण है या कोई गुण नहीं है?

निःसन्देह भारत मे इस प्रकार के प्रश्नो का कोई सन्तोषप्रद उत्तर प्राचीन इण्डो-आर्य कवियों की उन प्रार्थनाओं तथा सूक्तो मे नहीं उपलब्ध हो सकता था, यद्यपि उन्हे ब्राह्मणो ने वेद या ज्ञान कहा है, इन विषयो पर कोई वास्तविक ज्ञान प्रस्तुत करने का विचार भी नही रखा, अपितु प्राकृतिक दृग्विषयों की अनिश्चित ज्योति द्वारा सत्य का अन्वेषण करनेवाले मानव मस्तिष्क के अँधेरे मे टटोलने जैसे प्रयत्नों को अभिव्यक्त किया है।[1]

क्रियाविधि सम्बन्धी ब्राह्मण भी ऐसे विषयों को स्पष्ट करने में सहायक नहीं होते। उन्होने केवल यज्ञो की फलोत्पादकता मे अन्धविश्वास के विकास को प्रोत्साहन दिया एवं बहुसंख्यक समाज की ऐसे पुरोहितों के मध्यस्थभूत वर्ण पर पराधीनता को पुष्ट किया, जिन्हे उन मनुष्यो एवं कुपित देवता के बीच मध्यस्थता करने योग्य समझा जाता था। तथापि महत्त्वपूर्ण प्रश्न अपने उत्तर की माँग करते रहे और मनुष्यो के मस्तिष्को ने परम्परागत प्रकाशित वाक्यमात्र मे कोई शान्ति अथवा केवल बाह्य कर्मों में कोई सन्तोष न पाकर अपने भीतर झांका, प्रत्येक विचारक जीवन के महान् प्रश्नो को अपने

[1] साख्यकारिका की दूसरी कारिका स्पष्टतः कहती है कि आनुश्रविक अर्थात् श्रुति से प्राप्त—वेद मे निहित प्रकाशित वाक्य—अस्तित्व के बन्धन से मुक्ति प्रदान करने मे अक्षम है।

आप ही तर्क की सहायता से समझने का प्रयत्न करने लगा। इस कारण उपनिषद् नाम के उन अस्पष्ट और गूढ़ बुद्धिवादी विचारणाओं की रचना हुई जिनके उदाहरण दिये जा चुके हैं। यह स्मरणीय है कि ये रचनाएँ प्रकाशित-वाक्य की विरोधी नही अपितु उसकी प्रतिपूरक समझी गईं। इन्हे वेद या परमार्थ ज्ञान का अभिन्न अङ्ग स्वीकार किया गया, और इससे भी अधिक—विचारवान् व्यक्तियों की दृष्टि मे इनका स्थान इतना ऊँचा हो गया कि इन्होने अन्त में उसके सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाग, उसके उच्चतम एवं श्रेष्ठ वचन, एवं सम्पूर्ण परवर्ती प्रकाशित वाक्य के चरमोत्कर्ष का पद प्राप्त कर लिया। कदाचित् साधारण तथ्य यह था कि यत: स्वतन्त्र जिज्ञासा के विकास को अवरुद्ध करना असम्भव पाया गया अत: ब्राह्मणों ने यथार्थ बुद्धिमत्ता के साथ स्वयमेव बौद्धिक चिन्तन करने का निश्चय एवं उपनिषदों मे वेद संज्ञा प्रदान कर उसके प्राथमिक महत्त्व को प्रमुखता प्रदान किया। सभवत: उनमे कुछ (जैसे जाबालि) स्वयमेव अविश्वास के प्रभाव से संक्रान्त हो गये एवं अपने लिये स्वतन्त्र दार्शनिक गवेषणाएँ प्रस्तुत करने से विमुख नही किये जा सके।

तथापि इस तथ्य के लिए स्पष्ट प्रमाणो का अभाव नही कि भारत मे सर्वप्रथम क्षत्रिय या द्वितीय वर्ण बौद्धिक चिन्तन को स्थान देनेवाले हुये। यहाँ हम यह निर्देश करेंगे कि महान् बुद्ध एक क्षत्रिय थे, तथा छान्दोग्य-उपनिषद् (५, ३) में एक उल्लेखनीय अश है, जिसे इस विषय से सम्बद्ध होने के कारण मैं यहाँ संक्षेप मे देता हूँ (रूअर का संस्करण, पृ० ३५)

"श्वेतकेतु नाम का (गौतम नाम के ब्राह्मण का पुत्र) एक बालक पञ्चाल देश के राजा प्रवाहण की सभा मे पहुँचा। प्रवाहण ने उससे पूछा—'क्या तुम्हारे पिता ने तुम्हें शिक्षा दी है?' उसने कहा—'हाँ'। प्रवाहण ने प्रश्न किया—'क्या तुम जानते हो कि मनुष्य मृत्यु के उपरान्त कहाँ जाते हैं?' 'नही राजन्' बालक ने उत्तर दिया। प्रवाहण ने पुन. प्रश्न किया: 'तुम जानते हो कि वे किस प्रकार पुनर्जन्म प्राप्त करते हैं?' 'नही राजन्' उसने उत्तर दिया। राजा ने पुन. प्रश्न किया—'क्या तुम जानते हो कि जिस लोक को मनुष्य जाते हैं वह कभी भी क्यो नही पूर्ण होता?' इस बार भी बालक ने उत्तर दिया 'नही राजन्!'। तब राजा ने कहा 'तब तुम क्यो कहते हो कि तुमने शास्त्राध्ययन कर लिया है?' दुःखित होकर बालक अपने पिता के पास लौटा और बोला: 'राजा ने मुझसे प्रश्न पूछे जिनका उत्तर मैं नही दे पाया।' उसके पिता ने कहा 'मैं भी उन प्रश्नो का उत्तर नही जानता हूँ'। तब बालक के पिता, गौतम, राजा की सभा मे गये। उनका राजा ने बड़ा आतिथ्य किया और कहा कि 'हे गौतम! सासारिक पदार्थों मे सर्वोत्तम जो आप चाहे माँग

ले।' उन्होने उत्तर दिया 'हे राजन्! मुझे सासारिक पदार्थों की आवश्यकता नही। आप मुझे उन्ही प्रश्नो का उत्तर बतलावें जिन्हे आपने मेरे पुत्र से पूछा था।' राजा मन ही मन (यह समझ कर कि एक ब्राह्मण की प्रार्थना नहीं ठुकरायी जा सकती) दु:खित हुए एवं उनसे कुछ समय प्रतीक्षा करने की प्रार्थना की। तब उन्होने कहा—'यत: आपने यह ज्ञान मुझ से प्राप्त करना चाहा है और यह ज्ञान आपसे पूर्व किसी भी ब्राह्मण को प्रदान नही किया गया है, अतएव इस ज्ञान का उपदेश करने का अधिकार सम्पूर्ण लोक में क्षत्रियो के पास ही रहा है।"

यह कथा नि.सन्दिग्ध रूप मे इस कल्पना का समर्थन करती हुई प्रतीत होती है कि सामाजिक पद मे ब्राह्मणो से द्वितीय स्थान पर प्रतिष्ठित जाति ने ही सर्वप्रथम स्वतन्त्र दार्शनिक चिन्तन का श्रीगणेश करने का साहस किया। चाहे यह जैसे भी हुआ हो, किन्तु यह उस समय के बहुत पूर्व घटित नही हुआ जब ब्राह्मण-धर्म एव हेतुवाद इस प्रकार केवल एक ऐसी सविदा बनाकर एक साथ अग्रसर होने लगे कि चाहे वे एक दूसरे से जितने भी असमान हों एक दूसरे को भ्रान्त मार्गदर्शक नही घोषित करते। एक ब्राह्मण हेतुवादी हो सकता है; या हेतुवादी तथा ब्राह्मण दोनों साथ-साथ सामञ्जस्य रख सकते हैं, यदि दोनो वेद को नामत: स्वीकार करते हैं, वर्णो की अनुल्लङ्घनीयता का पालन करते हैं, ब्राह्मणो के प्राधान्य एव धर्म तथा दर्शन दोनों के शिक्षक होने के एकमात्र अधिकार को स्वीकार करते हैं। किन्तु यदि कोई हेतुवादी यह कहता कि कोई व्यक्ति शास्त्रशिक्षक हो सकता है, या यदि वह वेद अथवा वर्ण की व्यवस्थाओ से पराङ्मुख होता था, तो उसे नास्तिक और अविश्वासी कह कर बहिष्कृत कर दिया जाता था। यह स्पष्ट है कि स्वतन्त्र चिन्तन की प्रवृत्ति मन्त्रकाल मे भी परिलक्षित होने लगी थी और मनु के समय तक पर्याप्त प्रचलित हो गई थी। मनुस्मृति के दूसरे अध्याय (श्लोक ११) मे यह कहा गया है—

"वह ब्राह्मण जो हेतुशास्त्र का आश्रय लेता है ज्ञान के दो मूलों (श्रुति एवं स्मृति) को दूषित करता है, धर्मात्मा को उस व्यक्ति का नास्तिक एवं वेदघाती के रूप मे बहिष्कार कर देना चाहिए।"

तथापि ऐसे नास्तिको की संख्या प्रतिक्रिया के सामान्य सिद्धान्त के अनुसार शीघ्र ही भारत मे अधिक हो गई; क्योकि यह यथार्थत: कहा जा सकता है कि जब सर्वप्रथम बौद्धधर्म का जागरण भारत में प्रारम्भ हुआ तो यह ब्राह्मण-धर्म एवं वर्णव्यवस्था की अनमनीय कठोरता की एक प्रतिक्रिया का परिणाम था। घड़ी के पेण्डुलम की तरह यह एक ओर से दूसरी ओर को प्रतिघात

था—नितान्त सहिष्णुता एवं संकीर्णता से विस्तीर्ण सहिष्णुता एवं व्यापकत्व की ओर परावर्तन। यह उस बन्धनरहित धार्मिक विचारधारा का नाम था, जो परिणामो से भयरहित होकर, और उन परम्परागत व्यवहारों से जो कितनी भी प्राचीन एवं रूढ थी, विरोध मोल लेने की चिन्ता न कर अपनी स्थापना कर रही थी।

इस दृष्टिकोण के अनुसार स्वतन्त्र अन्वेषणों की पद्धतियाँ, जो दर्शन के स्वीकृत सम्प्रदायो मे अवसन्न हुईं, सीधे बौद्धधर्म से उत्पन्न नही मानी जा सकती; और न बौद्धधर्म की ही उत्पत्ति उनसे हुई। बौद्धधर्म एवं दर्शन समकाल ही विद्यमान प्रतीत होते हैं।[1] बौद्धधर्म उन निर्भीक एवं सच्चे स्वतन्त्र-विचारकों के लिये था जिन्होंने शास्त्रानुगमन के लिये प्रसिद्धि प्राप्त करने की चिन्ता नही की, जब कि दर्शन के सम्प्रदाय उन हेतुवादियो के लिये थे जिन्होंने धर्माचार्यत्व की प्रतिष्ठा के मन्दिर मे सत्यता की बलि चढ़ा दी। नि.सन्देह शास्त्रानुयायी दार्शनिक सभी बौद्ध नास्तिको की निन्दा करने पर भी उतारू हो गये; किन्तु वेद के प्रति नाममात्र की आस्था, वर्णव्यवस्था का पालन, एवं अन्तिम मोक्ष के लिए एक भिन्न संज्ञा के अतिरिक्त कम से कम, इन मतो मे से दो, वैशेषिक एवं साख्य, उसी सीमा तक अग्रसर हुए जिस सीमा तक बौद्ध-धर्म। यहाँ तक कि इन्होने यदि प्रत्यक्षत: नही तो व्यवहारत: एक परम ज्ञान-पूर्ण स्रष्टा की भी उपेक्षा की। यह भी विलक्षण बात है कि गोतम या गौतम, जो न्याय के शास्त्रपथगामी ब्राह्मण संस्थापक का नाम माना जाता है, उस नास्तिक क्षत्रिय का भी नाम था जिसने बौद्धमत का प्रवर्तन किया।

तत्वत: वर्तमान काल के सर्वाधिक नियमातिक्रमी को भी ऐसी विचार-स्वतन्त्रता की छूट नही दी जा सकती जैसी कि भारत के स्वतन्त्र विचारकों को प्राप्त होती थी यदि वे नाममात्र को ही वेद या कम से कम उसके उपनिषद् भाग को अङ्गीकार कर तथा हिन्दूधर्म, अर्थात् वर्ण के कर्मों से जिनमे ब्राह्मणों का प्राधान्य सम्मिलित था, सामञ्जस्य बनाये रखकर अपनी अशास्त्रीयता को प्रच्छन्न कर सकते थे।

मेरे विचार से ऐसी स्थिति मे हिन्दू हेतुवाद के संस्थापक के रूप मे किसी विशिष्ट व्यक्ति या सम्प्रदाय का निर्देश करना कठिन होगा। इसका यह अर्थ नही कि कपिल, गौतम, एवं छठी शताब्दी ई० पू० के महान् बुद्ध काल्पनिक प्राणी थे। तेजस्वी प्रतिभा एवं प्रबुद्ध विचारोवाले कुछ व्यक्तियों का नि.सन्देह

---

[1] साख्यसूत्र १. २७–४७ कतिपय बौद्ध मतो का उल्लेख करते हैं, किन्तु जैसा डॉ० म्यूर का कथन है, ये परवर्ती क्षेपक हो सकते हैं और इससे बौद्धधर्म की पूर्वकालता नही सिद्ध होती।

आविर्भाव हुआ, जिन्होने संगठित होकर उस समय की प्रवाहपूर्ण स्वतन्त्र विचारधारा को स्वरूप प्रदान किया; और उनमें से कोई एक, जैसे बुद्ध ने पौरोहित्य के प्राधान्य के विरुद्ध बढ़ते हुए आक्रोश की ऐसी व्यूहरचना का स्थान वनाया जो तर्क का एक योद्धा एवं परम्परागत विचारो के अत्याचार से मुक्ति प्रदान करनेवाला था। यह नि.संकोच कहा जा सकता है कि हेतुवादी विचारधारा के ऐसे नेता कभी भारत मे विद्यमान थे। यहाँ मै प्रख्यात बुद्ध के संक्षिप्त विवरण से प्रारम्भ करता हूँ।

बौद्धमत

महान् बुद्ध के जीवन के कुछ विश्वसनीय विवरण पाये जाते है। उन्हें राजा शुद्धोदन का पुत्र कहा गया है, जिन्होने नेपाल के पर्वतों के उपान्त देश की राजधानी, कपिलवस्तु, मे राज्य किया था।[1] अतएव वे क्षत्रिय वर्ण के राजकुमार थे, जो स्वयं ही ब्राह्मणो की दृष्टि मे एक धार्मिक होने के लिये अयोग्यता थी। उनके वंश या कुल का नाम शाक्य और उनके गोत्र का नाम गोतम या गौतम था,[2] क्योकि यह सुविदित है कि इस महान धर्मशुद्धारक ने कभी भी बुद्ध या 'ज्ञानी' उपाधि के एकमात्र अधिकार का अभिमान प्रदर्शित नही किया, अथवा किसी अपार्थिव प्रतिष्ठा या विशिष्ट सम्मान की भी मॉग नहीं की। प्राय· कहा जाता है कि उन्होने ५८८ ई० पू० मे मगध या बिहार[3] जनपद

[1] उनकी माता का नाम माया या मायादेवी था, जो राजा सुप्रबुद्ध की पुत्री थी। बुद्ध की यशोधरा नाम की पत्नी, राहुल नाम का एक पुत्र, तथा आनन्द नाम का एक चचेरा भाई भी था।

२. गौतम सूर्यवंशियो की एक जाति का नाम बताया जाता है, जिस वंश के राजा शुद्धोदन थे। 'सिह' एवं 'मुनि' उपाधियाँ प्राय: शाक्य के साथ जोड़ी जाती हैं: शाक्य सिह 'शाक्यो मे सिह', 'शाक्य मुनि। उनका सिद्धार्थ, 'जिसके लक्ष्य पूर्ण हो गये हो,' नाम या तो बुद्ध नाम के समान ही एक उपाधि-रूप मे वाद मे धारण किया गया था, जैसा कि कुछ लोगों का कथन है, अथवा उनके माता-पिता का दिया हुआ था, •जिनकी प्रार्थनाएँ पूर्ण हुई थी, जैसे 'देवदत्त', थिओडोर आदि। श्रमण अर्थात् योगी भी कभी-कभी गौतम के लिये प्रयुक्त होता है। उन्हे 'भगवत्' या पूज्य, तथा 'तथागत' या 'सुगत', वह जो एक सच्चे पथ पर अग्रसर हुआ है, भी कहते हैं। प्रत्येक बौद्ध निर्वाण की अतिशीघ्र प्राप्ति के लिये श्रमण हो सकता है।

[3] ऐसा कहा जाता है कि उन्होने अपने शिष्यो को श्रावस्ती नगरी मे, जो आजकल के अवध जिले के किसी भाग मे गंगा के उत्तर मे स्थित थी, सुदत्त या अनाथपिण्डाद नाम के श्रेष्ठि के उपवन में उपदेश दिया।

में धर्मप्रचार का कार्य प्रारम्भ किया किन्तु, उन्होंने यह शिक्षा दी की अन्य दार्शनिक (बुध) एव अनेक बुद्ध भी—अर्थात् पूर्णतः ज्ञानवान् व्यक्ति—उनके पूर्व के कालों मे संसार मे विद्यमान थे। उन्होंने स्वयं को ज्ञान की उस पूर्णता का एक उदाहरण मात्र माना जिस पर कोई भी व्यक्ति एकचित्त ध्यान, आत्म-नियन्त्रण, एवं इन्द्रियनिग्रह के अभ्यास से पहुँच सकता था। चूँकि वे महान् सुधारक योगी, सभ्य, एव अहंकारहीन थे, उन्होने सर्वोत्कृष्ट व्यावहारिक परिणामो को अपना लक्ष्य बनाया। वे एक पुरोहित-त्रस्त, वर्ण-त्रस्त्र राष्ट्र के उद्धारक-रूप मे उपस्थित हुए—एक साहसपूर्ण सुधारक एव नवरीतिस्थापक जिन्होने ऐसा कार्य कर दिखाने का बीड़ा उठाया, जिसे निःसन्देह दूसरों ने दीर्घकाल से आवश्यक अनुभव किया था। वह कार्य था धार्मिक विचारो मे पूर्ण स्वतन्त्र व्यापार की घोषणा एवं वर्णवस्था के विशेषाधिकारों के उन्मूलन द्वारा असह्य पौरोहित्य एकाधिकार का उच्छेद।[1] यह मानव स्वभाव का

[1] बौद्ध या बुद्ध के अनुयायी यह विश्वास रखते है कि दीर्घकालान्तरों (कल्पो) के उपरान्त पूर्णज्ञान से युक्त मनुष्य, जो परम बुद्ध कहे जाने के अधिकारी होते है, मनुष्यो को निर्वाण के यथार्थ मार्ग की शिक्षा देने के लिए आविर्भूत होते है। मार्ग शनैः-शनैः मनुष्यो के मस्तिष्क से युग बीतने पर समाप्त हो जाता है और उसका प्रबोधन पुनः दूसरे आचार्य करते है। बुद्ध ने भविष्यवाणी की कि उनका एक अनुयायी दूसरा परम बुद्ध होगा। ऐसे योगी को, जो इस स्थिति पर पहुँच चुका है कि उसके बाद बौद्धपद प्राप्त करने के पूर्व केवल एक ही जन्म शेष रहता है, बौद्ध लोग 'बोधिसत्व' अर्थात् ऐसा व्यक्ति जिसके भीतर पूर्ण ज्ञान का तत्व है, कहते है। निःसन्देह स्वल्प ही परम बुद्ध—पूर्णतः ज्ञानी आचार्यों—के पद को प्राप्त करते है यद्यपि सभी अन्ततः निर्वाण प्राप्त कर सकते है। निर्वाण के योग्य व्यक्तियो को 'अर्हत', अर्थात् पूज्य कहा जाता है।

अपने टेक्स्टस के द्वितीय भाग के अन्त मे डा० म्यूर ने ललितविस्तर का, जो बुद्ध के जीवन का गद्यपद्य मे लिखित आख्यानात्मक इतिहास है, नितान्त रोचक पद्यबद्ध अनुवाद दिया है। इस इतिहास का गद्य संस्कृत मे है, किन्तु बीच-बीच मे आनेवाली गाथाएँ या गीत एक मिश्रित विभाषा, अर्धसंस्कृत एवं अर्धप्राकृत मे हैं। अनूदित अंश मे बुद्ध को ऐसे शब्दों मे उद्धारक एवं नवनिर्माता कहा गया है जो ईसाइयो के रक्षक परमात्मा (Saviour) की कल्पना के उसके स्वरूप को समाहित करते है। प्रोफेसर माक्स म्यूल्लेर ने अपने संस्कृत साहित्य (पृ० ७९) मे कुमारिल भट्ट के एक कथन की ओर ध्यान आकृष्ट किया है, जिसके अनुसार निम्नोल्लिखित शब्द बुद्ध के प्रतिनिधि-

निश्चित नियम माना जा सकता है कि जहाँ कहीं एक ओर धर्मोपदेश के अधिकार का अनुचित दावा उठेगा वहीं दूसरी ओर सदैव बुद्ध या ऐसे लोग उठ खड़े होंगे, जो भारत के बुद्ध के समान समान्य धार्मिक समानता, सार्वभौम उदारता, एवं सहिष्णुता की घोषणा कर शीघ्र प्रख्यात हो जाते है, तथा जिनके अनुयायी उनके सिद्धान्तो को उनकी अभिप्रेत सीमा से आगे तक विकसित कर देते हैं। वस्तुतः शून्यवाद के अन्तिम छोर तक बलात् प्रसारित होने योग्य बौद्धमत उन सभी अनियन्त्रित विचारो की परिणित नही जिनका आरम्भ-विन्दु उन अप्राकृतिक बन्धनों से तर्क को मुक्त करने से उद्भूत स्वतन्त्रता की बुद्धि है जिन्हे अधिरोपित करने मे पौरोहित्य-रूढिवादिता आनन्दित होती है। यह जाति की बन्धनकारिणी शक्ति का उल्लेखनीय प्रमाण है कि बौद्धधर्म की प्रसिद्धि एवं आकर्षक स्वरूप, इसकी सहिष्णुता एवं दयाशीलता, इसकी सामान्य मानव जाति के बन्धुत्व की मान्यता एव प्रत्येक व्यवस्थित अस्तित्व के लिये श्रद्धा—जिससे न केवल प्रत्येक मानव को अपितु प्रत्येक जीवित प्राणी को चाहे वह कितना भी तुच्छ क्यो न हो, सम्मान एव दयापूर्ण व्यवहार का अधिकार है,—इसका आत्म-त्याग, पवित्रता, सत्यता, वाणी की कोमलता, विनय, धैर्य एवं साहस के गुणो के उपदेश, आदि के होते हुए भी यह विलक्षण मत जिसका उदय भारत में हुआ और जिसने अपने अधिकाश सिद्धान्तो मे रुचियों एवं विचार-प्रवृत्तियो से इतनी पूर्णता से सामंजस्य बना लिया था, अन्त मे ब्राह्मणधर्म के साथ प्रतिद्वन्द्विता मे असफल हुआ।

यद्यपि वर्तमान मे भारत का धर्म नि.सन्देह बौद्धधर्म नही है, तथापि यह समानरूप से निश्चित है कि इस परित्यक्त दर्शन ने हिन्दू मस्तिष्क पर प्रभाव छोडा एव सामान्यतः हिन्दूधर्म के साथ पर्याप्त समानता रखता है, जबकि पूर्वीय स्वभाव के निमित्त इसका आकर्षण दर्शनीय रूप मे इस तथ्य से प्रकट है कि इसने दो हजार चार सौ वर्षों के काल के बीच पूर्वीय राष्ट्रों मे इस प्रकार धाक जमा रखी कि इस समय, कुछ दिन पूर्व की गणनाओ के अनुसार इसके नाममात्र के अनुयायियो की संख्या प्राय: चार सौ पचपन लाख थी। इस कारण, इस महान् भारतीय सुधारक के विषय को समाप्त करने के पूर्व यदि मैं सक्षेप मे इसके उपदेशो का वर्णन कर दूँ तो अप्रासंगिक नही होगा।

रूप के कर्मों की पुष्टि करते हुए प्रयुक्त किये गये है। निकृष्टतम युग जगदुद्धारक (कलि) के दुष्कर्मों से उत्पन्न सभी पाप चाहे मेरे ऊपर आ जायँ परन्तु संसार का उद्धार होकर रहेगा। बिशप क्लागटन (Claughton) के विषय में कहा जाता है कि उन्होंने अपने कुछ समय पूर्व के एक व्याख्यान मे कहा कि नैतिक दृष्टि से ईसाई धर्म मे बौद्धधर्म के समकक्ष कुछ भी नही है।

मैं इसके सर्वाधिक विशिष्ट स्वरूप की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए प्रारम्भ करता हूँ। बुद्ध ने किसी परम देवता को नही माना।[1] उनके अनुसार एकमात्र देवता वही है जो मनुष्य स्वय बन सकता है। ब्राह्मणधर्म मे ईश्वर मनुष्य बनता है। बौद्धमत मे मनुष्य एक देवता बनता है। तथापि व्यवहारतः बौद्ध 'कर्मन्' के रूप मे एक दारुण देवता के अधीन हैं। किन्तु यह एक ऐसा देवता है जिससे यथासंभव शीघ्र मुक्ति प्राप्त करनी है, क्योंकि कर्म निरन्तर जीवन का कारण होता है, जो असंख्य शरीरों मे तब तक चलता है जब तब कि कर्मों का उचित/पुरस्कार या दण्ड नही मिल जाता, और यह बौद्ध-मत का मौलिक सिद्धान्त है कि सभी जीवन एक दु ख है। अतएव इस दर्शन का परम लक्ष्य है 'निर्वाण', बुझ जाना, या अनस्तित्व है। इस कथन से यह कल्पना की जा सकती है कि सभी शुभाशुभ कर्मों का परित्याग करना है। किन्तु पूर्णतः ऐसी स्थिति नही है। कतिपय कर्म, जिनमे आत्म-निह्लव एव इन्द्रिय-निग्रह सम्मिलित है, अत्यन्त असगत रूप मे निर्वाण या अनस्तित्व के परमलक्ष्य मे सहायक माने जाते हैं। सर्वोत्कृष्ट प्रमाणो[2] के अनुसार बुद्ध ने मनुष्यो को दो वर्गों मे विभक्त कहा है—प्रथम, वे जो अब भी संसार एवं सासारिक जीवन से सबद्ध है; दूसरे, वे जो आत्म-निग्रह द्वारा इससे मुक्ति पाने मे निरत है। प्रथम वर्ग 'उपासक' या गृहस्थो का है, दूसरा 'श्रमणो या योगियो का।[3] दूसरे वर्ग वाले पुरोहित या धर्माचार्यों की अपेक्षा साधु या भिक्षुक होते है। हम जैसा समझते है वैसे पुजारी या पादरी बौद्ध धर्म में कोई नही है। तत्त्वतः बौद्धमत को हमे कथमपि धर्म नही कहना चाहिए, क्योकि जहाँ कोई देवता ही नही वहाँ बलि, पूजा, और प्रार्थना तक की भी कोई आवश्यकता नही, यद्यपि अन्तिम का व्यवहार रोगो, सासारिक दुःखो एवं दुष्ट

---

[1] बौद्धो के लिये और निःसन्देह ब्राह्मणों के लिये 'भी देवता केवल उच्च-कोटि के प्राणी हैं और उन्ही विनाश के नियमो के अधीन है जिनके अधीन सम्पूर्ण विश्व। नि.सन्देह स्वयं बुद्ध ने कभी एक देवता के समान पूजा नही माँगी, और न उनकी इस प्रकार पूजा ही होती है, यद्यपि उनके स्मारको की श्रद्धा की जाती है, उनकी प्रतिमा को मन्दिर मे रखा जाता है और उनके सम्मान मे एक प्रार्थना भी की जाती है या एक पहिए को मन्त्रवत् कार्य करने के लिये घुमाया जाता है। कठोरता से, एक बौद्ध कभी प्रार्थना नही करता वह केवल ध्यान करता है।

[2] पूर्ण विवरण के लिये चैम्बर्स साइक्लोपीडिया मे 'बुद्ध' पर लेख देखे।

[3] उन्हे बुद्ध के 'श्रावक' या सुननेवाले, तथा 'महाश्रावक' महान् सुननेवाले, भी कहा जाता है। जब वे भिक्षा माँगते हैं तो भिक्षु या भिक्षुक कहे जाते है।

दानवों के विपरीत अभिचार-रूप[1] में तथा अन्य कर्मो के समान एवं यान्त्रिकता से युक्त रूप में किया जाता है। तथापि गृहस्थो एवं तपस्वी दोनों वर्गों को भावी जीवन अथवा १३६ नरको मे किसी भी नरक मे होनेवाले घोर दु.ख से बचने के लिए समान रूप से कतिपय सदाचारो का पालन करना चाहिए, क्योंकि अनेक नरको मे दारुण कष्टों को सहन किये बिना बारम्बार तुच्छ कोटि के प्राणियो का जीवन पाना भी पाप को दूर करने के लिये पर्याप्त दण्ड नहीं है।[2]

दस आचारसंबंधी निषेध किये गये हैं। पाँच सभी के लिए हैं, यथा हत्या न करो, चोरी न करो, व्यभिचार न करो, असत्य मत बोलो, मद्यपान न करो। अन्य पाँच तपस्वियो के निमित्त हैं जिन्होने निर्वाण की प्रत्यक्ष प्राप्ति की साधना प्रारम्भ की है—बिना समय के भोजन न करो; नृत्य, रगशाला, गीत एव सगीत से दूर रहो; अलंकारो एवं सुगन्धि का प्रयोग न करो; सुखकर शय्या का परित्याग करो; स्वर्ण या रजत मत ग्रहण करो। पुन, इससे भी अधिक कठोर आदेश उन लोगों के लिये हैं जिन्होंने केवल धार्मिक जीवन ही प्रारम्भ नहीं किया है अपितु वस्तुतः संसार का त्याग कर दिया है। इन व्यक्तियो को भिक्षु या परिव्राजक भी कहा जाता है। इन्हें अपने हाथों से सिले हुए एवं पीले आवरण से ढके हुए चिथड़े ही पहनने चाहियें। इन्हे दिन में केवल एक बार भोजन करना चाहिए और वह भी मध्याह्न के पूर्व। भोजन भी द्वार-द्वार माँगा भिक्षापात्र मे प्राप्त अन्न ही होना चाहिए। वर्ष मे कुछ समय तक वन मे केवल वृक्षो मात्र की शरण में व्यतीत करना चाहिए एवं एक चटाई के अतिरिक्त अन्य कोई उपकरण नही रखना चाहिए जिस पर इन्हें निद्रा के समय बैठना चाहिए, और कदापि लेटना नही चाहिए। इन निषेधों एवं आदेशों के अतिरिक्त आचार की छः परम पूर्णतायें हैं जो निर्वाण के दूसरे किनारे पर पहुँचाती हैं (जैसा कि उन्हें 'पारमिता' कहते हैं) तथा जो सभी

---

[1] इन बौद्ध प्रार्थनाओ को धारणी कहा जाता है एवं इनका प्रयोग ब्राह्मणीय मन्त्रों के समान सभी प्रकार के अशुभ में अभिचार के रूप मे किया जाता है। यह द्रष्टव्य है कि बौद्ध लोग प्रेम, क्रोध, पाप, मृत्यु के दानव या राक्षस में विश्वास रखते है, जिसे मार कहा जाता है, जिसने बुद्ध और उनके धर्म के प्रचार का विरोध किया। उसके अपने समान दानवो की सेना भेजने की कल्पना की गई है।

[2] देखिए आगे . कई बौद्ध स्वर्ग भी है। इनमे से एक तुषित नाम के स्वर्ग मे संसार में बुद्ध के रूप मे आने के पूर्व शाक्यमुनि बोधिसत्त्व के रूप में निवास करते थे।

के लिए आवश्यक है, वे हैं—१. दान, २. सदाचार या नैतिक उत्कर्ष ('शील'), ३. धैर्य एवं सहनशक्ति ('क्षान्ति'), ४. 'वीर्य', ५. ध्यान, ६. प्रज्ञा।[1] इनमे जो विशिष्ट रूप से बौद्ध धर्म का गुण है, वह है दया तथा सहानुभूति की पूर्णता जो सभी प्राणियो के प्रति प्रदर्शित की गई है और जो अत्यन्त सूक्ष्म जीव की हिंसा से बचाव करने और अत्यन्त घातक पशुओं के प्रति भी कोमलता का व्यवहार रखने की सीमा तक पहुँची है। ऐसे पशुओ एवं सभी प्रकार के तुच्छ जीवो के लिये भी आत्म-बलिदान एक कर्त्तव्य है। बुद्ध के विषय मे ही यह कहा गया है कि अपने पूर्व के जन्मो मे उन्होने प्रायश: अपने को कपोत एवं अन्य निरीह जीवो के शिकार के स्थान पर स्वयं को बाज तथा शिकारी पक्षियों के सम्मुख अर्पित कर दिया था। एक अवसर पर तो एक क्षुधार्त्त शेरनी को अपने शावक को भोजन देने मे असमर्थ देखकर वे दया से इतने द्रवीभूत हो गये कि उन्होने उस भूखो मरते हुए परिवार का भोजन बनाने के लिये अपना शरीर त्याग दिया।[2]

इन आचार-नियमो मे अनेक गौण शिक्षाये भी सम्मिलित है। उदाहरणार्थ, न केवल असत्यता का निषेध किया गया है, अपितु सभी दुःख देनेवाली तथा अशिष्ट भाषा का भी निषेध किया गया है; केवल धैर्य का ही आदेश नही दिया गया है अपितु आघात को सहन करने, दुर्भाग्य मे सन्तोष, विनम्रता, पश्चाताप एव पाप स्वीकार करने के अभ्यास का भी आदेश दिया गया है, जिनमे अन्तिम स्वयमेव दोषशुद्धि के प्रभाव से युक्त माना जाता है।[3]

---

[1] इनके साथ कभी-कभी अन्य चार भी जोड़े जाते है। ७. उपाय ८. बल 'शक्ति', ९. 'प्रणिधि' या विवेकशीलता, १०. ज्ञान अर्थात् सार्वभौम सत्य का ज्ञान'। देखिए राजेन्द्रलाल मित्र सं० ललितविस्तर, पृ० ७।

[2] आधुनिक बौद्धधर्म पशुओं के प्रति उतना दयालु नही जितना जैनधर्म, और पशुओ का आहार ग्रहण किया जाता है।

[3] पिय-दसि (सस्कृत प्रिय-दर्शि) के लेखो मे, जिसे मगध के बौद्ध राजाओ मे अन्यतम अशोक ही मानते हैं और जो तीसरी शताब्दी ई० पू० मे विद्यमान था, लोगो को प्रति पाँच वर्ष पर जनता के बीच अपने पापो को स्वीकार करने का आदेश दिया गया है। चार बडी बौद्ध संगतियाँ बुलाई गई थी. १ मगध के राजा अजातशत्रु द्वारा बुद्ध की मृत्यु के उपरान्त (जो विद्वानो मे अधिकाश के अनुसार प्राय. ५४३ ई० पू० मे हुई थी); २. कालाशोक द्वारा एक शताब्दी बाद; ३. अशोक द्वारा २४६ या २४७ ई० पू० मे; ४. कश्मीर के राजा कनिष्क द्वारा १४३ ई० पू० में। प्रथम संगति मे बुद्ध की सभी शिक्षायें एवं वचन, जिन्होने कदापि कुछ लिखा

यह है बुद्ध के उन वचनो का संक्षिप्त रूपान्तर जो उनके सत्य के ज्ञान द्वारा जीवन के कष्टों से मुक्ति प्राप्त करने एव जीवन के महान् प्रश्न का स्वयं के लिये समधान कर लेने पर आनन्दातिरेक से फूट पड़े थे[1]—

देखो किस प्रकार के सत्य-ज्ञान की यहाँ सिद्धि हुई है। वासना एवं क्रोध, जो संसार के मार्ग में बाधा है और जो अज्ञान से उत्पन्न होते है, वैसे ही नष्ट हो गये है जैसे चोरों को मृत्यु दण्ड दे दिया जाता है। अज्ञान एवं सासारिक आकाक्षाएँ, जो केवल अकल्याण ही उत्पन्न करती हैं, अपने सम्पूर्ण जड़-मूल सहित ज्ञान की प्रचण्ड अग्नि मे भस्मीभत हो गई है। देश-परिवार, सम्पत्ति की रस्सियाँ एवं बन्धन, तथा स्वार्थ जो 'मै' और 'मेरा' की बात करता है, सभी मेरे ज्ञान के अस्त्र से कट कर छिन्न-भिन्न हो गये है। वासना की उमड़ती हुई नदी, जिसकी स्रोत दुष्ट भावनाएँ है, जो कामुकता से पोषित और दृष्टि के जल से आप्लावित होती है, ज्ञान के प्रचण्ड सूर्य द्वारा सुखा दी गई है। कष्ट, निन्दा, इर्ष्या एव मोह का वन, सयम की लपटो द्वारा जला दिया गया है। मैने मुक्ति पा ली है और इस संसार के बन्धन ज्ञान की छुरिका से काट दिये गये हैं।

इस प्रकार मैंने ग्राह तुल्य कामना के दानवो से भरे हुए तथा मन.-क्षोभ की लहरो से क्षुभित इस भवसागर को दृढ़सकल्प की नौका पर चढकर पार कर लिया है। मैंने अमर सत्य का स्वाद प्राप्त कर लिया है, विगत के उन असंख्य महात्माओ को भी पहचान लिया है जो मानव जाति को दु ख, पीडा और मृत्यु से मुक्ति दिलाते हैं।

बौद्धमत के प्रारम्भिक एवं विशुद्ध रूप का यह अपूर्ण विवरण भारतीय हेतुवाद की अन्य शाखाओं को समझने मे सहायता प्रदान करेगा जो इससे वेद का प्रामाण्य स्वीकार करने की दृष्टि से ही विभेद रखती हैं।

नही था, तीन वर्ग की पुस्तको मे संगृहीत किये गये जिन्हे 'त्रिपिटक', तीन पिटारियाँ या मजूषाएँ' कहा गया और जो बौद्धो के पवित्र धर्मग्रन्थ हैं। ये तीन सग्रह है: १—सूत्रपिटक, जिसे बुद्ध के चचेरे भाई आनन्द ने सकलित किया, जिसमे शाक्य मुनि के सभी वचन एव उपदेश हैं, तथा जो कथमपि ब्राह्मणीय सूत्रो के समान नही है; २. विनयपिटक, जो सदाचार एवं सद्-व्यवहार के ग्रन्थ हैं; ३. अभिधर्मपिटक जो आध्यात्मविद्या एव दर्शन पर है। प्रोफेसर केर्न ने अपने हाल ही के बुद्ध पर लिखित विद्वत्तापूर्ण प्रबन्ध मे बुद्ध के मृत्यु का वर्ष ३८८ ई० पू० बताया है।

[1] मूल प्रोफेसर बनर्जी ने दिया है, 'संवाद' (डायलॉग्स) पृ० १९८।

पहले इन मतों को छः बताया गया था, किन्तु व्यवहारत. उनकी संख्या तीन कही जा सकती है, न्याय, सांख्य, तथा वेदान्त। इन सभी की कतिपय विशेषतायें परस्पर मिलती-जुलती है और कुछ सीमा तक (विशेषत. सांख्य की) नास्तिक बौद्धमत से भी समानता रखती है।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं एक सामान्य दार्शनिक मत, विभिन्न मतो मे हेतुवादी विचारणा के घनीभूत होने के बहुत पहले, भारत में प्रचलित रहा होगा। यद्यपि यह उपनिषदों मे स्पष्टतः विकसित नही है तथापि इसे मनु मे सर्वत्र पाया जा सकता है।[1] और वर्तमान मे यह न केवल प्रत्येक हिंदू दर्शनिक का दर्शन है अपितु विचारशील ब्राह्मणों के अधिकाश समूह का भी दर्शन है, चाहे वे किसी विशिष्ट सम्प्रदाय के अनुयायी हो या नहीं; तथा बहुमत शिक्षित हिन्दुओं का दर्शन है, चाहे वे विष्णु या शिव के नाममात्र के अथवा किसी भी वर्ण के हो—इसकी मुख्य विशेषताओ को छः मतों की मुख्य विभिन्नताओं को प्रदर्शित करने के पूर्व सुविधापूर्वक वर्णित किया जा सकता है।

१. सर्वप्रथम, हेतुवादी ब्राह्मणधर्म—जैसी कि मैं इस सामान्य मत को सज्ञा दूँगा—आत्मा की नित्यता गतापेक्षया तथा भाविकालापेक्षया दोनो दृष्टियो से स्वीकार करता है।[2] यह आत्मा को दो प्रकार का देखता है—अ. सर्वोच्च आत्मा (जिसे 'परमात्मन्', 'ब्रह्मन्' आदि अनेक नाम दिये गये हैं); ब. प्राणियो की वैयक्तिक या व्यष्टिभूत आत्मा ('जीवात्मन्')।[3] इसका कथन है कि यदि कोई पदार्थ नित्य है तो उसका कोई आदि नही हो सकता; अन्यथा उसका अन्त भी होना चाहिए। अतएव प्रत्येक मानव के भीतर

---

[1] देखिए मनु० १२.१२, १५–१८।

[2] प्लेटो का भी ऐसा ही मत प्रतीत होता है। फेएड० ५२। पुनः, सिसरो ने इसे इस प्रकार व्यक्त किया है: Id autem nec nasci potest nec mori, टस्क्० क्वेस्ट० १.२३। प्लेटो ने व्यक्तिगत आत्माओ की दिव्य उत्पत्ति मानने के अतिरिक्त नित्य नही माना है; तथा टिमिउस (Timaeus) ४४ मे वह आत्मा के दो भागो को पृथक् करते है: एक नित्य दूसरा अनित्य।

[3] जैसा हम आगे देखेंगे, सभी मत परम्परा के अस्तित्व के विषय मे समान रूप से स्पष्ट नही हैं। कम से कम एक तो ऐसे आत्मा का व्यवहारतः अज्ञान ही प्रदर्शित करता है। 'सूत्रात्मन्' के विषय में वेदान्त पर दिया गया व्याख्यान देखिए। बौद्ध भी यह विश्वास रखते है कि सभी आत्माएँ एक चक्र के प्रारम्भ होने के समय से स्थित हैं, परन्तु हिन्दुओ से भिन्न रूप मे वे निर्वाण मे आत्माओ का अन्त मानते है।

विद्यमान व्यक्तिगत आत्मा भी, परमात्मा के समान ही, अनादिकाल से विद्यमान रहा है और इसका कदापि अन्त नही होगा।[1]

२. दूसरे स्थान पर, यह मत प्रत्यक्ष सृष्टिभूत भौतिक पदार्थ या तत्त्व की, अथवा उस पदार्थ की जिससे सृष्टि उत्पन्न हुई है, दूसरे शब्दों में उसके उपादान या समवायि-कारण, की नित्यता की पुष्टि करता है।[2] यह पूर्णतः सत्य है कि एक दर्शन (वेदान्त) आत्मा का द्रव्य के साथ यह कहकर तादात्म्य स्थापित करता है कि सृष्टि की रचना भौतिक पदार्थ के स्थूल अणुओं से नही वरन् स्वयं आत्मा-आत्मा से ही हुई है जो इसका मायायुक्त समवायि कारण है। किन्तु यह कहना कि संसार एकमेव सत् आत्मा का एक भाग है, नि सन्देह दोनो के नित्य अस्तित्व को स्वीकार करने के समान ही है। वस्तुत, एक हिन्दू दार्शनिक का ससार के द्रव्य की नित्यता मे विश्वास, चाहे उस द्रव्य का वास्तविक भौतिक अस्तित्व हो अथवा वह केवल मायाजनित हो,उसके दर्शन के इस निश्चित नियम से उत्पन्न होता है कि अवस्तु से वस्तु की

---

[1] मुसलमानो मे नित्यता का अर्थ देनेवाले दो शब्द हैं : १. ९; । अज़ल, 'वह नित्य वस्तु जिसका आदि नही है' (जिस कारण ईश्वर को 'अज़लि' अर्थात् जिसका प्रारम्भ न हो, कहते हैं); और २. अब्द, 'वह नित्य वस्तु जिसका अन्त नही है'।

[2] स्थूल या पदार्थभूत कारण के लिये 'समवायि-कारण' पद है जिसका शब्दशः अर्थ है 'अयुतसिद्ध समवेत कारण'। वेदान्त मे 'उपादान कारण का प्रयोग किया जाता है। 'द्रव्य' शब्द के विषय मे आगे टिप्पणी देखिए। यद्यपि ग्रीस के दार्शनिक द्रव्य या उसके स्वरूप की नित्यता के विषय मे अपने विचारो में अधिक स्पष्ट नही है तथापि वे सामान्यत. किसी प्रकार के मौलिक तत्त्व के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं। प्लेटो का ऐसा मत प्रतीत होता है कि सृष्टि के पूर्व सभी तत्त्व आकारहीन एव आत्म-हीन थे, किन्तु उनकी रचना एवं संयोजन स्रष्टा ने (टिमेउस २७) किसी अदृश्य एव आकारहीन तत्त्व से किया (टिमेउस २४)। एक अनुच्छेद में अरस्तू उन प्राचीन दार्शनिकों के विचारो का वर्णन करता है, जिनके मतानुसार मूल तत्त्व साख्य के गुणो जैसे किसी प्रभाव से प्रभावित हुआ और उसमे परिवर्तन होने लगे जिससे सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति हुई ; मेटफ १.३. (देखिए विलसन की साख्यकारिका, पृ० ५३)। अरस्तू अपने विचार देता है: यह आवश्यक है कि कोई पदार्थ—एक या अधिक—होना चाहिए जिससे अन्य अस्तित्व उत्पन्न होते हैं।

सिद्धि नही हो सकती ('Ex nihilo nihil fit', नावस्तुनो वस्तुसिद्धिः)। दूसरे शब्दो में, 'असतः सज्जायते कुतः', अर्थात् असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है।'[1]

३. तीसरे स्थान पर आत्मा, यद्यपि यह स्वयं ही चिन्तन एवं ज्ञान है, केवल विचार, चेतना, संवेदना तथा ज्ञान उत्पन्न कर सकता है और यह भी कार्य एवं इच्छा कर सकता है जब संवेदना के वाह्य एव भौतिक पदार्थों से

---

[1] असत् से असत् उत्पन्न होता है। ग्रीस एवं रोम के सभी प्राचीन दार्शनिक इस विषय पर एकमत हैं, जैसा कि अरस्तू के कथन से स्पष्ट है। Lucretius १.१५० इसी सिद्धान्त को प्रस्तुत करता हुआ कहता है— 'Principium hinc nobis exordia sumet Nullam rem e nihilo gigni divinitus unquam'। अपनी आध्यात्मविद्या 'मेटाफिज़िक्स' के प्रथम खण्ड के तीसरे अध्याय मे अरस्तू सूचित करता है कि थेलेज— Thales—ने जल को वह मूल तत्त्व बताया जिससे संसार की उत्पत्ति हुई। एनेक्सिमेंनीज (Anaximenes) तथा डायोगेनीज़ (Diogenes) ने इसे वायु बताया, हेराक्लाइटस—(Heracleitus) ने इसे अग्नि बताया, तथा इम्पोडोक्लिज़ (Empedocles) ने पृथ्वी, वायु अग्नि तथा जल का सम्मिश्रण बताया। इसके विपरीत एनेक्सिमेण्डर (Anaximander) ने मूल कारण को निर्विकल्प, किन्तु असीमित पदार्थ बताया। अन्य दार्शनिको ने सभी वस्तुओं का कारण एक अस्त-व्यस्त संक्षोभ (chaos) बताकर इन सबके समान ही पदार्थ को स्वीकार किया। पर्मेनाईडीज (Parmenides) ने इच्छा (Desire) को प्रथम तत्त्व बनाया तथा हेसिआड (Hesiod), जिसका उद्धरण अरस्तू ने दिया है, काव्यात्मक भाषा मे कहता है—

'First indeed of all was chaos; then afterwards.
Earth with her broad breast (तुलना सस्कृत 'पृथिवी')
Then Desire, who is pre-eminent among all the Immortals.'

(सबसे पहले संक्षोभ था, उससे विशाल वक्षस्थल वाली पृथ्वी उत्पन्न हुई, और तब इच्छा या काम उत्पन्न हुआ जो सभी अमर्त्यों मे सर्वप्रधान है)।

अन्ततः इलिएटिक्स, भारतीय वेदान्तियो के समान ही पूर्णतः विश्वात्मवादी थे, और उनका मत था कि विश्व ईश्वररूप है। दूसरे शब्दो मे ईश्वर एकमात्र सत् पदार्थ है। इन सभी विवरणो के साथ ऋग्वेद के सृष्टिसूक्त की तुलना कीजिए जिसका अनुवाद ऊपर दिया जा चुका है।

सम्बद्ध होता है,[1] किसी स्थूल आकार से युक्त होता है[2], तथा मन से सम्बद्ध होता है, जिसमे अन्तिम (अर्थात् मन) अन्तःकरण का एक आन्तरिक अङ्ग है—विचार को आत्मा तक पहुँचाने का एक प्रकार का मार्ग है—जो केवल

[1] उपादान पदार्थ से हिन्दुओ का जो तात्पर्य है उसे उपयुक्त शब्दों मे व्यक्त करना कठिन है। वस्तुतः सामान्य अंग्रेजी अर्थ मे प्रचलित 'मैटर' शब्द के लिये सस्कृत मे कोई उचित शब्द नही। 'वस्तु', जो केवल 'द्वैत सत्य' के लिये प्रयुक्त होता है, वेदान्तियों द्वारा विश्वात्मा के लिये व्यवहृत पद है। 'द्रव्य' से आत्मा, मन, काल, दिग्, तथा पाँच तत्वों का अर्थ लिया जाता है। 'मूर्ति' ऐसी वस्तु होती है जिसकी निश्चित सीमाएँ होती हैं अतएव इसमे 'मन' एवं चार तत्व तो आते हैं परन्तु 'आकाश' नही आता। 'प्रधान' सांख्यदर्शन का मूल स्रष्टा है। पदार्थ का प्रयोग वैशेषिक के सात पदार्थो के लिये होता है। यहाँ जिससे तात्पर्य है वह अनिवार्यतः भौतिक अणुओं का संघात नही और न वह अप्रत्यक्ष्य तत्त्व है जिसे कुछ लोगों ने सभी प्रत्यक्ष भाववस्तुओ मे अन्तर्हित एवं उन्हे आधार देनेवाला (वर्कले ने इसमे विश्वास नही किया है) तथा प्रत्येक वस्तु के गुणो को संघटित रखनेवाला माना है, अपितु उससे तात्पर्य है उसका जो दृष्टि, श्रोत्र, अनुभव, जिह्वा एवं स्पर्श का विषय है, जो सम्भवतः संस्कृत शब्द 'विषय' द्वारा सर्वाधिक उपयुक्त रूप में अभिव्यक्त होता है, क्योंकि 'समवायि-कारण' तथा 'उपादान-कारण' ये दोनों शब्द सामान्यतः संसार के स्थूल या भौतिक कारण के लिये प्रयुक्त होते है।

[2] सभी मतो ने प्रत्येक व्यक्ति के दो शरीर माने हैं: (अ) बाह्य या स्थूल शरीर, (ब) आन्तरिक या सूक्ष्म शरीर या लिङ्ग शरीर। इसमे दूसरा अनिवार्यतः, जब स्थूल शरीर का विनाश हो जाता है तो आत्मा का आश्रय बनता है, और सभी जन्मो मे उसके साथ रहता है चाहे वह स्वर्ग में रहे या नरक मे, और जब तक मुक्ति की सिद्धि नही हो जाती तब तक कदापि उससे वियुक्त नही होता। वेदान्त एक तृतीय शरीर की भी स्थिति मानता है, जिसे 'कारण शरीर' कहते हैं और जिसे आत्मा के साथ विद्यमान शरीर का एक प्रकार का आन्तरिक मूलतत्व या सुप्त बीज कहते है। कुछ लोग इसे आत्मा से उसके स्वप्नरहित सुप्तावस्था मे युक्त मूल अज्ञान मानते हैं। प्लेटो के अनुयायी तथा अन्य ग्रीस एवं रोमदेशीय दार्शनिको का भी मृत्यु के बाद आत्मा का आच्छादन करनेवाले तथा उसके साथ या वाहन के रूप मे विद्यमान सूक्ष्म भौतिक आवरण के विषय मे उपरोक्त मत के समान ही मत प्रतीत होता है। देखिए प्लेटो, टिमेउस १७। यह एक मृत व्यक्ति के प्रेत की कल्पना जैसा विचार है। तुलना कीजिए, वर्जिल Aeneid ६.३९०,७०१।

शरीर से सम्बद्ध होता है, केवल उसी के साथ विद्यमान रहता है, तथा आत्मा से उसी प्रकार पूर्णतः भिन्न है जिस प्रकार शरीर का कोई भी बाह्य अङ्ग।[2] सर्वोच्च आत्मा (जिसे परमात्मा, ब्रह्मन् नपु०, आदि अनेक नाम दिये गये हैं) ने इस प्रकार स्वयं को आनुक्रमिक युगों में या तो स्रष्टा ब्रह्मा के रूप मे, या विष्णु तथा शिव (देखे पृ० १२ टि० १) सदृश अन्य देवताओं के रूप मे, अथवा मनुष्यो के ही रूप मे अभिव्यक्त होते हुए, पदार्थों एवं आकारो से सम्बद्ध कर लिया है।

४. चौथे, शरीर के साथ आत्मा का यह संयोग बन्धन तथा मानवीय आत्माओ के सम्बन्ध मे दुःख उत्पन्न करता है, क्योंकि जब एक बार आत्मा का इस प्रकार सयोग हो जाता है तो वह वस्तुओ का ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त करने लगता है और इस प्रकार दुःखकर तथा प्रिय अनुभव प्राप्त करता है। यह व्यक्तिगत अस्तित्व एवं पृथक्त्व का भी ज्ञान प्राप्त करने लगता है और कर्म करना प्रारम्भ कर देता है; किन्तु सभी शुभाशुभ कर्म बन्धन उत्पन्न करते हैं क्योकि प्रत्येक कर्म का अनिवार्य रूप से इस नियम के अनुसार फल होता ही है कि 'अवश्यमेव भोक्तं कृतं कर्म शुभाशुभम्', अर्थात् 'शुभाशुभ प्रत्येक कर्म का फल अवश्य ही भोगना होता है।' अतएव यदि कोई पुण्य कर्म होता है तो उसका पुरस्कार अवश्य ही मिलना चाहिये और यदि पाप कर्म होता है तो उसका दण्ड भी अवश्य ही मिलना चाहिए।[3]

---

[1] 'मनस्' प्रायः सभी मानसिक शक्तियो के लिये प्रयुक्त सामान्य संज्ञा जैसा व्यवहृत होता है; किन्तु 'मन' वास्तव मे अन्तःकरण का एक उपभाग है, जो बुद्धि तथा अहङ्कार, 'आत्मचेतना' तथा मनस्, 'इच्छा या संकल्प' मे विभक्त है, जिसमे वेदान्तवादी एक चौथा, 'चित्त', विचारण या तर्क करनेवाला, अवयव भी जोड़ देते हैं।

[2] मन के विषय मे यह विचार लूक्रेटियस के सिद्धान्त से बहुत कुछ मिलता है जो ३.९४ आदि में वर्णित है—

'Primum animum dico (mentem quem saepe vocamus) In quo consilium vitae regimenque locatum est,
Esse hominis partem nihilo minus ac manus et pes
Atque oculi partes animantis totius extant.'

उसके मन के वर्णन का शेष भाग हिन्दू सिद्धान्त की दृष्टि से बडा ही रोचक है।

[3] पञ्चतन्त्र (२.१३५, १३६) मे यह वर्णन है : दुष्कर्म शत सहस्र जन्मो मे मनुष्य का अनुसरण करता है; उसी प्रकार मनस्वी व्यक्ति के कर्म भी।

५. पाँचवें, इन परिणामों से उद्‌भूत सम्पूर्ण कर्मसमूह की, या जैसा कि इन्हें कहा जाता है 'कर्मविपाक'[१] अर्थात् फलो का पकना, की प्राप्ति के लिए इतना ही पर्याप्त नही है कि जीवात्मा स्वर्ग या नरक मे जाता है। कारण, सभी मतों का यह विचार है कि स्वर्ग या नरक मे भी पूर्वजन्म के कर्मो के अमोघ प्रतिफलदायी प्रभाव से उत्पन्न पुण्य तथा पाप आत्मा मे वैसे ही चिपके रहते हैं जैसे किसी पात्र मे रखा घृत निकाल लेने पर भी उसमे घृत का अंश लगा रहता है। नि सन्देह पुण्यफल तथा दण्ड के स्थान की प्राप्ति को स्वीकार किया गया है[२], परन्तु यह अमोघ या अन्तिम नही। कर्मों के फलो को पूर्णतः भोगने के लिए आत्मा को स्वर्ग या नरक छोडना और शरीरधारी जीवन धारण करना पड़ता है। इस प्रकार, उसे उच्चकोटि के शरीरो से मध्यम

छाया और सूर्य का प्रकाश सदैव परस्पर संयुक्त रहते है, इसी प्रकार कर्म एवं कर्त्ता एक दूसरे से संयुक्त होते है।

[१] अशुभ परिणामों को 'दुर्विपाक' कहा जाता है। इनमे से रोग इत्यादि रूपों मे कुछ का मनु ने विस्तार से वर्णन किया है, (११।४८-५२)। इस प्रकार कोई व्यक्ति जिसने पूर्वजन्म मे सोने की चोरी की है उसके नाखूनो पर नखव्रण का दुःख प्राप्त होगा; मद्यपान करनेवाले के दाँत काले होगे, और ब्राह्मण की हत्या करनेवाले को क्षयरोग होता है। शब्दकल्पद्रुम' मे 'कर्म-विपाक' शीर्षक के अन्तर्गत विभिन्न रोगों की एक दीर्घसूची उपलब्ध है, जिन्हें मनुष्य पूर्वयोनियों में किये गये पापकर्मों के फलस्वरूप साथ लेकर उत्पन्न होता है, तथा उन जन्मो की संख्या का वर्णन भी मिलेगा जिनमे यदि मनु के एकादश अध्याय मे वर्णित प्रायश्चित्त न किये जायँ तो प्रत्येक रोग बने रहते हैं।

[२] मनु ४.८८-९० में इक्कीस नरक गिनाये गये हैं। एक घोर अन्धकार का स्थान है, दूसरा दहकते हुए अंगारों का गड्ढा है, अन्य एक वन है जिसकी पत्तियाँ तलवार हैं, उससे भी अन्य दुर्गन्धयुक्त कीचड़ से भरा है, उससे भी दूसरे में लोहे की कीलों के मार्ग बने हैं। इन्हे पृथ्वी के नीचे के उन सात लोको के साथ भ्रम मे नही समझ लेना चाहिए, जिनमें एक प्रकार के सर्प-दानवो का निवासस्थान, पाताल, भी है। बौद्धो के पृथ्वी के नीचे एक सौ छत्तीस नरक हैं जिनमें क्रमश. दुःख की मात्रा बढ़ती जाती है। हिन्दुओ और बौद्धों के अनेक स्वर्ग भी है। हिन्दू पृथ्वी के ऊपर छः लोक बताते है और पृथ्वी सातवाँ लोक है, यथा, भू. (पृथ्वी) भुवः, स्वः, महः, जनः तप॰, सत्य।

कोटि या अवरकोटि के शरीरों में, देवता[1] से दानव, मनुष्य, पशु या वनस्पति, या पत्थर तक के असंख्य शरीरों में अपने पुण्य या पाप के विविध अंशों के अनुसार भटकना पडता है ।[2]

---

[1] देवता भी अनित्य जीव हैं। वे नश्वर संसार की वर्तमान पद्धति के अग मात्र हैं। वस्तुत: उन्हे, अर्पित किये जानेवाले बलि या पूजाओं के भोजन पर आश्रित बताया गया है (देखिये भगवद्गीता ३.११); वे तपस्याएँ करते हैं (मनु० ११.२२); मनुष्यो एव पशुओ के समान वे भी इच्छाओं एवं वासनाओं के अधीन होते है, और जहाँ तक उनके शारीरिक रूप का संबन्ध है वे उसी विनाश के नियम के वशीभूत है, जब कि उनकी आत्मा परमात्मा मे अन्तिम रूप से विलीन होने की आवश्यकता का अनुगमन करती है। सांख्य-कारिका (विलसन की, पृ० ३) मे निम्न कथन है—'प्रत्येक सासारिक युग मे कई सहस्र इन्द्र तथा अन्य देवता हो चुके हैं, कारण समय को नही जीता जा सकता', म्यूर का टेक्स्ट्स, भाग ५, पृ० १६.

[2] मनु १२.३ के अनुसार,

शुभाशुभफल कर्म मनोवाग्देह-सम्भवम् ।
कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमा. ।।

'मन, वाणी या शरीर से उत्पन्न कोई भी कर्म शुभ या अशुभ फल देने वाला होता है; मनुष्य की कर्मों से उत्पन्न उत्तम, मध्यम या अधम गतियाँ होती हैं।' देहान्तर प्राप्ति के इन तीन अवस्थाओ से युक्त क्रम को आगे चलकर (१२.४० इत्यादि) सत्व, रज या तमोगुण मे से किसी के प्राधान्य के अनुसार देवता, मनुष्य, पशु एव वनस्पतियो से होकर जानेवाला आत्मा का मार्ग बताया गया है। इन पुनर्जन्म की तीन श्रेणियो मे प्रत्येक की तीन-तीन उप-श्रेणियाँ हैं। प्रथम श्रेणी का सर्वश्रेष्ठ स्वयं ब्रह्मा है; सबसे अधम श्रेणी को निकृष्ट श्रेणी स्थावर या 'जड पदार्थ' है, जिसे कोई वनस्पति या धातु बताया गया है, अधम श्रेणी की अन्य निकृष्ट योनियाँ ऊर्ध्वक्रम मे कृमि, कीट, मत्स्य, सरीसृप, सर्प, कच्छप इत्यादि है। पुन. ६.६१, ६३ मे यह वर्णन मिलता है—'जिस व्यक्ति ने ससार से वैराग्य ले लिया है वह कर्म-दोष से उत्पन्न पुनर्जन्मो पर विचार करे, उनके स्वर्ग मे पतन तथा यम के लोक मे दारुण दु खप्राप्ति पर विचार करे, उनकी पुन. गर्भ मे रचना एवं दस लाख अन्य गर्भों मे भ्रमण पर विचार करे।' १२ ५४, ५५ इत्यादि : 'जिन लोगों ने घोर पाप किये है वे कई वर्षों तक घोर नरक मे रहने के बाद असख्य शरीरो से भटकते है। ब्राह्मण की हत्या करनेवाला, कुत्ता, सूकर, गर्दभ, उष्ट्र, वृषभ, अज, मेप, हिरन पक्षी

६. छठें, आत्मा का निरन्तर शरीरों के अनुक्रम मे यह भ्रमण. जो कि बौद्धधर्म का भी वैसा ही निश्चित एवं सुस्पष्ट सिद्धान्त है जैसा हिन्दूधर्म का, सभी दुःखो का मूल माना जाता है। अपरञ्च इसके द्वारा ससार के सभी दुखों,

आदि का शरीर धारण करता है। गुरु की शय्या पर बैठनेवाला सौ बार, घास, झाड़ी वनस्पतियों की योनि प्राप्त करता है।' १.४९; ११.१४३-१४६ में यह स्पष्ट कहा गया है कि सभी प्रकार के वृक्षो एवं वयस्पतियो की अन्तःसंज्ञा होती है एवं वे आनन्द तथा कष्ट का अनुभव करते हैं। बौद्धों मे भी जन्मान्तर प्राप्ति की तीन प्रकार की श्रेणियाँ है, जिन्हें निःसन्देह उन्होंने ब्राह्मणों से ग्रहण किया है। सर्वश्रेष्ठ को 'महायान' तथा निकृष्ट को 'हीनयान' कहते हैं। बुद्ध के विषय मे कहा जाता है कि उन्होने एक बार एक झाडू (मार्जनी) की ओर संकेत कर बताया कि वह पूर्वजन्म मे सभाभवन को झाड़ने के कर्त्तव्य की अवहेलना करनेवाला नवशिष्य था।

तथापि, पुनर्जन्म का सिद्धान्त मन्त्रों के रचनाकाल में हिन्दू मस्तिष्क में स्थान पाता हुआ नही प्रतीत होना। कम से कम ऋग्वेद में इसका कोई उल्लेख नही दिखाई पड़ता। यह ब्राह्मणों के समय में प्रकट होने लगता है, यद्यपि स्पष्ट रूप मे नही, और उपनिपद्, दर्शन तथा मनु मे पूर्ण विकसित हुआ है। प्रोफेसर वेबर तथा डा० म्यूर द्वारा उद्धृत शतपथ ब्राह्मण (११. ६, १, १) का एक अनुच्छेद मनुष्यो से इस जीवन मे उनके द्वारा किये गये आघातों का भावी जीवन मे बदला लेते हुए पशुओं एवं वनस्पतियों का वर्णन किया गया है।

ग्रीस तथा रोम मे पुनर्जन्म का सिद्धान्त कभी भी सामान्य मस्तिष्क को प्रभावित करता हुआ नही प्रतीत होता। यह केवल दार्शनिकों एवं उनके शिष्यों तक सीमित था; एवं सर्वप्रथम इसकी शिक्षा सरल रूप में पाइथागोरस ने दी जिसके विषय मे यह कहा जाता है कि वह अपने पूर्व जन्मों का स्मरण करता था। उसका अनुगमन लेप्टो ने किया, जिसके अपने इस विषय-सम्बन्धी विचारों के लिये हिन्दुओ का ऋणी होना स्वीकार किया जाता है। टिमेउस (७२, ७३) मे वह अपना मत व्यक्त करता है कि जिन्होने इस जीवन को व्यभिचारपूर्वक एव स्त्रीवत् बिताया है वे अगले जन्म में स्त्री-रूप मे परिवर्तित हो जायेंगे; जिन लोगों ने निर्दोष किन्तु चपल वृत्ति से जीवन बिताया है वे पक्षी बनेंगे, जो दर्शन के सत्य का ज्ञान प्राप्त किये बिना जीवित रहे हैं वे पशु बनेंगे, एवं जिनका जीवन घोर अज्ञान तथा मूर्खता से पूर्ण रहा है वे मछली, शुक्ति आदि बनेंगे। वर्जिल, एनिड Aeneid के छठे खण्ड मे (६८-७५) कुछ ऐसी आत्माओ की दशा का वर्णन करता है, जो

भाग्य की विषमता, तथा स्वभाव की विभिन्नता को समझाया जा सकता है।[१] कारण कि महान् प्रतिभा, विशिष्ट कार्य के लिए क्षमता, तथा सहज उत्कृष्टता प्राकृतिक देन नही अपितु शायद लाखों पूर्वजन्मो के अन्तर्गत निर्मित प्रवृत्तियों एवं विकसित शक्तियों के फल होते है। इसी प्रकार सभी ढंग के दुःख-दुर्बलता, रोग, तथा नैतिक चरित्रहीनता भी प्रत्येक आत्मा द्वारा पूर्व-शरीरो मे अपनी स्वच्छन्द इच्छा से किये गये उन कर्मों के परिणाम है जो कर्म उस आत्मा पर एक ऐसी अप्रतिहति शक्ति का प्रयोग करते हैं जिसे अनुभूत होने तथा न देखे जाने के कारण यथार्थतः 'अदृष्ट' कहा जाता है।

इस प्रकार, आत्मा को केवल अपने ही कर्मों का फल भोगना पड़ता है। वह एक ऐसी शक्ति के वशीभूत होकर इधर उधर ठोकर खाता है, जिसे वह स्वयं ही गति प्रदान करता है किन्तु स्वयं उससे बचाव नही कर सकता, क्योंकि उसकी क्रियाशीतलता पूर्वजन्म के कर्मों पर आधृत होती है जो पूर्णतः नियन्त्रण के बाहर तथा विस्मृत होते हैं।[२]

निचले भागो मे एक हजार वर्ष तक शुद्धि प्राप्त कर पृथ्वी पर आते हैं और नये शरीर धारण करते है।

यहूदी भी इस सिद्धान्त का कुछ ज्ञान रखते प्रतीत होते है, यदि हम अपने प्रभु के सम्मुख उपस्थित किये गये इन प्रश्नो से निर्णय दे : 'किसने पाप किया (अर्थात् पूर्व जन्म में) इस मनुष्य ने या इसके माता-पिता ने, जिसके फल स्वरूप यह अंधा उत्पन्न हुआ है ?' जॉन ९.२.

[१] ग्रीस के दार्शनिको मे अरस्तू अपनी 'मेटाफिज़िक्स' के ग्यारहवें खण्ड (अध्याय १०) मे पाप की उत्पत्ति का वर्णन करता है और उसके विचारो की तुलना हिन्दू दार्शनिको के विचारों से की जा सकती है। वह पुण्य को संसार का सर्वोच्च तत्व मानता है किन्तु पाप की शक्ति को स्वीकार करता है तथा पदार्थ को इसका प्रमुख और एकमात्र कारण मानता है—बहुत कुछ उसी रूप मे जिस रूप मे नोस्टिक्स (Gnostics) तथा अन्य प्रारम्भिक ईसाई दर्शन के सम्प्रदायों ने माना था, जिन्होंने भारतीय दार्शनिकों के समान, असत् से किसी सत् की उत्पत्ति की सम्भावना को अस्वीकार किया और इस सिद्धान्त का खण्डन किया कि ईश्वर किसी भी प्रकार पाप या दुःख से युक्त किया जा सकता है। अतः उन्होंने स्थूल जड़ पदार्थ के बाह्य अस्तित्व की कल्पना की जिससे ईश्वर ने सृष्टि की रचना की किन्तु जिसके भीतर स्वयं पाप या बुराई का तत्व विद्यमान था।

[२] पूर्वजन्म मे किए गए कर्मों की स्मृति का विनाश हिन्दुओ को उनके पुनर्जन्म के सिद्धान्त के विपरीत तर्क-रूप मे आकृष्ट नही करता। बहुत से मत

७. सातवें और सब से अन्त में, हिन्दू हेतुवाद के इन प्रमुख सिद्धान्तों का विमर्श करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि दर्शन का महान् लक्ष्य मनुष्य को प्रत्येक प्रकार के कर्म से, आकर्षण या विरक्ति से, प्रेम से या घृणा से, यहाँ तक कि किसी वस्तु के प्रति उदासीन होने से भी, विरत होने की शिक्षा देना है।

जीवित व्यक्तिगत आत्मा को कर्म के बन्धन तोडना, तथा शरीर, मन, एवं पृथक् व्यक्तित्व की बुद्धि से मुक्ति पाकर शुद्ध आत्मा की स्थिति में प्रत्यावृत होना चाहिए।

यही 'प्रमा' या 'ज्ञान' या सभी विद्यमान कष्टो का सही माप करनेवाला है—सत्य का यथार्थ बोध है—जो, यदि एक बार आत्मा इसे प्राप्त कर ले तो, उसे अन्तिम निस्तार प्रदान करता है, चाहे उसे मुक्ति, मोक्ष, निःश्रेयस्, अपवर्ग या निर्वाण[१] कहा जाय। संक्षेप में दार्शनिक ब्राह्मणीय मत का यही मूलमात्र

तो यह कहकर इस कठिनाई से बच निकलते हैं कि प्रत्येक मृत्यु के बाद आत्मा, मन, ज्ञानशक्ति एवं चैतन्य से पृथक् हो जाता है। देखिए मूल्लेन्स, एसेज पृ० ३८६; गर्भ उपनिषद् (४) स्मृति के नाश का कारण गर्भ से निकलने की क्रिया से आत्मा को होनेवाले कष्ट एवं क्लेश बताता है। पुराकथाशास्त्र मे ऐसे मनुष्यो के वर्णन मिलते है जो अपने पूर्व जन्मो को स्मरण करने की शक्ति से युक्त थे। प्लेटो के फेडो (४७) मे सेबेज़ (Cebes) को सॉक्रेटीज़ से यह कहते हुए दिखाया गया है: 'उस सिद्धान्त के अनुसार जिसका तुम प्रायः प्रतिपादन करते हो, यदि यह सत्य है कि सभी ज्ञान केवल स्मृति है तो यह निःसन्देह अनिवार्य है कि हम इस समय जो कुछ स्मरण करते है उसे हमने किसी पूर्व समय मे पढ़ा होगा। किन्तु यह असम्भव होता यदि हमारी आत्मा इस मानव शरीर मे आने के पूर्व किसी स्थान पर विद्यमान न रही होती। टस्क० क्वेस्ट० १.२४ मे सिसरो आत्मा के विषय मे कहता है—Habet primam memoriam, et eam infinitam rerum innumerabilium, quam quidem Plato recordationem esse vult superioris vitae'

तुलना कीजिए शकुन्तला : अङ्क ५, १०४, 'क्या यह सम्भव हो सकता है कि बहुत प्राचीन घटनाओ की धुंधली स्मृति, या जीवन की किसी दूसरी अवस्था मे की गई मित्रता आत्मा पर चलती हुई छाया के समान गुजरती है।' वर्जिल (एनिड ६.७१४) बुद्धिमत्तापूर्वक नये शरीर प्राप्त करनेवाले आत्माओं को लेथे (Lethe) नदी के किनारे एकत्र वर्णित करते है जहाँ वे उस नदी के जल से विस्मृति की घूंट पी लेते है।

[१] निर्वाण, 'बुझ जाना', जैसा हम देख चुके है, जीवन से मुक्ति के लिये बौद्धो का शब्द है। अन्य शब्दो का प्रयोग हेतुवादी ब्राह्मणीय मत करते हैं।

है, यही एकमात्र वास्तविक आनन्द है—परम तथा एकमेव वस्तुतः सत् आत्मा मे विलयन द्वारा सम्पूर्ण व्यक्तित्व एव पृथक् अस्तित्व का विनाश, मात्र जीवन है, किन्तु किसी वस्तु के लिये नहीं, केवल आनन्द पर उसके साथ आनन्द का विषय नही, तथा केवल विचार किन्तु उसके साथ ऐसी वस्तु नही जो विचारास्पद हो।[1]

इस प्रकार भारतीय दर्शन के सामान्य तत्त्वों को प्रस्तुत करने के बाद मैं अब उन विषयो को प्रदर्शित करूँगा जिनमें ये मत परस्पर विभेद रखते है।[2]

जैसा कि हम देख चुके है, इन दर्शनो मे दो, व्यवहारतः ईश्वर की उपेक्षा कर देते हैं।

[1] श्री हार्डविक ने यह भली भाँति दिखाया है कि ईश्वरसन्देश (Gospel) ने जो महान् वरदान दिया वह इन मिथ्या मतो के विपरीत मानव का उत्तरदायित्वपूर्ण स्वतन्त्र कर्त्तृत्व एव उसके व्यक्तित्व का स्थायित्व है। 'अस्तित्व न रखो' यह हिन्दुओ के धर्म एवं दर्शन का मनहूस परिणाम है। देखिए 'क्राइस्ट एण्ड अदर मास्टर्स', भाग १. पृ० ३५५। ईसाई धर्म मनुष्य के धार्मिक जीवन की गहनतम आवश्यकता की पूर्ति करता है और वह आवश्यकता है ईश्वर को एक मनुष्य के रूप मे पहचानना तथा प्रेम करना। देखिए कैनन लिडन (Canon Liddon) का 'एलिमेण्ट्स आफ रिलीजन', (धर्म के तत्त्व) पृ० ३६ :

[2] इन्हे मेरे सर्वोच्च श्रेणी के सम्मुख व्याख्यानो मे ही स्पष्ट किया गया था।

न्याय

हम गोतम या गौतम के न्याय तथा इसके पूरक, वैशेपिक, से प्रारम्भ करते है, इसलिए नही कि कालक्रम के अनुसार (देखिए, पृ० ४७) यह प्रथम आता है, अपितु इसलिये कि सामान्यतः इसका अध्ययन सवसे पहले किया जाता है और इसकी अनेक परिभाषाएँ दूसरे मतो ने भी ग्रहण की है।[1]

न्याय शव्द का अर्थ है, 'विपय मे प्रवेश करना' अर्थात् उसका विश्लेषण करते हुए अन्वेषण करना। 'विश्लेपण' के इस अर्थ की दृष्टि से न्याय यथार्थतः सांख्य अर्थात् 'संश्लेषण' का विरोधी है। सामान्यतः यह समझा जाता है कि न्याय मुख्य रूप से तर्कशास्त्र से सम्बद्ध है; किन्तु यह इसके विषय का केवल एक पक्ष है। वास्तविकता तो यह है कि इस मत का लक्ष्य मानवीय ज्ञान के सभी पदार्थों एवं विषयों के, जिनमे इनके साथ तर्क की क्रिया तथा विचारणा के नियम भी सम्मिलित है, दार्शनिक विवेचन की दोपरहित पद्धति प्रस्तुत करना है। यथार्थ न्याय अपने प्रथम सूत्र मे ही सोलह पदार्थों का प्रतिपादन करके अपनी परवर्ती विवृत्ति, वैशेषिक, से भेद रखता है। इन सोलह पदार्थों मे प्रथम है प्रमाण, अर्थात् वह साधन अथवा करण जिसके द्वारा किसी विपय की 'प्रमा' या यथार्थ अनुभव प्राप्त किया जाय। इस शीर्षक के अन्तर्गत उन विभिन्न क्रियाओं का विवेचन किया गया है जिनके द्वारा मन सत्य एवं यथार्थ ज्ञान प्राप्त करता है।

---

[1] पाँच ग्रन्थों में न्यायसूत्र टीका सहित न्यायसूत्रवृत्ति नाम से कलकत्ता में १८२८ मे प्रकाशित हुए थे। पाँच मे चार ग्रन्थों का सम्पादन एवं अनुवाद स्वर्गीय डा०, बैल्लनटाइन (Ballantyne) ने किया था। उन्होने तर्कसंग्रह नाम का न्याय का लघुग्रन्थ भी प्रकाशित किया। इस मत का एक प्रचलित ग्रन्थ है भाषा-परिच्छेद, जिसकी टीका सिद्धान्त-मुक्तावली है। इसे डॉ० रूअर ने सम्पादित तथा अनूदित किया है। दस ग्रन्थों में निवद्ध वैशेषिक सूत्रो का वड़ी विद्वत्ता के साथ सम्पादन एवं अनुवाद अभी हाल मे श्री ए० इ० गोफ़ (Gough) ने किया है, जो मेरे सुप्रसिद्ध बोडेन छात्रो मे से एक और सम्प्रति गवर्नमेट कालेज वनारस मे आंग्ल-संस्कृत के प्राध्यापक हैं। प्रोफेसर ई० बी० कोवेल का कुसुमाञ्जलि का संस्करण, जो एक परामात्मा के अस्तित्व को सिद्ध करनेवाला ग्रन्थ है, एक रोचक कृति है।

न्यायसूत्र के प्रथम काण्ड के तीसरे सूत्र मे ये चार प्रमाण बताये गये हैं—

अ. 'प्रत्यक्ष' अर्थात् इन्द्रियों द्वारा ज्ञान; ब. अनुमान; स. उपमान अर्थात् तुलना; द. शब्द अर्थात् शब्द प्रमाण या आप्त प्रमाण।

इनमे द्वितीय, अर्थात् अनुमान, का विवेचन योरोपीयो के लिये अधिक रोचक है, क्योंकि यह प्रदर्शित करता है कि हिन्दुओ ने अन्य जातियों के समान अपना तर्कशास्त्र तथा आत्मतत्त्वज्ञान ग्रीक लोगो से नही ग्रहण किया है।

सूत्र १. ३२ मे अनुमान को पाँच अवयवो मे विभक्त किया गया है—

१. 'प्रतिज्ञा' या पूर्वकथन (संशयपूर्वक कथन)।

२. 'हेतु' या कारण।

३. 'उदाहरण' (जिसे 'निदर्शन' भी कहते है) या दृष्टान्त (पूर्वपक्ष के समानार्थ)।

४. 'उपनयन', या हेतु की सिद्धि (उत्तरपक्ष के समानार्थ)।

५. 'निगमन' या निष्कर्ष (अर्थात् प्रतिज्ञा के सिद्ध होने का पुनर्कथन)।

अनुमान या तर्क को पाँच अङ्गो मे विभक्त करने की प्रणाली को देशीय टीकाकार इस प्रकार दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते है—

१. यह पर्वत अग्निमान है; २. धूम से युक्त होने से; ३ जो धूमवाला है वह अग्निमान है, जैसे पाकशाला (अथवा, व्यतिरेक मे, जैसे जलाशय नही जो सदैव बिना अग्नि के होता है); ४. यह पर्वत भी वैसा ही अर्थात् अग्निव्याप्य (धूमवान् है); ५. अतएव यह पर्वत अग्निमान् है।

यहा हम न्यूनैकपक्षन्याय तथा अवयवघटितवाक्य का एक ऐसा मिश्रण पाते है जो अरस्तू की अधिक संक्षिप्त प्रणाली के सम्मुख नैपुण्यहीन प्रतीत होता है; चतुर्थ एवं पञ्चम अवयवभूत वाक्य प्रथम तथा द्वितीय की पुनरुक्ति मात्र हैं जो इस कारण अनावश्यक प्रतीत होते है। किन्तु जब इसे एक अवयवघटित-वाक्य रूप मे न देखकर एक तर्क के पूर्ण आलङ्कारिक कथन के रूप में माने तो इसके कुछ लाभ भी प्रतीत होगे।

कदाचित् भारतीय प्रणाली मे सार्वाधिक द्रष्टव्य विशेषता, जो विचार की विधियों पर एक मौलिक तथा स्वतन्त्र विश्लेषण की छाप छोड़ती है, 'व्याप्ति' अर्थात् नैत्यिक व्यापन या समवाय, 'व्यापक' अर्थात् व्याप्त करनेवाला या नियतरूप से व्याप्त करने वाला गुण, तथा 'व्याप्य' अर्थात् नियतरूप से व्याप्त होनेवाला, इन विलक्षण पदो का प्रयोग है। इन पदो का प्रयोग एक सर्वव्यापी प्रमाण की पुष्टि के लिये या सर्वव्यापी क्लृप्ति को प्रमाणित करने के लिए किया जाता है, यथा—जहाँ कही धूम होता है वहाँ अग्नि होता है। 'जहा कही मनुष्यत्व होता है वही मर्त्यता होती है।' ऐसे विषयों में भारतीय तार्किक

यह कहकर अपने को अभिव्यक्त करता है कि अग्नि का धूम के साथ तथा मर्त्यता का मनुष्यत्व के साथ नियत व्यापी सहचारित्व है।

इसी प्रकार अग्नि तथा मर्त्यता को 'व्यापक' अर्थात् व्याप्त करनेवाला, और धूम तथा मनुष्यत्व को 'व्याप्य' अर्थात् व्याप्त होनेवाला कहते हैं। अतः प्रथम तर्क को एक नैयायिक सक्षेप मे इस प्रकार कहेगा—'यह पर्वत अग्नि-व्याप्यधूममान है, अतः यह अग्निमान् है'।

इस पारिभाषिकशब्द 'व्याप्ति' के यथार्थ ज्ञान को जो महत्त्व दिया गया है उसे प्रदर्शित करने के लिए, तथा एक नैयायिक लेखक की शैली का उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए मैं वैशेषिक सूत्रो के तृतीय काण्ड के प्रथम आह्निक अध्याय के चौथे सूत्र की शङ्करमिश्र लिखित टीका से सक्षिप्त उद्धरण देता हूँ—

'पूछा जा सकता है कि यह व्याप्ति क्या है? (ननु केयं व्याप्तिः)। यह समविस्तार का सम्बन्ध मात्र नही है। यह समुदाय का सम्बन्ध भी नही है। यदि आप कहें कि सम्पूर्ण साध्य का साधन के साथ सम्बन्ध (कृत्स्नस्य साधनस्य साधन-सम्बन्धः) व्याप्ति है, तो ऐसा सम्बन्ध धूमादि के विषय मे नही होता [क्योकि यद्यपि जहाँ धूमवत्त्व होता है वहाँ अग्निमत्त्व होता है, तथापि अग्निमत्त्व के साथ धूमवत्त्व नियम रूप से नही होता, यथा तप्त लोहे मे नही पाया जाता]। यह स्वभाविक सयोग भी नहीं होता, क्योकि वस्तु का स्वरूप, उस वस्तु के अस्तित्व का यथार्थ रूप ही है। यह साध्य का नियत समवाय भी नही, जिसका तभी अभाव होता है जब उस पदार्थ का पूर्ण अभाव होता है जिसके साधन का कथन किया जाता है क्योकि यद्यपि ज्वालामुखी पर्वत के अग्नि मे धूम होता है किन्तु पाकशाला मे उस अग्नि का अभाव होता है; और यह वाच्य के साथ विरुद्धता के विषय का अभाव भी नही है। न यह किसी आकार का ग्रहण है जो उसी सम्बन्ध से उत्पन्न होता है जिससे कोई अन्य वस्तु, उदाहरणार्थ अग्निमत्व धूम के सम्बन्ध द्वारा निर्धारित नही होता, क्योकि अग्निमत्त्व अधिक अतिव्याप्त है। हमारा यह कथन है कि नियम सहचारित्व, अर्थात् व्याप्ति, ऐसा सम्बन्ध है जिसके लिये किसी विशेषणभूत पद या उपाधि की आवश्यकता नही (अनौपाधिकः सम्बन्धः)।[1] यह एक

[1] इस कारण 'पर्वत धूमवान् है क्योकि यह अग्निमान् है' व्याप्ति न होकर अतिव्याप्ति होगी, क्योकि उपाधि या विशेषण 'आर्द्रेन्धन-जात', 'गीले ईंधन से उत्पन्न', का तर्क को दोषरहित बनाने के लिये उल्लेख करना पड़ेगा। जब साधन (अग्नि) तथा साध्य (धूम) सह-व्यापक बनाये जाते है तो 'अति-व्याप्ति' का दोष समाप्त हो जाता है।

व्यापकत्व है जो साध्य के साथ समव्यापक है (साध्य-व्यापक-व्यापकत्व)। दूसरे शब्दों मे, व्यक्ति का अर्थ है साध्य का नियत समवाय।[1]

न्याय का दूसरा पदार्थ या विषय है 'प्रमेय' जिसका अर्थ है 'प्रमा' के सभी पदार्थ या विषय—सक्षेप मे, वे विषय जिनके सम्बन्ध मे यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना होता है। इसके अन्तर्गत भारतीय दर्शन द्वारा अन्विष्ट सभी विषय आते हैं। जैसा कि नवे सूत्र मे गिनाया गया है, प्रमेय बारह हैं—

१. आत्मा, २. शरीर, ३. इन्द्रियाँ, ४. अर्थ अर्थात् इन्द्रियों के विषय, ५. बुद्धि, ६. मनस्, ७. प्रवृत्ति, ८. दोष ९. प्रेत्य-भाव, १०. फल, ११. दुःख, १२. अपवर्ग।

अपने प्रथम विषय के अन्तर्गत गोतम अपने विरोधियों की आपत्तियों को सुन लेते हैं जो दूसरे पदार्थ के अन्तर्गत आए हुए इन प्रमेयो मे से किसी के सम्बन्ध में विवाद करने के इच्छुक हैं।

जहाँ तक उनके अन्य चौदह पदार्थों का सम्बन्ध है वे उतने दार्शनिक पदार्थ नही प्रतीत होते जितने उन निश्चित अवस्थाओ की परिगणना जिनके विषय मे संभवतः विवाद उठ सकता है। भारत मे तर्क योरोप की अपेक्षा अधिक सरलता से यत्नकृत विवाद मे जा पहुँचता है और ये अवशिष्ट विषय निःसन्देह बड़े उल्लेखनीय ढंग से हिन्दू विवादकर्ता की उस छिद्रान्वेषी प्रवृत्ति को प्रदर्शित करते है, जिससे प्रेरित होकर वह व्यंग्योक्तियो मे पटु होता है और नितान्त प्रामाणिक तर्क के विरोध मे भी सत्याभासी आपत्तियाँ उठाकर टाँग अड़ाने के लिए कटिबद्ध रहता है।

सर्वप्रथम 'संशय' या विवेचनीय पदार्थ के विषय मे अनिश्चय की अवस्था है। तब एक 'प्रयोजन' या इसके विवेचन का उद्देश्य होना चाहिए। तदुपरान्त एक 'दृष्टान्त' या सुज्ञात उदाहरण प्रस्तुत किया जाना चाहिए जिससे 'सिद्धान्त' या प्रमाण-प्रतिपादित अर्थ सिद्ध हो सके। तब विवादकर्ता अपने 'अवयव' या पाँच अगो मे विभक्त तर्क के साथ उपस्थित होता है। इसके उपरान्त 'तर्क' या उसकी आपत्तियो का खण्डन (reductio ad absurdum) होता है, और फिर 'निर्णय' अथवा विषय की यथार्थता का निश्चय होता है।

---

[1] किसी सामान्य पाठक को उस दुरूहता का बोध कराना कठिन होगा जिसके द्वारा लम्बे समासो के माध्यम से इन सभी तर्कों को मूल संस्कृत मे व्यक्त किया गया है। निःसन्देह शैली की दुरूहता अनुपाततः अत्यन्त बढ़ी हुई है और इससे अनुवाद मे भी बहुत कठिनाई होती है। ऊपर दिये गये प्रत्येक शब्द के लिये श्री गोफ (Gough) उत्तरदायी नही हैं।

किन्तु एक हिन्दू की विवाद करने की प्रबल प्रवृत्ति को सन्तुष्ट करने के लिये इतना ही पर्याप्त नही। प्रश्न के प्रत्येक पहलू का परीक्षण होना चाहिए—प्रत्येक सम्भव आपत्ति का विवेचन होना चाहिए—और इस प्रकार एक और 'वाद' या विरोध होता है, जो निःसन्देह 'जल्प' मात्र यत्नकृत विवाद तक पहुँचता है। इसके बाद आते हैं 'वितण्डा' या छिद्रान्वेषण; 'हेत्वाभास'[1] या दोषपूर्ण हेतु; 'छल' अथवा अन्यार्थ कल्पना; तथा 'निग्रहस्थान' अर्थात् आपत्तिकर्ता की तार्किक अयोग्यता प्रदर्शित कर 'सभी विवादो का अन्त कर देना'।

उपरोक्त गोतम के सोलह पदार्थ हैं। इन्हे गिनाकर वे यह विवेचन करते है कि किस प्रकार अनेक जन्मों से मुक्ति प्राप्त हो सकती है—

'दुःख, जन्म, कर्म, दोष, मिथ्या विचार: इन सबका क्रमशः (अन्तिम से प्रारम्भकर) विनाश हो जाने पर उस वस्तु का भी नाश हो जाता है जो इनके पूर्व विद्यमान होती है; तब अन्तिम मोक्ष होता है।'

तात्पर्य यह है कि मिथ्या ज्ञान से किसी वस्तु के प्रति रुचि, अरुचि, या उदासीनता के दोष उत्पन्न होते हैं; उस दोष से क्रिया उत्पन्न होती है; इस दोषयुक्त क्रिया से कर्मों की उत्पत्ति होती है, जिनमें पुण्य या पाप होते है; यह पुण्य या पाप तज्जनित पुरस्कार या दण्ड भोगने के लिये मनुष्य को, वह चाहे या न चाहे, अनेक योनि में भ्रमण करने को बाध्य करते हैं। इन पुनर्जन्मो से दुःख की उत्पत्ति होती है और दर्शन का लक्ष्य इस दुःख के मूलस्वरूप अज्ञान को दूर करना है।

उपरोक्त विवरण पर एक नैयायिक टीकाकार, वात्स्यायन, इस प्रकार टीका करते हैं। (बनर्जी, पृ० १८५)।

'मिथ्या बुद्धि से एकपक्षता तथा पूर्वाग्रह उत्पन्न होते है; इनसे असूया, ईर्ष्या, मोह, मद, गर्व, लोभ उत्पन्न होते हैं। शरीर के साथ- क्रिया करता हुआ मनुष्य हिंसा, चोरी तथा यौन व्यभिचार करता है—असत्यभाषी, निर्दय और निन्दक हो जाता है। यह दूषित क्रिया पाप उत्पन्न करती है। किन्तु शरीर के साथ दान, दया, तथा सेवा के कर्म करना, सत्यभाषी, हितैषी, प्रियवादी होना तथा वेद की आवृत्ति करना, दयालु, विरक्त एवं श्रद्धालु होना—इन

[1] हेत्वाभास के उदाहरणस्वरूप वैशेषिक सूत्रों के तृतीयकाण्ड का सोलहवाँ सूक्त देखा जा सकता है: 'यस्माद्विषाणी तस्मादश्वः' 'क्योंकि इसके सींग है इसलिए यह घोड़ा है', या दूसरा सूत्र 'यस्माद्विषाणी तस्माद् गौः' 'क्योंकि इसके सींग है इसलिये यह गाय है।' इसमें दूसरा व्याप्त्वासिद्ध हेत्वाभास है।

सबसे धर्म की उत्पत्ति होती है। इस कारण धर्म एवं अधर्म कर्म करने से ही फलते है। यह कर्म करना ही अधर्म या उत्तम जन्मो की प्राप्ति का कारण है। जन्म के समय से ही कष्ट होता है। इस दुःख के अन्तर्गत पीडा का अनुभव, विपत्ति, रोग तथा हार्दिक कष्ट होते है। मोक्ष इन सबका विनाश है। कौन बुद्धिमान् व्यक्ति इन सब कष्टों से मोक्ष की इच्छा नही करेगा ? क्योकि, यह कहा जाता है कि मधु और विष मिला हुआ भोजन त्याज्य है। इसी प्रकार दुःख के साथ मिश्रित सुख भी त्याज्य है।

मैं न्याय मत के सर्वाधिक महत्वपूर्ण अङ्ग एवं उसके परिशिष्ट, वैशेषिक, पर आता हूँ।

वैशेषिक

हम अब न्याय के वैशेषिक विस्तार पर आते है, जिसके प्रतिपादक कणाद[1] नामक आचार्य कहे गये है। यह न्याय मत की एक शाखा नही जितना उसका एक परिशिष्ट है, क्योकि यह न्याय को भौतिक विवेचन तक पहुँचता है। यह सत्य है कि इस कार्य को नितान्त अपूर्ण ढंग से तथा प्रायः विलक्षण आभासो एवं गम्भीर दोषो के साथ पूरा करता है; किन्तु इसके साथ ही साथ, समय-समय पर यथार्थता के साथ तथा प्रायः अनुपम निपुणता के साथ इस कार्य को सम्पन्न करता है। इसके अधिक व्यावहारिक स्वरूप एवं इसकी योरोपीय दार्शनिक विचारो से समानता दोनो ही दृष्टियों से निःसन्देह यह सभी मतो मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यह अपने विवेचन को सात पदार्थों मे विभक्त करता है, जो उचित रूप से पदार्थ (अर्थात् कतिपय सामान्य विशेषताओ की परिगणना जिससे विद्यमान पदार्थों के विषय मे सप्रमाण पुष्टि की जा सके[2]) होने के कारण सामान्यतः नैयायिको के पदार्थ के रूप मे स्वीकृत है। वे इस प्रकार है:— १. 'द्रव्य', २. गुण, ३. कर्म, ४. सामान्य अर्थात् विशेषताओ की सामान्यता या

---

[1] कदाचित् यह उनका केवल उपनाम था, जिसका अर्थ है 'कणो को खाकर निर्वाह करनेवाला'। उन्हें उलूक भी कहते हैं। विशुद्ध न्याय के आचार्य गौतम का भी एक उपनाम था 'अक्षपाद', आँख रूपी पैरवाले, क्योकि वे अपनी आँखें सदैव समाधि मे पैरो पर गड़ाये रहते थे अथवा अप्राकृतिक रूप में उनके पैरो मे आँखें थी, क्योकि वे इतने विचारमग्न रहते थे कि हाथ की वस्तुओ को नही देखते थे।

[2] इस प्रकार, मनुष्य एक द्रव्य है और इसी प्रकार कुर्सी और प्रस्तरखण्ड भी। शुक्लत्व, कृष्णत्व, चौड़ाई तथा लम्बाई, यद्यपि नितान्त भिन्न वस्तुएँ हैं तथापि ये गुण है।

ऐक्य; ५. 'विशेष' अर्थात् विशिष्टा या वैयक्तिकता, ६. 'समवाय' या नियत घनिष्ठ सम्बन्ध, ७. 'अभाव' अर्थात् अस्तित्व का निषेध।[1]

तथापि सूत्रों के रचयिता कणाद ने केवल छः पदार्थ ही गिनाये। सातवाँ पदार्थ बाद के आचार्यों ने जोड़ा है। प्रथम काण्ड के चौथे सूक्त मे इस प्रकार इसका उल्लेख है (गोफ का अनुवाद, पृ० ४)।

'निःश्रेयस की प्राप्ति उस सत्य के ज्ञान से होती है जो विशिष्ट पुण्य से उत्पन्न होता है, और जो द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय पदार्थों के साम्य तथा वैषम्य द्वारा प्राप्त होता है।"

टीकाकर की उक्ति है.—

'यहाँ केवल छ. पदार्थों का ही उल्लेख है, किन्तु वस्तुतः महर्षि ने अभाव को भी परोक्षरूप से एक और पदार्थ माना है।

सभी सात पदार्थों के भी विभाग हैं :

---

[1] इनके साथ अरस्तू के दस पदार्थों की तुलना एक रोचक विषय होगी। वे हैं—१. 'द्रव्य'; २, 'कितना ?' परिमाण'; ३. किस प्रकार का ? 'गुण'; ४, 'किसके सम्बन्ध मे ?', 'सम्बन्ध'; ५. कर्म; ६. निष्क्रियता या जड़ता; ७. कहाँ, आकाश मे स्थान; ८. कब ? 'काल मे स्थान; ९. स्थानीय स्थिति'; १०. अधिकार। श्री जे० एस० मिल अपने तर्कशास्त्र मे कहते है कि यह परिगणना अनावश्यक एवं दोषपूर्ण है। कुछ पदार्थ स्वीकृत किये गये हैं और कुछ की भिन्न नामो से पुनरुक्ति की गई है। वे कहते है: 'यह पशुओं का मनुष्यो, चौपायो, अश्वो, घोड़ों एवं टट्टुओ मे वर्गीकरण के समान है। कर्म, निष्क्रियता, तथा स्थानीय स्थिति को 'सम्बन्ध' पदार्थ से पृथक् नही रखना चाहिए था और आकाश मे स्थान एवं 'स्थानीय स्थिति' के बीच अन्तर केवल शाब्दिक है। सभी विद्यमान् एवं व्याख्येय वस्तुओ की उनकी अपनी गणना इस प्रकार है: १. 'सवेदनाएँ या चैतन्यता की अवस्था', बाह्य संसार, भी केवल मन द्वारा ग्रहण किये जाने पर जाना जाता है; २. मन, जो उन संवेदनाओ का अनुभव करते हैं; ३. शरीर, जिन्हे चेतनाओं या सवेदनाओ को उत्तेजित करनेवाला माना गया है; ४. इन सवेदनाओं मे अनुक्रम एवं सहअस्तित्व, समानताएं एव असमानताएं है। इसके अतिरिक्त वे प्रदर्शित करते है कि सभी सम्भव प्रतिज्ञाएँ (proposition) निम्न गुणो या तथ्यो की पुष्टि करते हैं या उन्हें अस्वीकार करते हैं : १. अस्तित्व, सर्वाधिक सामान्य गुण; २. सहअस्तित्व; ३. परम्परा या अनुक्रम; ४. कारणत्व; ५. अनुरूपता। चैम्बर्स साइक्लोपिडिया में 'केटेगॉगीज़' (Categories) के अन्तर्गत देखिए।

हम प्रथम पदार्थ, 'द्रव्य', से प्रारम्भ करते है। पञ्चम सूत्र नौ द्रव्यों को इस प्रकार गिनाता है—

पृथिवी, आप, तेज, वायु, आकाश, काल, दिश्, आत्मा, आन्तरिक अवयव, और मनस्, ये द्रव्य है।

टीकाकार का कथन है—

'यदि यह आपत्ति की जाय कि एक दसवाँ द्रव्य 'तम' भी है तो इसे क्यो नही गिनाया गया है? क्योकि प्रत्यक्ष द्वारा इसका ज्ञान होता है, तथा स्थूल रूप से इसका विषय होता है, क्योकि इसका रंग तथा कर्म भी होता है; तथा चूंकि इसमे गन्ध नही इसलिये यह पृथ्वी नही है, इसका रंग कृष्ण है इसलिये यह 'आप' नही है इत्यादि। हमारा उत्तर है कि एसी बात नही है, क्योकि जब इसकी उत्पत्ति तेज के अभाव से होती है तो अन्य द्रव्य की कल्पना करना तर्करहित है।"

यह कह देना चाहिए कि इन द्रव्यो मे प्रथम चार (पृथिवी, जल, तेज एवं वायु) तथा अन्तिम (मन) को परमाणुरूप माना गया है तथा ये नित्य और अनित्य दोनों है—अपने विविध स्वरूपो में ये अनित्य है तथा अपने परमाणुओं के रूप मे नित्य, जिनमे इनका मूल ढूंढना चाहिये।[1]

इसके बाद 'गुण' पदार्थ आता है। छठाँ सूत्र सत्रह गुणो या विशेषणों को गिनाता है जो नौ द्रव्यों से सम्बद्ध अथवा उनमे समवेत होते है—

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, सख्या, परिमाणानि, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धयः, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न ये (सत्रह) गुण हैं।

---

[1] प्लेटो के अनुयायी सम्प्रदाय के अनुसार द्रव्यों को दो वर्गों मे विभक्त माना जाता है : अ. मन द्वारा ज्ञेय एवं अचल; ब. इन्द्रियो द्वारा ज्ञेय एवं क्रियाशील। अरस्तू अपने 'मेटाफिजिक्स' (११.१) में द्रव्यो को तीन वर्गों मे बॉटते प्रतीत होते है : अ. वे जो मन द्वारा ज्ञेय, अचल, अपरिवर्तनीय एवं नित्य है, ब. वे जो इन्द्रियो द्वारा ज्ञेय एवं नित्य है; स. वे जो इन्द्रियो द्वारा ज्ञेय तथा नश्वर है, यथा पौधे एव पशु। अन्यत्र (७ ८) वह द्रव्य को किसी वस्तु का तत्त्व या स्वभाव कहता है। पुन उदाहरण मे (४ ८) वह कहता है कि जो कुछ भी अस्तित्व का कारण हो सकता है वही द्रव्य है, यथा पशु मे आत्मा; तथा पुन. किसी वस्तु के उतने समवेत अंग जो यह प्रदर्शित करे कि 'यह क्या है', उदाहरणार्थ विस्तार, एक रेखा, सख्या एवं वह तत्व जिसकी परिभाषा औपचारिक कारण है; तीसरे, वह कहता है कि पृथ्वी, अग्नि, जल इत्यादि और सभी शरीर तथा इनसे युक्त सभी पशु द्रव्य है। देखिए, रेव० जे० एच० मैक्मीहन का उपयोगी अनुवाद जो बोन से प्रकाशित है।

टीकाकार शङ्करमिश्र सात और जोड़ देते हैं, जो उनके कथनानुसार, उपरोक्त मे ध्वनित है स्पष्टतः उक्त नही, और इस प्रकार वे इनकी संख्या को चौवीस तक पहुँचा देते है। वे हैं—

गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार (जिसमे अ. क्रिया का कारणभूत प्रेरक, व. स्थितिस्थापक, स. स्मृति का भी अर्थ अन्तर्हित है), धर्म, अधर्म तथा शब्द।

तथ्य की दृष्टि से अन्य मतो की अपेक्षा न्याय मत अधिक दार्शनिकता के साथ एवं शुद्ध रूप मे सभी द्रव्यो के गुणो का विवेचन करता है। जिन्हे चौवीस गिनाया गया हैं उन्हे दो वर्गो मे इस दृष्टि से विभक्त किया जा सकता है कि सोलह गुण भौतिक द्रव्यो के होते है तथा आठ गुण आत्मा के। ये आठ हैं वुद्धि, प्रयत्न, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, धर्म तथा अधर्म।

तीसरे पदार्थ 'कर्म' का सूत्र १. १, ७ मे इस प्रकार विभाग किया गया है—

उत्क्षेपण (शब्दशः—ऊपर फेंकना), अपक्षेपण (नीचे फेंकना), आकुञ्चन, प्रसारण, तथा गमन (सामान्य गति) ये (पाँच प्रकार के) कर्म होते हैं। [उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनम्प्रसारणं गमनमिति कर्माणि]

चौथे पदार्थ 'सामान्य' के दो भेद वताये गये हैं; वे है 'पर' तथा 'अपर'। इनमे प्रथम 'सामान्य सत्ता' है जो जाति मे रहती है, और दूसरा 'द्रव्यत्व' है जो प्रकार में रहता है।

पाँचवाँ पदार्थ है 'विशेष' जो प्रथम पदार्थ के नौ नित्य द्रव्यों, अर्थात् आत्मा, काल, दिक्, आकाश तथा पृथिवी, अप, तेज, वायु एवं मन के पाँच परमाणुओ मे होता है, जिनमे सभी एक दूसरे को व्यावृत करनेवाले एक नित्य चरम अन्तर से युक्त हैं।

छठाँ पदार्थ 'समवाय' या घनिष्ठ सम्बद्ध, केवल एक प्रकार का होता है। यह वह सम्बन्ध प्रतीत होता है जो किसी द्रव्य तथा उसके गुणो मे, या परमाणुओ एवं उनसे निर्मित वस्तु मे, या किसी वस्तु या उससे सम्वद्ध सामान्य मति के वीच होता है; तथा इसे वहुत कुछ मध्ययुग के प्लेटो-मत के यथार्थवाद के अनुरूप ही एक यथार्थ भाव वस्तु समझा जाता है। यह घट एवं उस मृत्तिका का सम्वन्ध है जिससे घट वना है, गोलाकार की वुद्धि तथा गोलाकार वस्तु के वीच का, अवयवी तथा उसके अवयवों के वीच का, जाति या समूह तथा उसके अन्तर्गत व्यक्तियो के, किसी क्रिया और उसके कर्ता के, तथा विशेष और नित्य द्रव्यत्व के वीच का संवन्ध है।

इस छठे पदार्थ के सम्वन्ध मे न्याय मत के हेतुवाद के सिद्धान्त का उल्लेख किया जा सकता है।

"कारण के अभाव से कार्य का अभाव होता है, किन्तु कार्य के अभाव से कारण का अभाव नही होता।"

तर्क-संग्रह में कारण उसे कहा गया है 'जो नियत रूप से कार्य के पूर्व-वृत्तिवाला होता है, जो कार्य अनन्यथासिद्ध हो', तथा कारण के तीन प्रकार गिनाये गये हैं—

(अ) समवायि-कारण अर्थात्, वह जो समवाय-सम्बन्ध से उत्पन्न होता है—जैसे तन्तु पट का समवायि-कारण है; यह अरस्तू के 'मैटीरियल कॉज़' का समानार्थी है। (ब) असमवायिकारण, जैसे तन्तु का संयोग पट का असमवायि-कारण है; यह 'फॉर्मल कॉज़' से मिलता है। (स) निमित्त-कारण, यथा बुनने वाले का तुरीय, वेम या उसका कौशल आदि पट के निमित्त-कारण है। यह "एफिशिएण्ट कॉज़' का समानार्थी है।[१]

सातवे पदार्थ 'अभाव' या निषेध के चार प्रकार बताये गये हैं। वे है—

अ—प्रागभाव (किसी वस्तु की उत्पत्ति होने के पूर्व उसका अभाव, यथा घट का उसकी उत्पत्ति के पूर्व); ब—प्रध्वंसाभाव (यथा घट का नाश हो जाने पर उसका अभाव); स—अन्योन्याभाव (यथा घट का पट मे अभाव); द—अत्यन्ताभाव (यथा जलाशय में अग्नि का अभाव)

सात पदार्थों का अब अधिक विवेचन न कर हम संक्षेप में यह प्रदर्शित करेंगे कि किस प्रकार बाह्य जगत एवं आत्मा के स्वरूप के विषय मे न्याय

---

[१] अरस्तू के चार कारण हैं: १—मैटीरियल कॉज़' अर्थात् द्रव्य जिससे किसी वस्तु का निर्माण होता है, यथा मूर्ति का संगमरमर पत्थर, पानपात्र का रजत; २. 'फॉर्मल कॉज़' अर्थात् वह विशिष्ट रीति या विधि जिसके अनुसार कोई वस्तु बनाई जाती है, यथा रेखाचित्र या योजना (प्लान) भवन बनाने का 'फॉर्मल कॉज़' है। ३. एफिशिएण्ट कॉज़ अर्थात् गति के सिद्धान्त की उत्पत्ति, यथा कार्य करनेवाले की शक्ति किसी कार्य को गतिमान करनेवाली है। ४. 'फाइनल कॉज़' अर्थात् वह उद्देश्य जिसके लिये किसी वस्तु का निर्माण होता है, अर्थात् उसकी उत्पत्ति का प्रेरक या उसकी उत्पत्ति से सिद्ध होनेवाला लक्ष्य। डॉ बैलेनटाइन Ballantyne (लेक्चर ऑन द न्याय, पृ० २३) के अनुसार अरस्तू के 'फाइनल कॉज़' का समवर्ती नैयायिको का 'प्रयोजन' अर्थात् प्रेरक या उद्देश्य या उपयोग है। चैम्बर्स साइक्लोपीडिया मे 'कॉज़' शीर्षक के अन्तर्गत लेखक यह प्रदर्शित करता है कि अरस्तू तथा न्याय के इन कारणो को मनुष्य के किसी कार्य की उत्पत्ति के लिये आवश्यक 'अवस्थाओ' का सङ्घात कहना चाहिए।

तथा वैशेषिक के मत अन्य दर्शनों के मतो मे भिन्न है। प्रथम, जगत् की रचना के विषय में—जगत् की सृष्टि 'अणुओ' के सघात से मानी गई है जो अपरिमित एवं नित्य हैं तथा नित्य रूप से इनका संघटन एवं पुनः साकल्य-रूप प्राप्ति अदृष्ट की शक्ति द्वारा होता है। कणाद् सूत्र (४. १) के अनुसार अणु एक ऐसी सत् वस्तु है जिसका कोई कारण नही है और जो नित्य है (सदकारणवन्नित्यम्)। अपरञ्च उन्हे न्यूनातिन्यून, अदृश्य, अस्पृश्य, अविभाज्य, इन्द्रियों द्वारा अप्रत्यक्ष्य तथा—सबसे उल्लेखनीय तथ्य जो वैशेषिक को अन्य मतों से भिन्न करता है—प्रत्येक को अपने एक 'विशेष' या नित्य गुण से युक्त बताया गया है। इन अणुओ का संयोग पहले दो अणुओं मे होता है जिसे 'द्वयणुक' कहते है। तीन का संयोग 'त्रसरेणु' माना जाता है जो सूर्य की किरणो के भीतर दिखाई पड़नेवाले धूलकणो के समान प्रत्यक्ष्य होने मात्र आकार का होता है।[१]

कोलब्रुक के वैशेषिक मत के विवरण के अनुसार पृथ्वी, अप्, तेज, वायु की रचना के लिये अणुओ के संयोग में निम्नलिखित क्रम माना गया है—

"पृथ्वी के दो अणु किसी अदृश्य अलौकिक शक्ति (अदृष्ट) द्वारा, या ईश्वर की इच्छा से, या काल द्वारा, या किसी अन्य समर्थ कारण द्वारा संयुक्त होकर पृथ्वी का द्वयणुक होते हैं, तीन द्वयणुकों के संयोग से एक त्र्यणुक उत्पन्न होता है;तथा चार त्र्यणुको के संयोग से एक चतुरणुक होता है, और इसी प्रकार पृथ्वी का स्थूल, स्थूलतर और स्थूलतम आकार होता है; इस प्रकार महा पृथिवी की रचना होती है। इसी प्रकार जल के अणुओं से महत्व आपः, तेजगुण अणुओ से महत्तेज, तथा वायु के अणुओं से महान् वायु की उत्पत्ति होती है।"[२]

---

[१] द्वयणुक एक अणु से केवल संख्या की दृष्टि से भेद रखता है, परिमाण, आकार या प्रत्यक्ष्यता मे नही। दोनों अतिसूक्ष्म हैं और संयुक्त होकर केवल अतिसूक्ष्म कार्य उत्पन्न कर सकते है (जिस प्रकार गुणित भिन्न)। त्र्यणुक सर्वप्रथम स्थूलता प्रदान करता है एवं परिमाण उत्पन्न करता है : जिस प्रकार घट का परिमाण उसके दो अर्धभागो द्वारा उत्पन्न होता है। देखिये प्रोफेसर कोवेल का कुसुमाञ्जलि का अनुवाद, पृ० ६६।

[२] चूंकि ये व्याख्यान श्रेष्ठ विद्वानों के सम्मुख दिये गये है अतएव इन्हे देते समय मैंने भारतीय तथा योरोपीय दर्शनो की तुलना के सभी विषयो का विवेचन करना आवश्यक समझा। तथापि यहाँ एपिक्यूरस (Epicurus) के सिद्धान्त का, विशेषतः लूक्रेटियस द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त का उल्लेख किया जा सकता है जो संसार एवं विभिन्न पदार्थों की रचनाहेतु अणुओं या मौलिक बीजो के संयोग का वर्णन इस प्रकार प्रारम्भ करता है—

तर्कसंग्रह से इस विवरण को हम इस प्रकार दे सकते है : (क) पृथिवी में गन्ध-गुण होता है जो इसको पृथक् करनेवाली विशेषता है। यह दो प्रकार की होती है, नित्या तथा अनित्या—नित्या परमाणुरूप मे, और अनित्या कार्यरूप ('कार्यरूपा') में होती है। संघटित पृथिवी का अनित्य रूप घट को चूर्णीकृत करने पर नित्यत्व के अभाव से प्रमाणित होता है। संघटित रूप में यह तीन प्रकार की होती है : शरीर, इन्द्रिय तथा विषय। इससे सम्बद्ध इन्द्रिय नासिका या घ्राणेन्द्रिय है जो गन्ध को ग्रहण करती है। जल का गुण शीतस्पर्शवत्य है। यह भी पहले की तरह दो प्रकार का होता है—नित्य तथा अनित्य। इसकी इन्द्रिय जिह्वा या 'रसना' है, जो जल के गुणों मे रस को ग्रहण करती है। (ग) तेज उष्णस्पर्शवत्य से पृथक् किया जाता है।[1] उसी प्रकार यह भी दो प्रकार का होता है, और इसकी इन्द्रिय नेत्र ('चक्षु') है, जो इसके मुख्य गुण, रूप या आकार, को ग्रहण करते हैं। (घ) वायु स्पर्शवान् होने से जाना जाता है। यह उसी तरह दो प्रकार का एवं रूपरहित होता है। इसकी इन्द्रिय 'त्वक्' है, जो स्पर्शग्राहक है।

'Nunc age, quo motu genitalia materiai
Corpora res varias gignant, genitasque resolvant.
Et qua vi facere id cogantur, quaeve sit ollis
Reddita mobilitas magnum per inane meandi ('Expediam, २. ६१–६४)

लूक्रेटियस के प्राय सम्पूर्ण दूसरे खण्ड का उद्धरण दिया जा सकता है। यह वैशिषिक मत के सम्बन्ध मे बडा ही रुचिपूर्ण है। इपिक्यूरियन सिद्धान्त की सिसरो की आलोचनाये भी इस विषय मे रोचक है। अपने De Natura Deorum (२.३७) मे वह कहता है—'यदि अणुओ का एक संयोग संसार की उत्पत्ति कर सकता है (quod si mundum efficere potest concursus atomorum), तो वह पोर्टिको, मन्दिर, भवन, नगर की उत्पत्ति क्यो नही कर सकता जिन्हे बनाना बहुत ही आसान है ? हम आधुनिक रसायन एवं भौतिकशास्त्र के विद्वानो के अनुसन्धानो का विरोध भारतीय दार्शनिको के विलक्षण एवं वैदग्धपूर्ण मतों से प्रदर्शित कर सकते हैं, जिन्होने २००० वर्ष से भी अधिक पहले बिना उन सहायताओ एवं साधनो के अपने अन्वेपण किये थे जो अब प्रत्येक व्यक्ति के पास विद्यमान हैं।

[1] तेज एवं ताप को नैयायिको ने एक ही द्रव्य माना है। विचित्र वात यह है कि स्वर्ण को 'आकर–ज' तेज कहा गया है।

(ङ) आकाश शब्दगुण का आधार है। यह नित्य, एक, तथा सर्वव्यापक होता है। इसकी इन्द्रिय कर्ण है जो शब्दग्राहक है।[1]

महान् भाष्यकार शङ्कराचार्य (जिनका उद्धरण प्रोफेसर बनर्जी ने दिया है, पृ० ६२) इस क्रम का इस प्रकार वर्णन करते है—

'सृष्टि के समय वायु के परमाणुओ मे क्रिया उत्पन्न होती है जो अदृष्ट के अधीन है। क्रिया इसके परमाणुओं को दूसरे परमाणु से संयुक्त करती है। तब द्वयणुको से क्रमशः वायु की उत्पत्ति होती है। यही अग्नि के साथ होता है, ऐसा ही जल के साथ भी घटित होता है, और पृथिवी के साथ तथा शरीरो[2] के साथ भी होता है। इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् परमाणुओं से उत्पन्न होता है।[3]

इस प्रश्न के सम्बन्ध में कि ईश्वर या परमात्मा को इन परमाणुओं का संयोग करने एवं विन्यस्त करनेवाला माना जा सकता है या नही, यह ध्यान देने योग्य बात है कि यद्यपि ईश्वर का नाम एक बार गोतम के सूत्रो[4] में

---

[1] प्रोफेसर एच० एच० विलसन (साख्य कारिका, पृ० १२१) का मत है कि इम्पेडोक्लीज (Empedocles) के सिद्धान्त मे भी एक सामान्य प्रकृति में इन्द्रियो एवं तत्त्वो को समाशी मानने के हिन्दू विचार जैसी अभिव्यक्ति उपलब्ध होती है—

'पृथ्वी के तत्व द्वारा हम पृथ्वी का प्रत्यक्ष करते हैं; जल के तत्त्व से जल का, वायु के तत्त्व से स्वर्ग की वायु का, एवं अग्नि के तत्त्व से भक्षणकारी अग्नि का। प्लेटो ने रिपब्लिक ६. १८ मे इस प्रकार लिखा है—'मैं इसे (आखों को) सभी इन्द्रियो मे सूर्य के सर्वाधिक गुणो से युक्त मानता हूँ।' देखिये म्यूर का टेक्स्ट्स, भाग ५. पृ० २९८।

[2] मनु (१. ७५–७८), सांख्य, तथा वेदान्त में यह क्रम इस प्रकार है: आकाश, वायु, तेज या अग्नि, जल तथा पृथ्वी।

[3] सिसरो की De Natura Deorum २. ३३ से तुलना कीजिए—'यतः चार प्रकार के द्रव्य होते है अतः संसार की निरन्तरता उनकी पारस्परिक क्रिया तथा परिवर्तनों (Vicissitudine) द्वारा बनी रहती है। कारण, पृथ्वी से जल निकलता है, जल से वायु, वायु से आकाश, और तब इसके विपरीत निश्चित क्रम मे आकाश से वायु, वायु से जल, जल से पृथ्वी जो सबसे अवर द्रव्य है।

[4] सूत्र ४. ५, १९ जो इस प्रकार है—कोई कहते हैं कि परमात्मा ही (एकमात्र) कारण है क्योंकि हम देखते हैं कि मनुष्य के कर्म समय-समय पर

आया है तथापि कणाद के सूत्रो[1] में नही उपलब्ध होता। कदाचित् दोनों का विश्वास यह था कि पृथ्वी की रचना केवल 'अदृष्ट' या अनदेखी शक्ति का परिणाम है जो पूर्वस्थिति संसार-कार्यों या कर्मों से उत्पन्न होती है, और जो हिन्दू दर्शन मे यद्यपि एक मात्र देवता या एक प्रकार का देवता बन जाती है (देखिये पृष्ठ) तथापि, नव्यनैयायिकों ने 'जीवात्मा' या मानवीय आत्मा से भिन्न एक सर्वोच्चआत्मा, 'परमात्मा', की सत्ता की पुष्टि की तथा इस परमात्मा को नित्य, निर्विकार, सर्वज्ञ, आकारहीन, सर्वव्याप्त, सर्वशक्तिमान्, और इसके अतिरिक्त विश्व का निर्माता कहा है।

तर्कसंग्रह मे कहा गया है। (—बैलेन्टाइन, पृ० १२) —

"ज्ञान का अधिकरण आत्मा है। यह दो प्रकार का है: जीवित आत्मा (जीवात्मा) तथा सर्वोच्च आत्मा ('परमात्मा')। परमात्मा ईश्वर, सर्वज्ञ, एक, सुख-दुःख व्यतिरिक्त, विभु एवं नित्य है।"

नि.सन्देह न्याय को कुछ लोग ईश्वरवाद की ड्योढी कहते है। जहाँ तक शरीरी भूतो के जीवात्मा का सम्बन्ध है, न्याय का मत यह है कि वे नित्य तथा प्रति शरीर भिन्न हैं:[2] वे नित्य रूप से परस्पर पृथक् होते हैं, तथा शरीर, इन्द्रियो एवं मन से भिन्न होते हैं, तथापि बुद्धि, प्रयत्न, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, धर्म तथा अधर्म के आश्रय हैं।

फल उत्पन्न नही करते (ईश्वरः कारणम् पुरुप-कर्माफल्यदर्शनात्)। दूसरा सूत्र इस तर्क का उत्तर है और यह पुष्टि करता प्रतीत होता है कि ईश्वर विश्व का कारण है; इस प्रकार, 'इसलिये नही कि मनुष्य के कर्मों के अभाव मे फल नही उत्पन्न होता।' दूसरा सूत्र इस प्रकार है--'यह (मनुष्य का कर्तृत्त्व) (एकमात्र) कारण नही है, क्योकि वह उस के द्वारा उत्पन्न होता है।' 'एकमात्र' शब्द भाष्यकार ने अपनी ओर से जोडा है और तीनों सूत्र सोद्देश्य गूढ़ रखे गये हैं।

[1] बनर्जी के अनुसार, पृ० ६२; किन्तु टीकाकार का कथन है कि यह सूत्र में विवक्षित है।

[2] वैशेपिक सूत्र ३. २ २० के अनुसार 'व्यवस्थातो नाना', अपनी परिस्थितियो (या अवस्थाओ) के कारण आत्मा अनेक है। टीकाकार कहता है—'परिस्थितियाँ विभिन्न अवस्थाएँ हैं; यथा, कोई धनी है, दूसरा नीच है, एक सुखी है, दूसरा दुःखी; एक उच्च है दूसरा निम्न उत्पत्ति का; एक विद्वान है, दूसरा अज्ञानी। ये अवस्थायें आत्माओ की विभिन्नता एवं अनेकता प्रमाणित करती है।

वैशेषिक सूत्रो (३.२,४) में जीवात्मा की दूसरी विशिष्टताएं (लिङ्गानि) दी गई हैं, यथा आँखों का उन्मीलन, मन की तथा विशेषत: प्राण की गति।[१] इसकी टीका करते हुए टीकाकार आत्मा को 'शरीर का अधीक्षक या स्वामी' बताता है। यहाँ वह अंश दिया जाता है—(गोफ, पृ० ११०)

"प्राणत्व आत्मा की सत्ता का एक चिह्न है, क्योंकि प्राण शब्द से प्राणत्व के कार्य, यथा आघातो तथा चोटो का ठीक होना, ध्वनित होता है। कारण जिस प्रकार गृह का स्वामी भग्न गृह का निर्माण या बिल्कुल छोटे भवन का विस्तार करता है उसी प्रकार शरीर का स्वामी अन्न आदि द्वारा शरीर का विकास एवं पोषण करता है जो उसके निवास का स्थान है, एवं ओषधि या इसी प्रकार के कारणो द्वारा आघातयुक्त अग को पुन. विकसित और कटे हुए हाथ या पैर को ठीक कर देता है। इस प्रकार शरीर का अधिष्ठाता (देहस्य अधिष्ठाता) गृहस्वामी के समान ही सिद्ध होता है।"

इतना और कहा जा सकता है कि आत्माओ को अपरिमित, सर्वव्यापक तथा आकाश मे सर्वत्र व्याप्त कहा गया है, जिससे एक व्यक्ति का आत्मा जैसा इंगलैण्ड मे होता है वैसा ही कलकत्ता मे, यद्यपि वह उसी स्थान का ज्ञान एवं अनुभव प्राप्त कर सकता है, तथा क्रिया कर सकता है जहाँ शरीर होता है।

न्याय का मन के विषय मे मत यह है: आत्मा के समान एक द्रव्य है या नित्य द्रव्य है। तथापि आत्मा के समान सर्वत्र व्याप्त होने के स्थान पर यह पृथ्वी, जल, अग्नि एव वायु के समान परमाणु रूप है। नि:सन्देह यदि यह आत्मा के समान अपरिमित होता तो सभी विषयों से एक साथ ही सम्बद्ध होता, और सभी ज्ञान भी समकालीन होते जो असम्भव है। इस कारण इसे केवल परमाणु या आत्मा की ओर एक आणविक प्रवेशद्वार कहा गया है जो आत्मा को एक समय एक से अधिक विचार या ज्ञान नही प्राप्त होने देता। न्यायसूत्र १.३,१६ तथा वैशेषिक सूत्र ८.१,२२ २३ मे इस प्रकार कहा गया है:

"मन का गुण यह है कि एक साथ एक से अधिक बुद्धि को नही उत्पन्न करता। अपने सर्वव्यापकत्व के परिणामस्वरूप आकाश अपरिमित रूप से महान् होता है और इसी प्रकार आत्मा भी। सर्वव्यापकत्व के अभाव के कारण अन्तरेन्द्रिय (मन) एक परमाणु है।[२]"

---

[१] प्लेटो (Phaedrus ५२) आत्मा की अपनी परिभाषा देता है—सिसरो द्वारा उद्धृत, टस्क्० क्वेस्ट १. २३

[२]. लूक्रेटियस द्वारा प्रतिपादित मत यह था कि मन नितान्त सूक्ष्म परमाणुओ से निर्मित है; वह कहता है (३. १८०): 'Esse a1o persubtilem

वेद के प्रामाण्य को स्वीकार करने के विषय में न्याय का मत किसी भी प्रकार शास्त्रविरुद्ध नही है। गौतम अपने सूत्र (२. ५८–६०, ६८) में स्पष्टतः कहते है कि वेद मिथ्या नहीं है, विरोधोक्ति या पुनरुक्ति का दोष भी उस पर नही मढ़ा जा सकता, और वह यथार्थज्ञान का साधन अर्थात् प्रमाण है। इसी प्रकार, कणाद के तीसरे सूत्र को वेद मे विश्वास व्यक्त करनेवाला माना जा सकता है जो स्पष्टत गौतम के सूत्र के समान ही मिथ्यावाद के दोषारोपण का खण्डन करता है।

न्याय के ईश्वरवाद का एक और प्रमाण देने के लिये मैं यहाँ उदयनाचार्य-रचित नैयायिक ग्रन्थ कुसुमाञ्जलि से एक लघु अनुच्छेद उद्धृत करता हूँ, जो अनीश्वरवादी आपत्तिकर्त्ताओ के खण्डन मे एक वैयक्तिक परमात्मा ('ईश्वर') के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये प्रयुक्त तर्कों का उदाहरण प्रस्तुत करेगा। इस ग्रन्थ का योग्यता के साथ सम्पादन एवं अनुवाद प्रोफेसर ई० बी० कोवेल ने किया है।[1] निम्नलिखित केवल पाँचवे अध्याय के प्रारम्भिक अंश हैं तथा हरिदास की टीका के एक भाग के साथ उद्धृत किये जा रहे हैं—

एक सर्वज्ञ तथा अनश्वर सत्ता, कार्यों की सत्ता से, अणुओं के संयोग से, आकाश मे पृथ्वी के स्तम्भन से, परम्परागत कलाओ से, प्रकाशित वाक्य में विश्वास से, वेद से, उसके वाक्यो से, तथा विशिष्ट संस्थाओं से सिद्ध होती है।

टीका : पृथिवी का कोई स्रष्टा अवश्य हुआ होगा, क्योंकि यह घट के समान एक कार्य है। सयोग एक क्रिया है, इसलिये सृष्टि की रचना के प्रारम्भ में दो अणुओं मे जिस क्रिया ने संयोग उत्पन्न किया उसके साथ किसी बुद्धियुक्त सत्ता का प्रयत्न अवश्य रहा होगा। पुनः, ससार किसी ऐसी सत्ता के अधीन है जो इसे उस प्रकार गिरने से रोकने की इच्छा करती है जैसे वायु मे किसी पक्षी द्वारा रोका गया काष्ट खण्ड। पुनः, परम्परागत कलाये (पट), जो इस समय प्रचलित है, यथा पटनिर्माण इत्यादि, किसी स्वतन्त्र सत्ता से उत्पन्न हुई होगी। तथा वेद से ग्रहण किया गया ज्ञान इसके कारण में विद्यमान धर्म से ग्रहण किया जाता है, क्योंकि यह यथार्थज्ञान है[2] (यह धर्म वेद के एक आप्त व्यक्ति

---

atque minutis Perquam corporibus factum constare', आकाश के विषय मे पृ० ९१ पर टि० देखें।

[1] मैंने उसके सस्करण तथा डा० म्यूर के टेक्स्ट्स के तीसरे भाग की परिशिष्ट मे दिये गये उद्धरणों का उल्लेख किया है।

[2] जो लोग तर्क का अनुशीलन करना चाहे उन्हे प्रोफेसर कोवेल का अनुवाद देखना चाहिए। सिसरो की भी तुलना की जा सकती है (Da Natura Deotrum २ ३४)—'यदि संसार के सभी अंग इस प्रकार संघटित हे कि

द्वारा उक्त होने में निहित है और इस प्रकार इसमें व्यक्तिगत प्रेरणादाता का अर्थ अन्तर्हित है)।

न्यायमत की विशेषताओं के इस संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि यह मत, कम से कम अपने वैशेषिक सृष्ट्युत्पत्ति सिद्धान्त में इस दृष्टि से द्वैतवादी है कि यह विश्व की नित्य आत्माओं या परमात्मा के साथ-साथ स्थूल, भौतिक, नित्य परमाणुओं को भी मानता है। यह किसी भी ऐसे सिद्धान्त के विरुद्ध खड़ा होता है जो एक विशुद्ध एवं पूर्ण आत्मतत्त्व से एक दोषपूर्ण एवं अधम विश्व की उत्पत्ति बताता है। यह किसी ऐसी बात पर निश्चित् रूप से निर्णय भी नहीं देता जिसे यह तर्क के साथ सिद्ध नहीं कर सकता—आत्मा एवं द्रव्य के बीच यथार्थ सम्बन्ध पर।
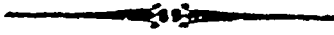
वे अधिक उपयोगी या स्वरूप मे अधिक सुन्दर नहीं हो सकते, तो हम विचार करें कि वे संयोगवश एक साथ संयुक्त किये गये अथवा उनकी अवस्था ऐसी है कि वे उस समय तक समवेत नहीं हो सकते जब तक ईश्वरीय प्रज्ञा तथा विधान उन्हें ऐसा न करे।

सांख्य

साख्य दर्शन[1] का अध्ययन सामान्यत: न्याय के उपरान्त किया जाता है, यद्यपि समय की दृष्टि से सभवत: यह पूर्ववर्ती, तथा अधिक स्पष्ट एवं निश्चित रूप से द्वैतवादी है। यह पूर्ण रूप से इस मत का खण्डन करता है कि शुद्ध आत्मतत्त्व से दोषपूर्ण भौतिक द्रव्य की उत्पत्ति होती है तथा, नि:सन्देह, इसे अस्वीकार करता है कि कोई सत् वस्तु असत् से उत्पन्न हो सकती है।

सूत्र १.७८, ११४-११७ इसके जगदुत्पत्ति के मत का प्रतिपादन करते है, जो डार्विन के मतानुयायियो का ध्यान आकृष्ट करने योग्य हैं—

'अवस्तु से वस्तु की उत्पत्ति नही हो सकती (नावस्तुनो वस्तुसिद्धि:) जो वस्तु असत् है वह सत् रूप मे विकसित नही की जा सकती। जो वस्तु पहले से (संभाव्य रूप मे) सत् नही है उसकी उत्पत्ति असम्भव हैं जैसे मनुष्य के सिर पर सीग ('नासदुत्पादो नृश्रृङ्गवत्')। इसके लिए आवश्यक रूप से कोई उपादान होना चाहिए जिसमे कार्य उत्पन्न होता है, क्योकि सभी वस्तु

---

[1] इस सम्प्रदाय के प्रसिद्ध संस्थापक कपिल (जिनके कभी ब्रह्मा का पुत्र, कभी विष्णु का अवतार होने की कथा गढ़ी गई है, और कभी रामायण में वर्णित ऋषि कपिल से तादात्म्य बताकर सगर के उन साठ हजार पुत्रो का ध्वंसक बताया गया है, जिन्होने अपने पिता के अश्व को ढूंढते हुए इनकी तपस्या मे विघ्न डाला था) कदाचित् ब्राह्मण थे, यद्यपि इनके विषय में कुछ भी ज्ञात नही। देखिये महाभारत १२. ३४९,६५। कपिल शब्द का अर्थ है 'पिङ्गल श्याव रग के' और इसका प्रयोग सम्भवत: 'अक्षपाद' तथा कणाद की तरह उपनाम के रूप में हुआ होगा। ये दो रचनाओ के लेखक माने जाते है : (क) मौलिक साख्य सूत्र, जिन्हे साख्य प्रवचन भी कहते है. इसमे छ: अध्यायो मे ५२६ सूत्र है; (ख) तत्वसमास नाम का एक छोटा ग्रन्थ (जिसका अनुवाद डॉ बैलेन्टाइन ने किया है)। मूल सूत्रो के साथ नि.सन्देह अनेक भाष्य है, जिनमे एक सर्वाधिक प्रसिद्ध भाष्य है विज्ञानभिक्षु लिखित साख्य-प्रवचन-भाष्य, जिसका संपादन विद्वत्तापूर्ण एव रोचक आमुख के साथ डॉ० फिट्ज एडवर्ड हाल ने किया है। इस मत के सिद्धान्तो का एक अत्यन्त उपयोगी एवं प्रचलित ग्रन्थ साख्यकारिका है जिसका सम्पादन एवं अनुवाद प्रोफेसर एच० एच० विलसन ने किया है।

सभी स्थानो पर सभी समयों में नही उत्पन्न होती ('सर्वत्र सर्वदा सर्वसम्भ-वात्') और क्योंकि कोई सम्भव कार्य उस कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ कारण से ही उत्पन्न हो सकता है।[१]

टीकाकार का कथन है कि इस प्रकार 'दधि दूध से ही उत्पन्न होता है जल से नही। कुम्भकार मृत्तिका से घट का निर्माण करता है, पट से नहीं; उत्पत्ति पूर्वस्थित वस्तु की अभिव्यक्ति ही है।' सूत्र १२१ में कहा गया है कि किसी कार्य का पुनः कारण रूप मे आना ही विनाश है।

अतएव साख्य मे वस्तुत सद्रूप जगत् के पदार्थों के अन्तर्गत व्यवस्थित विश्लेपणात्मक विवेचन के स्थान पर हम एक संश्लेपणात्मक मत का प्रतिपादन पाते है जो एक मौलिक आद्य तत्त्व या नित्य सत् तत्त्व[२], जिसे प्रकृति ('वह जो सभी दूसरी वस्तुओ को प्रादुर्भूत या उत्पन्न करे' अर्थ रखनेवाला शब्द) कहते हैं, प्रारम्भ होता है।

---

[१] अवस्तु से वस्तु की सिद्धि नही हो सकती (Ex nihilo nihil fit) सिद्धान्त पर पृ० ६१ की टिप्पणी देखिए। हमे लूक्रेटियस (१ १६० आदि) का भी स्मरण हो आता है—

Nam si de Nihilo fierent ex omnibu' rebus
Omne genus nasci posset; nil semine egeret.
E mare primum homines, e terra posset oriri
Squammigerum genus et volucres; erumpere caelo
Armenta, atque aliae pecudes : genus omne ferarum
Incerto partu culta ac deserta teneret :
Nec fructus iidem arboribus constare solerent,
Sed mutarentur : ferre omnes omnia possent.

'यदि ये असत् से उत्पन्न होते हैं तो सभी वस्तु सभी वस्तुओ से उत्पन्न हो सकती है और किसी को वीज़ की आवश्यकता नही रहेगी। मनुष्य पहले समुद्र से उत्पन्न होंगे, मछलियाँ एव पक्षी पृथ्वी से, भेड़ो के झुण्ड एव ढोरो का समूह आकाश से टपककर उत्पन्न हो जायगा, हर एक प्रकार का पशु अनायास जोते हुए स्थानो एवं मरुभूमि मे उत्पन्न होगा। एक वृक्ष पर एक हीं फल नही उत्पन्न होंगे, किन्तु परिवर्तित हो जायेगे। सभी वस्तुएँ सभी वस्तुओ को उत्पन्न करने मे समर्थ होगी।'

[२] सामान्यतः 'तत्–त्व' का अनुवाद 'प्रिंसिपिल' (Principle) शब्द से किया जाता है किन्तु 'इसेन्स' (Essence), 'एन्टिटी' (entity) तथा कुछ अवस्थाओं में 'सब्सटेन्स' (substance) इसके अर्थ का एक अधिक स्पष्ट बोध करते हैं। यह अशिष्ट

इसे कपिल ने अपने ६७ वें सूत्र मे एक मूलरहित मूल[1] 'अमूल मूलम्' कहा है। यथा:

"यतः मूल मे मूल का अभाव होता है अतः (सभी वस्तुओं का) मूल मूलहीन है।"

अपने ६८ वे सूत्र मे वे कहते है—

"यदि कारणो की परम्परा (एक के पहले एक) मानी जाय यो किसी स्थान पर विराम भी होना चाहिए : इसलिये प्रकृति (सभी कार्यों के) मूल कारण का ही एक नाम है।"

इस मौलिक नित्य कारण या तत्त्व से प्रारम्भ कर साख्य संश्लेपणात्मक

पद 'क्विडिटी' (quiddity जो Quid est ? से बना है) का समानार्थी है, जिसका बहिष्कार लॉक तथा आधुनिक दार्शनिको ने किया। नि.सन्देह 'नेचर' प्रकृति के लिये एक उत्तम शब्द नही कहा जा सकता, क्योकि प्रकृति तत्त्व या मात्र स्थूल तत्त्वो से कुछ भिन्न वस्तु का अर्थ देती है। यह एक नितान्त सूक्ष्म मूल तत्त्व है, जो आत्मा से पूर्णतः पृथक् है, तथापि अपने भीतर से बुद्धि एवं मन को तथा सम्पूर्ण दृश्य जगत् को उत्पन्न करने मे समर्थ है। सर्वदर्शन संग्रह, पृ० १४७ पर इसकी व्युत्पत्ति 'प्रकरोति इति प्रकृति' दी गई है, जिसमे 'प्र' का अर्थ 'बहिः' प्रतीत होता है 'पूर्व' नही। सांख्यकारिका (पृ० ४५) का भाष्यकार पदार्थ शब्द का प्रयोग सभी पच्चीस तत्त्वो के लिये करता है। एक वेदान्ती तत्त्व को 'तत्', 'वह', से भाववाचक संज्ञा नही स्वीकार करेगा, किन्तु इसका अर्थ 'सत्य' बतायेगा एवं इसकी उत्पत्ति मे इस सत्य के तत्व से युक्त मानेगा, यथा 'तत् त्वम्', 'वह तू है'।

[1] Timaeus (३४) के एक अनुच्छेद मे प्लेटो सृष्टि के एक सिद्धान्त का लाक्षणिक तथा अस्पष्ट भाषा मे प्रतिपादन करता है जिसकी तुलना पाठक साख्य-मत से कर सकते है : 'इसलिये, सम्प्रति हमे तीन वस्तुओ पर विचार करना है, वह जो उत्पन्न होता है, वह जिसमे यह उत्पन्न होता है, वह जिससे कोई स्वाभाविक तदनुरूपता के साथ उत्पन्न होती है। तथा विशेपतया उससे तुलना करना उचित है जो माता को प्राप्त होता है, वह जिससे यह पिता प्राप्त होता है और इन दोनो के बीच का स्वरूप जो बालक का होता है। इस प्रकार इस माता को तथा कार्य रूप मे उत्पन्न उन वस्तुओ के आश्रय को, जो दृश्य एव प्रत्यक्ष्य हैं, हम पृथ्वी, वायु, अग्नि या जल का नाम नही दे सकते, इन सबके मिश्रण का भी नाम नही दे सकते और न उन तत्वो मे से किसी का नाम दे सकते है जिससे इनकी उत्पत्ति हुई किन्तु यह एक निश्चित अदृश्य एव रूपहीन तत्त्व है जो सभी वस्तुओं को ग्रहण करता है। इत्यादि।' पृ० ६० की टिप्पणी २ से तुलना करें।

रूप से, जिस कारण इसका नाम संश्लेषणात्मक परिगणन[१] है, तेईस तत्त्वों की गणना कराता है, जो सभी प्रथम से उत्पन्न एवं स्वयं को उससे वैसे ही स्वाभाविक एवं सहज रूप में प्रकट करते हैं जैसे दूध से नवनीत या गाय से दूध।

पचीसवाँ तत्त्व 'पुरुष' अर्थात् आत्मा है, जो न तो उत्पन्न करता है और न उत्पन्न किया जाता है अपितु प्रकृति के समान नित्य होता है। यह उत्पादक या उत्पादित तत्त्वो से तथा दृष्टिगत जगत् की रचनाओं से पूर्णतः पृथक् है यद्यपि उनके साथ सम्पर्क में आ सकता है। वस्तुतः सांख्य मत का लक्ष्य आत्मा को उन बन्धनों से मुक्त करना है, जिनमे वह प्रकृति के संयोग मे आकर पड़ जाता है। यह इसे जगत् के चौवीस मूलभूत तत्त्वों की प्रमा अथवा यथार्थज्ञान प्रदान कर के सिद्ध करता है। इसके प्रमाण अथवा 'भाव वस्तुओं का यथार्थ माप प्राप्त करने के 'साधन', जो चार से (देखिए पृ० ७१) कम करके तीन कर दिये गये हैं, ये है: 'दृष्ट', 'अनुमान', तथा 'आप्तवचन' अर्थात् 'इन्द्रियो, अनुमान, एवं विश्रब्ध वचन या प्राप्त प्रामाण्य द्वारा ज्ञान'।

संख्यकारिका की तीसरी कारिका सभी भावरूप तत्त्वों को इस प्रकार गिनाती है—

सभी वस्तुओं (आत्मा के अतिरिक्त) का मूल एवं कारण प्रकृति है। यह कार्य नही है। इससे उत्पन्न सात तत्त्व भी कारण या उत्पन्न करनेवाले हैं। उनसे सोलह तत्त्व कार्य रूप में उत्पन्न होते है। पच्चीसवाँ तत्व, पुरुष या आत्मा, न तो कार्य है और न कारण।

इससे यह प्रतीत होता है कि मूल प्रकृति से (जिसे 'मूलप्रकृति' अर्थात् मूल-तत्त्व 'अमूलं मूलम्' अर्थात् मूलरहित मूल; 'प्रधान' अर्थात् प्रमुख तत्त्व, 'अव्यक्त' अर्थात् अनुत्पन्न उत्पादक, 'ब्रह्मन्' परम तत्त्व, 'माया'[२] या अज्ञान की शक्ति, आदि विविध नाम दिये गये हैं) सात अन्य कारण उत्पन्न होते है और इस प्रकार उद्भूत होने से उन्हे विकार या कार्य कहा जाता है। मूल कारण का प्रथम कार्य 'वुद्धि' है जिसे सामान्यतः 'इन्टेलेक्ट' या बौद्धिक ज्ञान, 'इन्टेलेक्चुअल पर्सेप्शन' (तथा जिसे दो अन्य आन्तरिक शक्तियों 'अहंकार' एवं 'मन' का महान् कारण होने से 'महत्' भी) कहा जाता है। इस क्रम मे तीसरा है अहंकार' या "मैं करता हूँ" ऐसा अभिमान, अर्थात् आत्माभिमान अथवा

---

[१] इस कारण सर वि० जोन्स ने साख्य को 'न्यूमेरल', साख्यिक दर्शन कहा है। इसकी तुलना अशतः पाइथागोरस के आत्मतत्त्वविवेचन एवं अंशतः (योग मे) जेनो (Zeno) के सिद्धान्त से की गई है; वर्कले के सिद्धान्त से भी की गई है।

[२] सांख्यकारिका २२, के गौडपाद भाष्य के अनुसार।

व्यक्तित्व का बोध (कभी कभी उचित रूप मे अहंवाद, Egoism, कहा जाता है), जो इसके बाद के उन पाँच तत्त्वो को उत्पन्न करता है जिन्हे 'तन्मात्र' या सूक्ष्म मौलिक अणु कहते हैं जिनके स्थूलतर तत्त्व ('महाभूत') विकार होते है ।[1] ये ही आठ कारण है ।

तब सोलह तत्त्व आते है जो केवल कार्य है । इनमे क्रमानुसार सबसे प्रथम तन्मात्राओ से उत्पन्न पाँच स्थूलतर तत्त्व आते है, जिनका उल्लेख किया जा चुका है । वे है :

(क) आकाश[2], जिसका विशिष्ट गुण शब्द है, या दूसरे शब्दो मे जो शब्द का अधिकरण है (जो शब्द इससे सम्बद्ध इन्द्रिय, श्रोत्र का विषय है); (ख) वायु, जिसका गुण स्पर्शवत्व है (जो त्वगेन्द्रिय का विषय है); (ग) 'तेजस्' या 'ज्योति, अग्नि या प्रकाश, जिसका गुण आकार या रूप है (जो नेत्र का विषय है); (घ) 'अप' जल जिसका गुण रस या स्वाद है (जो जिह्वा का विषय है); (ङ) 'पृथिवी' या 'भूमि', जिसका गुण गन्ध है (जो नासिका का विषय है)

इन तत्त्वों मे प्रथम के बाद प्रत्येक में अपने गुण के साथ-साथ अपने पूर्व के तत्त्व या तत्त्वो के गुण होते है ।

तदुपरान्त ग्यारह इन्द्रियाँ आती हैं जो तन्मात्राओं के समान तीसरे कारण,

---

[1] ये तन्मात्राएँ प्राय: प्लेटो (थिएट० १३९) के 'तत्त्वो के तत्त्व' (थिएट० १४२) तथा इम्पेडोक्लीज़ से साम्य रखती है ।

[2] जैसा अन्यत्र प्रदर्शित किया गया है आकाश का पूर्णत: आधुनिक 'ईथर' से तादात्म्य नही बैठाना चाहिए यद्यपि इस शब्द को इसका यथासंभव निकट समानार्थी के रूप मे ग्रहण किया जा सकता है । अपने कतिपय गुणो एवं क्रियाओ मे यह लूक्रेटियस के 'inane' से अधिक साम्य रखता है । Qua propter locus est intactus Inane, vacansque (१. ३३५) । कुछ भी हो, आकाश का एक पर्यायवाची 'शून्य' है । सिसरो, 'डि नाट० डिओरम' २. ४०, 'ईथर' का आकाश या दिक् ('स्पेस') से तादात्म्य प्रदर्शित करता प्रतीत होता है, जो सर्वाधिक दूर क्षेत्र तक विस्तीर्ण और सभी वस्तुओं के चारो ओर है । रामायण २. ११०, ५ ब्रह्मा को आकाश से उत्पन्न बताता है किन्तु आकाश के विषय मे महाकाव्यो एवं पुराणो के विवरण अत्यन्त विरोधपूर्ण हैं । कुछ कहते है कि इसकी सृष्टि हुई और यह नश्वर है, दूसरे कहते हैं कि इसकी रचना नही हुई और यह नित्य है । देखिए म्यूर का टेक्स्ट्स ४, ११९; महाभारत १२. ११३२ ।

अहङ्कार, द्वारा उत्पन्न की जाती है; वे हैं : पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ[१] तथा इन दोनो वर्गों के बीच मे स्थित एक ग्यारहवी इन्द्रिय मनस् जो प्रत्यक्ष प्रयत्न एव कर्म की आन्तरिक इन्द्रिय है।

आठ कारण या उत्पादक, पाँच स्थूलतर तत्त्वों, आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी, तथा ग्यारह इन्द्रियों के साथ मिलकर वास्तविक तत्व तथा दृश्य जगत् के मूलभूत पदार्थ होते हैं। तथापि सभी कारणो में केवल अचेतन मूल तत्त्व के बाद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तीसरा है जिसे 'अहङ्कार', आत्माभिमान या वैयक्तिकता, कहते हैं। यह अत्युक्ति नही होगी कि सांख्य मत के अनुसार, इन्द्रिय विषयभूत सम्पूर्ण जगत् की रचना वैयक्तिक अहं[२] ने की है, जो, इसके बावजूद भी आत्मा से पृथक् है, क्योकि इसे आत्मा मे पृथक् व्यक्तित्व की वास्तविक चेतना नही माना जाता यद्यपि यह इससे मोहित होता है।

यह द्रष्टव्य है कि साख्य मत के अनुसार, यद्यपि प्रकृति एक सूक्ष्म मौलिक तत्त्व है तथापि यह त्रिगुणात्मक भी है, जिसे साम्यावस्था के तीन तत्त्व या मूलभूत तत्त्व कहते हैं। ये हैं सत्त्व, रजस् तथा तमस्, अर्थात् शुद्धता, क्रिया तथा अज्ञान।

इस प्रकार कपिल (सूत्र ६१ मे) कहते हैं—

'प्रकृति सत्व, रज, और तमोगुण की साम्यावस्था है।"

स्पष्टत: आद्य मौलिक कारण के ये तीन गुण ही स्वयं मौलिक द्रव्य है, गुण नही, हालाँकि उन्हे गुण कहा जाता है तथा सत्व, शुद्धता जैसे पद वास्तविक द्रव्य के अर्थ की अपेक्षा गुण का अर्थ अधिक व्यक्त करते है। सांख्य प्रवचन-भाष्य के अनुसार :

'ये गुण वैशेषिक के गुणों के समान नही है। ये द्रव्य हैं जिनमें स्वयं ही इस प्रकार के गुण विद्यमान हैं जैसे संयोग, विभाग, लघुत्व, गति, गुरुत्व इत्यादि। इस कारण गुण शब्द इसलिये प्रयुक्त होता है कि ये तीन द्रव्य तोन गुणवाली वह रज्जु है, जिसके द्वारा आत्मा एक पशु (पुरुष पशु) के समान बद्ध होता है।"[३]

---

[१] ज्ञानकर्म या बुद्धि की पॉच इन्द्रियाँ ('बुद्धीन्द्रियाणि') है, श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, नासिका, और जिह्वा। कर्मेन्द्रियाँ (कर्मेन्द्रियाणि) है वाक्, हस्त, पाद, पायु एवं उपस्थ।

[२] वैयक्तिक विशिष्ट सृष्टि का यह विचार ही सांख्य को वेदान्त से पृथक् करता है, जो सभी वास्तविक वैयक्तिक विशिष्टता को अस्वीकृत करता है। इसके कारण ही साख्यमत वर्कले (Berkeley) के सिद्धान्त से भी समानता रखता है।

[३] अरस्तू (मेटाफिजि० १ ३) मौलिक द्रव्य के विभिन्न संयोग द्वारा

इतना तो स्पष्ट है कि यत: गुण शब्द का एक अर्थ 'रज्जु' है, अत: साख्य के तीन गुणो की एक तीन लड़ियोवाली रस्सी के समान आत्माओ को बाँधने एव विभिन्न योनियो[१] मे सीमित रखने का कार्य करने की कल्पना की गई है। तत्त्वत:, सत्त्व, रजस् एवं तमस् को प्रकृति के अंगभूत वास्तविक द्रव्य माना गया है, जिस प्रकार वृक्ष वन के अवयव है। अपरञ्च, यत: वे प्रकृति के तत्व हैं इसलिए वे इन्द्रिय विषयभूत सपूर्ण जगत् को प्रकृति से उद्भूत बनाते है। तथापि मूल तत्व की अवस्था के अतिरिक्त वे किसी भी अवस्था में समान रूप से नही संयुक्त होते। वे प्रत्येक उद्भूत वस्तु के अवयव होते है किन्तु वे भिन्न भिन्न अनुपात मे होते है, एक या दूसरे का आधिक्य रहता है। दूसरे शब्दों में वे सृष्टि मे प्रत्येक वस्तु को असमान रूप से प्रभावित करते है। जिस प्रकार वे मनुष्य को प्रभावित करते हैं उसी प्रकार उसे सत्व, रजस् या तमो गुण के प्राधान्य से क्रमश: दैवी या धार्मिक, पूर्णत. मनुष्यगुणयुक्त या स्वार्थी, पाशविक तथा अज्ञानी बनाते है। इसके विपरीत, यद्यपि आत्मा गुणो से बद्ध है, तथापि यह स्वयं गुणों से साकल्येन एवं पूर्णत: रहित (निर्गुण) है। तत्त्वो की सूची में इसका पचीसवाँ स्थान है और इसे तीन कारणों या उत्पादको—प्रकृत, बुद्धि एवं अहंकार—द्वारा उत्पन्न किये गये कार्यों से पूर्णत: पृथक् समझना चाहिए। सक्षेप मे, जगत् की उत्पत्ति करनेवाली प्रकृति से यह केवल नित्यत्व को छोडकर किसी भी विषय में समानता नही रखता।

यद्यपि प्रकृति जगत् का एकमात्र मूल कारण है तथापि, विशुद्ध साख्य मत के अनुसार यह केवल अपने लिये सृजन नही करती है वरन् प्रत्येक जीवात्मा के लिये सृजन करती है जो इसके संयोग या सम्पर्क मे उसी प्रकार आता है जैसे एक स्फटिक भृङ्गार का फूल के साथ सम्पर्क होता है। नि:सन्देह आत्मायें नित्य रूप मे एक दूसरे से एवं जगत् को उत्पन्न करनेवाली प्रकृति से पृथक् रहती है; तथा जिस प्रकार के भी शरीर से युक्त होती है उस सबको नैसर्गिक रूप मे समान ही माना जाता है और प्रत्येक सभी जन्मान्तरों में एक तथा

परिवर्तन होने का वर्णन करता है जो साख्यगुणो के जैसा ही है, देखिये पृ० ६०. टि० २.

[१] मनु ने बिल्कुल इसी तरह तीन गुणों के सिद्धान्त का विवरण दिया है (१२. २४, २५, आदि): 'यह जानना चाहिए कि आत्मा के तीन गुण (वन्धन या रज्जु) सत्त्व, रजस् एवं तमस हैं। इनमे से एक या एकाधिक द्वारा वद्ध होकर, यह निरन्तर अस्तित्व के आकार से सम्वद्ध रहता है। जब कभी तीनो गुणो में किसी का सम्पूर्णरूप से शरीर मे प्राधान्य रहता है, यह ठोस शरीर की आत्मा को उस गुण के अधिक्य से युक्त कर देता है।

अपरवर्तित वनी रहकर अपने व्यक्तित्व को अक्षुण्ण बनाये रखती हैं।[1] किन्तु प्रत्येक भिन्न आत्मा या पुरुष सृष्टि के कार्य का, बिना उसमें भाग लिये दर्शक या साक्षी है। यह केवल एक द्रष्टा है, और यह (पुरुष) सृष्टि की रचना को दर्शनार्थ तथा चिन्तन के लिये, जिसे प्रकृति स्वयं नही देख सकती, उसी प्रकार प्रकृति से संयुक्त करता है, जिस प्रकार एक लंगड़ा व्यक्ति अन्धे व्यक्ति के कन्धे पर चढ़ता है। साख्य कारिका (१९) मे कहा गया है:

"यह पुरुष साक्षी है, केवल, मध्यस्थ, द्रष्टा तथा अकर्त्ता है। प्रधान के दर्शन के लिये पंगु और अन्धे के समान दोनो का संयोग होता है जिससे सृष्टि होती है।"

यह प्रतीत होता है कि प्रकृति की सभी क्रियायें आत्मा के उपकार के लिये होती हैं जो इन उपकारों को उदासीन होकर ग्रहण करता है। इस प्रकार सांख्यकारिका ५९ ६० मे निम्न कथन है:

"जेसे नर्तकी रङ्गशाला के दर्शक के सम्मुख नृत्य दिखाकर फिर नृत्य के लिए नही आती उसी प्रकार प्रकृति पुरुष के समक्ष अपने को प्रकट कर देने के वाद फिर प्रवृत्त नही होती। गुणवती एवं उपकारिणी प्रकृति अनेक उपायो द्वारा इस पुरुप का कार्य-सावन करती है, जो निर्गुण (अगुण) तथा प्रत्युपकार-विहीन है।"

वस्तुतः, कभी-कभी प्रकृति की स्वयं को पुरुष की दृष्टि के समक्ष प्रदर्शित करने की प्रवृत्ति की भर्त्सना की जाती है, जो उसके दर्शन मे कोई रुचि नही रखता। योरोपीय मस्तिप्क के लिये ये वाते कुछ मिथ्या, अस्पष्ट एवं अव्यवहार्य प्रतीत होगी। इस पर कोई सन्देह नही कर सकता कि साख्य की आत्माविषयक विचारदृष्टि न्याय के विचार से अवरकोटि की है, जो इसे मन से संयुक्त कर, क्रिया, प्रयत्न, बुद्धि तथा सुख-दुख के अनुभव से युक्त करता है (देखिए पृ० ८५)। स्पष्ट है कि सभी सत् वस्तुओ के विषय मे इसके सिद्धान्त प्राच्य नैयायिकों के सिद्धान्तों से भी अधिक अनीश्वरवादी है। कारण, यदि

---

[1] जीवात्माओ या व्यक्तिगत पुरुपो का पृथक् नित्य अस्तित्व ही एक ऐसी महान् विशेषता है जो न्याय एवं साख्य को वेदान्त से पृथक और आत्मा का अद्वैत स्वीकार करती है। तथापि यह प्रतीत होगा कि सांख्य तथा न्याय दोनो मे ही प्रत्येक आत्मा को सर्वत्र व्यापक मानना चाहिए, क्योंकि जब तक आत्मा सर्वव्यापक नहीं होगी तव तक वह नित्य हो ही नही सकती। हिन्दुओ का मत है कि जिस वस्तु के खण्ड हो सकते है वह नित्य नही हो सकती; और अपरिमित (आत्मा) तथा अतिसूक्ष्म (परमाणुओ) के अतिरिक्त सभी वस्तुओं के अंश होते हैं।

कारणभूत प्रकृति द्वारा उत्पन्न की गई सृष्टि का, उस विशिष्ट पुरुष के, जिससे वह संयुक्त होती है, सभी सम्बन्धों से स्वतन्त्र अस्तित्व है, तो जगत् के किसी बुद्धिमान् स्रष्टा या किसी अधिष्ठात्री शक्ति की भी आवश्यकता नही होगी।[1]

यहाँ पर कपिल के दो तीन सूत्र दिये जाते हैं जो उनके विरुद्ध अनीश्वर-वाद के दोष का खण्डन करते हैं। एक आपत्ति की जाती है कि उनकी कुछ परिभाषाएँ एक परम ईश्वर की स्वीकृत स्थिति के साथ मेल नही खाती। इसका उत्तर वे ९२ वं तथा आगे के सूत्रों में इस प्रकार देते हैं—

"(वे विरुद्ध नही है) कारण, ईश्वर की सत्ता असिद्ध है (ईश्वरासिद्धेः)। यतः वह न तो (इच्छाओ एवं चिन्ताओं) से युक्त हो सकता है और न किसी प्रकार के दु ख से वद्ध हो सकता है, अतः उसके अस्तित्व का कोई प्रमाण नही हो सकता। इन दोनो अवस्थाओ मे वह किसी प्रकार की सृष्टि करने मे असमर्थ होता है (अर्थात्, यदि वह चिन्ताओ से मुक्त होता तो उसे सृष्टि करने की इच्छा नही होती और यदि वह किसी प्रकार की इच्छाओं से बद्ध होता तो वह बन्धन मे होता और इस कारण उसके पास शक्ति का अभाव होता)।"

साख्यकारिका ६१ का गौडपाद भाष्य यहाँ उद्धृत किया जा सकता है।

साख्य के आचार्य कहते है—'तीन गुणो से युक्त पदार्थ उस ईश्वर से कैसे उत्पन्न हो सकते है जो गुणरहित है ? अथवा वे पुरुप से कैसे उत्पन्न हो सकते है जो गुणरहित है ? इसलिये उनकी उत्पत्ति प्रकृति से ही होनी चाहिए। इस प्रकार श्वेत तन्तुओ से श्वेतवस्त्र ही बनता है, कृष्ण तन्तुओ से कृष्णवर्ण वस्त्र ही बनता है और इसी प्रकार त्रिगुणात्मिका प्रकृति से त्रिगुणात्मक तीन संसार उत्पन्न होते हैं। ईश्वर गुणो से विहीन है। गुणात्मक तीनो ससार की उससे उत्पत्ति एक विरुद्ध बात होगी।'

पुन. पुरुष या आत्मा के विषय मे कपिल के ९६ वे सूक्त मे कहा गया है—

"पुरुष का (प्रकृति के ऊपर) अधिष्ठाता जैसा प्रभाव है, जो उसके संयोग से उत्पन्न होता है जैसे चुम्बक (लोहे को अपनी ओर खीचता है)। तात्पर्य यह कि प्रकृति से पुरुप का सम्पर्क प्रकृति को उत्पत्ति की अवस्थाओ मे परिवर्तित होने को वाध्य करता है। दोनो मे इस प्रकार के आकर्पण से सृष्टि की उत्पत्ति होती है किन्तु इसके अतिरिक्त पुरुप सृष्टि का कर्त्ता या उससे किसी भी प्रकार सम्बद्ध नही है।"[2]

---

[1] मेरी धारण है कि इसी कारण पाण्डुलिपियो की एक सूची में, जिसका सम्पादन राजेन्द्रलाल मित्र ने किया है, सांख्य को पदार्थवादी (Hylotheistic) दशन कहा गया है।

[2] कपिल के ५८ वें सूत्र में, जिसे डॉ० वैलेण्टाइन ने उद्धृत किया है,

इन अनीश्वरवादी प्रवृत्तियों के वावजूद भी, सांख्य वेद मे विश्वास प्रकट कर शास्त्रविपरीतता के दोप से वच निकलता है। सूत्र ९८ के अनुसार—

'वेद की वाणी के अर्थ का प्रतिपादन एक प्रमाण है, क्योकि ऋषि सुस्थापित तत्व के द्रष्टा थे।'

यह द्रष्टव्य है कि कुछ सांख्यमतावलम्वी परमात्मा[1] का अस्तित्व स्वीकार करते है जिसे हिरण्यगर्भ कहते हैं; तथा एक सामान्य मन.कल्पित स्थूल जगत् का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, जिससे वह परमात्मा सम्बद्ध होता है और जिसमे वह सभी निम्न आत्माओं की लघुकृतियो को एकत्र करता है। यह भी नही कहा जा सकता कि शुद्ध साख्य एक परमात्मा के अस्तित्व को इतना स्पष्ट अस्वीकार करता है कि उसकी अपेक्षा की जाय जिसे इस मत के स्थापक ने तर्कसंगत प्रदर्शन के अयोग्य माना। तथापि, चूँकि मूल, जगदुत्पादक प्रकृति केवल द्रष्टा अर्थात् पुरुष के लिये सृष्टि की रचना करती है यह व्यवहारता इस तथ्य को स्वीकार करने के तुल्य है कि प्रकृति के पुरुष के साथ संयोग हुआ विना सृष्टि सम्पन्न नही हो सकती। कपिल का अपना मत यह था कि यद्यपि पुरुष ने स्वयं रचना नही की, तथापि प्रत्येक पुरुप की अपनी सृष्टि थी और अपना रचित जगत, जो उसके अपने अस्तित्व मे ही सिद्ध था।[2] यह आसानी से माना जा सकता है कि पुरुष तथा प्रकृति के इस सयोग की तुलना शीघ्र ही पुरुप तथा स्त्री के सम्बन्ध से की जाने लगी और यह अनुमान किया जा सकता है कि पुरुप तथा स्त्री तत्त्व के संयोग से संसार की उत्पत्ति की कल्पना, जिसे शिव के अर्धनारी रूप का प्रतीक दिया गया तथा जो भारत के सम्पूर्ण परवर्ती पुराकथाशास्त्र के मूल मे निहित है, मुख्यतः सांख्य दर्शन से ग्रहण की गई थी।

यह कहा गया है कि प्रकृति के संयोग से उत्पन्न पुरुष का वन्धन केवल नाम मात्र का है, वास्तविक नही, क्योकि यह केवल चित्र मे रहता है स्वयं आत्मा या पुरुप मे नही ('वाङ्मात्रं न तु तत्त्वं चित्त स्थितेः)। देखिए, 'म्यूलेन्स, एसेज़' पृ० १८३।

[1] अथवा, प्रोफेसर ई० वी० कोवेल के अनुसार, 'अस्तित्व का मूर्तिमान आकार', एलफिन्स्टन्स इण्डिया, पृ० १२६ टिप्पणी।

[2] वहुत कुछ वेर्कले (Berkeley) के समान ही है; जिसका मत था कि 'अभाव' ('विदाउट') अस्तित्व के अन्तर्गत ही था, यद्यपि वह अन्य मनों एवं इच्छाओं द्वारा उत्पन्न किये गये वाह्य पदार्थों के अस्तित्व मे विश्वास रखता था।

निःसन्देह यह आशा नही की जा सकती थी कि बहुसंख्यक अशिक्षित समाज किसी ऐसे आत्मतत्त्व सम्बन्धी रहस्यवाद को समझ सकेगा जो उन्हे सुबोधगम्य भाषा मे न समझाया गया हो। उन्हे किस प्रकार एक मूल नित्य शक्ति का बोध हो सकता था जिसे यद्यपि उदासीन, निष्क्रिय, निर्गुण, और मात्र निर्लिप्त द्रष्टा के रूप मे वर्णित तथापि व्यक्तिगत स्रष्टा से निकट रूप में सम्बद्ध, एवं अपने अहंकार के मोह से युक्त पुरुष के लिये एक दृश्य जगत् की रचना हेतु अपने भीतर से तेईस अन्य तत्त्वो को उत्पन्न करने वाला कहा गया है ? किन्तु माता तथा पिता के समान प्रकृति तथा पुरुष से उत्पन्न होनेवाली सृष्टि का बोध वे प्राप्त कर सकते थे। वस्तुतः शक्तिरूप माने जानेवाले स्त्री तत्त्व तथा पुरुष तत्त्व का संयोग हिन्दुओं के सृष्ट्युत्पत्ति सिद्धान्तो मे बहुत प्राचीन है। जैसा हम देख चुके है, ऋग्वेद तथा ब्राह्मणो मे पृथ्वी और आकाश के कल्पित सयोग के अनेक उल्लेख है जिन्होने संयुक्त होकर मनुष्यों, देवताओ एवं सभी प्राणियो को उत्पन्न किया।[1]

अपरञ्च, बौद्धधर्म, जिसने हिन्दुओं के अनेक प्रचलित दार्शनिक विचारों को छठी शताब्दी ई० पू० मे ही प्रस्तुत किया था, किसी भी अन्य मत की अपेक्षा साख्य दर्शन से अधिक साम्य रखता है।

यद्यपि मनु का सृष्ट्युत्पत्ति सिद्धान्त कई सिद्धान्तो का मिश्रण है तथापि जैसा हम आगे देखेंगे, वह भी सृष्टि के उद्भव का एक ऐसा क्रम उपस्थित करता है जो सांख्य के सिद्धान्त से अत्यधिक साम्य रखता है।

पुनः, साख्य-सिद्धान्तो की प्राचीनता एव प्रधानता विशाल भारतीय महाकाव्य, महाभारत, मे आये उल्लेखो से सिद्ध होती है;[2] तथा उनके कम से कम ईसा की प्रथम शताब्दी तक प्रचलित बने रहने का प्रमाण भी इस तथ्य से मिलता है कि प्रसिद्ध दार्शनिक काव्य, भगवद्गीता, साख्य तथा वेदान्तीय मतो मे समन्वय करने का प्रयत्न करता है।[3]

---

[1] देखिए म्यूर के टेक्स्ट्स भाग ५. पृ० २२. २३

[2] सभापर्व (म्यूर, भाग ४, पृ० १७३) मे कृष्ण को अव्यक्ता प्रकृति तथा नित्य कर्ता ('एष प्रकृतिरव्यक्ता कर्ता चैव सनातन.') कहा गया है। इसके विपरीत वनपर्व (१६२२ इत्यादि म्यूर, भाग ४. पृ० १९५) में भगवान् शिव को संसार के कारणो का कारण ('लोक-कारण-कारणम्') और इस कारण प्रधान तथा पुरुष से बढकर एवं पूर्वस्थित बताया गया है। पुनः शान्तिपर्व १२७२५, १२७३७, १३०४१ मे ब्रह्मा के पुत्रो को प्रकृतयः कहा गया है।

[3] देखिए व्याख्यान ७ में सर्वांशग्राही सम्प्रदाय एवं भगवद्गीता।

तथापि, सम्भवतः भारत में साख्य मतो का प्राधान्य सम्यक् रूपेण परवर्ती सृष्ट्युत्पत्तिसिद्धान्तों एवं पुराकथाशास्त्र से प्रकट होता है। प्रचलित हिन्दूधर्म के कोष, पुराणो तथा तन्त्रो मे, प्रकृति, जगत् की वास्तविक माता वन जाती है। यह सत्य है कि कतिपय पुराणो मे स्थान-स्थान पर साख्य सिद्धान्तों का अस्पप्ट एवं विकृत वर्णन है। उदाहरणार्थ विष्णुपुराण १. २, २२ में निम्न वर्णन है—

"उस समय न दिन था न रात्रि थी; न आकाश था और न पृथ्वी थी; न अन्धकार था, न प्रकाश था; और न इनके अतिरिक्त कुछ और ही था। केवल, एक प्रधान ब्रह्म पुरुष ही था (प्रधानिक।"[1] इसके आगे—"महत् से प्रारम्भ करके-तत्त्व या पदार्थो ने, पुरुष द्वारा अधिष्ठित होकर प्रधान के अनुग्रह से एक अण्ड उत्पन्न किया, जो ब्रह्मारूप विष्णु का आधार हुआ।"

किन्तु सामान्यत. परवर्ती पुराकथाशास्त्र मे, विशेषतः जो तन्त्रो में उपलब्ध होता है उसमे, प्रकृति का साख्य-सिद्धान्त चेतनगुणारोपित स्त्री मूर्तियों का स्वरूप धारण करता है, जिन्हे उन प्रमुख पुरुष देवताओ की पत्नियाँ या सृजनात्मक स्त्री-शक्तियाँ माना गया है जिनको, दूसरी ओर, परमात्मा या परमपुरुष के अर्थ मे कभी-कभी पुरुष नाम दिया जाता है।[2] यह वात विशेषतः शक्ति या शिव की स्त्री, शक्ति, के विषय में पाई जाती है, जिसकी पूजा विशाल समुदाय यथार्थ 'जगदम्बा' या 'संसार की माता' के रूप मे करता करता है।

साख्य की प्राचीन लोकप्रियता तथा परवर्ती पुराकथाशास्त्र पर इसके प्रभाव के प्रमाण हमे यह समझने मे सहायता प्रदान कर सकते हैं कि यद्यपि वर्तमान समय मे अपेक्षाकृत भारत के पण्डितो में सांख्य के विद्यार्थी कम हैं तथापि सर्वत्र यह उक्ति प्रचलित है (जो 'महाभारत' शान्तिपर्व ११६७६ मे मिल सकता है) : 'नास्ति साख्य-समं ज्ञानं नास्ति योग-समं वलम्'—साख्य के समान कोई ज्ञान नही और योग के समान कोई वल नही।

योग

योग, जिसे सामान्यतः साख्य की एक शाखा माना जाता है, दर्शन का मत कहे जाने की योग्यता नही रखता, यद्यपि स्वभावतः ध्यानशील तथा तपस्वी हिन्दू के लिए यह नि सन्देह आकर्षक है, तथा ईश्वर या परमसत्ता का

[1] इस पुस्तक के पृ० २३ पर अनूदित ऋगवेद के सूक्त से तुलना कीजिए।

[2] विष्णु या कृष्ण को पुरुपोत्तम कहते हैं और पुरुप नाम समान रूप से ब्रह्मा तथा शिव के लिये भी प्रयुक्त होता है।

स्पष्टन: अस्तित्व स्वीकार कर यह विशुद्ध साख्य की अपेक्षा अधिक शास्त्रानुगामित्व का प्रदर्शन करता है।[1] तत्त्वत, योग का लक्ष्य उन उपायो की शिक्षा देना है जिनके द्वारा मानवीय आत्मा परमात्मा में पूर्ण लय प्राप्त कर सकता है। जीवात्मा का विश्वात्मा के साथ यह लय सशरीर ही सिद्ध हो सकता है। इस मत के स्थापक पतञ्जलि के अनुसार स्वयं योग शब्द का अर्थ 'एकचित्त ध्यान में मन को लगाना या केन्द्रित करना है' और इसकी सिद्धि 'चित्त' या विचारशील तत्व के विकारों के निपेध द्वारा [जो विकार तीन प्रमाणों—प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द प्रमाण, तथा मिथ्या बुद्धि—आभास, निद्रा तथा अनुस्मृति से उत्पन्न होते है], चित्त को अविकृत अवस्था—ऐसी अवस्था जो अन्य पदार्थों के सम्पर्क से रंग युक्त न हुए स्फटिक के समान निर्मल है—मे बनाये रखने के निरन्तर 'अभ्यास' द्वारा, तथा वैराग्य किंवा इन्द्रियो के पूर्ण संयम द्वारा होती है। वैराग्य की प्राप्ति केवल ईश्वर प्रणिधान या उस परमसत्ता के ध्यान द्वारा हो सकती है जिसे कर्म, दु खों इत्यादि से अप्रभावित, एवं प्रणव या ॐ नामधारी एक विशिष्ट पुरुष या आत्मतत्त्व कहा गया है। इस एकाक्षरसम के जप को अद्भुत फलो से युक्त बताया गया है तथा इसके अर्थ[2] का ध्यान करते हुए इसका उच्चारण परमतत्व के ज्ञान मे सहायाक एवं योग के सभी विघ्नो को दूर करनेवाला कहा गया है। चित्त को केन्द्रित करने के आठ साधन है—१ 'यम' अर्थात् नियन्त्रण; २. 'नियम' अर्थात् धार्मिक आचार; ३ आसन;[3] ४. 'प्राणायाम' या श्वास को रोकना या विशेष रूप मे श्वास लेना; ५. 'प्रत्याहार' इन्द्रियो का नियन्त्रण; ६. धारण, अर्थात् मन को स्थिर करना; ७. 'ध्यान' या चिन्तन; ८. 'समाधि' या पूर्ण अभिध्यान या धार्मिक मूर्च्छना जिसकी प्राप्ति भगवद्गीता

---

[1] योग का प्रतिपादन पतञ्जलि ने (जिनके विषय में इसके अतिरिक्त अधिक ज्ञात नही कि वह कदाचित् वही व्यक्ति नही थे जिन्होने महाभाष्य की रचना की) योगसूत्र नाम के सूत्रो मे किया है जो चार अध्यायो मे विभक्त एक ग्रन्थ है। इन अध्यायो से दो का, भोजराज या भोजदेव के भाष्य के कुछ अंशो के साथ अनुवाद डॉ० बैलेन्टाइन ने किया था। अन्य भाष्यकार हैं वाचस्पतिमिश्र, विज्ञानभिक्षु तथा नागोजि-भट्ट।

[2] ॐ तीन वर्णों से बना माना जाता है। अ, उ, म्, जिससे मिलकर यह सर्वाधिक पवित्र एकाक्षर बनता है, देवताओ की त्रिमूर्ति ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के रूप मे विकसित होने वाली परम सत्ता का अर्थ देते हैं।

[3] इन आसनो मे एक का नाम 'पर्यङ्क-बन्धन' अथवा 'पर्यङ्कग्रन्थि' है और घुटनो एवं पीठ के चारों ओर एक वस्त्र बाँधकर जघे पर बैठकर किया जाता है। 'मृच्छकटिक' की प्रथमपंक्ति देखें।

(६, १३) के अनुसार नासिकाग्र पर एकटक तथा निरन्तर नेत्रो से देखने जैसी क्रियाओ से नितान्त सफलतापूर्वक की जा सकती है।[1] वस्तुतः योग का दर्शन सभी बुद्धि से छुटकारा पाने या कम से कम मन को नितान्त उग्रता से केन्द्रित करने का साधन मात्र है। परन्तु यह केन्द्रीकरण किसी विशिष्ट वस्तु पर नही होता। यह अप्राकृतिक नियन्त्रण बलात् किये गये 'तथा कष्टदायी आसनों, अंगों की तोड़-मरोड, श्वास को रोकने एवं मस्तिष्क के पूर्ण अभाव से युक्त मानसिक तथा शारीरिक अभ्यासो का मिश्रण है। किन्तु यद्यपि पतञ्जलि का योग इस प्रकार के उपायो द्वारा विश्वात्मा के साथ लयप्राप्ति का प्रतिपादन करता है, तथापि यह ध्यानार्ह है कि इससे भी अधिक कठोर तपश्चर्या तथा स्वनियोजित शारीरिक क्लेश भी योग मत के साथ युक्त किये गये हैं। सभी हिन्दू भक्त एवं संन्यासी, विशेषत; वे जो शैव मत के अंग होने से प्रलयंकर देवता शिव का परमात्मा से तादात्म्य स्थापित करते हैं, सामान्यतः योगी कहे जाते हैं और नि.सन्देह जहाँ तक उनकी तपश्चर्याओ का पूर्वनिश्चित लक्ष्य परमात्मा के साथ संयोग है, उचित रूप मे इस नाम से पुकारे जाते है।[2]

भारत मे इस प्रकार के योगियो द्वारा अभ्यस्त तपस्याओ की विविधता एवं उग्रता यदि पर्याप्त रूप से विश्वस्त प्रमाणो से पुष्ट न होती तो हमारे विश्वास के बाहर की वस्तु होती। कुछ उदाहरणो को यहाँ देना असंगत न होगा, या कम से इस दृष्टि से ज्ञानप्रद होगा कि यह एक रोचक ज्ञान-क्षेत्र का उद्घाटन करता है—प्रथम, यह कैसे सम्भव होता है कि एक मिथ्या दर्शन मे निष्ठा पर्याप्त शक्ति के साथ एक हिन्दू को प्रभावित कर उसे स्वेच्छा-पूर्वक प्रायः अविश्वसनीय नियन्त्रणों, इन्द्रियदमन एव शारीरिक क्लेशों को स्वीकार करने को बाध्य कर सकती है ? दूसरे, यह कैसे संभव होता है कि एक बाह्यतः दुर्बल एवं कृश एशियावासी इतनी शारीरिक सहनशक्ति प्रदर्शित करता है जितनी एक योरोपीय के लिये असम्भव है, जब कि एक के साथ जल-वायु एवं भोजन दुर्बल बनाते है और दूसरे को बल प्रदान करते हैं ?

शकुन्तला (अङ्क ७, श्लो० १७५) मे योग मे लीन एक तपस्वी का वर्णन है, जिसकी समाधि की अवस्था एवं अटल संवेदनहीनता इतने दीर्घकाल तक बनी रही कि चींटियो ने बिना बाधा के उसके कटि तक वल्मीक तथा पक्षियो ने उसकी जटाओ के गह्वरो मे घोसले बना लिये थे। इसे

[1] इस ग्रन्थ मे आगे दिया गया भगवद्गीता का वर्णन देखिए।

[2] फकीर या फकीर शब्द, जिसका प्रयोग कभी-कभी हिन्दू भक्तो के लिये होता है, मुसलमानो तक ही सीमित होना चाहिए। यह एक अरबी शब्द है जिसका अर्थ है 'दरिद्र', 'तुच्छ'।

केवल कवि की कल्पना की उडान समझा जा सकता है किन्तु एक मुसलमान यात्री ने, जिसके वर्णन को श्री मिल ने (ब्रिटिश इण्डिया, १. ३५५) उद्धृत किया है, एक बार भारत मे वास्तव मे एक मनुष्य को अपना मुख सूर्य की ओर करके निश्चल खडे देखा। वह यात्री जब उसी स्थान पर दूसरी बार सोलह वर्ष बाद आया तो उसने उसी व्यक्ति को ठीक उसी आसन मे पाया । ऐसे व्यक्ति सूर्यमण्डल पर उस समय तक एक दृष्टि देखते रहते हैं जब तक उनके नेत्र का प्रकाश समाप्त नही हो जाता है। यह एक विशिष्ट प्रकार की तपस्या के समान है जिसका वर्णन मनु ६.२३ मे किया गया है। इसी स्थान पर पञ्चतपो का भी वर्णन किया गया है: एक योगी तीन सर्वाधिक उष्ण मासो (अप्रेल, मई तथा जून) मे चार दिशाओं मे चार प्रज्ज्वलित अग्नि रखकर बीच मे बैठता है और सिरपर तपता हुआ सूर्य पाँचवी अग्नि होता है। वस्तुत अधिक दिन नही हुए एक योगी इस प्रकार एक चतुष्कोण वेदि के ऊपर चार अग्नि स्थापित कर बीच मे बैठा हुआ देखा गया था (मिल की इण्डिया १.३५३)। वह एक पैर पर खड़ा होकर सूर्य की ओर निर्निमेष देख रहा था और उसके चारों ओर ये अग्नियाँ जलाई गई थी। तब सिर के बल खड़ा होकर अपने पैर ऊपर करके वह इस आसन मे तीन घटे तक रहा। इसके उपरान्त पैरो को एक दूसरे के अन्दर डालकर वह बैठ गया और सूर्य के प्रचण्ड ताप को अपने सिर पर एवं अपने चारो ओर की अग्नियो को दिनसमाप्ति तक सहन करता रहा। समय-समय पर वह अपने ही हाथो से अग्नि की लपट तेज करने के लिये ईंधन जोड़ता जाता था।

पुन. १८२९ ई० के मार्च के 'एशियाटिक मन्थली जर्नल मे एक ऐसे ब्राह्मण का वर्णन दिया गया है जो एक छोटी तिपाई, एक खोखले बाँस, और एक प्रकार की बैसाखी के अतिरिक्त किसी अन्य साधन का प्रयोग न कर अपने को आकाश मे पृथ्वी से लगभग चार-पाँच फुट ऊपर चालीस मिनट तक साधे रहा। यह घटना मद्रास के गवर्नर के समक्ष हुई। हिन्दू साधुओ द्वारा की जानेवाली तपश्चर्याओ के विविध रूपो की भी कोई सीमा नही प्रतीत होती। हम ऐसे व्यक्तियो के विषय मे पढ़ते है जो जल के भीतर इतने दीर्घ समय तक रहने की शक्ति प्राप्त करते है कि विश्वास नही होता; कुछ कण्ठ तक या ऊपर केवल साँस लेने के लिए एक छोटा छिद्र छोडकर पृथ्वी के भीतर अपने को गाड़ देते हैं; कुछ अपनी मुट्ठी वर्षों तक बाँधे रहते हैं, यहाँ तक कि नाखून उनके हाथ के पीछे निकल आते हैं; कुछ एक या दोनो हाथ ऊपर उठाये रहते हैं, और अचल रूप से उस आसन मे जड़वत हो जाते हैं तथा उनका अस्थिमात्र

बच जाता है; कुछ अपना शरीर हजारों मील तक लुढकाते हुए किसी तीर्थ स्थान को जाते हैं; और कुछ लोग लोहे की कीलो की शय्या पर लेटते हैं : बनारस में एक ऐसा व्यक्ति देखा गया था (एशियाटिक रिसर्चेज', भाग ५ पृ० ४९ मे वर्णित) जिसके विषय में बताया जाता था कि वह इस प्रकार की शय्या पर पैंतीस वर्ष से सोता आ रहा था; कुछ लोग वर्षों तक अपने को वृक्ष मे बाँधे रहते हैं; कुछ दूसरे लोहे के पिंजड़ो मे भारी जंजीरो मे बँधकर अपना जीवन बितानेवाले बताये गये है। अन्ततः जितने दिन तक कुछ भारतीय तपस्वी उपवास कर सकते है वह उससे कई गुना है जितना योरोप मे कभी सुनने मे आया होगा, जैसा कि मनु द्वारा (६.२०; ११.२१६—२२०) दिये गये चान्द्रायण व्रत के नियमो के उल्लेख से समझा जा सकता है। यह व्रत एक प्रकार का उपवास है जिसमे चन्द्रमा के घटने के पक्ष मे .भोजन को प्रतिदिन एक-एक कौर कम करते जाते है और पूर्णिमा के दिन पन्द्रह कौर से प्रारम्भ कर प्रतिपदा को यह परिमाण शून्य पर आ जाता है; फिर इसी ढंग से चन्द्रमा की वृद्धिवाले पक्ष मे वढ़ाते जाते है।

निःसन्देह इन सभी क्लेशो की व्याख्या उनके असाधारण पवित्रता एवं पारलौकिक शक्ति की काल्पनिक प्राप्ति से सम्बन्ध दिखाकर की जा सकती है।

योग विषय के निष्कर्ष के रूप मे मै प्रोफेसर बनर्जी ('डायलाग्स' पृ० ६९, ७०) का एक अनुच्छेद उद्धृत करता हूँ :

"योगी अपने चारो ओर होनेवाली बातो को देख या सुन नही सकता—वह वाह्यप्रभावो के प्रति जड़ हो सकता है, किन्तु वह ऐसी वस्तुओं का अन्तर्ज्ञान रखता है जिन्हे उसके आस-पास के लोग देख या सुन नही सकते। वह अपने योग से इतना तरणशील, वल्कि ऊर्ध्वगत हो जाता है कि आकर्षणशक्ति उस पर कोई प्रभाव नही डालती। वह आकाश मे इस प्रकार उठ या चल सकता है मानो किसी गुब्बारे से लटका हुआ हो। वह अपने अन्तर्ज्ञान से नक्षत्रविद्या एवं शल्यक्रिया विज्ञान की, तथा भिन्न-भिन्न लोको मे पाई जानेवाली सभी वस्तुओं की जानकारी प्राप्त कर सकता है। वह पूर्वजन्म की घटना को स्मरण कर सकता है। वह पशुओ की भी भाषा समझ सकता है। वह भूत एवं भविष्यत् मे अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर सकता है। वह दूसरो के विचारो को जान सकता है, अपनी इच्छा से लुप्त हो सकता है, और यदि चाहे तो अपने पड़ोसी के शरीर मे प्रवेश कर उसके जीवित चर्म पर अधिकार प्राप्त कर सकता है।

इन तथा हिन्दू दर्शन के अन्य सिद्धान्तों से हमे यह स्मरण होता है कि

मानव मन 'इक्लेजिआस्ट्स' १ ९ मे व्यक्त भावना के अनुसार, अपनी ही आवृत्ति करता है :

'जिस वस्तु का अस्तित्व होता आया है, उसी वस्तु का अस्तित्व भविष्य मे भी बना रहेगा; जो कुछ किया गया है, वह भविष्य मे भी किया जायगा; सूर्य के नीचे कोई भी वस्तु नई नही है।' नि सन्देह जो भी मर्यादारहित विचार इस समय प्रचलित हैं, यदि उनका स्रोत नही तो उनके समान विचार पूर्व में मिलते हैं। स्वनियोजित अन्धविश्वासपूर्ण नियन्त्रणो एवं क्लेशो का अभ्यास करनेवाले, पाशविक आकर्पणशक्ति, दिव्य दृष्टि, एव तथाकथित आध्यात्मवाद के साधको के विपय मे तो कहना ही नहीं, हम यह पायेंगे कि उनके बहुत से सिद्धान्त योग मत के समान सिद्धान्तो मे या तो अभिव्यक्त है या उनसे बहुत पिछड़े हुए हैं। इनका अविष्कार हिन्दुओ ने २००० वर्षों से भी बहुत पहले किया था और अल्पाधिक अश मे वर्त्तमान काल मे भी उनमे विश्वास रखते हुए उनका यत्नपूर्वक अभ्यास करते है।

पूर्व-मीमांसा एवं वेदान्त

हमारा अगला विषय है जैमिनि[1] का मीमासा जिसे कभी-कभी वेदान्त से सम्बद्ध करते हैं। वेदान्त 'को उत्तरमीमासा या ब्रह्म-मीमांसा भी कहते है क्योकि यह उपनिषदो या वेद के अन्तिम भाग पर आधृति है—जबकि जैमिनि के मत को पूर्वमीमासा या कर्ममीमासा कहते है क्योकि यह केवल मन्त्रो एवं ब्राह्मणो से सम्बद्ध है। तथापि, इन दोनो मतों का एक दूसरे से विभेद प्रदर्शित करने के लिए एक को मीमासा तथा दूसरे को वेदान्त नाम से पुकारना अधिक प्रचलित है। तत्त्वत., योग के समान जैमिनि के मत को भी सटीक रूप से किसी दूसरे मत की शाखा नही कहा जा सकता क्योकि सच्चे अर्थ मे यह एक दर्शन का मत नही है अपितु कर्मकाण्ड का सम्प्रदाय है। अन्य मतो के समान यह आत्मा, मन एव द्रव्य विषयो के अन्वेषण से सम्बन्ध नही रखता अपितु वेद के कर्मकाण्ड या विधि की दोषरहित व्याख्या, तथा विरोधी शाखाओ की भ्रमपूर्ण व्याख्याओ से उत्पन्न वेदमन्त्र-विषयक शङ्काओ एव असंगत उक्तियो के समाधान का ध्येय रखता है। दर्शन कहे जाने की इसकी एक मात्र योग्यता इसकी व्याख्या-शैली है, जिसमे विषयो को विशिष्ट श्रेणियो (यथा प्रामाण्य, अप्रत्यक्ष उपदेश इत्यादि) मे विभक्त किया गया है; तथा उनका विवेचन एक प्रकार की तार्किक पद्धति मे किया गया है जो विवादविषय की प्रतिज्ञा से प्रारम्भ करके, उसके विषय मे उठनेवाली शङ्काए पूर्वपक्ष या भ्रान्तधारणा तथा प्रश्न पर दोषपूर्ण मत, उत्तरपक्ष या दोषपूर्ण,

---

[1] जैसा प्रचलित था, जैमिनि ने अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन सूत्रो मे किया। उनका ग्रन्थ 'मीमासमूत्र' या 'जैमिनि-मूत्र' बारह अध्यायो मे है। इसका अशत अनुवाद एव सम्पादन डॉ वैलेण्टाइन ने किया है। शबर-स्वामी ने इस पर एक भाष्य लिखा था जो विब्लिओथेका इण्डिका मे प्रकाशित हो रहा है, और पुनः, इस पर प्रसिद्ध मीमासा आचार्य कुमारिल ने (जिन्हे कुमारिलभट्ट, कुमारिल-स्वामी भी कहते है) भाष्य लिखा, जिनकी कृति का अनुसरण अनेक टीकाओ एवं ग्रन्थो ने किया है। इस मत की एक विस्तृत व्याख्या है 'जैमिनीय-न्यायमालाविस्तर' जिसे मध्वाचार्य ने लिखा है। जैमिनि एक विद्वान ब्राह्मण अवश्य रहे होगे परन्तु उनके स्थितिकाल के विषय मे कुछ भी ज्ञान नहीं है।

मत का खण्डन, तथा निष्कर्ष पर पहुँचती है। इस सम्पूर्ण मत का मुख्य विन्यास कर्मकाण्डवाद को एक देवता बनाता प्रतीत होता है। अतएव इसमे ब्राह्मणों पर या मन्त्रो के सन्दर्भ मे वेद के याज्ञिक भाग पर मुख्यतः आलोचनात्मक भाष्य है, तथा इसके दिये हुए अर्थ स्पष्ट शाब्दिक अर्थ ही हैं, उनके भीतर किसी कल्पित गूढ़ तात्पर्य का प्रतिपादन नही हुआ है जैसा कि उपनिषदो एवं वेदान्त मे है। सच कहा जाय तो जैमिनि हेतुवाद तथा ईश्वरवाद दोनो के विरोधी हैं। ऐसी बात नही कि उन्होने ईश्वर की सत्ता अस्वीकृत की किन्तु उनकी शिक्षा की वास्तविक प्रवृत्ति तर्क या ईश्वर का कोई समर्थन या प्रामाण्य देने की नही है। वेद ही सब कुछ था। परमात्मा का अस्तित्व हो हो सकता है किन्तु इस मत के लिये आवश्यक नही है। जैमिनि का कथन था कि वेद स्वय ही प्रमाण हैं। इनको प्रमाणित करनेवाले की आवश्यकता नही। उनका प्रथम सूत्र उनके मत के सम्पूर्ण लक्ष्य तथा प्रयोजन का उल्लेख करता है, वह है धर्म को जानने की इच्छा (धर्मजिज्ञासा)। विस्तार से इसे इस प्रकार कहा जा सकता है—

"शिष्य ! यह जान लो कि एक गुरु से वेद का अध्ययन करके तुम्हे धर्म की जिज्ञासा रखनी चाहिए।"

पाचवां सूत्र शब्द तथा अर्थ के बीच एक मौलिक तथा नियत सम्बन्ध के विचित्र सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है—

"शब्द का अपने अर्थ के साथ सम्बन्ध दोनों की उत्पत्ति के समकालीन है। इस सम्बन्ध के परिणामस्वरूप वेद के शब्द धर्म के ज्ञान के लिये अमोघ उपदेश देते हैं।"

किन्तु यह समझ लेना चाहिए कि वेद द्वारा आदिष्ट क्रियाओ का सम्पादन ही धर्म है, क्योकि उनका इस प्रकार आदेश किसी व्यक्तिगत देवता की इच्छा या स्वीकृति का उल्लेख किये बिना ही दिया गया है। कारण धर्म स्वयं ही पुण्य फल देने वाला है। तथापि, कतिपय आधुनिक मीमासको का मत है कि धर्म का आचरण परमात्मा की पूजा के रूप मे करना चाहिए और इसका इस प्रकार अनुष्ठान होना चाहिए कि यह मोक्षप्राप्ति का साधन बन सके। इस विचार के समर्थन मे भगवद्गीता का भी एक श्लोक उद्धृत किया जाता है। कृष्ण, जिन्हे उनके भक्त संसार के परमेश्वर का रूप मानते हैं, अर्जुन से कहते हैं—

"जो कुछ भी तुम करते हो, जो कुछ भी अन्न ग्रहण करते हो, जो कुछ बलि देते हो, जो कुछ भी तुम दान देते हो, जो कोई तपस्या करते हो उसे

मेरी पूजा के रूप में करो" (९. २७)। (सर्वांशग्राही शाखा तथा भगवद्गीता पर व्याख्यान ७ देखिए)।

कुछ अनोखे विचार भी जैमिनि के दर्शन मे मिलते है। जिस प्रकार वे वेद के सहज प्रामाण्य को किसी वाह्य प्रमाणकर्त्ता या प्रकाशक पर अनाश्रित स्वीकार करते है उसी प्रकार वे इसकी पूर्ण नित्यता भी स्वीकार करते हैं और यह घोषणा करते है कि इसमे केवल नित्यरूप से पूर्व-भूत वस्तुओं का उल्लेख है। यह सिद्धान्त इस कथन से पुष्ट किया गया है कि शब्द नित्य है किंवा एक नित्य शब्द सभी अस्थायी शब्दो मे अन्तर्हित है। सूत्र १८ मे निम्न कथन है—

"शब्द नित्य होना चाहिए, क्योंकि इसके उच्चारण का प्रयोजन दूसरों को अर्थ का बोध कराना है। यदि यह नित्य नही होता तो इसका अस्तित्व उस समय तक नही बना रहता जब तक कि श्रोता इसके अर्थ को समझ पाता है, और इस प्रकार वह अर्थ को नही समझ सकता क्योंकि उसके कारण का अभाव हो गया है।

"यदि प्रतिपक्षी यह कहे कि इन्द्रियो द्वारा इसका प्रत्यक्ष होना समाप्त हो जाने पर भी इसकी स्थिति बनी रहती है, चाहे वह कितने भी लघुसमय के लिए ही क्यो न हो, तब कोई ऐसा क्षण बताना असम्भव है जब इसके अभाव का कोई प्रमाण हो, इस कारण इसका नित्यत्व सिद्ध होता है।[१]

शब्द की इस नित्यता की पुष्टि इन दो उक्तियो से भी की जाती है जिनमे एक ऋग्वेद (८ ६४.६) से है और दूसरी स्मृति से, और इनके साथ ही मैं अपना न्याय का विवेचन समाप्त करता हूँ।

'हे विरूप ! नित्या वाणी द्वारा अपनी प्रार्थनाएँ उच्चारित करो।'
'अनादि एव अनन्त नित्या वाणी का उच्चारण स्वय-भू ने किया था।'[२]
शब्द की नित्यता के इस सिद्धान्त को मैं इस कथन के साथ समाप्त करता

---

[१] देखिए, म्यूर का टेक्स्ट्स, भाग ३, पृ० ५३, ५७; डॉ० बैलेण्टाइन का 'मीमासासूत्र', पृ० २३।

[२] ऋग्वेद का पूरा मन्त्र (८. ६४. या ७५) है—'तस्मै नूनमाभिद्यवे वाचा विरूप नित्यया वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम्', हे विरूप, इस स्वर्गकामी तथा धन दानी अग्नि के प्रति अपनी प्रार्थनायें नित्या वाणी द्वारा प्रेषित करो।' यद्यपि नित्य का अर्थ मीमांसको ने अनादि-अनन्त के अर्थ में लिया है तथापि इसका अर्थ सम्भवतः 'न समाप्त होने वाला' है। डॉ० म्यूर के टेक्स्ट्स, भाग ३ पृ० ५१। स्मृति की उक्ति अब तक केवल महाभारत में उपलब्ध हुई है। शान्तिपर्व ८. ५३३ : 'अनादि-निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा।

हूँ कि चीनियों मे एक कहावत कही जाती है कि एक बार उच्चारण किये गये शब्द की प्रतिध्वनियाँ अनन्तकाल तक आकाश में गूँजती रहती है।

वेदान्त

शास्त्रानुगामी दर्शन के मतो मे अब केवल व्यास या बादरायण[१] का वेतान्त शेष रह जाता है; किन्तु कुछ दृष्टियो में यह जिन वेद के अन्तभूत रचनाओ, उपनिषदों, पर स्वयं को आधृत वताता है उनमे प्रतिपादित विश्वदेवतावादी सिद्धान्तों के साथ अधिक निकट सामंजस्य रखने तथा विचारशील एव शिक्षित हिन्दुओं मे प्रचलित विचारप्रवृत्तियो के वर्तमान तथा विगत समयो मे समान रूप से अनुकूल होने जैसे दोनो ही कारणो से सभी छ. दर्शनो मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उपनिषदो मे व्याप्त तथा सीधे वेदान्त दर्शन को जन्म देनेवाले विश्वदेवतावाद को उदाहरणो द्वारा पहले हो स्पष्ट किया जा चुका है।

एक वेदान्ती के विश्वास के विषय मे छान्दोग्य-उपनिषद (३. १४) से एक उद्धरण दिया जा सकता है :—

"यह सम्पूर्ण जगत् निश्चय ही है, यह उसी से उत्पन्न होनेवाला, उसी मे लय होनेवाला और उसी मे चेष्टा करनेवाला है[२]—इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को शान्त होकर उसकी उपासना करनी चाहिए।"

---

[१] इस दर्शन के विख्यात स्थापक का, अनिश्चित ढंग से आख्यानप्रसिद्ध 'व्यास' नाम के व्यक्ति से तादात्म्य दिखाया जाता है जिन्हें वेदो का संकलनकर्ता तथा महाभारत, पुराणो एवं एक विशिष्ट धर्मशास्त्र का रचयिता कहा जाता है। इसमें सन्देह नही कि व्यास, 'सयोजन करने वाला', नाम अनेक महान् लेखकों या संग्रहकर्त्ताओ के लिये उपनाम के रूप मे प्रयुक्त होता था, और इसी अर्थ मे यह नाम वेदान्त दर्शन के संस्थापक के लिये भी व्यवहृत हुआ प्रतीत होता है। प्रचलन के अनुसार इन्होने अपने मत सूत्रो मे प्रतिपादित किये, किन्तु बादरायण के सूत्रो को सामान्यत: ब्रह्मसूत्र या कभी-कभी शारीरकसूत्र कहते है और इस दर्शन को भी ब्रह्ममीमासा तथा 'शारीरक-मीमांसा' (परमात्मा या मूर्तिमान् आत्मा के विषय मे अन्वेषण) जैसे भिन्न नामो से पुकारते हैं। सूत्रो का मूल तथा शकराचार्य की सुप्रसिद्ध व्याख्या का सम्पादन 'बिबलिओथेका इण्डिका मे डॉ० रूअर ने किया है, तथा कुछ अंश का अनुवाद प्रोफेसर बनर्जी ने किया है। डॉ० बैलेन्टाइन ने सूत्रो के एक अंश का भाष्य तथा 'वेदान्तसार' नामक पुस्तिका का सम्पादन तथा अनुवाद किया है। वेदान्त पर अनेक टीकायें एव लघुग्रन्थ भी विद्यमान हैं।

[२] यह मूल के एक समास 'तज्जलान्' मे व्यक्त है, जिसे 'तज् ज', 'तल्-ल', 'लद्-अन' के अर्थ मे समझा जाता है। मूल इस प्रकार है—'सर्वंखल्विदम्ब्रह्म

यहाँ हमारे समक्ष सृष्टि की उत्पत्ति का एक भिन्न सिद्धान्त है। न्याय मे संसार को असंख्य नित्य परमाणुओ के संयोग से उत्पन्न माना गया था। साख्य मे एक मूल नित्य तत्त्व, प्रकृति, से इसकी उत्पत्ति वताई गई थी। ये दोनों (परमाणु, प्रकृति) स्वतन्त्ररूप से रचना कार्य करते है यद्यपि नित्य आत्माओ से सम्वद्ध होते है; तथा एकमत के अनुसार परमात्मा अधिष्ठाता होता है। किन्तु वेदान्त मे विश्वात्मा से पृथक् कोई भौतिक जगत् नही है। इस कारण इस शाखा के दर्शन को अद्वैत कहते है। जगत् का अस्तित्व है किन्तु वह एकनित्य तत्त्व का एक रूप मात्र होता है। वह सर्वव्यापक आत्मा है, एकमात्र वस्तुत. सत् पदार्थ (वस्तु) है। ऋग्वेद जैसे प्राचीन काल मे भी इस विश्व-देवतावादी दर्शन की रूपरेखा पायी जा सकती है जो उपनिषदों एवं वेदान्त में अधिक स्पष्ट हो गई। जैसा कि हम पृ० २४ पर उदाहरण देकर प्रदर्शित कर चुके है, वेदान्त का अङ्कुर पुरुषसूक्त मे द्रष्टव्य है। प्रारम्भिक वेदान्ती दर्शन की विशेषता इसकी अत्यधिक सरलता है। यह छान्दोग्यउपनिषद् (देखे पृ० ३८) मे आनेवाले इन तीन शब्दो मे निहित है: 'एकम् एवाद्वितीयम्', एकमात्र एक तत्व, जिससे दूसरा कोई तत्त्व नहीं; या इन नौ छोटे शब्दो की पक्ति मे निहित है:—'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः', ब्रह्म सत्य है, संसार मिथ्या है, जीव ब्रह्म ही है कोई अन्य नही।

जिस प्रकार न्याय अरस्तू के उस व्यावहारिक दर्शन से अधिक समानता रखता है. जिसने विचारो की अपेक्षा वस्तुओ तथा व्यक्तियो को एक यथार्थ अस्तित्व प्रदान किया, उसी प्रकार वेदान्त प्लेटो[1] के आदर्शवाद (Idealism) से बहुत समानता रखता है। वादरायण का पहला ही सूत्र सम्पूर्ण दर्शन का लक्ष्य एक समास मे व्यक्त करता है, वह है 'ब्रह्मजिज्ञासा' अर्थात् ब्रह्मन् (नपुं०) या एकमात्र वस्तुत. सत् वस्तु को जानने की इच्छा।

तज्जलान् इति शान्त उपासीत।' सूफियो का दर्शन, जिसे कुरान से विकसित हुआ कहा जाता है (देखिए पृ० ३५), एक इस प्रकार का विश्वदेवतावाद प्रतीत होता है जो वेदान्त के विश्वदेवतावाद से बहुत साम्य रखता है।

[1] प्लेटो अपने विचारो के सिद्धान्त सदैव सुबोधगम्य रूप मे नही व्यक्त करता और सम्भवतः उसने अपनी परवर्ती रचनाओ में परिवर्तन कर दिया। तथापि, वह इस सिद्धान्त पर जोर देता प्रतीत होता है कि मन पहले हुआ और उसने द्रव्य को उत्पन्न किया। दूसरे शब्दो मे, यह कि सम्पूर्ण भौतिक जगत् की सृष्टि एक स्रष्टा से या उसके द्वारा उसके मन मे नित्यरूप से एवं सदैव अपरिवर्तित रहने वाले एक संसार की कल्पना या योजना के अनुसार हुई। टिमेयस (१०) मे वह कहता है—'इस संसार के रचयिता तथा पिता

यहाँ हम शङ्कराचार्य की टीका का एक अश उद्धृत कर सकते है (रूअर का संस्करण, पृ० २९ तथा ४३)—

"ब्रह्म को जाननेवाला पुरुष के परम श्रेयस तथा परम लक्ष्य (परम पुरुषार्थम्=सारतत्व) को प्राप्त करता है।

एक यथार्थत. सद्वस्तु विपर्यय से 'इस प्रकार की' और 'इस प्रकार की नहीं' नही हो सकती; और (ऐच्छिक रूप से) सत् तथा असत् नही हो सकती। किसी वस्तु का यथार्थत: वह जैसा है उस प्रकार का ज्ञान (अर्थात् यथार्थ ज्ञान) मनुष्य की अपनी व्यक्तिगत बुद्धि की अपेक्षा नही रखता ('न पुरुष-बुद्ध्यपेक्षम')[1]। यह स्वयं वस्तु पर आश्रित होता है। किसी एक ही स्तम्भ के सम्बन्ध मे यह कहना कि यह एक स्तम्भ है या एक पुरुष अथवा अन्य कुछ, यथार्थज्ञान ('तत्त्व ज्ञान') नही है। यह एक 'मिथ्याज्ञान' है।[2]

को ढूंढना कठिन है, और जब उसकी खोज हो जाती है तो जनसमूह के समक्ष वर्णन करना कठिन है। दो योजनाओ मे से किसके अनुसार उसने जगत् की सृष्टि की ? एक के अनुसार, सदैव एक रूप मे विद्यमान रहते हुए या, दूसरे के अनुसार जो उत्पन्न किया गया था उस जगत् की योजना के अनुसार ? यत: यह संसार सुन्दर है और इसका निर्माता कल्याणकारी है अत. उसने इसकी रचना करते समय स्पष्टत: एक आन्तरिक योजना का आश्रय लिया'। इसी प्रकार, प्लेटो यह स्वीकार करता प्रतीत होता है कि मानव मन मे कतिपय अमूर्त विचार या काल्पनिक आकार विद्यमान रहते है जो हमारे चतुर्दिक वर्त्तमान वास्तविक स्थूल आकारो के कारण है और उनमे अभिव्यक्त होते हैं। उदाहरणार्थ, शिवम् तथा सत्यम् की अमूर्त भावनाएं मस्तिष्क मे पूर्व से ही विद्यमान रहती है और वे मानों अनेक सद् एव सुन्दर विचारो को जन्म देती है जो हमारे समक्ष अभिव्यक्त है। इसी रीति से सभी गोल वस्तुओ की उत्पत्ति के पूर्व कोई काल्पनिक गोलाकार मूर्ति एक नित्य अस्तित्व के रूप मे विद्यमान रही होगी, कारण, प्लेटो के अनुसार इन अमूर्त भावनाओ का एक अपना यथार्थ, नित्य, एवं अपरिवर्तनीय-अस्तित्व है जो उनसे सम्बद्ध सदा परिवर्तनशील स्थूल पदार्थों एव अभिव्यक्तियो से पूर्णत· पृथक् और स्वतन्त्र है।

[1] शङ्कर एक ऐसे सिद्धान्त के विरुद्ध तर्क करते प्रतीत होते है जो प्रोटागोरसे (Protagoras) के इस सिद्धान्त के सामान है कि व्यक्ति ही सभी वस्तुओ का मानक (Standard) है।

[2] प्लेटो की भ्रमपूर्ण धारण का एक यह कारण है कि जब दो व्यक्ति या वस्तुएँ देख ली गई होती है और उनका आकार मस्तिष्क पर अंकित हो गया

यह एक स्तम्भ है यही कथन सत्य है, क्योंकि यह स्वयं वस्तु पर आश्रित है ('वस्तु-तन्त्रत्वात्')। इस प्रकार किसी सत् वस्तु को प्रमाणित करना स्वय वस्तु पर आश्रित होता है। इसी प्रकार ब्रह्म का ज्ञान स्वय वस्तु पर (उस बुद्धि पर नही जो मनुष्य ब्रह्म के विषय मे रख सकता है) आश्रित है, क्योंकि यह वस्तुतः सत् वस्तु से सम्बद्ध होती है ('भूतवस्तुविषयत्वात्')

दूसरे सूत्र में ब्रह्म[1] की परिभाषा इस अर्थ मे की गई है : "वह जिससे इस सृष्टि की उत्पत्ति का विपरिणाम होता है।"

शङ्कर इस प्रकार एक विस्तृत परिभाषा देते हैं (रूअर का सस्करण पृ० ३८)—

'ब्रह्म वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान कारण है जिससे इस संसार की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय उत्पन्न होते हैं; जो (ससार) नाम एवं रूप द्वारा विकारित होता है, अनेक कर्त्ताओ तथा भोक्ताओ से युक्त है, कर्मों तथा परिणामो का आश्रय है, और इसकी रचना के विषय मे मन की विचारशक्ति भी सोच सकने मे समर्थ नही होती है।'

इसके बाद २८ वे सूत्र तक विश्व के परमात्मा के रूप मे ब्रह्म के स्वरूप की परिभाषा तथा वर्णन प्रस्तुत किया गया है। उनमे से यहाँ मैं कतिपय नितान्त रोचक सूत्रो का संक्षेप[2] भाष्य के अशो के साथ देता हूँ—

परमात्मा सर्वज्ञ है यह इस तथ्य से प्रमाणित है कि वह वेद का स्रोत है ('शास्त्रयोनित्वात्')। जिस प्रकार उस भूत से प्रत्येक आत्मा उत्पन्न होता है उसी प्रकार उसी भूत मे प्रत्येक आत्मा लौट जाता है। तब आत्माएँ किस

रहता है, तब भी दोषपूर्ण अवलोकन के कारण उनमे एक को देख कर दूसरे का भ्रम हो जाता है—'यह बात है कि तुम्हें और थिओडोरस को जानते हुए और मन के सिक्थमय पट्ट पर मानों मुद्राङ्कन की सील से अङ्कित चिह्न धारण करते हुए भी तुम दोनो को कुछ दूर से देखकर और तुम्हें पूर्णत. पृथक्-पृथक् न पहचानकर जब मैं प्रत्येक के आकार को दूसरे के मन.स्थित चिह्न से जोड़ता हूँ और उन लोगों की तरह अदल-बदल देता हूँ जो अपने जूते गलत पैरो मे पहन लेते हैं तो मैं एक मिथ्या बुद्धि रख सकता हूँ।' थिएट १२२। बनर्जी के ब्रह्मसूत्र के अनुवाद पृ० २ से तुलना कीजिए।

[1] 'ब्रह्मन्' नाम वस्तुतः 'बृह' या 'बृह्', 'बढना या विस्तृत होना' धातु से व्युत्पन्न है और इस कारण इसका शाब्दिक अर्थ है वह तत्त्व जो बढ़ता है, फैलता है। 'वृक्ष' भी इसी धातु व्युत्पन्न है।

[2] डा० वैलेण्टाइन तथा प्रोफेसर बनर्जी का अनुवाद देखिए।

प्रकार से प्रकृति में लीन हो सकती हैं ?[१] क्योंकि ऐसी हालत में चेतन का अचेतन मे लय होगा। परमात्मा आनन्दमय है, यह वेद से स्पष्ट है जो उसे आनन्द का कारण बताता है। जिस प्रकार दूसरों को धनधान्य से पूर्ण बनानेवाले को स्वयं अनिवार्यतः धनधान्यपूर्ण होना चाहिए उसी प्रकार दूसरों को आनन्द प्रदान करने के लिए ब्रह्म का स्वरूप आनन्दमय होना चाहिए। पुनः वह अद्वैत (ब्रह्म) ज्योति है। वह सूर्य मे है और नेत्र मे है। वह आकाश है।[२] वह जीवन है और जीवन का प्राण है। वह प्राण है जिससे इन्द्र ने प्रतर्दन से यह कहते हुए तादात्म्य दिखाया था कि 'मैं पूर्ण ज्ञानमय प्राण हूँ; अनश्वर प्राण के रूप मे मेरी उपासना करो'।[३]

सूत्रो के अन्य भागो से यह प्रतीत होता है कि ब्रह्म नाम का एक नित्य तत्त्व बाह्य ससार के लिये वैसा ही है जैसा पट के लिये तन्तु, दधि के लिये दूध, घट के लिये मृत्तिका, और कगन के लिए सोना। वह स्रष्टा और सृष्टि दोनो है,[४] कर्त्ता और कार्य दोनों ही है। वही सत्, ज्ञान और आनन्द

---

[१] सांख्यदर्शन का प्रकृति या प्रधान।

[२] प्रोफेसर बनर्जी का विचार है कि 'ईथर' शब्द आकाश के लिए एक अच्छा अनुवाद नही जो सभी वस्तुओ को व्याप्त करता है। हमारे प्यालो मे आकाश है, हमारे शरीर मे आकाश है जो ईथर (अन्तरिक्ष के ऊपर विद्यमान सूक्ष्म वायु) नही है। आकाश का एक पर्यायवाची शून्य है और हम कुछ दृष्टियो से इसकी तुलना ल्यूक्रेटियस (१ ३३०) के इनान से कर सकते हैं—

Nec tamen undique corporea stipata tenentur
Omnia natura; namque est in rebus inane,

'तथापि सभी वस्तुएँ सभी दिशाओ मे निकटस्थ तथा ठोस अंशों मे एक साथ घनीकृत या संयुक्त नही हैं; वस्तुओ मे आकाश (या शून्य) है।'

[३] यह कौषीतकि ब्राह्मणउपनिषद् के अध्याय ३ से उद्धृत है। देखिए प्रोफेसर ई० बी० कोवेल का अनुवाद।

[४] एक वास्तविक वेदान्ती भावना 'आरफिक' प्रार्थनाओं मे देखी जा सकती है, जब वे ज्यूस को विश्व का रूप बताते हैं—'ज्यूस आकाश है, ज्यूस पृथ्वी है, ज्यूस स्वर्ग है, सभी वस्तुएँ ज्यूस हैं, आर्फिक फ्रैगमेण्ट ४.३६३, ६ ३६६; वर्जिल की एनिएड ६.७२४ इत्यादि से तुलना कीजिए—

Principio caelum ac terras, camposque liquentes
Lucentemque globum Lunae, Titaniaque aatra.
Spiritus intus alit, totamque infusa per astus
Mens agitat molem et magno se corpore miscet.

('सच्चिदानन्द') है, किन्तु साथ ही साथ अवयवहीन है, निर्गुण (देखिए पृ० ९२) है, कर्मरहित और संवेगरहित है, 'मैं' या 'तू'[1] में अभिव्यक्त चेतना से हीन है; किसी व्यक्ति या वस्तु का ज्ञान न रखनेवाला, किसी व्यक्ति द्वारा अज्ञेय, अनादि, अनन्त, अनश्वर, एकमात्र यथार्थ तत्त्व है।

यह निःसन्देह ऐसा कहने के समान है कि विशुद्ध सत् विशुद्ध शून्य से तादात्म्य रखता है, जिस कारण बौद्ध शून्यवाद तथा वेदान्ती विश्वदेवतावाद जहाँ एक दूसरे से पृथक्त्व प्रदर्शित करते है वहीं उनके दो विपरीत छोर अन्तत मिलते हुए दिखाई पड़ते हैं।

शङ्कराचार्य की सूत्र २-१-३४[2] की टीका से दो या तीन उद्धरण प्रस्तुत करता हूँ—

आपत्ति की जा सकती है कि ब्रह्म का जगत् का कारण न होना सिद्ध हो चुका है। क्यों ? वैषम्य और नैर्घृण्य के प्रत्यक्ष उदाहरणों के कारण। कुछ को वह वहुत सुखी करता है, जैसे देवता आदि; कुछ को वहुत दुःखी वनाता है जैसे पशु इत्यादि; और कुछ मध्यम अवस्था मे रहते हैं जैसे मनुष्य आदि। इस प्रकार की विषम सृष्टि का रचयिता होने से वह अन्य व्यक्तियों के समान ही मनोविकारों, अर्थात् पक्षपात तथा दुराग्रह का, आस्पद होता है, और इस कारण उसका स्वभाव निर्दोष नही दिखाई पड़ता। कष्ट तथा विनाश उत्पन्न करने के कारण उसे दुष्टतापूर्ण निर्दयता का भी अपराधी ठहरा सकते हैं जो पापियो में भी पाप समझा जाता है। इस कारण, वैषम्य तथा नैर्घृण्य के देखे जाने से ईश्वर सृष्टि का कारण नही हो सकता, क्योंकि उसने सापेक्षहीन होकर रचना नही की (सापेक्षत्वात्)। ईश्वर सापेक्ष होने के कारण विषमताओं से इस सृष्टि की रचना करता है। यदि आप यह पूछें कि वह किस वस्तु की अपेक्षा रखता हैं तो इसका उत्तर है कि वह धर्म तथा अधर्म (धर्माधर्मो) पर आश्रित है। यह ब्रह्म का कोई दोष नही कि एक ऐसी असमान सृष्टि की रचना हो जो रचित आत्माओ के धर्म तथा अधर्म पर आश्रित हो। जिस

---

[1] जैसा प्रोफेसर वनर्जी ने दर्शाया है शङ्कर मध्यम पुरुष 'त्वम्' की तुलना तम से करते हैं क्योकि यथार्थ 'त्वम्' नही हो सकता। अतएव शङ्कर का कथन है कि 'तू' और 'मैं' इस प्रकार विरोधी है जैसे तम तथा प्रकाश। प्लेटो भी अवस्तु तथा यथार्थ वस्तु के सम्वन्ध मे तम तथा प्रकाश का इसी प्रकार उल्लेख करता है। सोफिस्ट २५४.

[2] प्रोफेसर वनर्जी तथा श्री मूलेन्स द्वारा उद्धृत एवं अनूदित। डायलॉग्स, पृ० १२० इत्यादि, 'एसे ऑन हिन्दू फिलासफी' पृ० १९०। सूत्र है—'वैषम्य-नैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति'।

प्रकार वर्षा तण्डुल तथा गोधूम के उत्पादन का मुख्य कारण है, किन्तु उनके तण्डुल तथा गोधूम होने के विशिष्ट गुणो का कारण उनके अपने-अपने बीजो की भिन्न शक्तियाँ है; उसी प्रकार ईश्वर देवताओ, मनुष्यो तथा अन्य सृष्टि की रचना मे सामान्य कारण है; किन्तु देवो, मनुष्यो एवं अन्य के बीच भेद का कारण उनकी अपनी-अपनी आत्माओ मे समवेत विभिन्न कर्म है।'

दूसरे सूत्र (३५) की टीका करते हुए वह इस आपत्ति का उत्तर देते हैं कि मूल सृष्टि-रचना के समय पूर्व कर्म कैसे हो सकते हैं ? आपत्ति तथा उसका उत्तर इस प्रकार हैं[1]—

"प्रारम्भ मे एक अद्वितीय परमात्मा का अस्तित्व था (देखिए पृ० ११०)। अतएव सृष्टि-रचना के पूर्व कोई कर्म नही रह सकते जिसके वशीभूत होकर विषमताओ की रचना हुई हो। परमात्मा भेदो के हो जाने पर भी कर्मों पर आश्रित हो सकता है किन्तु सृष्टि के पूर्व विभिन्न निमित्तो से उत्पन्न कोई कर्म नही हो सकते और इससे समान (तुल्या सृष्टि) दिखाई पडनी चाहिए थी। हमारा उत्तर है—यह हमारे सिद्धान्त को दूषित नही करता क्योकि संसार अनादि है (अनादित्वात् ससारस्य)। ससार के अनादि होने से कोई भी वस्तु कर्मों एव विषम सृष्टियो को बीज तथा अकुर के समान कारण तथा कार्य की अवस्थाओ मे निरन्तर बने रहने का निषेध नही कर सकती ('वीजाङ्कुर वत्')।"

वेदान्त मत के विरुद्ध आपत्तियो का वर्णन शङ्कर ने इस प्रकार किया है—

"यह संसार, जो अनेक, प्राणरहित, दोषपूर्ण, तथा अज्ञानपूर्ण है, उससे किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है जो एक, प्राणवान् , विशुद्ध तथा ज्ञानमय है। हमारा उत्तर है प्राणहीन ससार ब्रह्म से उसी प्रकार उत्पन्न हो सकता है जिस प्रकार जीवित मनुष्य से निर्जिव केश उत्पन्न हो सकते हैं। किन्तु ससार मे हम भोक्ता और भुक्त दोनों पाते हैं, वह दोनो कैसे हो सकता है ? हमारा उत्तर है—समुद्र के परिवर्तन इसी प्रकार होते है—फेन, लहरे, तरङ्गे, बुलबुले समुद्र से पृथक् नही हैं। जगत् तथा ब्रह्म मे कोई अन्तर नही है। कार्य अपने कारण से भिन्न नही होता। वह आत्मा है; आत्मा वह है। एक ही पृथ्वी हीरे, प्रस्तर-स्फटिक और स्फटिक उत्पन्न करती है। एक ही सूर्य अनेक प्रकार की वनस्पतियाँ उत्पन्न करता है। वही अन्न, केश, नाखून आदि मे भी परिवर्तित होता है। जिस प्रकार दूध दही मे परिवर्तित होता है और जल हिम मे, उसी प्रकार ब्रह्म बाह्य साधन के विना विभिन्न प्रकार से रूपान्तरित

[1] मूल सूत्र है : 'न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात्'।

होता है। जैसे मकड़ी स्वयं अपने ही से अपना जाला बनाती है, वैसे ही आत्माएँ अनेक रूप धारण करती है।"

इस प्रकार के दर्शन से अनिवार्यत. यह अर्थ नही निकलता कि परवर्ती वेदान्ती यह शिक्षा देते हैं कि ससार माया या भ्रम मात्र है। मायावाद, जो अव भारतीय दार्शनिको में इतना प्रचलित है, उपनिषदों में कोई महत्त्व नही पाता, वल्कि इसे बौद्धमत से लिया गया है। यद्यपि एक सच्चा वेदान्ती यह कहता है कि केवल ब्रह्म ही सत्य है, तथापि वह आत्माओ, ससार तथा ईश्वर का 'व्यावहारिक' अस्तित्व स्वीकार करता है, जो 'पारमार्थिक' अर्थात् वास्तविक तथा 'प्रातिभासिक' अर्थात् प्रतीयमान या मायामय अस्तित्व से भिन्न है। जव हम वाह्य वस्तुओ को अपने समक्ष अपने नेत्रो से देखते हैं तथा उनका प्रत्यक्ष अनुभव करते है तो उनके अस्तित्व को कैसे अस्वीकार किया जा सकता है? दूसरी ओर यह कैसे स्वीकार किया जा सकता है कि यह दोषपूर्ण संसार एक विशुद्ध आत्मिक तत्त्व की अभिव्यक्ति है? इस कठिनाई को दूर करने के लिये परमात्मा को स्वयं अध्यारोपित ज्ञान द्वारा अपने को प्रच्छन्न करनेवाला दर्शाया गया है। ऐसा वह अपने भीतर से अपने आनन्द के लिए पृथक् व्यक्तिगत आत्माओं एव विभिन्न पदार्थों को उत्पन्न करने के लिये करता है, जो यद्यपि वस्तुतः उसके अस्तित्व के ही एक अंश है तथापि ससार के प्रतीयमान रूप है। इस कारण वाह्य जगत्, व्यक्तियों की प्राणमय आत्माएँ, और वैयक्तिक ब्रह्म या इश्वर भी एक ऐसी शक्ति से रचित वताये गये है जिसे वेदान्ती, अपनी कठिनाई का अधिक उत्तम हल न पाकर, 'अविद्या'[1] नाम देता है, जिसका सामान्यतः अनुवाद 'अज्ञान' (Ignorance) किया जाता है और कदाचित् इसके लिये अधिक सुन्दर शब्द मिथ्या ज्ञान (False Knowledge) या मिथ्या-बुद्धि (False notion) है।

इस माया की कार्य करने की दो शक्तियाँ है: १. 'आवरण' की शक्ति, जो परमात्मा को ढककर यह बुद्धि उत्पन्न करती है कि वह सांसारिक प्रपञ्च का विषय—कर्त्ता और भोक्ता—है, और सुख दुख का अनुभव करता है: ठीक उसी प्रकार जैसे कोई व्यक्ति रज्जु को भ्रम से सर्प समझ लेता है। २ 'विक्षेप' की शक्ति, जो विशुद्ध चैतन्य की अवस्था मे ब्रह्म को आश्रित कर जगत्-प्रपञ्च की उद्भावना करते हुए पहले पाँच सूक्ष्म भूतो को उत्पन्न करती है, फिर उनसे सत्रह सूक्ष्म शरीरो को (जिन्हे 'लिंगशरीर' भी कहते हैं और ये हैं पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पञ्चप्राण, बुद्धि तथा मन) और फिर

[1] प्लेटो के 'अग्नोइया' के समान ही। देखिये सूत्रो का वनर्जी का अनुवाद, पृ० ३, ।

पाँच स्थूल भूतों को सांख्य मे वर्णित क्रम से उत्पन्न करती है (देखिए पृ० ९१), इस कारण आत्मा को सत्य समझ लेती है, जैसे इसने रज्जु को सर्प समझने की भ्रान्ति की।[1]

अविद्या के द्वारा जीवात्मा, जगत् को तथा शरीर एवं मन को यथार्थ वस्तु समझ लेता है, जिस प्रकार अंधेरी रात मे रज्जु को सर्प समझ लिया जाता है। जिस क्षण जीवात्मा इस स्वाध्यारोपित अज्ञान से वेदान्त दर्शन के माध्यम से तत्त्वज्ञान की शक्ति द्वारा मुक्त हो जाता है, सभी भ्रान्ति लुप्त हो जाती है तथा जीवात्मा और सम्पूर्ण दृश्य जगत् का तादात्म्य परमात्मा या एकमेव यथार्थ सत् आत्मा के साथ पुन. स्थापित हो जाता है।[2]

यहाँ पर मैं 'आत्मबोध' अर्थात् आत्मा के ज्ञान नाम के एक लघु वेदान्तीय ग्रन्थ का एक अंश प्रस्तुत करता हूँ, जो महान् शङ्कराचार्य की रचना बताई जाती है। इसे वेदान्तीय सिद्धान्त के प्रतिपादक ग्रन्थ के रूप मे बहुत सम्मान प्राप्त है और इस कारण डॉ० हेबेर्लिन ने अपनी लघुकाव्यों[3] की सूची में सम्मिलित किया है। निम्नलिखित पंक्तियाँ हिन्दू विश्वदेवतावादी दर्शन के इस प्रसिद्ध सक्षिप्त ग्रन्थ के कतिपय विचारो का उदाहरण प्रस्तुत कर सकती है।

> "केवल ज्ञान से ही मुक्ति होती है। जिस प्रकार अन्न पकाने के लिए अग्नि आवश्यक है उसी प्रकार मुक्ति के लिए ज्ञान आवश्यक है।"(२)
> जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश अन्धकार को दूर करता है उसी प्रकार केवल ज्ञान ही अज्ञान को दूर करता है—वह इस प्रकार कर्म नही करता, क्योकि अज्ञान कर्मों से उत्पन्न होता है। (३)
> जगत् और सासारिक वस्तुओं का सम्पूर्ण प्रपञ्च स्वप्न के मिथ्या संसार के समान है,[4] जिसमे इच्छा, घृणा, अभिमान और वासना व्याकुल प्रेतो के समान प्रकट होते है। जब तक स्वप्न बना रहता है

---

[1] वेदान्त-सार पर बैलेण्टाइन का व्याख्यान, पृ० २५; वेदान्त परिभाषा का भी उल्लेख किया जा सकता है, जो अति अर्वाचीन वेदान्तीय शाखा का ग्रन्थ है।

[2] मुण्डक उपनिषद् से उद्धृत अनुच्छेद देखिए, पृ० ४०।

[3] एक तमिल पाठ तथा भाष्य भी है जिसका अनुवाद रेव० आई० एफ० कर्न्स ने किया है, मद्रास १८६२। मैंने कर्न्स के तमिल भाष्य का भी अवलोकन किया है।

[4] शेक्सपियर की इन पंक्तियो से तुलना कीजिए—
"We are such stuff, As dreams are made on, and our little life Is rounded with a sleep".-टेम्पेस्ट, अङ्क ४ दृश्य १।

संसार यथार्थ दिखाई पड़ता है, किन्तु जब स्वप्न समाप्त हो जाता है तो उस संसार की स्थिति नही रह जाती। (६)

शुक्ति[1] के मिथ्या रजत के समान ससार पुरुप को छलता है, जो पुरुप केवल आभास को ही सत्य समझ बैठता है। (७)

जिस प्रकार सोने के सभी ककण वस्तु की दृष्टि से एक सोना ही हैं उसी प्रकार सभी दृश्य वस्तुएँ तथा प्रत्येक पृथक् अस्तित्व ब्रह्म से ऐक्य रखते है। (८)

पञ्चभूतो[2] की क्रिया द्वारा पूर्वजन्म के कर्मों के माध्यम से सभी स्थूल शरीरो की रचना होती हैं, जो सुख और दुःख के आगार हो जाते है। (११)

पाँच आच्छादक कोषो[3] से आवृत्त आत्मा इन्ही से निर्मित प्रतीत होता है और इसकी विशुद्धता उसी प्रकार तमःयुक्त हो जाती है जिस प्रकार रंगे हुए वस्त्र पर रखा हुआ स्फटिक। (१४)

जिस प्रकार कूटा गया धान भूसी से अलग हो जाता है उसी प्रकार आत्मा युक्ति द्वारा अपने कोप के आवरण से कूटे जाने के समान[4] मुक्त हो जाती है। (१५)

आत्मा एक राजा के समान है जिसके मन्त्री है, शरीर, इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि[5]; आत्मा इन सबसे पूर्णतः पृथक् है, फिर भी उनके कर्मों का वह साक्षी और अवीक्षक है। (१८)

---

[1] अर्थात्, मोती को उत्पन्न करने वाली 'शुक्ति' शुक्तिवधू।

[2] इसे 'पञ्ची-कृत' या 'पञ्चीकरण' अर्थात् पाँच भूतों की क्रिया से शरीर या सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति, कहते हैं (देखिए पृ० ९१), और यह वेदान्त का सिद्धान्त है।

[3] देखिए पृ० ११९ की टिप्पणी।

[4] 'युक्ति' यहाँ 'योग' का समानार्थक प्रतीत होता है। इसका अर्थ, तर्क, या विवेक भी हो सकता है।

[5] वेदान्ती-आत्मा की विशुद्ध ज्ञान के अतिरिक्त तीन अवस्थायें मानी गई है: वे है—जागृतवस्था, स्वप्नावस्था तथा गम्भीर या स्वप्नरहित निद्रा (सुपुप्ति) की अवस्था। जागृतावस्था मे आत्मा शरीर से युक्त रहकर सक्रिय तथा यथार्थ जगत् मे रहता है। स्वप्नावस्था मे यह एक मिथ्या तथा माया-मय जगत् मे होता है। सुपुप्ति की अवस्था मे इसे हृदकोप की नाडियो के मार्ग द्वारा परमात्मा में लय होकर पूर्ण आनन्दावस्था मे स्थित बताया जाता है। देखिए वेदान्त सूत्र ३.२,१-१०।

अज्ञानी पुरुष सोचता है कि आत्मा कर्म करता है, जब कि कर्म करने वाली इन्द्रियाँ है; जब चन्द्रमा के ऊपर से मेघ चलते है तो लोग चन्द्रमा को ही चलता हुआ समझते है। (१९)

जब बुद्धि और मन विद्यमान रहते हैं तो मोह, इच्छा, सुख और दुःख सक्रिय रहते हैं; पूर्ण स्वप्नरहित निद्रा की अवस्था मे जब बुद्धि का अभाव होता है, तो इनका अस्तित्व समाप्त हो जाता है; अतः ये मन के धर्म हैं। (२२)

जिस प्रकार सूर्य का धर्म प्रकाश है, जल का शीतलता धर्म है, और अग्नि मे उष्णता होती है, उसी प्रकार आत्मा सत्, चित्, आनन्द[1] तथा पूर्ण विशुद्धतामय है। (२३)

बुद्धि आत्मा का ज्ञान नही प्राप्त कर सकती और न आत्मा के अपना ज्ञान प्राप्त करने के लिये किसी दूसरे ज्ञान की आवश्यकता है,[2] जिस प्रकार प्रकाशपूर्ण ज्योति के लिये अपना प्रत्यक्ष कराने के लिये किसी दूसरे प्रकाश की आवश्यकता नही होती। (२७,२८)

आत्मा अपनी दशा इस प्रकार व्यक्त करता है—

"मैं शरीर से भिन्न हूँ, मैं जन्म से मुक्त हूँ; वृद्धावस्था, दुर्बलता तथा मृत्यु से मुक्त हूँ; मेरी इन्द्रियाँ नही: शब्द, या दृष्टि या इन्द्रिय के विषयो से मेरा कोई सम्बन्ध नही। मैं मन से पृथक् हूँ और इस प्रकार मनोविकार, अहंकार, घृणा, भय, तथा दुःख से परे हूँ। मैं निर्गुण हूँ;[3] मैं बिना कर्म के हूँ; मैं निर्विकल्प हूँ[4], विकारहीन, नित्य, निर्विकार, 'निर्दोष', सतत् मुक्त हूँ, मैं निःसीम आकाश के समान संसार के भीतर और बाहर व्याप्त हूँ, सब मे समान रूप से नित्य विद्यमान

---

[1] इस कारण परमात्मा को वेदान्ती 'सच्चिदानन्द' नाम देते हैं।

[2] प्रसिद्ध हिन्दू सिद्धान्त 'आत्मानमात्मना पश्य' अपने को अपने ही द्वारा जानो' या 'आत्मा को आत्मा द्वारा जानो' का, इससे अधिक मान्य थेलीज़ (Thales) की ग्रीक शिक्षा की अपेक्षा, अधिक गूढ दार्शनिक अर्थ है।

[3] 'निर्गुण' अर्थात् गुण रहित विशेषण, जो भारत मे सामान्यतः ब्रह्म के लिये प्रयुक्त होता है, पृ० ९३ का अवलोकन करने से अधिक अच्छी तरह समझा जा सकेगा।

[4] 'निर्विकल्प' का अनुवाद 'सभी चिन्तन से रहित' या 'सभी इच्छाओं' से मुक्त' किया जा सकता है।

रहता हूँ। मैं पूर्ण, अचल, अविभज्य आनन्द हूँ; अद्वितीय, एक, और परमतत्त्व मै ही हूँ। (३१–३५)

यह पूर्ण ज्ञान कि 'मैं ब्रह्म हूँ' अज्ञान[१] या माया से उद्भूत मिथ्या जगत्-प्रपञ्च को दूर कर देता है जिस प्रकार औषधि रोग को दूर कर देती है। (३६)

परमात्मा ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय मे भेद नही देखता, अपितु वह अपने ही मे स्वतः ही ज्ञान से पूर्ण है, प्रकाशित है। (४०) जब ध्यानी आत्मा की अरणि[२] का घर्षण करता है, तो ज्ञान की अग्निशिखा प्रज्ज्वलित होकर अज्ञान के काष्ठ को जला डालती है। (४१)

जिस योगी[3] ने समाधि की पूर्णावस्था प्राप्त कर ली है वह जगत् को स्वयं अपने में विद्यमान और ज्ञान के चक्षु से सबको एक आत्मा के रूप मे देखता है। (४६)

जब शारीरिक छद्मवेश[४] दूर हो जाते है तो योगी आत्मा के साथ उसी प्रकार पूर्णतः लीन हो जाता है, जैसे जल जल के साथ, वायु वायु के साथ, और अग्नि अग्नि के साथ घुल-मिल जाती है। (५३)

वह फल जिससे बढकर कोई फल नही, वह आनन्द जिससे बढकर कोई आनन्द नही, वह ज्ञान जिससे बढकर कोई ज्ञान नही—ब्रह्म ही है—यह एक ध्रुव सत्य है। (५३)

जो मध्य मे है, ऊपर और नीचे है, पूर्ण, सत्, ज्ञान, आनन्द;[५] अद्वितीय,[६] अनन्त, नित्य, और एक है—उसे ब्रह्म समझो। (५५) वह जो न स्थूल है और न सूक्ष्म है, न लघु है न वृहत् है, अजन्मा, अनश्वर, निराकार, गुणो से अवद्ध है, विशेष लक्षणो से रहित है, नामरहित है—उसे ही ब्रह्म समझो। (५९)

ब्रह्म के अतिरिक्त कोई भी वस्तु सत् नही, जब अन्य वस्तुएँ सत्

---

[१] 'अविद्या–विक्षेपान्', अज्ञान के विक्षेप, देखिए, पृ० ११४।

[२] देखिए पृ० १९ पर टिप्पणी १।

[3] 'योगिन्'।

[४] 'उपाधि' ब्रह्म के मायामय आवरण के एक नाम का द्योतक है।

[५] 'सच्चिदानन्द'

[६] अद्वयम्।

प्रतीत होती है तब वे मरीचिका के समान केवल मिथ्या होती हैं[1]। (६२)

आत्मबोध के चौदहवें श्लोक मे उल्लिखित पञ्चकोश के विषय मे यह जान लेना चाहिए कि वेदान्त में जीवात्मा को, परमात्मा से पृथक् होने की अवस्था मे, कोशो की परम्परा से आवेष्टित माना जाता है, जो उसे आच्छादित करते हैं और प्याज के छिलको की तरह एक के ऊपर एक परिवेष्टित रहते है।[2] प्रथम या सबसे अन्तर्वर्ती कोश को 'विज्ञानमय कोश' अर्थात् मात्र विज्ञान से निर्मित कोश कहते है जो प्रत्यक्ष ज्ञान के अवयवो से जुडा होता है। यह जीवात्मा को अपने पृथक् अस्तित्व का पहला ज्ञान प्रदान करता है। दूसरे कोश को 'मनोमय कोश' अर्थात् मन से निर्मित कोश कहते है और यह कर्म की इन्द्रियो से सम्बन्ध रखता है। यह जीवात्मा को विचार तथा निर्णय की शक्ति प्रदान करता है। तीसरे कोश को 'प्राणमय कोश' अर्थात् कर्मेन्द्रियो से सम्बद्ध श्वास तथा अन्य प्राण वायुओ से निर्मित कोष कहते है। चौथे कोष को 'अन्नमय कोश' अर्थात् भौतिक आकार या स्थल शरीर कहते हैं। जब इसके पूर्वोक्त तीन कोशों का एक साथ संयोग होता है तो वे सूक्ष्म शरीर होते हैं। एक पाँचवें 'आनन्दमय' कोश या 'परमानन्द' रूप कोश का भी नाम लिया जाता है हॉलाकि इसे सभी लोग स्वीकार नही करते। इसे इनमे से सबसे अन्तवर्ती मानना चाहिए और इस कारण इन पाँचो को गिनाते समय विज्ञानमय कोश के पूर्व स्थान देना चाहिए। अपरञ्च सूक्ष्म शरीरो के एक समूहभूत समाम्नाय को स्वाकार किया गया है; और आत्मा, जिसके इन सूक्ष्म शरीरो मे एक सूत्र के समान प्रविष्ट होने की कल्पना की गई है, 'सूत्रात्मन्' (कभी-कभी इसे 'प्राणात्मन्' कहते है) कहलाता है और कभी 'हिरण्यगर्भ' से भी इसका तादात्म्य दर्शाया गया है।

यदि वेदान्त सिद्धान्त को इसके अन्तिम परिणाम तक ले जाया जाय तो यह सभी धार्मिक तथा नैतिक आचारो, सभी शरीरिक या मानसिक क्रियाओ तथा सभी आत्म-नियत्रण के परित्याग की अवस्था तक पहुँच जायगा। यदि सभी कुछ परमात्मा है, तब तुम, वह, और मै, एक ही होगे। तब फिर अपने और दूसरो के कल्याण के लिये कोई प्रयत्न क्यो किया जाय ? जो कुछ भी हमारे पास है वह सबकी सामान्य सम्पत्ति है। बृहदारण्यक उपनिषद् (४ ५) के अनुसार

[1] 'मिथ्या, यथा मरु-मरीचिका'।

[2] जैसा कि डॉ० वैलेन्टाइन का कथन है; वेदान्त-सार पर व्याख्यान पृ० २९।

"जहाँ द्वैत-सा होता है, वही अन्य अन्य को देखता है, अन्य अन्य को सूँघता है, अन्य अन्य का रसास्वादन करता है, अन्य अन्य का अभिवादन करता है, अन्य अन्य को सुनता है, अन्य अन्य का मनन करता है, अन्य अन्य का स्पर्श करता है और अन्य अन्य को विशेष रूप से जानता है। जहाँ इसके लिए सब आत्मा ही हो गया है, वहाँ किसके द्वारा किसे देखे, किसके द्वारा किसे सूँघे, किसके द्वारा किसे सुने ? किसके द्वारा किसका मनन करे ? किसके द्वारा किसका स्पर्श करे ? और किसके द्वारा किसे जाने ?"

यह भारतीय विश्वदेवतावाद आधुनिक जर्मन विचार से साम्य रखता है, जैसा कि डीन मैन्सेल के हाल ही के प्रकाशित निबन्ध के निम्नलिखित अंश से स्पष्ट है—

'जर्मन दार्शनिको के लिये सभी दोषो का मूल दो की संख्या है—आत्मा और अनात्मा, अह तथा अनह (Non Ego)। विश्वदेवतावादी बताता है कि मेरा अपना यथार्थ पृथक् अस्तित्व और ऐक्य नहीं, किन्तु मैं केवल एक दृश्य अभिव्यक्ति हूँ या एक निस्सीम आत्मा की कई अभिव्यक्तियो का संघात हूँ। यदि तब हम शून्यवाद को छोड़ते है तो हमारे समक्ष विश्वदेवतावाद का मार्ग है। हमारी प्रकृति की सवेदनाएँ हमे विनाश के विपरीत विरोध करने तथा दर्शन के बावजूद यह स्वीकार करने को बाध्य करती हैं कि कही किसी वस्तु का यथार्थतः अस्तित्व होना चाहिए। यह मानकर कि कोई वस्तु सत् है उस वस्तु को अहं क्यो कहा जाय ? उसके क्या गुण हो सकते हैं जो उसे 'तू' की अपेक्षा 'मैं' का, अथवा किसी अन्य व्यक्ति की अपेक्षा किसी एक व्यक्ति का रूप देते हैं। मैं प्रत्यक्षतः एक आत्मा के अस्तित्व की चेतना रखता हूँ; किन्तु यह चेतना केवल माया है। यह आत्मा किसी दूसरी आत्मा की दृश्य छाया है, जिसका ज्ञान मुझे नही है। यह किसी दूसरे की छाया क्यों नही हो सकती ? इससे भी बढकर कोई परम सत्य क्यो नहीं हो सकता जो स्वयं ही न तो आत्मा हो और न अनात्मा किन्तु दोनो का मूल एवं आधार तथा साथ ही साथ अभेद्य हो ? यह परम वस्तु, एक तथा एकमात्र यथार्थ वस्तु, तब दर्शन के देवता के रूप मे आ जाता है और उसका परिणाम होता है विशुद्ध विश्वदेवतावाद।"

इस स्थल पर भारतीय विचारो के साथ अरस्तू के मेटाफिजिक्स'[1] के ग्यारहवें खण्ड मे प्रतिपादित ईश्वर के स्वभाव-विषयक उच्च कल्पना का वैषम्य प्रदर्शित करना अनुपयुक्त न होगा। इस खण्ड के अध्याय ७ में अरस्तू कहता है—

---

[1] इस ग्रन्थ का सुन्दर अनुवाद रेव० जे० एच० मैकमोहन ने किया है।

"जीवन का तत्त्व ईश्वर मे है, क्योकि मस्तिष्क की शक्ति ही जीवन है, ईश्वर शक्ति है। वह, जो प्रथम चालक है, गति प्रदान करता है और सृष्टि के कार्य का किसी प्रिय वस्तु के समान अनुगमन करता है। उसका जीवन हमारे अपने ही लघु जीवन के सर्वोत्कृष्ट रूप के समान होना चाहिए। किन्तु वह सदैव इसी उत्कृष्ट रूप मे स्थित रहता है जो हमारे लिये असम्भव है। उसकी आवश्यक शक्ति की सक्रियता मे ही उसका आनन्द है और इस कारण प्रबुद्धता, जागरूकता, तथा ज्ञान उसे सर्वाधिक प्रिय हैं। पुनः, जितना ही हम ईश्वर के स्वभाव का परीक्षण करते है उतना ही वह हमे आश्चर्यपूर्ण प्रतीत होता है। वह नित्य तथा सर्वोत्कृष्ट सत्ता है। वह अभेद्य, अवयव-रहित, और आकार-रहित है, क्योकि ईश्वर असीम काल के माध्यम से गति प्रदान करना है, और आकार के समान कोई भी सीमित वस्तु असीमित क्षमता नही रख सकती। वह मनोविकार-रहित तथा अपरिवर्तनीय है।"[1]

वेदान्त दर्शन के विषय को समाप्त करने के पूर्व यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि कई विषयो मे वेदान्त साख्य से साम्य रखता है। सृष्टिक्रम प्रायः दोनो मे एक सा ही है, यद्यपि एक मे प्रकृति है और दूसरे मे 'अविद्या' या अज्ञान (या 'मिथ्या ज्ञान)। किन्तु इस विषय मे भी कुछ लोग 'प्रकृति' तथा 'अविद्या' का 'माया' के साथ तादात्म्य दिखाकर विचारो मे समानता स्थापित करने का प्रयत्न करते है। दोनो ही मतों मे समान क्रम मे स्थूल ही तत्त्व सूक्ष्म भूतो से उत्पन्न होते है जो इन्द्रियो के लिए अगोचर हैं (देखिये साख्य का तत्त्वविवेचन, पृ० ९१)। दोनो मे सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर[2] है। मन या अन्तःकरण की

---

[1] अत, अनुवादक के अनुसार अरस्तू का ईश्वर विषयक सिद्धान्त यह है कि वह एक ऐसी सत्ता है जिसका तत्त्व प्रेम है, जो नित्य शक्ति मे अभिव्यक्त होता है, और इस शक्ति का प्रमुख कारण उसके प्राणियो का आनन्द है जिनमे वह भी सतत अंशग्राही होता है। पुन., अरस्तू अपने शिष्यों को ईश्वर को अपनी ही अधिकरणनिष्ठता के माध्यम से न देखने की चेतावनी देता है। खण्ड ११, अध्याय ८ मे एक उल्लेखनीय अनुच्छेद है, जिसमे वह कहता है कि परम्परा स्वर्गों को देवताओ के रूप मे प्रस्तुत करती है और अध्यात्मतत्व को सम्पूर्ण प्रकृति से सयुक्त बताती है। उसके कथनानुसार ये परम्परायें जनसमाज पर आधिपत्य प्राप्त करने तथा विधियों का पालन कराने एवं सामान्य औचित्य के हितार्थ सरक्षित रखी जाती हैं। इस कारण देवताओ को मनुष्य के रूप मे स्थित या पशुओ का भी शरीर धारण करनेवाला कहा गया है।

[2] स्थूल शरीर को आत्मा (ब्रह्म) का निवासस्थान होने एवं नौ छिद्रो से युक्त होने के कारण कभी-कभी नौ द्वारोवाला ब्रह्म का नगर (ब्रह्मपुर) कहते है।

सहायता के विना अज्ञेय आत्मा के स्वरूप का प्रायः दोनों मे एक जैसी भाषा में वर्णन किया गया है। पुनः, दोनों इस अन्तःकरण को ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के बीच और दोनों के स्वभाव से युक्त ग्यारहवी इन्द्रिय मानते हैं (देखिए पृ० ९१)। किन्तु सांख्य अन्तःकरण को 'बुद्धि', 'अहङ्कार' तथा मनस्'—जिनमे प्रथम अन्य तत्त्वो का स्रोत है—से विभाजित करता है, (देखिए पृ० ९२) जब कि वेदान्त एक चौथे भाग का भी प्रतिपादन करता है, वह है 'चित्त' या चिन्तन का अवयव। दूसरी ओर वेदान्त दो और प्रमाण या यथार्थ ज्ञान के साधन (अनुपलब्धि, प्रत्यक्ष का अभाव या निषेधात्मक प्रमाण, तथा 'अर्थापत्ति' या परिस्थितियो से अनुमान लगाना) न्याय (देखिए पृ० ७१) द्वारा स्वीकृत चार प्रमाणो के साथ जोड़ देता है, जबकि साख्य न्याय के भी 'उपमान' को अस्वीकार कर केवल तीन प्रमाण—प्रत्यक्ष, अनुमान, तथा शब्द—स्वीकार करता है।
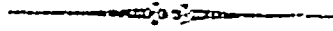
अनियमित मत एवं सर्वांशग्राही शाखा

सर्वांशग्राही शाखा का विवेचन करने के पूर्व मै सक्षेप मे उन दो नास्तिक तथा अनियमित मतों पर विचार करूँगा, जिनका विकास सम्भवतः बौद्ध-मत से हुआ, अथवा कम से कम उस मत से अधिक समानता रखते है; साथ ही साथ पूर्वोल्लिखित छ आस्तिक दर्शनों से भी कुछ मिलते-जुलते है।

ये दो मत है : १. जैनमत; २. चार्वाकमत या भौतिकतावादियो का मत। इनका वर्णन प्रसिद्ध माधवाचार्य के ग्रन्थ सर्वदर्शनसग्रह मे किया गया है, जो विविध धार्मिक, दार्शनिक, आस्तिक तथा नास्तिक हिन्दू मतो का सक्षिप्त वर्णन है, और इसमे पारद (रसेश्वर, जिसे शिव का रूप माना जाता है) के प्रयोग अथवा इसके विविध रासायनिक एव रससिद्धि की क्रियाओ के लिए निर्माण का विज्ञान भी सम्मिलित है; पाणिनि के व्याकरण सिद्धान्त का भी इसमे विवेचन हुआ है।[1]

---

[1] माधव चौदहवी शताब्दी मे हुये थे। वे सायण के अग्रज थे और ऋग्वेद के भाष्य मे उनका सायण के साथ सम्बन्ध दिखाया गया है (श्री बर्नेल ने अपने वंश-ब्राह्मण के आमुख मे उन्हे सायण से अभिन्न दिखलाया है)। वह विजय नगर के बुक्क प्रथम की सभा मे प्रधान मन्त्री थे। उन्होने सर्वदर्शन सग्रह के अतिरिक्त कई ग्रन्थो की रचना की (यथा, 'न्यायमालाविस्तर' नामक मीमासा दर्शन का परिचयात्मक ग्रन्थ; पराशर स्मृति पर भाष्य; काल निर्णय इत्यादि)। सर्वदर्शन संग्रह इन पन्द्रह दर्शनो का विवेचन करता है : १ चार्वाक दर्शन; २. बौद्ध-द° ३ आर्हत-द° ४. रामानुज-द°; ५. पूर्णप्रज्ञ-द° ६. नकुलीश-पशुपत-द°; ७. शैव-द°; ८. प्रत्यभिज्ञा-द°. ९ रसेश्वर-द°; १०. औलूक्य-द°; ११. अक्षपाद-द°; १२. जैमिनि-द°, १३. पाणिनि-द°, १४, साख्य-द°, १५. पातञ्जल-द°। वेदान्त इस सूची मे सम्मिलित नही किया गया है। चौथे के संस्थापक रामानुज एक वैष्णव सुधारक थे, जो एच० एच० विलसन के मतानुसार बारहवी शताब्दी के मध्य मे हुये थे। पाँचवा आन्द-तीर्थ का दर्शन हैं, जिनका उपनाम मध्वाचार्य है। उन्हे मध्यमन्दिर भी कहा जाता है; उनके लिये प्रयुक्त विशेषण 'पूर्णप्रज्ञ' का अर्थ है 'जिनका ज्ञान पूर्ण है'। छठाँ महेश्वरो की शाखा का एक मत है, जैसा कि प्रोफेसर ई० बी० कोवेल ने प्रदर्शित किया है (कोलब्रुक के निबन्ध १. पृ० ४३१, ४३४)। उनका अनुमान

जैन मत

माधव का जैनो का विवरण, जिन्हे वे आर्हत ('अर्हत' अर्थात् पूज्य से व्युत्पन्न, जिसका प्रयोग एक जिन या प्रधान तपस्वी के लिये होता है) कहते हैं, उनके सम्प्रदायो की सूची मे तीसरे स्थान पर और स्वाभाविक रूप से उनके बौद्धमत के विवेचन के उपरान्त आता है। वस्तुतः जैनमत भारत में अवशिष्ट बौद्ध धर्म के सिद्धान्तो का एकमात्र प्रतिनिधि है और उनसे इतनी समानता रखता है कि बौद्ध धर्म का पहले कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद अब हमे केवल इस दर्शन की कुछ विशिष्टताओं पर ध्यान देने की आवश्यकता रह जाती है क्योकि बौद्धमत का यदि यह वास्तविक वंशज नहीं तो उससे निकट रूप से सम्बद्ध तो अवश्य ही है।[१]

जैन, जो अब भी भारत के विभिन्न भागों मे[२] बडी संख्या में पाये जाते

हैं कि स्वयं शिव, जिन्हे नकुलीश कहा गया है, इस सम्प्रदाय के कल्पित संस्थापक रहे होगे, और यह निर्देश करते हैं कि पाशुपत शिव या पशुपति 'सम्पूर्ण निम्नकोटि के जीवो के स्वामी' (कुछ लोगो के अनुसार स्थूलपदार्थ के बन्धन मे बद्ध पशु या आत्मा के स्वामी) के भक्त थे। आठवाँ छठें के, और माहेश्वरो के समान ही, शैवसिद्धान्त का एक रूप परन्तु अधिक विश्वदेववादी है। शैव लोगो का मत है कि ईश्वर सृष्टिरचना में 'कर्मादि सापेक्ष', अर्थात् जीवात्माओ के कर्मों आदि पर आश्रित है; जबकि आठवें का यह कथन है कि ईश्वर की इच्छा ही सृष्टि का एक मात्र कारण है, क्योकि यह कहा गया है: 'निर्विकल्प हुए तथा केवल अपनी ही स्थिति का ज्ञान रखने वाले उसने दर्पण पर पड़े हुए अपने प्रतिबिम्ब के समान सभी भूतो को उत्पन्न किया।' इस कारण 'प्रत्यभिज्ञा' का अर्थ किया गया है 'प्रतिभाभिमुख्येन ज्ञानम्', दृश्य वस्तु या प्रतिबिम्ब के समान ज्ञान। दसवाँ वैशेषिक है। देखिए पृ० ७५ पर टिप्पणी।

[१] मैंने प्रोफेसर कोलब्रूक के जैनो पर निबन्ध की ई० बी० कोवेल लिखित परिशिष्ट, एच० एच० विलसन लिखित चैम्बर्स साइक्लोपीडिया, तथा सितम्बर १८७३ की 'इण्डिन एण्टिक्वेरी' के निबन्ध, तथा रेव० एच० बॉवेर की चिन्तामणि की भूमिका (मद्रास, १८६८), शास्त्रम् ऐयर नामक जैन विद्वान् के तमिल में जैनो पर लिखित निबन्ध का भी अवलोकन किया है। प्रोफेसर केर्न जैनों को प्रारम्भ में बौद्धो का सम्प्रदाय मानते हैं।

[२] वे गुजरात तथा पश्चिमी समुद्र तटो पर अधिक संख्या मे है, किन्तु अन्यत्र भी पाये जाते हैं, विशेषतः दक्षिण बिहार (मगध) में जहाँ उनकी उत्पत्ति हुई।

हैं, दो मुख्य सम्प्रदायों या दलो मे विभक्त है · १. श्वेताम्बर अर्थात् श्वेत वस्त्र धारण करनेवाले; २. दिगम्बर अर्थात् नग्न रहनेवाले[1]। इनमे से दूसरे भोजन के समय के अतिरिक्त रंगीन वस्त्र भी धारण करते है तथा अपने हाथो मे मयूर पख लिए रहते है। यद्यपि इन सम्प्रदायो के सिद्धान्त समग्र रूप से सूत्र[2] नाम से अभिहित पवित्र ग्रन्थो पर आधृत हैं, तथापि कुछ महत्त्वपूर्ण विषयो मे अन्तर रखते है, जैसे मूर्तियो को वस्त्र पहनाना या न पहनाना, स्वर्गों की संख्या इत्यादि। ये दोनो ब्राह्मणों के वेद को अस्वीकार करने मे बौद्धो से सहमत हैं। जैन धर्म की मुख्य विशेषता उन पवित्र व्यक्तियो के प्रति प्रदर्शित की जानेवाली श्रद्धा है, जिन्होने दीर्घकालीन नियमाचरण से पारलौकिक पूर्णत्व की अवस्था प्राप्त कर ली है। जिन या 'जीतने वाला तपस्वी', जो सभी सासारिक इच्छाओं को जीतकर तत्त्वो के यथार्थ ज्ञान का उपदेश देते है, जैनों के लिए वही स्थान रखते हैं जो बौद्धो के लिए बुद्ध या पूर्ण ज्ञान प्राप्त महात्मा। उन्हे जिनेश्वर अर्थात् जिनों मे प्रमुख, अर्हत् अर्थात् पूज्य, 'तीर्थकर' या 'तीर्थङ्कर' अर्थात् वह पूतात्मा जिन्होंने संसार का मार्ग बनाया है, 'सर्वज्ञ' अर्थात् सब कुछ जाननेवाले, तथा 'भगवत्' अर्थात् पुण्यात्मा, नाम भी दिये गये है। जैनो के मत मे काल अर्थात् समय अतिदीर्घ विस्तारवाली मानवीय गणनाओ को भी पार करने वाले दो चक्रो मे आगे बढता है :—१. उत्सर्पिणी या ऊपर चढ़ने वाला चक्र; २. अवसर्पिणी या नीचे आने वाला चक्र। इनमे से प्रत्येक की छ. अवस्थाएँ हैं। उत्सर्पिणी काल की अवस्था है—अशुभाशुभ, अशुभ, अशुभ-शुभ, शुभाशुभ, शुभ-शुभ काल। अवसर्पिणी काल मे शृंखला शुभ-शुभ से प्रारम्भ होती है तथा नियमित रूप से पीछे की ओर जाती है। प्रथम चक्र में मनुष्य की आयु और शरीर की ऊँचाई बढती है, दूसरे मे घटती है। इस समय हम अवसर्पिणी की पाँचवी अवस्था अर्थात् अशुभ अवस्था मे हैं। जब इन दो चक्रो की गति पूर्ण हो जाती है तो एक युग सम्पन्न होता है। चौबीस जिन या 'पूर्ण महात्मा', जिन्होंने देवों का पद प्राप्त किया, इस अवसर्पिणी चक्र मे प्रकट हुए है, चौबीस बीते हुए थे, और चौबीस भविष्य मे प्रकट होगे।[3] इनको व्यक्त करने वाली

---

[1] इन्हे शुक्ताम्बर विवसन भी कहते है। इन दोनो सम्प्रदायो के तपस्वियो को लुञ्चित-केश' 'जो अपने केश नोचता है' उपनाम दिया जाता है।

[2] देखिए, भूमिका। इनके भी पुराण है।

[3] ये सभी नाम 'अभिधान चिन्तामणि' मे दिये गये हैं जो एक विद्वान जैन, हेमचन्द्र, लिखित प्रसिद्ध पर्यायवाची शब्दकोश है। हेमचन्द्र का स्थितिकाल बारहवी शताब्दी ई० बताया जाता है। वर्तमान चक्र के जिन हैं: १. ऋषभ

मूर्तियाँ, बुद्ध की मूर्तियो के समान सदैव समाधि की मुद्रा मे है परन्तु उनके साथ विभिन्न पशु, वनस्पतियाँ एवं प्रतीक भी हैं (यथा वृषभ, हस्ति, अश्व, वानर, कमल, चन्द्रमा) जो भेद मूचित करने वाले चिह्न हैं। वर्तमान के चक्र के प्रथम जिन ८४,००,००० वर्ष जीवित रहे और उनके शरीर की ऊँचाई ५०० धनुओं के बराबर थी। दूसरे की आयु और ऊँचाई कुछ कम थी और इसी प्रकार उनकी आयु तथा ऊँचाई उत्तरोत्तर कम होती गई। अन्तिम दो जिन, पार्श्वनाथ तथा महावीर, सम्भवतः वास्तविक मनुष्य थे और इन्ही की मुख्य रूप से पूजा आजकल जैन करते है।[१] इस सम्प्रदाय के प्रथम संस्थापक पार्श्वनाथ थे तथा प्रथम सक्रिय प्रचारक महावीर। इसी चक्र मे बारह चक्रवर्ती या सार्वभौम सम्राट्, तथा नौ बलदेव नाम के, नौ वासुदेव नाम के, और नौ प्रति-वासुदेव नाम के दैवी पुरुष भी हो चुके हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर तिरसठ दैवी पुरुषो की सूची बनती है।[२]

ससार के विषय मे जैनो का कथन है कि नित्य परमाणुओं से निर्मित होने के कारण इसकी स्थिति अनादि काल से रही है और अनन्त काल तक रहेगी। उनका विश्वास है कि संसार के तीन भाग है—अधोभाग, मध्यमभाग, और ऊर्ध्वभाग, तथा अनेक नरक तथा स्वर्ग भी है। सभी सत् वस्तुएँ दो महान् तत्त्वों मे वर्गीकृत की गई हैं—'जीव' अर्थात् जीवित आत्मा, तथा 'अजीव' या

या वृषभ, २. अजित, ३. सम्भव, ४, अभिनन्दन, ५. सुमति, ६. पद्मप्रभ, ७ सुपार्श्व, ८ चन्द्रप्रभ, ९. पुष्पदन्त, १०. शीतल, ११. श्रेयस् या श्रेयाश, १२. वासुपूज्य, १३. विमल, १४. अनन्त, १५. धर्म, १६. शान्ति, १७. कुन्थु, १८. अर, १९. मल्लि, २०. मुनि–सुव्रत या सुव्रत; २१. निमि, २२. नेमि, २३. पार्श्वनाथ या पार्श्व, २४. वर्धमान या महावीर या वीर। इनमें से अन्तिम सामान्य मनुष्य के आकार के हुए और केवल चालीस वर्ष तक जीवित रहे जब कि तेईसवें सौ वर्ष तक जीवित रहे।

[१] डॉ० म्यूर ने कृपा करके बुद्ध की मृत्यु तथा अशोक के अभिलेखो पर लिखित एच० केर्न के विद्वत्तापूर्ण प्रबन्ध का संक्षेप पढने की स्वीकृति प्रदान की है, जो 'इण्डियन एण्टिक्वेरी' के निकलने वाले अंक के लिये लिखा गया है। इसमे मुझ यह विदित हुआ कि शाक्यमुनि तथा जिन महावीर के आख्यानो की उल्लेखनीय विभिन्नताओ के बावजूद भी इनमे समानता के भी महत्वपूर्ण विषय है! महावीर को सूर्यवंशी सिद्धार्थ का पुत्र कहा गया है और उनकी मृत्यु ३८८ ई० पू० बताई गई है; डॉ० केर्न ने बुद्ध शाक्य मुनि की मृत्यु का वर्ष भी यही बताया है।

[२] उनके नाम हेमचन्द्र के तीसरे अध्याय मे देखिए।

प्राणहीन वस्तुएँ। प्राणमय आत्माओं मे तीन प्रकार हैं—क. 'नित्य-सिद्ध' या सदैव पूर्ण, यथा जिन; ख. 'मुक्तात्मन्' अर्थात् मुक्ति प्राप्त कर चुकनेवाली आत्मा; ग. बद्धात्मन् अर्थात् बँधी हुई आत्मा या वह जो कर्मों एवं सासारिक सम्बन्धो से बद्ध हो। भौतिक वस्तुओ का वर्गीकरण कभी-कभी पुद्गल नाम के तत्त्व के अन्तर्गत किया जाता है। इन तत्त्वो को कुछ सात बताते है कुछ नौ।

तीन 'मणियाँ' है जो एक साथ मिलकर आत्मा के मोक्ष की सिद्धि कराती हैं, वे है—क. सम्यग्दर्शन; ख. सम्यग्ज्ञान; ग. सम्यक् चरित। अन्तिम मे निम्न पाँच कर्त्तव्य या व्रत आते है—१. हिंसा या आघात न करो; जिसका पालन जैन लोग इतनी अनर्थक सीमा तक करते है कि पीने के पहले जल छान लेते है; पृथ्वी पर चलते समय पैर रखने के पहले कूँची से झाड़ते है; अधेरे मे कभी भोजन या जल नही ग्रहण करते, और कभी-कभी सूक्ष्म कीटाणुओ को निगलने से बचाव करने के लिये मुख पर सूक्ष्मवस्त्र धारण करते हैं; अपरच वे कभी अजीर या बीज वाले दूसरे फल नही खाते, और अपने हाथ मास भोजन को छूते तक नही। २. असत्य मत बोलो। ३. चोरी न करो। ४. मनसा, वाचा और कर्मणा शुद्ध तथा विचारवान् बनो। ५. किसी वस्तु की अत्यन्त इच्छा न करो।

बौद्धो के समान (देखिए पृ० ५५) जैनो के भी दो वर्ग हैं:—'श्रावक': वे जो गृहस्थकर्म या लौकिक कार्यों मे लगे होते हैं; तथा 'यति': साधु या तपस्वी जिन्हें अपने केश कटवाने या बहुत छोटे रखने होते हैं। दूसरे प्राय मठों मे रहते हैं और जब मठवासी नही होते तो 'साधु' कहलाते है। जैनो को कभी-कभी किसी वस्तु की स्थिति होने या न होने की सम्भावना के विषय मे विरोधी मतो के सामजस्य की सात विधियों की प्रतिपादन-प्रणाली (सप्त-भङ्ग-नय, स्यादवाद) के कारण स्याद्वादी भी कहते हैं। यहाँ ध्यान देने योग्य है कि वे हिन्दू देवताओ (विशेषतः ब्रह्मा, विष्णु, शिव, तथा गणेश की, जिनो से निम्न कोटि के देवता के रूप मे) परिमार्जित पूजा करते है। वे वर्णव्यवस्था भी मानते है। यद्यपि हिन्दुओ के वेद को अस्वीकार करते है तथापि हिन्दू माने जाने का दावा करते हैं। पश्चिमी भारत मे जैनो के मदिरो के पुजारी ब्राह्मण है।

चार्वाक

भारत के 'पिर्हो' (Pyrrho) एवं 'एपिक्यूरस', तथा भौतिकतावादी सम्प्रदाय की स्थापना करनेवाले चार्वाक के विषय मे कुछ भी ज्ञात नही हैं। उसका मत सभी नास्तिक मतो मे निकृष्ट रूपवाला है, और इसी कारण

माधवाचार्य के 'सर्वदर्शनसंग्रह मे उसे प्रथम स्थान प्राप्त करने का गौरव मिला है। महाभारत के शान्तिपर्व (१४१०,इत्यादि) में चार्वाक नाम के एक राक्षस की कथा है, जिसने एक ब्राह्मण भिक्षु का वेश बनाकर युधिष्ठिर के हस्तिनापुर मे विजयोपरान्त प्रवेश के अवसर पर उनका तिरस्कार किया तथा अधम एवं नास्तिक सिद्धान्तों का उपदेश दिया। तथापि उसकी शीघ्र ही पोल खुल गई और वास्तविक ब्राह्मणो ने क्रोध में आकर उसका वही वध कर डाला। यह आख्यान सम्भवत. किसी तथ्य पर आधृत हो सकता है।

चार्वाकों का मत, जिसे कभी-कभी लोकायत या लोकायतिक[1] भी कहा जाता है, वार्हस्पत्य सूत्रो (वृहस्पति के सूत्रो) से निकला हुआ बताया जाता है। ये प्रत्यक्ष या इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान (देखिए पृ० ७१) के अतिरिक्त सभी प्रमाणो या यथार्थ ज्ञान के साधनो को अस्वीकार करते है। ये केवल चार ही तत्त्व या नित्य वस्तु मानते है—वे है: पृथ्वी, वायु, अग्नि, एव जल, और इन्ही से चैतन्य की उत्पत्ति बतायी जाती है। इनका कथन है कि आत्मा शरीर से भिन्न नही है, और अन्तत, ये यह कहते हैं कि संसार के सभी पदार्थ विना अदृष्ट (देखिए पृ० ६७) की सहायता के भी सहज ही उत्पन्न होते हैं। मैं इनके विचारों को संक्षेप में समझाने के लिये सर्वदर्शनसंग्रह (ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का संस्करण) के एक अंश का अनुवाद प्रस्तुत करता हूँ, जो वृहस्पति की कल्पित शिक्षा के अनुसार चार्वाक भौतिकतावादियों के मतो का प्रतिपादन करता है।[2] यह देखा जा सकता है कि इसमें व्यक्त भावनायें सर्वाधिक अविश्वासी, अनात्मवादी तथा भोगवादी योरोपीय लेखको के योग्य है—

> 'कोई स्वर्ग नही है; अन्तिम मोक्ष नही है, आत्मा नही है, कोई दूसरा लोक नही है और जाति-संस्कार नही है। कर्मों का कोई फल नही

[1] कुछ लोग यह नाम चार्वाकों की एक शाखा को देते है। चार्वाक नाम अनात्मवादी शाखा के किसी भी अनुयायी के लिये प्रयुक्त हो सकता है। देखिए वेदान्तसार, ८२—८५

[2] मैंने कोलब्रूक के निवन्धकारी प्रोफेसर ई० बी० कोवेल लिखित परिशिष्ट तथा डॉ० म्यूर का "इण्डियन मैटेरिअलिस्ट्स" (रायल एशियाटिक सोसाइटी का जर्नल, भाग १९, लेख ११) नामक लेख में दिये गये गद्यात्मक अनुवाद का भी अवलोकन किया है। वे विष्णुपुराण ३.१८ के अंश की तुलना करते है जिसमें समान विचार व्यक्त हैं। रामायण में राम के प्रति उक्त हेतुवादी ब्राह्मण जावालि के भाषण से तुलना कीजिए।

मिलता; अग्निहोत्र[2], तीन वेद, तीन आत्मसंयम[3] और पाश्चात्ताप की सभी धूल और भस्म—ये सभी उन लोगो के भोजन का साधन उपस्थित करते है जो बुद्धिहीन हैं—मानवतारहित है। यदि यज्ञ मे मारे गये पशु स्वर्ग के महलो मे पहुँच जाते है[3] तो यज्ञकर्त्ता को अपने पिता की ही बलि क्यो नही देनी चाहिए ? यदि अन्न की बलि मृत आत्माओं का पेट भर सकती है[4] तो यात्रा पर जानेवाले व्यक्ति को भोजन की सामग्री क्यो दी जाती है ? उसके मित्र घर पर ही उसे आहुति देकर खिला सकते है। यदि स्वर्ग मे रहनेवाले पृथ्वी पर दिये गये भोजन को पाकर तृप्त हो जाते हैं तो ऊपरी मजिल पर रहनेवालो का पेट नीचे रखे हुए भोजन से क्यो नही भर जाता ?

जब तक जीवन है, जीवन को सुख और आनन्द से बिताओ;[5] अपने सभी मित्रो से मनुष्य ऋण लेकर घृत का आहार करे, शरीर के भस्मीभूत हो जाने पर फिर पुनर्जन्म कहाँ से हो सकता है ? और यदि कोई प्रेत परलोक को जा सकता है तो उन प्रिय जनो का प्रेम जिन्हे वह छोड जाता है, उसे पीछे क्यो नही खीच लाता ? धन-धान्य से जो पूर्ण संस्कार मृत व्यक्तियो के लिये किये जाते है वे

---

[1] पृ० ३२ पर टिप्पणी देखिये।

[2] 'त्रिदण्ड', मन, वाणी, तथा कर्म पर नियन्त्रण, जो संन्यासियो के तीन दण्डो से सूचित होता है। देखिए मनु १२ १०,११।

[3] जैसा डॉ० म्यूर कहते हैं, यह मनु ५.४२ की ओर संकेत करता है, जहाँ यह कहा गया है कि विधिपूर्वक बलि दिये गये पशु पूर्ण आनन्द के स्थान को प्राप्त होते हैं। महाभारत के अश्वमेधपर्व, ७९३ आदि से तुलना कीजिए।

[4] यह श्राद्ध पर आघात है, जो हिन्दुओ के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण धार्मिक कृत्यो मे से एक है। इसमे मृत पिताओ, पितामहो एवं पूर्वजो की आत्माओ के लिये अपूप की बलि दी जाती है तथा जल से तर्पण किया जाता है। इन सस्कारो का नियमित समय से कठोरतापूर्वक पालन कम से कम हिन्दुओ मे पितृप्रेम की गुरुता का प्रमाण है। माता-पिता के आदर तथा उनकी स्मृति को धर्म का सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त है और धार्मिक कर्त्तव्य के रूप मे इस पर योरप की तुलना मे कही अधिक जोर दिया जाता है।

[5] 'Let us eat and drink, for tomorrow we die' (खाओ, पियो, कल तो मर ही जाना है) १ कोर० १५.३२। देखिए डॉ० म्यूर की टिप्पणी। इपोड० १३.३ इत्यादि जैसे होरेस की शिक्षाओ से तुलना कीजिए।

केवल धूर्त पुरोहितों द्वारा गढ़े हुए जीविकोपार्जन के साधन हैं—इससे अधिक कुछ नही। तीन वेदो के तीन रचयिता दुष्ट व्यक्ति थे, या दुष्ट आत्माएँ थी, या मूर्ख थे। रहस्यमय शब्दों का गान और पुरोहितो का जप[1] सब कोरी मूर्खता है।

भगवद्गीता में प्रदर्शित सर्वांशग्राही मत

भारतीय दर्शन के विषय को उचित उपसंहार देने के लिए मैं संस्कृत साहित्य के सर्वाधिक रोचक तथा लोकप्रिय ग्रथ का कुछ परिचय देने का प्रयत्न करूँगा। यह ग्रन्थ है 'भगवद्गीता' अर्थात् भगवत् के गीत या 'भगवत्' द्वारा गाये गये गूढ सिद्धान्त (उपनिषदः[2])। 'भगवत्' नाम कृष्ण के लिये प्रयुक्त होता है जो परमात्मा से उनका तादात्म्य सूचित करता है। यह काव्य, जो उपनिषदों से ग्रहण किये गये विचारो से भरा हुआ है और जिस पर महान् वेदान्ती आचार्य शङ्कराचार्य ने भाष्य लिखा है, भारतीय दर्शन की सर्वांशग्राही शाखा का प्रतिनिधि माना जा सकता है। जिस प्रकार नियमित मत या दर्शन अल्पाधिक उपनिषदो से विकसित हुए थे उसी प्रकार सर्वांशग्राही शाखा इन गूढ रचनाओं से कृष्णयजुर्वेदीय श्वेताश्वतर उपनिषद्[3] द्वारा सम्बद्ध है

---

[1] दो गूढ वैदिक शब्द 'जर्भरी' तथा 'तुर्फरी' ग्रन्थ में, जिसे आधुनिक वैदिक खलोक्ति कह सकते है, उसके उदाहरण स्वरूप दिये जाते है। जैसा डॉ० म्यूर ने निर्दिष्ट किया है वे ऋग्वेद १० १०६.६ तथा निरुक्त १३ ५ मे आये है। उनकी व्याख्या के लिये बॉटलिंक तथा रॉथ देखिए—तथा मेरा संस्कृत-अंग्रेजी शब्दकोश भी देखें।

[2] प्रत्येक अध्याय के अन्त मे अध्याय का नाम बहुवचन मे दिया गया है; यथा 'इति श्रीभगवद्गीतासु उपनिषत्सु', इत्यादि। देखिए पृ० १३३ पर टिप्पणी।

[3] इस उपनिषद का नाम श्वेताश्वतर नाम के ऋषि से व्युत्पन्न है, जिन्होने ग्रन्थ के अन्त मे (६.२१) इस ब्रह्म के सिद्धान्त को चार श्रेणियो मे सर्वश्रेष्ठ को प्रदान किया। इसका अनुवाद डॉ० रूअर ने अंग्रेजी मे किया है और प्रायः पूरे का अनुवाद प्रोफेसर वेबर ने जर्मन मे किया है (इण्डिश्श स्टूडियन १.४२२-४२९)। इसका रचयिता शैव रहा होगा (भगवद्गीता के रचयिता के समान वैष्णव नही) क्योंकि वह रुद्र को परमात्मा से अभिन्न बताता है। विलसन के अनुसार, 'श्वेत', 'श्वेताश्व', अर्थात् श्वेत अश्व, 'श्वेतशिख' अर्थात् श्वेत केशो वाला, तथा 'श्वेतलोहित' 'श्वेधरुधिरवाला' शिव के चार शिष्यो के नाम थे। वेबर इसके सीरियावासी ईसाइयो का

(देखिए पृ० ४४)। श्वेताश्वतर उपनिषद् निःसन्देह अपेक्षाकृत आधुनिक ग्रन्थ है, परन्तु चाहे भगवद्गीता के पहले या बाद मे इसकी रचना हुई हो इतना तो निश्चित है कि दोनो का लक्ष्य एक ही प्रतीत होता है। दोनो ही विभिन्न मतो के विरोधी विचारो मे सामञ्जस्य स्थापित करने का लक्ष्य रखते हैं और दोनो यह कार्य सांख्य एवं योग को वेदान्त के सिद्धान्तो पर आरोपित करके सम्पन्न करते हैं।[१] इस कारण यद्यपि साख्य का सृष्टिक्रम तथा उसके अनेक सृष्टिरचना सम्बन्धी विचार इन दोनो ने ही स्वीकार किये हैं, तथापि सभी सृष्ट भूतो के मूल एव लयस्थान, और साथ ही साथ, इन सभी भूतो से पूर्णतः स्वतन्त्र विश्व के परमात्मा (ब्रह्म) की परम प्रभुता दोनो ही मानते हैं।

श्वेताश्वतार के कुछ उद्धरण पृ० ४४ पर दिये गये हैं जो सर्वभूतरूप एवं सर्वभूतान्तर्गत विद्यमान परमात्मा के स्वरूप तथा गुणो का वर्णन करते हैं। उनके अतिरिक्त निम्न उद्धरण प्रथम और तृतीय अध्यायो से हैं (रूअर पृ० ५०, ५५, ५८)—

'इस पूर्ण ब्रह्म को नित्य एव अपनी ही आत्मा मे स्थित समझकर ध्यान करना चाहिए—क्योकि उससे परे कुछ भी ज्ञेय नही है ('नात पर वेदितु हि किञ्चित्')। जैसे तिल मे तेल होता है, नवनीत मे घी होता है, नदी मे जल होता है और काष्ठ मे अग्नि होता है, उसी प्रकार जो व्यक्ति पूर्ण ब्रह्म को सत्य तथा तप के द्वारा देखता है वह स्वय अपने भीतर उसका दर्शन करता है।'

'वह सबका नेत्र है, सबका मुख है, सबकी बाहु है और सबका पैर है। तुम भ्रमर ('नील पतङ्गः') हो, लालवर्ण के नेत्रोवाले पक्षी हो, वह मेघ हो जिसके भीतर विद्युत् होता है; तुम ऋतुएँ हो, तुम समुद्र हो। अनादि होकर तुम अपनी परमशक्ति द्वारा सभी भूतो मे व्याप्त हो, क्योकि तुमने इन सभी लोको की सृष्टि की है।'

निम्नांकित चौथे अध्याय (५) मे आए हुए एक अंश का उदाहरण है जिसके विचार निःसन्देह साख्य मत के समान हैं—

'एक अजन्मा (जीवात्मा) आनन्द के लिए एक अजन्मा (प्रकृति) के निकट आता है, जो श्वेत, रक्त, तथा कृष्णवर्ण का होता है [स्पष्ट ये साख्यमत के तीन गुणो को प्रस्तुत करते हैं], एक ही अपरिवर्तनीय रूप का होता है

उपदेश होने का सन्देह करते हैं। उनका विचार है कि उपनिषद् तथा गीता दोनो ही ने और विशेषत गीता ने ईसाई धर्म के विचारो को ग्रहण किया है।

[१] इसकी विस्तृत व्याख्या के लिए डॉ० रूअर की भूमिका देखिए।

और नाना-रूप सृष्टि उत्पन्न करता है। तब दूसरा अजन्मा (या नित्य आत्मा) उसके (प्रकृति के) आनन्दो का भोग करके उससे पराङ्मुख हो जाता है।'

अब हम भगवद्गीता[1] की ओर मुड़ते है। इस ग्रन्थ का वास्तविक रचयिता अज्ञात है। प्रारम्भ मे इसे 'महाभारत' मे स्थान देकर आदृत किया गया था, जिस महाकाव्य मे यह बैठा दिया गया है किंवा मुक्ता की भाँति पिरो दिया गया है। अन्य अनेक आख्यानों के साथ-साथ यह भी इस विशाल महाकाव्य की बहुरंगी चित्रकारी मे योगदान देता है। तथापि भगवद्गीता विशाल महाकाव्य से पूर्णतः स्वतन्त्र है और इसमे सन्देह नही किया जा सकता कि हिन्दू-दर्शन एव ज्ञान के अबाध विकास एवं प्रगति को ध्यान मे रखकर बनाये गये सस्कृत-साहित्य की किसी भी रचना क्रम मे इसका स्थान दर्शन विषय मे अन्तिम होना चाहिए। इसका रचयिता सम्भवत. एक ब्राह्मण और एक नामधारी वैष्णव था जिसका मस्तिष्क विस्तृत और स्पष्ट साँचे मे ढला हुआ था। उसका भारत मे स्थितिकाल ईसा की प्रथम या द्वितीय शताब्दी बताया जाता है।[2] दर्शन के उन मतो मे जो सामान्यतः उसके समय मे प्रचलित थे कोई आत्मतोष न पाकर तथा अपने चारो ओर व्याप्त भ्रष्ट ब्राह्मणधर्म से और भी असन्तुष्ट होकर इस ग्रन्थ के रचयिता ने हेतुवादी तथा रूढिवादी दर्शन की विभिन्न शाखाओ से सिद्धान्तो का चयन किया, और एक अपना नवीन दर्शन-सिद्धान्त रच डाला। यह कार्य उसने नितान्त स्पष्टता तथा भाषा सौन्दर्य के साथ किया और मानों साख्य, योग एवं वेदान्त तथा भक्ति[3] या परमात्मा मे श्रद्धा के परवर्ती

---

[1] इसे महाभारत के भीष्मपर्व मे जोडा गया है। यह अठारह अध्यायो मे विभक्त तीन खण्डों मे है और प्रत्येक मे छ अध्याय हैं। यह पर्व के २५ वे अध्याय की ८३० पंक्ति से १५३२ तक आता है। एशिया तथा योरोप मे इस ग्रन्थ का इतना सम्मान है कि इसके अनुवाद हिन्दी, तेलुगू, कन्नड़, तथा अन्य पूर्वी भाषाओ मे हुए हैं, और योरोपीय अनुवादों द्वारा भी सुप्रसिद्ध है जिनमे सर सी० विल्किन्स, का लन्दन मे १७८५ मे प्रकाशित अनुवाद प्रथम है। श्री जे० सी० थाम्सन का संस्करण तथा अनुवाद, जिसे स्टेफेन आस्टिन ने सन् १८५५ में एक विस्तृत भूमिका के साथ प्रकाशित किया है, कुल मिलाकर एक बहुत ही मूल्यवान कृति है और मैं उससे बहुत उपकृत हुआ हूँ।

[2] कुछ लोगो का विचार है कि वे तीसरी शताब्दी मे थे और कुछ उन्हे इसके बाद का भी बताते है परन्तु मै इन विचारो से सहमत नही हो सकता।

[3] शाण्डिल्य सूत्र, जिसका सम्पादन डॉ० वैलेण्टाइन ने प्रारम्भ किया था

सिद्धान्त के विविध विचाररूपी सूत्रो को लेकर उन्हें एक साथ बुन डाला। इन सूत्रो से वह मानो दर्शन का एक बहुरंगी बाना तैयार करता है जिनके बीच ऐसे कठोर, अनुदार, विश्वदेवतावादी सिद्धान्तो का ताना डालता है जो वेदान्त दर्शन के कट्टर अनुयायी के योग्य हैं।[1] इन ताना वाले सूत्रों मे सबसे प्रमुख हैं साख्य मत के सिद्धान्त जिसकी ओर गीता का स्पष्टत झुकाव है। सम्पूर्ण रचना कुशलता से नाटचकाव्य या संवाद के रूप मे है जो बहुत कुछ जॉब (Job) के ग्रन्थ या प्लेटो के एक संवाद की शैली है।[2] महाभारत के दो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण चरित्रनायक, अर्जुन एवं कृष्ण, इसमे वक्ता हैं। अर्जुन कदाचित् इस महाकाव्य के वास्तविक नायक हैं। वे पाण्डु के पॉच पुत्रो मे सर्वश्रेष्ठ वीर तथा साथ ही सर्वाधिक दयालु है। कृष्ण भगवान् ने, जो विष्णु[3]

और उनके बनारस मे उत्तराधिकारी प्रोफेसर ग्रिफिथ ने जारी रखा था, यह अस्वीकार करता है कि ज्ञान एक अनिवार्य वस्तु है और यह एक ऊँचे सिद्धान्त, भक्ति या 'ईश्वर की श्रद्धा' मे ज्ञान को अर्पित कर देने पर जोर देता है। प्रथम सूत्र भक्ति के स्वरूप के अन्वेपण को इस प्रकार प्रस्तुत करता है—'अथातो भक्तिजिज्ञासा'। प्रोफेसर वेवर तथा अन्य लोगो का विचार है कि हिन्दू मत में यूनानी 'पिस्टिस' और 'अगपे' का प्रयोग ईसाई धर्म के प्रभाव के कारण है।

[1] विश्वदेवतावादी सिद्धान्तों का प्राधान्य, उन्हें साख्य तथा योग मतो के अशो के साथ मिलाने के प्रयत्न के बावजूद भी इस तथ्य से प्रकट होता है कि वेदान्ती लोग इस काव्य को अपने ही विचारो की व्याख्या करनेवाला बताते हैं।

[2] तथापि इसे उपनिपद् किंवा उपनिषदो की शृंखला कहा जाता है; कारण उपनिपद् के समान ही यह गुप्त एवं गूढ दर्शन का प्रकाशन करता है। उदाहरणार्थ संवाद के अन्त मे (१८.६३) कृष्ण कहते हैं—'इस प्रकार मैंने तुम्हे गुह्य से भी अधिक गुह्य ज्ञान प्रदान किया है (इति मे ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया')।

[3] प्रोफेसर वेवर (इण्डिश्श स्टूडियन १ ४००) का विचार है कि ब्राह्मणो ने ईसवी वर्प के प्रारम्भ मे समुद्र पार कर एशिया माइनर मे प्रवेश किया, और लौटने पर उन्होने ईसाई कथाओ का प्रयोग अपने देवता माने गये नायक कृष्ण की कथा मे किया, जिनके नाम ने ही 'क्राइस्ट' के नाम का स्मरण दिलाया होगा। वेवर का कथन है कि कृष्ण के जन्म की कथा तथा कस द्वारा उनको तग करने की कथा हमे इतने आश्चर्यजनक रूप में इसके अनुरूप ईसाई आख्यानो की याद दिलाते है कि इस कल्पना के लिये कोई स्थान नही रह जाता कि यह समानता नितान्त आकस्मिक है। लास्सेन के अनुसार महाभारत

के रूप हैं और जिन्हे इस दार्शनिक सवाद मे स्वयं परमात्मा का अवतार कहा गया है, देवकी तथा वसुदेव के पुत्र के रूप मे मानव शरीर धारण किया है। वसुदेव पाण्डु की पत्नी, कुन्ती, के भाई थे। इस कारण भगवान् कृष्ण धृतराष्ट्र के भाई पाण्डु के पुत्रो के ममेरे भाई थे, और इन दोनो भाई, धृतराष्ट्र तथा पाण्डु, के पुत्र आपस मे चचेरे भाई थे। इन दोनो परिवारो में हस्तिनापुर[1] का राज्य प्राप्त करने की प्रतिस्पर्धा से जो युद्ध हुआ, उसमे कृष्ण ने किसी भी पक्ष से शस्त्र धारण करना अस्वीकार कर दिया किन्तु अर्जुन का सारथि बनने तथा उन्हे परामर्श देने को सहमत हो गये। भगवद्गीता के प्रारम्भ मे दोनो सेनाओं को रणभूमि मे युद्धार्थ उपस्थित बताया गया है और इस स्थिति मे अर्जुन अपने ही वन्धुओ का रक्त बहाकर युद्ध द्वारा राज्य प्राप्त करने के विचार से सहसा खिन्न होकर कृष्ण के प्रति अपने भाव इस प्रकार प्रकट करते हुए अचानक युद्ध से विरत होने का निश्चय करते है (१.२८–२९)—

'इस युद्ध की इच्छावाले खड़े हुए स्वजनो के समुदाय को देखकर मेरे अङ्ग शिथिल हुए जाते है और मुख भी सूखता जा रहा है। मेरे शरीर मे कम्प हो रहा है और रोमाञ्च हो रहा है। हाथ से गाण्डीव धनुप गिर रहा है, त्वचा जल रही है और मेरा मन भ्रमित हो रहा है। मैं सीधे खड़ा रहने मे भी असमर्थ हुआ जाता हूँ। हे कृष्ण, मैं युद्ध नही कर सकता, युद्ध नही करूँगा। मैं विजय नही चाहता, मुझे राज्य की अभिलाषा नही। मैं राज्य लेकर क्या करूँगा, जीवन के भोगो को लेकर क्या करूँगा, जब कि जिनके लिए राज्य-भोग और सुखादि की इच्छा की जाती है वे ही धन और जीवन की आशा त्याग कर युद्ध भूमि में खड़े है।'

इस वचन के प्रति अर्जुन को दिये गये उत्तर को विस्तृत दार्शनिक एवं अध्यात्मविद्या विषयक संवाद का स्थल बना लिया गया है, जो वस्तुतः

के जिन अंशो मे कृष्ण को दैवी सम्मान मिला है वे परवर्ती क्षेपक है और कृष्ण की वास्तविक पूजा पाँचवी या छठी शताब्दी के पूर्व नही पाई जाती। जैसा कि हम यहाँ देखेगे डा० लोरिन्सर सोचते है कि वे सम्पूर्ण भगवद्गीता मे ईसाई धर्म का प्रभाव ढूँढ़ सकते हैं। महाभारत (१२, १२,७०३) मे श्वेतद्वीप का आख्यान नि.सन्देह बहुत प्राचीनकाल मे ही योरोप के साथ सम्बन्ध की पुष्टि करता है। कृष्ण से सम्बद्ध आख्यान पूर्ण विस्तृत रूप मे भागवतपुराण के दशम स्कन्ध तथा इसके हिन्दी संस्करण, प्रेमसागर, मे दिये गये हैं।

[1] इस वृहत् महाकाव्य का सारांश आगे के व्याख्यान मे देखिए।

भगवद्गीता है, जिसका प्रमुख लक्ष्य वर्ण के कर्त्तव्यो को मित्रता एवं प्रेम के बन्धनो सहित सम्पूर्ण कर्त्तव्यो से ऊँचा स्थान देना तथा साथ ही साथ यह प्रदर्शित करना है कि इन कर्त्तव्यो का आचरण योग दर्शन द्वारा विहित सभी आत्मसयम एवं ध्यान के अनुकूल है; साथ ही साथ उस परमात्मा के प्रति प्रगाढ भक्ति के भी अनुकूल है जिससे भगवान् कृष्ण अभिन्न है।[1] चूँकि अर्जुन क्षत्रिय वर्ण के हैं इस कारण उन्हे एक योद्धा के समान आचरण करने का उद्बोधन दिया गया है। पुन पुनः उन्हे परिणाम की चिन्ता छोड़कर, तथा केवल धर्म के मार्ग का अनुसरण करते हुए अपने बान्धवो के वध की उपयुक्तता के विषय में रञ्चमात्र भी शङ्का न रखकर युद्ध करने का उपदेश दिया गया है। अतएव निम्न विचार अनेक वार दुहराये गये है (३ ३५, १८. ४७, ४८)—

> "स्वधर्म का आचरण करना श्रेयस्कर है,[2] क्योकि अच्छी प्रकार आचरित दूसरे के धर्म से गुणरहित अपना धर्म अति उत्तम है। कारण, अपने स्वधर्म का आचरण न करने से प्राण का त्याग करना उत्तम है; दूसरे धर्म मनुष्य को भय और विपत्ति प्रदान करते है। वही व्यक्ति कौशल प्राप्त कर सकता है जो अपने धर्म से विचलित नही होता।"

इस काव्य को प्रदान किये गये पवित्र स्वरूप तथा सम्पूर्ण भारत मे इसे दी जाने वाली श्रद्धा का ध्यान रखते हुए हम यह भली भाँति समझ सकते है कि इस प्रकार के वचनो ने पिछले १८०० वर्षों मे एक शक्तिशाली प्रभाव अवश्य डाला होगा और ये अनिवार्यतः उन वर्णव्यवस्थाओ की लौहशृङ्खला को और भी दृढ़ करते गये, जो ईसा से कई शताब्दी पूर्व से लेकर महान् उद्धारक बुद्ध के प्रयत्नो के वावजूद भी, प्रतिवर्ष हिन्दू समाज के विभिन्न वर्गों पर अपना

---

[1] हिन्दुओ में एक गाणपत्य सम्प्रदाय है जो गणपति या गणेश का परमात्मा के साथ अभेद स्थापित करता है। उसके सिद्धान्त 'गणेशपुराण' मे दिये गये है किन्तु उसका 'गणेश-गीता' नामका काव्य भी है, जो विषय-वस्तु की दृष्टि से भगवद्गीता से भिन्न नही है; कृष्ण के नाम के स्थान पर गणेश का नाम रख दिया गया है।

[2] शकुन्तला के 'पञ्चमाङ्काशोङ्कावतार', श्लोक १—

'निन्दित होता हुआ भी जो काम जिसकी वशपरम्परा से चला आ रहा हो उसे नही त्यागना चाहिए।'

इसमे प्रयुक्त शब्द (सहज कर्म) भगवद्गीता के शब्दो के ही समान हैं।

आधिपत्य बढ़ाती जा रही थी, विचारो के स्वस्थ आदान-प्रदान का गला घोट रही थी, और राष्ट्रीय ऐक्य को असम्भव बना रही थीं।

उदाहरणो को प्रस्तुत करने के पूर्व हम यह उल्लेख कर सकते है कि भगवद्‌गीता तीन खण्डो मे विभक्त है, और प्रत्येक मे छः अध्याय हैं। इस प्रकार दार्शनिक उपदेश प्रत्येक खण्ड में बहुत कुछ स्पष्ट है।

प्रथम काण्ड या खण्ड मुख्यतः योग दर्शन के माहात्म्य का वर्णन करता है, और जैसा हम देख चुके हैं, यह निर्देश देता है कि योग की तपस्याओं के साथ कर्म एवं नियमित स्ववर्णधर्म का पालन भी करना चाहिए। यह खण्ड इस घोषणा के साथ समाप्त होता है कि सभी तपश्चर्याओं का श्रेष्ठ प्रयोजन तथा लक्ष्य उस नितान्त अभिलषित विश्वदेवतावादी अवस्था को प्राप्त करना है जो पुरुष को सभी भूतो में परमात्मा का और परमात्मा में सभी भूतो का दर्शन करने योग्य बनाती हैं। अर्जुन को एक क्षत्रिय होने के कारण अपने बान्धवो के साथ युद्ध करने एव उनका वध करने के औचित्य के विषय मे सन्देह त्याग देने का उपदेश एक ऐसे तर्क द्वारा दिया गया है जो ईश्वर की नित्य स्थिति का प्रतिपादन करता है और जो इस प्रकार व्यक्त किया गया है (२. ११ इत्यादि)[1]—

> पण्डितजन जिनके प्राण चले गये हैं उनके लिये और जिनके प्राण नही गये हैं उनके लिये भी शोक नही करते। आत्मा नित्य है इसलिये शोक करना उचित नही। कोई भी ऐसा काल नही था जब मैं नही था, अथवा तू नही था, अथवा ये राजा लोग नही थे, और न कभी ऐसा ही समय आयेगा जब हम लोग नहीं रहेंगे। जैसे जीवात्मा की इस देह मे कुमार, युवा तथा वृद्धावस्था होती है, वैसे दूसरे शरीर की प्राप्ति भी होती है, उस विषय मे धीर पुरुष मोहित नही होते। जिस व्यक्ति को दुःख-सुख और सर्दी-गर्मी व्याकुल नही करते और जो इन्हें समान रूप से सहन करता है वह मोक्ष प्राप्ति के योग्य होता है। असत् वस्तु का अस्तित्व नही हो सकता और सत् वस्तु का अभाव नही हो सकता। इसके अनुसार नाशरहित उसे समझो जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, क्योकि इस अविनाशी का विनाश करने मे कोई समर्थ नही। इस नाशरहित अप्रमेय नित्यस्वरूप जीवात्मा के यह सब शरीर नाशवान् कहे गये है, किन्तु जो इस आत्मा को मारनेवाला समझता है अथवा जो इसे मरा

---

[1] मैंने डीन मिलमैन के अनुवाद से अधिक शब्दशः अनुवाद देने का प्रयत्न किया है, तथापि मैंने उनकी कुछ उक्तियों का अनुसरण किया है।

मानता है, वे दोनो ही इसे नही जानते है क्योकि यह आत्मा न मारता है और न मारा जाता है। यह आत्मा कभी न जन्मता है और मरता है, अथवा न यह आत्मा हो कर फिर होने वाला है, क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। जो व्यक्ति इस आत्मा को नाशरहित, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है, वह पुरुष कैसे किसको मरवाता है और कैसे किसको मारता है। जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रो को त्यागकर दूसरे नये वस्त्रो को ग्रहण करता है वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरो को त्यागकर दूसरे नये शरीर धारण करता है। इस आत्मा को शस्त्र काट नही सकते, आग जला नही सकती, जल गीला नही कर सकता और वायु सुखा नही सकता, क्योकि यह आत्मा अच्छेद्य है, अदाह्य है, अक्लेद्य और अशोष्य है, नित्य, सर्वव्यापक, अचल, स्थिर रहनेवाला, सनातन है, तथापि अव्यक्त, इन्द्रियो का अविषय, विकाररहित तथा अचिन्त्य है।[१]

योग का साधन अथवा किसी एक वस्तु पर (नामतः यहाँ कृष्ण से अभिन्न परमात्मा) पर मन को उस समय तक एकचित्त केन्द्रित करना जब तक कि सभी विचारो से मुक्ति, पूर्ण शान्ति, तथा भगवान् मे लय का परमलक्ष्य प्राप्त न हो जाय, बडी ओजस्वी भाषा मे दूसरे तथा छठें अध्यायो मे उपदिष्ट है। इन अध्यायो से मैं निम्न उदाहरणो को उद्धृत करता हूँ जिनका अनुवाद अक्षरशः किया गया है परन्तु ये मूल में दिये गये क्रम के अनुसार नही हैं—

योगी व्यक्ति उस प्रकार निश्चल और स्थिर होता है मानो वह पर्वत के शिखर पर[२] आरूढ हो। उसकी वासनाएँ और इन्द्रियाँ सभी जीत ली गई होती है। वह लौकिक तथा पारमार्थिक ज्ञान से पूर्ण होता है। जिसके लिये मिट्टी, पत्थर या सुवर्ण[३], सुहृद, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी और बन्धुगण, तथा धर्मात्मा और पापी सभी समान है वही व्यक्ति 'ईश्वर से युक्त' कहा जाता है। जो व्यक्ति भगवत् मे पूर्ण योग[४] की परमावस्था प्राप्त करने का लक्ष्य रखता है, उसे भोजन,

---

[१] पृ० ४३ पर अनूदित कठ उपनिषद के अंश की तुलना कीजिए।

[२] कूटस्थ. (६ ८) का अर्थ 'एक पर्वत के शिखर के समान सीधा खड़ा हुआ' हो सकता है।

[३] सस्कृत मे टेढे रूप मे 'सम-लोष्टाश्मकाञ्चन.' द्वारा व्यक्त किया गया है। (६ ८)

[४] मैंने इन शब्दो को सस्कृत के 'युक्त' तथा 'योग' शब्द के समान अर्थ मे प्रयुक्त किया है। 'ज्वाइण्ड' तथा 'जंकशन' भी समान शब्द हैं।

निद्रा, जागरण, तथा कर्मों की चेष्टा मे यथायोग्य आचरण करना चाहिए। तब यदि वह गहन समाधि द्वारा ईश्वर की प्राप्ति करना चाहता है तो उसे संग्रह रहित तथा वासना रहित होकर किसी एकान्त स्थान मे आश्रय लेना चाहिए[1] तथा अपने चित्त और मन को केवल ईश्वर के ध्यान मे लगाना चाहिए। उसे न तो अति ऊँचे स्थान पर और न अति नीचे स्थान पर अपना आसन लगाना चाहिए और अपने ऊपर मृगछाला या वस्त्र डाल लेना चाहिए। उसे कुशा पर सीधे और स्थिर होकर बैठना चाहिए। उसका शरीर, सिर तथा कन्धे सीधे और स्थिर होवे। उसके नेत्र केवल एक विन्दु[2] की ओर लगे हों, चारो ओर न देखें, वह वासना रहित होवे, चिन्ता से मुक्त होवे, उसका चित्त वश मे हो और वह गम्भीर ध्यान मे लीन हो। जिस प्रकार एक कच्छप अपने सिर और पैरों को अपने शरीर मे समेट लेता है उसी प्रकार उसे अपनी इन्द्रियो को ऐन्द्रिक विषयो से खीच लेना चाहिए। जिसकी इन्द्रियाँ पूर्णरूप से वश मे हो गई हैं वह पवित्र ज्ञान प्राप्त करता है और उसके द्वारा वह चित्त की शान्ति प्राप्त करता है। शान्ति प्राप्ति के विना आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। जो झंझावात मे पड़ी हुई नौका की स्थिति होती है वही स्थिति उस मनुष्य की होती है जिसका मन वासनाओं का दास है। वासनाये वायु के समान उसे दूर ले जाती है। शान्ति ब्रह्म की अवस्था है। वह व्यक्ति, जो समाधि मे लीन रहता हुआ अपनी आत्मा को परमात्मा से युक्त करता है, एक ऐसे अग्निपुञ्ज के समान है जो वायु से रक्षित होने पर बुझता नही है।

अव मैं इस काव्य के दूसरे खण्ड पर आता हूँ जिसमे वेदान्त के विश्व-देवतावादी सिद्धान्तो का अन्य खण्डो की अपेक्षा अधिक स्पष्ट विवेचन किया गया है। इसमे कृष्ण अति सरल भाषा मे स्वय को विश्व मे व्याप्त तथा पूजे जाने का अधिकारी प्रदर्शित करते है। मैं इस खण्ड के विभिन्न अध्यायो के अशो

---

[1] तुलना, मैथ्यू० ६.६ 'But thou, when thou prayest, enter into thy closet and when thou hast shut thy door, pray to thy Father which is in secret (जब तुम्हे प्रार्थना करनी हो तो तुम अपने कक्ष मे प्रवेश करो और उसके द्वार वन्द करके उस पिता की प्रार्थना करो जो एकान्त मे रहता है)।

[2] मूल (६.१३) के अनुसार 'अपनी नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि केन्द्रित करके' ('सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रम्')। देखिए पृ० १००।

को बिना मूल ग्रन्थ के क्रम का ध्यान रखे हुए यहाँ उद्धृत करता हूँ जो अनेक पुनरुक्तियों तथा विभिन्न भाषा मे एक ही विचारो की आवृत्ति के दोष से भरा पड़ा है—

'हे अर्जुन ! तू जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है, और जो कुछ धर्माचरण के रूप मे तप करता है वह सब मुझे अर्पण कर (९. २७)।[1] मैं प्राचीन पुरुष

---

[1] तुलना कीजिए १ कोर १०.३१, 'Whether therefore ye eat or drink, or whatever ye do, do all to the glory of God." (इसलिए चाहे तुम खाओ या पिओ, चाहे जो कोई कार्य करो सभी ईश्वर की पूजा मे करो)। कृष्ण के आख्यानो पर ईसाई धर्म के प्रभाव के विषय मे वेबर तथा अन्य लोगो के विचारो का विस्तार करते हुए डॉ० लोरिन्ज़र सोचते है कि भगवद्गीता के अनेक विचार सीधे 'न्यू टेस्टासेण्ट' से ले लिये गये है, जिसकी प्रतियाँ उनके मतानुसार तीसरी शताब्दी मे भारत पहुँची जिस समय वे इस काव्य को लिखा गया मानते है। वे क्राइस्ट तथा कृष्ण नामो की समानता का भी मत रखते है। तथापि वे यह भूलते प्रतीत होते हैं कि सत्य के अश सभी धार्मिक दर्शनो मे उपलब्ध होते हैं, चाहे वह कितना भी मिथ्या क्यो न हो और यह कि यद्यपि बाइबिल एक वस्तुतः प्रकाशित वचन है फिर भी विचारो को प्रदान करने के माध्यम, मानव मन, की दृष्टि से एक नितान्तः प्राच्य ग्रन्थ है, जो पाश्चात्य साँचे मे ढाला गया है और प्राच्य विचारो तथा अभिव्यक्तियो से भरा है। उनकी कुछ तुलनाये केवल भाषा की सगतियाँ हैं जो बिल्कुल स्वाभाविक एव स्वतन्त्र रूप से घटित हो सकती है। अन्य विषयो मे, जहाँ वह विचारो की सङ्गतियो की ओर ध्यान आकृष्ट करता है—(यथा, आत्म-सयम के क्षेत्र का मन, वाणी तथा कर्म मे विभाजन (अध्याय १७.१४–१६ इत्यादि) तथा प्रार्थना, व्रत एवं दान देने के सत्कर्म—ये ईसाई मत से किस प्रकार ग्रहण किये गये होगे जब ये मनु मे भी उपलब्ध होते है, जिसे कोई पाँचवी शताब्दी ई० पू० से बाद का नही मानेगा ? इस प्रकार 'त्रिदण्डी' (मनु १२.१०) या तीन प्रकार का नियन्त्रण रखनेवाला जो अपने विचारो, शब्दो एवं कर्मों पर नियन्त्रण रखता है (देखिए पृ० १२९, टिप्पणी); यही विभाजन मनु २-१९२.२३६ मे भी पाया जाता है। प्रोफेसर कोवेल ने यह सकेत दिया है कि यह मनु से पूर्व कृष्ण यजुर्वेद ६.१ ७; तथा इसके आरण्यक १० १ १० एवं ऐतरेयब्राह्मण ३ २८ मे भी पाया जाता है। प्लेटो ने अपने प्रोटागोरस (पृ० ३४८) मे यही विचार दिये हैं, और यह जण्ड अवस्ता (गाथा अहुनवैति ३.३) मे भी उपलब्ध होता है।

हूँ[1], सर्वज्ञ हूँ, अनादि हूँ; मैं ही नियन्ता हूँ, और सबको धारण करने वाला हूँ[2]। मैं अचिन्त्यरूप हूँ, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर हूँ[3], मैं सम्पूर्ण जगत् का कारण हूँ। मेरे द्वारा इसकी सृष्टि होती है और इसका लय होता है। मेरे ही ऊपर सभी वस्तुएँ सूत्र मे सूत्र-मणियो के सदृश गुथी हुई है[4]। मैं सूर्य और चन्द्रमा मे प्रकाश हूँ; तम से मैं बहुत दूर हूँ[5]। मैं अग्निशिखाओ मे चमक हूँ, सभी प्रकाशमान वस्तुओं मे प्रकाश हूँ। मैं सभी ज्योतियो मे ज्योति हूँ,।[6] आकाश मे मैं शब्द हूँ। मैं पृथ्वी मे गन्ध हूँ, सभी भूतो का नित्य बीज हूँ, सबका प्राण हूँ[7]; पिता, माता, पति, पितामह और विश्व का पालनकर्ता हूँ। इसका मित्र और

तथापि डॉ० लोरिंजर के सिद्धान्त के पक्ष मे कुछ कहना चाहिए। उनका जर्मन अनुवाद (१८६९) टिप्पणियो से सवलित है और समानताओ को प्रदर्शित करता है। अक्टूबर १८७३ की 'इण्डियन एन्टिक्वेरी' भी देखिये।

[1] 'कविः पुराणः' ८ ९; वैदिक सस्कृत मे कवि का अर्थ है 'बुद्धिमान' और यह अनेक देवताओ का, विशेपतः अग्नि का, विशेपण है। कवि का काव्य रचनेवाला अर्थ परवर्ती सस्कृत मे होता है।

[2] 'सर्वस्य धाता' ८ ९।

[3] 'अणोरणीयान्' ८ ९। इस ग्रन्थ के पृ० ८० से तुलना कीजिए।

[4] ७.७। डॉ० लोरिन्जर रोम ११.३६ 'Of him, and through him, and unto him, are all living' (उसका, उसके कारण और उसके प्रति सभी जी रहे हैं)। जॉन १.३ 'All things were made by him, and without him was not anything made that was made'. (सभी वस्तुओ की रचना उसने की और कोई भी वस्तु जिसकी रचना हुई उसके बिना नही रची गई)।

[5] 'प्रभास्मि शशि-सूर्ययः' ७-८; 'तमसः परस्तात्' ८-९। तुलना कीजिए १. जॉन १.५ 'God is light and in him is no darkness at all' (ईश्वर प्रकाश है और उसमे तम का लेशमात्र नही है)। देखिए ऋग्वेद १.५०,१०।

[6] 'ज्योतिपा ज्योतिः' १३ १७; तुलना बृहदारण्यक उपनिपद्, इस ग्रन्थ के पृ० ३७-३८ पर उद्धृत।

[7] 'सर्वभूतानां बीजम्' ७. १०, १०. ३९। तुलना कीजिए जॉन १ ३: 'All things were made by him'. (सभी वस्तुओ की रचना उसी ने की है)।

स्वामी हूँ। मैं इस विश्व का मार्ग[1] हूँ, इसकी शरण हूँ। इसका निवासस्थान और आश्रय हूँ, मैं इसका साक्षी हूँ। मैं विजय और शक्ति हूँ। मै सभी दिशाओं की ओर दृष्टि तथा नेत्र करके विश्व का निरीक्षण करता हूँ[2]। मैं ज्ञान के समान सभी लोगो के हृदय में निवास करता हूँ।[3] सात्त्विक पुरुषो मे मैं सात्त्विक भाव हूँ, मैं प्रारम्भ हूँ, मध्य हूँ, अन्त हूँ, नित्य समय हूँ, सभी का जन्म और मृत्यु हूँ।[4] अक्षरो मे मैं अकार हूँ।[5] मैने सब की रचना अपने एक अश से की है। पापयोनि वाले भी मेरी शरण मे होकर परमगति को प्राप्त कर सकते हैं[6], फिर क्यो कहना कि पुण्यशील ब्राह्मण जन तथा राजर्षि भक्तजन ही परमगति को प्राप्त होते है; इसलिये

---

[1] गति ९ १८; तुलना जॉन १४.६, 'I am the way' (मैं ही मार्ग हूँ)।

[2] 'विश्वतोमुख', सभी दिशाओं की ओर मूख किये हुये; ९ १५'

[3] 'ज्ञानं हृदि सर्वस्य निष्ठितम्' १३.१७; तुलना २ कोर: ४.६

[4] तुलना रिव० १.१७ १८, 'I am the first and the last and have the keys of hell and death' (मैं प्रथम और अन्तिम हूं, नरक और मृत्यु की कुजिया मेरे हाथ हैं)। श्री मूलेन्स ग्रीक आर्फिक सूक्तो के समान वर्णनों की ओर ध्यान आकृष्ट करते है—ज्यूस प्रथम थे, ज्यूस अन्तिम है; ज्यूस सिर हैं, ज्यूस मध्य हैं, ज्यूस से ही सभी वस्तुएँ निर्मित है, ज्यूस सभी वस्तुओ का प्राण है, ज्यूस सूर्य है और चन्द्रमा है, इत्यादि। उनके निबन्ध का पृ० १९३ देखिए, तथा पृ० १११ की टिप्पणी ४ से तुलना कीजिए। एक और अभिलेख देखिए जिसे एथेने के मन्दिर मे स्थित कहा जाता है।

[5] 'अक्षराणामकारोऽस्मि' १० ३३; तुलना रिव० १.८, 'I am Alpha and Omega।

[6] पापयोनय: 'निम्नजन्मवाले' ९ ३२। ग्रन्थ यह भी बताता है कि ये कौन लोग हैं: ये हैं स्त्री, वैश्य तथा शूद्र। यह हिन्दुओ की नारी जाति के प्रति भावना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। एक स्त्री का धर्म अपने गृहस्थी के कर्त्तव्यो का ध्यान रखते हुए प्रथम अपने पिता और फिर अपने पति का आज्ञापालन करना बताया गया है; देखिए मनु २ ६७। किन्तु वैश्यो का शूद्रो के साथ सम्पर्क विचित्र प्रतीत होता है। (तुलना पृ० १५९.६)। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा राजर्षि, अर्थात् पुण्यात्मा व्यक्ति—अर्ध राजा, अर्द्ध योगी—जन्मना तथा पदेन धार्मिक कर्त्तव्यो के योग्ग और स्वर्ग प्राप्त करने के अधिक भागी हैं।

तुम दुखित मत हो। मैं तुम्हे तुम्हारे सभी पापों से मुक्त करूँगा[1]। तुम मेरा ध्यान करो, मेरे ऊपर श्रद्धा रखो, मेरी उपासना और पूजा करो।[2] तुम समाधिलीन होकर मुझमें अपने को युक्त करो। इस प्रकार हे अर्जुन! तुम मुझे प्राप्त होओगे, तुम मेरे परमलोक को प्राप्त करोगे, जहाँ न सूर्य चमकता है और न चन्द्र, क्योंकि जो कुछ प्रकाश उनके पास है वह मेरा प्रकाश है।[3]

मैं अब विश्वरूपदर्शन नाम के ग्यारहवे अध्याय पर आता हूँ। सारथि के रूप मे कार्य करनेवाले कृष्ण का वास्तविक स्वरूप देखने के उपरान्त अर्जुन ने भय और विस्मय से उन से इस प्रकार कहा—

हे परमेश्वर! इस परम गोपनीय अध्यात्मविषयक वचन तथा आपके नित्य आत्मा के साथ ऐक्य का ज्ञान होने पर मेरे अज्ञान का

---

[1] 'अहं त्व सर्वपापेभ्यो मोचयिष्यामि मा शुचः'। तुलना, मैथ्यू ९.२. 'Be of good cheer, thy sins be forıven thee." 'प्रसन्न रहो अपने पापो के लिये तुम क्षमा प्राप्त करोगे।' मौलिक पाप की एक भावना हिन्दुओ के सभी वर्गों द्वारा अनुभूत हो रही है जैसा कि गायत्री के उपरान्त अनेक धार्मिक व्यक्तियो द्वारा की जाने वाली इस प्रार्थना मे स्पष्ट है—

पापोऽहं पाप-कर्माहं पापात्मा पाप-संभवः।
त्राहिमाम् पुण्डरीकाक्ष सर्वपापहर हरे॥

मै पापी हूँ, मैं पाप करता हूँ, मेरा स्वभाव ही पापपूर्ण है, मैं पाप मे उत्पन्न हुआ हूँ, ऐ कमलनेत्र हरि,! पापो को दूर करने वाले, मुझे बचाओ'

[2] मूल है 'मद्मना भव मद्भक्तो मद्याति माँ नमस्कुरु', ९.३४। तुलना प्रोव० २३,२६ 'My son give me thine heart'. (मेरे पुत्र, मुझे अपना हृदय दो)

[3] 'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्क.' १५.६। 'यदादित्यगतं तेजो यच्चन्द्रमसि तत्तेजो विद्धि माकम्' १५ १२। तुलना, ख़ि० २१.२३; 'The city had no need of the sun, neither of the moon to shine it for the glory of God did lighten it. (नगर को प्रकाश के लिये सूर्य या चन्द्रमा की आवश्यकता नही है, क्योकि ईश्वर के गौरव ने इसे प्रकाशित किया है। तुलना कीजिए, महाभारत ३,१७४५, इत्यादि 'न तत्र सूर्याः समो वा द्योतते च पावक.। स्वयैव प्रभया तत्र द्योतन्ते पुण्यलब्धया।' इन्द्र के स्वर्ग मे सूर्य का प्रकाश नही होता, न तो चन्द्रमा का और न अग्नि का ही प्रकाश होता है। वहाँ वे (पुण्यात्मा) अपने धर्म से अर्जित प्रकाश द्वारा ही प्रकाशित होते हैं।

अन्धकार नष्ट हो गया है। अतएव हे पुरुषोत्तम ! यदि आप का वह दिव्य रूप[1] मेरे द्वारा देखे जाने योग्य हो तो मुझे दिखाइए।

इस पर कृष्ण उत्तर देते हैं—

हे पाण्डव ! तू मेरे रूप को अपने प्राकृत नेत्रो से नही देख सकता। किन्तु मैं तुझे अलौकिक चक्षु प्रदान करता हूं, मेरे सैकड़ों तथा हजारों, नाना प्रकार के, तथा नानावर्ण तथा आकृतिवाले अलौकिक रूपों को देख।

यहाँ कृष्ण के विराट स्वरूप का वर्णन दिया जाता है[2]—

इस प्रकार कहकर, सभी भूतो के परमेश्वर ने अर्जुन को अपना विराट रूप दिखाया वह स्वरूप सभी दिशाओ की ओर अनेक मुखों, अनेक बाहुओ, आभूषणो, मालाओ, दिव्य वस्त्रों से युक्त था। मानो सम्पूर्ण आकाश एक ही क्षण मे दिव्य प्रकाश से युक्त सूर्यों से व्याप्त हो गया था। इस प्रकार उन्होने विश्व के सम्पूर्ण भूतो को उस देवो के देव श्रीकृष्ण भगवान् के शरीर मे एक जगह स्थित देखा।[3]

रोमाञ्चयुक्त अर्जुन भय और विस्मय के साथ इस विश्वरूप के सम्मुख नतमस्तक हो जाते हैं और हाथो को जोड़कर भक्ति-विह्वल हो प्रार्थना करते हैं जो यहाँ सक्षेप मे प्रस्तुत है—

'हे देव, मैं आपके शरीर में सम्पूर्ण देवों को तथा अनेक भूतो के समुदाय को देखता हूँ। मै आपको सभी ओर से प्रकाशमान तेज के पुंज के रूप में देखता हूँ। मैं आपको सूर्य की ज्योति सदृश प्रकाशमान मुकुट धारण किये हुए देखता हूँ। मैं आपको पृथ्वी और आकाश मे व्याप्त देखता हूँ। आपको अपरिमित असिमित, आदि, मध्य और अन्त रहित देखता हूँ, अटल नियमो की रक्षा करनेवाले रूप मे देखता हूँ,

---

१ पुरुषोत्तम—'मनुष्यो मे उत्कृष्ट' कृष्ण के लिये सामान्य नाम है।

२ डॉ० लोरिन्जर इस विचार को रूप परिवर्तन की गास्पेल (Gospel) कथा से ग्रहण किया गया मानते है। गास्पेल के दृश्य से इसका अन्तर प्रदर्शित करना उचित होगा—'His face did shine as the sun and his raiment was white as the light' (उसका मुख सूर्य के समान चमकता था उसके वस्त्र प्रकाश के समान शुभ्र थे) मैथ्यू० १७ २. मार्क. ९. २,

३ महाभारत के उद्योगपर्व में कृष्ण अपना स्वरूप एकत्रित राजकुमारो के सम्मुख इसी प्रकार प्रकट करते हैं, जो इस भयानक दृश्य को देखकर आँखें बन्द कर लेते हैं और धृतराष्ट्र को इस अलौकिक दृश्य को देखने के लिये दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाती है।

आप अनन्त पुरुष है,[1] आपके स्वरूप का दर्शन करके तीनों लोक भय-विस्मित हो गया है, आपका रूप विराट् और अवर्णनीय है। हे देवो के देव मुझ पर कृपा करो, तुम्हारी प्रभा से सम्पूर्ण ससार चमक रहा है, सभी तुम्हारी आराधना मे लगे है। सम्मुख सभी दुष्ट राक्षसगण भयभीत होकर हवा मे भागते जा रहे है तथा महर्षि[2] और सिद्धो के समुदाय तुम्हारी स्तुति करते है। तुम प्रथम स्रष्टा हो[3], सभी देवो के स्वामी हो, पुरातन पुरुष हो और जो कुछ भूत और अभूत है उसके परम आश्रय तथा सबके ज्ञाता हो, सबके ज्ञेय हो। हे अनन्त विस्तार वाले, तुम सबके ज्ञाता हो, तुम सब कुछ हो (११.४०)।

पृथ्वी के महान् योद्धा तुम्हारे पास लौट आते हैं और पुनः वे तुम्हारे प्रकाशमान तत्त्व मे उसी प्रकार विलीन हो जाते है जिस प्रकार बड़ी नदियाँ समुद्र मे जाकर मिल जाती हैं (११.२८)

तुम्हारे लिये सभी प्राणी सभी दिशाओ से आगे, पीछे, ऊपर, सभी ओर से सहस्रों प्रार्थनाएँ करते हैं। तुम्हे नमस्कार है, नमस्कार है, नमस्कार है। मैं पुन. पुनः तुम्हारी प्रार्थना करता हूँ। दया करो, मैं तुम्हारी प्रार्थना करता हूँ, मुझे क्षमा करो कि मैंने तुम्हारे इस प्रताप को न जानकर तुम्हे अपना सखा समझा; मुझे क्षमा करो। मैंने जो कुछ तुम्हें अपना मित्र समझकर अनादर किया उसके लिये मुझे क्षमा करो। हे देवताओ के परमदेव, मैं तुम्हारे सम्मुख श्रद्धा से प्रणत हूँ, तुम सभी भूत तथा अभूत प्राणियो के पिता हो। तुम दया करो। पिता जैसे पुत्र के और प्रेमी जैसे प्रिय के अपराध को क्षमा करता है वैसे ही तुम मेरे अपराध को सहन करो। तुम्हारे इस वास्तविक रूप को देखकर मेरा मन भय से व्याकुल हो रहा है।

---

[1] 'सनातनः पुरुष.' (११. १८) का अनुवाद अनित्य आत्मा (इटर्नल स्पिरिट) किया जा सकता है।

[2] महर्षि—महात्मा तथा सिद्ध ११. ३१; Te Deum के अंशो से तुलना कीजिए। सिद्ध, गन्धर्व अर्थात् अर्ध देव हैं, जो नितान्त पवित्र होते है। प्रारम्भिक पुराकथाशास्त्र में इन्हें साध्य कहा गया है (मनु १.२२)। यद्यपि मूल मे सिद्ध और साध्यो का पृथक् उल्लेख हुआ है, तथापि उनके विषय में भ्रम भी दिखाई पड़ता है।

[3] 'पुरुषः पुराणः' ११. ३८। तुलना डेनियल ७.९. 'The Ancient of days did sit."

इसलिए हे देवो के देव, प्रसन्न हो। हे जगन्निवास ! एक बार पुनः
तुम मुझे अपने मानव शरीर का दर्शन दो ।[1]

भगवद्गीता के वर्ण्यविषय के प्रथम एवं द्वितीय खण्ड से सम्बद्ध कुछ और उल्लेखनीय अंश उद्धृत किये जा सकते है। मैं निम्न उदाहरणो को यहाँ प्रस्तुत करता हूँ—

'जो मूढबुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियों को हठ से रोककर इन्द्रियों के भोगों का मन से चिन्तन करता रहता है वह दम्भी (मिथ्याचारी) कहा जाता है।' (३.६; तुलना मैथ्यू ५.२८)

'हे अर्जुन ! मेरे और तेरे अनेक जन्म हो चुके है, मैं उन सबको जानता हूँ परन्तु तू नही जानता।' (४.५; तुलना जॉन ८.१४)

'धर्म की स्थापना करने के लिये मैं युग युग मे प्रकट होता हूँ' (४,८; तुलना जॉन १८.३७, १. जॉन ३.३)

'ज्ञानी व्यक्ति को मैं सभी धनो से प्रिय हूँ और वह मुझे प्रिय होता है।' (६.१७; तुलना ल्यूक १४, ३३; जॉन १४ २)।

'अज्ञानी, श्रद्धारहित, और सशययुक्त पुरुष परमार्थ से भ्रष्ट हो जाता है।' (४. ४०; तुलना मार्क १६, १६)

'उस परमात्मा के अन्तर्गत सभी भूत है और उससे यह सभी जगत् व्याप्त है।' (८. २२; तुलना एक्ट्स, १७. २८)

'मूढ व्यक्ति मनुष्य का शरीर धारण करनेवाले मुझ परमात्मा को तुच्छ समझते हैं' (९. ११; तुलना जॉन १. १०)

सभी वेदों में मैं ही वेद्य हूँ (१५. १५; तुलना जॉन ५. ३९)। 'मनुष्य का, सब ओर से परिपूर्ण जलाशय के प्राप्त होने पर छोटे जलाशय मे जितना (स्नान या जल पीने का) प्रयोजन रहता है, अच्छी प्रकार ब्रह्म को जानने वाले ब्राह्मण का भी सब वेदो में उतना ही प्रयोजन रहता है।' (२. ४६; श्री थाम्सन मूल के अनेक प्रयोगो की तुलना हमारे पवित्र धर्म ग्रन्थ के उद्धरणो से करते है) ।

---

[1] ११. ४५, ४६। डा० लोरिन्जर हमारे प्रभु के शिष्य की व्याकुलता की तुलना करते है, मैथ्यू १७.६. 'They fell on their face and were sore afraid (वे मुह के बल गिर पडे और वे नितान्त भयभीत थे।') तथा साइमन पीटर, ल्यूक ५.९ 'जब साईमन पीटर ने यह देखा, तो वे जेसस के पैरों के निकट यह कहते हुए गिर पड़े कि हे प्रभु ! मुझ से दूर रहिए क्योंकि मैं एक पापी हूँ।'

अगला अंश यह प्रदर्शित करता है कि आत्मा की भावी अवस्था मृत्यु के पूर्व ही निश्चित हो जाती है—

'यह मनुष्य अन्तकाल मे जिस-जिस भाव का स्मरण करता है उस उस भाव को ही वह प्राप्त करता है (८.६; तुलना एक्लें० ११.३, मृत्यु के समय का संस्कार ही स्वर्ग के मार्ग को अवरुद्ध करता है)।

छान्दोग्य-उपनिषद् में भी एक समान अंश आता है—'पुरुप एक बौद्धिक प्राणी (क्रतुमय) है। इस लोक मे पुरुप जैसे निश्चयवाला होता है वैसे ही यहाँ से मृत्यु के बाद जाने पर होता है; अतः उसे (ईश्वर का) ध्यान करना चाहिए' (३.१४.१)।

इसके उपरान्त हम १६.१२–१६ का भाव देते हैं। इसकी तुलना ल्यूक १२.१७–२० से की जा सकती है—

'आशारूपी सैकडों बन्धनों मे बँधे हुए स्वार्थी पुरुप काम-क्रोध के वशीभूत होकर विषयभोगो की पूर्ति के लिये अन्यायपूर्वक धन इत्यादि पदार्थों का संग्रह करने की चेष्टा करते हैं और वे इस प्रकार के विचार रखते हैं कि मैंने आज यह प्राप्त किया, और इस मनोरथ को प्राप्त करूँगा; मेरे पास इतना धन है और आगे भी धन मिलेगा; उस शत्रु को मैंने मार डाला दूसरे शत्रुओं का भी नाश करूँगा; मैं ईश्वर हूँ और सभी ऐश्वर्यों का भोग करनेवाला हूँ; मैं सभी सिद्धियों से युक्त, बलवान् और सुखी हूँ, मेरे समान संसार मे कोई दूसरा नही है; मैं यज्ञ करूँगा, दान दूंगा, हर्ष प्राप्त करूँगा। इस प्रकार के व्यक्ति अज्ञान से मोहित हैं। इस प्रकार अनेक भ्रमों में पड़े हुए अज्ञानी व्यक्ति मोहरूप जाल में फँसकर और विषयभोगो में आसक्त हुए महान् अपवित्र नरक मे गिरते हैं।'

मैं अध्याय ३ की कुछ पक्तियाँ उद्धृत करता हूँ, जिनमे कृष्ण संसार के कल्याण के लिये किये जानेवाले अपने ही परिश्रमो के उदाहरण से तर्क देकर अर्जुन को पराक्रम करने का उपदेश देते हैं (तुलना, जॉन ५.१७)। इस रूपान्तर में मूल के क्रम का निर्वाह नही किया गया है और बीच के कुछ भाव अध्याय २. ४७ के हैं—

'सभी आवश्यक कर्मों को करो, क्योकि कर्म करना कर्म के त्याग से श्रेयस्कर है। कोई व्यक्ति कर्म का त्याग करके और निष्क्रिय बैठकर जीवित नही रह सकता। केवल कर्म के द्वारा ही मनुष्य निष्कर्मता को प्राप्त होता है। तथापि कर्म करने मे फल की इच्छा से कर्म न करो; कर्म का प्रयोजन कर्म में ही रहने दो। यह जानों की कर्म परमात्मा से उत्पन्न होता है। मनुष्य मेरे ही आदर्श का अनुकरण

करे। मैंने सभी कर्म कर लिये हैं, मेरे लिये कुछ भी कर्म द्वारा प्राप्त करना शेष नही है, तथापि मैं निरन्तर कर्म करता हूँ; और यदि मैं अपना कर्म न करूँ तो सम्पूर्ण संसार का नाश हो जायगा। (३.१९)

इस काव्य का तीसरा खण्ड, जिसमे अन्त के छ. अध्याय आते हैं, विशेषत: साख्य मत को वेदान्त के साथ मिलाने का प्रयत्न करता है, यद्यपि यह कार्य अल्पाधिक पूरे ग्रन्थ भर मे किया गया है। यह एक परम अधिष्ठाता आत्मा (जिसे परं ब्रह्म या अध्यात्मम् कहा गया है, १३. १२; ८. १) को जगत् का प्रथम कारण स्वीकार करता है, किन्तु प्रकृति तथा पुरुष किंवा एक मौलिक नित्य तत्त्व तथा आत्मा के अस्तित्व का प्रतिपादन करता है और इन दोनों को परमात्मा (जिसे इस अवस्था मे 'परा प्रकृति' कहते हैं) से उत्पन्न बताता है। यह आत्माओ के पृथक्त्व तथा व्यक्तित्व को मानता है तथा यह मत देता है कि शरीर (क्षेत्र) तथा इन्द्रियो के सभी विषयो की उत्पत्ति सांख्यमत के सृष्टिक्रमानुसार बुद्धि, अहंकार, पाँच सूक्ष्म तत्त्वो, पाँच स्थूल तत्त्वो, तथा मन-सहित ग्यारह इन्द्रियो के माध्यम द्वारा प्रकृति से हुई है। १३.१९ तथा ७.४–६ मे निम्न उक्ति है—

'प्रकृति तथा पुरुष इन दोनों को ही तुम अनादि जानों तथा विकारों एवं त्रिगुणात्मक (देखिए पृ० ९३) सभी पदार्थों को प्रकृति से उत्पन्न समझो।'

'पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, और अहंकार, इन आठ मे मेरी प्रकृति विभक्त है। यह प्रकृति अपरा है और मेरी परा प्रकृति इससे श्रेष्ठ है। सभी वस्तुओ को दूसरी प्रकृति से उत्पन्न समझो।'

पुन: ७.१२–१४ में कृष्ण तीन गुणों का उल्लेख करते हुए कहते हैं—

'सभी तीन गुण, चाहे सत्त्व हो या रजस् या तमस् (तुलना पृ० ९२) केवल मुझ से उत्पन्न समझो। मै उनमे नही हूँ परन्तु वे मुझमे हैं।

गुणों के तीन प्रकार के भावों से मोहित हुआ यह ससार अविनाशी तथा उससे परे स्थित मुझको तत्त्वत नहीं जानता। क्योकि यह अलौकिक, त्रिगुणमयी तथा मेरे द्वारा उत्पन्न की गई माया बड़ी दुस्तर है। जो पुरुष निरन्तर मुझे भजते हैं वे ही इस माया से पार पाते है।

भगवद्गीता का सर्वांशग्राहित्व निम्न उदाहरणो से पर्याप्त स्पष्ट हो जायगा। इस प्रसिद्ध काव्य का अपना संक्षिप्त पर्यवेक्षण मैं तीन या चार अंशों (अध्याय ३.२७, अध्याय १२.२९-३१) के साथ समाप्त करूँगा, जो इस विषय का उपयुक्त उपसंहार है, क्योंकि वह इस समूचे तर्क का सार है कि क्षत्रिय होने के कारण अर्जुन का कर्त्तव्य एक क्षत्रिय के योग्य कर्म करना तथा परिणामों का विचार न कर स्वधर्म का पालन करना है; और यह कर्म आत्मा

की यथार्थ निष्क्रियता एवं निष्काम विश्राम के वेदान्ती सिद्धान्तों के अनुगमन द्वारा निर्विघ्न सम्पन्न किया जा सकता है—

'वास्तव मे सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणो द्वारा किये हुए हैं, तो भी, अहंकार से मोहित हुए अन्तःकरणवाला पुरुष 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मान लेता है। आत्मा अनादिकाल से सत् है, निर्गुण है, अनश्वर है, शरीर मे स्थित है, फिर भी परे है। यह कर्ता नहीं है और न यह किसी कर्म से दूषित होता है। जो यह देखता है कि सभी कर्म प्रकृति करती है और आत्मा उन कर्मों का कर्त्ता नही है, वही वस्तुतः देखता है।

कृष्ण का अन्तिम उपदेश इन शब्दों मे व्यक्त किया जा सकता है—

'कर्म करो, अपने स्वधर्म का आचरण करो, प्रत्येक कर्म में मेरी सहायता की प्रार्थना करो। अपने हृदय तथा मन मुझमें युक्त करके सभी कर्मों को करो। इस प्रकार तुम्हें तुम्हारा लक्ष्य मिलेगा और तुम दुःख से मुक्त हो जाओगे।'

अर्जुन के निष्कर्ष का भावार्थ इस प्रकार दिया जा सकता है—

'हे अनादि! हे अनन्त! तुम्हारे जिस प्रकाश का मैंने अभी दर्शन किया है उसने मेरे मन के सभी मोहों को दूर कर दिया है। आपकी कृपा से मुझे स्मृति प्राप्त हो गई है और आपके उपदेश से अपना कर्म करूँगा, निर्भय होकर युद्ध करूँगा।'

किसी भी व्यक्ति को, जिसने इस महत्त्वपूर्ण दार्शनिक संवाद की रूपरेखा प्रस्तुत करने में मेरा अनुगमन किया है और हमारे अपने पवित्र ग्रन्थों के अंशों से समानता रखनेवाले इस ग्रंथ के अंशो पर ध्यान दिया है, यह विचित्र प्रतीत हो सकता है कि मैं किसी भी ऐसे मत से सहमत होने को तैयार नही जो इन समानताओं का समाधान इस कल्पना द्वारा करते हैं कि भगवद्गीता के लेखक को 'न्यू टेस्टामेण्ट' का ज्ञान था अथवा उसने अपने कतिपय विचार ईसाई धर्म के प्रथम प्रचारको से ग्रहण किये। निःसन्देह, यह तो माना जायगा कि ईसा की प्रथम दो शताब्दियो मे जेण्टाइल मतो एवं ईसाई धर्म में सम्पर्क एवं अन्योन्य प्रभाव की सम्भावना भारत की अपेक्षा इटली में अवश्य अधिक रही होगी; तथापि, यदि हम रोम के तीन बड़े दार्शनिक, सेनेका, एपिक्टेटस तथा मार्कस आउरेलियस (Marcus Aurelius) की रचनाओं एवं लिखित उक्तियो को देखें तो हम उन्हें अपने धर्मग्रन्थों के समान अंशों से भरा हुआ पायेंगे, जब कि इस विषय मे यह मानने का कोई आधार नही है कि इन प्रमुख प्रतिमापूजक (पैगन) लेखकों एवं विचारको ने अपने कोई विचार यहूदी-सम्बन्धी

या ईसाई स्रोत से ग्रहण किये। वस्तुतः रेव० एफ० डब्ल्यू० फररि ने अपने रोचक एवं बहुमूल्य ग्रन्थ 'सीकर्स आफ्टर गॉड' में यह स्पष्टतः दर्शाया है कि, 'यह कहना पूर्णतः असंगत है कि प्रतिमा पूजकों (पैगन) की नैतिकता ने चोरी से या अनजान मे अपनी बुझी लौ को ख्रीष्टसंवाद (Gospel) की ज्योति से जलाया और इस आभार को छिपाकर उस आभा पर इस प्रकार गर्व व्यक्त किया मानो यह मूलतः उन्ही की रही हो।' वे यह संकेत देते हैं कि पाइथा-गोरस को हेब्राइक ज्ञान का ऋणी बताने, प्लेटो को एथेन्स की भाषा मे बोलने वाला मोजेज ('एट्टिसाइजिंग मोजेज') सिद्ध करने, अरस्तू को यहूदी आचार संहिता का समुद्धर्त्ता बनाने, तथा सेनेका को महात्मा पाल का सम्पर्की बनाने के ईसाई धर्माधिकारियों के प्रयत्न 'कुछ अवस्थाओं मे तो अज्ञान के कारण और कुछ मे विवादपूर्ण विवेचन मे पूर्ण ईमानदारी के अभाव के कारण' उत्पन्न हुए।

यदि उसके तर्कों को भगवद्‌गीता के विषय मे, जिसका लेखक संभवतः सेनेका का समकालीन था, घटित किया जाय तो और भी निर्णायक होगे। यह बात तो माननी ही पड़ेगी कि यथार्थ ज्योति की चमक, जो भारतीय दार्शनिकों की रचनाओ मे विश्वदेवतावाद की कुहेलिका से फूटती है, उसी प्रकाशस्रोत से उत्पन्न हुई होगी जिससे स्वयं ख्रीष्टसंवाद (गास्पेल) उत्पन्न हुआ है, परन्तु यह प्रश्न करना तर्कसगत है कि विश्वदेवतावादी एव ईसाई धर्म विरोधी विचारों मे परिवर्तन स्वरूप एक अधिक सन्तोषदायक परिणाम के बिना क्या हिन्दू का ईसाई दर्शन से कोई वास्तविक सम्पर्क रहा होगा? इस ध्येय से कि रोमन दार्शनिको की रचनाओ में हमारे धर्मग्रन्थ से पाई जानेवाली समानताओ की तुलना अभी दिये गये अंशो से की जा सके, मैं 'सीकर्स आफ्टर गॉड' एवं डा० रैमगे (Ramage) के 'ब्यूटीफुल थॉट्स' से कुछ उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ—

१. सेनेका—ईश्वर मनुष्यों के निकट आता है, यही नही उससे भी निकट होकर मनुष्यो मे आता है'। 'एक पवित्र आत्मा हममे निवास करती है जो हमारे सभी शुभ-अशुभ का द्रष्टा एव सरक्षक है।' तुलना Cor. ३.१६। 'वह जिसने कोई कृपा दिखाई है मुँह बन्द रखे'। 'कोई उपकार करने मे अभि-मान से बढकर किसी अन्य वस्तु का परित्याग नही करना चाहिए।' तुलना. मैथ्यू ६. ३.। 'यदि प्रेम पाना चाहते हो तो प्रेम करो'; 'दूसरो से उसी की आशा रखो जो तुम उनके लिये करते हो'। 'हम सभी पापी हैं, अत. यदि कोई दोष हम दूसरे मे देखते हैं तो उसे अपने ही दिल मे पाये।' 'एक सज्जन ईश्वर का शिष्य और अनुकरण करने वाला होता है और उसकी सच्ची सन्तान होता है, जिसे वह महान् पिता एक कठोर माता-पिता के समान खूब शिक्षा देता है।'

'ईश्वर तुम्हारे निकट है, वह तुम्हारे साथ है, वह तुम मे है।' 'ऊँचे ऊँचे पत्थरों वाले मन्दिर ईश्वर के नहीं वनाये जाने चाहिएँ उसका अभिषेक प्रत्येक को अपने हृदय में करना चाहिए'। 'स्वयं एक लम्वे जीवन की आशा रखनी कितनी मूर्खता है जव कि हमारा कल तक पर अधिकार नही है।' 'मनुष्यों के साथ इस प्रकार रहो मानो ईश्वर तुम्हे देखता हो'। 'दूसरे मनुष्यो के पाप हमारी आखों के सामने रहते हैं; हमारे अपने पाप हमारे पीठ के पीछे होते हैं।' 'मानवसमाज का वृहत्तर भाग पापी से क्रोध करता है पाप से नही।' दूसरे को आघात पहुँचाने वाले मनुष्य के लिये सवसे कठोर दण्ड उस आघात का उपचार करना है।

२. एपिक्टेटस—'यदि तुम यह सदैव याद रखो कि जव कुछ भी तुम आत्मा या शरीर से करते हो उस समय ईश्वर साक्षी के रूप मे निकट खड़ा रहता है। तुम अपने सभी प्रार्थनाओं एवं कर्मो मे भूल नही करोगे और ईश्वर तुम्हारे साथ निवास करता रहेगा।' 'कोई व्यक्ति किस प्रकार अपने शत्रु को कष्ट दे ? स्वयं को अत्युत्तम व्यवहार रखने के लिये प्रस्तुत करके।' तुलना रोम० १२.२०.

३. मार्कस आउरेलियस—'अपना वदला लेने का सवसे उत्तम मार्ग है कि अपराध करनेवाले के समान मत वनो।' 'मनुष्य एक दूसरे के लिये जी रहे हैं, उन्हें शिक्षा दो या उन्हे सहन करो।' तुलना थेस्स० २. ४. १५, कोल० ३.१३। 'प्रातःकाल जव तुम अनिच्छा से उठते हो तो इन विचारो को मन में लाओ—"मै एक मानव के कर्म करने के लिये उठ रहा हूँ, मैं असन्तुष्ट क्यो हूँ जव मैं उन कार्यों को करने जा रहा हूँ जिनके लिये मै जीवित हूँ और जिनके लिये मैं संसार में उत्पन्न हुआ हूँ!" तव क्या तुम केवल आनन्द पाने के लिये जीवित हो, कर्म करने या परिश्रम करने के लिये नही ? क्या तुम उस छोटी चिडिया, चीटी, मकड़ी और मधुमक्खी को संसार के अपने विभिन्न अंशो को एक क्रम मे रखने के लिये साथ साथ कार्य करते हुए नही देखते ? तुलना प्रोव० ६ ६,
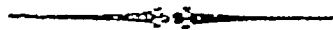
स्मृति–वेदाङ्ग

अबतक हम संक्षेप मे एवं चुने हुए उदाहरणों के साथ वेद के तीन भाग, मन्त्र, ब्राह्मण एवं उपनिषद् का, तथा इन भागो में तीसरे से विकसित षड्दर्शनों का वर्णन कर रहे थे। वेद के ये तीनों भाग श्रुति या श्रुत—जो सीधे सुना जाता है या प्रकाशित होता है—के अन्तर्गत आते हैं, जो ऋषि नाम के कतिपय पुण्यात्मा पुरुषो द्वारा सुने गये[1] तथा उनके द्वारा मौखिक रूप में संक्रमित किये गये थे; अथवा यदि वे लिखे गये थे तो बिना किसी मानवीय हस्तक्षेप के जैसे सुने गये थे ठीक वैसे ही लिखे गये। हम श्रुति तथा षड्दर्शनो से सस्कृत साहित्य के दूसरे प्रमुख विभाग पर आते है। यह विभाग है 'स्मृति' अर्थात् जिसका स्मरण किया जाय और जो परम्परया ('श्रुति' से भिन्न रूप मे) संक्रमित हो। इसे 'श्रुति' या प्रकाशितवचन पर आधृत माना जाता है, जो इसका मौलिक आधार है तथा इसका प्रामाण्य तभी तक माना जाता है जब तक यह इस प्रकार के प्रकाशित वचन से सामञ्जस्य रखता है।[2] तथापि स्मृति का मूलमन्त्र यह है कि इसे मानव लेखकों द्वारा स्मृति के माध्यम से प्रदत्त एवं मानवीय रचनाओ के रूप मे निर्मित माना जाता है। विस्तृत अर्थमे, स्मृति के अन्तर्गत छः प्रमुख विषय या विभाग आ सकते है: १. षड्वेदाङ्ग 'वेद के सहायक अग', या दूसरे शब्दो में विद्यार्थियो को वेद के अध्ययन, अर्थज्ञान एवं याज्ञिक कर्मों मे प्रयोग के लिये सहायता देनेवाले ग्रन्थ '(जिन्हे इस कारण 'प्रवचन' कहते हैं' मनु ३.१८४) और वे हैं: क. 'कल्प या कर्मकाण्ड के नियम; इसमे वैदिक क्रियाओ एव यज्ञ की वे सम्पूर्ण सङ्कुलित क्रियाएँ आती है जिन्हे 'श्रौतसूत्र' कहते हैं, कारण ये वैदिक है एवं श्रुति के मन्त्र एव ब्राह्मण भाग से सीधा सम्बन्ध रखते हैं तथा विशेषतया ब्राह्मणग्रन्थो के पथप्रदर्शक है। ख. 'शिक्षा' अर्थात् उच्चारण का विज्ञान;

---

[1] प्राय: इस प्रकार कहा जाता है कि ऋषियो ने मन्त्रों का दर्शन किया और 'ऋषि' शब्द को कल्पना का सहारा लेकर 'दृषि' शब्द से जोड़ा जाता है जैसे यह 'दृश्' धातु से व्युत्पन्न हो, किन्तु शब्द के नित्यत्व के सम्बन्ध मे प्रयुक्त श्रुति और श्रुत शब्द यह प्रदर्शित करते हैं कि कर्ण ही वेद के प्रकाशन का माध्यम था।

[2] यदि वेद-बाह्य' हो तो इसे 'निष्फल' कहा गया है, मनु १२.९५

ग. छन्द: घ. 'निरुक्त' अर्थात् कठिन वैदिक शब्दों की व्याख्या; ङ. व्याकरण; च. 'ज्योतिप' जिसके अन्तर्गत विशेपत: नक्षत्रविद्या से सम्बद्ध अङ्कगणित एवं गणित भी सम्मिलित है। इन वेदाङ्गों में प्रथम तथा पष्ठ वेद का यज्ञो में प्रयोग करने के निमित्त हैं, द्वितीय तथा तृतीय अध्ययन के निमित्त, तथा चतुर्थ एवं पञ्चम वेद को समझने के निमित्त हैं। २. **स्मार्तसूत्र** : यह ऐसे नियमो के लिए एक सुबोधगम्य पद है जिसका तात्पर्य उन श्रौत या वैदिक कर्मों से नही है जो प्राय: उच्चस्तरीय एवं स्वरूपतया सार्वजनिक होते थे अपितु उन विविक्त एवं वैयक्तिक रूपवाले धार्मिक कृत्यो से तात्पर्य है जो स्वभावत: दो वर्गों के अन्तर्गत आते हैं—(क) विहित कालो पर किये जानेवाले पारिवारिक या गृहस्थ के कर्म ('गृह्य'), (ख) सामयिक कर्म एवं दैनिक कृत्य (समयाचार)। इस कारण इन स्मार्तसूत्रों को दो वर्गों में पृथक् करना चाहिए : (क) गृह्य-सूत्र; (ख) सामयाचारिकसूत्र। ३. **धर्मशास्त्र** या विधिग्रन्थ : विशेपत: मनु एवं अन्य प्रबुद्ध स्मृतिकारो के विधिग्रन्थ—जिन्हें स्मार्तसूत्रों से विकसित माना जाना है। ४. **इतिहास** अर्थात् आख्यानात्मक काव्य, जिस वर्ग मे स्मृति के अङ्ग के रूप में 'रामायण' एवं 'महाभारत' नाम के महाकाव्यो को रखता हूँ तथा सुविधा के लिये इनका अनुगमन करने-वाले तथा इन पर आश्रित किन्तु उचित रूप से स्मृति न कहे जाने योग्य कलावादी काव्यों, श्रृङ्गारिक काव्यो एवं नाटको को भी रखता हूँ जिनमें से सभी विषयवस्तु की दृष्टि से दोनों महाकाव्यो से सम्यक् सम्बद्ध हैं। ५. **अठारह पुराण** या प्राचीन आख्यानात्मक इतिवृत्त तथा परम्पराएँ जिनमे अठारह उपपुराण एवं उनके बाद के तन्त्र भी आते हैं। ६. **नीतिशास्त्र** या सभी प्रकार की आचारसम्बन्धी एवं उपदेशात्मक रचनाएँ, जिनमें कथाएँ तथा नैतिक शिक्षाएँ भी सम्मिलित हैं।

मैं इन वैदिकोत्तर साहित्य के वर्गों का क्रमश: विवेचन प्रथम वर्ग, वेदाङ्ग, से प्रारम्भ करूँगा—

१. वेदाङ्ग

इनकी संख्या छ. है, जिनका विवेचन हम निम्न क्रम मे (जो हिन्दू क्रम के अनुसार नही है) करेंगे : १. कल्प; २. शिक्षा; ३. छन्द; ४. निरुक्त; ५. व्याकरण; ६. ज्योतिप—

वेदाङ्ग—कल्प या 'कर्मकाण्ड के' ग्रन्थ

सर्वप्रथम, जहाँ तक कल्प का सम्बन्ध है, इसका तात्पर्य, जैसा कि हम देख चुके हैं, एक प्रकार के कर्मकाण्ड ग्रन्थ या पद्धति से है, जो श्रौत नाम के

सक्षिप्त सूत्रो में है क्योकि श्रुति के मन्त्र तथा ब्राह्मण भाग के याज्ञिक कर्मों मे उपयोग के लिये पथप्रदर्शक हैं। वेद की पाँच सहिताओं में प्रत्येक से सम्बद्ध श्रौतसूत्र हैं। इस प्रकार ऋग्वेद के लिए आश्वलायन, शाङ्खायन तथा शौनक श्रौतसूत्र हैं; सामवेद के लिए मशक, लाट्यायन, तथा द्राह्यायण; तैत्तिरीय सहिता किंवा कृष्णयजुर्वेद के लिए आपस्तम्ब, बौधायन, सत्याषाढ, हिरण्य-केशिन् , मानव, भारद्वाज, वाधून, वैखानस, लौगाक्षि, मैत्र, कठ तथा वाराह सूत्र; वाजसनेयि-सहिता अथवा शुक्लयजुर्वेद के लिए केवल एक कात्यायन[1]; तथा अथर्ववेद का केवल एक कौशिक श्रौतसूत्र है।

यहाँ यह कह देना चाहिए कि सूत्र ('सिव्' अर्थात् सीना धातु से व्युत्पन्न) का उचित रूप से अर्थ है 'सूत', और यह शब्द नियमो या वाक्यो की माला[2] के लिए प्रयुक्त होता है, जिसका कारण यह है कि ये या तो आलंकारिक प्रयोग की दृष्टि से एक साथ गूँथे गये थे या पन्नो पर लिखे गये थे जिन्हे सूत द्वारा एक साथ बाधा जाता था।[3] संभवतः यह ब्राह्मणीयसूत्रो के यथार्थ स्वरूप के लिये आवश्यक है कि यह एक ऐसा नियम या सिद्धान्त होना चाहिए जो यथासंभव सक्षिप्त रूप मे अभिव्यक्त हो। व्याकरण-सूत्रो मे एक भी ऐसा वर्णन नही आने दिया जाता जो किसी भी प्रकार अनावश्यक हो, अपरञ्च इन सूत्रो मे वर्ण एवं अक्षरों का प्रयोग बीजगणित की भाँति ऐसे विचारो को व्यक्त करने के लिए प्रतीक रूप मे होता है जिनको पूर्णत. व्यक्त करने के लिए एक पूरे वाक्य या उससे भी अधिक की आवश्यकता पड़ सकती है। जैसा कि हम देख चुके हैं, दर्शन के सूत्रो मे नितान्त संक्षिप्तता एवं शब्दो की कठोर मित-व्ययिता का व्यवहार किया गया है। इसका ध्येय उस युग मे, जब पुस्तको का अभाव था तथा कागज एवं छपाई का ज्ञान नही था, आचार्यों एवं विद्यार्थियो दोनो की स्मृति के सहायतार्थ यथासम्भव सूक्ष्म एवं प्रबोधक स्मृतिवाक्यो को प्रस्तुत करना था (देखिए पृ० ४७, टिप्पणी)। इस नितान्त संक्षिप्तता का सर्वदा निर्वाह नही किया गया है, विशेषतः परवर्ती सूत्र रचनाओ मे, परन्तु सामान्यतः यह बात पाई जाती है कि जितना ही पुराना सूत्र होता है उसमेउतनी ही अधिक संक्षिप्तता तथा अध्याहार्य गूढता होती है जिस कारण विना टीका या व्याख्या के प्राचीन सूत्र पूर्णतया अबोधगम्य रहते हैं। आगे चलकर

---

[1] इसका सम्पादन प्रो० वेबर ने किया है; और यह उनके ब्राह्मण (शतपथ) सहित शुक्ल यजुर्वेद के विशाल संस्करण को पूरा करता है।

[2] एकवचन मे सूत्र का अर्थ, नियमो का एक सम्पूर्ण संकलन हो सकता है।

[3] अन्तिम स्वर्गीय गोल्डस्टूकर का मत है।

जैसे-जैसे पुस्तको का प्रचलन होता गया पण्डित्यपूर्ण तथा यत्नकृत संक्षिप्तता की आवश्यकता शनैः शनैः समाप्त होती गई[1] और यद्यपि सूत्र तथा नियमवाक्य अब भी सूत्रशैली मे एक साथ ग्रथित होते थे, वे अब अधिक विस्तृत एवं स्पष्ट रूप मे तथा कभी-कभी छन्दों में निबद्ध होने लगे।[2] वस्तुतः इन परवर्ती सूत्र रचनाओं को विधिवाक्य रूपी शिक्षाओ या सिद्धान्तो के सरल संकलन माना जा सकता है जिनकी रचना शिक्षा की विशिष्ट पद्धतियो के उपयोगी ग्रंथो के रूप मे की गई थी, चाहे वह कर्मकाण्ड मे हो, या दर्शन, विधि, अथवा व्याकरण मे। यदि संस्कृत विद्वानो से प्राचीनतम् सूत्र-रचनाओ का काल निश्चित करने को कहा जाय तो वे पुनः कोई निश्चित तिथि निर्धारित करने मे अपनी असमर्थता ही प्रकट करेगे। संम्भवतः उनमे सबसे प्राचीन पाँचवी या छठी शताब्दी ई० पू० के पहले के नही है और कदाचित् सबसे अर्वाचीन के सकलन का काल ईसवी सन् के प्रारम्भ से बहुत पहले का नही है। मैंने कल्पसूत्रो को इसलिये सबसे पहले रखा है कि सम्भवतः ये सबसे प्राचीन और श्रुति के ब्राह्मण या कर्मकाण्ड भाग से सम्बद्ध है तथा इसी कारण श्रौत कहे जाते हैं।

शतपथब्राह्मण तथा शुक्लयजुर्वेद (देखिए वेवर का संस्करण) से सम्बद्ध कात्यायन श्रौतसूत्र के प्रथम दस सूत्रो के निम्नलिखित अनुवाद से इन नियमों के स्वरूप का कुछ बोध हो जायगा। प्रत्येक नियम को बोधगम्य बनाने के लिए याज्ञिकदेव के भाष्य से अतिरिक्त वाक्य जोड़े गये हैं। इन्हें मैंने यहाँ दिये गये उदाहरणो में इनके साथ जोडकर कोष्ठको मे दे दिया है तथा सूत्रो के मूल को भी] बड़े कोष्ठ] मे दिया है—

१—इस कारण अब (याज्ञिक कर्मों के अनुष्ठान का) अधिकार (आगे आने वाले सूत्रों मे बताया जायगा) ['अथातोऽधिकारः'] ।

२—(याज्ञिक) कर्म (यथा अग्निहोत्र इत्यादि) फल से युक्त होते हैं (जैसे स्वर्ग, धन पुत्रादि की प्राप्ति) ['फलयुक्तानि कर्माणि'] ।

३—(विपय के पूर्वपक्ष के अनुसार) विना भेद के सभी (प्राणियों, यथा मनुष्यो, चाहे वे अन्धे, गूंगे, पङ्गु या वधिर हो, देवताओं, ऋषियों, और पशुओ, वनस्पतियो को छोड़कर) को यज्ञानुष्ठान का अधिकार होना चाहिए, क्योकि ये सभी प्राणी फल की इच्छा करते हैं।) ['सर्वेषाम-विशेषात्'] ।

---

[1] यह शिथिलीकरण अन्त मे अतिविस्तार की अन्तिम सीमा तक पहुँचा जैसा हम बौद्ध सूत्रो मे पाते हैं।

[2] कतिपय सूत्र रचनाओ मे समय-समय पर सूत्रों का भी मिश्रण है।

४—किन्तु (शास्त्रगामी मत के अनुसार अधिकार केवल) मनुष्यों का ही (होता है,) क्योंकि (वेद के अनुसार केवल वे ही यज्ञादि कर्म का अनुष्ठान करने मे समर्थ हैं (और देवताओं, ऋषियो एवं पशुओं का अधिकार नही होता) ['मनुष्याणां वारम्भसामर्थ्यात्'] ।

५—विकलाङ्ग, वेद का ज्ञान न रखनेवाला, नपुसक एवं शूद्र का निषेध (समझना चाहिए) ['अङ्गहीनाश्रोत्रियषण्ढ-शूद्रवर्जम्'] ।

६—वैदिक आदेश के अनुसार ब्राह्मण-क्षत्रिय[1] एव वैश्य का (अधिकार होता है, शूद्र का अधिकार नही होता) [ब्राह्मण-राजन्यवैश्यानाश्रुते] ।

७—एक स्त्री का भी (अधिकार होता है) क्योंकि (स्वर्ग की इच्छा के सम्बन्ध मे उसके एवं उसके पति मे) कोई अन्तर नही है । ['स्त्री चाविशेपात्']

८—क्योकि (वेद मे) ऐसा ही देखा जाता है ['दर्शनाच्च']

९—(एक मत के अनुसार अधिकार) रथकार[2] (रथ बनानेवाले) वर्ण का भी (यज्ञवेदि पर) अग्नि की स्थापना करने तक होता है (जव यह वर्ण प्रथम तीन वर्णों मे गिना जाता है ।) ['रथकारस्याधाने']

१०—(किन्तु शास्त्रमत के अनुसार) यह नियत है (कि रथकार की गणना प्रथम तीन वर्णों के अन्तर्गत नही की जानी चाहिए) । ['नियतं च']

वेदाङ्ग—'शिक्षा' या ध्वनिविषयक ग्रन्थ

हमारी सूची मे दूसरा वेदाङ्ग है 'शिक्षा' या शुद्ध उच्चारण का विज्ञान जो विशेषतया वेद के विशिष्ट उच्चारण-नियमो की शिक्षा देता है। इसके अन्तर्गत वर्णो का ज्ञान, स्वर, मात्रा, उच्चारण के अवयवो का उचित प्रयोग तथा सामान्यत: ध्वनिशास्त्र के विषय आते हैं। ध्वनिशास्त्र पर एक लघु एवं अपेक्षाकृत आधुनिक ग्रन्थ इस विषय का प्रतिनिधि ग्रन्थ माना जाता है जिसके दो संस्करणो मे से एक मे पैतीस तथा दूसरे मे उनसठ श्लोक (जो पाणिनि रचित कहे जाते है) तथा उनके साथ तैत्तिरीय आरण्यक का एक अध्याय है।

---

[1] यहाँ एवं पुरुषसूक्त मे 'राजन्य' शब्द क्षत्रिय के लिये प्रयुक्त है, देखिए पृ० २५ ।

[2] यह वर्णसकर जाति, जो एक करणी से उत्पन्न माहिष्य की सन्तान कही जाती है, सौधन्वन भी कहलाती है। ऐसा लगता है कि इसे कुछ धार्मिक विशेषाधिकार प्राप्त थे; कदाचित् इसलिए कि ऋभु रथकार थे। देखिए पृ० १८ पर टिप्पणी; तुलना ऋग्वेद ३.६०४, ।

किन्तु वैदिक प्रातिशाख्यों एवं वैदिक ध्वनिशास्त्र की अन्य रचनाओं को इस वर्ग में रखा जा सकता है[1] और उन्हे इसके अन्तर्गत स्वीकार करना सुविधा-जनक भी होगा। ये प्रातिशाख्य सूत्र-शैली मे लिखित व्याकरणीय किंवा ध्वनिविषयक ग्रन्थ है (जिनमें से कुछ सम्भवत: पाणिनि[2] से भी वहुत अर्वाचीन हैं), जो विभिन्न परिवारों द्वारा परम्परया आनेवाले वैदिक ग्रन्थों के संस्करणों मे वेद की विभिन्न शाखाओ के व्यवहार के अनुसार वर्णों की सन्धि तथा उनके विशिष्ट उच्चारण के नियम वनाते हैं। प्रातिशाख्य शब्दो को उस प्रकार नही तोड़ते जैसे कि व्याकरण; अपितु जिस रूप में सूक्तों में शब्द आये हैं उसी रूप मे वस्तुत: निर्मित शव्दों को लेते है और उनमें होनेवाले ध्वनिविषयक परिवर्तनो तथा स्वरों के उच्चारण की विधियो आदि की शिक्षा देते हैं। वस्तुत: वे यह प्रदर्शित करते हैं कि किस प्रकार पदपाठ को सन्धि की क्रिया द्वारा सहितापाठ मे परिवर्तित किया जाता है।

चूंकि वैदिक ग्रन्थों का मुख्य गुण उनकी मौखिक आवृत्ति था, तथा प्रत्येक अक्षर के उचित उच्चारण एवं स्वर को अत्यधिक महत्त्व दिया गया था इसलिए यह सरलता से सोचा जा सकता है कि ये ध्वनिविषयक ग्रन्थ उन लोगो के लिये वहुत उपादेय थे जिन्हें अपने धार्मिक कर्मों के आवश्यक अङ्ग के रूप मे मन्त्रो का पाठ करना होता था। सम्भवत: वे आचार्यों के लिए शिष्यो को पढाने के लिए, एवं शिष्यो को वेद के पाठ का अध्ययन करने मे दोनो ही के लिये पथप्रदर्शक एवं स्मृति के प्रवोधक थे। चार प्रातिशाख्य विद्यमान हैं; वे हैं १ ऋग्वेद की शाकल-शाखा का प्रातिशाख्य जो शौनक का प्रातिशख्य है[3]; २. तैत्तिरीय या कृष्णयजुर्वेद की एक शाखा का प्रातिशाख्य[4]; ३. वाजसनेयि अथवा शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिन का शाखा एक दूसरा प्रातिशाख्य

---

[1] शिक्षा नाम की ध्वनिशास्त्र एव अन्य सम्वद्ध विपयों का विवेचन करने वाली कई रचनाये कुछ समय पूर्व ही प्रकाश मे आई हैं। देखिए वैदिक स्वर ('वेदिक एक्सेण्ट') पर हॉग की रचना ('म्यूनिश' १८७४)।

[2] स्वर्गीय प्रोफेसर गोल्डस्टूकर अपनी पाणिनि विषयक रचना में यह निर्णय देते हैं कि सभी प्रातिशाख्य पाणिनि के वाद के होने चाहिए; किन्तु इस मत से दूसरे विद्वान् सहमत नही हैं।

[3] इसका सम्पादन फ्रेंच मे एम० एडोल्फ रेग्नियर ने तथा जर्मन में प्रोफेसर मैक्स म्यूलर ने किया है।

[4] प्रोफेसर विलियम डी० ह्विटनी ने टीकासहित सम्पादन तथा अनुवाद किया है।

जिससे इसे वाजसनेयि-प्रातिशाख्य[1] कहते हैं; इसके लेखक कात्यायन नाम के आचार्य बताये जाते है जो सम्भवतः पाणिनि पर लिखे गये वार्तिकों अथवा पूरक नियमों के रचयिता से अभिन्न है; ४. एक अथर्ववेद प्रातिशाख्य जिसे शौनकीय चतुराध्यायिका[2] अर्थात् शौनक का चार अध्यायोंवाला ग्रन्थ कहते हैं। सामवेद का कोई प्रातिशाख्य अब तक उपलब्ध नही है।

वर्तमान रूप मे प्रातिशाख्यों का सापेक्षिक काल एक विवादपूर्ण प्रश्न है। ऋग्वेद के प्रातिशाख्य को कुछ लोगों ने दृढता के साथ प्राचीनतम घोषित किया है यद्यपि यह समय-समय पर अन्य श्लोको के मिश्रण सहित श्लोक मे लिखा गया है।

मैं यहाँ इस प्रातिशाख्य के पाँचवें एवं छठें सूत्र का अनुवाद देता हूँ, क्योकि ये इस ग्रन्थ के विषयभूत कतिपय विषयो का उल्लेख करते है—

गुरुत्व (अर्थात् छन्दविषयक दीर्घता), लघुत्व (अर्थात् छन्दविषयक लघुता), साम्य, ह्रस्वता, दीर्घता एवं (स्वरों का) प्लुतिकरण, लोप, आगम तथा विकार, प्रकृति, विसर्ग के ऊष्म वर्ण मे परिवर्तन का निषेध, क्रम, स्वरित, उदात्त, अनुदात्त, श्वास, नाद[3] तथा दोनों का (मिश्रण) इन सबका सम्यक् ज्ञान वेद का अध्ययन (या पाठ) करनेवाले को रखना चाहिए—

[गुरुत्वं लघुता साम्यं ह्रस्यदीर्घप्लुतानि च।
लोपागमविकारश्च प्रकृतिर्विक्रमः क्रमः॥
स्वरितोदात्तनीचत्वं श्वासो नादस्तथोभयम्।
एतत्सर्वं च विज्ञेयं छन्दो-भाषामधीयता॥]

प्रथम अर्थवेद-प्रातिशाख्य ग्रन्थ के विषय का वर्णन (ह्विटनी पृ० ९) तथा प्रथमसूत्र मे निम्न प्रकार से पदो का वर्गीकरण करता है—

चार प्रकार के पदो—संज्ञा ('नाम'), क्रिया ('आख्यात'), उपसर्ग, तथा निपात—के सन्धि द्वारा जुड़े हुए तथा भिन्न शब्दो के रूप मे दो गुण यहाँ विषय ('प्रातिज्ञम्') हैं।

तात्पर्य यह कि प्रातिशाख्य का लक्ष्य पद पाठ से संहिता पाठ की रचना

---

[1] प्रोफेसर वेबर ने 'इण्डिश्श स्टूडियन' मे इसका सम्पादन तथा अनुवाद किया है।

[2] इसका भी सम्पादन प्रोफेसर विलियम डी० ह्विटनी ने बहुमूल्य अंग्रेजी अनुवाद एवं टिप्पणी सहित किया है।

[3] अथर्ववेद प्रातिशाख्य १. १२, १३ मे यह कहा गया है कि अघोष व्यञ्जनो मे केवल श्वास होता है एवं घोष व्यञ्जनों में नाद होता है।

करना है। वस्तुतः यह वेद के सभी पदों को एक दूसरे से पृथक् मानता है (जैसा कि वे पद में होते हैं) और तब यह शिक्षा देता है कि किस प्रकार उन्हे सन्धि द्वारा सम्बद्ध किया जाय, जो संहिता पाठ के लिये आवश्यक होता है।[1]

द्वितीय अध्याय सन्धि के अनेक नियमो का परिचय देता है जो पाणिनि व्याकरण के विद्यार्थी को ज्ञात होगे। प्रथम सूत्र केवल एक शब्द का है जिसका विस्तार इस प्रकार होना चाहिए (ह्विटनी का सस्करण, पृ० ७२)—

(निम्न नियमों को उस स्थिति में प्रयुज्य समझना चाहिए जब पदपाठ के पृथक् शब्दों को एक साथ) सहिता मे (रखना हो) ['संहितायाम्']

इसके वाद नियम आते हैं जिनमें से मैं तीन या चार उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ—(२ १०.११,१८,१९; ३.२०)—

श् के पूर्व न् का 'ञ्' हो जाता है ['नकारस्य शकारे ञकारः'], ऊष्म तालव्य वर्ण (यथा ज्) के पूर्व भी [चवर्गीय घोपवति]

'उन्' उपसर्ग के उपरान्त 'स्था' तथा 'स्तम्भ' धातु के 'स्' का लोप हो जाता है। [लोप उदः स्था-स्तम्भोः सकारस्य]

र् के पूर्व र् का लोप होता है। [रेफस्य रेफे]

जब र् का लोप हो जाता है तो पूर्वस्वर को दीर्घ कर देते हैं [र लोपे]

वाजसनेयि-प्रातिशाख्य (१.२७) निम्नलिखत ढंग से पदों की अधिक पूर्ण गणना करता है—

शव्द के अन्तर्गत तिङन्त धातु के प्रातिपदिक [तिङ् नाम के पुरुषवाची प्रत्यय से युक्त प्रातिपदिक] से कृत् प्रत्यय जोड़कर धातुओं से बनाये गये संज्ञाशव्द, तद्धित प्रत्यय जोड़कर संज्ञाशव्दो से वनाये गये संज्ञाशब्दों तथा चार प्रकार के समास (अव्ययीभाव, तत्पुरुष, द्वन्द्व, बहुव्रीहि) आते है। [तिङ्कृत्तद्धितचतुष्टयसमासाः शव्दमयम्' प्रोफेसर मैक्स म्यूलर का 'एन्शेन्ट संस्कृत लिटरेचर', पृ० १६४ देखिए]

---

[1] क्रमपाठ मे प्रथम पद का उच्चारण दूसरे के साथ होता है, उसकी आवृत्ति तीसरे के साथ होती है, उसकी चौथे के साथ, इत्यादि। जटा पाठ में प्रथम तथा द्वितीय पद, द्वितीय तथा प्रथम, और पुनः प्रथम तथा द्वितीय; तदुपरान्त द्वितीय एवं तृतीय, तृतीय तथा द्वितीय, और द्वितीय तथा तृतीय, और इसी प्रकार आगे भी। घन पाठ मे प्रथम तथा द्वितीय, द्वितीय तथा प्रथम, पुनः प्रथम तथा द्वितीय, तृतीय; तब तृतीय, द्वितीय, प्रथम, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, तब द्वितीय से नवीन घनपाठ प्रारम्भ होता है।

वेदाङ्ग-छन्द

इस वेदाङ्ग का अपूर्ण रूप मे प्रतिनिधित्व पिङ्गल या पैङ्गल का छन्दःशास्त्र करता है जो दूसरी शताब्दी ई० पू० का हो सकता है, तथा जो स्वल्प वैदिक छन्दो के साथ प्राकृत तथा संस्कृत छन्दो का विवेचन करता है। छन्द के अन्य ग्रन्थ हैं दस प्रपाठकों मे रचित निदान-सूत्र तथा श्रुतबोध। तत्त्वतः, संस्कृत साहित्य के किसी भी दूसरे विषय के समान छन्दशास्त्र भी अनन्त अन्वेषण का क्षेत्र प्रस्तुत करता है। यह स्वतः ही एक पूर्ण अध्ययन है और हिन्दुओ की दृष्टि में इसका महत्त्व उनके सम्पूर्ण छन्द विषयक पद्धति के परिश्रमपूर्वक अनुशीलन तथा संवर्द्धन से स्पष्ट है। वेद के प्रत्येक सूक्त के मन्त्र का ज्ञान मन्त्रो के शुद्ध प्रयोग तथा उचित उच्चारण के लिये आवश्यक माना जाता है। अतएव हम सायण को ऋग्वेद के प्रथम सूक्त की प्रस्तावना मे निम्नलिखित वचन का उद्धरण देते हुए पाते हैं—

"जो कोई उस सूक्त के द्रष्टा ऋषि का, उस छन्द का जिसमें वह सूक्त निबद्ध है, तथा उसमे प्रार्थित देवता तथा उसके ठीक-ठीक योग का सम्यक् ज्ञान प्राप्त किये बिना दूसरे व्यक्ति को (वेद का कोई सूक्त) पढ़वाता है (अध्यापयेत्) या स्वयं ही पाठ करता है वह प्राणियो मे निकृष्ट होता है।"

इसके तत्काल ही बाद वे कहते हैं—

'जो व्यक्ति ऋषि, छन्द, देवता, ब्राह्मण के अनुसार सही अर्थ (ब्राह्मणार्थ) तथा स्वर का ज्ञान रखे बिना (किसी सूक्त का) प्रयोग करता है वह 'मन्त्र-कण्टक' (अर्थात् इसके प्रभाव को नष्ट करनेवाला या बाधित करनेवाला) कहलाता है।'

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के नवें मन्त्र मे छन्दों को स्वयं पुरुष से उत्पन्न बताया गया है—

'उस सर्वहुत यज्ञ से ऋच, सामन् , छन्द एवं यजुस् उत्पन्न हुए (छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत)।

तैत्तिरीय आरण्यक ७.१,१,४ इत्यादि प्रजापति द्वारा अनेक छन्दों की रचना का वर्णन करता है (म्यूर, भाग १ पृ० १५)—

'प्रजापति ने इच्छा की "मैं बहुत होऊँ", उन्होंने अपने मुख से त्रिवृत् की रचना की। इसके बाद अग्नि देवता, गायत्री छन्द, आदि की उत्पत्ति हुई।'

मनु ४.९९, १०० मे निम्न उक्ति है—

'कोई व्यक्ति (वर्णों, स्वर इत्यादि 'स्वरवर्णादि' कुल्लूक के) शुद्ध उच्चारण के बिना वेद का पाठ न करे। वह इसे सदैव छन्द के रूप में पढ़े (छन्दस्कृत

यह उल्लेखनीय है कि पाणिनि के व्याकरण में वेद का सामान्य नाम छन्द है।

सूत्रों के छन्दकृत स्वरूप को इस प्रकार दिये गये महत्त्व से हम ब्राह्मणों मे छन्द-विषयक प्रायशः उल्लेखों को भी समझ सकते है। वस्तुतः ये ग्रन्थ उनके प्रयोग को एक गूढ प्रभावशीलता से युक्त करते है और उपनिषदों के पूरे अध्याय उसी काल्पनिक विषय का विस्तृत विवेचन करते है। गायत्री को विशेष आदर से देखा जाता है, क्योकि ऋग्वेद का सर्वाधिक पवित्र अंश इस छन्द मे है। (देखिए पृ० २१)

यह अंश शतपथ ब्राह्मण १ २,५,६ इत्यादि से है (म्यूर का टेक्स्ट् भाग ४, पृ० १२३)—

'देवताओं ने विष्णु को पूर्व की ओर रखकर उन्हें छन्दों से यह कहते हुए घेर दिया ('छन्दोभिरभितः पर्यगृह्णन्') कि 'दक्षिण की ओर मैं तुझे गायत्री छन्द से घेरता हूँ, पश्चिम की ओर मैं तुझे त्रिष्टुभ् छन्द से घेरता हुँ, उत्तर की ओर मैं तुझे जगती छन्द से घेरता हूँ'। उसे इस प्रकार छन्दो से घेरकर उन्होने अग्नि को पूर्व की ओर रखा और इस प्रकार वे प्रार्थना और तपस्या करते रहे। इस साधन से उन्होने इस सम्पूर्ण पृथ्वी को प्राप्त कर लिया ('तेन इमां सर्वा पृथ्वी समविन्दत')

पुनः बृहदारण्यकोपनिषद् के चौदहवे ब्राह्मण में हम निम्न कथन पाते हैं (रूअर, पृ० २५४)—

'ऋचः, यजूषि तथा सामानि आठ अक्षर होते हैं (अष्टावक्षराणि)। गायत्री के दूसरे पाद मे आठ अक्षर (अष्टाक्षरम्) होते हैं। गायत्री का यह पाद तीनो वेदो के उस स्वरूप का प्रतिनिधि है। जो कोइ गायत्री के इस पाद का ज्ञान रखता है वह तीनों वेदो के ज्ञान द्वारा जो कुछ ज्ञेय है उसे जीत लेता है।'

इस कारण, इसमे आश्चर्य नही कि कुछ अति पवित्र छन्दों, यथा गायत्री को अन्त मे मूर्त रूप दे दिया गया एवं उन्हे अलौकिक कर्मों से युक्त कर दिया गया। हमारा वर्तमान उद्देश्य एवं हमारी सीमायें हमे वैदिकोत्तर संस्कृत छन्दों के नितान्त प्रचलित रूपो की योजना देने का अवसर नही प्रदान करती। उन्हे मेरे 'संस्कृत ग्रामर' के तीसरे संस्करण के ३८८–३९२[1] पृष्ठो पर देखा जा सकता है। मैं केवल यही कहूँगा कि वैदिक छन्द-योजना में बड़ी स्वच्छन्दता

---

[1] संस्कृत तथा प्राकृत छन्दो पर कोलब्रूक का निबन्ध, तथा 'इण्डिश्श स्टूडियन' मे प्रोफेसर वेवर का लेख भी देखिए।

बरती गई है जिससे गायत्री में, जिसमे आठ-आठ अक्षरो के तीन भाग माने जा सकते है (जिस कारण इसे 'त्रिपदा' कहते है) या चार-चार अक्षरों के छ: पाद वाला मान सकते है, प्रत्येक स्वर की मात्रा नितान्त अनियमित होती है यद्यपि द्वितीय, चतुर्थ तथा षष्ठ पाद में सामान्यत: दो द्वयक्षर पद (iambic) होते हैं।

वैदिकोत्तर छन्दो के इतने विविध प्रकार है कि उन्हे वर्गों, क्रमो, श्रेणियों तथा जातियो मे व्यवस्थित करना आवश्यक हो जाता है। वस्तुत:, प्रत्येक प्रकार के गूढ छन्द का यत्नकृत विस्तार इस सीमा तक किया गया है कि वह दूसरी भाषाओ की काव्यीय रचनाओ के सामान्य व्यवहारो से बिल्कुल परे है। डा० येट्स (Yates) का कथन है : 'एक हिन्दू कवि एक हजार मात्रा के अर्द्धपंक्ति या पाद की सीमा के अन्तर्गत किसी भी विस्तार तक पहुँच सकता है।' दण्डक छन्द (जिसका एक उदाहरण 'मालतीमाधव' के अक ५[१] मे मिलता है) किसी भी उदाहरण से बढकर विस्तार की अविश्वसनीय क्षमता का स्वरूप प्रस्तुत करता है। यह छन्द को २७×४ से ९९९×४ मात्राओं तक का स्वीकार करता है। किन्तु सबसे प्रचलित छन्द जो विशेषतया महाकाव्य मे पाया जाता है—अनुष्टुभ् या श्लोक—छोटा और सरल होता है। इसमें आठ-आठ मात्रावाले चार पाद या सोलह-सोलह मात्रावाले दो पाद होते हैं, और प्रत्येक पाद के अन्तिम दो पादाश (फीट) 'आइएम्बिक' होते हैं (देखिए मेरी 'संस्कृत-ग्रामर', पृ० २८८)। इन्द्रवज्रा (उपेन्द्रवज्रा भेद सहित) भी एक सामान्य और नितान्त लयात्मक छन्दो मे से एक है। यह होरेस (Horace) के चौथे 'ओड' (Ode) मे आनेवाले एक छन्द से बहुत मिलता है—

Vulcanus ardens urit officinas,
Trahuntque siccas machinae carinas.

किन्तु इस लैटिन छन्द को संस्कृत छन्द के अनुरूप बनाने के लिए 'machinae' तथा 'urit' की प्रथम मात्रा ह्रस्व समझनी पडेगी। अंग्रेजी की एक पंक्ति मे इसे इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है, 'Down comes the rain and with it comes the thunder', जिसमे प्रथम मात्रा पर जोर देना होगा।

---

[१] यह 'प्रचलित-करि-कृत्ति' इत्यादि से प्रारम्भ होता है। इसके प्रत्येक पाद मे चौवन मात्रायें हैं। इस उदाहरण का अनुवाद 'एशियाटिक रिसर्चेज' भाग १०, पृ० ४५६ मे हुआ है।

वेदाङ्ग–निरुक्त

इस वेदान्त का उद्देश्य कठिन वैदिक शब्दों का व्युत्पत्ति-प्रदर्शन या व्याख्या है। इसमे सन्देह नही कि किसी समय इस प्रयोजन के लिए अनेक ग्रन्थ थे किन्तु केवल एक को छोड़कर, जो इस सम्पूर्ण वर्ग का प्रतिनिधि है, सभी नष्ट हो गये है।[1] यह एक संकलन है जो यास्क नामक आचार्य की विवृति से संयुक्त है। श्रेष्ठ विद्वानो के अनुसार यास्क का समय ४०० वर्ष ई० पू० या सायण से १८०० वर्ष पूर्व का है[2]। उनके ग्रन्थ मे पाँच अध्यायो मे विभक्त शब्दो की तीन सूचियो मे प्रथम सूची आती है। वे सूचियाँ है—(क) **नैघण्टुक** : इसमे पर्यायवाची शब्दो के तीन अध्याय है, अथवा ये अन्त मे दिये गये किसी प्रमुख शब्द के समानार्थी शब्दो के संग्रह है। इस प्रकार के सग्रह को निघण्टु कहते है। प्रत्येक सग्रह मे पर्यायवाची शब्दो की संख्या मे दो से लेकर (३.२२) एक सौ बाइस (२.१४) का अन्तर है और इन्हे कठोर अर्थ मे पर्यायवाची नही कहा जा सकता। उदाहरणार्थ, जब यह कहा जाता है : 'वर्तते' वह मुड़ता है, 'लोटते' वह लुढकता है, 'सर्पति' सरकता है, 'स्रवति' बहता हैं, 'स्रंसते' टूटता है, 'प्लवते' तैरता है, 'दीयते' उड़ता है, 'पतति' गिरता है, तथा १२२ अन्य शब्द जो सभी 'गमति' वह जाता है, या 'गति' जाना के पर्यायवाची है; तो इसमे विस्तृत अर्थ मे गति के सभी रूपो एवं प्रकारों को सम्मिलित समझना चाहिए। पुन॰, १ १२ मे १०१ शब्दों का संग्रह है, जिन सबको जल ('उदक') का पर्यायवाची बताया गया है; किन्तु यह स्पष्ट है कि इन सब मे अधिकाश में सामान्यत. पाया जाने वाला गुण यह है कि वे सभी द्रव या तरलपदार्थ हैं जिनमे उदाहरणार्थ 'अमृत' तथा 'हविः' भी सम्मिलित है। इस कारण, यह देखते हुए कि एक साथ संकलित अधिकाश शब्द सन्दिग्ध अर्थ वाले प्राचीन वैदिक शब्द हैं जो लौकिक संस्कृत मे पूर्णतः अज्ञात हैं, तथा यह देखते हुए कि प्रत्येक पर्यायवाची शब्द के वर्ग में शब्दों के अर्थ-विस्तार एवं परिवर्तन की पूर्ण व्याख्या का अभाव है, इन सूचियो की व्यावहारिक उपयोगिता बहुत कम ठहरती है। (ख) '**नैगम**' : यह वेद मे आने वाले (नैगम) २७८ पृथक् शब्दो (पदानि) का तीन खण्डों के एक अध्याय मे संग्रह है। (ग) **दैवत** अर्थात्

---

[1] यास्क के पूर्व के कम से कम सत्रह नैरुक्तिको, अर्थात् वेद के व्याख्याताओं' का उल्लेख किया गया है। वेद की व्याख्या पर डॉ० म्यूर का लेख पृ० ३२१ देखिए।

[2] पाणिनि (४.१,११२) स्वयं कहते हैं कि 'यास्क' का अर्थ है 'यस्क' का वंशज या अपत्य।

छः लघु खण्डों वाले एक अध्याय मे संकलित देवताओ तथा धार्मिक या याज्ञिक कर्मों से सम्वद्ध १५१ शब्द। यह निश्चित नही है कि इन संग्रहों का संकलन स्वयं यास्क ने किया था या उनके पूर्व के किसी संग्रहकर्त्ता ने, किन्तु इसमे सन्देह नही कि इस ग्रन्थ का दूसरा तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाग, अर्थात् इन सूचियो के शब्दो का निरुक्त या व्याख्या उनकी अपनी रचना है। अतएव, यद्यपि निरुक्त नाम कभी-कभी शब्दों की इन सूचियों को दिया जाता है, तथापि यह उचित रूप मे उन शब्दों पर बारह अध्यायों मे लिखित यास्क की, व्याख्या का नाम है। बारह अध्यायो मे प्रथम अध्याय एक प्रकार की प्रस्तावना है जिसमें भाषाशास्त्रीय प्रश्नो के कतिपय रोचक विवाद तथा व्याकरण का एक प्रकार का सक्षेप या रूपरेखा है; उसके बाद के दो अध्याय 'नैघण्टुक' या पर्यायवाची शब्दो की सूचियो की अधूरी विवृत्ति हैं, जिसकी कमियो को यास्क पर टीका लिखने वाले दुर्ग ने पूरी की है। उसके बाद के तीन अध्याय 'नैगम' या मुक्त वैदिक पदो की व्याख्या करते हैं, तथा अन्तिम छः अध्याय 'दैवत' या सूक्तों के देवताओं से सम्बद्ध हैं। इस प्रकार व्याख्याओं सहित ये तीन संग्रह सत्रह अध्यायो को घेरते है। इस ग्रन्थ[1] का महत्त्व इस तथ्य मे है कि यह वेद पर प्राचीनतम विद्यमान व्याख्या है। शब्दो की व्याख्या करते समय उदाहरण के लिये वैदिक अशो को उद्धृत किया गया है तथा लेखक प्राय: विलक्षण व्युत्पत्तिविषयक अन्वेषण प्रस्तुत करता है, जो अपनी सर्वतोमान्य प्राचीनता के कारण बडे रोचक किन्तु शैली की नितान्त सक्षिप्तता एवं गूढता के कारण प्राय. दुर्बोध हैं।

यहाँ मै डॉ० जॉन म्यूर लिखित वेद की व्याख्या ('इण्टरप्रिटेशन ऑफ द वेद') पर लिखे गये लेख से कतिपय महत्त्वपूर्ण उक्तियों का सक्षेप प्रस्तुत करता हूँ। यह लेख 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' के जर्नल में प्रकाशित हुआ है (भाग २, नयी सीरीज, पृ० ३२०)—

'निरुक्त प्रायशः ब्राह्मणो का उल्लेख करता है। इसके लेखक के पूर्व की अनेक वैदिक शाखाओ का भी उल्लेख है, यथा 'नैरुक्त' या व्युत्पत्तिवादी, 'ऐतिहासिक' अर्थात् आख्यानो के लेखक, तथा 'याज्ञिक' अर्थात् कर्मकाण्डी। यास्क ने इन विभिन्न शाखाओ मे सूक्तो की व्याख्या की शैली के उदाहरण दिये है। इस प्रकार कहा गया है (निरुक्त ११.२९, ३१) कि नैरुक्त लोग अनुमति, राका, सिनीवाली तथा कुहू को देवियाँ मानते थे जब कि याज्ञिक लोग उन्हे प्रतिपद् तथा पौर्णमास के अर्थ मे लेते थे। अश्विन् नाम के देवता भी पहेली बने हुए थे। वे कौन थे इस विषय मे निरुक्त (१२.

[1] इसका सम्पादन बड़ी योग्यता के साथ प्रोफेसर रॉथ ने किया है।

१) निम्न उत्तर देता है—'कुछ लोग कहते हैं कि वे द्यौ और पृथ्वी थे; दूसरे उन्हे 'दिन और रात्रि' बताते है, अन्य लोग उन्हे 'सूर्य तथा चन्द्रमा' कहते है और ऐतिहासिक लोग उन्हें 'पवित्र कर्म करनेवाले दो राजा' मानते है।' पुन:, निरुक्त (६.१३) यह बताता है कि और्णवाभ ने 'नासत्यौ' (जो अश्विन देवो का एक विशेषण है) का अर्थ 'सत्य, असत्य नही' लगाया। अग्रायण के अनुसार इसका अर्थ 'सत्य के नेता' ('सत्यस्य प्रणेतारौ') है, जब कि स्वयं यास्क के अनुसार इसका अर्थ 'नासिका से उत्पन्न' ('नासिका प्रभवौ') हो सकता है। पुन: यह कहा गया है (निरुक्त ३.८) कि ऋग्वेद १०. ५३, ३ में आए हुए 'पञ्चजना:' का अर्थ कुछ लोग गन्धर्व, पितृ, असुर तथा राक्षसो से लेते हैं जब कि औपमन्यव ने इसका अर्थ चार वर्ण एव निषाद लगाया है। इसी प्रकार कात्थक्य 'नराशस' को यज्ञ का नाम बताते है जब कि शाकपूणि ने इसे अग्नि के अर्थ मे लिया है (निरु० ८.४,५)। इसी प्रकार यास्क के पूर्ववर्ती आचार्य ऋग्वेद १. २२, १७ मे वर्णित विष्णु के तीन पदो के विषय मे एकमत नही थे। शाकपूणि के मतानुसार विष्णु के ये पद क्रमश: पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश मे रखे गये थे, और और्णवाभ के अनुसार ये उदयाचल, मध्याकाश एव अस्ताचल पर रखे गये थे। इनमे से एक पूर्ववर्ती आचार्य (कौत्स) ने तो इतना तक कहने का साहस किया कि वैदिक व्याख्या व्यर्थ थी क्योकि सूक्त गूढ, निरर्थक, या स्वविरोधी है। गूढता के उदाहरणस्वरूप वे उन अशो को उद्धृत करते हैं जिनमे अम्यक् (ऋग्वेद १. १६९; ३), यादृश्मिन् (५. ४४. ८), जारयायि (६. १२, ४) तथा 'काणुक' (८. ६६, ४) आते है। इस दोषारोपण के सम्बन्ध मे यास्क का उत्तर है कि यह स्तम्भ का दोष नही यदि अन्धा व्यक्ति उसे नही देख सकता। ऋग्वेद १. १६४, ४५ में उल्लिखित वाणी की चार श्रेणिओं या अवस्थाओ के विषय मे निरुक्तपरिशिष्ट मे कहा गया है कि ऋषियों ने इनका अर्थ चार रहस्यमय पदों, 'ओम्', 'भू:', 'भुव', 'स्व:' से लिया है; वैयाकरणो ने इन्हे संज्ञा, क्रिया, उपसर्ग तथा निपात समझा है; याज्ञिकों ने सूक्तों, कर्मकाण्ड की विधियों, ब्राह्मणों एवं सामान्य भाषा का तात्पर्य लिया है; निरुक्तवादियो ने ऋक्, यजुष्, सामन् तथा प्रचलित भाषा का अर्थ लिया है; अन्य लोगो ने सर्पो, पक्षियों, सरीसृपो तथा मनुष्यों की वाणी समझा है और अध्यात्मवादियो ने पशुओ वाद्ययन्त्र, वन्य पशुओ तथा आत्मा की वाणी माना है।

उपर्युक्त विवरणो से यह स्पष्ट है कि २००० वर्ष से भी बहुत पहले यास्क के समय में भी वेद व्याख्याकारो में महान् मतवैषम्य था तथा शास्त्रानुयायी तत्त्वज्ञानियो को यास्क के समान ही शङ्का करनेवालो एवं हेतुवादियों

की आपत्तियों का सामना करना तथा उत्तर देना पड़ता था। वे अपनी व्याख्या इस प्रकार प्रारम्भ करते है—

'शब्दो के परम्परागत समाम्नाय की आवृत्ति परम्परा से इस प्रकार होती है। 'उसकी व्याख्या करनी चाहिए' इस परम्परागत समाम्नाय को निघण्टु कहते हैं' ['समाम्नाय. समाम्नातः स व्याख्यातव्यस्तमिमं समाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते']।

कदाचित् यास्क की शैली का जो सबसे सुन्दर उदाहरण दिया जा सकता है वह राँथ के सस्करण से प्रोफेसर गोल्डस्टूकर द्वारा उद्धृत तथा विवेचित एक अश (१ ३) है। यह इसलिये रोचक है कि यह प्रदर्शित करता है कि अधिक उत्तम व्याख्या के लिए यास्क ने उस समय समझे जानेवाले व्याकरण एवं व्याकरण-विज्ञान पर एक प्रकार से प्रकाश डालने का प्रयास किया है।

'प्राचीन वैयाकरण शाकटायन का कथन है कि उपसर्ग (संज्ञा या क्रिया) से पृथक् होकर कोई अर्थ नही रखता; किन्तु गार्ग्य का कथन है कि वे संज्ञा या धातु द्वारा सूचित क्रिया मे अर्थपरिवर्तन करते हैं और (इनसे न जुड़े होने पर भी) उनके विभिन्न अर्थ होते हैं। वे अपने अर्थ को अभिव्यक्त करते है अर्थात् वह अर्थ जो संज्ञा या धातु के अर्थ मे परिवर्तन लाता है। 'आ' उपसर्ग मर्यादा के अर्थ मे है, 'प्र' तथा 'परा' उसके विपरीत अर्थ सूचित करते हैं; 'अभि' किसी ओर की दिशा को, 'प्रति' उसके विपरीत अर्थ को, 'अति' और 'सु' श्रेष्ठता को, 'निर्' और 'दुर्' उन दोनो के विरोधी अर्थ को, 'नि' तथा 'अव' विनिग्रह की क्रिया को, 'उद्' इन दोनो के विपरीत अर्थ को, 'सम्' एकसाथ मिलाने के अर्थ को, 'वि' तथा 'अप' उसके विपरीत अर्थ को, 'अनु' समानता या पीछे होना, 'अपि' सम्बन्ध, 'उप' गौणरूप मे जुड़े होने, 'परि' चारो ओर होने, और 'अधि' ऊपर होने या प्रधान होने के अर्थ को सूचित करते है। इस प्रकार ये विभिन्न अर्थ देते है और इस कारण इनका महत्त्व स्वीकार करना चाहिए ['न निर्बन्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति शाकटायनो, नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसयोग-द्योतका भवन्त्युच्चावचाः पदार्था भवन्तीति गार्ग्यस्तद्य एषु पदार्थं प्राहुरिमे तं नामाख्यातयोरर्थ-विकरणम्; आ इत्यर्वागर्थे, प्र परेत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। अभीत्यभिमुख्यम्। प्रतीत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। अति सु इत्यभिपूजितार्थे। निर्दुरित्येतयो. प्रातिलोम्यम्। न्यवेति विनिग्रहार्थीया। उदित्येतयो. प्रातिलोम्यम्। समित्येकी भावं, व्यपेत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। अन्विति सादृश्यापरभावम्। अपीति संसर्गं, उपेत्युपजनम्। परीति सर्वतोभावम्। अधीत्युपरिभावमैश्वर्यं वैवमुच्चावचानर्थान्प्राहुस्त उपेक्षितव्याः']।

इसी अध्याय में कुछ आगे (१.१२) व्युत्पत्ति विषय पर एक और भी अधिक रोचक अंश है—

ये चार प्रकार के पद गिनाये गये है, संज्ञा (नामन्), क्रिया (आख्यात), उपसर्ग तथा निपात । शाकटायन का कथन है कि नाम पद आख्यात से व्युत्पन्न हैं और इस विषय में नैरुक्तो में मतैक्य (नैरुक्तसाम्य:) है। किन्तु गार्ग्य एवं कुछ वैयाकरणों का कथन है कि सभी (नाम-पद धातुओ से व्युत्पन्न) नही है, क्योकि यदि सभी नाम-पद आख्यात से व्युत्पन्न होते तो जो वस्तुएँ एक ही क्रिया करती है उनका नाम एक ही होता। इस प्रकार यदि 'अश्व' 'अश्' होकर जाना धातु से व्युत्पन्न होता तो जो कोई राजपथ से होकर जाता है उसे 'अश्व' कहना चाहिए। यदि 'तृण' शब्द 'तृद' छेदना धातु से बनता तो प्रत्येक छेदनेवाली वस्तु 'तृण' कहला सकती थी। पुनः यदि सभी नाम-पद धातुओं से व्युत्पन्न होते तो प्रत्येक वस्तु के उतने ही नाम होते जितनी इसकी अवस्थाएँ होती है। इस प्रकार 'स्थूण' अर्थात् स्तम्भ को गड्ढे मे स्थित होने के कारण 'दर-शया' कह सकते या 'शञ्जनी' भी कह सकते क्योकि वस्तुएँ इसके साथ जोड़ी जाती हैं [यास्क शाकटायन के पक्ष का समर्थन करते हुए इस विवाद को समाप्त करते हैं, देखिए प्रोफेसर मैक्स मूलर का ऐन्शेन्ट संस्कृत लिटरेचर, पृ० १६५] ।

तेरहवाँ एवं चौदहवाँ अध्याय, जिसे सामान्यत: 'निरुक्तपरिशिष्ट' कहते हैं, यास्क से भी अधिक अर्वाचीन लेखक की रचना समझे जाते है। परवर्ती कोशकारो के भी अनेक कोश उपलब्ध हैं, यथा—

अमरकोष (जिसे तीन काण्ड से युक्त होने से 'त्रिकाण्ड' भी कहते हैं) : इसके रचयिता बौद्ध अमरसिंह है जिनका समय संभवत ५०० ई० से बाद का नही है; हलायुधरचित अभिधर्म रत्नमाला, जैन हेमचन्द्र रचित अभिधान चिन्तामणि, महेश्वररचित विश्वप्रकाश, और धरणी, मेदिनी, हारावली, इत्यादि ।

वेदाङ्ग—व्याकरण

व्याकरण (वि + आ + करण) शब्द का शाब्दिक अर्थ है 'अलग-अलग करना' और इस शब्द का प्रथमत. प्रयोग भाषाविषयक विश्लेषण के लिये, और तत्र सामान्य रूप मे भाषा के नियमो (ग्रामर) और विशेषतया पाणिनि के व्याकरण[1] के लिए होता है। यह 'संस्करण' अर्थात् 'एक साथ रखना' का विरोधी अर्थवाला है जिस सस्करण से निर्मित भाषा को 'संस्कृत' अर्थात् बनाई गई भाषा कहते हैं। कठोर अर्थो मे पाणिनि का महान् व्याकरण वेदाङ्ग नही

[1] कोई पण्डित व्याकरण शब्द का प्रयोग संस्कृत व्याकरण के अतिरिक्त अन्य के लिए नही करेगा और किसी व्यक्ति की विद्वत्ता का निर्णय उसके व्याकरण के ज्ञाता होने के आधार पर किया जाता है।

माना जा सकता, कारण यह वैदिक शब्दो का विवेचन केवल अपवादरूप में ही करता है। उनके समय के पूर्व के व्याकरणीय सूत्र, जो प्राय· सभी नष्ट हो चुके हैं, वेदाङ्गभूत रचनाओं के व्याकरण भाग के अन्तर्गत रहे होगे।[1] तथापि पाणिनि का व्याकरण, जो शुद्ध संस्कृत का महान् मापदण्ड है, प्रायः इस वेदाङ्ग का प्रतिनिधि माना जाता है और चूकि यह संसार मे दिखाई पडनेवाली साहित्यिक रचनाओ में सर्वाधिक वैशिष्ट्यपूर्ण है तथा कोई अन्य देश योजना की मौलिकता या विश्लेषणात्मक सूक्ष्मता की दृष्टि से इसकी तुलना मे आने वाले व्याकरणीय रूप को उत्पन्न नही कर सका है, इसकी प्रमुख विशेषताओं का सक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जा सकता है।

इस व्याकरण के रचयिता पाणिनि के विषय मे कुछ भी ज्ञात नही है। इन्हे पणिन् का वशज तथा देवल नाम के प्रबुद्ध विधिशास्त्री का पौत्र बताया जाता है। इनकी माता का नाम दाक्षी था (जिस कारण इन्हे दाक्षेय भी कहते है), तथा सिन्धु नदी पर स्थित अटाक के उत्तर-पश्चिम मे गन्धार (कन्दहार) देश के अन्तर्गत शलातुर को इनका जन्मस्थान कहा जाता है (जिस कारण इनका नाम शालातुरीय पड़ा है)। इस प्रकार ये उत्तरपश्चिमी या पश्चिमी शाखा के थे। परवर्ती समय मे जब ये अधिकाधिक सम्मानपात्र हो गये तो इनके प्रशंसको ने अन्ततः इन्हे श्रेष्ठ समाज मे पहुँचा दिया, अर्थात् ऋषि या प्रबुद्ध मुनि का उच्च पद प्रदान किया। इस कारण व्याकरण के रचयिता होने के बजाय इन्हे उसके 'द्रष्टा' होने की कल्पना की गई जो ईश्वर-प्रकाशित हुआ था तथा कथा के अनुसार भगवान् शिव ने इन्हे चौदह सूत्र विशिष्ट रूप से प्रदान किये थे। निःसन्देह यह निश्चित रूप से निर्धारित करना नितान्त असम्भव है कि ये किस काल मे हुये। स्वर्गीय प्रोफेसर गोल्डस्टूकर ऐसा सोचते थे कि उनके पास यह निर्णय देने का पर्याप्त प्रमाण था कि पाणिनि

---

[1] स्वयं पाणिनि अपवे पूर्ववर्ती अनेक वैयाकरणों का उल्लेख करते है— यथा आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य, गालव, चाक्रवर्मण, भारद्वाज; शाकटायन, शाकल्य, सेनक तथा स्फोटायन। उणादिसूत्र (जिसकी टीका उज्ज्वलदत्त ने की है) जिनमे ऐसे शब्दों की रचना के लिये जिनका अर्थ व्युत्पत्ति के आधार पर किया जाता है एवं जिनकी धातुएँ सदैव स्पष्ट नही होती, 'उण्' प्रत्यय से प्रारम्भ होनेवाले प्रत्यय दिये गये है, पाणिनि के पहले के माने जाते हैं। किसी भी स्थित मे वे ३.३.१;३.४ ७५ मे अनुबन्धो का उल्लेख करते है। स्वर पर शान्तनव के सूत्र सम्भवत पाणिनि के बाद के हैं। इनका सुन्दर सम्पादन प्रोफेसर कीलहॉर्न ने किया है। मेरा विश्वास है कि डॉ० व्यूलर को एक ऐसे ग्रन्थ का अंश प्राप्त हुआ है जो शाकटायन का व्याकरण हो सकता है।

बुद्ध के पूर्ववर्ती थे। इस प्रकार ये छठी शताब्दी ई० पू० के ठहरते है। अन्य विद्वान्, जिनके विचार आदर के पात्र हैं, यह सोचते हैं कि चतुर्थ शताब्दी ई० पू० के मध्य से पहले पाणिनि का समय नही हो सकता।

इनकी रचना को, जो कदाचित् हिन्दू मस्तिष्क की सभी रचनाओं में सर्वाधिक मौलिक है, कभी अष्टाध्यायी कहते है और कभी 'अष्टकं पाणिनीयम्', क्योंकि इसमें आठ व्याख्यान (अध्याय) हैं जिनमे से प्रत्येक चार खण्डो (पाद) मे विभक्त है। इन आठ अध्यायो मे ३९९६ सूत्र या नियमवाक्य है[1]। प्रथम अध्याय व्याकरण में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दो तथा उनकी व्याख्या एवं प्रयोग के नियमो का विवेचन करता है।[2] शब्दयोनि या प्रकृति को धातु तथा प्रत्ययहीन पद को प्रातिपदिक कहा जाता है किन्तु प्रकृति कभी भी अनुबन्धरहित, उन सूचक स्वरो या वर्णों के रूप मे (जिन्हें पारिभाषिक शब्दावली मे 'इत्' कहते हैं) नही होती, जो वस्तुतः प्रकृति के भाग नही होते किन्तु केवल उसके विभक्ति-रूप या धातु-रूपो में कतिपय विशेषताओं का निर्देश करते है। इसी प्रकार के सूचक-वर्ण या स्वर अनुबन्धो, आगमो[3] आदि के प्रारम्भ मे या अन्त मे प्रयुक्त होते हैं। विभक्त्यर्थक प्रत्ययो को 'सुप्'

[1] इनमे से तीन या चार को बाद का जोड़ मानते है। प्रोफेसर बौटलिंक के उत्तम संस्करण में चौदह माहेश्वर सूत्रो को मिलाकर ३९९७ सूत्र है। पाणिनि को प्राचीनतम धातुपाठ या अनुबन्धयुक्त धातुओ के कोश का भी रचयिता कहा जाता है।

[2] पाणिनि के सूत्र तथा उनके प्रयोग को स्पष्ट करनेवाले नियम को परिभाषा कहते हैं। पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या करनेवाले नियम को संज्ञा कहते हैं।

[3] उदाहरण, 'निद्' धातु को 'निदि' कहकर यह सकेत दिया जाता है कि इसका रूप चलाने में बीच मे 'न्' का निवेश करना पडता है, यथा 'निन्दामि', 'निन्दसि' इत्यादि। 'मय' प्रत्यय को 'मयट्' कहा जाता है जिससे यह सूचित होता है कि इसका स्त्रीलिंग 'मयी' होता है। कभी-कभी ये 'इत्' या 'अनुबन्ध' दो धातुओ या प्रत्ययो को पृथक् करते है जो यद्यपि उच्चारण में एक से होते हैं परन्तु अर्थ भिन्न-भिन्न रखते हैं, उदाहरणार्थ 'दा' देना धातु को 'डुदाञ्' कहते है तथा बाँटना अर्थवाली 'दा' धातु को 'दाप्' कहते हैं; 'वत्' प्रत्यय जिसका अर्थ 'समान' होता है 'वति' कहलाता है जब कि 'युक्त' अर्थवाले 'वत्' प्रत्यय को 'वतुप्' कहते हैं। कभी-कभी इन अनुबन्धो का प्रयोग केवल प्रत्याहार बनाने के लिए होता है, यथा कर्मकारक द्विवचन के विभक्त्यर्थ प्रत्यय को 'औट्' केवल 'सुट' प्रत्याहार बनाने के लिये कहते हैं।

तथा धातुओं के पुरुषवाची प्रत्ययों को 'तिङ्' कहते हैं। तिङ्प्रत्ययों एवं धातु के बीच एक धातुरूप सम्बन्धी अक्षर का निवेश किया जाता है, जिसे विकरण कहते हैं। प्रथम अध्याय का तीसरा पद परस्मैपद तथा आत्मनेपद का विवेचन करता है। दूसरा अध्याय समास पर है; तीसरे, चौथे और पाँचवे अध्याय विभिन्न प्रत्ययों एवं उनके अर्थों को गिनाते है। धातुओ से सम्बद्ध प्रत्यय या कृदन्त तीसरे अध्याय में ही हैं और संज्ञाओ से सम्बद्ध तद्धित चौथे तथा पाँचवें में। षष्ठ, सप्तम तथा अष्टम क्रियाओ एवं प्रत्ययों मे विविध प्रकार के आगमो एवं आदेशों के कारण होनेवाले परिवर्तनों का विवेचन करते हैं। जिस ढग से इन सभी विस्तृत एवं गूढ़विषयो की व्याख्या की गई है उसके समान संक्षिप्तता एवं शब्दो की मितव्ययिता मे सफलता अन्यत्र नही देखी जाती। पाणिनि के सूत्र नि·सन्देह संक्षेपीकरण के आश्चर्यजनक उदाहरण है। उनका मुख्य ध्येय विद्यार्थियो की अपेक्षा अध्यापको की स्मृति की यथा-सम्भव संक्षिप्त प्रबोधको द्वारा सहायता करना है। जहाँ कही एक वर्ण तक की बचत हो सकती है वहाँ इस सर्वप्रमुख ध्येय के आगे अन्य सभी विचारों को ताक पर रख दिया गया है, तथा सामान्य शब्दो के प्रयोग द्वारा जितना संक्षिप्त रूप बनाया जा सकना है उससे भी अधिक संक्षिप्त बनाने के लिए एक स्वतन्त्र प्रतीकात्मक भाषा गढ़ ली गई हैं जिसका ज्ञान स्वयं नियमो को बोधगम्य बनाने के पूर्व ही प्राप्त कर लेना आवश्यक होता है।[1] कदाचित् सम्पूर्ण ग्रन्थ के अन्तिम सूत्रो को संक्षिप्तता की पराकाष्ठा का सर्वोत्तम उदाहरण माना जा सकता है। इसमे केवल दो ही अक्षर हैं 'अ अ' जिसका अर्थ इस प्रकार बताया जाता है—

'ह्रस्व 'अ' के उच्चारण मे उच्चारण के अवयवो का सकोच होता है, अब हम इस ग्रन्थ के अन्त पर आ गये हैं जिसमे इसे अन्यथा स्वीकार करना आवश्यक था।'

यहाँ षष्ठ अध्याय (१ ७७) का एक सूत्र दिया जाता है—'इको यणचि'। नि.सन्देह यह संस्कृत नही अपितु एक व्याकरणीय बीजगणित है। 'इक्' चार स्वरों इ, उ, ऋ, लृ, का प्रतीक है और काल्पनिक सम्बन्धकारक से युक्त होकर 'इकः' (यहाँ 'इको' रूप मे परिवर्तित) हुआ है। 'यण्' य्, व्, र्, ल् वर्णो का प्रतीक है, और अच् (जिसके अधिकरण कारक में 'अचि' रूप की

---

[1] उदाहरणार्थ 'श्यन्' चतुर्थ गण की धातुओ की विशेषता है, 'यक्' कर्मवाच्य के लिए, 'णिक्' प्रेरणार्थक, 'सन्' इच्छार्थक, तथा 'यङ्' उत्कर्षज्ञापक (इन्टेसिव) धातु का चिह्न है।

कल्पना की गई है) सभी स्वरों के लिये प्रयुक्त हुआ है। विस्तार मे यह नियम इस प्रकार होगा—

'जव ह्रस्व या दीर्घ इ, उ, ऋ, लृ, के वाद कोई असमान स्वर आता है तो इनके स्थान पर क्रमशः य्, व्, र्, ल् वर्ण हो जाते है।'

अपरच एक सूत्र जो एक प्रकार के नियमों की शृंखला के प्रारम्भ मे आता है और इस कारण 'अधिकार' कहा जाता है, पुनः आवृत्त नहीं होता किन्तु इसको सम्पूर्ण नियमो की शृंखला के साथ जोड़कर समझना चाहिए। इस अधिकार सूत्र के प्रभाव (अनुवृत्ति) की समाप्ति जव तक नही मानी जाती तव तक आनुषङ्गिक सूत्रो के साथ इसे जोड़कर अर्थ निकाला जाता है। अनुवृत्ति की समाप्ति को 'निवृत्ति' कहते है। इस प्रकार प्रथम अध्याय के तृतीय पाद का ७४ वॉ सूक्त है 'णिचश्च' जिसका अर्थ इस प्रकार लगाना चाहिए—

'प्रेरणार्थक प्रत्यय णिच् से अन्त होने वाली धातु के वाद आत्मनेपद का प्रयोग होता है जव क्रिया का फल कर्ता पर ही पडता है।'

निःसन्देह इस सूत्र को वोधगम्य बनाने के लिये प्राय· सभी वाते दूसरे सूत्रो से तथा विशेपतया अधिकार सूत्र १२ से ग्रहण करनी पड़ेगी, जिस सूत्र से वासठ सूत्रो के वाद यह सूत्र आता है।

साराश यह कि पाणिनि के व्याकरण के सावधानीपूर्वक परीक्षण से विद्यार्थी कोलब्रुक के इस कथन को वस्तुत· समझ सकेंगे कि 'अपवादो एवं मर्यादाकरण का अनन्त अनुसरण सामान्य नियमो को इतना विच्छिन्न बना देता है कि पाठक उनके अभिप्रेत सम्वन्ध एव पारस्परिक सम्वन्ध को ध्यान में नही रख सकता। वह एक उलझी हुई भूलभुलैया मे भटकता रहता है और इस भूलभुलैया की कुंजी वरावर उसके हाथ से सरकती रहती है।'

सच पूछा जाय तो इस व्याकरण का परीक्षण योरोपीय दृष्टिकोण से नही किया जाना चाहिए। हमे यह नही भूलना चाहिए कि एक भारतीय पडित की व्याकरण विषयक धारणायें हमारी धारणाओ से विल्कुल भिन्न है। योरोपीय किसी भी प्रकार के व्याकरण को एक आवश्यक वुराई के रूप में देखते हैं जो उसके परे एक अभीष्ट लक्ष्य तक पहुंचने मे आवश्यक होने के कारण अपरिहार्य है। हमारे लिए भाप का व्याकरण बहुत विषयों मे भाषा के साहित्य तक पहुँचने का एक मार्ग है, एक शुष्क प्रदेश है, जिसे यथाशीघ्र पार करना होता है। इसके विपरीत, एक पण्डित व्याकरण को उसी दृष्टि से देखता है जिस दृष्टि से हम प्राकृतिक विज्ञानो को देखते है। उसके लिए यह एक ऐसी वस्तु है जो अपने आप मे एक अनिवार्य अध्ययन

एवं सूक्ष्म विवेचन का विषय है। स्वर्गीय प्रोफेसर गोल्डस्टूकर के अनुसार, "पाणिनि का ग्रन्थ निःसन्देह संस्कृत साहित्य का एक प्रकार का स्वाभाविक इतिहास है।"[१] यह भाषाशास्त्रीय तथ्यो एव प्रक्रियाओं को जिस रूप में पाता है उसी रूप मे उनका विवरण प्रस्तुत करता है, तथा जिस प्रकार वे विषयो के किसी वैज्ञानिक या नियमित सयोजन का अनुसरण किये बिना प्रयुक्त हुए हैं उसी रूप मे उन्हे ढूंढ निकलता है। स्वरों के दीर्घीकरण का विवेचन एक तथ्य के रूप मे किया गया है: तथा उन सभी उदाहरणों को जिनमे इस प्रकार की वृद्धि होती है ढूंढ निकालने के लिए, चाहे वे शब्दो के रूप मे हो, चाहे धातुरूपो मे या पदरचना मे, एक सम्पूर्ण अध्याय मे इसका वर्णन किया गया है। अतएव शब्दरूप तथा धातुरूप के नियम योरोपीय पद्धति के अनुसार एक दूसरे के बाद स्वभाविक क्रम मे नही आते जिससे किसी व्याकरणीय नियम या क्रिया के विवरण को पूर्ण बनाने के लिए ग्रन्थ के पृथक् पृथक् भागो मे बिखरे हुए नियमो को ढूँढकर उन्हे एक स्थान पर लाना आवश्यक हो जाता है।

पाणिनि के व्याकरण की आलोचना तथा इसकी कमियो की पूर्ति सुप्रसिद्ध कात्यायन ने की, जिन्हे वार्तिको अर्थात् 'पूरक नियम एवं व्याख्याओं' के रचयिता होने के कारण वार्तिककार कहते हैं। ये पाणिनि के बाद किसी समय कदाचित् उनके बाद की शताब्दी मे रहे होगे। कुछ लोगों का विश्वास है कि ये दोनों वैयाकरण समकालीन थे। कात्यायन की आलोचना उनके प्रतिद्वन्द्वी पतञ्जलि ने की जो सामान्यतः वार्तिककार के विपरीत पाणिनि का समर्थन करते है। पतञ्जलि के प्रति हम किसी भी देश मे कभी भी मानवीय प्रतिभा द्वारा रचित व्याकरण ग्रन्थों मे सर्वाधिक विलक्षण ग्रन्थ 'महाभाष्य'[२] के लिये ऋणी है, जो पाणिनि की व्याख्या करने की अपेक्षा उनके उन सूत्रों का औचित्य सिद्ध करने के लिए लिखा गया है जिनकी कात्यायन ने आलोचना की है। कदाचित् ये वही व्यक्ति नही थे जिन्होने योग दर्शन की रचना की। कुछ लोगों के अनुसार इनकी माता का नाम गोणिका था। ये भारत के पूर्व में

[१] चैम्बर्स साइक्लोपीडिया में 'पाणिनि' पर लेख देखिए।

[२] इस समूचे महान् ग्रन्थ का सम्पादन हाल ही मे बनारस के दो पण्डितो ने किया है। इस पर 'इण्डिश्श स्टूटियन' के अन्तिम भाग में प्रोफेसर वेबर लिखित सुन्दर लेख देखिए। उसकी एक प्रति प्रोफेसर ए० ई० गोफ ने कृपाकर मेरे पास भेजी है। वार्तिक के साथ पतञ्जलि के योग को 'इष्टि' कहते है। वे व्याकरण की कई कारिकाओ एव स्मरणीय श्लोकों के भी रचयिता हैं। इस प्रकार के श्लोको का एक लघुग्रन्थ भर्तृहरि ने भी रचा था।

गोनर्द मे उत्पन्न हुए थे और इन्होने कुछ समय तक कश्मीर मे भी निवास किया जहाँ इनका ग्रन्थ सुज्ञात था। प्रोफेसर गोल्डस्टूकर के अनुसार इन्होंने १४० से १२० ई० पू०[१] में रचना की किन्तु प्रोफेसर वेबर ने इन्हे ईसा से २५ वर्ष बाद के काल का माना है। ये तीनों, पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि, भारतीय वैयाकरणों की महान् त्रिमूर्ति है, जिनके प्रमाप से बाहर व्याकरण से सम्बद्ध किसी विषय मे कोई अन्य प्रमाप नही है। प्राय: एक सौ पचास वैयाकरणो तथा भाष्यकारो ने अपने पूर्ववर्ती पर आलोचना या भाष्य लिखकर इन्हीं के पदचिह्नो का अनुसरण किया। इन्ही मे कैयट या कैय्यट भी आते है जिन्होने 'भाष्य प्रदीप' नामक ग्रन्थ मे पतञ्जलि पर भाष्य लिखा और स्वयं इन पर नागोजी-भट्ट ने 'भाष्यप्रदीपोद्योत'[२] मे टीका लिखी। पाणिनि के अधिक अर्वाचीन भाष्यों मे सर्वोत्तम भाष्य है वामन की काशिका वृत्ति जिसका यह नाम काशी या बनारस मे रचे जाने से पड़ा है। भट्टोजि दीक्षित नाम के एक वैयाकरण ने सूत्रो को एक ऐसी योजना के अनुसार क्रमबद्ध करने का प्रयत्न किया जो आधुनिक विचारो से अधिक मेल खाती है। उनके उपादेय

---

[१] फरवरी १८७३ का 'इण्डियन एण्टिक्वेरी' देखिए। चैम्बर्स साइक्लोपीडिया मे 'पतञ्जलि' लेख भी देखिए, जिसमे यह उचित ही कहा गया है कि 'पतञ्जलि' की शैली अन्य श्रेष्ठ भाष्यो के अनुरूप ही है। यह प्रत्येक महत्त्वपूर्ण अथवा सन्देहास्पद शब्द की व्याख्या करने मे, वाक्य के प्रमुख अंशों का सम्बन्ध प्रदर्शित करने मे, तथा आवश्यक विचारों को जोड़ने मे प्राय. आवृत्ति के द्वारा मूल के शुद्ध रूप की स्थापना करता है। प्राय. पतञ्जलि कात्यायन के वार्तिकों के साथ अपनी आलोचना भी जोड़ देते है। प्राय. ये आलोचनाएँ कात्यायन के मतो के समर्थन मे हैं, फिर भी, अनेक स्थलो पर ये कात्यायन की आलोचनाओं का खण्डन तथा पाणिनि का समर्थन करती है और साथ ही साथ कई अवसरों पर ये इन दोनो मे से किसी एक की विवेचन की कमियो को अपने अतिरिक्त नियमों द्वारा पूर्ण बनाती हैं। रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर, अक्टूबर ६८७२ की 'इण्डियन एण्टिक्वेरी' मे लिखते हुए अपना यह मत व्यक्त करते हैं कि पतञ्जलि उस समय हुए थे जब पुष्पमित्र पाटलिपुत्र पर शासन कर रहा था और 'कदाचित् उन्होने अपने भाष्य का तीसरा अध्याय ११४ ई० पू० तथा १४२ ई० पू० के बीच लिखा।' प्रोफेसर वेबर इस निर्णय का खण्डन करते है।

[२] नागोजी भट्ट परिभाषेन्दुशेखर नामके एक और ग्रन्थ के लेखक थे जिसका कुछ ही दिन पूर्व प्रोफेसर एफ० कीलहोर्न ने बम्बई मे सानुवाद सम्पादन किया है।

ग्रन्थ को सिद्धान्त कौमुदी[1] कहते है। पाणिनि व्याकरण का एक दूसरा और अधिक सरलीकृत रूप 'मध्यमकौमुदी' है और इससे भी अधिक सरल वरदराज की 'लघुकौमुदी'[2] जो वस्तुत: भारत के उत्तर पश्चिम मे प्रचलित 'सिद्धान्त कौमुदी' का एक प्रकार का संक्षिप्त रूप है।

वोपदेव नाम के एक वैयाकरण ने, जिन्हे प्राय: तेरहवी शताव्दी के उत्तरार्द्ध में देवगिरि (दौलतबाद) के राजा हेमाद्रि की सभा मे विद्यमान बताया जाता है, अपने ढंग से व्याकरण का अध्ययन प्रारम्भ करनेवालो के लिए 'मुग्घबोध'[3] नामका ग्रन्थ लिखा जिसका बंगाल मे एक प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में बहुत मान है तथा इसका उल्लेख अनेक देशीय टीकाकारो, यथा भरतमल्लिक या भरत सेन, ने किया है और इस कारण ये इनकी भट्टिकाव्य की टीका को 'मुग्ध-बोधिनी' नाम देते हैं।

वोपदेव की योजना एवं उनके अनेक पारिभाषिक और प्रतीकात्मक शब्द (उसके प्रत्ययो के पारिभाषिक रूपो सहित) पाणिनि के तत्तत् विपयों से भिन्न है, तथा वैदिक विशिष्टाओ का एकमात्र उल्लेख इस ग्रन्थ के अन्तिम सूत्र (२६. २२०) मे किया गया है, जो इस प्रकार है—

'वेद मे अनेक प्रकार के रूप तथा अनियमिततायें उपलब्ध होती हैं ['बहुलं ब्राह्मणि' जो पाणिनि के अनेकश: पुनरावृत्त सूत्र 'बहुलं छन्दसि' २.४,३९, २.४,७३, इत्यादि के समान है; तुलना कीजिए पाणिनि का सूत्र 'व्यत्ययो बहुलम्' अर्थात् सामान्य नियम का विरोध वेद में प्राय: होता है, ३.१,८५]।

तत्त्वत: वोपदेव[4] का लक्ष्य पाणिनि को पूर्ण बनाना नही है। वे स्वरों

---

[1] बहुत दिन नही हुए जब कि इसका एक नया संस्करण भारत मे प्रकाशित हुआ था।

[2] इसका सम्पादन तथा अनुवाद डॉ० बैलप्टाइन ने किया था।

[3] प्रोफेसर बौटंलिक ने पाणिनि के समान इसका भी सम्पादन किया है।

[4] वोपदेव के सर्वाधिक सामान्य पारिभाषिक शब्दो को जान लेना अत्यावश्यक है, क्योकि न केवल उनका प्रयोग देशीय टीकाकार स्थल-स्थल पर करते हैं अपितु संस्कृत व्याकरण के योरोपीय लेखकों ने भी कई स्थलो पर उनका प्रयोग किया है। वे प्राय· पाणिनि के ढंग से निराले हैं। उदाहरणार्थ, क्रियाओ मे लगाये जानेवाले वोपदेव के सूचक प्रत्यय इस प्रकार हैं (८.१) 'घु' धातु के लिए, 'त्रि' वृद्धि के लिए; 'क्व' एकवचन के प्रत्ययो के लिए, 'व्व' बहुवचनके लिए, 'लि' लिङ्ग के विशिष्ट चिह्न 'उ' के लिये; पाणिनि के 'तुमुन्' के स्थान पर 'तुम्' तथा 'चतुम्', कृदन्त प्रत्यय 'तुम्' के लिए; शान (शानच् नही) वर्तमानकालिक आत्मनेपद कृदन्त के प्रत्यय के लिए; 'श्रि'

के विषय मे कुछ भी नही कहते और उनका सन्धि-नियमों का विवेचन भी किसी प्रकार पूर्ण नहीं कहा जा सकता। उनकी शब्द तथा धातुओ की व्याख्या अधिक सन्तोषप्रद है तथा वे अनेक उपयोगी उदाहरण एवं रूपों को प्रस्तुत करते है, किन्तु प्रायः वे सामान्य नियमो के विरोध मे जा पड़ते हैं और पाणिनि के समान सूक्ष्म विवरणो को ढूँढ़ निकालने या एक दुर्बोध्य विपय के प्रत्येक कोने के सभी सम्भव अपवादो की खोज के विचार से छानबीन करने का कष्ट नही उठाते। प्रोफेसर बौटलिक ने इस ग्रन्थ के अपने सुन्दर संस्करण के आमुख मे मुग्धबोध का विश्लेषणात्मक विवेचन किया है। वोपदेव का प्रथम अध्याय पारिभापिक पदो की व्याख्या करता है; दूसरा सन्धि नियमों का विवेचन करता हैं; तीसरा शब्दरूप का, चौथा स्त्रीलिङ्ग शब्दो की रचना का, पाँचवाँ कारको के प्रयोग का, छठाँ समासो, सातवाँ तद्धित प्रत्ययों, आठवाँ प्रथमगण की क्रियाओ एवं धातुओ मे प्रयुज्य पारिभाषिक पदो, नवाँ और दसवाँ द्वितीय एव तृतीय गणो की धातुओं, तथा ग्यारहवें से सत्रहवें तक चतुर्थ से दशमगण की धातुओ का विवेचन करते है, जिनमे एक-एक गण की धातुओं का निरूपण एक-एक अध्याय मे किया गया है। अठारहवाँ अध्याय प्रेरणार्थक क्रियाओ, उन्नीसवाँ सन्नन्त इच्छार्थक धातुओ, बीसवा अतिशयार्थक या यङन्त क्रियाओ, इक्कीसवाँ नामधातुओ, बाइसवाँ परस्मैपद के प्रयोग, तेईसवाँ आत्मनेपद के प्रयोग, चौबीसवाँ कर्मवाच्य, भाववाच्य तथा कर्मकर्तृ-वाच्य की क्रियाओ, पच्चीसवाँ कालों एवं लकारो के प्रयोग, तथा छब्बीसवाँ कृत् प्रत्ययो का निरूपण करता है, इत्यादि।

मैं यह कहकर समाप्त करूँगा कि 'कातन्त्र' (या 'कलाप') नाम के एक लोकप्रिय व्याकरण का सम्पादन प्रोफेसर जे० एगलिङ्ग 'बिब्लियोथेका इण्डिका' के लिये कर रहे हैं।

वेदाङ्ग-ज्योतिष

इस वेदाङ्ग को नक्षत्रसम्बन्धी या खगोलविद्याविषयक पञ्जिका कहना चाहिए। कठोर अर्थो मे इसका प्रतिनिधित्व अपेक्षाकृत आधुनिक शैली में लिखित छत्तीस श्लोको वाली एक छोटी पुस्तिका करती है जिसको विद्वान् लोग ३०० वर्ष ई० पू० से पहले का समय नही दे सकते। सर्वोच्च प्रामाणिक स्रोतो के अनुसार ज्योतिप पर कोई वास्तविक सूत्र अब तक प्रकाश मे नहीं

सर्वनाम के लिए (जिसे पाणिनी ने सर्वनाम कहा है); पाणिनि के 'प्रत्यादार' के लिये 'समाहार' (मेरी संस्कृत-इङ्गिलश डिक्शनरी देखिए)। इन सबके होते हुए भी वोपदेव पाणिनि के पारिभापिक शब्दों में अधिकाश को ग्रहण करते हैं

आया है। ज्योतिष वेदान्त का लक्ष्य यज्ञो का आरम्भ करने के लिए सर्वाधिक शुभ दिनों एवं घड़ियों को निर्धारित करना है। यह ग्रन्थ लघु एवं असन्तोषप्रद होते हुए भी इसलिये ध्यान देने योग्य है कि इसमे कतिपय प्राचीनतम ज्योतिष के मतो का संग्रह है जिनमें उल्लेखनीय है तीस मुहूर्तो या अड़तालिस मिनट के घण्टों मे दिन का विभाजन, ज्योतिषचक्र का सत्ताइस भागो या चान्द्र नक्षत्रो (जिनमें प्रथम कृत्तिकाएँ है) मे विभाजन तथा अयनान्तों का परम्परागत स्थान जिसके आधार पर इस ग्रन्थ तथा सम्पूर्ण वैदिक साहित्य की तिथि ढूंढ निकालने का बहुशः प्रयत्न (जोन्स, डेविस, कोलब्रूक, प्राट्ट तथा अन्य लोगो द्वारा) किया गया है।

निम्नाङ्कित ज्योतिष ग्रन्थ[1] के सातवें तथा आठवें श्लोको का कोलब्रूक का अनुवाद है। अयनान्तो की वर्तमान स्थिति की तुलना के आधार पर तिथियो का निर्धारण करने मे उपयोगी होने के कारण ये दोनो श्लोक विवाद के विषय बने रहे हैं—

"श्रविष्ठा (=धनिष्ठा) के प्रारम्भ मे सूर्य तथा चन्द्रमा उत्तरायण हो जाते है, किन्तु सर्पों से अधिष्ठित नक्षत्रो के मध्य सूर्य दक्षिणायन हो जाता है, और यह (दक्षिण तथा उत्तर की ओर मुड़ना) सदैव माघ तथा श्रावण के मासो मे होता है। [प्रपद्येते श्रविष्ठादौ सूर्यचन्द्रमसावुदक्। सार्पार्धे दाक्षिणार्कस्तु माघश्रावणययोः सदा ।।] उत्तरायण मे जल के प्रस्थ (या बत्तीस पल) के बराबर दिन बढता है और रात्रि घटती जाती है; दक्षिणायन मे इसके विपरीत होता है (अर्थात् दिन घटते हैं और रात्रिया बढती हैं) और इस अयन में छः मुहूर्त का अन्तर होता है। [घर्मवृद्धिरपां प्रस्थ. क्षपाह्लास उदग्गतौ। दक्षिणे तौ विपर्यस्तौ षण्मुहूर्त्यमनेन तु ।।]

---

[1] कोलब्रूक के निबन्धो का ई० बी० कोवेल का संस्करण पृ० ९८ देखिए, जिसका पुनर्प्रकाशन उनके पुत्र सर टी० ई० कोलब्रूक ने किया है; और इस विषय पर ह्विटनी की मूल्यवान टिप्पणी विशेष रूप से देखिए (पृ १२६)। ह्विटनी ने यह प्रदर्शित किया है कि ज्योतिष के विवरणो के आधार पर निकाली गइ तिथि मे लगभग चार शताब्दियो (१४ वी से १० वी शताब्दी ई० पू० तक) की अनिवार्य अनिश्चितता है; और उनका दावा है कि वास्तविक अनिश्चितता इससे भी अधिक है। तात्पर्य यह कि वस्तुतः यह विवरण कोई निश्चित तिथि का निर्देश नहीं कर सकता। वेबर ने इसके पूर्व यह सकेत दिया है कि सबसे लम्बे और सबसे छोटे दिन या रात के बीच छ. मुहूर्तो का अन्तर केवल भारत के उत्तर पश्चिम के सुदूर कोने पर ठीक कहा जा सकता है।

नक्षत्र विद्या की दृष्टि से इन श्लोकों का चाहे जो कुछ भी स्थान हो, इतना तो स्पष्ट है कि सार्वजनिक या गार्हस्थ्य कर्मों एवं उत्सवों के अनुष्ठान के लिए शुभ दिनो के चयन के महत्त्व मे अन्धविश्वास भारत मे बहुत पहले ही परिलक्षित होने लगा था; और यह पौरोहित्य एवं उलझी हुई यज्ञविधियों की वृद्धि तथा विस्तार के साथ ही साथ विकसित और परिपुष्ट हुआ। अन्तरिक्ष तथा भूमि पर सूर्य का प्रभाव इतना स्पष्ट हो गया कि यह निष्कर्ष निकालना स्वाभाविक था कि इसके अनुरूप ही चन्द्रमा, ग्रहो एवं नक्षत्रो के भी प्रभाव थे, और सभी अति प्रमुख नक्षत्रों के मानवीकरण तथा देवत्वाधिरोपण ने, जो उनकी किरणों की कल्पित शक्ति का परिणाम था, न केवल धार्मिक कृत्यों की अपितु जीवन के सभी कार्यों की सफलता के लिए उनके मंगलकारी स्वरूप पर आश्रित रहने की अंविश्वासपूर्ण भावना को निःसन्देह और भी गाढा कर दिया। यद्यपि ये अन्धविश्वासपूर्ण विचार मन तथा मानसिक विकास पर घातक प्रभाव डालने वाले थे तथापि रूढिवादी हिन्दू को आकाशीय नक्षत्रो की गतियो का अध्ययन करने की प्रेरणा देने तथा उसे अंकगणित एवं गणित सम्बन्धी अन्वेषणो के लिए उत्साह देने के कारण बड़े लाभकारी भी सिद्ध हुए। किसी भी स्थिति मे ज्योतिष एवं गणित विज्ञान की भारत मे स्वतन्त्र उत्पत्ति रही। कम से कम इतना निश्चित है कि बहुत प्राचीन काल मे ही उनका सफलता के साथ अनुशीलन होता था यद्यपि दूरेक्षण एवं यांत्रिक उपकरणो के अभाव में यह कार्य बहुत अस्पष्ट रूप में होता रहा होगा। हम ऐतरेय-ब्राह्मण से एक उदाहरण दे चुके है जिसमें सूर्य के विषय में कतिपय वैज्ञानिक तथ्यों का चतुरतापूर्ण अनुमान है (देखिए पृ० ३४)।

वेद के कुछ पुराने सूक्तों में चान्द्र नक्षत्रो[1] का उल्लेख चन्द्रमा के सम्बन्ध मे किया गया है (दे० ऋग्वेद १ ५०,२)। अपरञ्च, चन्द्रमा की कुछ कलाओ, यथा 'अनुमती', एक कला कम पूर्ण चन्द्र, 'राका' या पूर्णचन्द्र,

[1] सत्ताइस वैदिक नक्षत्रो के लिए मेरी 'संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी' (परिशिष्ट भी) देखिए। नक्षत्र शब्द का पहले पहल अर्थ एक तारा या सामान्य ताराओ का समूह था, तब उसके बाद उन कुछ चुने हुए तारों के लिए होने लगा जिनके बीच या निकट से होकर चन्द्रमा जाता है; और अन्ततः, इसका प्रयोग चन्द्रमार्ग के भाग के लिए शिथिल रूप में किया जाने लगा जो प्रत्येक तारे से युक्त ज्योतिश्चक्र का २७ या २८ है। परवर्ती देवशास्त्र मे चान्द्र नक्षत्र सत्ताइस दक्षपुत्रियों तथा चन्द्रमा की पत्नियों के रूप मे बदल गये।

कुहू (या 'गुङ्ग') अर्थात् नवचन्द्र, तथा 'सिनीवाली' या नवचन्द्र के पहले या बाद मे दिखाई पड़नेवाले प्रथम क्षीण चन्द्रवलय, को मूर्तिमान् रूप दिया गया है (द्र० ऋग्वेद २.३२,८)। इस कारण हमारा यह निष्कर्ष निकालना तर्कसंगत है कि ज्योतिषचक्र मे चन्द्रमा की गति, तथा कालमापक एव मास-कृत्[1] के रूप मे इसके उपयोग का अध्ययन और निरीक्षण हिन्दुओ ने १४०० वर्ष ई० पू० मे ही किया था। सत्ताइस चान्द्र नक्षत्रो का तात्पर्य यह था कि ज्योतिष्चक्र का सत्ताइस समान भागो मे चान्द्रविभाजन किया गया था जिसमे प्रत्येक भाग का परिमाण १३°२०' था। इस प्रकार का (सत्ताइस या अट्ठाइस भागो) मे विभाजन अरबो तथा चीनियों जैसे अन्य एशियाई जातियों में भी पाया जाता है; और इस विषय पर यद्यपि बहुत विवाद हुआ है कि इस विभाजन की उत्पत्ति कहाँ हुई तथापि कोई निश्चित एवं विश्वसनीय परिणाम नहीं निकल सका है।[2] भारतीय महीनो के नाम नि सन्देह उन नक्षत्रों के आधार पर हैं जिनमे चन्द्रमा का वर्ष के विभिन्न समयो मे पूर्ण होना माना जाता है और इनमे से कुछ के नाम स्पष्ट रूप से प्राचीन वैदिक देवताओं के नाम पर हैं, यथा अश्विन, इत्यादि।[3] यजुर्वेद तथा ब्राह्मणो मे नक्षत्रदर्श तथा गणक शब्द

[1] यह चन्द्रमा का एक वैदिक नाम है। 'मा', नापना, धातु जिसका अर्थ 'नापनेवाला' भी है, संस्कृत मे सर्वप्रथम चन्द्रमा के लिए प्रयुक्त हुई है और तब चन्द्रमा के एक विस्तार से नापे जानेवाली चन्द्रपरिवृत्ति या अवधि के लिये प्रयुक्त हुई है। समान आर्य भाषाओं में इसके अनुरूप ही बात घटित हुई है। हम इतना जानते हैं कि 'मास' के अर्थ वाले शब्द सामान्यतः चन्द्रमा से व्युत्पन्न हैं। स्वय हमारा अंग्रेजी शब्द 'मन्थ' 'मून्थ' (Moonth) से अभिन्न है। ऋग्वेद १०.८५,२ मे निम्न उल्लेख है—'अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः' सोम इन नक्षत्रो की गोद में रखा हुआ है।

[2] इनके समर्थन मे दिये गये विचारो एवं तर्कों की समीक्षा हाल ही मे प्रोफेसर ह्विटनी ने अपने 'ओरिएण्टल एण्ड लिंग्विस्टिक स्टडीज़' भाग २, पृ० ३४१–४२१ मे की है। ज्योतिश्चक्र के चान्द्र चिह्न तथा परवर्ती ज्योतिष के अधिकाश ज्योतिष के पारिभाषिक शब्दो सहित (यथा होरा, केन्द्र, द्रकान, तीसरा ज्योतिष्चक्रीय चिह्न, लिप्त या अश का सूक्ष्म भाग) ग्रीसनिवासियो से लिये गये थे।

[3] महीनो के नाम इस प्रकार है : माघ ('मघा' नक्षत्र से); फाल्गुन (फल्गुनी से), चैत्र (चित्रा से), वैशाख (विशाखा से), ज्येष्ठ (ज्येष्ठा से), आषाढ (अषाढा से), श्रावण (श्रवणा से), भाद्रपद या भाद्र (भद्रपदा से), आश्विन (अश्विनी से), कार्त्तिक (कृत्तिका से), मार्गशीर्ष जिसे सामान्यतः

आये हैं जो ज्योतिपियों या दैवज्ञों के रूप में आकाश का निरीक्षण करने वालों के लिए प्रयुक्त हुए हैं;[१] तथा तेरहवें या अतिरिक्त मास (मलमास, मलिम्लुच, अधिमास, कभी-कभी पुरुषोत्तम) का निवेश करके चान्द्रवर्ष का सौर वर्ष के साथ साम्य स्थापित करने का उल्लेख सम्भवतः वेद के एक प्राचीन सूक्त (ऋग्वेद १.२५,८) में एक वार तथा अधिक अर्वाचीन अंशो मे वहुशः हुआ है (वाजसनेयि संहिता २२. ३०; अथर्ववेद ५.६,४ इत्यादि)।

संसार मे प्रचलित नक्षत्रविद्याविपयक विचारों के मौलिक स्रोत के विषय में हम चाहे जिस निर्णय पर पहुँचे, परन्तु सम्भवतः वीजगणित[२] का प्रवर्त्तन करने तथा इसका ज्योतिप एवं रेखागणित में प्रयोग करने का श्रेय हिन्दुओं को है। अरवों ने न केवल अपने वीजगणितीय विश्लेपण की प्रथम जानकारियाँ इनसे प्राप्त कीं अपितु उन महत्वपूर्ण अङ्क-चिह्नो एवं दशमलव का भी ज्ञान प्राप्त किया जो अब योरोप में सर्वत्र प्रचलित हैं और जिन्होंने अङ्कगणित विज्ञान की उन्नति मे अकथनीय योग दान दिया है। अतएव यहाँ प्रमुख ज्योतिष एवं गणित विपयक ग्रन्थो का कुछ उद्धरणो के साथ परिचय करा देना अप्रासङ्गिक न होगा।

अग्रहायण कहते हैं (मृगशिरस् से), पौप (पुष्य से)। मैंने इन नामों को इस क्रम से रखा है कि वे हमारे मासों से अधिकाधिक्य साम्य प्रदर्शित करें। 'मघा' जनवरी फरवरी के लिये और अन्य इससे प्रारम्भ कर इसी क्रम में होते हैं किन्तु व्यवहार रूप मे हिन्दूओं का तिथिपत्र वैशाख से प्रारम्भ होता है जो वर्प का प्रथम मास माना जाता है।

[१] नि.सन्देह ज्योतिप और नक्षत्र विद्या दोनों एक साथ मिले हुए थे, और भारत में इनमें प्रथम का विकास द्वितीय के अधीन होने के कारण अवरुद्ध हो गया था।

[२] अलजवरा नाम (जो अरवी के 'अल जव्र' अर्थात् खण्डों का पूर्ण के रूप में विलयन या भिन्नों को पूर्णाङ्क का रूप देना, से वना हैं) यह प्रदर्शित करता है कि योरोप ने दस संख्याओ के चिह्नों के समान ही वीजगणित को अरवो के माध्यम द्वारा हिन्दुओं से लिया। 'अल्जेब्रा' के लिये संस्कृत शब्द वीजगणित है जिसका अर्थ है वीजों की गणना, मौलिक या आरम्भिक तत्त्वो की गणना, या विश्लेपण। यदि ग्रीस निवासियों ने वीजगणित सम्वन्धी पहली जानकारी हिन्दुओ से नही प्राप्त की तो इतना तो (कोलब्रूक ने इस विषय पर जो कुछ विद्वत्तापूर्वक लिखा है उससे) प्रमाणित माना जा सकता है कि हिन्दू निःसन्देह ग्रीस निवासियों के ऋणी नहीं थे अपितु उन्होने स्वतन्त्र रूप से अपनी वीजगणित की प्रणाली चलाई।

कुछ विद्वान् सिद्धान्त नाम के नौ ज्योतिष ग्रन्थों को गिनाते हैं जो ये है—ब्रह्मसिद्धान्त, सूर्यसि०, सोम सि०, बृहस्पति सि०, गर्ग-सि०, नारद-सि०, पराशर-सि०, पुलस्त्य-सि०, वसिष्ठ-सि० । अन्य लोग पाँच का ही नाम लेते हैं—पौलिश-सि०, रोमक-सि०,[1] वसिष्ठ-सि०, सौर-सि०, तथा ब्राह्म-सि० या पैतामह-सि०, और कभी कभी इन पाँचों को सामूहिक रूप से 'पञ्चसिद्धान्तिका' कहते हुये इन्हे मौलिक सिद्धान्त वताया जाता है । सूर्य सिद्धान्त और सौर-सि० दोनो एक ही हैं या भिन्न यह सन्देहपूर्ण प्रतीत होता है, किन्तु यह ग्रन्थ, जिसके सूर्य द्वारा प्रदत्त किये जाने की कथा गढी गई है, कदाचित् भारत तथा योरप दोनों में ही सर्वाधिक ज्ञात हिन्दू ज्योतिपशास्त्रीय ग्रन्थ है ।[2]

प्राचीनतम हिन्दू नक्षत्रविद्याविद् , जिनका नाम हमें ज्ञात है, आर्यभट हैं । कोलब्रूक के अनुसार ये ईसा के अनन्तर पाँचवी शताब्दी में हुये थे । दूसरे लोग उन्हे या, उन्ही के नाम वाले दूसरे ज्योतिषी का समय तृतीय शताब्दी बताते है । आर्यभट तीन ग्रन्थो के रचयिता हैं : आर्यभटीय, दशगीतिका तथा आर्याष्टशत । इनके विपय मे कहा जाता है कि ये पृथ्वी की अपनी धुरी पर दैनिक परिक्रमा का निश्चित ज्ञान रखते थे, चन्द्र एवं सूर्यग्रहण के कारणो के यथार्थ सिद्धान्त का भी इन्हें ज्ञान था, तथा इन्होने चान्द्र नक्षत्रो एव विषुवत्वृत्त की गतियो का निरीक्षण किया था ।[3] प्रोफेसर कर्न ने अभी हाल मे आर्यभटीय का संस्करण प्रकाशित किया है ।

आर्यभट के वाद वराहमिहिर नामक नक्षत्र विद्याविद् हुए जो ईसा की छठी शताब्दी मे हुए और उज्जयिनी मे पैदा हुए थे । इन्होने जन्मपत्रो पर वृहज्जातक नामका ग्रन्थ, ज्योतिष का वृहत्सहिता नामका ग्रन्थ (जिसका सम्पादन प्रोफेसर कर्न[4] ने किया है और जिसका एक उद्धरण पृ० १८२-३ पर दिया गया है), तथा पञ्चसिद्धान्तिका नाम के पाँच मौलिक सिद्धातो का एक सक्षिप्त ग्रन्थ लिखा ।

---

[1] यह 'रोमक सि०' नाम नक्षत्रविद्या विषयक विचारों के भारत, ग्रीस तथा रोम मे पारस्परिक आदान-प्रदान का संकेत करता है ।

[2] इसका सुन्दर सम्पादन डॉ० फिट्ज्-एडवर्ड हाल ने किया है । इसके दो अनुवाद है : एक टिप्पणियो सहित (प्रोफेसर ह्विटनी कृत) अमेरिका में प्रकाशित हुआ है और दूसरा बापूदेव शास्त्री ने किया है ।

[3] ब्रह्मगुप्त के अनुसार जिसका उद्धरण 'चैम्बर्स साइक्लोपिडिया' मे सस्कृत लिटरेचर शीर्षक लेख के लेखक ने दिया है। मैंने इसी लेख का अवलोकन कर लिखा है ।

[4] जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसाइटी के लिए ।

आर्यभट तथा वराहमिहिर के बाद ब्रह्मगुप्त (संभवतः छठी शताब्दी के अन्तिम वर्षों मे) हुए। उन्होने ब्रह्मसिद्धान्त लिखा जिसमे कोलब्रूक के 'इण्डियन अलजेब्रा' नामक ग्रन्थ मे आये हुए गणित तथा बीजगणित (कुट्टक)[1] के अध्याय है।

प्रसिद्ध ज्योतिषियो एवं गणितज्ञो मे चौथे और अन्तिम **भास्कर** या **भास्कराचार्य** हुए जिनका जीवन-काल बारहवी शताब्दी बताया जाता है। इन्होने सिद्धान्त शिरोमणि नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा जिसमें बीजगणित तथा अंकगणित (लीलावती[2]) आते है; इसका अनुवाद कोलब्रुक ने किया है।

अब मै उपर्युक्त रचनाओं के वर्ण्य-विषयो के चुने हुए उदाहरण प्रस्तुत करूँगा। सूर्यसिद्धान्त (१. ११-१३), भास्कर के सिद्धान्त-शिरोमणि (१. १९, ३०) तथा टीकाओ सहित अन्य रचनाओं (वर्गेस पृ० ५, ६) से उद्धृत प्रथम उदाहरण भारतीय कालविभाजन को उपस्थित करता है। यह बड़े विलक्षण ढंग से हिन्दुओ की अतिशयोक्तिप्रियता को प्रदर्शित करता है जिसके कारण वे एक ओर तो कल्पनातीत कालो की अनन्त गणनायें तथा दूसरी ओर नितान्त सूक्ष्म मात्राओ के भी सूक्ष्मतर विभाजन का प्रयत्न करते हैं। अपने इतिहास की किसी बड़ी घटना की निश्चित तिथि के सम्बन्ध मे कोई निश्चित मत न रखते हुए भी वे भूत, वर्तमान, तथा भविष्यत् को नितान्त पाण्डित्यपूर्ण एवं सूक्ष्म गणना का विषय बनाकर एक प्रकार के कालनिर्णयविद्या अथवा काल-विज्ञान को गढ़कर आनन्दित होते हैं। अतएव हम उन्हे लाखो वर्षों के ऊपर खरबो और खरबो के **ऊपर** अयुतब्रन की ढेरी लगाते हुए, तथा युगों के ऊपर युगो और कल्प के ऊपर कल्प की इतनी चतुरता से गणना कराते हुए पाते हैं कि उतनी चतुराई आधुनिक भूगर्भवेत्ताओं एवं नक्षत्र विद्या के ज्ञाताओं मे भी नही पाई जाती। संक्षेप मे, एक ज्योतिशास्त्र का जानकर हिन्दू ऐसी गणितीय परिगणनाओं का साहस करता है जो असीम वस्तु को नापने के प्रयत्न के लिये अपने को असमर्थ समझने वाले व्यक्ति के मन क्षेत्र से बिल्कुल परे होती हैं—

'प्राणो से प्रारम्भ होने वाले समय को वास्तविक (मूर्त) काल कहते है; परमाणुओ ('त्रुटि') से प्रारम्भ होने वाला अवास्तविक (अमूर्त) काल कहलाता है। दस दीर्घ अक्षरों (गुरु अक्षरो) के बराबर एक प्राण, या असु

---

[1] कुट्टक का अर्थ सम्भवतः 'विभाजक' या 'गुणक' है।

[2] 'लीलावती' या 'सौन्दर्य से आनन्द पूर्ण' : यह अंकगणित के केवल एक अध्याय का नाम है ('पाटी-गणित' जो व्यक्त गणित तथा अव्यक्त गणित मे विभक्त है)। यह नाम एक कल्पित मनोहर स्त्री के लिये भी बताया गया है जिसे अंकगणित की शिक्षा दी गई थी।

होता है; छः प्राण मिलकर एक विनाडी होते हैं (जिसे पल या विघटिका कहते हैं और जो चौबीस सेकेण्ड की होती है); साठ विनाडी = एक नाडी या नाडिका (जिसे दण्ड, घटी, घटिका कहते है और जो चौबीस मिनटों की होती है); साठ नाडी = एक दिन (एक नाक्षत्रिक दिन तथा रात); तीस नाक्षत्रिक दिन = एक 'सावन' मास; एक सावन मास मे तीस सूर्योदय होते हैं। एक चान्द्र मास तीस चान्द्र दिनों का होता है और एक सौर मास सूर्य के ज्योतिष्चक्र के एक नक्षत्र मे जाने पर होता है। अमूर्त समय के विषय में :—एक सौ त्रुटि = एक तत्पर; तीस तत्पर = एक निमेष; अठारह निमेष = एक काष्ठा; तीस काष्ठा = एक काल या मिनट; तीस काल या मिनट = एक घटिका या आधाघंटा; दो घटिका या अर्धघंटा = एक घटा (क्षण); तीस घटे = एक दिन; इस प्रकार एक त्रुटि एक सेकण्ड का १/३३६८० होता है।

मनु एवं पुराणो मे वहुत भेद पाया जाता है। मनु (१. ६४) के अनुसार तीस काल = एक मुहूर्त या अडतालिस मिनट का घंटा। विष्णुपुराण (विलसन पृ० २२) त्रुटि = सेकण्ड का १/२१६० बताता है और अणु या त्रुटि से भी आगे परमाणु या अतिसूक्ष्म अणु पर जा पहूँचता है जिसे यह सेकेण्ड के १/३८००० के वरावर वताता है। तथापि सभी दिन का तीस घंटों मे विभाजन करने से सहमत हैं जिस प्रकार कि मास का विभाजन तीस चान्द्र दिनो में, तथा वर्ष का विभाजन तीन सौ साठ दिनो मे किया जाता है। प्रति पाँच वर्ष पर एक अधिमास जोड दिया जाता है जिसे कालगणना का प्राचीनतम हिन्दू ढंग समझा जाता है।[1] मनु की तरह सूर्य सिद्धान्त भी समय की विस्तृत अवधियों की गणना युगो[2] तथा महायुगों मे करता है और अन्त मे यह एक कल्प पर पहुँचता है जिसकी अवधि ४,३२,००,००, ००० वर्षों की होती है। श्लोक २४ मे दिया है (वर्गेस पृ० १२) :

'जब तक सर्वज्ञ ब्रह्मा चेतन, अचेतन, वनस्पतियाँ, तारे, देवता, असुर एवं

---

[1] तिथिपञ्जिकाओ एवं जन्मपत्रों को पञ्चाङ्ग कहा जाता है, क्योंकि ये पाँच विषयो का विवेचन करते हैं—सौर दिन, (सामान्यतः जिन्हे वार कहते हैं, ये सप्ताह के दिन हैं : आदित्यवार, सोमवार, मङ्गलवार, बुधवार, गुरुवार, शुक्रवार, शनिवार), चान्द्र दिन या तिथियाँ, सत्ताइस नक्षत्र, सत्ताइस योग और ग्यारह करण।

[2] प्रत्येक महायुग मे चार युग होते हैं—कृत, त्रेता, द्वापर तथा कलि जिनके नाम जुए के पासो के चिह्नो के आधार पर रक्खे गये है। कृत चार अङ्कोवाला सर्वोत्तम अक्षक्षेपण होता है और कलि एक अङ्कवाला सबसे गर्हित अक्षक्षेपण होता है।

शेष सबकी सृष्टि मे लगे थे तो चार सौ चौहत्तर दैवी वर्षो के एक सौ गुने वर्ष वीत गये ।'

इसके अतिरिक्त वृत्त का भी विभाजन दिया गया है जो हमारे विभाजन से मिलता-जुलता है—

'साठ सेकण्ड (विकाल) का एक मिनट या काल होता है ; साठ मिनट मिलकर एक 'भाग' होता है; तीस भागो की एक राशि होती है; वारह राशियों का एक चक्र (भगण) होता है ।'

पृथ्वी का नाप इस प्रकार दिया गया है—

'पृथ्वी का अर्द्धव्यास ८०० योजन का दुगुना है; उसके वर्ग के दसगुने का वर्गमूल पृथ्वी की परिधि का नाप है ।'

भास्कर के अनुसार पृथ्वी का अर्द्धव्यास १५८१ योजन है, अतः यदि योजन को अंग्रेजी का साढ़े चार मील माना जाय (जो इसकी लम्बाई के एक अनुमान के रूप मे दिया गया है, यद्यपि इसका परिमाण भिन्न-भिन्न है) तो दोनों ही दृष्टियो से ये गणनायें यथार्थ से वहुत दूर नही सिद्ध होगी ।

सूर्यसिद्धान्त, अध्याय २ के प्रारम्भ मे ग्रहों की गति का एक विचित्र सिद्धान्त है (पृ० ४७)—

'समय की मूर्तियाँ (कालस्य मूर्तय:), जो अदृश्य रूपवाली ('अदृश्य रूपा') होती हैं, ज्योतिष्चक्र मे स्थित ('भगणाश्रिता:') होती हैं, तथा जिन्हें शीघ्रोच्च, मन्दोच्च और पात कहते है, ग्रहो की गति का कारण होती हैं । इन भूतो से वायु के वन्धन द्वारा वद्ध ग्रह उनके द्वारा दाहिने तथा वायें हाथ से आगे या पीछे तथा निकटता के अनुसार उनके अपने स्थान की ओर खींचे जाते हैं । प्रवह नाम का वायु उन्हे उनके उच्च मे पहुँचाता है; आगे-पीछे खींचे जाने पर वे विभिन्न गतियो से वढ़ते हैं ।'

इसके पहले के अध्याय (२९,३४) मे निम्न विवरण आता है : 'एक युग मे सूर्य, वुध (मर्करी) तथा शुक्र (वेनस) की परिवृत्ति, तथा मङ्गल, भौम (मार्स), शनि (सेटर्न) तथा वृहस्पति (जूपिटर) का संयोग कुल चार लाख तीन सौ वीस सहस्र होता है । नक्षत्रो की परिवृत्ति एक खरव, पाँच सौ वयासी लाख, दो सौ सैंतीस हजार, आठ सौ अठाइस होती है ।'

इसके उपरान्त मैं वराहमिहिर की 'वृहत्सहिता' या 'प्राकृतिक नक्षत्रविद्या का पूर्ण सिद्धान्त' के एक महत्त्वपूर्ण अनुच्छेद का एक अंश प्रस्तुत करता हूं (देखिए डॉ० कर्न का अनुवाद, रायल एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल, भाग ४, पृ० ४३६)

'एक ज्योतिषी अच्छे वंश का होना चाहिए; देखने मे मिलनसार, अच्छी

वेशभूषा वाला और उदार होना चाहिए; दुष्ट नही होना चाहिए। उसके शरीरावयव गठे हुए, आनुपातिक और स्वस्थ हो; उसमे कोई शारीरिक दोष न हो; वह एक सुन्दर पुरुष हो; उसके हाथ, पैर, नाखून, आँखे, चिबुक, दाँत, भौंहें तथा मस्तक सुन्दर हों; उसकी वाणी गम्भीर और स्पष्ट हो; क्योकि प्राय: मनुष्य के अच्छे और बुरे आचार उसके व्यक्तित्व के साथ घुले-मिले होते हैं। गणितीय ज्योतिष मे उसे आकाश का, और काल का युगो, वर्षों, अर्धवर्षों, ऋतुओं, मासो, अर्द्धमासो, दिनों, घड़ियों, घण्टो, आधे घंटो, मिनटों, प्राणो, क्षणो और क्षणो के विभेद आदि मे विभाजन का, जैसा पञ्चसिद्धान्तों मे वर्णित है, ज्ञान रखना चाहिए (देखिए पृ० १७९)। उसे जानना चाहिए कि चार महीने—सौर, सावन, नाक्षत्र और चान्द्र—के होने के क्या कारण है, और मलमास तथा अधिक तिथियाँ कैसे होती हैं। वह साठ वर्षों के जोवियन चक्र के आरम्भ और अन्त तथा वर्षपञ्चको, वर्षों, दिनो, घटियो, तथा उनको स्वामियो का ज्ञान रखे। उसे सूर्य तथा चन्द्रमा के वियोग के प्रारम्भ होने क क्षण, उनकी दिशा, अवधि, ग्रहण का परिणाम, ग्रहणो का रग तथा स्थान पहले वताना चाहिए, तथा नौ ग्रहो के भविष्य में होनेवाले संयोग तथा दुष्ट योगो को भी वताना चाहिये।[1] उसे प्रत्येक ग्रहो की पृथ्वी से योजनो मे दूरी वताने मे कुशल होना चाहिए तथा उनके मण्डलो की लम्बाई-चौडाई तथा पृथ्वी के स्थानो की दूरियाँ भी योजनो मे बतानी चाहिए। वह रेखागणित की क्रियाओ एव कालगणना मे चतुर हो। यदि इसके अतिरिक्त वह जानता है कि किस प्रकार नम्र-भाषण करना चाहिए, क्योकि वह सभी प्रकार के कठिन प्रश्नो को समझता है; तथा यदि जिस विज्ञान का वह प्रतिपादन करता है उसका परिश्रम और निरन्तर अध्ययन द्वारा परीक्षण किये जाने पर उस प्रकार अधिक परिष्कृत हो जाय जैसे सोना कसौटी पर रखे जाने, आग मे तपाने और कारीगरी से अधिक चमक उठता है, तब उसे एक शास्त्री या वैज्ञानिक कह सकते हैं। कहा गया है: 'जो व्यक्ति कोई कठिन प्रश्न हल नही कर सकता, किसी प्रश्न का उत्तर नही दे सकता, और न अपने शिष्यो को पढ़ा सकता है उसे शास्त्री कैसे कहा जा सकता है?' महर्षि गर्ग ने इस प्रकार कहा है:— 'जो राजा जन्मपत्र तथा नक्षत्रविद्या के ज्ञानी पण्डित का आदर नही करता वह विपत्ति का भागी होता है। जैसे विना प्रकाश के रात होती है, जैसे बिना सूर्य के आकाश होता है उसी प्रकार बिना ज्योतिषी के एक राजा होता है; एक अन्धे के समान वह पथभ्रष्ट हो जाता है।' 'कल्याण की कामना करनेवाले

[1] ये नौ ग्रह हैं—सूर्य, चन्द्र, बुध (मर्करी), शुक्र (विनस), मंगल (मार्स), बृहस्पति (जूपिटर), शनि (सेटर्न), राहु तथा केतु।

किसी व्यक्ति को ऐसे राज्य मे नही रहना चाहिए जहाँ कोई ज्योतिषी नहीं है।' 'जिस किसी व्यक्ति ने ज्योतिष का अध्ययन किया है वह नरक नहीं प्राप्त कर सकता।' 'जो व्यक्ति बिना शास्त्र का ज्ञान रखे ज्योतिषी का पेशा करता है वह एक दुष्ट व्यक्ति होता है तथा समाज के लिए कलंक होता है। उसे केवल तारो की ओर ताकनेवाला समझो। लेकिन जो उचित रूप से जन्मपत्र, नक्षत्रविद्या तथा प्राकृतिक ज्योतिष का ज्ञाता है उसी का आदर राजा को करना चाहिए तथा उसे नियुक्त करना चाहिए।'

कोलब्रुक के भास्कर रचित बीजगणित के ग्रन्थ के अनुवाद के सम्बन्ध मे उनकी भूमिका (पृ० २२) से निम्न उद्धरण दिया जाता है :—

चन्द्रमा तथा सूर्य की गतियों का निरीक्षण हिन्दुओ ने सावधानीपूर्वक किया और उन्होने ऐसी सफलता प्राप्त की कि उनका चन्द्रमा की मासिक परिवृत्ति का निर्धारण ग्रीस के नक्षत्रिकों से बहुत अधिक सही होता है। उन्होने क्रान्ति-मण्डल को सत्ताइस तथा अट्ठाइस भागों मे बाँटा है जो स्पष्टतः दिनो मे चन्द्रमा की अवधि द्वारा द्योतित है और यह उन्ही की चीज है। निःसन्देह इसे ही अरबो[1] ने ग्रहण किया। वे विशेषतया सर्वाधिक विलक्षण प्रारम्भिक ग्रहों का ज्ञान रखते थे। जूपिटर (बृहस्पति) के काल को वे सूर्य और चन्द्रमा के कालों के साथ ही अपने तिथिपत्र (कलेण्डर) मे रखते थे, जो साठ वर्षो का होता था और उनमें तथा चैल्डियन्स में समान रूप से पाया जाता है।'

यह भी कह सकते हैं कि भास्कर के ग्रन्थ (देखिये पृ० १०६, बनर्जी का 'डायलॉग' पृ० ६९[2]) मे पाये जानेवाले कुछ वाक्यो से यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त को हिन्दुओं ने ईसा की बारहवी शताब्दी में ही बना डाला था। अयन चलन (विषुवत, क्रान्ति-पात) भास्कर को भली भाँति ज्ञात था और ज्वार लाने मे चन्द्रमा के प्रभाव के विषय मे और भी पहले शंका की गयी थी (तुलना—रघुवंश ५.६१)।

जिन विषयो मे हिन्दुओ का बीजगणित ग्रीक के बीजगणित से भिन्नता रखता है वे ये हैं (कोलब्रुक, पृ० १६) .—

एक अधिक उत्तम तथा सुबोधगम्य दशमलव के अतिरिक्त :—१. एक से अधिक अज्ञात पद वाले समीकरण सिद्ध करना; २ अधिक उच्चकोटि के समीकरण को तोड़ना जिसमे यदि उन्होंने कुछ विशेषता नही प्राप्त की थी तो कम

---

[1] अरबो ने ज्योतिष्चक्र के २८ खडो मे विभाजन को स्वीकार किया है। प्रोफेसर ह्विटनी का विचार है कि अरबों ने अपना चान्द्र ज्योतिष्चक्र हिन्दुओं से नहीं लिया, देखिए पृ० १७७ तथा वहाँ उल्लिखित प्रमाणों को भी देखिए।

[2] देखिए. इण्डियन एण्टिक्वेरी जुलाई १८७२, पृ० २२४।

से कम उन्होंने चतुर्थमान के समीकरण हल करने की दिशा में एक आधुनिक खोज का प्रयत्न तथा सूत्रपात तैयार करने का गुण प्राप्त कर लिया था; ३. प्रथम तथा द्वितीय मान के अनिश्चित प्रश्नो को सिद्ध करने की सामान्य विधियाँ जिनमे वे डायफेण्टस से भी आगे बढ चुके थे और आधुनिक बीजगणितज्ञों की खोज का सूत्रपात कर रहे थे; ४. बीजगणित का नक्षत्रविद्या सम्बन्धी खोजो एवं रेखागणित के साध्यो मे प्रयोग जिनमे उन्होने कुछ ऐसे विषयो को भी ढूंढ निकाला जो बाद मे पुन. खोजे गये थे। आधुनिक अन्वेषण की उनकी एक पूर्वपीठिका पाइथागोरस की समकोण त्रिभुज की आधार भुजा के वर्ग के समकोण बनाने वाली दो भुजाओ के वर्गों के बराबर होने के प्रमुख प्रमेय का प्रदर्शन है।

बीजगणित के दशमलव या दशममान (अलगोरिथम) के विषय मे कोलब्रूक (पृ० १०) का कथन है—

'हिन्दू बीजगणित के आचार्य चिह्नो के लिए संक्षिप्त पदो एवं सकेताक्षरो का प्रयोग करते है। वे शून्य को एक विन्दु से प्रकट करते हैं किन्तु अभावात्मक चिह्न के अभाव के अतिरिक्त एक भावात्मक मात्रा को पृथक् करने के लिए किसी चिह्न का प्रयोग नही करते। जोड़ या गुणा आदि की क्रियाओं के लिए किसी चिह्न का प्रयोग नही करते; न किसी समानता बतानेवाले या आपेक्षिक परिमाण (बडा या छोटा) सूचित करने वाले चिह्न का प्रयोग करते है।[1] किन्तु किसी तथ्य को उसका अर्थ बतातेवाले पद के प्रथम अक्षर से सूचित करते है, इमे उस राशि के साथ रख देते हैं और कभी कभी बीच मे एक विन्दु भी रख दिया जाता है। विभाजक को विभाज्य के नीचे रखकर खण्ड को सूचित किया जाता है किन्तु उन्हे अलग करने के लिए कोई रेखा नही खीची जाती। अज्ञात परिमाण की राशि को बताने वाले चिह्न एक नही हैं किन्तु विविध पदो मे फैले हुए हैं और इनमे सभी प्रकार के रंगों के नामो के प्रथम अक्षर का प्रयोग किया गया है। केवल प्रथम अपवाद है जो 'यावत्-तावत्' का आरम्भिक वर्ण है (इसका प्रयोग प्रथम अज्ञात राशि के लिये किया जाता है—अर्थात् अज्ञात राशि का इतना बराबर है इस समान संख्या के)। रंग का तात्पर्य अज्ञात राशि या उसके चिह्न से है। वर्णों का प्रयोग भी इसी प्रकार चिह्नो के रूप मे होता हैं जो या तो वर्णमाला से लिये जाते हैं या प्रश्न के

[1] बराबर के चिह्न का सर्वप्रथम प्रयोग राबर्ट रिकोर्ड ने किया (क्योकि उनका कथन था कि दो समानान्तर रेखाओ के अतिरिक्त अन्य दूसरी दो वस्तुएँ अधिक समान नही हो सकती) और आपेक्षिक मान के चिह्न का प्रयोग हैरिअट (Harriot) ने किया—कोलब्रुक।

विषयो को द्योतित करने वाले पदो के प्रथम वर्ण होते हैं। वर्ग तथा घन के आद्य अक्षर क्रमशः वर्ग तथा घन शक्ति की संख्या बताते है। इसी प्रकार करणीगत मूल के लिये भी आद्यवर्ण का प्रयोग किया जाता है (इसके बाद का उद्धरण एवं आगे आने वाले उदाहरण देखिए) ।'

निम्नलिखित बीजगणित (अध्याय ६) से दिया जाता है—

यह कई रंगो वाले समीकरण का विश्लेपण है—इसमें अज्ञात राशियाँ कई होती है, दो, तीन या उससे भी अधिक, जिनके लिये 'यावत्-तावत्' तथा विभिन्न रंगों का प्रयोग किया जाता है। उन्हे इस शास्त्र के प्राचीन आचार्यों ने इस प्रकार नियत किया है—काला ('काल'), नीला (नील'), पीला ('पीत'), लाल (लोहित), हरा ('हरितक'), सफेद ('श्वेत'), वहुरगी ('चित्र'), 'कपिल', 'पिङ्गल', भूरा (धूम्र), गुलावी ('पाटल'), 'शवल', 'श्यामल', 'मेचक', काले रंग का ही एक प्रकार, इत्यादि, अथवा वर्ण (क इत्यादि) का प्रयोग अज्ञात राशि के लिये होता है। [व्यवहार में उपर्युक्त शव्दो का आद्य अक्षर इस प्रकार प्रयुक्त होता है 'या', 'का', 'नी', 'पी', 'लो'] ।

मैं यहाँ अंकगणित तथा वीजगणित के कुछ पदों के संस्कृत समानार्थक शव्द देता हूँ—

एक पूर्ण संख्या, जिसका विशिष्ट रूप होता है, 'रूप' कहलाती है (इसका एकवचन मे एक इकाइ के लिए, तथा वहुवचन मे पूर्णाङ्क के लिये प्रयोग होता है और इसे प्रथम वर्ण 'रू' से व्यक्त करते है) । एक 'सर्ड' या इर्रेशनल को 'करणी' कहते है (जो प्रथम वर्ण 'क' द्वारा सूचित होता है) । अभावात्मक संख्या शून्य, च, कहलाती है, तथा जिस खण्ड मे शून्य का प्रयोग होता है वह 'चहर' होता है। घटाने के लिए 'ऋण' या क्षय (अभावात्मक संख्या) तथा जोड़ने के लिये 'धन', 'स्व' (भावात्मक संख्या) प्रयुक्त होती है। परिणाम या उत्तर को भावित कहते हैं (जिसे प्राय. प्रथम वर्ण 'भा' से सूचित करते है इसलिये दो अज्ञात् राशियो के मान को या. का भा, अथवा का. नी भा, रूप मे व्यक्त किया जाता है; इसी प्रकार प्रथम अज्ञात संख्या के वर्ग मे दूसरी के घन से गुणा करने को इस प्रकार संक्षेप मे रखते है—या व. का घ, भा) ।

लीलावती के दूसरे अध्याय मे दी गई स्थान मान के अनुपात में संख्या के वढने की विधि भी वड़ी रोचक है। नौ अङ्को तथा शून्य के आविष्कार एव प्रत्येक का क्रमागत स्थानीय मान नियत कर देने से यह विधि दैवी उत्पत्ति की मानी जाने लगी—

इकाई (एक), दहाई (दश), सैकड़ा (शत), हजार (सहस्र) दस

हजार (अयुत), सौ हजार (लक्ष, सामान्यतः जिसे लाख कहते है), दस लाख (प्रयुत), दस प्रयुत (कोटि, जिसे सामान्यतः 'करोड़' कहते है), सौ प्रयुत या दस करोड़ (अर्बुद), हजार प्रयुत (अब्ज या पद्म), दस हजार प्रयुत (खर्व), एक सौ हजार प्रयुत (निखर्व), एक प्रयुत प्रयुत (महापद्म), दस महापद्म ('शंकु'), एक सौ महापद्म (जलधि या समुद्र), एक हजार महापद्म (अन्त्य), दस हजार महापद्म (मध्य), एक सौ हजार महापद्म (परार्ध) ।

मैं लीलावती तथा बीजगणित के प्रश्नो के चार उदाहरण यहाँ प्रस्तुत करता हूँ—

१. भृङ्गो के एक समूह मे उसका पञ्चम भाग कदम्ब के फूलो पर बैठ गया, तृतीय भाग एक शिलीन्ध्र पुष्प पर जा बैठा, उन संख्याओ के अन्तर के तीन गुने एक कुटज के फूल पर चले गये। एक भृङ्ग जो बच गया आकाश मे मँडराता रहा। ऐ सुन्दरियो, उन भृङ्गों की संख्या बताओ।

२. (दश-बाहु वाले) भगवान् शम्भु के विभिन्न हाथो की दस वस्तुओं अर्थात् पाश, अंकुश, सर्प, डमरू, कपाल, त्रिशूल खट्वाङ्ग, खड्ग, बाण, धनुष को परस्पर विनिमय करने पर उनके कितने रूप भेद होगे ? और चतुर्भुज हरि के गदा, चक्र, पद्म तथा शख के विनिमय से कितने रूप भेद होगें ? उत्तर ३६,२८,८००;२४.

३. प्रिये ! तुम्हारे कर्णफूल मे जो ये आठ पद्मराग मणियाँ, दस हीरे और सौ मोतियाँ है उन्हें मैंने समान राशि से खरीदा है और तीन प्रकार के रत्नो के भाव की निधि आधे सौ से तीन कम थी; भद्रे ! प्रत्येक का भाव बताओ।

४. वे कौन सी चार सख्याये है जिनका गुणनफल उनके जोड के बीस गुने के बराबर होता है ? इसका उत्तर इस प्रकार होगा : मान लिया पहली संख्या या १ है; और शेष ५,४ और २। उनका जोड़ या १, रू ११ होगा, और २० से गुणा करने पर या २०, रू २२० हुआ। सबका जोड़ या ४० हुआ। समीकरण होगा $\frac{\text{या } ४०, \text{ रू } ०}{\text{या } २०, \text{ रू } २२०}$ इस प्रकार इसे तोड़ने पर या का मूल्य ११ होगा, और सख्यायें हुई ११, ५, ४, २.

यहाँ यह उल्लेख कर देना चाहिए कि प्रत्येक वेद से जुड़ी हुई 'परिशिष्ट' या पूरक नाम की रचनाएँ हैं, जो श्रौतसूत्रो आदि द्वारा छोड़ी गई विधियो को पूरा करती है। अनुक्रमणियाँ भी हैं जो प्रत्येक सूक्त का प्रथम वर्ण, छन्द, ऋषियो तथा देवताओं के नाम, तथा मन्त्रों की संख्या आदि बतलाती हैं।

उपवेद भी हैं जिनका वेद या स्मृतियों से कोई यथार्थ सम्बन्ध नही है। वे हैं—आयुर्वेद, जीवन या औषधि का शास्त्र (जो अथर्ववेद से और कुछ लोगों के अनुसार ऋग्वेद से सम्बन्ध रखता है); २. गन्धर्व-वेद या संगीतशास्त्र (इसे सामदेव की शाखा मानते हैं); ३. धनुर्वेद, बाण चलाने की विद्या या सैन्यकला (यह यजुर्वेद से सम्बद्ध है); ४ स्थापत्यवेद, अर्थात् भवन-निर्माण विद्या जिसमे शिल्पशास्त्र भी सम्मिलित है।

जहाँ तक प्रथम का प्रश्न है, चिकित्साशास्त्र के दो लेखक हैं चरक तथा सुश्रुत जिनके ग्रन्थ चीर-फाड़, शरीरविज्ञान, औषधिशास्त्र, औषधिनिर्माण, शल्य, विश, शकुन तथा रोगोत्पत्ति मे ग्रहों एवं भूतो के प्रभाव का विवेचन करते हैं (देखिए विलसन के निबन्ध, भाग १. पृ० २६९–२७६, ३८०–३९३)। छः अध्यायो मे रचित सुश्रुत के ग्रन्थ का उत्तम संपादन कलकत्ता के श्री मधुसूदन गुप्त ने किया है। दूसरे के सम्बन्ध में : संगीत विषयक ग्रन्थ, स्वरो, मात्राओं, लय गान, वाद्ययन्त्रों, और कभी कभी नृत्य का भी विवेचन करते हैं। गान छः प्रारम्भिक स्वर हैं जिन्हें राग कहते हैं। इनका वर्णन मूर्त रूप मे किया गया हैं एवं छः रागिनियो के साथ इन्हे विवाहित बताया गया है। प्रमुख संगीतशास्त्रीय रचनाएँ हैं : शार्ङ्गदेव का 'संगीत-रत्नाकर', दामोदर रचित 'सङ्गीतदर्पण', शुभङ्कर रचित 'संगीतदामोदर'। तीसरे उपवेद को कुछ विश्वामित्र रचित तथा कुछ भृगुरचित बताते हैं। चौथे के विषय मे कुछ लोगो का कथन है कि चौंसठ शिल्पों या कलाओ पर चौसठ ग्रन्थ हैं। ये कलायें स्थापत्य, मूर्तिकला, काष्ठकला, स्वर्णकला, अश्वचिकित्सा इत्यादि हैं। भवन निर्माण कला पर प्रमुख रचना है 'मानसार', मान या नापजोख का सार अर्थात् संक्षेप। यह अट्ठावन अध्यायों में हैं जिसमे भवनों, मन्दिरो, तोरणो आदि के निर्माण के नियम हैं। अन्य प्रमुख स्थपतियो द्वारा रचित ग्रन्थ भवन बनाने के लिये उपयुक्त मिट्टी, तथा वास्तु पुरुष, भवन स्थान के अधिष्ठातृ देवता की पूजा के कर्मों आदि का वर्णन करते हैं।
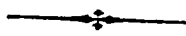
२. स्मार्त्त सूत्र या परम्परागत नियम

पिछले अयाय के प्रारम्भ में स्मृति या वैदिकोत्तर साहित्य का वर्गीकरण करते हुए हमने स्मार्त सूत्रों को दूसरे वर्ग मे रक्खा तथा यह निर्दिष्ट किया था कि वे बहुत सीमा तक उन अनुवर्ती विधि ग्रन्थो के स्रोत थे जो हमारे वर्गीकरण मे तीसरे वर्ग या स्मृति के अन्तर्गत आते है। हमने यह भी देखा कि 'स्मार्त सूत्र' उन सूत्रात्मक नियमो के लिए सामान्य वाचक है, जो कल्प-वेदाङ्ग के श्रौतसूत्रो से पृथक् है, क्योकि वे श्रौत या वैदिक क्रियाओ से सम्बद्ध नही अपितु 'गृह्य' अर्थात् गृहस्थ जीवन के कर्मों, तथा 'सामयाचार' या प्रतिदिन के व्यावहारिक कृत्यो, से सम्बन्ध रखते है। इस कारण स्मार्त सूत्र आम तौर से (क) गृह्य सूत्रो, तथा (ख) सामयाचारिक सूत्रो मे विभक्त किये जाते है। अतएव मनु के प्रसिद्ध विधिग्रन्थ का सर्वेक्षण करने के पूर्व इन स्रोतो का जिनसे उसके कतिपय वर्ण्यविषय ग्रहण किये गये हैं तथा विशेषतया गृह्यसूत्रो[1] का संक्षिप्त वर्णन दे देना उचित होगा। इनमे भी प्रत्येक वेद से सम्बन्धित विभिन्न शाखाओ के संकलन है। ऋग्वेद के आश्वलायन[2] तथा शाङ्खायन गृह्य सूत्र हैं; सामवेद के गोभिल के गृह्य सूत्र है। वाजसनेयि संहिता या शुक्लयजुर्वेद से पारस्कर के गृह्यसूत्र; तैत्तिरीयसहिता या कृष्ण यजुर्वेद से काठक, बौधायन, भारद्वाज, आपस्तम्ब[3] के गृह्यसूत्र तथा मैत्रायणीय, और मानव गृह्यसूत्र संबद्ध

---

[1] सम्भवत', मनु ने गृह्यसूत्रो की अपेक्षा सामयाचारिक से अधिक ग्रहण किया है, यद्यपि मुद्रित सस्करणो के रूप मे गृह्यसूत्रो से हम अधिक परिचित हैं।

[2] जैसा हम देख चुके है कल्प के अन्तर्गत 'आश्वलायन श्रौत सूत्र' भी आता है और सम्भवत. प्रत्येक शाखा सभी तीन सूत्रो के पूर्ण सेट थे, हालाकि वे पूर्णत: सुरक्षित नही है। आश्वलायन गृह्य सूत्र और पारस्कर के कुछ अंश का ज़र्मन मे सम्पादन तथा अनुवाद प्रोफेसर स्टेन्जलर (लाइपज़िग १८६४, १८६५) ने किया है और आश्वलायन का संपादन पण्डितो ने 'बिल्लिओथेका इण्डिका' (कलकत्ता १८६९) के लिये किया है। 'गोभिल गृह्यसूत्र का भी सम्पादन 'बिल्लिओथेका इण्डिका' के लिये हो रहा है।

[3] आपस्तम्बो ने सूत्रों के तीनो वर्गों को सुरक्षित रखा है, क्योकि आपस्तम्ब श्रौतसूत्र तथा सामयाचारिक भी विद्यमान है। डॉ० भाण्डारकर के

हैं जिनमें अन्तिम दो नष्ट हो चुके हैं (हालाँकि इनमे से कुछ कल्पसूत्र सुरक्षित हैं) इत्यादि ।

वस्तुत: प्रत्येक ब्राह्मणीय कुटुम्ब या वर्ग (चरण[२]) का वेदो के मन्त्र तथा ब्राह्मण भाग का अपना पृथक् परम्परागत संस्करण (शाखा. पृ० १६१) और अपने कल्प, गृह्य एवं सामयाचारिक सूत्र थे; और आज भी ब्राह्मणों की विशिष्ट शाखाओं में गृह्य संस्कार उसी वेद के सूत्र के अनुसार किये जाते हैं जिस वेद के वे अनुयायी होते हैं ।

यत: ये गृह्य तथा सामयाचारिक सूत्र मनु से भी पहले के हैं अत: ये सम्भवत: छठी शताब्दी ई० पू० के हो सकते हैं, किन्तु यह बहुत सम्भव है कि जो रचनाऐं आजकल उपलब्ध हैं वे मूल ग्रन्थों के बहुत परवर्ती संकलन हों ।

यह बताया जा चुका है कि श्रौतसूत्र वेद द्वारा आदिष्ट अधिक सामुदायिक यज्ञो (ज्योतिष्टोम, अग्निष्टोम, अश्वमेध आदि) से सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थ हैं । गृह्य का विषय तो वही है जो मनु ने इस उक्ति में बताया है (३.५७)—

'विवाह के समय मे प्रज्वलित वैवाहिक अग्नि (जिसे गार्हपत्य कहते हैं) में गृहपति नियमानुसार गृह्य कर्मों को करे तथा पाँच यज्ञों का विधान एवं दैनिक आहुति इत्यादि करे [वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथा-विधि । पञ्चयज्ञ-विधानं च पंक्ति (= पाकम्) चान्वाहिकी गृही ।।]

नि:सन्देह गृह्य का अर्थ होता है 'गृहसम्बन्धी' तथा ये सूत्र यथार्थत: पाँच गृह्य यज्ञो की दैनिक क्रियाओं के नियम बनाते हैं, जिन्हें 'महायज्ञ' (या पञ्च-यज्ञ' जिनमे चार 'पाकयज्ञ' हैं, मनु २.८६) कहते हैं तथा उन संस्कार नामक गृह्य उत्सवो के लिये नियम प्रस्तुत करते हैं जो सभी तीन उच्च वर्णों में प्रचलित हैं, केवल ब्राह्मणों तक ही सीमित नहीं । बारह सस्कारो का वर्णन आगे किया गया हैं । वे सभी प्राय: एक गृह्य अग्नि पर किये जाते हैं, तीन प्रकार की 'वितान' या सार्वजनिक यज्ञों की अग्नियो से नहीं (जिनका सामूहिक नाम त्रेता है) ।

मैं ऋग्वेद के आश्वलायन-गृह्य सूत्र का संक्षिप्त विवेचन करूँगा और इसके साथ यह भी कहूँगा कि हिन्दू जाति इस प्रकार के जाति का एकमेव उदाहरण है, जो प्रत्यक्षत: अपने राजनीतिक जीवन के किसी महान् तथ्य को सुरक्षित रखने या अपने इतिहास की किसी उल्लेखनीय घटना—यथा सिकन्दर

अनुसार दक्षिण भारत मे बहुत से ऐसे ब्राह्मण है जो कृष्णयजुर्वेद का अनुसरण करने वाले हैं और जो इसका आपस्तम्ब सूत्र के साथ पाठ करने के लिये धनी व्यक्तियों से दक्षिणा प्राप्त करते हैं ।

[२] चरण व्यूह नाम का ग्रन्थ इन शाखाओं की सूची प्रस्तुत करता है ।

महान् के नेतृत्व में ग्रीसवासियों का आक्रमण—को लेख्यारोपित करने में बडी उदासीन रही, फिर भी, बहुत प्राचीन काल मे ही निश्चित विहित नियमो के अनुसार अपने गृह्य क्रियाओं का सम्पादन करती थी। ये नियम न केवल लिखित रूप मे थे अपितु अत्यन्त निष्ठापूर्ण सावधानी के साथ सुरक्षित रखे जाते थे और इनमे से कई अब भी प्रयोग मे हैं। अपरञ्च, चूँकि यह जाति उसी मूल जाति से सम्बन्ध रखती है जिससे हमारी जाति का सम्बन्ध है, इसलिए इसके रीति-रिवाजो की प्राचीनता अवश्य ही इनके प्रति हमारे अन्दर अधिक रुचि भर देती है।

पाकयज्ञ (मनु २.८६,१४३) नामके गृह्य कर्मों का वैतानिक[1] से भेद प्रथम दो सूत्रो मे इस प्रकार दिखाया गया है (स्टेन्जलर का संस्करण १.१,२) :

वैतानिक होमों की (जो सभी तीनों पवित्र अग्नियों से किये जाते है[2]) व्याख्या (श्रौतसूत्र में) की जा चुकी है, अब हम (केवल) उन्ही का वर्णन करेंगे (जिनका अनुष्ठान) गार्हपत्याग्नि से किया जाता है। तीन प्रकार के पाकयज्ञ होते हैं . वे होम जो अग्नि मे किये जाते है (यथा घृताहुति आदि),

[1] मनु ५.८४ की टीका मे कुल्लूक 'वितान' की 'वितन्' फैलाना क्रिया से व्युत्पत्ति वनाते हैं और वैतानिक का अर्थ उन श्रौत होम से लेते हैं जिन्हे गार्हपत्याग्नि का आहवनीय एव दक्षिणाग्नि पर आधान करके सम्पन्न किया जाता है (वैतान श्रौतो होमः गार्हपत्य-कुण्ड-स्थानग्नीनाहवनीयादि-कुण्डेषु वितत्य क्रियते) देखिए मनु ६.९। 'पाकयज्ञ' के वास्तविक अर्थ के विषय मे बहुत मतभेद है। स्टेन्जलर इसका अनुवाद 'कोख-ओप्फेर' करते हैं और इसका अर्थ दैनिक के उपरान्त गृह्याग्नि में किये जानेवाले होम से लेते है। इसके विपरीत कुछ टीकाकार पाक का अर्थ 'छोटा', 'सरल' करते हैं और कुछ इसका अर्थ उत्तम बताते हैं। मनु २ ८६ मे चार पाकयज्ञ या गृह्य होम बताये गये है (जिन्हे कुल्लूक वैश्वदेव होम, बलि, नित्यश्राद्ध और अतिथिभोजन द्वारा स्पष्ट करते हैं) और इस प्रकार उन्हे चार महायज्ञो से अभिन्न बताया गया है। मेरे 'संस्कृत-इग्लिश डिक्शनरी में सात विभिन्न पाकयज्ञ देखे जा सकते हैं।

[2] मनु ३.१००,१८५ मे पाँच पवित्र अग्नियो का उल्लेख है तथा उन पाँचो अग्नियो को जलानेवाले ब्राह्मण को जिसे पञ्चाग्नि (= अग्निहोत्री) कहते है विशिष्ट रूप से पवित्र बताया गया हैं। वे है : १. दक्षिण, ब्राह्मणोमे अन्वाहार्यपचन), २ गार्हपत्य, ३. आहवनीय, ४. सभ्य, ५. आवसथ्य। प्रथम तीन अग्नियाँ सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं और उन्हे समूह रूप मे 'त्रेता' कहते है। अग्निहोत्री अब भी भारत मे पाये जाते हैं।

वे जो बिना अग्नि में डाले हुए दिये जाते है, और वे जो ब्राह्मणो को खिलाकर परब्रह्म (ब्रह्मणि) को दिये जाते है (ब्रह्मभोजने) ।

काण्ड १ की कण्डिका २ मे उन देवताओं को गिनाया गया है जिन्हें होम दिया जाता है; यथा अग्नि, इन्द्र, सोम, द्यौ, पृथ्वी, यम, वरुण, विश्वेदेव, (तु० मनु ३.९०,१२१), ब्रह्मा इत्यादि। यह द्रष्टव्य है कि ये सभी वैदिक देवता है । तीसरी कण्डिका होम के स्थान का निर्माण करने की विधि बताती है ।

चौथी कण्डिका इस सूत्र से प्रारम्भ होती है—

'केशवपन (चौल = चूडाकर्म), उपनयन, श्मश्रुवपन (गोदान), तथा विवाह के संस्कार सूर्य के उदगयन होने पर मास के शुक्लपक्ष (अपूर्यमाणे पक्षे) मे शुभनक्षत्रो (कल्याणे नक्षत्रे) के योग मे करना चाहिए ।'

तदुपरान्त इन संस्कारो का (विवाह से प्रारम्भ कर) वर्णन किया गया है और जहाँ कही प्रत्येक सस्कार मे वेद के मन्त्र या अंश का पाठ करने का विधान है वहाँ प्रथम शब्द या कई शब्दों को ही उद्धृत किया गया है । इस प्रकार विवाह सस्कार के पूर्व घृत की आहुति इन मन्त्रो का उच्चारण करते हुए दी जाती है : 'त्वमर्यमा भवसि यत्कनीनाम्' इत्यादि, अर्थात् तुम कन्याओ के लिए अर्यमा हो (ऋग्वेद ५.३,२) ।

पाँचवी कण्डिका परिवार तथा अन्य स्थितियो की जानकारी करने के बाद ही पत्नी का चुनाव करने का नियम देती है । सूत्र ३ के अनुसार—

'पुरुष को ऐसी स्त्री से विवाह करना चाहिए जो बुद्धिमती, सुन्दर, सच्चरित्रा, शुभलक्षणी तथा रोगो से मुक्त हो' (मनु ३.४-१० के विधानो से तुलना कीजिए) ।

छठी कण्डिका में आठ प्रकार के विवाहों का लक्षण तथा वर्णन दिया गया है : ब्राह्म, दैव, प्राजापत्य, आर्ष, गान्धर्व, आसुर, पैशाच तथा राक्षस । इन्हे मनु (३.२१) ने भी गिनाया है किन्तु ठीक इसी क्रम में नही, तथा याज्ञवल्क्य (१.५८-६१) ने भी गिनाया है । मनु (३.२१-६४) इनका वर्णन आश्वलायन की अपेक्षा अधिक विस्तृत रूप से करते है ।

काण्ड १, कण्डिका ८ मे एक प्रचलित विवाह संस्कार का वर्णन है—

(पवित्र) अग्नि के पश्चिम (घर मे स्त्रियो द्वारा प्रयुक्त किये जाने वाले अनाज और मसाले पीसे जाने वाले पत्थर के समान) एक प्रस्तर खण्ड रखा जाता है तथा उत्तर-पूर्व की ओर एक जलपूर्ण कलश । वर खड़ा होकर पश्चिम मुख और पूर्व मुख करके बैठी हुई वधू का हाथ पकड़ कर होम करता है । यदि वह केवल पुत्रो की कामना रखे तो वह उसके अंगूठे को पकड़ कर कहे, 'मैं

तुम्हारे हाथ को सौभाग्य के लिए पकड़ता हूँ'। यदि पुत्रियो की कामना करे तो केवल अङ्गुलियों को पकड़े। यदि वह दोनो (पुत्र तथा पुत्री) की इच्छा करे तो अँगूठो सहित हाथ के रोमयुक्त किनारे को पकड़े। तब वह उसे दाहिने से अग्नि तथा कलश के चारों ओर तीन बार परिक्रमा करा कर मन्द आवाज मे कहे 'मैं यह हूँ तुम वह हो, तुम वह हो मैं यह हूँ, मै आकाश हूँ तुम पृथ्वी, मैं साम हूँ तुम ऋचा हो, आओ ! हम विवाहित होंवे, सन्तति प्राप्त करें; प्रेम मे बद्ध होकर प्रसन्न तथा परस्पर सामञ्जस्य रखते हुए (सुमनस्यमानौ) हम एक सौ वर्ष तक जीवन व्यतीत करें।' प्रत्येक बार परिक्रमा कराते समय वह उसे प्रस्तर पर चढ़ाता है और कहता है, 'इस अश्म पर चढो, इस अश्म के समान ही स्थिर होओ ('अश्मेव त्व स्थिरा भव')। तब कन्या का पिता उसकी अञ्जलि पर घृत रखकर उस पर चावल के भूने हुए लावा दो बार बिखेरता है। तब अग्नि मे घृत की आहुति देकर वैदिक मन्त्रो का पाठ होता है। तदुपरान्त वर वधू के केशों की दोनों चोटियो को खोल देता है और कहता है . 'मैं तुम्हे वरुण के उन पाशों से मुक्त करता हूँ जिनसे कल्याण-कारी सवित्र ने तुम्हे बाँधा है (ऋग्वेद १० ८५,२४[१])। तब वह उसे सात पद उत्तर-पूर्व दिशा की ओर चलाता है और उससे इस प्रकार कहता है : 'एक पद (एकपदी भव) शक्ति (इषे) की प्राप्ति के लिए रखो; दो पद बल (ऊर्जे द्विपदी भव) के लिए रखो; धन की वृद्धि के लिए (रायस्पोषाय) तीन पद रखो; कल्याण के लिए (मायोभव्याय) चार पद रखो; सन्तान के लिए (प्रजाभ्य:) पाँच पद रखो; ऋतुओ के लिए (ऋतुभ्यः) छ. पद चलो; सखा के रूप मे (सखा सप्तपदी भव[२]) सात पद चलो; दृढव्रता होकर मुझमे प्रेम रखो; हम कई पुत्र प्राप्त करें, और वे सुखपूर्ण वृद्धावस्था प्राप्त करे।' तब उनके सिरो को निकट करके कोई व्यक्ति कलश से जल निकालकर उन्हें अभिषिक्त करता है। तब वह उस दिन किसी ऐसी वृद्धा ब्राह्मणी के घर निवास करे जिसके पति एवं बच्चे जीवित हो। जब वधू ध्रुव, अरुन्धती तथा सप्तर्षियो का दर्शन करे तो मौनभङ्ग करके कहे, 'मेरे पति जीवित रहे और मैं सन्तान प्राप्त करूँ।'

काण्ड १, कण्डिका ८ के १२, १३, १४ सूत्र मे अधोलिखित आदेश है—

---

[१] मूल मे 'प्र त्व मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद्येन त्वाबधनात् सविता सुशेव'। यह प्रसिद्ध सूर्यासूक्त (१०.८५) से है जो सूर्य की पुत्री सूर्या के सोम या चन्द्रमा के साथ विवाह का वर्णन करता है।

[२] 'सखा' शब्द 'सखी' का वैदिक रूप है; देखिए पाणिनि ४.१,६२ पर भाष्यकार।

जब वह (वर) विवाह-संस्कार को पूर्ण कर ले तो वधू के वस्त्रो को सूर्यासूक्त (ऋग्वेद १० ८५) का ज्ञान रखने वाले व्यक्ति को दे, ब्राह्मणो को भोजन करावे और तब उनसे स्वस्तिवाचन करावे [चरितव्रतः सूर्याविदे वधूवस्त्र दद्यात् । अन्नं ब्राह्मणेभ्यः । अथ स्वस्त्ययन वाचयीत]

काण्ड १. कण्डिका ९ मे यह विहित किया गया है कि विवाह (पाणिग्रहण) के बाद वर का प्रथम कृत्य गार्हपत्य अग्नि का प्रज्ज्वलन एवं आधान करना है । दसवी कण्डिका मे स्थालीपाक कर्म के अनुष्ठान का विधान किया गया है जो एक विशिष्ट प्रकार के पात्र मे पकाए गये चावल आदि का होम प्रतीत होता है । ग्यारहवी मे पशुयज्ञ (पशु-कल्प) के अनुष्ठान के नियम तथा बारहवें मे 'चैत्ययज्ञ' के नियम हैं जो स्मारको पर बलियो सहित कदाचित् मृत व्यक्ति की स्मृति मे किया जाने वाला कर्म प्रतीत होता है । तेरहवी, चौदहवी, पन्द्रहवी, सोलहवी तथा सत्रहवी कण्डिकाये शिशुओं के जन्म तथा उनकी चिकित्सा से संबद्ध कतिपय गृह्य कर्मों का विधान करती है जिन्हें मनु० के द्वितीय अध्याय मे विवेचित सस्कारो मे भी सम्मिलित किया गया है । वे इस प्रकार हैं—

'गर्भलम्भन' : गर्भ के प्रथम चिह्नो के प्रकट होने पर किया जाने वाला संस्कार; और **'पुंसवन'** : जो प्राणवान् पुत्र के गर्भ में होने के लक्षण दिखाई पड़ने पर **किया जाता** है (तु० मनु २.२७) ।

सीमन्तोन्नयन : 'गर्भवती मे केशों की मांग को संवारना, जो गर्भ के चौथे, छठें या आठवें महीने मे होता है ।

'हिरण्य-मधु-सर्पिषाम् प्राशनम्' : शिशु को सोने के चम्मच से मधु तथा घृत चटाना, नाभिनाल काटने के पूर्व ही = **जातकर्म** (मनु २.२९) ।

'अन्नप्राशन्' : बालक को अन्न खिलाना, जो पाँचवें से आठवें मास के बीच होता है (मनु २.३४) ।

चौल (= चूड़ाकर्म) : सिर के ऊपर एक चोटी छोड़कर केशवपन, जो तीसरे वर्ष मे किया जाता है (तु० मनु २.३५) ।

काण्ड १ की १९ वी कण्डिका मे यज्ञोपवीत द्वारा उपनयन के स्पष्ट नियम दिये गये हैं—यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण सस्कार है जिसे उपनीत व्यक्ति को (ईसाई धर्म मे दीक्षा के संस्कार के समान) एक दूसरा आध्यात्मिक जीवन प्रदान करने वाला माना जाता है । इसका विधान ब्राह्मण के लिए आठवें वर्ष मे, क्षत्रिय के लिए ग्यारहवे वर्ष मे, तथा वैश्य के लिये बारहवे वर्ष में किया गया है, हाँलाकि सबके विषय में समय बढ़ाया जा सकता है । इस कारण ये तीनो द्विज वर्ण हैं । (तुलना मनु २.३६–३८) । बाइसवीं कण्डिका

उपनयन के वाद गुरु के गृह मे निवास करने वाले ब्राह्मण बालक के ब्रह्मचर्य जीवन के नियमो का विधान करती है। यह इस प्रकार प्रारम्भ होती है—

'अव तुम ब्रह्मचारी हो, प्रतिदिन अपना मुख जल से धोना (= 'उपस्पृश् आचम्', मनु २.५१, ५३)। अपना उचित कर्म करो (कर्म कुरु), दिन मे मत सोना (दिवा मा स्वाप्सी., तु० दिवा-स्वप्न, मनु ७ ४७)। गुरु की आज्ञा का पालन करो, वेद का अध्ययन करो (वेदमधीष्व); प्रति दिन प्रातः तथा सायं भिक्षा माँगना, और प्रतिदिन प्रात.साय अग्नि के लिए समिधाएँ लाना।' विद्यार्थी का जीवन वारह वर्ष तक या जव तक शिष्य वेदो का ज्ञान न प्राप्त कर ले तव तक (ग्रहणान्तम्; तु० मनु ३.१; २.५३–६०) होना चाहिए।

दूसरे काण्ड की चौथी तथा पाँचवी कण्डिकाएँ अष्टका तथा अन्वष्टक्य श्राद्ध कर्मों का विधान करती हैं।

काण्ड २ कण्डिका ७, ८ का विपय भवननिर्माण का स्थान निश्चित करने या उसकी नीव रखने के पूर्व की जाने वाली 'वास्तु परीक्षा', अर्थात् भूमि एवं स्थान का शोधन है—

ऐसा स्थान (चुनना चाहिए) जिसमे खारी मिट्टी न हो, जिसके स्वामित्व के विपय मे कोई वैधानक विवाद उठ खड़ा होने लायक न हो, जिसमे पौधे तथा वृक्ष लगे हो और कुश तथा वीरण (सुगन्धित घास) का प्राचुर्य हो। सभी कँटीली झाडियाँ तथा दूध वाले पौधो को उखाड़ देना चाहिए। घुटने तक गहरा एक गड्ढा खोद कर फिर उसे खोदी हुई मिट्टी से भरे। यदि खोदने से निकली हुई मिट्टी भरने पर अधिक बच जाय तो वह मिट्टी अत्युत्तम होती है, यदि भरने भर हो तो वह उत्तम होती है और यदि बहुत कम हो तो 'अच्छी नही होती। ('अधिके प्रशस्त समे वार्त न्यूने गर्हितम्', ८ ३)। सूर्यास्त के समय गड्ढे मे पानी डाल दे और रात भर छोड दे। यदि प्रात.काल उसमे जल भरा हो तो मिट्टी अत्युत्तम होती है, यदि गीली हो तो उत्तम होती है और यदि सूख गई हो तो गर्हित होती है। श्वेत तथा मधुर बालूदार मिट्टी ब्राह्मण के लिये उपयुक्त होती है, लाल क्षत्रिय के लिये, तथा पीली वैश्य के लिये।'

काण्ड २, कण्डिका १० मे नवीन गृह मे बीजान्न रखने के उपरान्त समरोहपूर्वक प्रवेश करने (गृह–प्रपदन) का विधान है। गृहपति अपने गृह के निकट की भूमि को जुतवाता है तथा उचित समय पर बुवाता है। एक स्थान पर वायु की ओर पीठ करके ऋग्वेद के (४.५७) सूक्त का उच्चारण करते हुए बलिकर्म करता है। मैं इस सूक्त के एक अश का छायानुवाद प्रस्तुत करता हूँ :—

क्षेत्रपति हमारा मित्र बनकर उपस्थित होवे, जिससे हम समृद्धि प्राप्त करें[1]। वह देवता हमें पशु, अश्व तथा भोजन प्रदान करे। इस प्रकार के उपहारो से वह देवता अपनी कृपा का प्रदर्शन करता है। क्षेत्र के देवता! हमे मधुर जल दो। हमारे लिने सभी वनस्पतियाँ मधु जैसी मधुर होवें। हम पर आकाश, वायु तथा वर्षा दयालु होवें और भूमि के स्वामी देवता हम पर कृपा करें। हम निर्भीक होकर उसके निकट पहुंचे। हमारे बैल हमारे कल्याण के लिए खेत जोते।[2] कृषक खुशी से परिश्रम करें। हल के फाल सुन्दर लाङ्गलरेखा बनावें। कृषक[3] बैलों के पीछे-पीछे खुशी-खुशी चलें। वर्षा के देवता पृथ्वी को मधुर फुहारों से सींचे। वायुदेव तथा सूर्य[4] हमे समृद्धि प्रदान करे।'

तीसरे काण्ड की प्रथम कण्डिका मे पाँच यज्ञों या उपासनाकर्मों का विधान है, जिन्हें प्रत्येक द्विज को प्रतिदिन करना चाहिए। ये मनु ३.६९–७१ मे उल्लिखित पाँच यज्ञों के ही समान हैं जिन्हे कभी कभी पाँच संस्कार भी कहते है। वे हैं: १. देवताओं; २. सर्वभूतों; ३. पितरो; ४. ऋषियों या वेद के रचयिताओं; ५. मनुष्यों के प्रति की जाने वाली पूजाएँ (१. देवयज्ञ, २. भूत-यज्ञ, ३. पितृयज्ञ, ४. ब्रह्मयज्ञ, ६. मनुष्ययज्ञ)। पहला देवताओ के लिये गार्हपत्याग्नि मे किया जाने वाला होम है। दूसरे मे पशुओं तथा जीवों के लिए बलि दी जाती है, तीसरा पितरो के लिये जल देकर संपन्न किया जाता है, चौथा वेद के पाठ द्वारा पूरा होता है, तथा पाँचवें में मनुष्यों के लिये दान तथा अतिथियों का सत्कार आता है (तु० मनु ३.८१ इत्यादि, जहाँ ये इसी क्रम मे नही दिये गये हैं)।

दूसरी तथा तीसरी कण्डिकायें चोथे दैनिक कर्म (ब्रह्मयज्ञ) का विवेचन करती है। ये द्विजो को यह आदेश देती है कि उन्हे किस प्रकार वैयक्तिक उपासना करनी चाहिए तथा कैसे और किन ग्रन्थों का स्वाध्याय करना चाहिए (स्वाध्याय-विधि)—

'वह अपने भवन् के बाहर पूर्व या उत्तर दिशा को अपना यज्ञोपवीत कन्धे पर रखे हुए जावे; पहले स्नान करे तब आचमन करके कुश पर बैठे जिसके अग्रभाग पूर्व की ओर हो (मनु २.७५) और तब पवित्र अक्षर 'ओम्' का तीन

---

[1] शब्दश: 'हमारे मित्र रूप क्षेत्रपतियो के साथ' इत्यादि [क्षेत्रस्य पतिना वय हितेनेव जयामसि]

[2] शुनम् = सुखम्।

[3] कीनाशा:

[4] यह 'शुनाशीरा' की देशीय व्याख्या है, देखिए विलसन।

व्याहृतियों (भूः, भुव, स्वः) तथा सावित्री (या गायत्री, देखिए पृ० २१; तु० मनु २.७५–७७, ७९) का जप करे। तब जब तक उचित समझे तब तक ऋक्, यजुष्, सामन्, अथर्वाङ्गिरस्, ब्राह्मण, कल्प, गाथा, नाराशंसीः, इतिहास तथा पुराणों[1] के अंशो का पाठ करे।

काण्ड ३. ७ मे कहा गया है कि यदि कोई स्वस्थ द्विज सूर्यास्त के समय सो जावे तो उसे शेष बची रात बैठकर मौन रूप से व्यतीत करनी चाहिए तथा सूर्योदय के समय ऋग्वेद के १०.३७ के चौथे से आठवे सहित पाँच मन्त्रो का 'हे सूर्य, तुम जिस ज्योति से अन्धकार दूर करते हो '['येन सूर्य ज्योतिषा बाधसे तमो' आदि] से प्रारम्भ कर पाठ करे। पुनः यदि उसके सोते रहने पर ही सूर्योदय हो जाय तो उसे दिन भर खड़े रहना तथा मौन रखना चाहिए और उसी सूक्त के अन्तिम चार मन्त्रो का पाठ करना चाहिये (तु० मनु २.२१९–२२२)। आठवी, नवी तथा दसवी कण्डिकाएँ ऐसे द्विजन्मा के कर्मों का विधान करती हैं जिसका गुरु के यहाँ विद्यार्थी जीवन या ब्रह्मचर्य का काल समाप्त हो चला हो और जो गृहस्थ जीवन मे प्रवेश करने के लिए घर लौटने वाला (समावर्तमान) हो :

'वह अपने तथा अपने गुरु के लिए (किसी भी स्थिति मे अपने गुरु के लिए) वस्तुएँ एकत्र करे, यथा हार, दो कुण्डल, वस्त्र, छत्र, जूते, पगड़ी, सुगन्धित इत्रादि (तु० मनु २.२४५, २४६)। अपना अध्ययन समाप्त कर गुरु से अपने घर जाने की आज्ञा लेकर तथा उनके दक्षिणा (अर्थ) का परिमाण पूछकर वह स्नान करे। तब कुछ पवित्रता की प्रतिज्ञाएँ करे। इसके बाद वह स्नातक की पदवी प्राप्त करता है (तु० मनु ३.४) या ब्राह्मण कहलाता है, जिसने शुद्धि के बाद जीवन की प्रथम अवस्था—ब्रह्मचर्य—से दूसरी अवस्था या गृहस्थ जीवन मे प्रवेश कर लिया है।

चतुर्थ काण्ड सभवतः सर्वाधिक रोचक है। पहली चार कण्डिकाओं में शव के दाह के समय किये जाने वाले अन्त्येष्टि कर्म का वर्णन[2] और उसके अनुवर्ती श्राद्ध कर्म के विषय मे कतिपय विधान हैं :—

"जब किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है तो उसके घर के दक्षिण-पूर्व या दक्षिण-पश्चिम में स्थित श्मशान मे थोडी भूमि खोदी जाय। उसके सम्बन्धी

---

[1] धार्मिक ब्राह्मणों के आधुनिक ब्रह्मयज्ञ इसी सूत्र पर आधृत हैं।

[2] त्सी० गे० के भाग ९ मे प्रोफेसर मैक्स मूलर लिखित लेख 'इउबेर टोटेनबेस्टा टोग' देखिए, जिसमे आश्वलायन गृहसूत्र के इस विभाग का एक अंश जर्मन मे अनूदित है। आगे आने वाले उद्धरण के सती' के विषय मे महत्व के लिए इस ग्रन्थ मे आगे देखिए।

अग्नियाँ तथा यज्ञ के पात्र ('यज्ञपात्राणि') उस खोदे हुए स्थान पर ले जावें। उनमे जो आयु मे बड़े हों (प्रवयसः) वे पोछे एक पंक्ति मे चले—पुरुष स्त्रियो से पृथक हों—वे शव को ढोते हुए चलें, जिसके केश, नाखून, सभी काट दिये गये हो। उनके साथ एक गाय या कृष्णवर्णा अजा यज्ञीय पशु-रूप मे हो। शेष सम्बन्धीजन एवं सम्पर्की व्यक्ति अपने वस्त्र तथा यज्ञोपवीत को नीचे करके ('अवोनिवीता:') तथा केशो को बिखरा कर चलें—ज्येष्ठ आगे हो और आयु मे छोटे व्यक्ति उनके पीछे चलें। जब वे संस्कार के लिए निर्मित स्थान पर पहुँचे तो कर्म करने वाला शमी वृक्ष की टहनी से उस स्थान पर जल छिडके और ऋग्वेद १०.१४,९ का उच्चारण करे:—

"(दुष्ट आत्माओं) यहाँ से जाओ, इस स्थान से भाग जाओ। पितरो (उसके मृत पूर्वजो) ने इस स्थान को दिनो (अहोभि.), जलो (अद्भिः) तथा प्रकाशमय ज्योतियो (अक्तुभि') द्वारा पृथक् करके उसके लिए विश्रामस्थान बनाया।"[१]

"तब वह खोदे हुए स्थान के किनारे अग्नियाँ रखे—आहवनीय अग्नि दक्षिण-पूर्व मे, गार्हपत्य उत्तर-पश्चिम दिशा मे, तथा दक्षिण दक्षिण-पश्चिम दिशा मे रखे (द्र० पृ० १९२ टि०)। तब उस समय की आवश्यकता को जानने वाला कोई व्यक्ति शुष्क काष्ठ एकत्र करे तथा उसे यज्ञ भूमि (अन्तर्वेद) के भीतर रचे। तदुपरान्त उस लकड़ियों की ढेरी पर अजा के कृष्ण चर्म तथा काटे गये केशों के साथ कुश का आस्तरण रखे, और उसके ऊपर शव को उसके पैर गार्हपत्य अग्नि की ओर तथा शिर आवहनीय की ओर करके रखे। उस शरीर के उत्तर की ओर उसकी पत्नी, यदि वह क्षत्रिय रहा हो तो उसके धनुष को साथ लेकर लेटे। तब उसके पति का भाई ('देवर.') जो उसके लिए पति का स्थान लेता है (प्रतिस्थानीयः) या शिष्य या पुराना सेवक ऋग्वेद १०.१८,८ का उच्चारण करते हुए उसे उठाता है —

'ऐ स्त्री (उदीर्ष्वां नारी) उठो, जीवित संसार मे लौट आओ; तुम एक मृत व्यक्ति के पास लेटी हो, लौट आओ। तुमने अपने उस पति के प्रति एक पत्नी तथा माता (जनित्व) के कर्त्तव्य पूरे कर लिये है जिसने तुमसे विवाह किया तथा तुम्हारा हाथ पकडा था'।

तदुपरान्त उसका देवर ऋग्वेद १० १८,९ का उच्चारण करते हुए धनुष उठावे—

---

[१] इसका अर्थ बहुत स्पष्ट नही है। मेरी समझ से इसका अर्थ यह है कि स्थान खुला रहता है और दिन के प्रकाश से पूर्ण होता है, जल से छिड़का हुआ होता है तथा उसके चारो ओर अग्नियाँ जलती हैं।

'मै इस मृत व्यक्ति के हाथो से यह धनुष अपनी रक्षा, गौरव, तथा शक्ति के लिए लेता हूँ, तुम वही रहो, हम यहाँ योद्धा बनकर रहेंगे जिससे युद्धो में अपने शत्रुओं को जीत सकें।'

तब वह विविध यज्ञ पात्रो तथा यज्ञीय पशु के अङ्गो को शव के दोनों हाथों तथा विभिन्न अङ्गों पर रखे। ऐसा करने के बाद वह तीनों अग्नियों को प्रज्वलित करने को कहे (अग्नीन् प्रज्वालयति)। यदि आहवनीय अग्नि शव के निकट सबसे पहले पहुँचती है तो उसकी आत्मा स्वर्ग प्राप्त करती है, यदि गार्हपत्य पहुँचती है तो उसकी आत्मा अन्तरिक्ष मे जाती है और यदि दक्षिणाग्नि पहले पहुँचती है तो उसकी आत्मा मनुष्यलोक मे ही रह जाती है। यदि तीनो एक साथ स्पर्श करें तो यह सबसे उत्तम शकुन होता है। शव के जलते समय ऋग्वेद के सूक्तो के अशों (यथा १०.१४,७.८.१० ११; १०. १६,१–४; १० १७,३–६; १०.१८,११; १०.१५४,१–५) का पाठ किया जाय।

इनमे से कुछ मन्त्रों के उदाहरण ये हैं—

पृथ्वी, अपनी बाहुओं को खोल, स्नेहसहित तथा स्वागत करते हुए मृत व्यक्ति को बाहो मे ले ले। उसे प्यार से ढँक ले जैसे माँ अपनी प्रिय सन्तान को अपने आँचल से ढँक लेती है। (१० १८,११)

ऐ मृतात्मा ! जाओ, रास्ता पकड़ो, वह पुराना रास्ता पकडो जिससे तुम्हारे पहले हमारे पितृ लोग गये हैं, तुम उन दोनो राजाओ, वरुण तथा यम, को आहुतियो से प्रसन्न पाओगे; तुम पितृगण से मिलोगे और अपने सभी सचित पितृयज्ञो का पुरस्कार प्राप्त करोगे। अपने पापो और दोषों को यही छोड़ जाओ। अपने घर को एक बार पुनः लौट जाओ; सुन्दर स्वरूप धारण करो। शुभ मार्ग से उन चार आँखो वाले भयंकर कुत्तो को पार कर जाओ, जो मार्ग की रक्षा करनेवाले सरमा के दो पुत्र है। उन पिताओं से मिलने के लिए बढो, जो तुम्हारे प्रति प्रेम से आप्लावित होकर यम के साथ आनन्दित हो रहे हैं। हे महान् देवता ! अपने दूतो[१] को इसे अपने यहाँ ले जाने के लिये भेजो और उसे अक्षय स्वास्थ्य तथा सुख प्रदान करो। (१० १४, ७–११)[२]

---

[१] ये वे चार आँखोवाले द्वारपालक कुत्ते हैं जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

[२] इसके एक अश का स्वतन्त्र अनुवाद पृ० २२ पर दिये गये रूपान्तर मे किया गया है।

जब दाह-संस्कार कोई ऐसा व्यक्ति करता है जो इन मन्त्रों का ज्ञान रखता है तथा इनका पाठ कर सकता है तो यह निश्चित होता है कि आत्मा (एक प्रकार का सूक्ष्म शरीर[1] धारण कर) धुएँ के साथ स्वर्ग पहुँच जाती है (सहैव धूमेन स्वर्गं लोकमेतीति ह विज्ञायते)। तब इस कर्म को करनेवाला इस (ऋग्वेद १०.१८,३) मन्त्र का पाठ करे :—

'हम बचे हुए जीवित मनुष्य अब लौटते हैं और मृत व्यक्ति को छोड़ जाते हैं। हमारी आहुतियाँ देवताओं को प्रसन्न करें और हमे सुख प्रदान करें। अब हम नाचने और खुशी मनाने जाते है और दीर्घ जीवन की आशा करते हैं।'

इसके बाद वे ऐसे स्थान पर जावें जहाँ स्थिर जलवाला जलाशय हो। उसमें एक बार डुबकी लगाकर उसमे से एक अञ्जलि जल लेकर उस मृत व्यक्ति तथा उसके गोत्र का नामोच्चरण करते हुए (यथा, हे देवदत्त काश्यप, यह जल तुम्हारे लिये है) गिरा देवे। तब जल से निकलकर दूसरे वस्त्र धारण करें और उस समय तक बैठे रहे जब तक तारे न निकल आवे या पूर्ण सूर्यास्त न हो जाय। घर लौटते समय अल्प वयवाले आगे रहे और अधिक वयवाले पीछे रहे। घर में प्रवेश करने के पूर्व शुद्धि के लिए वे पत्थर, अग्नि, गोबर, यवान्न, तेल तथा जल का स्पर्श करें। एक रात वे भोजन न बनावें लेकिन पहले से बनी वस्तुएँ हां खावें तथा तीन दिनों तक कोई नमक-वाला भोजन न करें।'

काण्ड ४ की ५ वी कण्डिका में मृत व्यक्ति की अस्थियों एवं चिताभस्म को एकत्र करने का विधान है ('सञ्चयन', मनु ५.५९)—

यह कर्म कृष्णपक्ष की दशमी तिथि के उपरान्त विषम संख्यावाली (यथा ग्यारहवें, तेरहवें, पन्द्रहवें आदि) तिथि को तथा एक नक्षत्र मे (अषाढा जैसे नक्षत्र में नही जो पूर्वा तथा उत्तरा दोनों होता है) किया जाता है।

मृत पुरुष की अस्थि तथा चिताभस्म एक अलंकरणहीन घर मे या लम्बे पात्र मे (अलक्षणे कुम्भे) रखा जाय तथा मृत स्त्री की अस्थि तथा चिताभस्म

---

[1] चौथी कण्डिका के आठवें सूत्र मे कहा गया है कि वह आहवनीय अग्नि के उत्तर पूर्व मे एक छिद्र बनाकर उस पर 'अवका' तथा शीपाल पौधो को बिखेर दे। टीकाकार का कथन है कि मृत व्यक्ति की आत्मा सूक्ष्म शरीर (जिसे 'आतिवाहिक' तथा कभी-कभी 'अधिष्ठान' कहते है और जो अंगूठे के बराबर आकार का 'अंगुष्ठमात्र' होने से लिङ्ग और 'सूक्ष्म' से भिन्न होता है) धारण कर उस समय तक उस छिद्र मे रहता है जब तक स्थूल शरीर जल नही जाता; अन्त मे उससे निकलकर धुंए के साथ स्वर्गजा पहुँचता है।

कुम्भा या हाँडी (जो अधिक बड़ी होती है तथा स्त्री के आकार के अनुरूप मानी जाती है) मे रखा जाय । एक गड्ढा खोदकर उसमें इस प्रकार सञ्चित की गई अस्थि तथा भस्म रखी जाय तथा साथ ही ऋग्वेद १० १८,१० का उच्चारण किया जाय :—

'विस्तृत (उरु-व्यचसम्), चौड़ी, कल्याणकारी माता पृथ्वी के पास जाओ; वह तेरे प्रति उसी प्रकार स्नेह रखे जैसे ऊन के समान कोमल (ऊर्णमृदा) युवती धार्मिक पुरुष के प्रति प्रेम रखती है; तुझे वह विपत्ति की देवी की गोद से (निर्ऋतेरुपस्थात्) बचावे ।'

तब गड्ढे के ऊपर मिट्टी डाली जाती है तथा ऋग्वेद १०.१८,११ १२ का पाठ किया जाता है । अन्त मे घट या कुम्भ के ऊपर एक आवरण या ढक्कन रख दिया जाता है और गड्ढे को मिट्टी से भर देते हैं जिससे कुम्भ बिल्कुल छिप जाता है और इस समय ऋग्वेद १०.१८,१३ का पाठ होता है :—

'मैं तुम्हारे चारो ओर सहारे के लिए मृत्तिका रखता हुँ और तुम्हे चोट पहुँचाये बिना यह आवरण ऊपर रख देता हूँ । पितृलोग तुम्हारे लिए इस स्मारक की रक्षा करें । यम तुम्हारे लिए वहाँ एक स्थान बनावें ।'

यह कर चुकने के बाद सम्बन्धीगण, बिना पीछे देखते हुए घर लौटें और स्नानादि करने के उपरान्त वे मृत व्यक्ति के लिये पृथक् पृथक् (एकोद्दिष्ट) प्रथम श्राद्ध करें ।

काण्ड ४ की कण्डिका ७ मे चार प्रकार के श्राद्धो अर्थात् मृत व्यक्तियो तथा पितरो या सामान्यतः पूर्वजों के लिए बलि कर्मों का विधान किया गया है :—१. **पार्वण,** अर्थात् 'मासिक' सक्रान्ति या प्रतिपद् के दिन तीन पीढी तक के पूर्वजो के लिए (तु० मनु ३.२८ सामान्यतः 'नित्य' नाम से अभिहित पूर्वजों के लिए तथा कतिपय मासों की अष्टमी को किये जाने वाले अष्टका); २. **'काम्य'** : 'ऐच्छिक' जो किसी इच्छा को प्राप्त करने के लिए किये जाते हैं (यथा पुत्र प्राप्ति); ३. **आभ्युदयिक** : परिवार के उत्सव के अवसरो पर (यथा सस्कारो मे) कृतज्ञता प्रकाशन के रूप में अथवा सौख्यवृद्धि आदि के लिए किये जाने वाले कर्म (वृद्धि-पूर्त); ४. **एकोद्दिष्ट** अर्थात् 'विशिष्ट' जो हाल ही मे मरे हुए व्यक्ति को उद्दिष्ट कर होता है सभी पितरो को उद्दिष्ट कर नहीं । इसकी आवृत्ति प्रतिवर्ष उसकी मृत्यु की वार्षिकी पर की जाती है । (अवसर-अवसर पर किये जाने वाले कर्मों को कभी-कभी **नैमित्तिक** कहते हैं) । इन मृत्यु सम्बन्धी सस्कारो मे ब्राह्मणों को निमन्त्रित किया जाता है । उन्हे भोजन कराया जाता है और दक्षिणा दी जाती है । अभ्यागतो को उत्तर की ओर मुख करके बैठाया जाय तथा उनके हाथो मे

कुश द्वारा जल छोड़ा जाय, तथा तिल (तु० मनु ३. २२३) और चावल का पूप (पिण्ड) रखा जाय और जल का तर्पण 'स्वधा' शब्द के उच्चारण के साथ किया जाय। दैव नाम का भी एक अन्य प्रकार का श्राद्ध है जो 'विश्वेदेवा.' अर्थात् सभी देवो, या दस संख्या वाले देवताओ के विशिष्ट समूह के सम्मान में किया जाता है। इस कारण कुछ लोग आठ प्रकार के श्राद्ध बताते हैं और निर्णयसिन्धु बारह प्रकार का बताते है।

इन श्राद्धो का अधिक विस्तृत वर्णन मनु ने (३.१२३-२८६) दिया है तथा 'श्राद्ध' पद का अर्थ श्लोक २०२ मे इस प्रकार स्पष्ट किया गया है :—

श्रद्धा के साथ रजत के या ताँबे के (राजतान्वितैः) पात्रो द्वारा भी पितरो को दिया गया जल अक्षय सुख देने वाला होता है (अक्षयायोपकल्पते)।

मैं आश्वलायन गृह्यसूत्र का अपना विवेचन यह कहकर समाप्त करूँगा कि चतुर्थ काण्ड में अन्त्येष्टि कर्मों से सम्बद्ध नियम, जिनके संक्षेप अभी दिये गये हैं, ऋग्वेद के दशम मण्डल मे आये अट्ठारहवें सूक्त से सम्बद्ध होने के कारण बहुत् रोचक हैं। यद्यपि सूत्र यह आदेश देते है कि इसी सूक्त के मन्त्रों का प्रयोग किया जाना चाहिए तथापि जिस समय सूक्तो की रचना हुई उसके बाद से इस कर्म मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन अवश्य हुए होगे।

इस सूक्त के अध्ययन से यह जाना जा सकता है कि आदि काल मे जब आर्य जाति पहले पहल हिन्दुस्तान के मैदानो में बसी उस समय अन्त्येष्टि कर्मो का वैसा लम्बा तथा बढा-चढ़ा अनुष्ठान नही होता था जिसे आगे चलकर पुरोहितो तथा अभ्यागतों को दिखावे के साथ एवं व्ययसाध्य भोजन करने का बहाना बना लिया गया। तथापि इस अनुष्ठान के सम्पादन की गम्भीरता मे कमी नही आई; मृत व्यक्ति के अवशेष के साथ स्नेहपूर्वक कर्मों का सम्पादन करते समय उसके लिए शोक प्रकाशित करने मे न्यूनता नही आई, और उसकी स्मृति के प्रति आदर कम नही हुआ—जो एक ऐसी भावना थी जिसका भारत मे योरोप की अपेक्षा अधिक तल्लीनता के साथ कर्तव्य के रूप मे पालन किया जाता था।

हम यह भी देखते हैं कि उस आरम्भिक युग मे भी आत्मा के नित्य अस्तित्व तथा मृत्यु के उपरान्त उसके स्थायित्व के विषय मे स्पष्ट विश्वास था. जो बाद के जन्मान्तर प्राप्ति, पारमार्थिक तत्व मे विलयन तथा विश्व की परमात्मा के साथ विश्वदेवतावादी तादात्म्य के विचारो से उल्लेखनीय विरोध प्रकट करता है।

इस सूक्त से यह भी ज्ञात होता है कि प्राचीन काल मे शव जलाया नही

जाता था परन्तु गाडा जाता था; इसमें परवर्ती सती प्रथा, पति के साथ पत्नी को जला देने की प्रथा, का रञ्चमात्र भी उल्लेख नही है।

मृत व्यक्ति का शव एक शवगर्त के निकट रखा जाता था जो शव को गाड़ने के लिए पहले से ही खुदा होता था; और यदि वह विवाहित पुरुष होता था तो उसकी पत्नी उसकी बगल मे बैठती थी तथा उस पुरुष के बच्चे, सम्बन्धी तथा मित्र चारो ओर वृत्ताकार खड़े होते थे। पुरोहित एक वेदी के निकट ही खडा रहता था, जिस पर अग्नि प्रज्वलित की जाती थी। मृत्यु का आह्वान करके वह उससे जीवित व्यक्तियो के मार्ग से हट जाने तथा उन अल्प-वयस् एवं स्वस्थ बचे हुए लोगो को आक्रान्त न करने की प्रार्थना करता था जो मृतक का संस्कार करने उपस्थित होते थे और स्वय दीर्घजीवन की आशा रखते थे। तब वह मृत शरीर तथा सबन्धियों के बीच मृत्यु की आधिपत्य-सीमा सूचित करने के लिए एक पत्थर रख देता था और प्रार्थना करता था कि जो भी वहाँ उपस्थित हैं उनमे से कोई वृद्धावस्था से पूर्व लोकान्तर प्राप्त न करे और किसी भी अल्पवयस् व्यक्ति की वृद्धो के पूर्व मृत्यु न हो। तब विधवा की विवाहिता सखियाँ वेदी के पास जाती थी और अग्नि मे आहुति देती थी। उसके बाद विधवा स्वयं ही मृत्यु सीमा से बाहर निकलकर सीमरेखा के बाहर खडे जीवित लोगों मे आ मिलती थी और कर्म कराने वाला पुरोहित मृत व्यक्ति के हाथो से यह दिखाने के लिए धनुष ले लेता था कि उस व्यक्ति का जीवित अवस्था का पौरुष उसके साथ नष्ट नही हुआ परन्तु उसके परिवार में ही रह गया। तदुपरान्त शरीर को धीरे से गर्त मे रखा जाता था और साथ ही साथ पहले अनूदित सूक्त का पाठ होता था : 'पृथ्वी अपने बाहो को फैलाओ, मृत व्यक्ति को ले लो' (द्र० पृ० १९९)। यह कर्म गर्त को एक प्रस्तर की पटिया से ढकने के उपरान्त समाप्त होता था। अन्तत. उस स्थान के स्मारक तथा शुद्धि के रूप मे एक समाधि बना दी जाती थी।[1]

सामयाचारिका सूत्रों के विषय मे कुछ कहना शेष नही रह गया है। इस तृतीय वर्ग के सूत्रो के (जो श्रौत तथा गृह्य से भिन्न हैं) अधिक सकलन सुरक्षित नही हैं। यदि उनका ज्ञान हमे अधिक होता तो कदाचित हम यह पाते कि वे मनु के लिए उससे अधिक सामग्री प्रस्तुत करते हैं जितना कि गृह्यसूत्र का प्रस्तुत करना प्रतीत होता है। इस कारण से ही धर्मशास्त्रो या विधिग्रन्थो की भूमिका के रूप मे उन्हे कभी-कभी धर्मसूत्र भी कहा जाता है।

---

[1] सम्पूर्ण सस्कार का अधिक विस्तृत वर्णन प्रोफेसर स्टेन्ज़लर के 'रेड इउबेर डी जिट्ट' मे, मिलेगा जिसकी सहायता मैंने आद्योपान्त ली है।

और ही रहा होगा। यह केवल किसी विशिष्ट जनवर्ग मे या मानव नाम के ब्राह्मणो की शाखा मे प्रचलित नियमो एव शिक्षाओ को (जो कदाचित् विभिन्न लेखको द्वारा रचित थे) प्रस्तुत करता था । मानव शाखा के ब्राह्मण सभवत सरस्वती और दृषद्वती (देखिए पृ० २०८) के मध्य के उत्तरपश्चिमी क्षेत्र मे दिल्ली, तथा महाभारत मे वर्णित महान् सामाजिक संघर्ष के क्षेत्र के पास ही निवास करते थे ।[1] यह शाखा तैत्तिरीयको अर्थात् कृष्णयजुर्वेदियों की प्रतीत होती है; तथा इनके मन्त्र, ब्राह्मण, एवं श्रौतसूत्र अब भी विद्यमान हैं[2] किन्तु इनके गृह्य एव सामयाचारिक सूत्र नष्ट हो गये है । बहुत से नियम, जैसा कि वे हमारे संमुख हैं, केवल सैद्धान्तिक थे, जिन्हें एक धार्मिक, व्यावहारिक नैतिक, राजनीतिक तथा सामाजिक कर्तव्यो को सर्वाङ्गीण व्यवस्था जैसी होनी चाहिए उसके आदर्श को पूर्ण बनाने के लिए अन्तर्निविष्ट कर दिया गया था । इन नियमो का वास्तविक संकलनकर्ता तथा उपदेष्टा कौन था यह ज्ञात नही । वह शायद मानव शाखा का एक विद्वान ब्राह्मण रहा हो ।

नि.सन्देह हमे इस स्मृति मे आए हुए पुराकथा के तत्त्वों को उचित महत्त्व देना चाहिए, उदाहरणार्थ उस स्थल को जहाँ मनु[3] (अथवा .स्वयंभुव—परम स्वयभू से उत्पन्न) नाम के एक ऋषि इस प्रकार कहते हैं (१ ५८–६०) :—

[1] २.१७,१८ से निकलने वाला यह निष्कर्ष कि मानव आर्यों के प्राचीनतम निवासक्षेत्रो मे रहते थे स्मृति की प्राचीनता के निर्धारण तथा हिन्दुओ की उनकी दक्षिण की ओर प्रगति होने के पूर्व की सामाजिक दशा के प्रतिबिम्ब के रूप मे महत्व का निर्णय करने मे सहायक हो सकता है ।

[2] मानव कल्पसूत्र के एक अंश की टीका की हस्तलिखित प्रति की छाया का सम्पादन कुछ दिन पूर्व स्वर्गीय प्रोफेसर गोल्डस्टूकर ने किया है ।

[3] सभी जीवो के दैवी जनक माने जानेवाले मनु का नाम 'मन्' धातु से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है 'सोचना', विचार करना (और विशेषतः हिन्दू विचारधारा के अनुसार, वेद पर विमर्श करना तथा उसे समझना, जिस कारण उसी धातु से सन्नत इच्छार्थक रूप 'मीमासा' शब्द 'वेद के अर्थ के अन्वेषण' का तात्पर्य रखता है) । भृगु कहते हैं (१.६१) कि मनु स्वयंभू से उत्पन्न हुए और उनके बाद छ अन्य मनु भी हुए जब कि मनु स्वयं (१.३३–३६) कहते हैं कि उनकी सृष्टि विराज ने की जो ब्रह्मा की पुरुष-शक्ति थी । इस प्रकार उत्पन्न होकर उन्होने दस ऋषियों को जन्म दिया, जिनसे सात मनु उत्पन्न हुए । यह नाम वशनाम है । प्रत्येक कल्प या एक सृष्टि-रचना से दूसरी सृष्टि-रचना के अवान्तर काल मे चौदह मनु एक के बाद एक होते हैं, इस कारण सम्पूर्ण अवधि को मन्वन्तर कहा जाता है जिसे १.८० मे अनेक बताया गया है । इस

'ब्रह्मा ने इस शास्त्र की स्वयं ही रचना करके मुझे सबसे पहले सम्यक् रूप से पढाया। तब मैंने इसे मरीचि तथा अपनी सन्तान, नौ अन्य ऋषियो, को पढ़ाया (जिनमे भृगु एक है, तु० १.३५)। इन (पुत्रो) मे मैंने भृगु को तुम ऋषियो को आद्योपान्त इस शास्त्र को बताने का आदेश दिया है क्योकि उसने सम्पूर्ण को सुनाने की शिक्षा मुझ से ली है। तब मनु द्वारा धर्मोपदेश के लिए इस प्रकार आदिष्ट महर्षि भृगु ने प्रसन्न होकर ऋषियो से कहा कि तुम लोग सुनो।'

अतएव १.६० तक स्वयं मनु ही वक्ता बताये गये हैं, तदुपरान्त भृगु उपदेश देते है तथा सम्पूर्ण स्मृति का अन्तिम श्लोक इसे 'मानव शास्त्रम् भृगुप्रोक्तम्' अर्थात् भृगु द्वारा उक्त बताता है, जब कि ११.२४३ मे स्वय प्रजापति या ब्रह्मा को तप की शक्ति द्वारा (तपसा) इसकी रचना करनेवाला कहा गया है।

यह कहने की आवश्यकता नही कि जिस प्रकार भगवद्गीता में नाटकीय रूप मे कृष्ण का वर्णन किया गया है उसी प्रकार ये व्यक्ति भी केवल काल्पनिक चरित्र हैं, किंवा बाद में इस स्मृति की शिक्षाओ को प्राचीनता तथा अलौकिक प्रामाण्य से युक्त करने के लिए इन्हें जोड़ दिया गया था।

प्रस्तुत रूप मे उपलब्ध इस ग्रन्थ का काल पाँचवी शताब्दी ई० पू० से पहले या बाद का नहीं माना जा सकता।[1] कठोर अर्थो मे या कम से कम

सृष्टि मे अब तक सात मनु हो चुके हैं: १ मनु स्वायम्भुव, स्मृति के माने जाने वाले रचयिता जिन्होने दस प्रजापतियों को विश्व मे प्रजा उत्पन्न करने के लिये जन्म दिया; २. स्वारोचिष; ३. औत्तमि; ४. तामस; ५ रैवत; ६ चाक्षुष; ७. वैवस्वत, सूर्य के पुत्र, वर्तमान युग के मनु जिन्हें भारतीय 'आदम' या 'नोआ' माना गया है (देखिए पृ० ३२ टि०)। कुछ लोगों के अनुसार, अन्तिम मनु ही स्मृति के रचयिता और इस कारण सूर्यवशी राजाओं के वश के स्थापक के रूप मे क्षत्रिय थे।

[1] सर वि० जोन्स का विचार है कि मनु का ग्रन्थ लगभग १२८० ई० पू० मे संकलित हुआ था। श्री एल्फिस्टन ने इसे ९०० वर्ष ई० पू० का माना है। बहुत सम्भव है कि इसके कुछ अश उन विधियो तथा उपदेशो को प्रस्तुत करते हो जो एक परवर्ती समय मे मानवो मे प्रचलित थे, किन्तु इस स्मृति के विद्यमान सकलन का कोई भी विद्वान् इतना प्राचीन समय नही मानेगा। मेरे विचार से इसे पाँचवी शताब्दी ई० पू० के उपरान्त रखना भी तर्कसगत नही है। इसमे वर्णित देवता मुख्यत: वैदिक हैं, और चतुर्वर्ण व्यवस्था पुरुषसूक्त

योरपीय विचारो के अनुसार यह, जैसा कि मैंने पहले सकेत दिया है, जातीय नियमो तथा व्यवहारो की कोई सामान्य सहिता नही है, अपितु पूर्ववर्ती स्रोतो[1] से एक ऐसा क्रमहीन संकलन है जो धार्मिक, नैतिक, एवं व्यावहारिक शिक्षाओ, दार्शनिक सिद्धान्तो तथा आध्यात्मिक मतो के साथ अर्थ एवं दण्ड विधि को एक मे मिलाकर भ्रातिवश शासन के अध्यादेशो को धार्मिक कर्तव्यो, गृहयजीवन तथा वैयक्तिक आचारो के साथ सन्निहित करता है। यह वारह अध्यायों मे है।

अध्याय २ के श्लोक ६ मे सभी विधि के मूल या आधार ('धर्ममूलन्') का वर्णन हैं। ये आधार हैं : (१) सम्पूर्ण वेद (वेदोऽखिल.); (२) पारम्परिक विधि 'स्मृति'; (३) वेद का ज्ञान रखने वाले पुरुषो का नैतिक आचार ('शीलम्'); (४) अति प्राचीन काल से स्थापित, सत्पुरुषो के व्यवहार तथा प्रथाएँ ('आचार.')। इससे अवशिष्ट विषयो मे व्यक्ति अपनी अन्त प्रवृत्ति का अनुसरण करने के लिए स्वतन्त्र है (आत्मतुष्टि:)

पुन. प्रथम अध्याय के श्लोक १०७ तथा १०८ मे कहा गया है : 'इस (शास्त्र) मे सम्पूर्ण धर्म कर्मो के गुण तथा दोषो की, चार वर्णो के उन

(द्र० पृ० २४) वाली है। बौद्धधर्म का कोई प्रत्यक्ष उल्लेख नही है यद्यपि मनु के अनेक वचन नि.सन्दिग्ध रूप मे बौद्ध स्वभाव के है, जिनके प्राय: समानान्तर धम्मपद मे मिलते हैं। इससे यह प्रकट होना है कि इस स्मृति मे प्रतिविम्बित भूखण्ड मे बौद्ध विचारों का श्रीगणेश हो रहा था। न तो सती का उल्लेख है और न विष्णु तथा शिव की पूजा का जो मेगास्थनीज के एक कथन के अनुसार भारत मे सिकन्दर के आक्रमण के बाद प्रचलित हुई होगी। महाभारत तथा रामायण की कथाओं का भी कोई उल्लेख नही है। महाभारत मे तो प्राय: ऐसे श्लोक मिलते हैं जो मनुस्मृति के श्लोकों के अनुरूप ही है। ये श्लोक या तो मनु से ही उद्धृत किये गये हैं अथवा एक ही सामान्य स्रोत से ग्रहण किये गये हैं। नि.सन्देह ३.२३२ मे धर्मशास्त्र, आख्यान, इतिहास, पुराण तथा खिल पवित्र ग्रन्थो के नाम के रूप मे आये हैं तथा कुल्लूक ने 'इतिहास' से महाभारत का अर्थ लिया है। किन्तु इन शब्दो से प्राचीन रचनाये अभिप्रेत हो सकती हैं जो वर्तमान सकलनो की स्रोत थी।

[1] इस धारणा के पक्ष मे कि इस धर्मग्रन्थ मे कई व्यक्तियो का हाथ रहा होगा एक प्रमाण इस तथ्य मे मिलता है कि कतिपय नीतिवचनो पर जिन्हे विशेषतया स्वय मनु रचित बताया गया है, अधिक वल दिया गया है, यथा ५.४१,१३१; ६.५४; ८.१२४, १६८, २७९, ३३९; ९ १५८, १८२, २३९; १०.६३, ७८; इनमे प्राय: सभी 'मनुरब्रवीत्' जैसे वाक्य से प्रारम्भ होते है।

परम्परागत आचारों की व्याख्या की गई है जो नित्य (शश्वत', क्योंकि वे इतने प्राचीन समय से है जिसकी स्मृति मनुष्य को नही है) व्यवहार है। परम्परागत व्यवहार (आचार) सर्वोच्च विधि (परमो धर्म) के समकक्ष है, क्योंकि इसका प्रतिपादन श्रुति तथा स्मृति ने किया है।'

अतएव यह धर्मग्रन्थ स्मृति, शील तथा आचार के नियमों का छन्दात्मक ग्रन्थ है, जिन नियमो से अधिकाश का संकलन तथा विधान गृह्य तथा सामयाचारिक सूत्रो के नाम से हो चुका है। प्रथम अध्याय के अन्त मे विषयो का एक संक्षिप्त विवरण दिया गया है किन्तु हम अधिक सुविधापूर्वक बारहो अध्यायो मे वर्णित विषयों का छः प्रमुख शीर्षको के अन्तर्गत विवेचन कर सकते हैं। ये है: १ वेद तथा धर्म; २. वेदान्त अथवा आत्मविद्या, जो सामान्य रूप मे दर्शन के वाचक हैं; ३. आचार; ४. व्यवहार; ५. प्रायश्चित्त; ६. कर्मफल।

यह देखा जायगा कि विशुद्ध धार्मिक एवं दार्शनिक वचनो को निकाल देने पर इसमे विहित नियमो की बहुत बड़ी संख्या तीसरे शीर्षक, 'आचार', के अन्तर्गत आ जायगी जिन्हे श्रुति तथा स्मृति द्वारा विहित सदाचार या 'अनुमोदित व्यवहार' कहा गया है (२.१७,१८) बशर्ते कि ये नियम वे ही हो जो ब्रह्मावर्त नामक क्षेत्र मे दो पवित्र नदियो, सरस्वती तथा दृषद्वती, के बीच प्रचलित थे। वस्तुत. आचार शब्द की एक विस्तृत परिभाषा है जिसके अन्तर्गत सर्वश्रेष्ठ विधि एवं सर्वश्रेष्ठ धर्म रूप माने जाने वाले वर्ण के सभी नियम आते है—इस प्रकार के नियम, जैसे ब्राह्मण के जीवन का चार भागों मे विभाजन, गुरुगृह मे शिष्य का व्रताचरण, उपनयन, पाँच दैनिक उपासना के कर्म, विवाह के गृह्य-संस्कार, अन्त्येष्टि क्रिया, जीविका (वृत्ति) प्राप्त करने के विविध उपाय, आहार के नियम, स्त्रियो से संबद्ध नियम, और संक्षेप में वैयक्तिक आचार तथा सामाजिक अर्थव्यवस्था के सभी नियम।[1]

चौथे शीर्षक, 'व्यवहार' अर्थात् विधि एवं राजतन्त्र के व्यवहार मे न्याय-सभा की कार्य-प्रणाली तथा न्याय एवं अर्थ और दण्ड विधि जैसे विपय आते है।

पाँचवे शीर्षक, 'प्रायश्चित्त' का तात्पर्य तपस्या तथा दोषशुद्धि के सभी नियमों से है।

छठाँ शीर्षक 'कर्मफल', या कर्मों का प्रतिकार या परिणाम, आचारनियमों से उतना संबद्ध नही जितना कि जन्मान्तर के सिद्धान्त से क्योकि सभी

[1] अध्याय ४.५ मे एक विलक्षण अश हैं जो ब्राह्मण पर मृत्यु का अधिकार चार कारणो से बताता है : १. वेद का अनभ्यास; २. आचार की उपेक्षा; ३. आलस्य; ४. अन्नदोष।

प्रकार के कर्मों का अपरिहार्य फल है अन्तिम मोक्ष की प्राप्ति तक असंख्य योनियो मे निरन्तर जन्म लेते रहना ।

ये सभी नियम विशेपत: सर्वश्रेष्ठ वर्ण, अर्थात ब्राह्मणो के लिये है, जिनका सामाजिक जीवन मे प्राधान्य ही सर्वप्रथम आचार है जिसे 'परमोधर्म.' अर्थात् सर्वोच्च विधि एवं सर्वोच्च नियम के रूप मे स्वीकार करना चाहिए ।

यह स्वाभाविक ही है कि यत: इन छ: शीर्पकों मे आनेवाली शिक्षाओं की रचना ब्राह्मणो ने की अत· इनकी रचना विशेपतः ब्राह्मणो के जीवन को ही लक्ष्य बनाकर की गई जिसके लिये विहित नियम छ: अध्यायों मे रखे गये हैं तथा अन्य छ: अध्याओ मे भी सर्वत्र उल्लिखित है । किन्तु यत: क्षत्रिय या योद्धा वर्ग की दृढ बाहुओ की सहायता के बिना ब्राह्मण अपने सर्वोपरि स्थान पर बना नही रह सकता था अत: इस ग्रन्थ का एक बड़ा भाग क्षत्रियों के कर्त्तव्य की परिभाषा देने तथा उनके राजकीय स्वरूप और पद का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करने मे लगाया गया है जबकि वैश्य तथा शूद्र वर्णों पर, जो मनु के चातुर्वर्ण्य सामाजिक व्यवस्था के लिए आवश्यक[1], तथा मिश्रित वर्णो पर, ध्यान नही दिया गया है ।

---

[1] 'कास्ट' (Caste) एक नितान्त आधुनिक शब्द है जिसे पुर्तगाली शब्द कस्ता (Casta) 'जाति' का विकृत रूप माना जाता है । चार वर्गों के लिये मनु ने 'वर्ण' शब्द का प्रयोग किया है, जो प्रमुख जातियो मे विशिष्ट रूप से लक्षित किसी मौलिक रग के भेद का संकेत देता है । इसके लिये परवर्ती शब्द 'जाति' अर्थात् जन्म है जो 'जात्' से विकृत हुआ है । मनु के चार वर्णों मे केवल ब्राह्मण शेप हैं, हालाँकि राजपूत लोग अपने को प्राचीन क्षत्रियो के वंशज बताते हैं। आज कल की मिश्रित जातियाँ तो प्रायः असंख्य है : प्रत्येक पृथक् व्यसाय से एक पृथक् जाति बन गई है । बंगाल में 'रजक' अर्थात् धोबी, 'ताँती' या बुनने वाले, कसारि या ठठेरा, 'जालिया' अर्थात मछुए, सुरी अर्थात् शराब वेचने वाले, होते है । इनके अतिरिक्त निम्न तथा सेवारत जातियाँ, यथा 'बाग्दी, वेदिया, डोम, हाड़ी भी है । अपरञ्च, हम जाति मे भी जातिभेद पाते हैं, जिससे ब्राह्मण भी अनेक उपजातियो में विच्छिन्न तथा विभिक्त है और वे उपजातियाँ भी अनेक वर्गों, वंशो तथा उपवर्णों मे विभक्त हैं । कान्यकुब्ज ब्राह्मण, सारस्वत, गौड या गौर (गोर), मैथिल, उत्कल, द्राविड, कर्नाट, महाराष्ट्र, गुर्जर इत्यादि होते है जिनमे से सभी जातियाँ अधिक या कम वर्गो एवं वशो मे बँटी है, मानो वे इस प्रकार के उपवर्ण हों जिनमे परस्पर विवाह नही होता । यह कहा जाता कि है बंगाल में एक समय धर्म इतनी निम्नावस्था मे था कि उसके उद्धार के लिए आदिशूर (आदीश्वर) नाम के राजा ने

इस कारण, प्रथम अध्याय में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन देने के बाद ब्राह्मण के जीवन के चार आश्रम ही प्रथम तथा एकमात्र विषय हैं जिनका विवेचन नियमित क्रम मे दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें तथा छठे अध्यायो मे हुआ है। इनमें छठाँ अन्तिम दो आश्रमों, वानप्रस्थ एवं संन्यास (भिक्षु), के नियमों मे लगाया गया है। पाँचवे अध्याय मे इसके अतिरिक्त आहार, पशुहत्या, पवित्र होने के बाद शुद्धि, पत्नियो के कर्त्तव्यो और सामान्यतः स्त्रियों की मर्यादा के नियम तथा विधान हैं। सातवें तथा आठवें अध्याय शासन तथा न्याय के नियमो का मुख्यतः उस दूसरे प्रमुख वर्ण या क्षत्रियों के पथप्रदर्शन के लिए प्रतिपादन करते है जिस वर्ण से राजा चुना जाता था। नवे अध्याय में

कान्यकुब्ज या कन्नौज के राजा से कुछ उच्चवर्ण वाले ब्राह्मणो को भेजने की प्रार्थना की। ये ब्राह्मण कन्नौज से गये और बगाल मे बसकर एक सौ छप्पन वर्गो मे बँट गये, जिनमें से एक सौ वारेन्द्र तथा छप्पन राढ या राहृ कहलाये जो पश्चिमी बंगाल के राढा जिले के हैं। पहले मे से आठ तथा दूसरे में से छः कुलीन या उच्चवर्ण के माने जाते हैं। मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक एक वारेन्द्र ब्राह्मण थे। छ. कुलीन राहृ जातिया हैं, बनर्जी ('बान्द्योपाध्याय), मुखर्जी' (मुखोपाध्याय), चटर्जी (चट्टोपाध्याय), गागुली, घोषाल, कञ्जलाल। बंगाल मे ब्राह्मणो के बाद दूसरे स्थान पर आने वाली जाति वैद्य या 'चिकित्सा के ज्ञाता' है (= अम्बष्ठ, मनु १०.८)। कन्नौज के ब्राह्मण जब बगाल मे आकर बस गये तो वे अपने साथ कुछ कायस्थो या लेखकों को भी लेते आये जिनसे वर्तमान कायस्थ या लिपिक वर्ण उत्पन्न हुआ जो कई जातियो मे विभक्त है, यथा गोस (घोष), बोस (वसु), मित्र, डे, दत्त, पालित, दास, सेन, इत्यादि। उसके बाद नवशाक या 'नौ भेद' आते हैं, वे हैं, गोप, माली, तैली, तन्त्री, मोदक, वरजी (पान उगाने वाले), कुलाल, कर्मकार, नापित। देखिए प्रोफेसर कोवेल संपादित कोलब्रूक के निवन्ध २.१६९। वर्ण व्यवस्था कि शक्ति तथा योरोपीयो के साथ सम्पर्क का इसे दुर्बल करने मे प्रभाव डा० हण्टर के उड़ीसा विषयक उत्तम ग्रन्थ के इस उद्धरण से स्पष्ट होता है—'वयोवृद्ध उड़िया लोगो ने अनेक बार अपने वयस्क पुत्रों के नैराश्यपूर्ण पतन का दुःखड़ा रोया है जिन लड़को मे से अनेक अग्रेजी जूता पहनने मे वास्तव मे कोई आपत्ति नही रखते। १८७० मे एक उड़िया ब्राह्मण जगन्नाथ की छाया के भीतर पुरी मे ही पुलिस विभाग के नायबदरोगा के पद पर था, हाँलाकि उसकी वर्दी मे चमड़े की पेटी भी रहती थी। पाँच वर्ष पहले यदि कोई ब्राह्मण सयोगवश चमड़ा छू लेता था तो उसे सामाजिक प्रायश्चित, या निकृष्टता तथा जाति बहिष्कार मे कोई एक भुगतना पड़ता था।' भाग ३, पृ० १४७,

स्त्रियों, पति-पत्नी, उनकी सन्तान, उत्तराधिकार तथा सम्पत्ति-विभाजन के कानून के विषयों पर और अधिक शिक्षायें दी गई है। अन्त मे (२२१ इत्यादि) राजाओ के लिए शासन के कुछ और नियम एवं कतिपय ऐसी शिक्षाये है जो सीधे शेष दो प्रमुख वर्णों—वैश्य और शूद्र, के सन्दर्भ मे है। इन वर्णों मे पहले मे कृषक तथा व्यापारी आते थे और दूसरे में दास तथा सेवक। दसवाँ अध्याय चार प्रमुख मौलिक वर्णों मे परस्पर विवाह-सम्बन्ध से उत्पन्न वर्ण-संकरो या मिश्रित वर्णों का विवेचन करता है। यह प्रत्येक वर्ण के लिये निर्धारित कर्मों का भी वर्णन करता है और महान् आपद्काल और आवश्यकता के समयो मे ब्राह्मणो, क्षत्रियो, वैश्यो तथा शूद्रों के लिये विहित व्यवसायो का निर्देश देता है। इसके अन्त (१२२–१२९) मे कुछ ऐसे श्लोक है जो सीधे शूद्रो के कर्तव्यो एवं सामाजिक अवस्था से सम्बद्ध होने के कारण बडे रोचक है। ग्यारहवे अध्याय मे इस जीवन मे किये गये पापो—विशेषत वर्णव्यवस्था के विपरीत किये गये पापो—तथा पूर्वजन्म के दुश्चरित्रो के परिणामो के लिए, जो जन्मना रोगो आदि मे दिखाये गये हैं (११.४८, ४९), शुद्धि तथा व्रत (प्रायश्चित्त) के नियम दिये गये है। बारहवे मे सत् या असत् कर्मों के प्रतिफल या परिणाम (कर्मफल) का विषय चलता रहता है, जो स्वर्गप्राप्ति रूपी सुख या अनेक नरको मे यातना (१२.७५, ७६) तथा पुनर्जन्म की तीन अवस्थायें प्रदान करते है। यह अन्तिम मोक्ष तथा परम तत्त्व मे लयप्राप्ति के सर्वोत्तम उपायो के निर्देश के साथ समाप्त होता है।

मनु की तथाकथित विधि सहिता के विषयों की इस रूपरेखा से हम यह जान सकते हैं कि इसमे सर्वाधिक विविध विपयो का निवेश किया गया है, जिनमें से कुछ मात्र विधि संहिता या सामाजिक तथा नैतिक शिक्षाओ के सकलन के भी बाहर के विषय हैं। अगले व्याख्यान मे मैं इन विषयो का अधिक विस्तार से विवेचन करूँगा।

धर्मसूत्र या विधिग्रन्थ–मनु (क्रमशः)

मानवो की धर्मसंहिता, जिसके वर्तमान स्वरूप का समय हमने पाँचवीं शताब्दी ई० पू० (देखिए पृ० २०७) माना है तथा जिसे हम सुविधा के लिए 'मनु का विधिग्रन्थ कह सकते है, मानवो की उन परम्पराओ (स्मृति) का एक छन्दोबद्ध सस्करण है जो संभवत: पहले उनके गृह्य तथा सामयाचारिक सूत्रो (पृ० २०६) मे मूर्त हुई थी। इसका छन्द अनुष्टुभ् या प्रचलित श्लोक है[1] (पृ० १६१)। इस व्याख्यान मे मेरा ध्येय चुने हुए अंशों का गद्यानुवाद देते हुए तथा एक सामान्य रूप में (१) इसके पवित्र ज्ञान तथा **धर्म**, (२) इसके **दर्शन**, (३) इसके **आचार** या 'सामाजिक नियम एवं वर्ण-व्यवस्था, (४) इसके व्यवहार या दण्ड एवं अर्थविधि तथा शासन के नियम, (५) इसकी प्रायश्चित तथा व्रतपालन की पद्धति, (६) इसके कर्मफल या इस जन्म में किये गये कर्मों के भावी परिणाम के विशिष्ट पहलुओं का निर्देश करते हुए इस विधिसहिता मे वर्णित विपयो का विश्लेषण तथा सम्बद्ध रूप में विन्यास करना है।[2] इसके बाद के व्याख्यान में मैं उपरोक्त शीर्षकों में अन्तिम चार के अन्तर्गत आने वाले अत्यन्त सुन्दर अंशो के नमूनों का भाषानुवाद देने का विचार करता हूँ[3]—

१. सर्वप्रथम हम इसकी धार्मिक शिक्षा पर विचार करते हैं। हम देख

---

[1] पुस्तक मे आद्योपान्त प्रचलित महाकाव्यीय श्लोक का प्रयोग इसे वैदिकोत्तर मानने का एक प्रमाण है, किन्तु हमे यह नही भूलना चाहिए कि अनुष्टुभ् छन्द वेद मे भी पाया जाता है (देखिए १०.८५; १०.९०, इत्यादि)।

[2] मैंने कलकत्ता के संस्करण का उपयोग किया है जिसमे कुल्लूक भट्ट की उत्तम टीका भी है। मैंने सर वि० जोन्स के अनुवाद की सदैव सहायता ली है और डॉ० जोहेण्टगेन के लेख 'इउवेर डेस गेजेट्सबुख डेस मनु' का बहुत ऋणी हूँ। कुल्लूक कब हुए यह ज्ञात नही है, किन्तु अपनी नम्रतापूर्ण भूमिका मे (जो शार्दूल विक्रीडित छन्द मे है) वे अपने को वंगाली गौड (गौर) की वारेन्द्र जानि के भट्ट दिवाकर का पुत्र एक ब्राह्मण, तथा अपना वासस्थल बनारस मे वताते हैं। अपना विश्लेषण पूरा करने के पूर्व मैंने श्री टेल्व्वायज ह्वीलर (Talboys Wheeler) का विश्लेपण नही पढ़ा था।

[3] मॉनियर विलिअम्स ने अंग्रेजी पद्यानुवाद दिया है—अनुवादक।

सकते हैं कि यह परवर्ती वैदिक काल से, विशेषत. पुरुषसूक्त तथा कतिपय ब्राह्मणो मे दी गई शिक्षा से, साम्य रखता है।

ईश्वर प्रकाशित ज्ञान को सामान्य रूप मे वेद (४.१२५ इत्यादि), कभी त्रयीविद्या (४.१२५), कभी ब्रह्मन् (प्रथमा नपु० ब्रह्म १.२३; २.८१, ६.८३, इनमे अन्तिम श्लोक मे यह नाम वेदान्त या उपनिषदो के लिये भी प्रयुक्त हुआ है), कभी श्रुति (जो स्मृति से भिन्न है, २.१०), कभी छन्दासि (जब विशेषतया छन्दोबद्ध मन्त्र अभिप्रेत होते है ४.९५–९७; ३.१८८); एक बार आर्ष (नपुं० १२.१०६) और एक वार ब्राह्मण के अस्त्रभूत रूप में वर्णित 'वाच्' या शब्द भी कहा गया है (११.३३)।

तीन वेदो का नामत. उल्लेख १.२३; ४.१२३, १२४; ११.२६४ मे तथा उनकी सहिताओ का उल्लेख ११.७७, २००, २५८, २६२ मे हुआ है। १.२३ मे यह वर्णन है कि ब्रह्मा ने यज्ञ का पूर्ण अनुष्ठान करने के लिए ऋक्, यजुस् तथा सामन् रूपी त्रिविध वेद (त्रयं ब्रह्म) को अग्नि, वायु तथा सूर्य से दुहा, और २.७७ मे कहा गया है कि उन्होने तीनो वेदो से सावित्री (= गायत्री, पृ० २०) नामके पवित्र मन्त्र को दुहा।[1] वेद के ब्राह्मण भाग का सीधा उल्लेख नही हुआ है; हाँ, छन्द नामके मन्त्र भाग से भेद दिखाने के लिए ब्रह्म नाम से उसका अभिधान हुआ है (४.१००)। वेद की नित्यता तथा अचूक प्रामाणिकता एवं सभी तीनो वेदो के सम्पूर्ण ज्ञान के कर्तव्य और संमार्जन की समता पर नितान्त ओजस्वी भाषा मे बल दिया गया है। दृष्टान्तस्वरूप मैं यहाँ एक (१२.९४ इत्यादि) अंश का रूपान्तर प्रस्तुत करता हूँ—

> वेद पिताओ, देवों तथा मनुष्यों का सनातन नेत्र है, यह अपौरुषेय है, कोइ मनुष्य इसकी रचना नही कर सकता। मानवीय तर्क की शक्तियो द्वारा यह अप्रमेय है। मनुष्यो की स्मृति पर आश्रित रहने वाली स्मृतियाँ जो वेद बाह्य हैं, तथा वेदविरुद्ध एवं भ्रमपूर्ण मत, सभी निष्फल, व्यर्थ और अन्धकारमग्न है। जो भी सिद्धान्त वेद

[1] देखिए पृ० ११ की टिप्पणी। ११ २६५ मे तीनो वेदो को त्र्यक्षर 'ओम्' शब्द मे सम्मिलित माना गया है। ४.१२५ मे ओम् तथा व्याहृतियो (भू., भुव., स्व.) तथा सावित्री मन्त्र को तीनो वेदो से उद्धृत बताया गया है। ३.१८५ मे यजुर्वेद के कुछ भागो के प्रयोग का ज्ञान रखने वाले ब्राह्मण को 'त्रि-णाचिकेत' कहा गया है और ऋग्वेद के किसी भाग के ज्ञाता को 'त्रि-सुपर्ण' कहा गया है। कुल्लूक की उक्तियो से यह स्पष्ट है कि इन पदो का वास्तविक अर्थ उनके समय मे ज्ञात नही रह गया था।

पर आश्रित नही होते, वे अर्वाचीन होने के कारण मिथ्या तथा निष्फल होते है। तीन लोक तथा वर्णों एवं आश्रमों[1] का चतुर्विध विभाजन, भूत, भव्य तथा भविष्यत् काल के निमित्त वेद द्वारा स्थिर तथा पुष्ट कर दिये गये हैं। यह सनातन वेदशास्त्र ही सभी प्राणियों का भरण करता है, इस कारण हम इसे परम् एवं वैदिक कर्म करने वाले व्यक्ति के सुख का साधन मानते है। सेनापत्य, राज्य, दण्डाधिकार, नेतृत्व तथा ससार के अधिकार प्राप्त करने योग्य वही व्यक्ति होता है जो वेद का ज्ञाता है। जिस प्रकार तीव्रता बढ़ने पर अग्नि आर्द्र वृक्षो को भी जला डालता है उसी प्रकार वेद को जानने वाले कर्मों से उत्पन्न हुए अपने दोषो को जला डालता है, क्योंकि वेद के तत्त्व को जानने वाला व्यक्ति किसी भी आश्रम मे विद्यमान रहता हुआ इस संसार मे ही महान् पुरातन ब्रह्म मे विलीन होने की योग्यता प्राप्त करता है।

सामवेद का अन्य दो वेदो के साथ कुछ हीन संवन्ध उल्लेखनीय है। ऋग्वेद को देवताओ से अधिक संबद्ध बताया गया है, यजुर्वेद को मनुष्यो के धार्मिक कर्मों से तथा सामवेद को पितृ कर्मों से संबद्ध कहा गया है (४ १२४)। इसलिये सामवेद की वाणी को अपवित्र बताया गया है ('अशुचि' दे० पृ० ११ टिप्पणी)।

इसके साथ ही साथ ३.१४५ मे प्राधान्य के क्रम का विधान किया गया है। श्राद्ध के अवसर पर वह्वृच (अन्यत्र होतृ) नाम के पुरोहित को प्राधान्य देने का आदेश दिया गया है, जो ऋग्वेद का विशेष अध्ययन रखता हो। तदुपरान्त उस ऋत्विक् का स्थान आता है जिसने सभी शाखाओ का (शाखान्तग) तथा विशेषत यजुर्वेद का अध्ययन कर लिया हो; यह ऋत्विज अध्वर्यु कहलाता है। अन्त मे सामवेदीय ऋत्विक् होता है जिसे छन्दोग (= उद्गातृ) नाम दिया गया है।

यह स्पष्ट है कि जब स्मृति की रचना हुई थी तो उस समय तक अथर्ववेद चतुर्थ वेद के रूप मे स्वीकृत नही हुआ था, हाँलाकि इसका अस्तित्व अवश्य रहा होगा, क्योकि अथर्वन् तथा अङ्गिरस् को प्राप्त हुए प्रकाशित वचन[2] का स्पष्ट उल्लेख है (११ ३२)

मैं वेद के प्रति रखे जाने वाली श्रद्धा के तीन अन्य सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ :—

---

[1] अर्थात्, जीवन की चार श्रेणियाँ या अवस्थाएँ (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास) जिनमे ब्राह्मण के जीवन को विभाजित किया गया है।

[2] कुल्लूक ने इसे अभिचारो तभा जादू से युक्त बताया है।

ऋग्वेद को धारण करने वाला ब्राह्मण यदि तीनों लोकों की हत्या भी कर दे तो उसे कोई पाप नही लगता (११.२६१)।

वेद अज्ञानियो का ('अज्ञानाम्') और ज्ञानियों (विज्ञानाम्) का शरण है। यह स्वर्ग का अन्वेषण करने वालों का शरण है, अमरत्व (आनन्त्यम्) की साधना करने वालों का शरण है (६.८४)।

जब वेद में दो मतो मे वाह्यत: विरोध (श्रुतिद्वैधम्) हो तो उन दोनों को ही धर्म कहा गया है। दोनो को प्राचीन विद्वानो ने उचित धर्म के रूप में सम्यक् प्रतिपादित किया है। इस प्रकार, एक वैदिक आदेश, सूर्योदय पर, सूर्योदय से पूर्व, तथा जब सूर्य या नक्षत्र न दिखलाई पडते हों उस समय (समयाध्युपिते) पर यज्ञ के अनुष्ठान का विधान करता है, जिस कारण अग्नि होम (यज्ञ: = अग्निहोत्र होम) सभी समयों मे किया जा सकता है (२.१४,१५)

उपनिषदों के सिद्धान्त का ६.२९ में स्पष्टत: उल्लेख तथा अन्यत्र संकेत इस प्रकार हुआ है :—

परमात्मा के साथ ऐक्य प्राप्त करने के लिए मनुष्य को वेद के उपनिषद् भाग का अध्ययन करना चाहिए (औपनिषदी. श्रुतिः)।

द्विजन्मा उपनिषदो सहित सम्पूर्ण वेद का अध्ययन (या पाठ) करें ['वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना', २.१६५; तु० २ १४०; ११.२६२]।

वह निरन्तर वेद (ब्रह्म) के उन भागों का जप करे (जपेत्) जो यज्ञ विषय पर हैं ('अधियज्ञम्'), देवताओं से संबद्ध है ('अधिदैविकम्'), आत्मा-विषयक हैं (आध्यात्मिकम्). तथा जो उपनिषदों मे उक्त (वेदान्ताभिहितम्) हैं (६.८३)।

कल्प-सूत्रो का उल्लेख संभवत २.१४० मे हुआ है।

निरुक्त (दे० पृ० १६२) के ज्ञाता को १२ १११ में उन ब्राह्मणों में गिनाया गया है जो एक परिषद् के अन्तर्गत आते हैं, किन्तु न तो यास्क का कहीं निर्देश हुआ है और न यह संभव है कि उनकी रचनाएँ उस समय विद्यमान थी (देखिए पृ० १६३)।

१.११, ५० मे ब्रह्मन् नाम परमात्मा (= ब्रह्मा, कुल्लूक) के लिये प्रयुक्त हुआ है; १२.५० मे विश्व के स्रष्टा को ब्रह्मा कहा गया है (दे० पृ० १३ टिप्पणी) तथा ११.२४३; १२,१२१ मे उसे प्रजापति बताया गया है। १ ६ मे परमात्मा का नाम 'स्वयभू' तथा १ १० मे 'नारायण' आया है। १२.१२१ मे विष्णु तथा हर नाम आते हैं; किन्तु सामान्यत. इसमे उल्लिखित देवता महाकाव्यीय तथा पौराणिक युग की अपेक्षा वैदिक काल के हैं। उदाहरणतः अध्याय ९ ३०३ मे देवताओं की यह सूची उपलब्ध होती है :

'राजा इन्द्र, सूर्य, वायु (या मारुत) यम, वरुण, चन्द्र, अग्नि, तथा पृथिवी के तेज को प्राप्त कर आचरण करे।'

वैदिकोत्तरकालीन त्रिमूर्ति या ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव की लोक प्रचलित पूजा का कोई उल्लेख नही है, और न शक्ति की और भी अर्वाचीन पूजा का ही उल्लेख है, जो शक्ति देवताओं की पत्नियो विशेषतया शिव की पत्नी दुर्गा के रूप मे प्रतिरूपित शक्ति है। विश्व के परमेश्वर-स्वरूप कृष्ण की भक्ति या उनकी श्रद्धा के सिद्धान्त को भी मान्यता नही मिली है जो हिन्दू धार्मिक विचारो का एक अनुवर्ती विकास है (पृ० १३२)।

जन्मान्तरवाद का विस्तृत वर्णन किया गया है और इसके परिणाम-स्वरूप स्मृति (४ ८८—९०; १२.७५, ७७) मे वर्णित नरक, जो यद्यपि भयंकर यातना के स्थान हैं, केवल अस्थायी शुद्धि देने वाले स्थान बन जाते है, जब कि स्वर्ग (४.१२८, २६०; ६.३२; २.२४४) ब्रह्म के साथ ऐक्य होने के मार्ग पर केवल चरण निक्षेप बनकर रह जाते है।

११.२३६, २६१ मे निर्दिष्ट तीन लोक (त्रैलोक्य, लोकत्रय) संभवत: आकाश, अन्तरिक्ष तथा पृथ्वी हैं।

स्मृति के धर्म के विपय मे जो अनोखी बात सभी का ध्यान आकृष्ट करने वाली है वह है मन्दिरो मे सार्वजनिक तथा सामाजिक सेवाओ या उपदेशों के उल्लेख का अभाव। सामाजिक यज्ञों का नि.सन्देह उल्लेख हुआ है किन्तु धर्म की प्रमुख क्रियाये प्रधानत: गृह्य थीं तथा पुरोहितो के प्राचीन कार्यकलाप जो कुछ भी रहे हो वे स्मृति की रचना के समय घरेलू पुरोहित ही अधिक थे। मूर्तियो के विपय मे भी कुछ नही कहा गया है[१]—पूजा को बढावा देने के लिए या मूर्तियो वाले मन्दिरो की देख-रेख के निमित्त ब्राह्मणो को

[१] यह बडा सन्देहास्पद है कि स्मृति की रचना के समय मूर्तिपूजा का प्रचार था या नही। हम देख चुके है कि वैदिक काल मे मूर्तियो के होने का कोई सन्तोषप्रद प्रमाण नही है, देखिए इस ग्रन्थ का पृ० १६। मनु ३ १५१ मे एक देवलक, या मूर्ति के पुजारी (= प्रतिमापरिचारक:) से दूर रहने का आदेश दिया गया है। नि.सन्देह २.१७६ मे ब्राह्मण विद्यार्थी को 'देवताभ्य-र्चनम्' अर्थात् देवताओ की पूजा करने का विधान किया गया है और कुल्लूक ने इसका अर्थ 'प्रतिमादिषु हरिहरादि—देव पूजनम्' अर्थात्, विष्णू एवं शिव का प्रतिमा रूप मे पूजन करना' लगाया है; किन्तु मनु को देवता शब्द से 'प्रतिमा' शब्द अभिप्रेत था या नही यह सन्देहास्पद है। तथापि ९.२८५ मे संयोगवश प्रतिमा को तोड़ने वाले (प्रतिमानां भेदक.) को उनकी मरम्मत करने तथा दण्ड रूप में धन देने का आदेश दिया गया है।

से (जिन्हे सप्त पुरुषाः कहा गया है, १.१९)—नामतः महत् या बुद्धि (जिसे १.१४, ७४,७५ मे मनस् कहा गया है), अहकार और पाँच सूक्ष्म भूतो से—पाँच स्थूल या भौतिक तत्त्वो (महाभूत) की, ज्ञानेन्द्रियो तथा सम्पूर्ण इन्द्रिय या विश्व की उत्पत्ति हुई (पृ० ९०, ९२ पर दिये गये साख्य मत से तुलना कीजिए)।

स्ट्रावो १५.५९ से तुलना करने पर एक विलक्षण बात सामने आती है।

सृष्टि के विवरण मे यह अस्तव्यस्तता एवं अस्पष्टता इसके रचयिताओ की विविधता का लक्षण है। इन दोनो विवरणो मे भृगु का विवरण सर्वाधिक सरल है। किन्तु दोनों ही (१,१४ तथा १.७५) मन को प्रथम उत्पत्ति बताते हैं—जो सत् और असत् दोनो है ('सदसदात्मकम्')—जिसका वास्तविक अस्तित्व है फिर भी नित्य नही है, क्योकि यह कार्य है (देखिए सांख्य प्रवचन ५ ५६)। भृगु के अनुसार इसके उपरान्त आने वाले विवरण का संक्षेप इस प्रकार है—

प्रथम मनु स्वायम्भुव ने छः अन्य मनुओं की उत्पत्ति की और इन सात मनुओं मे (देखें पृ० २०६ टि० ३) सभी अपने-अपने समय में सभी भूतों के स्रष्टा थे (१ ६१–६३)।

मन्वन्तर या मनु के काल की अवधि प्रदर्शित करने के लिए एक क्षण से लेकर ब्रह्मा के एक दिन (१,२०,००,००० वर्षों) तक के समय के विभाजन इस प्रकार किये गये है (१.६४–७३):

एक मन्वन्तर मे १२,००० वर्षों के ७१ गुने वर्ष होते है जो देवताओ का एक युग होता है (१.७९)। विश्व का प्रत्येक महायुग चार युगो मे विभक्त हैः १. कृत, २. त्रेता, ३. द्वापर, तथा ४. कलि। प्रत्येक क्रमशः सौख्य तथा पुण्य मे प्रथम की अपेक्षा अधिक हीन होता है। मनु का जीवन प्रथम मे ४०० वर्षों, दूसरे मे ३०० वर्षो, तीसरे मे २०० वर्षों का तथा वर्तमान कलियुग मे १०० वर्षो का होता है।[1]

१ ८७–१०१ मे सृष्टि के विवरण का उपसंहार चारो वर्णों की ब्रह्मा के मुख, बाहु, ऊरु तथा चरण से उत्पत्ति बताकर एवं ब्राह्मण को प्राधान्य देकर किया गया है।

बारहवें अध्याय मे साख्य विचारधारा की ओर झुकाव पुनः स्पष्ट हो गया है। २४–३८ मे साख्य के तीन गुणों, सत्त्व, रजस् तथा तमस् का वर्णन है जो सभी तीनो प्रत्येक मर्त्य शरीर में विद्यमान रहते हैं परन्तु एक या दूसरे का

[1] हिन्दू रचनाओं मे यह तथ्य निरन्तर अन्तर्हित पाया जाता है कि वर्तमान युग मे मानव जीवन की स्वभाविक अवधि १०० वर्ष है।

प्राधान्य रहता है (देखे पृ० ९३ टि० २)। १२.२४ मे यह कहा गया है कि ये तीनो आत्मा में समवेत है और प्रथम विकसित तत्त्व–महत् या बुद्धि–भी इनसे व्याप्त है। पुनः जन्मान्तर की तीन श्रेणियाँ, उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट, जो देवों मनुष्यो तथा पशुओ की योनियो में मिलती है, इन तीनो गुणो के प्राधान्य के अन्तर्गत किये गये कर्मों के फल मानी जाती है (पृ० ६५ टि० २)। साख्य दर्शन के तीनों प्रमाण भी १२.१०५ में स्पष्टतः उक्त हैं—

यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के तीन साधन या प्रमाण है; इन्द्रिय द्वारा ज्ञान (प्रत्यक्ष), अनुमान तथा वेद (शब्द) या इस पर आधृत विभिन्न ग्रन्थ—कर्तव्य का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति को इनका सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना चाहिए (देखिए इस ग्रन्थ का पृ० ७१, ९०)

यद्यपि साख्य का बीज स्पष्टत. ढूंढा जा सकता है तथापि विश्वदेवतावादी विचारो का स्पष्ट मिश्रण है जो प्रायः यह कहकर कि सभी सत् पदार्थ ब्रह्म या विश्वात्मा से उत्पन्न होते हैं और अन्ततोगत्वा उसी मे विलीन हो जाते है, वेदान्त की ओर अग्रसर होता है। जीवात्मा तथा परमात्मा का भेद (दे० पृ० ५९) ८.९१ में स्वीकृत किया गया है और इसकी दो पक्षियो वाले वैदिक रूपक (इस ग्रन्थ के पृ० ४१ पर उद्धृत) का सन्दर्भ देते हुए व्याख्या की गई है। इन सबके होते हुए मनु मे हम जिस परवर्ती दार्शनिक मतो में पाये जाने वाले तथ्य को नही पाते, वह है सूक्ष्म भूतो से निर्मित सूक्ष्म शरीरों की स्पष्ट परिभाषा तथा जीवात्मा के साथ उसके संबन्धो तथा सभी जन्मान्तरो मे आत्मा के साहचर्य का स्पष्ट मन्थन। स्थूल शरीर का नाश हो जाने पर आत्मा के अस्तित्व का शेष निःसन्देह स्पष्टतः अन्तर्निहित है; किन्तु मनु का सिद्धान्त यह है कि यदि एक व्यक्ति जीवन मे दुष्कर्मी रहा हो तो वह आत्मा होकर, स्थूल तथा दूषित तत्त्वो से निर्मित एक प्रकार के शरीर से आवेष्ठित होकर इस शरीर के साथ नरक मे कुछ काल के लिए यातना भोगता है (१२.२१); जब कि यदि कोई मनुष्य धर्मात्मा रहा होता है तो आत्मा पृथ्वी, वायु तथा अग्नि के कणो से निर्मित एक प्रकार के आकाशीय एवं प्रकाशमय शरीर (ख-शरीरी) से युक्त होकर इसके साथ कुछ काल के लिए स्वर्ग के सुख का उपभोग करता है (४.२४३; ६.९३; २.८२; १२.२०)। इसके बाद दोनो, अधर्मी तथा सद्गुणी व्यक्ति, पुनः जन्म लेते हैं।

ब्रह्मन् (नपुं०) की परिभाषा वेदान्त दर्शन के अनुसार विशुद्ध परमात्मा—एकमात्र यथार्थ सत् वस्तु—के रूप मे कोई स्पष्ट परिभाषा भी नही उपलब्ध होती है। ब्रह्म को एक प्रकार का प्रकाशमय अकाशीय तत्त्व

माना गया है जिससे सृष्टि की उत्पत्ति हुई और जिसमे यह विलीन हो जाती है (तुलना २.२८; ४.२३२, ६.७९, ८.१,८५; १२ १२३–१२५)।

३ अब आचार अथवा व्यवहार के नियम एवं शिक्षायें तथा मानवो की सामाजिक विधि-व्यवस्था आती है।

१.८७–९१ मे वर्णव्यवस्था इतनी सरल है कि इसकी सरलता, यदि यह केवल सैद्धान्तिक न हो तो; स्मृति के अधिकाश भाग की प्राचीनता का प्रमाण है। अध्याय १०.३,४ के अनुसार, केवल चार ही शुद्ध वर्ण हैं (वर्णाः, पृ० २१०) यथा :—

ब्राह्मण (या पुरोहित वर्ग), क्षत्रिय (या योद्धा वर्ग), तथा वैश्य (या कृपक वर्ग) ये तीन द्विजन्मा (द्विजाति या द्विज) वर्ण हैं (जो यज्ञोपवीत सस्कार के उपरान्त द्वितीय आध्यात्मिक जन्म प्राप्त करते हैं। शूद्र (या सेवक-वर्ग) का केवल एक वार जन्म होता है (एक–जाति) और यह चतुर्थ वर्ण है। इनके अतिरिक्त कोइ पाँचवाँ वर्ण नही है ।

जन्म की प्राथमिकता, उत्पत्ति की श्रेष्ठता से (स्रष्टा के सुख से उत्पन्न होने के कारण), वेद के अधिकारी होने से (नियमस्य [=वेदस्य] धारणात्, अर्थात् इसके अध्ययन, अध्यापन एवं विवेचन का अधिकारी होने के कारण) और यज्ञोपवीत संस्कार मे (जो वारह सस्कारो में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है जैसा कि २२ ७ इत्यादि मे वताया गया है) भेद के कारण ब्राह्मण सभी वर्णों का स्वामी (प्रभु) है (१०.३,.) ।

वेद में इस चतुर्विध विभाजन का एकमात्र उल्लेख पुरुषसूक्त (ऋग्वेद् १० ९०,१२) में मिलता है, जो, जैसा कि हम देख चुके हैं (पृ० २४) ऋग्वेद के सर्वाधिक अर्वाचीन सूक्तो मे से है ।

इसी प्रकार का श्रेणियो या व्यावसायिक वर्गों मे विभाजन प्रायः सभी देशो मे प्रचलित पाया जाता है।[1]

[1] मेगास्थनीज ने (स्ट्रावो की 'इण्डिया' पृ० ३९) के अनुसार), जो सिल्यूकस निकाटोर (यूफ्रीटीज़ तथा इण्डस के वीच का ३१२ ई० पू० में सिकन्दर का अधिकारी) का सैण्ड्रोकोट्टस (चन्द्रगुप्त) के दरवार मे पाटलिपुत्र मे राजदूत था, हिन्दू जाति को सात वर्गो में वाँटा है :—दार्शनिक व्यक्ति, कृपक, गड़ेरिया, व्यापारी या कारीगर, सैनिक, दूत या अधीक्षक तथा राज्य के मन्त्री; इसका कारण शायद यह है कि हेरोडोटस ने मिस्र के निवासियों को सात वर्गों में वाँटा था : पुरोहित, सैनिक, गोपालक, सूअर पालनेवाले। प्लेटो ने केवल पाँच विभाजन किये हैं और स्ट्रावो ने केवल तीन। प्लेटो के टिमेउस Tmaeus (६) से यह प्रतीत होता है

मनुस्मृति के उसी दशम अध्याय मे अधिक विकसित सामाजिक व्यवस्था का चित्रण है तथा मिश्रित वर्णो (वर्णसंकर, संकरजातीयाः १०.१२) को विशुद्ध वर्णों मे पारस्परिक विवाह-सम्बन्ध से उत्पन्न कहा गया है[१] :

कि एथेन्स के निवासियो मे भी एक इसी प्रकार का वर्गीकरण विद्यमान था। पुन हेरोडोटस के एक अंश (१.१०१) से यह निष्कर्ष निकलता है कि इसी प्रकार का भेद मेडीज़ मे भी था। माल्कम के हिस्ट्री आफ पर्शिया (१.२०६) मे फारसी सम्राट् जमशीद के विषय मे कहा गया है कि उसने फारस निवासियो को चार वर्णो मे बाँटा। श्री मिल भी प्लेटो की 'रिपब्लिक' के एक ज्ञानपूर्ण अश (२.११) की ओर सकेत करते हैं जिसमे एक राजनीतिक संघ के सरलतम रूप का वर्णन करते हुए वह उसमे मनुष्यों को चार या पाँच वर्गों मे बाँटता है ; अन्ततः हम मिल्लर के 'हिस्टारिकल विउ आफ दि इग्लिश गवर्नमेण्ट (१.११) मे यह पढ़ते हैं कि एंग्लो-सैक्सन जाति मूलतः चार प्रमुख वर्गों मे विभक्त थी—कारीगर तथा व्यापारी, कृषक, सैनिक तथा पादरी।

[१] श्री डब्ल्यू० एफ० सिन्क्लेयर ब्राह्मणो के विविध उपविभागो या उपवर्णों के विषय मे ('इण्डियन ऐन्टिक्वेरी' के फरवरी तथा मार्च के अंको मे) कुछ रोचक विवरण देते है और उस समय दक्षिण भारत मे पाई जानेवाली चालीस सकरजातियो की सूची भी देते हैं। ब्राह्मणों मे वह सर्वोपरि छित्पावन (अर्थात् मेरे विचार से 'चित्र-पावन' या हृदय की शुद्धि करनेवाले) या कोङ्कणस्थ (कोङ्कण–स्थ), ब्राह्मणो को रखते है, जिस जाति के विठूर के नाना साहब थे। तब 'देशस्थ' (देश + स्थ) या ऋग्वेदी ब्राह्मण आते हैं जो अपनी उत्पत्ति ऋषियो से बताते है और अपने को पद मे सबसे ऊँचा कहते है; तब यजुर्वेदी, जो मुख्यतः व्यापार मे लगे हैं, देब्रुख (?) जिनमे अधिकाश कृषिकर्म करते हैं। दक्षिण भारत मे कर्नाटक के तेलंगी (अर्थात् तेलिङ्गी, संस्कृत के त्रिलिग से व्युत्पन्न) ब्राह्मण भी है, जो प्रधानतः व्यापार में लगे हैं; कन्नौजी ब्राह्मण (जो हिन्दुस्तान के हैं) स्थानीय सेनाओ मे सिपाही अथवा रेलवे के कर्मचारी हैं। इनके अतिरिक्त कुछ और जातियाँ भी हैं। श्री सिन्क्लेयर द्वारा गिनाई गई चालीस सकरजातियो मे मैं यहाँ कुछ का विवरण अपनी टिप्पणी सहित देता हूँ—प्रभु (सस्कृत प्रभु) जो इनमे सबसे ऊँचे तथा कायस्थ और पतणे (?) वर्गो मे विभक्त है; सोनार (सुवर्णकार) जिनकी एक शाखा रथकार सोनार है जो अपने को ब्राह्मण जाति का बताते हैं (तुलना पृ० १५५ टि० २); वाणी (वनिआ, बनिआन = वनिया, संस्कृत वणिक्) जो दूकानदार तथा अन्नविक्रेता हैं और पशुओ के जीवन के प्रति महान् भक्ति प्रदर्शित करते हैं; **भाटिया**, वस्त्र तथा रुई के व्यापारी; **खत्री**, जो अपने को राजपूत (= क्षत्रिय) जाति

वर्णों के परस्पर अवैधानिक विवाह-सम्बन्ध ('व्यभिचारेण वर्णानाम्') से, ऐसी स्त्रियों के साथ विवाह करने से जिनके साथ विवाह करना निषिद्ध है तथा अपने कर्तव्यों की अवहेलना से संकरजातियाँ उत्पन्न होती हैं' (१०.२४)

इनके अनेक प्रकार के नाम हैं, यथा मूर्धावसिक्ता, माहिष्य, करण या कायस्थ, अम्बष्ट या •वैद्य, आयोगव, विग्वण, पुक्कस, चण्डाल, और इनके विशिष्ट व्यवसाय नियत कर दिये गये हैं। फिर भी हिन्दू विधिशास्त्रकरो की व्यवस्था मे ब्राह्मणो का प्राधान्य ही केन्द्र है जिस पर सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था घूमती है। तत्त्वतः इसमे चित्रित समाज की अवस्था विशुद्ध तथा मिश्रणरहित ब्राह्मणधर्म की है—ऐसी अवस्था जिसने यदि उस ब्राह्मणीय दम्भ का वास्तव मे समर्थन किया जिसे प्रचलित बताया गया है तो वह बौद्ध प्रतिक्रिया का कारण होने से भी कही बढ़कर है। ब्राह्मणो को वह विशाल केन्द्रीय जनसमुदाय बना दिया गया है जिसके चारो ओर सभी दूसरे वर्ण तथा प्राणियो की व्यवस्थाएँ उपग्रहो के समान परिक्रमा करती हैं। उन्हें न केवल सर्वोच्च गौरव एवं महत्व से संयुक्त किया गया है अपितु उन्हे एक साथ बाँध भी दिया गया है और उनकी स्थिति को निरन्तर कठोर नियमो द्वारा सुरक्षित कर दिया गया है; जबकि योद्धाओ, कृषको एवं सेवकों के अन्य तीन वर्णों को समान कठोर विधानो द्वारा संगठित विरोध के निमित्त दुर्बल बना दिया गया है; एक वर्ण के बीच अभेद्य दीवालें खड़ी करके उन्हे पृथक् कर दिया गया है।

हमे इस धारणा से सतर्क रहना चाहिए कि एक ब्राह्मण केवल पुरोहित रूप मे ही अगुआ होने का दावा रखता था। ब्राह्मणीय प्राधान्य के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए हमे इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए कि कौन-सी भौतिक तथा नैतिक शक्तियो ने उस प्रथम प्रतिक्रिया को जन्म दिया

का बताते है किन्तु वस्त्र, स्वर्ण तथा चाँदी और हारों के विक्रेता हैं; **वैश्य**, जो अपने को मौलिक वैश्य जाति का अवशिष्ट अंश बताते है तथा व्यापारी हैं; **'मारवाड़ी'** व्यापारी; **सिम्पी**' या दर्जी; **सूतर** (सूत्रधार) या बढई; **'सिकलगर'** (सैकल-गर) खरादनेवाले तथा हथियार तेज करनेवाले; **लोहार** (=लोह-कार); **तेली** (= तैली, तैलिन् से) या तेल बेचनेवाले; **कोष्टी** तथा साली, जुलाहे, थे। **कुम्भार** (= कुम्भकार) या मिट्टी के पात्र बनानेवाले; **कोली** जो भिश्ती या पानी ढोनेवाले हैं; **'परीत'** या धोबी; **लोणारी** (= लवणकारी) नमक तथा चूना एवं चारकोल बनानेवाले; **'रंगारी'** (रङ्गकारी) या रंगरेज; छम्भार (चर्मकारिन्) या चमड़ा काटनेवाले और जूता बनानेवाले, इत्यादि।

जिसका अन्त सामाजिक भेदो के वर्णव्यवस्था के रूप में प्रस्फुटित होने के साथ हुआ ?

यह संभव प्रतीत होता है कि वर्णो के बीच कठोर सीमाओं का निर्माण किसी पूर्वनिर्मित योजना की अपेक्षा क्रमिक तथा स्वाभाविक समायोग का परिणाम था। इसमे सन्देह नही कि जब आर्य हिन्दुओं ने देशान्तराधिवासियों एव विजेताओ के रूप मे भारत मे प्रवेश किया तो उनके वर्णों की कोई क्रमबद्ध व्यवस्था नही थी। उनका प्रथम निवासस्थान पजाब मे सिन्धु नदी की पाँच प्रमुख धाराओ के चारो ओर तथा दिल्ली के पडोस मे था। यह क्षेत्र नदियों द्वारा सीचे जाने से उर्वर था।[1] अतएव ऐसा हुआ कि यद्यपि मध्येशिया के किसी क्षेत्र मे स्थित अपने मूल निवासस्थान पर वे संभवतः आधे खानाबदोश और आधे कृषक थे तथापि जब वे अच्छी तरह से हिन्दुस्तान मे बस गये तो एक कृषक जाति बन गये।[2] पृथ्वी भी उपजाऊ होने के कारण कृषको की आवश्यकताओं से अधिक अन्न उत्पन्न करती थी। अतएव, अतिरिक्त उत्पत्ति के कारण कृषिकर्म से इतर कर्म करनेवालो की एक विशाल जनसख्या का उदय हुआ। इनमे से कुछ व्यापारो तथा औद्योगिक कलाओ के विकास मे लग गये, और दूसरे लोग इन तीन व्यवसायो मे से किसी एक मे : १. मानसिक तथा धार्मिक सस्कृति; २. युद्ध सम्बन्धी अभ्यास; ३ गृह्य सेवा।[3] नि सन्देह यह

---

[1] क्रमशः वे उस सम्पूर्ण भू भाग पर फैल गये जिसे मनु (२.२१,२२) मे 'आर्यावर्त' या आर्यो का घर कहा है। यह भू भाग विशाल मध्यदेशीय मैदान (मध्यदेश) है जो पश्चिम से पूर्व के समुद्र तक फैला और उत्तर तथा दक्षिण मे हिमालय एवं विन्ध्य पर्वतो से घिरा हुआ है। प्रथम तीन वर्णों को केवल इसी क्षेत्र मे निवास करने का आदेश दिया गया है किन्तु शूद्र अपनी इच्छानुसार कही भी निवास कर सकते थे (देखिए मनु २.२१–२४)।

[2] स्वयं आर्य नाम ही, जैसा कि इस समय सभी जानते है ४ ऋ = अर् धातु से सबद्ध है जिससे 'अरत्रुम्' या हल (तु० सस्कृत 'अरित्र') शब्द बना है। यह विचित्र बात है कि ब्राह्मणो ने प्रधान वर्ण के रूप मे पृथक् होने के बाद कृषि की निन्दा क्यो की। मनु (१० ८४) का कथन है : 'कुछ लोग सोचते हैं कि कृषि एक उत्तम कार्य है, किन्तु यह इस प्रकार की जीवनवृत्ति है जिसकी सज्जनो ने निन्दा की है क्योकि लोहे के मुख वाले हल का फाल पृथ्वी तथा उसमे रहने वाले जीवों को आघात पहुँचाता है।' श्री डब्ल्यू० एफ० सिन्क्लेयर ने 'इण्डियन एण्टिक्वेरी मे बताया है कि दक्षिण भारत मे हल जोतने वालो को आधुनिक ब्राह्मण जातियाँ विशुद्ध समझती हैं।

[3] यही बात मिस्र तथा मेसोपोटामिया के उर्वर मैदानो में भी घटित हुई।

नितान्त आवश्यक था कि कृषकों के ऊपर, जिन्हे जमीन पर 'वसजाने' तथा शनै: शनै: इसके व्यवसाय का वशगत अधिकार प्राप्त कर लेने के कारण वैश्य कहते हैं, एक युद्ध-व्यवसायी मनुष्यों का वर्ग रहा होगा जो पहले युद्धाभ्यास करता था। इस प्रकार यह वर्ग अन्य आक्रमणकारियों द्वारा बलात् अधिकृत भूमि की रक्षा अथवा शासन की देख-रेख और तज्जनित अराजकता से उत्पन्न होनेवाले भयो से सम्पत्ति की रक्षा करता था। इन्हे अन्त मे क्षत्रिय नाम दिया गया, किन्तु प्राचीनतम कालो मे, जैसा की ऋग्वेद मे अभिव्यक्त है, इन्हे राजन्य या राजा से सम्बद्ध वर्ण कहते थे (पृ० २४ पर अनूदित

---

[१] आजकल उन्हे 'रैयत' (Ryat) कहते है जो अरबी के 'रैयत' अर्थात् सुरक्षित जनसमूह से बना है (धातु 'रइ', रक्षा करना)। हिन्दू शब्द 'वैश्य' उनकी मौलिक दशा का अधिक द्योतक है। यह 'विश्' धातु से बना है जिसका अर्थ है प्रवेश करना, किसी पर बैठना, जाना, अधिपत्य करना (जिससे 'वेश' अर्थात् निवासस्थान शब्द बना है)। यह 'विकस' (vicus) अर्थात् ग्राम, गृह, तथा शहरो के नामो के अन्त मे आने वाले 'विक्' (wick) के समान ही है जो मौलिक रूप मे कृषकों की बस्ती या निवासस्थान का सकेत करता है। इस कारण जब विश्' धातु का प्रातिपदिक शब्द के रूप में प्रयोग हो तो उसका अर्थ होता है 'जनसमूह का एक व्यक्ति'। वैश्य यदि कृषि के स्थान पर व्यापार करना चाहते थे तो उन्हे व्यापार करने की आज्ञा थी, किन्तु शिल्पियों एवं कर्मकारो को केवल वर्णसकरो मे ही स्थान दिया गया है। इससे प्रकट होता है कि मनु का वर्गीकरण औद्योगिक तथा यान्त्रिकशिल्पो को महत्व प्राप्त होने के पहले के समय का है, यद्यपि इनका प्रचुर विकास वैदिक काल मे भी अवश्य ही हो चुका होगा (जैसा कि डॉ० म्यूर ने टेक्स्ट्स ५, ४५०–४७२ मे दिखलाया है)। आजकल के हिन्दू ग्रामो की पद्धति मनु की स्मृति मे प्रतिबिम्बित दशा का ही विकसित रूप प्रतीत होती है। प्राय सर्वत्र ऐसे कृषको के वर्ग पाये जाते हैं जो जमीन पर अति प्राचीन काल से निर्भर हैं और जिन्होंने अपने समूह को अर्ध-निर्वाचित तथा आधा परंपरागत ग्राम प्रमुखो द्वारा शासित तथा कुछ ग्राम के अधिकारियो) (सभवत: बारह, यथा, पहरेदार, गणक, पुरोहित, अध्यापक, चिकित्सक, नापित ज्योतिषी आदि) द्वारा व्यवस्थित लघुगणतन्त्रो का रूप दे डाला था। ग्राम के चारो ओर की भूमि एक प्रकार से न्याय का विषय थी और झगडो का निबटारा वृक्षो के नीचे ग्रामवासियो की पंचायत बुलाकर किया जाता था, जब कि अनेक निम्न वर्ण वाले सेवक, जो कृषि मे रुचि नही रखते थे इस समाज से जोड़ दिये गये।

पुरुषसूक्त तथा पृ० २४ पर टि० २ देखिए)। निःसन्देह जब इस वर्ण का उदय हुआ तो ये लोग समाज के सर्वाधिक शक्तिशाली वर्ग रहे होगे; और इसमे सन्देह नही कि ये व्यवहारतः सदैव शक्तिशाली ही बने रहे होगे, हालाकि ब्राह्मणीय वर्ग बौद्धिक दृष्टि से सर्वोपरि था।[१] दो उच्च वर्णो का निकट अन्योन्याश्रय सम्बन्ध स्वय ब्राह्मणो ने ही स्वीकार किया है और यह इस तथ्य से स्पष्ट है :—

'एक क्षत्रिय ब्राह्मण के बिना वृद्धि नही कर सकता और न एक ब्राह्मण बिना क्षत्रिय के उन्नति कर सकता है। जब ब्राह्मण एवं क्षत्रिय परस्पर मिलकर रहते है तो वे इस लोक और परलोक मे भी समृद्धि प्राप्त करते हैं (९ ३२२)।

यह भी आवश्यक था कि एक ऐसा वर्ण हो जो वैयक्तिक घरेलू सेवाएं करने को तत्पर हो। इन्हे शूद्र कहा गया और यह वर्ण संभवत कुछ सीमा तक उन तूरानी जातियो के अवशिष्ट जनसमूह से बनाया गया जिन्हे आर्य हिन्दुओ ने आक्रमण करके दक्षिण की ओर खदेड़ दिया था। किन्तु यद्यपि वे सेवक थे, फिर भी, न तो दास थे और न कृषि कर्म मे लगाये गये

---

[१] क्षत्रिय नाम 'क्षत्र', राज्य, शब्द से बना है, जो संभवत १ क्षि='क्तोमे', अधिकार रखना, शासन करना, धातु से व्युत्पन्न है। इसे रघुवंश २ ५३ मे कल्पना का सहारा लेकर 'क्षतात् त्र' अर्थात् 'चोट से रक्षा करना' से व्युत्पन्न बताया गया है। मनु० १० ११९ मे कहा गया है : 'अपने शस्त्रो' से वैश्य की रक्षा करते हुए (शस्त्रेण वैश्यान् रक्षित्वा) वह उनसे उचित कर ले सकता है (धर्म्यमा हारयेद्बलिम्) जो इस प्रकार की भूमि से वस्तुत लिया जाता था।

[२] प्रश्न उठ सकता है कि क्या शूद्र (यद्यपि पुरुषसूक्त, ऋग्वेद १०.९०, १२ में मिलता है) एक विशुद्ध सस्कृत शब्द है ? कम से कम इसकी कोई सन्तोषप्रद व्युत्पत्ति नही दी गई है और इससे किसी प्राग्-आर्य जाति के लक्षित होने के विचार की पुष्टि होती है। 'शुच्' या कष्ट उठाना, तथा द्रुया दौडना धातुओ से की गई काल्पनिक व्युत्पत्ति विचारणीय नही है। उस तूरानी जाति के अतिरिक्त, जो कि अशत. आर्य जाति मे विलीन हो गई, नि सदेह अन्य आदिम जातियाँ भी थी जो पर्वतो एवं उनके उपान्त जनपदो मे निवास करती थी। उन्हे म्लेच्छ कहा गया था, क्योंकि उनमे वे अधिक असभ्य तथा असस्कृत जनवर्ग आते थे जो आर्यो से पृथक् बने रहे और उनमे घुलमिल नही सके। म्लेच्छदेश को एक ऐसा देश बताया गया है जिसमे चारो वर्ण निवास नही करते। मनुस्मृति १०.४४ मे कुछ पतित जातियो का वर्णन किया

मजदूर। वे केवल सामाजिक व्यवस्था मे निम्नतम स्थान ग्रहण करते थे। यह सत्य है कि सिद्धान्त मे (१०.१२९) उन्हे धन के किसी भी प्रकार के अतिरिक्त सचय से वचित रखा गया था तथापि, तथ्य की दृष्टि से वे कभी कभी बहुत धनी हो जाते थे और राजा भी बन बैठते थे[1] :—

जिस प्रकार एक एक शूद्र दूसरो का छिद्रान्वेषण न करके धर्मसंमत कार्य करता है उसी प्रकार दूसरो से निन्दित न होकर वह इस लोक तथा परलोक मे उच्चपद प्राप्त करता है (१०.१२८)।

पुनः अपने को ब्राह्मण[2] कहने वाले जनवर्ग का क्षत्रियो, वैश्यो तथा शूद्रो के ऊपर क्रमश. प्राधान्य प्राप्त करना बौद्धिक विकास के एक सिद्धान्त की क्रिया के कारण सम्भव हुआ प्रतीत होता है, जैसा कि विश्व इतिहास

गया है, यथा पौण्ड्रक, ओड्र, द्रविड़, काम्बोज, यवन, शक, पारद, चीन, किरात इत्यादि। चूंकि ये संभवत शक्तिशाली युद्धप्रिय जातियाँ थी अत: मनु ने इन्हे जातिच्युत क्षत्रिय बताया है। यह स्पष्ट है कि पर्वतीय किरात युद्धव्यवसायी जाति थी जो अधिक घृणा की भी पात्र नही रही होगी, क्योकि अर्जुन ने शिव से, जो किरातो के देवता माने गये हैं, अस्त्रशस्त्र की शिक्षा प्राप्त करने के लिये किरातों के बीच निवास तथा उन्ही के जीवन का आचरण किया था। मेरा किरातार्जुनीयम का वर्णन तथा जून १८७४ की इण्डियन एण्टिक्वेरी का पृ० १७८ देखिए। सबसे पतित जाति बहिष्कृत चाण्डाल या चण्डाल नाम के व्यक्ति थे (जो शूद्र पुरुष तथा ब्राह्मण स्त्री की सन्तान होते थे)। उन्हे नगरों से बहिष्कृत कर दिया जाता था जहाँ वे दिन के अतिरिक्त चल फिर भी नही सकते थे, वे केवल मृत व्यक्तियो के वस्त्र तथा जंग लगे लोहे के आभूषण आदि पहनते थे (१०.५१–५६)।

[1] प्रोफेसर कोवेल ने एल्फिन्सटन की इण्डिया, पृ० १८ की एक टिप्पणी मे यह भली भाँति दिखाया है कि शूद्र की दशा क्रीतदासों, गुलामो, तथा ग्रीक, रोमीय एव सामन्तवादी भृत्यो की दशा से उत्तम थी। पुराणो मे शूद्र-राजाओं के वशो के विवरण मिलते है और स्वय मनु ने इन पर विचार किया है। २.२३८ मे कहा गया है कि 'शास्त्र मे विश्वास रखने वाला शूद्र से भी पवित्र ज्ञान प्राप्त कर सकता है'। आजकल कई स्थानो पर खेत जोतने वालो को शूद्र माना जाता है। महाभारत मे यत्र-तत्र ऐसे अश है जो 'नैतिक आचरण की तुलना मे वर्ण व्यवस्था तथा वैदिक ज्ञान की भी निन्दा करते है। तुलना शान्तिपर्व का राजधर्म।

[2] कुछ विद्वानो के अनुसार 'ब्रह्मन्' शब्द का मौलिक अर्थ है प्रार्थना या आत्मा मे व्याप्त तथा भरी हुई भक्तिविषयक चेतना (धातु 'बृह' या वृह)।

के सभी कालों मे सभी राष्ट्रों में उनकी सभ्यता की ओर अग्रसर होने मे सामान्यतः होता रहा है। इन लोगों मे जो बुद्धि से श्रेष्ठ थे उन्होंने उस धार्मिक प्रवृत्ति के विकास से लाभ उठाया जो सामान्यतः राजनीतिक विकास के साथ ही पाई जाती है तथा अपने को धर्मोपदेशको के वर्ग के रूप मे सगठित करके और बाद मे पुरोहित बन बैठे। धर्म अथवा ईश्वर के भरोसे रहने की मति तथा उसे प्रसन्न करने की इच्छा सदैव से हिन्दू स्वभाव का एक विशिष्ट लक्षण बना रहा है। अतएव भारत मे पुरोहितों का वर्ग असाधारण तीव्रता से बढता गया जिस कारण पुरोहित वर्ग मे अधिकांश व्यक्ति विना व्यवसाय के रह गये और लौकिक व्यवसायो मे लगने को बाध्य हुये। इस प्रकार ऐसा हुआ कि यद्यपि सभी पुरोहित ब्राह्मण थे तथापि सभी ब्राह्मण अनिवार्यतः पुरोहित नहीं थे। यह भी सम्भव नही था कि ब्राह्मणो को अंशतः ऐहलौकिक रूप देने पर गूढ वैदिक कर्म दीर्घ काल तक अक्षुण्ण रह सके होंगे। कुछ सामाजिक यज्ञो यथा अग्निष्टोम का अनुष्ठान अब भी होता था किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थो द्वारा प्रतिपादित तथा समय-समय पर किये जाने वाले अधिक गूढ कर्म, जो लम्बे समय तक चलते थे और जिनके उचित अनुष्ठान के लिए विभिन्न सोलह वर्गो के पुरोहितो की आवश्यकता पडती थी[१], यदि पूर्ण रूप मे नही तो अंशतः प्रयोगबाह्य हो गये थे। अन्य वर्णो के ऊपर शक्ति बनाये रखने के लिए यह आवश्यक पाया गया कि कुछ पौरोहित्यकर्म बने रहने दिये जायँ। उच्चकोटि के याज्ञिक अनुष्ठानो की उपेक्षा के अनुपात मे ही वेद के ज्ञान तथा गृह्य कर्मों के सम्पादन पर उत्तरोत्तर अधिक बल दिया जा रहा था जिनके लिए एक पुरोहित की शिक्षा एवं अधीक्षण की आवश्यकता पडती थी।

२.८४, ८५ मे यह कहा गया कि सभी वैदिक कर्म, अग्निहोम तथा पवित्र यज्ञ, शनैः-शनैः लुप्त होते जाते हैं किन्तु वेद का पाठ, विशेषतः चार रहस्यमय अक्षरो सहित गायत्री का जप, विधिविहित यज्ञ से दस गुना अधिक उत्तम होता है।

अतएव बाद मे इसका अर्थ 'वेद' अर्थात् पवित्रज्ञान हो गया जिस अर्थ में मनु ने प्राय. प्रयोग किया है। इसी प्रकार 'ब्रह्मन्' या 'ब्राह्मण' का मौलिक अर्थ 'प्रार्थना करने वाला' और बाद मे 'धर्मोपदेशक' हुआ। 'ऋत्विज्' अर्थ इन शब्दों में उस समय तक नही जोडा गया था जब तक कि याज्ञिक विचार हिन्दू मस्तिष्क मे पूर्णतः विकसित नहीं हुए थे। यह सोचना भ्रम है कि 'ब्राह्मण' तथा 'ऋत्विज' पर्यायवाची शब्द है। ब्राह्मण तो बल्कि 'प्रथम वर्ण के व्यक्ति' है।

[१] इन सबके नाम मेरी 'संस्कृत अंग्रेजी डिक्शनरी' मे 'ऋत्विज' के अन्तर्गत देखिए पृ० १८१ कालम १।

इन कर्मो के लिये योग्य पुरोहितो के विभिन्न कर्तव्यों एवं भागो का भी विधान मनुस्मृति करती है। यथा—

'कुछ ब्राह्मण (परमात्मा का) ज्ञान प्राप्त करने मे दत्तचित्त हैं; दूसरे तपस्या करने मे सलग्न हैं (तपोनिष्ठाः); उनसे भी दूसरे तपस्या और वेदपाठ के मिश्रित कर्म मे लगे हुए हैं; तथा अन्य लोग यज्ञ के कर्मो मे जुटे है।' (३ १३४)

'जिसका वरण पवित्र अग्नि की रचना करने, पाकयज्ञ का (पृ० १९७ टि०) निर्देश करने, अग्निष्टोम[1] तथा अन्य यज्ञो का अनुष्ठान करने के लिए किया जाता है वह यजमान का ऋत्विज् कहलाता है।' (२.१४३)

जो अपने शिष्य का यज्ञोपवीत करके वाद मे उसे यज्ञ की विधि (सकल्पम्[2]) तथा उपनिषदो सहित सम्पूर्ण वेद की शिक्षा देता है वह आचार्य कहलाता है (२.१४०)

जो जीविका के लिये वेद या वेदाग (यथा, व्याकरण आदि) के किसी एक भाग की शिक्षा देता है वह उपाध्याय कहलाता है (२.१४१)

जो ब्राह्मण गर्भधारण इत्यादि के अवसरो पर नियमानुसार सस्कार करता है तथा जो बच्चे को अन्न खिलाता है (अर्थात् छठें महीने मे अन्नप्राशन करता है (देखिए १.३४ तथा इस ग्रन्थ का पृ० १९४) गुरु[3] कहलाता है (२.१४२)।

मनु ने क्षत्रिय वर्ण से मेल रखना आवश्यक समझा। राजाओं की सर्वोच्च प्रशस्तियाँ की गईं किन्तु ब्राह्मण उनके परामर्शदाता बनते थे और न्याय की बहुत शक्ति तथा विधियो की व्याख्या अपने हाथो मे रखते थे। वे सिद्धान्ततः

---

[1] अग्निष्टोम पाँच दिन की अवधि का दीर्घकृत यज्ञ है जिसे स्वर्ग की इच्छा इच्छा रखने वाला व्यक्ति करता है। यह या तोज्योतिष्टोम का एक अंग है या। उसी का परिवर्तित रूप और प्राचीन कालो में इसमे सोलह ऋत्विजो की आवश्यकता होती थी।

[2] अर्थात्, सम्भवत. 'कल्पसूत्र'।

[3] गुरु उपाधि सामान्यत· सभी आध्यात्म के उपदेशको के लिए प्रयुक्त किया गया प्रतीत होता है, तु० पृ० २४५। इसे कभी-कभी मीमासा के एक आचार्य 'प्रभाकर' के विविक्त विशेषण के रूप मे भी लाते है। इस आचार्य का का नाम प्राय· कुमारिल के साथ आता है जिन्हे इसी प्रकार से 'भट्ट' की उपाधि दी गई है। याज्ञवल्क्य १.३४ के अनुसार, गुरु ऐसा व्यक्ति होता है जो वेद का उपदेश देता है जब कि आचार्य वह व्यक्ति होता है जो यज्ञोपवीत करता है। इसी प्रकार पंजाब मे ग्रंथ के शिक्षको (ग्रन्थी) को गुरु कहते हैं

सदैव पदेन सर्वश्रेष्ठ थे । इस स्थिति ने अन्त मे दोनो वर्णों मे परस्पर ईर्ष्या, उपद्रव, तथा उभयपक्ष का संहार करने वाले युद्ध को भी जन्म दिया । कतिपय विशेषाधिकार स्वभावतः वैश्यो को भी मिले और वे तथा क्षत्रिय दोनो ही ब्राह्मणो के साथ समान रूप से 'द्विज' नाम के अधिकारी हुए । उनका सम्पूर्ण पद-गौरव विविध गृह्य-कर्मों पर आश्रित था जिनके उचित अनुष्ठान के लिये ब्राह्मण का अधीक्षण अपरिहार्य था । तथापि, इस प्रकार पुरोहित-कर्म को महत्व तथा गौरव प्रदान किये जाने पर भी, मनुस्मृति के अनुसार, एक ब्राह्मण जन्मना तथा दैवी अधिकार द्वारा—व्यवसाय या स्वय उत्थान करने से नही—सभी प्राणियो मे शीर्षस्थ था । वह जन्मसिद्ध अधिकार के रूप में वंशपरम्परा से केवल प्रमुखता ही नही प्राप्त करता था प्रत्युत उसकी रचना स्वयं महान् स्रष्टा की आज्ञा से मानव जीवन के नेता रूप मे हुई थी—वह मानव शरीर मे एक प्रकार का देवता होता था ।

अध्याय १ ८७ मे ब्राह्मण को ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न बताया गया है, जैसे कि क्षत्रिय उसकी बाहुओं से, वैश्य उसके जघे से तथा शूद्र उसके पैरो से उत्पन्न हुए । सक्षेप मे मनु का मत यह है कि वर्णों का भेद तथा एक वर्ण का अन्य तीन वर्णों से नैसर्गिक प्राधान्य उसी प्रकार प्रकृति का नियम तथा दैवी विधान था जिस प्रकार शारीरिक रचना के अनतिक्रम्य अन्तरों से युक्त हाथी, सिंह, अश्व तथा कुत्ते जैसे पशुओ के पृथक् वर्गों की रचना हुई ।

ब्राह्मणो ने देवताओ से कम प्राधान्य नही प्राप्त किया यह बात अनेक श्लोको से स्पष्ट है । मै यहाँ कुछ चुने हुए श्लोक देता हूँ —

यत ब्राह्मण की उत्पत्ति सर्वोत्तम् अग से हुई, यत' ये ज्येष्ठता से उत्पन्न होने वाली प्रमुखता से युक्त है और यत' ये वेद का ज्ञान रखते है, अतः ये सम्पूर्ण सृष्टि पर अधिकार रखने वाले स्वामी (प्रभु) है (१.९३; देखिये इस ग्रन्थ का पृ० २२१ भी) ।

'एक ब्राह्मण चाहे विद्वान हो या मूर्ख एक महान देवता (दैवतम् महत्) होता है, जिस प्रकार अग्नि चाहे वह प्रणीत हो या अप्रणीत एक महान देवता होता है ।' (९.३१७)

ब्राह्मण जब सभी प्रकार के तुच्छ कर्मों (अनिष्टेपु) मे भी लगा है, तब भी उसका सभी अयस्थाओ मे सम्मान करना चाहिए, क्योंकि उसे महान् देवता समझना चाहिए (परम दैवतम् ९.३१९) ।

केवल उच्च जन्म के कारण ही (सम्भवेनैव) देवताओ मे भी (देवानामपि) महान् देवता माना जाता है । उसकी शिक्षाओ को सभी लोगो को आमोघ

प्रमाण के रूप मे स्वीकार करना चाहिए, क्योकि स्वयं वेद (ब्रह्म) ही उसका (मान्य होने का) कारण है (११.८४)।

ब्राह्मणो को इस प्रकार प्रदत्त दैवी स्वरूप के साथ ही उन्हे नितान्त उग्र एवं भयकर स्वरूप की शक्तियो से भी उक्त बताया गया है।

'यदि राजा (कर ग्रहण के अभाव से) कष्ट मे भी पड़ा हो तब भी वह एक ब्राह्मण को (उससे कर ग्रहण कर) कुपित न करे; क्योकि यदि ब्राह्मण एक बार कुपित हो जाता है तो वह तत्काल ही (शाप एव शक्तिशाली मन्त्र के उच्चारण से) उसे सम्पूर्ण सेना और परिजनो सहित नष्ट कर सकता है।

कौन व्यक्ति बिना अपने ऊपर विनाश को बुलाये, उन लोगो को क्षुब्ध कर सकता है जिनके वचनो ('अभिशापेन', कुल्लूक) से सर्वभक्षणकारी अग्नि की उत्पत्ति हुई, जिन्होने अपेय समुद्र को ही सोख लिया[1] और क्षीण चन्द्रमा को पूर्ण बना दिया ('आप्यायितः पश्चात् पूरित' ९.३१३,३१४)?'

कौन राजा उसे दबाकर अपना कर बढ़ा सकता है, जो यदि क्रुद्ध हो जाय तो दूसरे लोगों तथा लोकपालो की रचना कर डाले, नये देवताओ एव मनुष्यो की सृष्टि कर डाले ? (९.३१५)।

---

[1] यह अगस्त्य की कथा की ओर निर्देश करता है, जिसके विषय मे कहा जाता है कि उन्होने सम्पूर्ण सागर को पी लिया और बाद मे अगस्त्य (कैनोपस) तारा के क्षेत्र मे जा पहुँचे। इस कथा के विस्तार का अधिकाश भाग बाद मे जोड़ा गया होगा।

[2] यह चन्द्रमा की कथा की ओर संकेत करता है। उसके श्वसुर दक्ष ने उसे पन्द्रह दिनों के लिए इस लिए क्षीण कर दिया था कि वह दक्ष की पुत्रियो मे, जो उसकी पत्नियाँ थीं, रोहिणी के प्रति अधिक पक्षपात रखता था। चन्द्रमा के पाश्चात्ताप करने पर उसका नष्ट हुआ बल तथा आकार पुन प्राप्त हो गया मनुस्मृति ९ १२९ मे कहा गया है कि मनु ने अपनी दस पुत्रियो को धर्म को दिया, तेरह को कश्यप को तथा सत्ताइस को सोम या चन्द्रमा को दिया। दक्ष की पुत्रियो की कथा (मनु के कई अन्य उल्लेखो के समान ही) तैत्तिरीय संहिता २ ३, ५ मे पाई जाती है:— 'प्रजापति के तैंतीस पुत्रियाँ थीं, उन्हे उन्होने सोम राजा को दिया। सोम उनमे केवल रोहिणी के पास जाता था। दूसरी ईर्ष्या के मारे [अपने पिता के पास] लौट आईं। सोम उनके पीछे गये, उन्हें ढूंढा किन्तु उन्होने (पिता ने) उन्हे फिर सोम को नही दिया। उन्होंने कहा कि यह शपथ लो कि तुम उनके पास भी समान रूप से जाओगे, तब मैं उन्हे फिर तुम्हे दे दूंगा।' सोम ने शपथ ली; प्रजापति ने उन्हें लौटा दिया। फिर भी वह उनमे रोहिणी के पास जाता था। राजा सोम को क्षय रोग ने पकड़ लिया। इस प्रकार राजयक्ष्मा की उत्पत्ति हुई।

धर्म का ज्ञान रखने वाले ब्राह्मण को (यदि उसे कोई आघात पहुँचा हो) तो राजा के निकट निवेदन करने की आवश्यकता नही पडती, क्योकि वह अपनी शक्ति से (स्ववीर्येण) आघात पहुचाने वालो को दण्ड दे सकता है (शिष्यात्)। उसकी अपनी शक्ति ही राजा की शक्ति से बढ़कर होती है अतएव अपनी शक्ति से एक ब्राह्मण अपने शत्रुओ को दबा सकता है ('निगृह्णीयात्')। वह बिना सकोच के अथर्वन् एवं अङ्गिरस् (अथर्वाङ्गिरसी', देखिए पृ० ११ टि०) को प्रकाशित पवित्र मन्त्रो (श्रुती) का (अभिचार मन्त्रो के रूप मे) प्रयोग कर सकता है, क्योकि मन्त्रो का पाठ (वाक् = अभिचारमन्त्रोच्चारणम्) ही ब्राह्मण का शस्त्र है, जिसके द्वारा वह अपने शत्रुओ का नाश कर सकता है (११ ३१-३३)।

ब्राह्मण को आघात पहुँचाने और उसकी हत्या के पाप के भयंकर परिणाम होते हैं, यथा —

जो हत्या के अभिप्राय से केवल एक ब्राह्मण पर आक्रमण करता है सौ वर्षों तक नरक ('नरकम्') में पड़ा रहता है; जो वस्तुत: उसे आघात पहुँचाता है वह एक हजार वर्षों तक नरक भोगता है (११.१०६; तुलना ४.१६५ से भी जहाँ यह कहा गया है कि जिस नरक की उसे प्राप्ति होगी और जिसमे वह निरन्तर भटकता रहेगा उसे 'तामिस्र' या घोर अन्धकार कहते हैं)।

ब्राह्मण का रक्त धूल के जितने कणो (प्राशून्) में पहुँचाता है उतने हजार वर्षों तक उस रक्त को बहाने वाला नरक मे निवास करता है (११.२०७)।

उपरोक्त विवरण को हम हिन्दू समाज के सर्वोच्च वर्ण द्वारा अधिकृत शक्तियो एवं पद का एक अतिरञ्जित वर्णन कह सकते है और नि.सन्देह स्मृतिकार प्राय: उन वस्तुओ की दशाओं का आदर्श चित्र उपस्थित करता है जिनका वस्तुत. अस्तित्व न तो था और न होने की संभावना थी; जिस प्रकार इगलैण्ड मे हम यह कहते है कि सम्राट् कोई गलती नही कर सकता। तथापि ब्राह्मणो के विषय मे हम इस स्वरूप को मुख्यत: यथार्थ मानने के लिए वाध्य हैं। कुछ दिन पूर्व एक प्रमुख जर्नल मे एक ईसाई वन जाने वाले ब्राह्मण की शिक्षाओ का विवरण प्रकाशित हुआ था जिसमे उपदेश का यह कथन था कि आज-कल के ब्राह्मण 'स्रष्टा को स्थान से हटाकर उसका स्थान स्वय ग्रहण करने का' दम्भ करते है। अपरंच उसने ही (देशवाशियो) अनुयायियो को लोभ के साथ चरणोदक का पान करते हुए देखा था[1] और स्वयं भी इस प्रकार का देवतुल्य आदर प्राप्त किया था।

---

[1] रेवरेण्ड नारायण शेपाद्रि [विष्णु के आसन, शेष नाग के सर्पो जैसी कुण्डली से व्युत्पन्न एक मराठी नाम], जिन्होने 'ईस्टर सण्डे' ५ अप्रिल १८७४

यह प्रश्न उठ सकता है कि ब्राह्मण, जो इस प्रकार के गौरव के बोझ से लदा हुआ था और व्यवसायो से वेद के अध्ययन एवं अध्यापन तथा धार्मिक कृत्यो के सपादन के अतिरिक्त सभी दूसरे कर्मों से सिद्धान्ततः अलग था, किस प्रकार अपना भरण-पोषण करता था ? इसका उत्तर यह है कि वह वेद के सभी पाठो एवं याज्ञिक कर्मों की सफलता को' उनमे दी जाने वाली दक्षिणाओ पर आश्रित करके अपनी भौतिक सुख-सुविधा की व्यवस्था का ध्यान रखता था :—

कम दक्षिणा से किया गया यज्ञ (अल्पदक्षिण.) इन्द्रियो, यश, स्वर्ग, जीवन, कीर्ति, सन्तान तथा पशुओ का नाश कर देता है; अतएव कोई भी ऐसा व्यक्ति यज्ञ न करे जिसके पास प्रभूत दक्षिणा देने के लिए धन नही है (११.४०) ।

मनुष्य अपनी सामर्थ्य के अनुसार वेद का ज्ञान रखने वाले तथा संसार से विरक्त रहनेवाले ब्राह्मणो को धन दे । ऐसा करने पर वह मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग पाता है (११ ६)

राजा यदि (दरिद्र होकर) मरता भी हो, तब भी उसे वेद का ज्ञान

को (केन्सिंगटन पार्करोड के प्रेस्बिटेरियन चर्च मे) एक उपदेश दिया जिसका विवरण दूसरे दिन के 'डेलीन्यूज' में छपा । उन्होंने १३ सितम्बर १८४३ को ईसाई धर्म स्वीकार किया था । उन्हें, पिता माता, तीन भाइयों तथा तीन बहनो को छोडना पडा था । ब्राह्मणीय समाज की ऐसी दशा है कि दूसरा धर्म स्वीकार कर लेने पर मनुष्य को अपने पहले के सभी सबन्धो को तोड देना पडता है । मैं वह अश देता हूँ जो उनके उपदेश का 'अंश बताया गया है— 'वह हिन्दुत्व से खाली है । इस धर्म ने मुख्यतः विचित्र चमत्कारो का वर्णन किया । उदाहरणार्थ यह कहा जाता है कि एक महर्षि ने सभी समुद्रो को तीन घूंट मे पी डाला और बाद में इस चमत्कार के कारणो उसे तारो के बीच स्थान मिला । किन्तु हिन्दू धर्म का एक दार्शनिक तथा एक प्रचलित रूप भी था । नास्तिक और आस्तिक स्वरूप भी थे । दूसरे, अर्थात् ईश्वरवादी मत, के भारत मे उतने ही समर्थक हैं, जितने इस देश मे, जर्मनी में, तथा सयुक्त राज्य मे । उन्होंने ब्रह्म के विश्वदेवतावादी विचार का अधिक विवेचन किया जो मनुष्य के उत्तरदायित्व की उपेक्षा करता है । वस्तुतः मनुष्य के पाप ईश्वर के पाप हो गये और शनैः शनैः उपदेशक ने यह मान लिया कि यह मिथ्या धर्म था ।

' यह आज भी पाया जाता है; क्योंकि मई १८७४ की 'इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' मे रामकृष्ण भाण्डारकर लिखते है कि दक्षिण के लिए वेद का

रखने वाले ब्राह्मण से कर नही लेना चाहिए और इस प्रकार का ब्राह्मण यदि उसके राज्य मे रहता हो तो उसे भूख से व्याकुल नही होने देना चाहिए। जिस राजा के राज्य मे वेद का ज्ञानी ब्राह्मण भूख से कष्ट पाता है उसके सम्पूर्ण राज्य मे शीघ्र ही अकाल पड जाता (७.१३३, १५४)।

'संसार मे जो कुछ भी है वह ब्राह्मण की सम्पत्ति है' (१.१०४)

अपरञ्च, जब ब्राह्मण जाति मे वृद्धि होने के कारण अनेक ब्राह्मणो को लौकिक व्यवसायो मे लगना आवश्यक हो गया तो उन्हे दूसरे वर्णों के कर्म करने की भी स्वतन्त्रता मिल गई। पहले केवल अभाव और आपत्काल मे ही इसकी आज्ञा दी गई। १२.७१; १७ ७५, ७६, ८०–८१ मे कुछ श्लोक इस विषय से सम्बद्ध नियम देते है—

जो ब्राह्मण अपने विशिष्ट कर्तव्य को छोड देता है वह इस जीवन के बाद उल्कामुख नाम के पुरीष और शव का भक्षण करने वाले प्रेत के रूप मे जन्म लेता है (१२.७१)

वेद का पाठ ('अध्ययनम्'), उसकी व्याख्या (या शाब्दिक अर्थ मे दूसरों को उसके अध्ययन की शिक्षा देना, 'अध्यापनम्'), यज्ञ करना ('यजनम्'), दान देना ('दानम्') तथा दान लेना (प्रतिग्रह), ये ब्राह्मण के छ: उचित कर्म (षट् कर्माणि) है। इन छ. कर्मों मे तीन उसकी जीविका के साधन है: यज्ञ मे सहायता, वेदाध्यायन, तथा धार्मिक दाता से (विशुद्धात्) दान लेना। ये तीन विशेषाधिकार (धर्मा) केवल ब्राह्मणो तक ही सीमित है और इन पर क्षत्रियो का अधिकार नही है (१०.७५–७७), अतएव ब्राह्मण को 'त्रिकर्मा' या तीन कर्मों को करनेवाला कहा जाता है।

ब्राह्मण के लिए सर्वाधिक उचित कर्म है वेद का अध्यापन तथा उसकी व्याख्या (वेदाभ्यास), क्षत्रिय के लिए जनवर्ग की रक्षा, वैश्य के लिए कृषि,

---

पाठ अब भी गुजरात मे तथा अधिक मात्रा मे मराठी देश और तैलगाना मे प्रचलित है। 'बहुत से ब्राह्मण देश के सभी भागो मे दक्षिणा के लिए घूमते है और अभी धनी मानी देशवासी अपनी शक्ति के अनुसार उन्हे वेद के, विशेषत. आपस्तम्ब सूत्र सहित कृष्ण यजुर्वेद के, अशो का पाठ करने के लिए नियुक्त कर दक्षिणा देते है। यहाँ बम्बई मे कोई ऐसा सप्ताह नही बीतता जिसमे कोई तैलग ब्राह्मण मुझ से दक्षिणा माँगने न आता हो।

[१] इन्हे छः विशेषाधिकार या धर्म करते है। कोकन-ब्राह्मणो का एक विशेष वर्ग इन अधिकारो से वञ्चित बताया जाता है, क्योंकि इस वर्ग के ब्राह्मण मछली खाते है।

पशुपालन तथा व्यापार (वार्ताकर्म[१])। तथापि अपने उचित कर्म द्वारा जीविका-निर्वाह करने मे असमर्थ ब्राह्मण युद्ध-कर्म द्वारा निर्वाह कर सकता है क्योकि उसके वाद यही सम्माननीय कर्म है। यदि यह पूछा जाय कि वह इन दोनो ही कर्मों मे किसी से भी निर्वाह करने मे समर्थ न हो तो कैसे निर्वाह करे ? तो इसका उत्तर यह है कि वह वैश्य का जीवन ग्रहण कर सकता है (१०.८०–८२; १०,१०१, १०२ भी देखिए, तुलना पृ० २२६ टि० १)।

यहाँ कुछ वे नियम दिये जाते है जिनके द्वारा जन्म से लेकर मृत्यु तक ब्राह्मण का जीवन वद्ध था—

प्रत्येक ब्राह्मण को चार आश्रमो में रहना होता था—अर्थात्, जैसे वह क्रमशः वढता जाता था उसी क्रम मे ही उसका जीवन चार अवस्थाओं या कालो मे विभक्त था . १ ब्रह्मचारी, २ गृहस्थ ३. वानप्रस्थ, ४. भिक्षु, (परिव्राजक या संन्यासी)। इन आश्रमो मे प्रथम दो मे उसके जीवन-बद्ध करने के लिए नितान्त सूक्ष्म उपदेश दूसरे, तीसरे, चौथे तथा पाँचवे अध्यायो मे भरे पडे हैं जिनमे बहुत से अरुचिकर विस्तार और पुनरुक्तियाँ मात्र हैं।[२]

हम ब्रह्मचारी के जीवन से प्रारम्भ करते हैं। ब्राह्मण बालक को अपने गुरु के पास उस समय तक निवास करना पड़ता है जब तक वह तीनो वेदो का पूर्ण ज्ञान नही प्राप्त कर लेता। यह निवास आवश्यक शिक्षा ग्रहण कर सकने की योग्यता के अनुसार छत्तीस वर्षों या उसके आधे अथवा चौथाई समय तक रहता है (तुलना, गृहसूत्र पृ० १९४)। वह जीवन भर ब्रह्मचारी रह सकता है (नैष्ठिक, ३.१; २.२४३)।

उसे अनिवार्यतः सभी वारह सस्कार करने होते हैं (२.२७, इत्यादि)। जिन्हे पुरुप को माता पिता से प्राप्त पापो (गार्भिकमेनस्') से शुद्ध करने वाला वताया गया है तथा कुछ-कुछ अन्तर के साथ सभी तीनो उच्च वर्णों के लिये विहित किये गये है। कुछ सस्कार बालक उत्पन्न होने के पूव किये जाते हैं और कुछ जन्म के प्रथम वर्ष मे। मैं यहाँ उन्हे गिनाता हूँ—

---

[१] 'वार्ता कर्म' शव्द के अन्तर्गत इन तीन श्लोको की कुल्लूक की टीका के अनुसार कृषि, गोरक्षा तथा वाणिज्य आते हैं। मेगस्थनीज (पृ० २२२ टि० २) का जाति विभाजन इन तीनो को पृथक् करता है।

[२] यह रोचक वात है कि मेगस्थनीज ने (स्ट्रावो १५. १, ५९) तीन शताब्दी ई० पू० मे इस पर ध्यान दिया था कि गर्भाधान के समय से ही ब्राह्मण शिक्षित पुरुषो की देख रेख मे रहते थे, और गृहस्थ बनने के पूर्व वर्ष सैंतीस वर्ष तक दर्शन के अध्येता रहते थे।

१. गर्भाधान या गर्भलम्भन, अर्थात् गर्भधारण के समय किया जाने वाला संस्कार, (पृ० १९४); २. पुसवन (पृ० १९४); ३. सीमन्तोन्नयन (पृ० १९४); ४. जातकर्म (पृ० १९४); ५ नामकर्म या नामकरण, अर्थात् जन्म के बाद दसवे या बारहवे दिन बालक का नाम रखना; ६. निष्क्रमण, चौथे महीने मे बालक को बाहर सूर्य के प्रकाश मे ले जाना (२ ३४); ७ अन्नप्राशन (पृ० १९४); ८ चूडाकर्म या चौल (पृ० १९४); ९. उपनयन (पृ०१९४); १०. केशान्त, या केश काटना जो ब्राह्मण का सोलवे वर्ष मे, और क्षत्रिय का बाइसवे वर्ष मे किया जाता है (मनु० २.६५); ११. समावर्तन, जो विद्यार्थी के गुरुगृह मे अध्ययन पूर्ण कर घर लौटने पर किया जाता है (पृ० १९७, २४०); १२. विवाह। अन्तिम स्त्रियो का प्रमुख संस्कार है; किन्तु उनके लिये अन्य संस्कारो का भी विधान किया गया है बशर्ते कि वैदिक मन्त्रो का प्रयोग न हो, जिससे सभी संस्कार किये जाते है (२ ६६, ६७)।

यह उल्लेखनीय है कि विवाह बारहवाँ संस्कार है और इस कारण यह सब के लिये एक अनिवार्य धार्मिक कर्तव्य है जो द्विजो की शुद्धि तथा पुनर्जीवन को पूरा करता है :—

ऊपर के बारह सस्कारो मे १, २, ३ तथा १० वें संस्कार कम होते है; इनके अतिरिक्त अन्य आठ अधिक ध्यानार्ह हैं। ८ वें तथा ९ वें का आज भी अधिक वैधानिक महत्त्व है और ७ वाँ अब भी किया जाता है। ७ वे तथा १२ वे शूद्रो के एक मात्र संस्कार भी है, यथा 'कर्णवेध' अर्थात् कान का छेदना तथा समय-समय पर 'सावित्री या पवित्र वैदिक मन्त्र (= गायत्री, पृ० २०) का उपदेश जिसे उपनयन के अवसर पर ही करना चाहिए परन्तु एक पृथक् संस्कार के रूप में किया जाता है।'

किन्तु इन सस्कारो मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपनयन है जिसका वर्णन गृह्यसूत्रो (पृ० १९४) मे किया जा चुका है। यज्ञोपवीत, जो पतले तीन सूतो का घेरा होता है, सामान्यत: यज्ञोपवीत कहलाता है और इसे बाये कंधे के ऊपर पहन कर दाहिने कूल्हे की ओर शरीर को तिरछे पार करते हुए लटका देते है। तीन द्विजातियो का यज्ञोपवीत धारण करना उनके द्वितीय जन्म[१] का चिह्न है। ब्राह्मणो के तीसरे जन्म का भी उल्लेख किया गया है (२ १६९)।

---

[१] इसे अब भी पहना जाता है, किन्तु 'यज्ञोपवीत' शब्द से विकृत होकर 'जनेउ' शब्द बन गया है। बंगाली में इसे 'पइता' या 'पवित्र' कहते है।

प्रथम जन्म माता से होता है; दूसरा, मौंजीमेखला (मौंजीवधने) के वन्धन पर होता है; तीसरा जन्म याज्ञिक कर्मों (यथा ज्योतिष्टोम आदि) मे वेद की शिक्षा के अनुसार दीक्षित होने पर होता है।

पहनने वालों के वर्गों के अन्तर के अनुसार पहने जाने वाले यज्ञोपतीत सूत्रो मे भी कुछ अन्तर होता है। २.४४ मे कहा गया है :—

'ब्राह्मण का यज्ञोपवीत कपास (कार्पास) का होना चाहिए और इतना बड़ा होना चाहिए कि वह उसे तीन वार घुमाकर अपने सिर पर रख सके; 'क्षत्रिय का यज्ञोपवीत सन (शण) का होना चाहिए; वैश्य का ऊन (आविक) का होना चाहिए।'

[पहले के दो श्लोको मे मनु ने यह वताया है कि ब्राह्मण को एक मुञ्ज या कुश की मेखला भी धारण करनी चाहिए। २.१६९, १७० से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मेखला और यज्ञ-सूत्र, दोनो ही हैं, किन्तु २.१७४ मे उन्हे अलग वताया गया है। मृग-चर्म, सूत्र, मेखला, दण्ड तथा लगोटी इन सवका उपनयन मे विधान किया गया है और मेखला का वन्धन संस्कार को पूर्ण वनाने वाला प्रतीत होता है।]

उपनयन सस्कार के आरम्भ मे वालक सूर्य के सम्मुख खड़ा होता है तथा अग्नि की तीन वार परिक्रमा करता है। यज्ञोपवीत धारण कर वह उपस्थित लोगो से भिक्षा माँगता है। यह भिक्षाचरण अव भी इस संस्कार का अंग बना है और इस वात का सूचक है कि वालक जव अपने लिये तथा अपने गुरु (गुरु; आचार्य) के लिए भोजन एकत्र करता है (पृ० १९६) तब गुरु उसे सावित्री या त्रिपदा गायत्री (पृ० २१, १५९) के दैनिक जप की दीक्षा देता है, जिसके पूर्व तीन वार प्राणायाम किया जाता है (त्रिभि. प्राणायामै.) तथा त्र्यक्षर 'ओम' एव तीन व्याहृतियो 'भू', 'भुव:', 'स्व'[१] की शिक्षा और उसे तीन वेदो के अध्ययन, तथा अन्य धार्मिक कर्मो को करने का उपदेश देता है। इनमे से किसी कर्म को वह यज्ञोपवीत के पूर्व नही कर सकता (२.१७१, १७६)। इस प्रकार गुरु या आचार्य उसका आध्यात्मिक पिता होता है।

शुद्धि, स्नान, तथा होम (सवनो) का विधान वानप्रस्थो को तीनो सन्ध्यायो[२], अर्थात् दिन के तीन भागो—सूर्योदय, मध्याह्न तथा सूर्यास्त—के

[१] इन तीन रहस्यमय शव्दो का, जिनका अर्थ पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश है (पृ० ६५ टि० १), नितान्त श्रद्धास्पद 'ओम्' (पृ० ९९) अक्षर के साथ उच्चारण विलक्षण एवं रहस्य फलो से युक्त माना जाता है (देखे २.७६, ७९, ८३, ८४; तीन सख्या की दी गई पवित्रता पर ध्यान दीजिए)।

[२] अध्याय ६.२२, २४ देखिए तथा कुल्लूक के 'सवनेषु स्नायात्

अवसर पर किया गया है—किन्तु ब्रह्मचारी और गृहस्थ के लिए प्रातः और सायकाल की दो सन्ध्यायें बनाई गई है जिनमे गायत्री (पृ० २०) का जप होना चाहिए। २.२२२ मे कहा गया है :—

'वह नियमो के अनुसार, जल का आचमन और अपनी इन्द्रियो को वश मे करके तथा ध्यान लगा कर गायत्री प्रार्थना का जप ('जपयम्' जिसका जप होना चाहिये) और निरन्तर दो सन्ध्याये करे।'

ब्राह्मण बालक को प्रतिदिन स्नान, देवताओ, ऋषियो तथा मृत पूर्वजो (पितरो) के लिए तर्पण, देवताओ [कुल्लूक के अनुसार, देवता = प्रतिमा, देवताओ की मूर्तियाँ] की पूजा तथा पवित्र अग्नि मे ईधन की आहुति (२ १७६) करनी होती है। किन्तु ५.८८ मे ब्रह्मचर्यावस्था के पूर्ण होने के पहले पितरो का तर्पण करने का निषेध किया गया है। उसे मास, सुगन्धि, अभ्यञ्जन, इन्द्रियसुख, क्रोध, लोभ, नृत्य, गीत, द्यूत, दूसरो की निन्दा, असत्य-भाषण, और सभी प्रकार की अशुद्धि से दूर रहने का आदेश दिया गया है। साथ ही, कभी भी किसी प्राणी को चोट न पहुँचाने की आज्ञा भी दी गयी है (२ १७७—१७९)।

प्रतिदिन प्रातः एव साय उसे निकटवर्ती गाँवो मे जाकर अपने तथा अपने गुरु के लिए भोजन की भिक्षा माँगनी होती है और पवित्र अग्नि को प्रज्ज्वलित रखने के लिये ईधन एकत्र करना होता है (२.१८७)

वह सदैव अपने धर्मशिक्षक (गुरु), माता-पिता एव अपने से श्रेष्ठ जनो का सम्मान करे :—

अपने माता का आदर करने से वह इस भू-लोक को प्राप्त करता है; अपने पिता का आदर करने से मध्यलोक को प्राप्त करता है; और निरन्तर अपने अध्यात्म-शिक्षक (गुरु) की सेवा करने से ब्रह्मा के स्वर्गीय लोक को प्राप्त करता है (२.२३३)

मध्यन्दिन-साय सवनेषु देवर्षि पितृतर्पणं कुर्वन्' से तुलना कीजिए : प्रायः सन्ध्या का अर्थ 'गोधूलि' होता है किन्तु इसका प्रयोग प्रात एव सायंकालीन गोधूलि तथा मध्याह्न से अपराह्न की परिवर्तन वेला के लिये भी किया जाता है। हिन्दुओ तथा मुसलमानो के दिन मे तीन बार धर्म क्रिया करने के सदर्भ मे हम डेनियल के एक अंश से तुलना कर सकते है जो दिन मे तीन बार अपने ईश्वर के समक्ष घुटना टेककर प्रार्थना करता था और धन्यवाद देता था। डेनियल ६ १०। डेविड का कथन है : 'सन्ध्या, प्रातः तथा मध्याह्न मे प्रार्थना करूँगा, जोर से पुकारूँगा' (Evening, and morning, and at noon, will I pray, and cry aloud.' साम्स ५५ १७।

जो युवक नियमपूर्वक गुरुजनों को प्रणाम करता है तथा उनका सदैव आदर करता है उसके आयु, विद्या, यश और बल की नित्य ही वृद्धि होती है (२ १२१)

संक्षेप मे, सामान्यतः पूर्वी देशों के साथ[1] ईसाई लोग भी हिन्दुओ से 'अपने माता-पिता से प्रेम रखना, उनकी भक्ति एवं रक्षा करना, अपने संरक्षको, गुरुओ, आध्यात्मिक शिक्षकों के सम्मुख विनम्र रहने तथा अपने से श्रेष्ठ जनो के साथ नम्रता एवं आदर के साथ व्यवहार करने की शिक्षा ले सकते हैं'; तथा इसके अतिरिक्त पशुओं एवं सम्पूर्ण निम्नकोटि के प्राणियो के प्रति 'शब्द या कर्म से भी चोट न पहुँचाने' के कर्तव्य का पालन करना भी सीख सकते है ।[2]

अपना अध्ययन समाप्त करने के उपरान्त ब्राह्मण बालक अपने गुरु को कुछ बहुमूल्य उपहार देवे । तब अपने घर को नियमपूर्वक लौटने के अवसर पर स्नान की उचित सस्कार विधि (समार्वतन) करे जैसा कि पहले बताया गया है (देखिए पृ० १९७.२३७) :

अपने कर्तव्य का ज्ञान रखने वाला ब्रह्मचारी समावर्तन समारोह के पूर्व अपने आध्यात्मिक गुरु को दक्षिणा न देवे किन्तु जब अपने गुरु की आज्ञा पाकर वह उचित स्नान करने वाला हो (स्नास्यन्) तो वह अपने गुरु को कुछ मूल्यवान उपहार ('गुर्वर्थम्' यथा, भूमि, स्वर्ण-आभूषण, गाय, अश्व इत्यादि) सामर्थ्य के अनुसार प्रदान करे, (२.२४५,२४६) ।

ब्राह्मण युवक के अपने घर लौटने के अवसर पर उत्सव होता है; उसे फूलो से सजाया जाता है और गो का उपहार दिया जाता है (३ ३) । तब वह शुभ लक्षणो वाली अपने ही वर्ण की कन्या को स्त्री रूप मे प्राप्त करता है; तब दूसरे आश्रम मे प्रवेश करता है और गृहस्थ बन जाता है । पत्नी को चुनने के सम्बन्ध मे कुछ रोचक सलाहे भी दी गई हैं (३ ८–१०) :

वह कपिल केशो वाली, अधिक अंगो वाली (यथा छः अगुलियो वाली), रोहिणी, बिना लोम वाली या अधिक लोम वाली, अधिक चालाक, लाल नेत्रो वाली, नक्षत्र वृक्ष या नदी के नाम वाली, असभ्य (अन्त्यम्लेच्छ) नाम वाली या पर्वत, पक्षी, सर्प, दास, या किसी भयंकर पदार्थ के नामवाली कन्या से

---

[1] विशेषतः चीनियो और हिन्दुओ से ।

[2] मुझे बताया गया है कि अहिंसा के कठोर नियमो के होते हुए भी 'पशुओं के प्रति निर्दयता का निषेध करनेवाला समाज' भारत के कुछ भागो मे भी कार्य कर सकता है ।

विवाह न करे। किन्तु ऐसी स्त्री से विवाह करे जिसमे अंगदोप या विकलाङ्गता न हो, सुन्दर नामवाली हो, हंस या गज के समान गति वाली हो[१], जिसके लोम तथा दाँत समपरिमाणवाले हो, और जिसका शरीर कोमल हो।'

हम यह देख चुके है कि विवाह एक संस्कार है; अतएव यह एक धार्मिक कर्तव्य और शुद्धि करनेवाला कर्म है। (पृ० २३७)

३.१२-१५; ९ ४५, १०१ से यह स्पष्ट है कि सामान्य नियम के रूप मे एक द्विज की केवल एक ही पत्नी होनी चाहिए किन्तु वहुविवाह अवैधानिक नही है और वह अपने वर्ण से भिन्न वर्ण की भी पत्नियाँ रख सकता है। इस स्थिति मे उसे वर्णों के क्रम के अनुसार उनमे प्रधानता निर्धारित कर देनी चाहिए (९.८५)। इस प्रकार एक ब्राह्मण के चार पत्नियाँ हो सकती हैं: एक उसके वर्ण से तथा अन्य तीन उसके नीचे के तीन वर्णों मे प्रत्येक से एक-एक; क्षत्रिय की तीन तथा वैश्य की दो पत्नियाँ हो सकती है; किन्तु निम्न वर्ण की स्त्रियो के पुत्र जातिभ्रष्ट होते है और अपसद: कहलाते है (१० १०)। इसके विपरीत भी यदि एक ब्राह्मण की चार पत्नियाँ वर्ण के क्रम के अनुसार हो और प्रत्येक से पुत्र उत्पन्न हुए हो तो उनमे पैतृक सम्पत्ति के विभाजन का नियम दिया गया है (९.१४९)।

मनु के विवाह के आठ प्रकार गृह्यसूत्रो मे भी स्पष्ट किये गये है (देखे पृ० १९२)। इनमे प्रथम चार अर्थात् ब्राह्म (जिसमे वेद का ज्ञान रखने वाले पुरुप को कन्या प्रदान की जाती है), **दैव,** ऋषियो का (आर्ष), तथा प्रजापतियो का (**प्राजापत्य**) ब्राह्मण के लिये विहित किये गये है। गान्धर्व विवाह (जो बिना वैवाहिक कर्म के पारस्परिक प्रणय से सपन्न होता है), तथा राक्षस (अर्थात् युद्ध मे विजय के उपहार रूप मे किसी कन्या का अपहरण कर उससे विवाह) की आज्ञा क्षत्रियो को ही थी। आसुर तथा पैशाच विवाहो का निपेध था।

एक प्राचीन विवाह कर्म (पृ० १९२) तथा नये गृह मे प्रवेश करने के उत्सव (पृ० १९५) का वर्णन दिया जा चुका है। गृहस्थ को प्रतिदिन सभी धार्मिक गृह्य (गृह्य कर्म) करने चाहिएँ, जिनमे से कुछ, यथा प्रातः एव सायंकाल के होम (अग्निहोत्र, सायं-प्रातर्होम) विवाह संस्कार के समय स्थापित तथा उसके वाद सदैवप्रज्वलित रहने वाली अग्नि (वैवाहिकेऽग्नौ ३ ६७ देखें पृ० ३०) मे करने चाहिएँ।

---

[१] अर्थात्, एक प्रकार की धीमी चाल वाली, जो होमर के 'एलियोस' के समान अर्थ मे है।

उसे मुख्य रूप मे पाँच महायज्ञ[1] (३.७० इत्यादि) करने चाहिएँ; वे यज्ञ हैं—१ ऋषियों के प्रति, वेदाध्ययन एव अध्यापन द्वारा (ब्रह्मयज्ञ); २. मृत पितरो के प्रति (पितृयज्ञ); ३. देवताओ के प्रति (देवयज्ञ) : अग्नि, प्रजापति, द्यौ, पृथिवी, इन्द्र सोम इत्यादि (८५=९९) के लिये होम[2] द्वारा; ४. सभी जीवो के प्रति ('भूतयज्ञ') जिनमे वायु मे निवास करने वाली कल्याणकारी एवं दुष्ट आत्माएँ भी हैं : यह यज्ञ प्राय: घर के ऊपर या घर के बाहर पशुओ के भक्षण के लिये पूप', चरु आदि की बलि देकर किया जाता है; ५. मनुष्यों के प्रति आतिथ्य द्वारा (मनुष्ययज्ञ)। इन सभी पाँचो का वर्णन पहले दिया जा चुका है। (पृ० १९६)। अन्तिम चार को कभी-कभी पाकयज्ञ भी कहते हैं (२ ८६)। इन पाँचो मे प्रथम, अर्थात् वेद का पाठ (ब्रह्मयज्ञ, जपयज्ञ, स्वाध्याय[3] ३.८१; २.८५, ८६) और विशेषत: गायत्री मन्त्र का जप सर्वाधिक

---

[1] मुसलमानो के भी पाँच प्रमुख उपासना-कर्म हैं किन्तु ये सभी दैनिक नही हैं। ये हैं १. प्रार्थना (नमाज) जो दिन मे पाँच बार होता है और व्यवहार मे तीन बार . प्रात , मध्याह्न तथा सायंकाल; २. भिक्षा देना (ज़कात); ३. व्रत (रोज़ा) विशेषकर नवे महीने, रमज़ान, मे वर्ष मे एक बार व्रत रखना; ४. जीवन मे एक बार मक्का की तीर्थयात्रा (हज); ५. विश्वास का प्रकाशन (शहादत) अर्थात् 'तवहीद' या ईश्वर के ऐक्य मे विश्वास प्रकट करना : 'खुदा के अतिरिक्त कोई देवता नही और मुहम्मद खुदा के दूत हैं'। हाजी, हज कर चुकने वाले व्यक्ति को कहते है। मनु द्वारा विहित पाँच आवश्यक उपासना कर्मो या यज्ञो मे तीर्थयात्रा के कर्तव्य का निर्देश नही किया गया है किन्तु हिन्दू धर्म मे भी अपना हज है। उड़ीसा मे पुरी (जगन्नाथ के निवास स्थान) को श्री हण्टर ने भारत का जरूसलम कहा है। यह केवल अनेक भारतीय मक्काओ मे एक है। तीर्थ यात्रा के अन्य प्रसिद्ध स्थान हैं, हिमालय मे हरिद्वार जहाँ गगा के शिव के मस्तक से पृथ्वी पर आने की कल्पना की गयी है; चित्रकूट, बुन्देलखण्ड मे, जो राम का वनवासारम्भ का प्रथम निवास-बताया जाता है; पजाब मे ज्वालामुखी, जहाँ शिव की पत्नी सती ने स्वय को भस्म कर डाला और उनकी स्थिति का पृथ्वी से निकलने वाले वाष्प को चिह्न माना जाता है :

[2] होम या 'घृत की आहुति' अग्नि देवता के लिय विशिष्ट रूप से दी जाती थी जिस प्रकार वृष्टि देवता इन्द्र के लिये सोमरस दिया जाता था, देखिए पृ० ३० टिप्पणी।

[3] मुझे एसा लगता है कि इस तथा अन्य समान शब्दो का वि० जोन्स का 'reading and studying the Veda' अनुवाद एक भ्रामक अर्थ प्रस्तुत

फल देने वाला माना जाता है; और इसके मन्द स्वर मे या मन मे जप करने का अद्‌भुत गुण बताया गया है :—

'जपयज्ञ या वेद पाठ विधियज्ञ (या चन्द्रमा के परिवर्तन पर नियत समय से दिये जाने वाले होमकर्म, जिसे दर्श तथा पौर्णमास कहते हैं, दे० पृ० ३० टि०) से दस गुना श्रेष्ट है; यदि इसका जप मन्द स्वर मे (उपांशु) किया जाय तो यह एक सौ गुना श्रेष्ठ होता है; और यदि इसका केवल मन से पाठ (मानस) किया जाय तो सहस्रगुना श्रेष्ठ होता है (२ ८५) ।

करता है । ये शब्द प्राय: 'स्वयं अपने आप मन मे पढना, या मन्द स्वर मे ग्रन्थ की अनुवृत्ति या पाठ करना' अर्थ की अपेक्षा ब्रह्मयज्ञ करने का अर्थ रखता है । यह सन्देहास्पद है कि वेद कभी उस प्रकार पढ़ा जाता था जिस प्रकार आजकल किसी ग्रन्थ को पढते हैं । न तो वेद शब्द मे और न इससे सम्बद्ध किसी भी शब्द के भीतर से हमारे धर्मग्रन्थ 'स्क्रिप्चर' के समान दार्शनिक सत्य के लिखित होने का अर्थ ध्वनित होता है, और दीर्घकाल तक तो यदि इसके लेखन का निषेध नही तो उसे अनुत्साहित तो अवश्य ही किया गया था । गुरु के यहाँ दीर्घकाल तक निवास करने (देखे पृ० २३६) का ही ध्येय पवित्र ग्रथो को कण्ठस्थ करना था उनका अध्ययन नही । मनुस्मृति मे लेखन का कोई उल्लेख नही किया गया है । लिखित प्रमाण का भी उल्लेख नही किया गया है जैसा कि याज्ञवल्क्य मे । आजकल के वेद पाठ के विषय मे मैं यहाँ प्रोफेसर भाण्डारकर के मई १८७४ की इण्डियन ऐण्टिक्वेरी मे प्रकाशित एक रोचक लेख का सक्षेप देता हूँ । प्रत्येक ब्राह्मण कुल किसी विशिष्ट वेद या किसी वेद की शाखा के अध्ययन में लगा है और इसमें शाखागत गृह्य कर्म उसी वेद के सूत्र के अनुसार किये जाते हैं । उत्तरी भारत मे लोकप्रिय वेद माध्यन्दिन शाखा का यजुर्वेद है किन्तु इसका अध्ययन बनारस के अतिरिक्त अन्यत्र लुप्त हो गया है । (श्री बर्नेल के अनुसार कृष्णयजुर्वेद तेलुगू देश मे लोकप्रिय है) । प्रत्येक वेद के ब्राह्मण दो भागो मे विभक्त हैं—गृहस्थ जो सासारिक कर्मों मे लगे हैं, तथा भिक्षुक जो धर्मग्रन्थो का अध्ययन एव धार्मिक कर्मों का सपादन करते हैं । दोनो ही वर्गों को सन्ध्यावन्दन या प्रात. एवं सायकालीन प्रार्थनाएँ करनी होती हैं (दे० पृ० २३९) जिनमे पाँच, दस, अठाइस या एक सौ आठ बार गायत्री (द्र० पृ० २१) का जप किया जाता है । इन प्रार्थनाओं के अतिरिक्त बहुत से लोग प्रतिदिन ब्रह्मयज्ञ करते हैं जो कतिपय अवसरो पर सबके लिये समान रूप से अनिवार्य होता है । ऋग्वेदी ब्राह्मण के ब्रह्मयज्ञ मे निम्न विषय होते है—१. ऋग्वेद १ १ का अश; २. ऐतरेय ब्राह्मण १ १;३. ऐतरेय-आरण्यक का अंश

चार पाक यज्ञ, यदि वे विधियज्ञों के साथ भी किये जाँय तब भी सब एक साथ मिलकर जपयज्ञ के सोलहवें अश के बराबर भी नही होते (२८६)।

एक ब्राह्मण केवल वेद पाठ से सिद्धि प्राप्ति की योग्यता प्राप्त कर लेता है चाहे वह अन्य कर्मों को करे या न करे; इस विषय मे सन्देह नही है (२.८७)।

मनुष्य उचित समय पर बिना प्रमाद के वेदो का नियमतः अभ्यास करे (= अभ्यसेत् = जपेत्) क्योकि यही उसका सर्वोच्च कर्तव्य (परो धर्मः) है, अन्य सभी कर्तव्य गौण (उपधर्मः) कहे जाते हैं (४.१४७)।

हिन्दुओ की अन्तिम पवित्रता स्पष्ट रूप से श्राद्ध को दिये गये महत्व से स्पष्ट है। कभी कभी इन्हे बारह बताया जाता है (इनमे तीन प्रमुख है 'नित्य' अर्थात् दैनिक, 'पार्वण' अर्थात् मासिक, 'एकोदिष्ट' अर्थात् विशिष्ट, पृ० २०१) जिसमे मृत पिता, पितामह प्रपितामह तथा पूर्व पिताओ एवं पितरो को सामू-

---

(१–५); ४. शुक्ल यजुर्वेद का आरम्भिक मन्त्र या कुछ अश; ५. सामवेद के अंश; ६. अथर्ववेद के अश; ७. आश्वलायन् कल्प सूत्र के अश; ८. निघण्टु के; ९. निरुक्त के; १०. छन्दस् के; ११. ज्योतिष के; १२. शिक्षा के; १३. पाणिनि व्याकरण के; १४ याज्ञवल्क्य स्मृति के; १५. महाभारत के; १७. जैमिनि की मीमासा के; और १८ बादरायण के वेदान्तसूत्र के, अश। स्वाध्याय का यह पाठचक्रम आश्वलायन सूत्र ३ २३. (इस ग्रथ के पृ० १९७ पर उद्धृत) के आधार पर है प्रथम ऋचाओ से समानता रखता है; ४, ५, ६ उसके यजुस्, सामन् तथा अथर्वाङ्गिरस से; और २, ३ उसके ब्राह्मणो आदि से समानता रखते हैं। जिन भिक्षुको ने सम्पूर्ण वेद का अध्ययन कर लिया है वे आश्वलायन के उपदेश 'यावन्मन्येत तावदधीत्य' का पालन करते हैं। उनमे कुछ याज्ञिक भी होते हैं जो यज्ञ कर्मों मे कुशल होते हैं; कुछ वैदिक होते है जिनका एक मात्र कार्य वेद का संहिता, पद, क्रम, जटा तथा घन पाठों (देखिए पृ० १५७) को विना सन्धि परिवर्तन या स्वर के दोष के कण्ठस्थ करना होता है। ऋग्वेदी स्वरो का उच्चारण तैत्तिरीयो से भिन्न रूप मे करता है जब कि माध्यन्दिन आदि हाथ को हिलाकर स्वरो को सूचित करते है। वेद के मन्त्रभाग के साथ ऋग्वेदी ब्राह्मण-भाग तथा कल्प एव गृह्य सूत्रो सहित वेदाङ्गो के उच्चारण की शिक्षा प्राप्त करते हैं। सामूहिक वेदोच्चारण मे प्रथम स्थान ऋग्वेदी को, द्वितीय यजुर्वेदी को तथा तृतीय स्थान सामवेदी को दिया जाता है (तुलना पृ० २१४)। यत. कृष्ण तथा शुक्लयजुर्वेदियो मे प्राथमिकता के लिए कलह उत्पन्न हो सकता है, अतः सामान्यत उन्हे वेदोच्चारण (मन्त्र जागर) मे आमन्त्रित नही किया गया है।

हिक रूप से जल (उदकदान) तथा चावल आदि का पूप (पिण्ड) दिया जाता है। पितरो को इन्ही उपहारो का भोजन करने वाला बताया गया है (३. २३७)। यह प्रथा सभवत: बहुत प्राचीन है क्योकि ऋग्वेद (६ ५२, ४; ७. ३५,१२; १७. १४, ७.८ इत्यादि) मे पितरो का आह्वान अत्यन्त आदर के साथ किया गया है।

वास्तविक दाहसस्कार, जब कि सभी मृत व्यक्तियो (दो वर्ष की आयु वाले वच्चो के अतिरिक्त) के शरीर जला दिये जाते हैं, पृ० १९८ पर वर्णित है। श्राद्ध के अवसर पर मृत पितरो के लिये बलि-कर्म हिन्दू सम्पत्ति-उत्तराधिकार की विधि का मूलमन्त्र है। यह पारिवारिक सम्वन्ध का प्रमुख प्रमाण प्रस्तुत करता है जिस पर पैतृक धन मे अशग्राही बनने का अधिकार आधृत है। मनुस्मृति या हिन्दू विधिव्यवहार-शास्त्र की किसी अन्य सहिता मे मृत्युकालीन इच्छापत्र का अधिकार नही माना गया है। गोत्र या कुल ही वस्तुत: एक स्थूल सघात है जो सपिण्डता तथा समानोदक भाव (मनु ५.७०) के वन्धनो से परस्पर बद्धः है। जो लोग एक साथ श्राद्ध का 'पिण्ड' तथा जल ('उदक') देते है वे परस्पर 'सपिण्ड' और समानोदक होते हैं, और एक प्रकार का पारस्परिक सम्वन्ध या अन्योन्याश्रय संवन्ध एक कुल के मृत एवं जीवित सदस्यो मे—भूत, वर्तमान तथा भविष्य की पीढियो मे—निरन्तर बना रहता है। फिर भी, व्यावहारिक दृष्टि से परस्पर सम्वन्ध की निकटता प्रत्येक पक्ष मे तीन पीढियों तक चलती है जिससे यदि हम तीन लड़ियो वाली दो शृखलाओ को जोड़ने वाली कडी की कल्पना करे तो यह कडी गृहस्वामी होगा जो अपने एक ओर के पिता, पितामह तथा प्रपितामह को दूसरी ओर के पुत्र, पौत्र तथा प्रपौत्र से मिलता है—कुल मिलाकर सात व्यक्ति पिण्ड द्वारा सयुक्त होते हैं (मनु ५.६०)। प्रथम तीन को जीवित वशधरों पर अपने सुख के लिये तथा पिण्ड एवं उदक के निरन्तर दान द्वारा भरणपोषण के लिये भी निर्भर होने की कल्पना की गई है और वह स्वयं जिस समय मरता है उसी समय अगली तीन पीढियों पर आश्रित बन जाता है।

समानोदक भाव का संबन्ध इससे अधिक काल तक बना रहता है, और उसका अन्त उसी समय होता है जब उस कुल का नामो-निशान लुप्त हो जाता है (५ ६०)।

ऐसे श्राद्धो के दो प्रयोजन हैं—प्रथम : मृत व्यक्ति की आत्मा को शव के दाहसंस्कार के उपरान्त किसी प्रकार के आकार मे पुन. मूर्त करना, या केवल सूक्ष्म शरीर की मुक्ति जो आत्मा को परलोक ले जाता है (देखे पृ० १९९);

दूसरे, उसे अन्तरिक्ष के क्षेत्र से, जहाँ उसे अन्यथा अपरिमित काल के लिए दुष्ट आत्माओ के बीच भ्रमण करना पडता है, किसी विशिष्ट स्वर्ग या आनन्दमय लोक को भेजना। वहाँ उसे मृत पुरखो की छाया के बीच वस्तुतः आधा देवत्व युक्त कर दिया जाता है। मनु श्राद्ध के नियम या फल के विषय मे स्पष्ट नहीं हैं। वे केवल इतना ही कहते है कि पुत्र या निकटतम वंशज द्वारा इसका सपादन पिता को 'पुत'[१] नामक नरक से मुक्त करने के लिये आवश्यक है तथा पितरो की आत्माएँ बलि कर्म के भोजन पर निर्वाह करती है (३.२३७)।

इस प्रकार के विशिष्ट श्राद्धो मे (पृ० २०१), जो आज भी हिन्दुओं में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण धार्मिक कर्म बने हुए है इस अवसर पर श्राद्ध कराने के लिये आमन्त्रित ब्राह्मणो को भोजन कराया जाता है तथा मूल्यवान दक्षिणाएँ दी जाती है[२] (३.१४५)। प्रथम श्राद्ध मे विशेष रूप से प्रत्येक प्रकार की दक्षिणाएँ दी जाती हैं और ऐसा बताया जाता है कि कभी कभी धनी व्यक्तियो के यहाँ इसमे कई हजार पौण्ड व्यय हो जाता है।[3] अशौच समाप्त होने के दिन के दूसरे दिन इसे किया जाना चाहिए और तब बाद के बारह महीनो मे भी समय-समय पर होना चाहिए। इस प्रकार के मासिक श्राद्धको मनु ने 'अन्वाहार्य' कहा है (३.१२३)। इसके उपरान्त श्राद्धकर्म पिता की मृत्यु की प्रत्येक वार्षिकी पर करना चाहिए। दूसरे श्राद्धो का वर्णन (पृ० २०१ पर किया गया है।

३.१५०–१६८ में इन संस्कारों से बहिष्कृत व्यक्ति के विषय मे मनु का विचार अनोखा है (ये निषिद्ध व्यक्ति हैं चोर, सुरा-पायी, नास्तिक, रोगी, नाखूनो या दाँतो वाले मनुष्य, नाचने वाले, चिकित्सक आदि)।

कुछ श्राद्धों में प्राचीन धर्मशास्त्रो, आख्यानो, इतिहासो एवं पुराणो का पाठ होता था (३ २३२; पृ० २०७ पर टिप्पणी)

---

[१]देखिए मनुस्मृति ९ १४८। इस कारण इस कर्म को करने वाले पुत्र को 'पुत्र' या 'पुत से रक्षा करने वाला' कहा जाता है। यह प्रत्येक हिन्दू की पुत्री की अपेक्षा पुत्र जन्म की इच्छा को अभिव्यक्त करता है। किन्तु यह असगत प्रतीत होता है कि जीवन मे किये गये कर्मों से अप्रभावित होकर श्राद्ध का फल होता है।

[२] अध्याय ३ १४५ में 'यत्नेन भोजयेच्छ्राद्धे बहृवृचं वेद पारगम्' इत्यादि आया है, देखें पृ० २०२; तथापि मनु ने अधिक भोजन कराने (विस्तार) का निवारण किया तथा आमन्त्रितो की संख्या सीमित कर दी; देखें ३.१२५ १२६

[3] श्री ह्वीलर के अनुसार बगाली लखपति रामदुलाल डे का ५०,००० पौण्ड व्यय हुआ था।

आहार के विषय के संदर्भ में ५.१५, ५ से यह स्पष्ट है कि सामान्यत द्विजों को मास तथा मत्स्य का भोजन कराना निषिद्ध था; सुरा का पान करना पाँच घोर पापो मे एक था; तथा अनेक दूसरे प्रकार के आहार, यथा लहसुन, प्याज, पलाण्डु (लशुन, गृञ्जन, पलाण्डु), कुकुरमुत्ता (कवक, छत्राक) तथा शवभक्षक पक्षी (क्रव्यादा. पक्षिण ५.११) निषिद्ध थे। किन्तु मनुस्मृति की प्रचीनता का यह एक प्रमाण है कि यह इन श्राद्धो मे कुछ के अवसर पर मास भक्षण (आमिष) का विधान करती है (३.१२३; ४.१३१)। मैं यहाँ कुछ ऐसे रोचक अश देता हूँ जो यज्ञ के लिये पशुवध एव कुछ अवसरो पर मासाहार का प्रमाण प्रस्तुत करते है ;—

'ब्राह्मणो को कभी भी मन्त्रो द्वारा पूत पशु के मास का भक्षण नही करना चाहिए; किन्तु वह उसका भक्षण उसी समय करे जब वह वेद मन्त्रो से पवित्र कर दिया गया हो' (४.३६)।

अतिथि का यज्ञ के समय सत्कार करने के अवसर (मधुपर्क) पर तथा पितरो या देवताओ के पवित्र कर्मो मे ही पशु का वध किया जा सकता है, अन्यथा नही (५.४१)

पशु के शरीर पर जितने लोम होते है उतने ही तत्सदृश जन्मो को उसी पशु को व्यर्थ मे वध करने वाला व्यक्ति प्राप्त करता है। स्वयंभू ने ही पशुओं की रचना यज्ञ के लिये की जिस यज्ञ का विधान इस सम्पूर्ण संसार के कल्याण के लिए ('भूत्यै') किया गया था; अतएव यज्ञ के लिए पशु का वध, बध नही है (५.३८, ३९)।[1]

मास-भक्षण करने मे (मास भक्षणे) तथा मद पान करने मे (मद्ये) कोई अपराध नही (यदि यह विधि विहित अवसर के अनुकूल हो, ५.३६)।

गृहस्थ के लिए आतिथ्य का एक धार्मिक कर्त्तव्य के रूप मे नितान्त दृढ शब्दो मे विधान किया गया है।

किसी अतिथि को, जो सायकाल डूबते हुए सूर्य द्वारा लाया गया हो, (सूर्योढ) अन्यत्र जाने को नही कहना चाहिए। समय या कुसमय मे जब भी वह आवे उसे घर में स्थान देना चाहिए और उसका आतिथ्य करना चाहिए।

यदि ब्राह्मण घर मे निवास करता हो और उसका आतिथ्य न किया जाय तो वह उस गृहस्वामी के सत्कर्मो के सभी फलो को ले लेता है (३.१००)।

गृहस्वामी बिना अतिथि को भोजन कराये स्वय कुछ भी आहार न ग्रहण

---

[1] यह कम से कम मनुस्मृति के एक अंश की उस बौद्धधर्म के सामान्य प्रचार के समय से पूर्वस्थिति का एक अन्य प्रमाण है जिसने भारत में पशु बलि का प्राय. पूर्णत. उन्मूलन कर दिया।

करे। अतिथि का सत्कार, धन, यश, जीवन तथा स्वर्ग प्रदान करता है (३ १०५,१०६; तुलना ४.२९)।

एक ब्राह्मण के मुख में दिया गया (अन्न का) होम (देनेवाले को) घोर पाप से भी मुक्त कर देता है (३ ९८)।

गृहस्वामी की पत्नी तथा स्त्रियो की दशा का जैसा चित्रण मनु ने किया है उसके सम्बन्ध मे हम कह सकते है कि उनका स्थान पूर्ण अधीनस्थता का है जो सिद्धान्त मे, जिसे हम इन दिनो 'स्त्रियो का अधिकार' कहते है उसके पूर्ण लोप की स्थिति तक पहुँचा हुआ है। किन्तु यद्यपि यह सत्य है कि स्त्रियो की हीनता एक निश्चित प्राच्यदेशीय तथ्य है जिसे योरोपीयो के साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध पूर्णत दूर नही कर सकता, तथापि यह स्मरणीय है कि व्यवहार सदैव सिद्धान्त के अनुकूल नही हुआ करता। हिन्दू माताओ का परिवार मे आदर तथा पुत्र-पुत्रियो द्वारा किया जानेवाला सम्मान सदैव महान् रहा है और मनुस्मृति की प्राचीनता का यह एक प्रमाण है कि यद्यपि इसके कुछ वचनो मे स्त्रियो को स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने के लिये अयोग्य घोषित किया गया है और उन्हे वेद के अध्ययन से भी वञ्चित कर दिया गया है तथापि अन्य वचन उन्हे इस प्रकार की स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं जिससे वे आगे चलकर मुसलमानी रीतिरिवाजो के देश में स्थान पाने के बाद ही वञ्चित हुईं।[1] कुछ स्थितियो मे यदि कोई कन्या तीन वर्षों तक अविवाहित रह जाती थी तो उसे अपना पति चुन लेने की स्वतन्त्रता होती थी।[2] ऐसी कन्या को स्वयवरा कहा गया है (९.९०, ९२)। यह बिल्कुल सत्य है कि मनु स्पष्टतः यह आदेश देते है (५.१६२; ९.४७,६५) कि विधवाओ का पुनर्विवाह नही हो सकता किन्तु वे कही भी उस अतिरञ्जित पतिभक्ति का उल्लेख नही करते जिससे बाध्य होकर सती या पतिव्रता स्त्री अपने पति के शव के साथ अपने को भी जला डालती थी—यह एक ऐसी प्रथा थी कि जिसने ३०० ई० पू० के पहले सिकन्दर के आक्रमण[3] के समय से लेकर १८२९ ई० तक असख्य प्राणो

---

[1] हिन्दू स्त्रियो मे पर्दा मुख्यत· मुसलमानो के भारत पर आक्रमण के समय उनकी प्रथाओ के प्रचलन के कारण हुआ।

[2] क्षत्रिय कन्यायें कभी-कभी अपने पतियो का स्वयं वरण करती थी जैसा कि नल-दमयन्ती की कथा तथा महाभारत की अन्य कथाओ से हमे ज्ञात होता है।

[3] स्ट्राबो १५,३० तथा ६० से यह स्पष्ट है कि भारत मे सती प्रथा सिकन्दर के समय मे प्रचलित थी। स्ट्राबो का कथन है कि कथाइयो ने (=कन्या कुब्ज या संभवत क्षत्रिय) जो पंजाब की एक जाति थी पत्नियो को

का वलिदान करा दिया, और जिसने हमारे अपने शासन के वार्षिक विवरणो मे कलंक लगा दिया है ।[1]

वस्तुत: विधवाओं का विवाह भी प्रचलित होने का उल्लेख किया गया है यद्यपि इसकी निन्दा की गई है (९.६६–६८); और विवाह मे दी गई कन्या

अपने पतियो को विष देने से रोकने के लिए नियम वनाया कि उनके मरने पर वे भी उनके साथ जला दी जायंगी तथा कुछ स्त्रियो ने स्वेच्छा से अपने को अग्नि मे जला दिया । डिओडोरस सिक्यूलस (१९ ३३) से भी तुलना कीजिए । उसने वर्णन किया है कि किस प्रकार सण्टिआकस तथा इडमेनीज़ के वीच युद्ध के उपरान्त एक भारतीय सेनापति (केतु या खत्री ?) की एक पत्नी ने दूसरी के साथ इस गौरवप्राप्ति के लिये सघर्ष करके, अपने को जलाया । किन्तु एरियन किसी सती का उल्लेख नही करता । वह केवल यही वर्णन करता है (७ ३३) कि किस प्रकार 'कालेनोम' (सभवत: सस्कृत कल्याण) ने, जो भारत के नागाओं के सम्प्रदाय का एक पुरुप था, अपने को चिता पर जला लिया । इसका वर्णन रामायण ३.९ मे आये हुए शरभङ्ग के स्वय को जलाने के वर्णन से मिलता है । तुलना सिसरो, टस्क, डिस्प० २.२२ तथा डे डिविन १ २३; निम्नलिखित अंश ड डिविन के वर्णन से है :—Est profecto quiddam etiam in barbaris gentibus paaesentiens, atque divinans : siquidem ad mortem proficiscens Calanus Indus, cum adscenderet in rogum ardentem, O paecearum dscissum, inquiet, e vita । ऐसा प्रतीत होता है कि सती प्रथा हिन्दुओ ने सीथियनो (हेरोड. ४ ७१) से ली । थ्रेसियनो (हेरोड. ५ ५) मे भी इसी प्रकार की प्रथा प्रचलित थी । तुलना प्रोपेरिटस ३ १३ से 'Ardent victrices, et flammae pectora praebent, Imponuntque suis ora perusta viris'. पाण्डु की स्त्री माद्री सती हो गई (महाभारत आदिपर्व) । विलसन की रचनाओ (विलसन्स वर्क्स) का डा० रोस्ट द्वारा संपादित संस्करण भाग २, पृ० २७०-३०९ से तुलना कीजिए

[1] सती की प्रथा वहुत दिनो से हिन्दुओं के धार्मिक विश्वास के साथ इतनी दृढ़ता से जुडी हुई समझी जाती थी कि हमारी सरकार को इसे रोकने का साहस नही हो सका । इसे ब्रह्मपुराण तथा व्यास, अङ्गिरस आदि की स्मृतियो द्वारा विहित बताया जाता था, तथा कोलब्रूक (उनके पुत्र द्वारा लिखित उनकी जीवनी, पृ० २८७ देखिए) तथा एच० एच० विलसन (१८२८ मे) जैसे विद्वानो ने इस प्रथा मे हस्तक्षेप करने के विरोध मे मत दिया; यद्यपि यह निश्चित हो चुका था कि न तो वेद और न मनु ने ही मृत पति

का पुन· विवाह हो सकता है यदि उसका पति वास्तविक विवाह सबन्ध होने के पूर्व मर जाता है (६९)

निम्नलिखित अश हिन्दू गृह्य जीवन के चित्र को पूरा करने के लिए पर्याप्त होगा .—

रातदिन स्त्रियों को अपने पतियो पर आश्रित रहना चाहिए। किन्तु यदि वे सासारिक भोगविलासो (विषयेपु सज्जन्त्यः) मे अनुराग रखती हो तो वे अपनी इच्छानुसार आचरण करे (९ २)

यदि वे विश्वासपात्र संरक्षको के पहरे मे घर के भीतर भी हो तब भी वे वस्तुत सरक्षित नही होतीं; किन्तु जो स्त्रियाँ स्वयं ही अपनी इच्छा से अपनी रक्षा करती हैं (आत्पानमात्मना यास्तु रक्षेयु·) वे सम्यक् रूप से सुरक्षित होती है (९ १२)।

(पति) अपनी पत्नी के साथ भोजन न करे और उसे भोजन करते हुए न देखे (४.४३)

स्त्रियो को वेद के मन्त्रो के पाठ द्वारा कोई क्रिया नही करनी चाहिए (नास्ति स्त्रीणा क्रिया मन्त्रैर्) ऐसा नियम है (९.१८)

गृह्यकर्म पत्नी के साथ किये जाने चाहिए (साधारणो धर्म. पत्न्या सह) ऐसा वेद का आदेश है (९.९६)।

स्त्रियो के लिये (अपने पति से पृथक्) किसी यज्ञ की, धार्मिक व्रत

के साथ जीवित पत्नी के दाहकर्म का विधान या संकेत किया है। रघुनन्दन ने (डॉ० एफ० हाल के अनुसार) ऋग्वेद (१०.९८ ७, देखे पृ० २०२) के मन्त्र, जिस पर सती प्रथा को प्रामाणिक ठहराया गया था 'अनश्वरो ऽनमीवा सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिम् अग्रे' अर्थात् बिना दु खके, रत्नो से सजकर पत्नियाँ वेदी पर पहले जावें' मे 'अग्रे' या प्रथम के स्थान पर 'अग्ने' अग्नि रख दिया (तुलना, पृ० १९८, २०२, २०३)। यह सत्य है कि हमारी सरकार ने एक मध्यम मार्ग अपनाया तथा कठोर नियमों के अन्तर्गत विधवा की पूर्ण सहमति के अतिरिक्त उसके सती होने को निपिद्ध कर दिया। सरकारी कर्मचारी इन नियमो का पालन कराने के लिए उपस्थित रहते थे, किन्तु मेरे एक श्रेष्ठ मित्र (श्री सेटन-कार) ने, जो भारत मे उच्चपद पर आसीन थे, मुझे यह बताया है कि हमारे आधी स्वीकृति दे देने के परिणामस्वरूप सती हो जाने वाली विधवाओ की संख्या एक वर्ष मे ८०० हो गई जब कि दूसरे वर्षों (१८१५ तथा ६८२८) के बीच मे यह ३०० से ६०० के भीतर ही रही। सन् १८२९ मे लार्ड विलियम बेण्टिक ने एक कानून (रेगुलेशन १७) पास किया जिसने इस प्रथा को सफलतापूर्वक और बिना कठिनाई के दबा दिया।

की, उपवास (उपोषितम्) की आज्ञा नही है। जितना ही पत्नी पति की आज्ञा का पालन करती है उतना ही ऊँचा स्वर्ग प्राप्त करती है (५.१५५)

युवती पत्नी को सदैव अपने पति की देवता के समान (देववत्) सेवा करनी चाहिए (उपचर्य:, ४.१५४)

जो गुणवती पत्नी पति की मृत्यु के उपरान्त अविवाहित रहती है पुत्र के न होते हुए भी स्वर्ग प्राप्त करती है (५.१६०)

हम यह बता चुके हैं कि मनु के अनुसार अपने जीवन की तीसरी तथा चौथी अवस्थाओ मे ब्राह्मण पहले वानप्रस्थ बने और तब सन्यास धारण करे (भिक्षुक, परिव्राजक)। नि सन्देह यह पूर्णत: असम्भव है कि सभी ब्राह्मण इस नियम का आचरण करे, किन्तु छठें अध्याय के दूसरे श्लोक मे यह कहा गया है कि परिवार का पिता जब अपने केशो को श्वेत होते देखे, या प्रथम पौत्र के जन्म के तत्काल बाद तीन प्रकार के ऋणो को पूरा कर लेने पर[1] वन को प्रस्थान करे और वहाँ एक तपस्वी बन कर तपस्या करे—

'अपनी पवित्र अग्नि (अग्निहोत्र) को लेकर, तथा अग्नि मे होम करने के लिए सभी गृहकार्य के पात्रो को लेकर नगर से दूर वन मे जाकर अपनी इन्द्रियो को भली भाँति वश मे करके निवास करे (६.४)

अनेक प्रकार के पवित्र अन्नो से वह पाँच महायज्ञ करे (६ ५)

(तीन पवित्र) अग्नियो द्वारा नियमानुसार वैतानिक होम भी करे (देखिए पृ० १९०, १९१ टि० २)

वह पृथ्वी पर आगे-पीछे लोटे, या दिनभर सीधा खड़ा रहे (प्रपदैः); क्रमश: बैठते और उठते हुए इधर-उधर चले, तथा तीन सवनो के समय (प्रात:, सन्ध्या और मध्याह्न, ६ २२; पृ० २३८ की अन्तिम पंक्ति देखिए) जलाशय मे स्नान करे।

चान्द्रायण व्रत करे (६.२०, देखे पृ० १०२); ग्रीष्मऋतु मे 'पञ्चतपाः' होकर तपस्या करे (६ २०; देखे पृ० १०१)

तीनो सवनो मे स्नान करके देवताओ तथा पितरो का तर्पण करे (६.२४)

तीन प्रकार की पवित्र अग्नियो को नियमानुसार (उसके भस्म के भक्षण द्वारा) उदरस्थ करके वह बिना अग्नि, तथा निवास स्थान के, जड़ो तथा फलो को खाकर मुनि के व्रत (अर्थात् मौनव्रत, शान्त रहने का) आचरण करता हुआ निवास करे (६ २५)

[1] ये तीन ऋण (त्रीणिऋणीन) हैं—१ देवो के प्रति; २. पितरो के प्रति, ३. ऋषियो के प्रति । प्रथम ऋण यज्ञ द्वारा, द्वितीय श्राद्ध कर्म करने वाले पुत्र को उत्पन्न कर, और तीसरा वेद के अध्ययन द्वारा चुकाया जाता है।

अध्याय ६ ३३ जीवन की चौथी अवस्था मे भिक्षु या परिव्राजक रूप में भ्रमण करने का आदेश देता है (चतुर्थमायुषो भागं परिव्रजेत्)। उसके जीवन की इस अन्तिम अवस्था को, जिसमे कि उसे कभी संन्यासी अर्थात् जिसने संसार का परित्याग कर दिया है और कभी यति अर्थात जिसने अपनी इच्छाओ का दमन कर दिया है, सुचारु रूप देने के लिए विहित कुछ नियम इस प्रकार है[१]:—

वह विना अग्नि और गृह के (अनिकेतः) रहे; दिन मे एक वार नगर मे भिक्षाचरण के लिये जावे, कष्टों का ध्यान न रखे; दृढ मौन-व्रत धारण कर ध्यान मे अपना चित्त लगावे (६.४३)।

केश, नख तथा दाढी अच्छी प्रकार काटकर, हाथ मे पात्र (पात्री) दण्ड (दण्डी) तथा घट लेकर (कुसुम्भवान्) ध्यान में चित्त लगाकर तथा किसी प्राणी को चोट न पहुँचाते हुए निरन्तर भ्रमण करे (६.५२)।

इस प्रकार शनैः शनैः सभी सासारिक वन्धनो (संगान) का परित्याग करके तथा सुख-दु खादि विरोधी द्वन्द्वों[२] की चिन्ता से मुक्त होकर ब्रह्म मे मिल जाता है (ब्रह्मण्यवतिष्ठते, ६.८१)।

४. अव हम शासन तथा व्यवहार संवन्धी कतिपय मनु के अध्यादेशो की प्रमुख विशेपताओ तथा नितान्त महत्त्वपूर्ण अर्थ और दण्ड विधियों और साक्ष्य के नियमो[३] पर विचार करेंगे। इन विषयो के विवेचन को, जिसे किसी विधि संहिता का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विभाग होना चाहिए, मनु ने अपने ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में पहुँचकर प्रारम्भ किया है और वह भी मुख्य रूप से एक चौथाई भाग, अर्थात् सातवें, आठवें तथा नवें अध्यायों में ही समाप्त कर दिया है। प्रथम छः अध्यायों मे चित्रित समाज की अवस्था साधारण तथा आदिम स्वभाव की है, और जनवर्ग के केवल चार प्रमुख भेद स्वीकार करती है, अतएव सातवें अध्याय मे विहित शासन का एकमात्र स्वरूप पैतृक तथा वंशक्रमानुगत है। राजा दैवी अधिकार द्वारा शासन करता है और यद्यपि वह निरंकुश होता है, फिर भी, अपनी प्रजाओ के प्रति पितातुल्य[६]

---

[१] मैंने पाया है कि एम० वार्थ के जून १३, १८७४ की 'रेव क्रिटके' मे दिये गये कुछ विचार मैंने पिछले पृष्ठो मे मनु के अध्यादेशों के विषय मे जो कुछ कहा है उस पर प्रकाश डालते है :—

[२] यथा आदर तथा अनादर (मानापमान), सुख तथा दु.ख इत्यादि।

[३] मैंने यहा एल्फिस्टन और मिल की इण्डिया की सहायता ली है।

[६] तुलनार्थ शाकुन्तल अंक ५. 'त्वयि परिसमाप्तं वन्धु-कृत्यं प्रजानाम्', तुझमे (राजा मे) प्रजाओं के प्रति एक वन्धु के सभी कर्तव्यो की परिसमाप्ति है।' 'डस्पाटिस' को संस्कृत का दास-पति, अर्थात् विजित जातियो का स्वामी वताया जाता है।

व्यवहार रखता है ('वर्तेत पितृवन्नृषु', ७.८०)। उसे एक प्रकार का देवता माना जाता था यह बात इस कथन से स्पष्ट है :—

स्रष्टा ने सम्पूर्ण जगत् की रक्षा के लिये इन्द्र, अनिल (वायु), यम (धर्म के देवता), सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र, कुबेर (धन के देवता) के तत्त्वों से सनातन कणो (मात्राः शाश्वतीः) को ग्रहण कर राजा की उत्पत्ति की। (७.३, ४)।

यदि राजा बालक भी हो तो उसे मनुष्य समझकर उसका अनादर नही करना चाहिए; वह मानव रूप मे एक महान् देवता होता है (७ ८)।

राजा को सात या आठ मन्त्रियो को नियुक्त करने का आदेश दिया गया है (७ ५४) जिनसे पहले उसे एकान्त मे मन्त्रणा करनी चाहिये और तब सबको एक साथ सभा रूप मे बुलाकर उनके विचार जानना चाहिए। उसका प्रधान मन्त्री ब्राह्मण[1] होना चाहिए (७.५८) तथा उसे उसी पर विश्वास रखना चाहिये (५९)। उसकी एक सुरक्षित सेना होनी चाहिए (७ १०२, १०३); सेनापति (७.६५) तथा विद्वान् एवं योग्य दूत होने चाहिएँ। निम्नलिखित नितान्त महत्त्वपूर्ण है :—

'युद्ध मे पलायन न करने का दृढ निश्चय (संग्रामेषु अनिवर्तित्वम्), जनता की रक्षा तथा ब्राह्मणो का आज्ञापालन (शुश्रूषा) राजाओं का सर्वोच्च कर्तव्य है और ये उसे स्वर्ग मे सुख प्रदान कराते है (७ ८८)।'

राजा के जीवन के ढग और उसके समय के विभाजन के विषय मे भी नियम बनाये गये है (७ १४५, इत्यादि)। वह रात्रि के अन्तिम प्रहर मे उठे, तब सभा बुलावे, तब उसके बाद मन्त्रिपरिषद् बुलाकर राज्य के कार्यों तथा राजा के आठ प्रकार के कर्तव्यो पर विचार करे (७ १५४); तब पुरुषों के व्यायाम करे, भोजन करे और भोजन के समय यह ध्यान रखे कि उसका भोजन विषाक्त तो नही है (७ ११८); तब अपने परिवार की व्यवस्था करे; फिर उसे कुछ विश्राम करने की आज्ञा होती है। इसके बाद वह अपनी सेना का निरीक्षण करे और तदुपरान्त धार्मिक अभ्यास करे। अन्त मे स्वयं अस्त्रो से सुसज्जित होकर दूतो (चार) सन्देशवाहक तथा गुप्तचरो (प्रणिधि) के वक्तव्य सुने, जिन्हे बहुत महत्त्वपूर्ण माना गया है।[2] दिन के अवसान के समय

---

[1] इस नियम का अनुसरण शिवाजी ने मराठा राज्य के सविधान में किया था, और पेशवा या आठ प्रधानो, 'प्रमुखमन्त्रियो' मे से पेशवा ने अन्त मे शिवाजी के दुर्बल उत्तराधिकारी को पदच्युत कर के राज्य को हथिया लिया।

[2] ९.२५६ मे राजा को 'चारचक्षुष.' अर्थात् दूत ही जिसके नेत्र है, कहा गया है।

वह अल्प भोजन करे, सगीत का आनन्द ले और शीघ्र शय्या ग्रहण करे (७ २२५)।[1] कूटनीति तथा युद्ध के नियम यह प्रदर्शित करते हैं कि भारत वहुत से छोटे-बडे राज्यो मे बटा था। शत्रु के नायको के साथ षडयन्त्र किये जाते थे तथा समझौते को वल प्रयोग की अपेक्षा उत्तम माना जाता था (७ १९७,१९८)। युद्ध मे राजा को वैयक्तिक वीरता का आदर्श उपस्थित करना होता था (७.८७)। प्रमुख अस्त्र धनुष था (७.७४)। हाथी, रथ, घुडसवार और पैदल ये मिलकर चतुरंग सेना होते थे;[2] और सेना के प्रयाण सवन्धी सूक्ष्म आदेश दिये गये हैं (७.१८७ इत्यादि)।

आन्तरिक शासन के विषय मे स्मृति मे यह स्पष्ट है कि देश कई भागों मे बँटा था जिन पर राजप्रतिनिधि शासन करते थे और उन पर राजा निरकुश शक्ति स्थापित करता था। पुनः इसका अधिकार दूसरे अधीनस्थ मण्डलाधीशो मे विशिष्ट था और ये मण्डलाधीश अपनी शक्ति क्रम से नगरो के शासको को प्रदान कर विभक्त करते थे। इनमे सर्वोच्च मण्डलाधीश हजार ग्रामो पर, उसके वाद वाला सौ ग्रामो पर, उसके अधीनस्थ बीस

---

[1] सम्राट् का पद कोई पुष्प-शय्या नही था। यह महाभारत, दशकुमार चरित, तथा मनुस्मृति से भी स्पष्ट है। ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्योदय से लेकर दिन और रात डेढ-डेढ घन्टो के आठ भागो मे बटे थे और उनका विभाजन इस प्रकार किया गया था : दिन १. राजा वस्त्र धारण कर आय-व्यय के लेख का निरीक्षण करे; २. विधि कार्यों मे अपना न्याय दे; ३. प्रात'कालीन अल्पाहार करे; ४ उपहार ग्रहण करे तथा पुरस्कार दे, ५ अपने मन्त्रियो के साथ राजनीतिक विषयो पर विचारविमर्श करे; ६. मनोरञ्जन करे; ७ अपनी सेना के दलो को देखे; ८. सेनाध्यक्षो की सभा बुलावे। रात्रि—१. अपने गुप्तचरो और राजदूतो के वक्तव्य सुने; २. भोजन करे; ३. कुछ धार्मिक ग्रन्थो को पढकर विश्राम करे; ४. तथा ५. शयन करे; ६ उठकर स्नानादि शौचकर्म करे; ७. अपने मन्त्रियो की गुप्त सभा वुलाकर परामर्श ले तथा अधिकारियो को आदेश दे; ८. धार्मिक कृत्यो को करने के लिये पुरोहित के पास जावे (विलसन का, 'हिन्दू थिएटर' १ २०९)। मेगास्थनीज (स्ट्राबो १५.१,५५) का कथन है कि भारतीय राजा दिन मे नही सो सकता किन्तु दिन भर न्याय कर्म कर सकता है। मैकाले द्वारा लिखित फ्रेडरिक महान् की दैनिक चर्या के विवरण से तुलना कीजिए (एसेज, पृ० ८०५)

[2] ७ १८५ मे छः प्रकार की (षडविधि) सेना का उल्लेख किया गया है; इसके दो अन्य भाग हैं अधिकारी और सेवक।

ग्रामो पर, उसके अधीनस्थ दस पर (तुलना सेण्ट ल्यूक १९.१७), तथा सबसे निम्न एक ग्राम पर शासन करता था—

एक ग्राम का स्वामी (ग्रामिक) अपने ग्राम के अन्तर्गत हुए किसी अपराध की सूचना दस ग्रामो के स्वामी (ग्राम दशेशाय) को सूचित करे; दस ग्रामो का स्वामी, बीस ग्रामो के स्वामी को सूचित करे; बीस ग्रामों का स्वामी प्रत्येक बात की सूचना सौ ग्रामो के स्वामी को दे, और सौ ग्रामो का स्वामी सहस्र ग्रामो के स्वामी को सूचित करे (७ ११६,११७)

दूसरा महत्त्वपूर्ण विषय कर है : जिसे सम्राट निम्न स्रोतों से प्राप्त करे— १ भूमि की ऊपज पर कर, जो भूमि सम्भवतः ग्रामसमाजों के सम्मिलित अधिकार मे थी यद्यपि समय-समय पर विशिष्ट व्यक्तियो को भूमि के दान मिले होगे; सिद्धान्ततः राजा ही भूमि का एकमात्र स्वामी (भूमेरधिपतिः) होता था[1] (८.३९)। २. परिश्रम से निर्मित वस्तुओ पर कर; ३. कुछ धातुओं तथा प्राचीन निधियों के ऊपर कर; ४. क्रय-विक्रय पर कर, ५. एक प्रकार का व्यक्ति-कर; ६. अन्य प्रकार का शारीरिक श्रम द्वारा चुकाया जानेवाला कर।

प्रथम के विषय मे, राजा पृथ्वी के अन्न का प्रायः षष्ठाश कर के रूप मे ग्रहण करता था किन्तु आवश्यकता पडने पर (यथा, युद्ध और आक्रमण के समय) वह अन्न का चतुर्थांश भी ले सकता था। किन्तु यदि वह धनाभाव से मर भी रहा हो तब भी वेदज्ञ ब्राह्मण से कर न ग्रहण करे (७.१३३)।[2] निम्न अंश ऊपर के कर ग्रहणसम्बन्धी छः शीर्षकों की व्याख्या करता है :—

१. राजा भूमि के उत्तम या अनुत्तम होने के अनुसार अन्न का छठा, आठवाँ या बारहवाँ भाग ग्रहण कर सकता है। (७.१३०)

जो राजा बिना भरण-पोषण किये अन्न का षष्ठाश कर (बलि) रूप मे

---

[1] बाद के समयो मे एक प्रकार के मध्यमस्थ व्यक्ति ने जिसे जमीन्दार (मुसलमानो द्वारा दिया हुआ नाम) कहते है, भूमि पर प्राय. पूर्ण स्वामित्व प्राप्त कर लिया अथवा रैयत अर्थात् किसानो और राजा के बीच मध्यस्थता का काम करता था। वह उत्पादन का एक अश किसानो से लेता था और एक निश्चित धन राजा को दिया करता था।

[2] शाकुन्तल अङ्क २ में माढव्य राजा से कहता है—'ऐसा कहना कि तुम उनसे बलि के रूप मे अष्टाश ग्रहण करने आये हो।' महाभारत लौकिक कर्म करने वाले ब्राह्मणों से भी कर लेने का विधान करता है। स्ट्राबो (१५.१,४०) कहता है—'सम्पूर्ण भूमि राजा की है', किन्तु भारतीय लोग फसल का चतुर्थांश लेने की शर्त पर कृषि कर्म करते हैं।

ग्रहण करता है वह अपने ऊपर सम्पूर्ण प्रजाओं के सभी पापों को बुला लेता है (८.३०८)।

एक क्षत्रिय राजा, जो आवश्यकता (आपदि) के समय अपनी सामर्थ्य के अनुसार प्रजा का पालन करते हुए चतुर्थ अंश भी ग्रहण करता है वह सभी दोष से मुक्त रहता है (१०.११८)।

२. अपरञ्च, वह वृक्षों (द्रु), आमिष, मधु, घृत, सुगन्धि, औषधि, वनस्पतियाँ, पेय पदार्थ, पुष्प, मूल, फल, पत्तियाँ (पत्र), शाक, वैदल, चर्म, मृण्मयपात्रों तथा सभी प्रस्तर निर्मित वस्तुओं की वार्षिक वृद्धि का षष्ठांश ले सकता है (७ १३१, १३२)।

३ मूल से अधिक पशु, स्वर्ण, तथा चाँदी का पचासवाँ भाग राजा ग्रहण कर सकता है (७.१३०)।

पुराने खजानों तथा पृथिवी के भीतर की धातुओं का आधा भाग राजा ग्रहण कर सकता है क्योंकि वह प्रजा का पालन करता है तथा भूमि का परम अधिकारी होता है (८ ३९)।

४ क्रय-विक्रय की दर को सम्यक् निर्धारित करके, यात्रा में (सपरिव्ययम्) अन्न के मूल्य आदि के साथ मार्ग (अध्वानम्) की दूरी का विचार करके उससे प्राप्त लाभ तथा उसकी रक्षा (योगक्षेम) के व्यय का विचार करके वह व्यापारियों से वस्तुओं पर कर ग्रहण करे (७ १२७)।

५. राजा अपने राज्य में लघु व्यापारों पर निर्भर रहनेवाले निम्नवर्गों (पृथग् जनम् = निकृष्टजनम् , कुल्लूक) से वार्षिक कर के रूप में कुछ अल्प निधि ग्रहण करे (७.१३८)।

६ राजा निकृष्ट शिल्पियों एवं कर्मकारों (यथा लौहकार आदि) तथा दासवर्ण के मनुष्यों (शूद्रान्) से, जो परिश्रम करके जीविका चलाते हैं, प्रत्येक महीने एक दिन कार्य ले (७ १३८)।

जहाँ तक न्याय का प्रश्न है यह भी स्वयं राजा ही ब्राह्मणों की सहायता से करता है, अथवा उसके सहायक रूप में कार्य करने वाला ब्राह्मण तीन अन्य ब्राह्मणों की सहायता से करता है (८ ९, १९)। अध्याय ७ १४ में कहा गया है :—

राजा के व्यवहार के लिए परमेश्वर ने प्रारम्भ में अपने ही पुत्र, धर्म, को अपने ईश्वरीय तत्त्वों से निर्मित कर दण्ड के धारण द्वारा सभी भूतों के रक्षक के रूप में कार्य करने के लिये उत्पन्न किया।

इस दण्ड धारण के प्रमाद से उत्पन्न भयंकर फलों को ७.२० इत्यादि में वर्णित किया गया है। राजा वैधानिक विवाद को बढ़ावा न दे (नोत्पादये-

त्कार्यम् , ८ ४३) । इनके होते हुए भी उसे प्रति दिन सभा मे आये हुए विवादो का निर्णय करने के लिये प्रस्तुत रहना चाहिए । न्याय का ढंग सरल और वंशक्रमानुगत है । ८.२३ मे कहा गया है :—

राजा शरीर को उचित वस्त्रो से सजाकर, तथा मन को समाहित करके न्यायपीठ पर बैठे तथा जगत् के संरक्षक देवताओ को प्रणाम करके मुकदमे की कार्यवाही (कार्यदर्शन) प्रारम्भ करे । (तुलना स्ट्रावो १५.१, ५५)

विवाद मे लगे हुए दलो का व्यक्तिगत वयान ले और वादी का दोषारोपण मौखिक हो । न्यायाधीश साक्षियो की परीक्षा ले और उनके मुखो का ध्यानपूर्वक निरीक्षण करे (८.२५, २६) । अपने निर्णय मे न्यायाधीश आचार द्वारा पुष्ट स्थानीय व्यवहारो, पहले के न्यायाधीशो के निर्णयो (८ ४५,४६) तथा विधि महिना (या शास्त्र) के लिखित नियमो का ध्यान रखे (८ ३) ।

अब मै अर्थ तथा दण्डविधि के विस्तृत रूपों पर विचार करूंगा । निश्चय ही यह प्रिय विषय है कि अर्थ तथा दण्ड विधियो मे स्पष्टत. भेद करना चाहिए । वे मनु द्वारा दिये गये विधि के आठ वर्गो या शीर्षको मे एक साथ मिली हुई है (अध्याय ७ ४–७) यथा :—

विधि या धर्म की अट्ठारह शाखाएं ये है : १ ऋण प्राप्त करन (ऋणादानम्'); २ धरोहर रखना ('निक्षेपः'); ३ ऐसे व्यक्ति द्वारा सम्पत्ति का विक्रय जो उस सम्पत्ति का वस्तुतः स्वामी नही है (अस्वामिविक्रय); ३. व्यापार मे साथ रहकर साझी बनकर दूसरे के व्यापार मे लगना ('सम्भूय समुत्थानम्'); ५ दी हुई वस्तु का वापस न मिलना; (दत्तस्यानपकर्म); ६ वेतन का न मिलना (वेतनस्य अदानम्); ७ सन्धि तोडना (सविदो व्यतिक्रमः), ८ क्रय-विक्रय की परिसमाप्ति; (क्रय-विक्रयानुशय.); ९ सेवक तथा स्वामी मे अथवा पशुओ के स्वामी तथा उनका पालन करने वाले मे विवाद (विवादः स्वामिपालयोः); १० सीमा विवाद के सवर्षो से सबद्ध नियम (सीमाविवादधर्मा'); ११ १२. दो प्रकार के आघात, अर्थात् प्रहार तथा दुर्वचन या प्रहार द्वारा आक्रमण करना या कठोर वचनो द्वारा आक्रमण करना '(पारुष्ये-दण्डवाचिके); १३. चोरी तथा अपहरण (स्तेयम्); १४. हिंसा सहित लूटमार (साहसम्); १५. व्यभिचार (स्त्री-सग्रहणम्); १६ पति तथा पत्नी के कर्तव्यो के विषय मे नियम (स्त्री-पुन्धर्म); १७. पैतृक सपत्ति या दायभाग का विभाजन (विभाग); १८. द्यूतक्रीडा तथा पशुओं, यथा लड़ने वाले मुर्गो, की बाजी (द्यूतमाह्वयश्च) ।

इन विषयो मे प्रथम नौ, और सोलहवाँ तथा सत्रहवाँ अर्थविधि के हैं; ग्यारहवें से पन्द्रहवें तक तथा अट्ठारहवाँ दण्डविधि हैं, दसवाँ अंशतः अर्थविधि मे

और अंशत: दण्डविधि मे आता है। श्री जेम्स मिल की 'हिस्ट्री आफ इण्डिया' (भाग १. पृ० १९५ इत्यादि) मे कुछ महत्त्वपूर्ण विचार हैं जिनका संक्षेप मैं यहाँ देता हूँ—

विधियो के, अर्थ (सिविल) तथा दण्ड (पेनल), इन दो विभाजनो के अतिरिक्त कोई दूसरा विभाजन अधिक स्वभाविक नहीं प्रतीत होगा। वर्गीकरण का दूसरा स्पष्ट कारण—व्यक्तियो के विषय मे कानून तथा वस्तुओ के विषय मे कानून—जो रोमन विधि मे प्रचलित था तथा असंस्कृत होने से अंग्रेजी कानून मे भी चला आया, कभी मनु के समय के हिन्दू विधिवेत्ताओं के मस्तिष्क में नहीं आया। मनु के वर्गीकरण मे प्रथम नौ वर्ग सविदाओ के विषय है, किन्तु वर्गीकरण गँवारू और अपूर्ण है। यह 'ऋण' से प्रारम्भ होता है जो संविदाओ का एक नितान्त परिष्कृत रूप है। क्रय तथा विक्रय के विषय को दो मे भागों बाँटा गया है। किन्तु एक का सूची मे तीसरा स्थान है तो दूसरे का आठवाँ और इनके बीच विपरीत स्वभाव के विषय आते है। 'साझेदारी' दोनों विषयो के बीच का स्थान पाती है जिनमे किसी से भी इसका कोई संबन्ध नही है। 'वेतन का न देना' 'सविदाभंग' के ठीक पहले एक भिन्न विषय के रूप मे आता है हालाँकि इसे उसी शीर्षक के अन्तर्गत रखना चाहिए था। तत्त्वत. सातवाँ विषय इतना सामान्य है कि इसमें सविदाओं के सभी विषय आ जाते हैं। जब सविदा का विषय समाप्त होता है तो दण्डविधि की प्रमुख शाखाओ को प्रस्तुत किया जाता है। इन तथा कुछ और विषयो के बाद उत्तराधिकार का महत्त्वपूर्ण विषय आता है।[1]

अर्थविधि शीर्षक के अन्तर्गत मनु के सर्वाधिक रोचक अध्यादेश सम्पत्ति के महत्त्वपूर्ण विषय से संबद्ध हैं चाहे वह संपत्ति अधिकार द्वारा या भोग द्वारा, (लाभ, भुक्ति, भोग), खरीदकर (क्रय), सविदा द्वारा (संविद् व्यवहार), परिश्रम द्वारा (कमयोग), दान द्वारा (प्रतिग्रह), तथा उत्तराधिकार (दाय) रूप मे मिली हो। मैं निम्न उद्धरणो को प्रस्तुत करता हूँ :—

जिस व्यक्ति ने कई क्रेताओ तथा विक्रेताओं के समक्ष इसके विक्रय से (विक्रयात्) किसी प्रकार की सम्पत्ति प्राप्त प्राप्त कर ली है वह क्रय मूल्य देने के कारण न्यायत: उस सम्पत्ति का स्वामित्व प्राप्त कर लेता है (८.२०१)।

उत्तराधिकारी बालकों की सम्पत्ति को राजा अपने संरक्षण मे उस समय

---

[1] श्री जेम्स मिल का अध्ययन करते समय मैंने यह पाया है कि उनकी कुछ उक्तियो को पर्याप्त सतर्कता के साथ ग्रहण करना चाहिए, क्योकि वे प्रत्येक हिन्दू नामधारी वस्तु के पीछे हाथ धोकर पड़े हुए लगते हैं।

तक रखे जब तक वह ब्रह्मचर्य जीवन समाप्त न कर ले या जब तक वह वयस्क (सोलह वर्ष का) न हो जाय (८.२७)।

राजा सभी विक्रय-योग्य वस्तुओं के बेचने और खरीदने का भाव उस स्थान की दूरी का विचार कर जहां से वे भेजी गई है तथा उस स्थान की दूरी का विचार कर जहाँ उन्हें भेजना है, समय का तथा उन वस्तुओ से मिलनेवाले लाभ-हानि का विचार करके निर्धारित करे। पाँच रात्रियो मे एक बार या पक्ष में एक बार वह उन व्यक्तियो की उपस्थिति मे भाव नियत करे जो उसे जानते है (८.४०१, ४०२)।

जब कोई खोई वस्तु मिले तो उसका संरक्षण विश्रब्ध मनुष्य करें। चोरी करने के अपराधी किसी भी चोर को राजा के हाथी के पैरो तले कुचलवा कर मारा डाला जाय (८ ३४)।

यह एक बहुत कुछ समाज की असस्कृत दशा का प्रमाण है कि कुछ स्थितियो मे मनुष्य को क्रय की हुई वस्तु को लौटाने तथा सविदा भग करने का अधिकार था—

जब किसी व्यक्ति ने किसी वस्तु का (जो नष्ट होनेवाली न हो, जैसे भूमि या तावा) क्रय या विक्रय किया हो और वह बाद मे उसे उचित न समझे तो वह उसे पुन दस दिन के भीतर (अन्तर्दशाहात्) लौटा या प्राप्त कर सकता है (८.२२२)।

विवाह को भी एक संविदा माना गया है किन्तु इसे तोडने की आज्ञा नही देनी चाहिए—

'यदि कोई व्यक्ति किसी दोषवती कन्या को विना उसके दोषों को प्रकट किये विवाह मे देता है तो राजा उसे छियानवे पणो का दण्ड लगावे (कुर्याद् दण्डं पण्नवतिं पणान, ८.२२४)।'

विवाह के मन्त्रो (पाणिग्रहणिकामन्त्रा.) का उच्चारण विवाह संविदा का निश्चित चिह्न (नियतं लक्षणम्) है। उन मन्त्रो मे सातवे पद के अवसर पर कहे जाने वाले मन्त्र को (सखा सप्तपदी भव, दे० पृ० १९३, बुद्धिमानो ने विवाह सविदा को पूरा (निष्ठा) करने वाला (चिह्न) माना हैं (८.२२७)।

सभी पूर्वीय देशो मे, विशेषतया प्राचीन समयो मे सम्पत्ति की असुरक्षा से दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हुई है जिनका आधुनिक योरोपवासी आश्रय नही लेते। वे प्रवृत्तियां है बहुमूल्य वस्तुओ को गाड कर अथवा सुरक्षा के लिये दूसरो के पास धरोहर रखना। इस प्रकार हम समझ सकते है

कि मनु की स्मृति (अध्याय ८. १७९ इत्यादि) मे 'निक्षेप' अथवा कानूनी शव्दावली मे 'जमानत' के विषय को क्यो महत्त्व दिया दिया गया है। विधि की इस शाखा का वर्णन इस प्रकार प्रारम्भ होता है :—

'वुद्धिमान व्यक्ति सद्वंशी, सच्चरित्र, विधिज्ञ, सत्यभाषी, अनेक संवन्धियो वाले, धनवान तथा माननीय व्यक्ति के पास धरोहर रखे (निक्षेपं निक्षिपेत्' ८.१७९)।'

यदि न्यासधारी निक्षेप को न लौटाये, और उसके साक्षी भी न हो, तो न्यायाधीश गुप्तचरो (प्रणिधि) से उसके पास सोना जमा करवावे और यदि वह इस सोने को भी न लौटावे तो उसे इन दोनो न्यासो को लौटाने के लिए वाध्य किया जाय (८.१८१–१८४)।

समाज की अविकसित दशा का एक और प्रमाण उधार ली गई सम्पत्ति के प्रयोग के लिये दिये जाने वाले व्याज तथा अतिरिक्तमूल्य के विषय मे दिये गये नियमो मे मिलता है। कभी-कभी उसे उसी प्रकार की वस्तु के रूप मे लौटाने की आज्ञा दी गई है[1], जैसे अन्न, फल, ऊन, पशु आदि उधार लेने पर। इससे प्रकट होता है कि सामान्य लेन-देन मे मुद्रा का प्रचलन अभी नही था (वाद के समय की याज्ञवल्क्यस्मृति २.२४१ मे 'नाणक' के उल्लेख से तुलना कीजिए)।

धन का व्याज (कुसीद-वृद्धि) जो सव एक वार ही लिया जाय (मासिक इत्यादि रूप मे नही) उसे दिये गये धन के दूने से अधिक नही होना चाहिए[2]; अनाज (धान्य), फल (सदे), ऊन (लवे), तथा भार ढोने वाले पशुओं (वाह्ये) पर व्याज उनके मूल्य के पाँच गुने से अधिक नही होना चाहिए (पञ्चता, ८ १५१)।

व्याज की दर (वृद्धि) केवल अधिक ही नही अपितु ऋण लेने वाले व्यक्ति के वर्ग के अनुसार अलग-अलग भी है किन्तु चक्रवृद्धि व्याज की स्वीकृति नही दी गई है (८ १५३)—

---

[1] तुलना कीजिए ड्यूट २३.१९,२० : 'तुम व्याज पर अपने भाई को कुछ न दो; रुपये का व्याज, खाद्यान्न का व्याज, किसी भी वस्तु का व्याज जो व्याज पर दी जाती है एक अपरिचित व्यक्ति को तुम व्याज पर दे सकते हो।' इत्यादि।

[2] मूल धन व्याज के जोड़ने से दूना होने पर मराठी में 'दाम्दुपट' कहलाता है। आजकल भी एक गाँव का महाजन ५० से ७५ प्रतिशत व्याज ले लेता है।

रुपया देने वाला (वार्धुषिकः) वर्णक्रमानुसार ब्राह्मण से दो प्रतिशत (द्विक शतम्), क्षत्रिय से तीन (त्रिकन्), वैश्य से चार (चतुष्कम्) तथा शूद्र से पांच प्रतिशत (पञ्चकन्) ब्याज प्रतिमास ले सकता है (८.१४२)।

८.१५६, १५७ में नाविकों को उनकी नौका की जमानत पर दिये जाने वाले ऋण का रोचक नियम है जो यह प्रदर्शित करता है कि मनु के समय मे समुद्री यात्राएं की जाती थीं।

ऋण के भुगतान के लिए कठोर नियम बनाये गये है और अधमर्ण को न केवल ऋण ही चुकाने को कहा गया है अपितु राजा के लिए दण्ड रूप में अतिरिक्त धन भी चुकाने की आज्ञा दी गई है। इस प्रकार[1]—

'जब ऋण उचित ठहरे और उसका भुगतान हो तो अधमर्ण उस धन के अतिरिक्त पांच प्रतिशत (पञ्चक शतम्) शुल्क और देता है और यदि (उचित होने पर भी) वह अस्वीकार करे तो दस प्रतिशत अतिरिक्त दण्ड रूप शुल्क चुकाना पड़ता है (८ १३९)

चरवाहों (पशुपाल) तथा उनके स्वामियो से सबद्ध नियम बड़ी सावधानी से दिये गये हैं (८.२२९ इत्यादि)। यहाँ एक उदाहरण दिया जाता है (८.२३२)—

'यदि पशु पालक के न बचाने पर (हीनं पुरुष कारेण) कोई पशु खो जाय (नष्ट) या कीड़ो द्वारा नष्ट कर दिया जाय (कृमिभिः), कुत्तो द्वारा मार डाला जाय या गड्ढे मे (विषमे) गिर कर मर जाय तो स्वय पशुपाल को वह पशु लौटाना पडता है।

हम यह भी गौर कर सकते है कि कुछ प्रकार के कृषिकर्म के मजदूरो को उसी प्रकार का पारश्रमिक देने का विधान है[2]—

---

[1] मनु ने बाद के समय मे प्रचलित 'धरना देने', अर्थात् ऋण चुकाने को बाध्य करने के लिए दरवाजे पर बैठने की विधि को स्वीकृति नही दी गईहै। इस प्रकार बैठने वाला व्यक्ति उपवास करता है और जब तक वह भोजन नही करता अधमर्ण को भी भोजन नहीं करना चाहिए और यदि उत्तमर्ण की इस प्रकार मृत्यु हो जाय तो उसकी हत्या का पाप अधमर्ण पर आता है। मूल रूप मे अपने लिये या किसी दूसरे व्यक्ति की ओर से धरना देने वाला व्यक्ति ब्राह्मण होता था। एच० एच० विलसन की 'ग्लासरी ऑफ इण्डियन टर्म्स' देखिए।

[2] रुपये की मजदूरी के अतिरिक्त समान प्रकार की वस्तु मजदूरी मे देने की प्रथा आज भी अनोखी नही है। थोडे ही दिन पूर्व अंग्रेजी राज्य मे भी भूमिकर उसी प्रकार की वस्तु के रूप मे दिया जाता था और आज भी कई आदिमजातीय राज्यो मे ऐसा ही होता है।

यदि मजदूरी पर कार्य करने वाले चरवाहे या पशुपाल को किसी अन्य प्रकार की मजदूरी न मिलती हो और उसे पारश्रमिक रूप मे दूध ही दिया जाता हो तो उसे स्वामी दस गायो में से (दशतो वराम्) सब से अच्छी गाय को दूह लेने की आज्ञा दे (८.२३१)।

सम्पत्ति से सवद्ध सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विषय है उत्तराधिकार (दाय) का कानून, जिसका विवेचन मनुस्मृति के नवें अध्याय मे किया गया है। और यहाँ हम इस उल्लेखनीय स्थिति को पाकर चकित हुए विना नही रह सकते कि हिन्दू कानून सम्पत्ति के स्वामी को कोई वसीयत का अधिकार नही प्रदान करता।[1] निश्चय ही सस्कृत भाष मे मृतपत्र 'विल' या 'टेस्टामेण्ट' के लिए उचित शव्द नही है। यह ध्यान रखना चाहिए कि पितृ-प्रधान समाज मे सभी सम्पत्ति सम्मिलित रूप से एक प्रकार की साझे की मानी जाती थी और पिता या परिवार का श्रेष्ठ व्यक्ति प्रमुख साझीदार समझा जाता था।

भारत मे, जहाँ प्रथाये शताब्दियो तक रूढ़ वन गई, पारिवारिक सम्पत्ति के समान अधिकार का यह आदिम विचार कुछ दिन पूर्व तक चलता आया। जैसा कि हम देख चुके है, परिवार एक सङ्घातवान् समाज है जिसके जोड़ने वाले वन्धन है परिवार के जीवित व्यक्तियो द्वारा मृत व्यक्तियो के लिये सम्मिलित रूप से दिये जाने वाले पवित्र उदकदान। पिता की मृत्यु के वाद पुत्र या निकटतम सम्वन्धी सपिण्डता के सरल अधिकार द्वारा, अर्थात् श्राद्ध कर्मो के समय (देखे पृ० २४५) मृत पिता, पितामह और प्रपितामह के लिए अपूप (पिण्ड) तथा जल इत्यादि की सम्मिलित रूप से दी गई वलियो से प्राप्त होने वाले अधिकार द्वारा सम्पत्ति का उत्तराधिकार प्राप्त कर लेते हैं। यह जान लेना चाहिए कि यद्यपि सम्पूर्ण परिवार का सम्पत्ति पर सम्मिलित अधिकार होता है, फिर भी, माता पिता के जीवन मे सम्पत्ति का वटवारा नही हो सकता और उनकी मृत्यु के वाद भी ज्येष्ठ पुत्र को परिवार की सम्मिलित सम्पत्ति के प्रमुख अध्यक्ष का स्थान ग्रहण करने की आज्ञा दी गई है·

सवसे वडा भाइ सम्पूर्ण पैतृक सम्पत्ति ('पित्र्य धनम्') को अपने हाथ मे ले सकता है। शेष परिवार उसके अधीन (तमुपजीवे) उसी प्रकार रहेगा जैसे पिता के अधीन रहता था (९.१०५)

---

[1] हमारी सरकार ने 'हिन्दू विल्स ऐक्ट' (१८७० का २१) के अनुसार इसे कानूनी ठहरा दिया है। इसके पहले हमारे न्यायालयो ने कुछ लेखपत्रो को मान्यता दी थी जो वसीयत से मिलते जुलते होते थे पर उनके नाम भिन्न होते थे।

उचित रूप से छोटे भाइयो पर व्यवहार रखनेवाले भाई को छोटे भाई माता तथा पिता के समान समझे (९ ११०)

इन सब के होते हुए भी यदि भाई चाहे तो उन्हें अलग होने की भी आज्ञा दी गई है और अध्याय ९ ११२ आदि मे पारिवारिक सम्पत्ति के बँटवारे के विस्तृत नियम दिये गये है; योग्यता तथा अवस्था के अनुसार भेद किया गया है और कुछ को सम्पत्ति के अधिकार के लिये अयोग्य ठहरा दिया गया है जो हमारे विचारों के अनुसार नितान्त अन्यायपूर्ण ठहरता है :

'माता पिता की मृत्यु के बाद सभी भाई एक स्थान पर एकत्र होकर पैतृक सम्पत्ति का बँटवारा कर सकते है, किन्तु माता पिता के जीवन-काल में उन्हे ऐसा करने का कोई अधिकार नही (९.१०४)

या तो वे एक साथ रहे (सहवसेयु) या धार्मिक प्रयोजनो से अलग-अलग रहे । यत. धार्मिक कर्मों (यथा 'पञ्चमहायज्ञा ' दे० पृ० २४२) की बँटवारे से बृद्धि होती है अत बंटवारा वैधानिक है (९ १११) ।

सबसे बडे पुत्र को बहुमूल्य चल सम्पत्ति के साथ सम्पत्ति का बीसवाँ भाग, मझले पुत्र को चालीसवाँ भाग और सबसे छोटे पुत्र को ८० वाँ भाग मिलता है (९ ११२)

इस प्रकार बँटवारे (उद्धार) द्वारा शेष वस्तु को सभी भाइयो मे बराबर-बराबर विभाजित किया जाय, यदि कोई उद्धार न हो तो वे इस प्रकार बँटवारा करें—सबसे बडे पुत्र को दूना हिस्सा मिले, उसके बाद के पुत्र को डेढ़ हिस्सा, (यदि ये दोनो विद्या तथा योग्यता मे बढकर हो), और इनसे छोटे पुत्रो को एक एक हिस्सा मिलना चाहिये (९ ११६, ११७) ।

जो भाई कुकर्मों के शिकार है (यथा जुआ, यौन व्यभिचार इत्यादि) उन्हे उत्तराधिकार मे कोई भाग नही मिलता (नार्हन्ति, ९.२१४)

पुस्त्वहीन व्यक्ति (क्लीव), जातिच्युत (पतित), अन्धे, बधिर, मूढ, जड़, गूँगे, विकलाङ्ग या विकलेन्द्रिय व्यक्ति भी सम्पत्ति के अंशभागी नही होते (९ २०१)

किन्तु एक बुद्धिमान् उत्तराधिकारी सामान्य निष्पक्षता से ऐसे सभी व्यक्तियो को अपनी सामर्थ्य के अनुसार भोजन तथा वस्त्र (ग्रासाच्छादनम्) प्रदान करे अन्यथा वह घोर पाप का भागी होगा (९.२०२)

यह द्रष्टव्य है कि स्त्रियो को सम्पत्ति के विभाजन मे कोई सीधा अधिकार नही दिया गया है :

तीन व्यक्तियो की कोई अपनी सम्पत्ति नही बतलाई गई है (अधना:)

पत्नी, पुत्र तथा दास। जो कुछ भी धन का उपार्जन वे करते हैं सभी उस व्यक्ति का होता है जिसके अधीन वे होते हैं (८.४१६)।

इन सबके होते हुए विवाह-संस्कार तथा उसके उपरान्त वधू को प्राप्त वैवाहिक अश (शुल्क) या उपहार उसकी निजी सम्पत्ति माने जाते है। इन्हे ही 'स्त्रीधन' या स्त्री का (पृथक्) धन[१] या दहेज कहते है, जो आज भी इसी नाम से प्रचलित है, और जो मनु के अनुसार छः प्रकार का होता है.—

जो कुछ भी हो स्त्री को वैवाहिक अग्नि के निकट (अध्यग्नि) मिले, जो कुछ भी हो उसे पिता के घर से पति के घर जाते समय मिले (अध्यावाहनिकम्); प्रेम (प्रीति) के चिह्न रूप मे पति से प्राप्त उपहार, अपने भाई, माता तथा पिता से इसी प्रकार का मिला हुआ उपहार—ये सभी स्त्री के अपने धन हैं (९.१९४)।

अविवाहित कन्याओ को भी पिता की मृत्यु के उपरान्त अपने भाइयो को मिलने वाले हिस्सो मे अंश मिलने का नियम है (९.११८)। अधोलिखित (९.१३०) कथन द्रष्टव्य है—

'पुरुप का अपना पुत्र स्वयं उसके समान है और पुत्री पुत्र के ही तुल्य है। तव (यदि उसके पुत्र नही होते) उस पुत्री के जो उसका ही अश है (आत्मनि तिष्ठन्ती) अतिरिक्त दूसरा कोई व्यक्ति सम्पत्ति का अधिकारी कैसे हो सकता है ?

अव मैं मनु की दण्डविधि के सूक्ष्म विवेचन पर आता हूँ। उनकी दण्डविधि की तीन नितान्त प्रमुख विशेपताएँ ठीक वे ही है जो प्राचीन दण्डविधि मे पाई जाती हैं, अर्थात् कठोरता, असमानता, तथा 'जैसे को तैसा' के कल्पित न्याय मे निष्ठा। इनमे अन्तिम से इस प्रकार के दण्ड उत्पन्न हुए जो आगे चलकर अपराध के अनुपात से अनुचित ढग से शून्य और कभी-कभी वर्वर निर्दयता से युक्त हो गये।[२] इस प्रकार.—

---

[१] प्राय: इसे स्त्रिधन (stridhun) लिखते हैं; श्री हरवर्ट कोवेल १८७१ के अपने टैगौर ला लेक्चर्स (पृ० २८) मे कहते है कि यद्यपि इस सम्पत्ति को एकमात्र पत्नी का माना जाता है फिर भी पति का इस पर समान अधिकार होता है जिससे वह किसी भी आपत्काल मे विना हिसाव दिये उसका उपयोग कर सकता है। स्त्रीधन आजकल उपहार अर्जन तथा उत्तराधिकार से मिलता है और दायभाग का यह कथन है कि पति का पत्नी की अर्पित सम्पत्ति तथा निकट सम्वन्धी के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति से उसे मिले हुए उपहारो पर अधिकार होता है।

[२] इस विपय पर श्री मिल ने सर वि० जोन्स का उद्धरण दिया है जो

एक निम्न जाति का व्यक्ति जिस अंग से अपने से श्रेष्ठ वर्ण वाले पर प्रहार करे उसका वही अग काट लिया जाय (८.२७९)।

यदि एक जन्म वाला शूद्र द्विजातीय व्यक्तियो का दुर्वचनो से (वाचा दारुणया) अपमान करे (क्षिपन्) तो उसकी जीभ काट ली जाय (८.२७०)।

यदि वह उसके नाम या जाति का अपमानपूर्वक उच्चारण करे (यथा, रे यज्ञदत्त दुष्ट ब्राह्मण) तो दस अगुल लम्बा दहकता हुआ लोहे का डण्डा उसके मुँह मे घुसेड दिया जाय (८.२७१))

यदि वह मदोन्मत्त होकर किसी ब्राह्मण को कर्तव्य का उपदेश दे (यथा 'तुम्हे ऐसा करना चाहिए') तो राजा उसके मुख तथा कानो मे खौलता हुआ तेल डलवावे (८.२७२)

चोरो के हाथ काट डालने चाहिएँ और उन्हें शूली पर लटका देना चाहिए (९ २७६)।

धोखा देने मे पकड़े गये स्वर्णकार का शरीर छुरे से टुकड़े-टुकड़े काट दिया जाय (९.२९२)

सभवत दण्डविधि मे सर्वाधिक आपत्तिजनक, निर्दय प्रतिकार नही है जो कदाचित् वास्तविक व्यवहार की अपेक्षा सिद्धान्त का ही विषय था, अपितु ब्राह्मणो के प्रति प्रदर्शित की जाने वाली उदारता है। यह देखा जा सकता है कि अपराधी के पद एवं उसके वर्ण के अनुसार एक क्रमिक दण्डमान का विधान किया गया है। इस प्रकार—

'ब्राह्मण यदि सभी प्रकार के दुष्कर्मों का अपराधी हो (सर्वपापेष्वपि स्थितम्) तो भी राजा को कभी उसका वध नही करना चाहिए; बिना शरीर को क्षति पहुँचाए और उसकी सारी सम्पत्ति देकर वह उसे राज्य से बाहर निकाल दे। पृथ्वी पर ब्राह्मण के वध से बढकर कोई पाप नही है। इसलिए राजा को कभी भी ब्राह्मण का वध करने का विचार तक नही करना चाहिए (८ ३८०,३८१)।

उनकी तरह प्रत्येक हिन्दू वस्तु को प्रतिकूल रूप मे नही उपस्थित करते : 'आदिम राजशक्तियो के अग-भग के दण्ड मानव को दहला देने वाले हैं। हम जानते है कि हमारे प्रभु ने जैसे को तैसा ('an eye for an eye and a tooth you tooth', मैथ्यू ५.३८ दे० लेव० २४ २०, ड्यूट० १९.२१) विषय पर क्या उपदेश दिया है। ड्रेको तथा प्राचीन मिस्रवासियो के नियमो से तुलना करें। स्ट्राबो (१५.१.५४) हिन्दुओ के विषय मे कहते है : 'जो मिथ्या साक्ष्य देता है उसके अंग काट लिए जाते हैं तथा जो किसी का अंग-भंग करत है उसका अंग-भंग कर दिया जाता है।

ब्राह्मण का अपमान करने पर क्षत्रिय से एक सौ पण (शतं दण्डमर्हति) दण्ड रूप मे लेना चाहिए; वैश्य यह अपराध करे तो उससे डेढ़ या दो सौ पण लेना चाहिए, और शूद्र यदि यह अपराध करे तो वह शारीरिक-दण्ड[१] का भागी होता है (वधमर्हति, ८ २६७)।

अध्याय ११ ५४ मे पाँच घोर अपराधो (महापातकानि) को गिनाया गया है जिनको सबसे बड़ा अपराध माना गया है, यद्यपि निश्चय ही योरोपीय दृष्टिकोण से सभी समान रूप मे निम्न नही है—

१ ब्राह्मण की हत्या (ब्रह्महत्या); २. मदिरा पीना (सुरापान); ३. ब्राह्मण का सोना चुराना (स्तेय); ४. गुरु की पत्नी के साथ संभोग (गुर्वङ्गनागमः); तथा ५. इस प्रकार के पापियो के साथ सम्पर्क ।

इनमे से कुछ पापो के लिये न्यायसगत वैवानिक दण्डो की अपेक्षा स्वेच्छापूर्वक की जाने वाली कठोर तपस्याओ का विधान किया गया है (दे० पृ० २०९), और ११ ४९ मे उन्हे अगले जन्म का एक मात्र फल वताया गया है । प्रथम के लिए मनुष्य अगले जन्म मे क्षय रोग से ग्रस्त होगा (क्षयरोगित्वम्, ११.७३ भी देखिए); द्वितीय के लिये उसके दाँत श्याव होगे; तृतीय के लिए उसके नख गिर जायेगे (कौयख्यम्) ।[२]

अपरञ्च १२.५४–५७ में इससे भी कही अधिक भयकर परिणाम वताये गये हैं । ऐसा वताया गया है कि इन महापातको के अपरावी असंख्य वर्षो तक भयकर नरको (घोरान् नरकान्) मे पडे रहते है और उसके वाद नई योनि प्राप्त करते हैं । इनमे से किसी एक नरक मे (पृ० २१७) दीर्घकाल तक कष्ट उठाकर ब्राह्मण की हत्या करने वाला (ब्रह्महा) कुत्ता, सूअर, गर्दभ, वृषभ, वकरा, भेंड, हिरण, पक्षी या जातिहीन चण्डाल की योनि अपने पाप के अंश के अनुसार पाता हैं; सुरापान करनेवाला कृमि, कीट, पतङ्ग आदि का जन्म लेता है; सोना चुराने वाला हजारो वार मकड़ी, सर्प तथा हिंसक दैत्यो आदि की योनि पाता है ।

दूसरे वर्ग के पाप ये है:—

अपने को मिथ्या रूप से अधिक उच्च वर्ण का वताना, गुरु की झूठी निन्दा, पुनरावृत्ति मे प्रमाद करके वेद के मन्त्रो को भूलना (ब्रह्मोज्झता), झूठा साक्ष्य

---

[१] वध का अर्थ 'मृत्युदण्ड 'किया जा सकता है किन्तु कुल्लूक इसका अर्थ 'कोडे से मारा करते हैं ।

[२] इस कारण अध्याय ३ १५३, १५४ मे कहा गया है कि सूक्ष्म रोग युक्त, रुग्ण नख वाले (कुनखिन्) तथा श्यावदन्त वालो (श्यावन्तक) को श्राद्धो से वञ्चित रखना चाहिए ।

देना (कौटसाक्ष्यम्), अपवित्र अन्न का भक्षण, निक्षेप को चुरा लेना, भगिनी आदि निकट की स्त्रियो के साथ संभोग, निम्न वर्णों की स्त्रियो के साथ मैथुन। तीसरे वर्ग के अपराधों (उप-पातकों) की एक लम्बी सूची ११.५९–६६ मे दी गई है, जिनमे कुछ ये है —

गाय का मारना (गोवध.); वेदाध्ययन की (अर्थात् दैनिक ब्रह्मयज्ञ) उपेक्षा; पवित्र अग्नि की उपेक्षा; व्याज लेना (वार्धुष्यम्'); तालाब, बगीचा, पत्नी या पुत्र को बेचना; यथाकाल उपनयन न करना (व्रात्यता); किसी प्रकार की सोने आदि की खान का अधीक्षण (सर्वाकरेष्वधिकार.); हरे वृक्षो को ईंधन के लिये काटना; आत्मस्वार्थ से (आत्मार्थम्) धार्मिक कर्म करना; धर्म विरोधी पुस्तको का पाठ (असच्छास्त्राधि गमनम्); सगीत तथा नृत्य का दुर्व्यसन (कौशील व्यस्य क्रिया); नास्तिकता ।

इनमे से भी कई पापो के लिये स्वेच्छा से की गई तपस्यायें एकमात्र दण्ड होती है । इस प्रकार, गाय का वध करने वाले को अनेक कष्टसाध्य कार्य करने होते है । गोपालक का कार्य कर प्रायश्चित्त करना होता है, गायो को चोट से बचाते हुए, तीन महीने तक सब प्रकार के मौसम मे दिन-रात चलते हुए, तथा उनके खुरो से उठी हुई धूल फाँककर बिताना पड़ता है (११. १०८–११५) ।

परीक्षा या शपथ (दिव्य) द्वारा अपराध के निर्णय को भी मनु ने माना है, हालाँकि इसके दस विभिन्न रूपो मे सभी का विवेचन उन्होने नही किया है, जैसा कि बाद की रचनाओ मे किया गया है[१]—

(जिस व्यक्ति की सत्यता मे सन्देह हो) उससे अग्नि उठवावे, या जल मे डुबावे (अप्सु निमज्जयेत), या उसे अपनी पत्नी और बच्चो का सिर एक-एक करके छूने को कहे । जिस व्यक्ति को अग्नि की लपटे नही जलाती, जल ऊपर फेक देता है ('आपो नोन्मज्जयन्ति'), जिस पर कोई विपत्ति नही पडती उसे उसी क्षण निर्दोष समझना चाहिए (८ ११४, ११५) ।

---

[१] ये दस प्रकार (जिनमे से कुछ याज्ञवल्क्य ने भी दिये है, देखे आगे) इस प्रकार है—१ 'तुला', अर्थात् तराजू २. अग्नि, ३ जल, ४. विष, ५ कोश : ऐसे जल को पीना जिसमे मूर्ति धोई गयी है; ६ तण्डुल : चावल के कण चबाकर निगलना, ७. तप्तमाष . खौलते हुए तेल मे से एक माप वजन का सोना निकालना, ८. फाल : जलते हुए फाल को पकड़ना, ९. धर्माधर्म · मिट्टी से भरे हुए पात्रो मे छिपाई हुई धर्म तथा अधर्म की मूर्तियाँ निकालना; १०. 'तुलसी' : अर्थात् तुलसी वृक्ष की पत्तियो को हाथ मे लेना; इस तुलसी वृक्ष को विष्णु का प्रिय वताया जाता है ।

अब साक्ष्य की कतिपय विधियो का विवेचन शेप रह जाता है। न्यायालय मे मिथ्या साक्ष्य देने वालो के विपरीत भयकर घृणा प्रदर्शित की गई है (८.८२)। विश्वसनीय साक्ष्य देने मे योग्य साक्षियो के चुनाव के लिये भी नितान्त कठोर नियमो का पालन करना होता है। किसी विवाद मे एक तथ्य की पुष्टि करने के लिये कम से कम तीन साक्षियो की आवश्यकता पडती है—

यदि किसी व्यक्ति के यहाँ ऋण देने वाला ऋण के लिये आवे (कृतावस्थः) और पूछने पर वह व्यक्ति ऋण लेना अस्वीकार कर दे तो राजा[1] द्वारा नियुक्त ब्राह्मण के समक्ष उसका अपराध तीन साक्षियो द्वारा सिद्ध होना चाहिए (त्र्यवरै. साक्षिभिः, ८.६०)।

साक्षियो को अपना साक्ष्य मौखिक देना होता है लिखित बयानो और उनके विपय मे कोई नियम नही दिया गया है, जिससे यह सभव हो जाता है कि इस प्रकार का साक्ष्य प्रारम्भिक काल मे, जब मनुस्मृति लिखी गई, मान्य नही था या कम से कम प्रचलित नही था, हालाँकि याज्ञवल्क्य ने लिखित साक्ष्य को पूर्ण मान्यता दी है। यदि साक्ष्य परस्पर विरोधी हो तो न्यायाधीश विश्वसनीय साक्षियो के बहुमत के आधार पर निर्णय दे। यदि साक्षियो की सख्या बराबर हो तो वह उन लोगो के साक्ष्य का आश्रय ले जो धार्मिक सद्‌गुणो के लिये विख्यात हैं (८.७३)। याज्ञवल्क्य ने भी इसके अनुरूप ही एक नियम का प्रतिपादन किया है। यह विचारणीय विपय है कि स्त्रियाँ नियमतः स्त्रियो के अतिरिक्त अन्य किसी के लिये साक्ष्य देने से मुक्त रखी गई है (८.६८)। अपरञ्च, साक्षियों की विश्वसनीयता के ये भेद योरोपीय व्यक्ति को बहुत कुछ असाधारण और मूर्खतापूर्ण प्रतीत होगे · जिस व्यक्ति को पुत्र है उसे पुत्री वाले व्यक्ति से अधिक विश्वस्त माना गया है (८.६२)। कदाचित इसलिये की पुत्र वाले का सामाजिक समृद्धि मे अधिक योग दान समझा जाता है। क्षुधार्त, पिपासार्त्त या श्रान्त व्यक्ति को साक्ष्य देने के सभी अधिकारो से वञ्चित रखा गया है (८ ६७)। निम्न का कारण बहुत स्पष्ट नही है—

चोट पहुँचाकर डाका डालने (साहसेषु), चोरी, व्यभिचार (स्तेय संग्रहणेषु), निन्दा तथा प्रहार (वाग्दण्डयोः पारुष्ये) के मामलो मे न्यायाधीश साक्षियो की (योग्यता) अधिक कठोरता से परीक्षा न ले (न परीक्षेत साक्षिण, ८.७२)।

---

[1] साक्षियो के विषय मे याज्ञवल्क्य के नियमो से तुलना कीजिब जो मनु के नियमो के विकसित रूप है।

मुझे लगता है कि नीचे दी गई शिक्षा उस अनुकूल प्रभाव को कम करने के लिये दी गई है, जो मानवो की विधियो को सामूहिक रूप मे तथा परिस्थितियो के सदर्भ मे देखने पर निर्मल मस्तिष्क पर पड़ता है।

'कुछ स्थितियो मे यदि कोई व्यक्ति धर्मसंगत प्रयोजन से (धर्मतः) सत्य को जानते हुए भी उस तथ्य का मिथ्या बयान दे तब भी वह स्वर्गच्युत नही होता; इस प्रकार के कथन को दैवी वाणी कहा जाता है।

जहाँ कही सत्यभाषण से किसी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र की मृत्यु रूप परिणाम होने वाला हो वहाँ असत्य भाषण किया जा सकता है, क्योकि इस स्थिति मे सत्य से असत्य श्रेयस्कर है (८.१०३, १०४)।

इसी प्रकार की एक शिक्षा याज्ञवाल्क्य स्मृति मे भी आती है परन्तु उसमे एक प्रायश्चित का विधान किया गया है।

५. अब मै मनु स्मृति के ग्यारहवे अध्याय मे वर्णित कुछ प्रायश्चित्तो या तपस्यायो पर विचार करूँगा।

प्राजापत्य (प्रजापति के नाम पर ख्यात) व्रत करने वाले द्विज को तीन दिनो तक केवल प्रातःकाल एक बार भोजन करना चाहिए, तीन दिनो तक फिर केवल एक बार सायकाल भोजन करना चाहिए, तीन दिनों तक विना माँगे हुए (किन्तु भिक्षारूप मे दिये गये) अन्न का आहार करना चाहिए और उसके बाद तीन दिनों तक कुछ भी भोजन नही करना चाहिए (११.२११)।

अतिकृच्छ नामक व्रत करने वाला द्विज पहले की तरह (जैसा इसके पूर्व वर्णित है) तीन दिनो तक तीन बार केवल एक एक कौर (ग्रास) भोजन करे और अन्तिम तीन दिनो मे पूर्ण व्रत करे। (११ २१३)

तपकृच्छ्र (उष्ण तथा कठिन) व्रत करने वाला ब्राह्मण उष्ण जल, उष्ण दुग्ध, उष्ण घृत, उष्ण वायु ग्रहण करे और इनमे से प्रत्येक को क्रमशः तीन दिनो तक स्नान करके ग्रहण करे (११ २१४)। मन को वश मे रखने वाले तथा चित्त को ध्यान मे लीन रखने वाले व्यक्ति द्वारा बारह दिनो तक किये गये उपवास को पराक व्रत कहते हैं जो सभी पापो को दूर करता है (११.२१५)

एक दिन तक दूध, दही, घृत तथा कुश घास से गरम किये गये जल को मिलाकर गाय के गोवर तथा मूत्र का भक्षण और एक दिन तथा रात को पूर्ण उपवास सान्तपन नामक व्रत कहलाता है (११.२१२)।

अन्तिम व्रत किसी भी ऐसे व्यक्ति को करना होता है जो जान बूझ कर जाति भ्रष्ट करने वाला कर्म ('जाति भ्रंशकरं कर्म') करता है; यदि वह कर्म अनजान में हुआ हो तो प्राजापत्य करना होता है (देखें ११.१२४)।

पञ्चगव्य व्रत में ऊपर सान्तपन व्रत के अन्तर्गत उल्लिखित गाय के पाँच विकारो को निगला जाता है। 'इसे अन्न, सवारी, शय्या, आसन, मूल, फूल तथा फल चुराने के अपराध का पर्याप्त प्रायश्चित्त कहा गया है (११.१६५)। अन्य विलक्षण व्रत तथा प्रायश्चित्त भी गिनाये गये हैं—

मोहवश सुरापान कर लेने वाला द्विज (प्रायश्चित्त के लिए) उसी सुरा को खौलाकर (अग्निवर्णाम्) पिये। यदि इस क्रिया से उसका शरीर पूर्णतः जल जाय तो वह पापमुक्त हो जाता है (११.९०)।

जब पारमार्थिक ज्ञान (ब्रह्म), जो उसके शरीर मे विद्यमान रहता है (कायगतम्), एक वार सुरा से सिक्त हो जाता है तो उसका ब्राह्मण पद चला जाता है और वह शूद्र की अवस्था मे पतित हो जाता है (११.९७)।

जो व्यक्ति किसी ब्राह्मण को थत्' ('हूम्') कहता है या (ज्ञान मे) अपने से श्रेष्ठ व्यक्ति को 'तू' कहता है वह स्नान करे, शेष दिन कुछ भी भक्षण न करे, और ब्राह्मणो के पैरो पर गिरकर उसके क्रोध को शान्त करे (११.२०४)।

यदि (सोमयज्ञ मे, देखिए पृ० ११ पर टि० १) सोमपान कर चुकने वाला कोई ब्राह्मण किसी ऐसे व्यक्ति के श्वास को सूँघ ले जो सुरापान करता है तो उसका पाप जल के नीचे तीन वार प्राणायाम करने तथा घृत निगल लेने से दूर होता है (११ ४९)।

अत्यन्त कष्टप्रद व्रतो मे एक चान्द्रायण व्रत कहलाता है जो ६.२०; ११ २१६–२२१ मे वर्णित है। हम इसका एक सक्षिप्त विवरण दे चुके है (देखें पृ० ११२) और यहाँ उससे अतिरिक्त केवल उन कुछ अपराधो पर विचार करना रह जाता है जिनके लिये यह व्रत किया जाता है—

किसी पुरुष या स्त्री को उठा ले जाने, क्षेत्र या घर का अपहरण कर लेने, तथा विना आज्ञा के कूँए या जलाशय से जल ग्रहण करने का प्रायश्चित्त चान्द्रायण व्रत वताया गया है (११.१६३)। यह उन कर्मो के लिये भी किया जाता है जिनसे संकर जाति उत्पन्न होती है और जाति वहिष्कार होता है (११ १२५)।

अधोल्लिखित विवरण से यह स्पष्ट होगा कि वेदपाठ को सबसे वडा प्रायश्चित्त माना गया है—

एकाग्रचित्त होकर सावित्री (या गायत्री दे० पृ० २१) का तीन हजार वार जप करके और गोसदन मे एक महीने तक गाय का दूध पीकर ब्राह्मण दुष्ट व्यक्तियो से दान लेने के पाप से मुक्त हो जाता है (असत्प्रतिग्रहात्, ११.१९४)।

अपने छोटे-बड़े सभी पापो से छुटकारे की इच्छा रखते हुए (चिकीर्षन अपनोदनम्) उसे एक वर्ष तक दिन मे एक बार 'अव' तथा 'यविक चेदम्' (ऋग्वेद ७.८९.५) से प्रारम्भ होने वाले मन्त्रो का जप करना चाहिए ।

निषिद्ध दान लेने पर या दूषित अन्न खाने पर वह तीन दिनों तक 'तरत्स मन्दी धावति' (ऋग्वेद ९.५८) से प्रारम्भ होने वाले सूक्त का जप करने से पापमुक्त होता है (११.२५२,२५३) ।

यदि वह अनेक पापो से युक्त (बह्वेनाः) भी हो तो एक माह तक 'सोमा रूद्रा' (ऋग्वेद ६.७४ १, अथर्ववेद ७.४२ १) से प्रारम्भ होने वाले सूक्त का पाठ करने से (अभ्यासस्य) तथा 'अर्यमनं वरुण मित्रम्' (ऋग्वेद ४.२ ४) से प्रारम्भ होकर चार मन्त्रो का बहती हुई जलधारा मे तर्पण के साथ पाठ करने से वह मुक्त हो जाता है (११ २५४) ।

ध्यान लगाकर उपनिषदो सहित (सरहस्य) ऋक् यजुस् तथा सामवेद की सम्पूर्ण संहिताओं और ब्राह्मणो का तीन बार पाठ करने पर वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है (११.२६२) ।

६ छठा और अन्तिम शीर्षक है 'कर्म फल' । मैं सम्पूर्ण हिन्दू सिद्धान्तो की, जिनमें कर्मों के फल भोगने तक आत्मा के तीन विभिन्न कोटि की योनि में भटकते रहने का सिद्धान्त भी है, विशेषता प्रकट करने वाले कुछ अंशो को उद्धृत करूँगा ।

अध्याय १२ ३, ९, ११, ३९, ४० मे कहा गया है कि उत्तम, मध्यम तथा अवर योनियों मे देहान्तरप्राप्ति, सत्त्व, रजस तथा तमस् (देखे पृ० ६५ टि० २) के प्रभाव से उत्पन्न अच्छे या बुरे कर्मों, वचनों या विचारो का फल होती है; कर्मणा पाप के लिये मनुष्य को वनस्पति या स्थावर रूप ग्रहण करना पड़ता है; वचन के पाप के लिये पक्षी या पशु की योनि तथा विचार के पापों के लिए निकृष्ट वर्ण के मनुष्य की योनि प्राप्त होती है; किन्तु तीन प्रकार के आत्मनिग्रह से (पृ० १४० टि० १, पृ० १८४ पर) सभी जन्मो से मुक्ति तथा अन्तिम मोक्ष की प्राप्ति होती है :—

जो सत्त्वगुण से युक्त होते हैं वे देवता का शरीर प्राप्त करते है (देवत्वम्); जो रजस् से युक्त है, वे मनुष्य बनते हैं; जिनमें तमस् (अन्धकार तथा जडता) का आधिक्य होता है वे पशु बनते हैं (१२. ४०) ।

किन्तु १२. ४१,५० मे योनियो मे आत्मा के भ्रमण की तीन कोटियों में से प्रत्येक को तीन प्रकार के जीवो मे बाँटा गया है, जिनकी वृद्धि तथा विभाग ऐसे सिद्धान्तो पर आधृत है जो बहुत स्पष्ट तथा सुबोधगम्य नही हैं—

१. (क) सात्विकी उत्तमा—ब्रह्मा, स्रष्टा, मरीचि आदि; (ख) मध्यमा सात्विकी यज्ञकर्त्ता (यज्वन.)—ऋषि, मूर्तिमान् देवता (=देवा=देवताःविग्रहवत्यः), नक्षत्रदेवता, पितृगण, साध्य आदि; (ग) सात्विकी अधमा सन्यासी—तपस्वी, ब्राह्मण, स्वर्गीय विमानों मे चलने वाले (वैमानिक.), चान्द्र ज्योतिष्चक्र के देवता, तथा दैत्य आदि (१२. ४८–५०) ।

२. (क) उत्तमा राजसी गति—गन्धर्व, गुह्यक, यक्ष, अप्सराएँ इत्यादि; (ख) मध्यमा राजसी—राजा क्षत्रिय, राजा के पुरोहित इत्यादि; (ग) अधमा राजसी—गदा चलाने वाले (झल्लाः), मल्लयुद्ध करने वाले (मल्ला.) नट, युद्ध की वृत्तिका वाले, द्यूतकर तथा मद्यपान करने वाले (१२. ४५–४७)

३. (क) उत्तमा तामसी गति—चारण, पक्षी (सुपर्णा =पक्षिणः), धोखेबाज मनुष्य, राक्षस, पिशाच, आदि; (ख) मध्यमा राजसी—हाथी, घोड़े, शूद्र, नीच म्लेच्छ, सिंह, चीते, सूअर; (ग) अधमा तामसी–वनस्पतियाँ तथा स्थावर वृक्ष स्थावरा = वृक्षाध्य), कृमि, कीट, मत्स्य, सरीमृप, कच्छप, ढोर तथा विभिन्न प्रकार के पशु (१२ ४२–४४) ।

करने और न करने से संबद्ध वाह्यत· लघु पापो का भी किसी व्यक्ति की जीवन गति को पतित वनाने या उसे रोगयुक्त बनाने मे बड़ा विलक्षण प्रभाव देखने में आता है :—

अपने गुरु की निन्दा करने से (परीवादात्) मनुष्य गदहे का जन्म पाता है; उनका तिरस्कार करने पर कुत्ता होता है; यदि उनकी सम्पत्ति का विना उनकी आज्ञा के प्रयोग करे तो वह कृमि होता है; और उनसे असूया रखने पर कीट की योनि प्राप्त करता है (२. २०१) ।

यदि कोई व्यक्ति अन्न की चोरी करे तो वह चूहे का जन्म पाता है। यदि पीतल की चोरी करे तो हस का जन्म पाता है । यदि जल की चोरी करे तो जलप्लव वनता है। मधु की चोरी करने पर मक्खी का, दूध की चोरी करने पर कौए का, रस की चोरी करने पर कुत्ते का, और घी की चोरी करने पर नेवेल का जन्म पाता है (१२ ६२) ।

अपने वर्ण के कर्तव्य की अवहेलना करने वाला (धर्मात्स्वकात्) ब्राह्मण उल्कामुख राक्षस के रूप मे जन्म लेगा । इस प्रकार का क्षत्रिय विष्ठा तथा शव भक्षण करने वाला राक्षस होगा और वैश्य पूतिमास-भक्षक राक्षस होगा (उल्कामुख, कट पूतन, तथा मैत्राक्षज्योतिष्क, १२. ७१,७२) ।

अन्न चुराने वाला (भावी जीवन मे) मन्दाग्नि का रोगी होगा, (वेदो के) शब्दो को (विना साक्ष्य के पाठ करके) चुराने वाला मूक होगा, वस्त्र

चुराने वाला श्वेतकुष्ठ का रोगी होगा, अश्व चुरानेवाला लँगड़ा होगा (११. ५१)। तुलना पृ० २७५।[1]

---
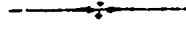
[1] इस व्याख्याय मे ब्राह्मणो के विषय मे मेगास्थनीज (३०० ई० पू०) के कुछ वर्णनो को दे देना अच्छा होगा । (स्ट्राबो १५.१,५९)—"वे मृत्यु की तैयारी करने के लिये कठोर तप करते है जिसे वे एक वास्तविक एवं आनन्दमय जीवन मे जन्म मानते है । उनका विश्वास है कि मनुष्य पर घटित होने वाला कुछ भी अच्छा या बुरा नही है । संसार की सृष्टि हुई और यह नश्वर है । यह गोले के सदृश है। जिस ईश्वर ने इसकी रचना की और जो इस पर शासन करता है वह इसके प्रत्येक भाग मे व्याप्त है । जल-तत्व की सर्वप्रथम सृष्टि हुई; चार तत्वो के अतिरिक्त एक पाँचवा तत्व भी है; पृथ्वी विश्व के मध्य मे है । इसके अतिरिक्त, प्लेटो के समान वे आत्मा की अमरता और नरक के दण्डो के विषय मे कई कथाये गढते हैं । जहाँ तक सामान्य हिन्दुओ का प्रश्न है—वे लेखन कला से अनभिज्ञ हैं; उनके लिखित कानून नही है; वे प्रत्येक वस्तु की व्यवस्था स्मृति द्वारा करते हैं (१५.५३,६६) । वे दास नही रखते (५४); वे जूपिटर प्लूवियस, गगा नदी तथा ग्राम देवताओ की पूजा करते है, पर्वतो पर निवास करने वाले डिओनिसस (शिव) की तथा मैदानो मे रहने वाले हेराक्लीज़ (विष्णु) की पूजा करते है (१५ ५८,६९) । वे यज्ञो के अतिरिक्त और कभी सुरा नही पीते (५३) । किसी व्यक्ति को दूसरे वर्ण के व्यक्ति से विवाहित करने की आज्ञा नही है, न तो एक जीवन-वृत्ति छोडकर दूसरी जीवन-वृत्ति स्वीकार करने की आज्ञा है । वे अनेक कार्यो मे भी नही लग सकते जब तक कि वे दार्शनिको की जाति के न हो (१५ ४९) । ये दार्शनिक दो प्रकार के है : ब्रासमनीज़ तथा गार्मनीज़, ब्राह्मण तथा श्रमण या बौद्ध (साधु ५९) । दोनो ही तपस्या करते है, और दिन भर विना हिले डुले एक ही आसन मे रहते हैं" (६०; तुलना १५.६१, ६३) ।

स्मृति–मनु (क्रमशः)

अब मैं मनु की कतिपय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शिक्षाओं को स्मृति के विभिन्न भागों से लेकर उनका यथासम्भव शब्दशः भाषानुवाद इन चार शीर्षकों के अन्तर्गत प्रस्तुत करने का प्रयत्न करूँगा : **'आचार'** या व्यवहार के नियम; **'व्यवहार'** या शासन तथा न्याय सम्बन्धी नियम; **प्रायश्चित्त** अर्थात् व्रत एवं तपस्यायें; **कर्मफल** अर्थात् कर्मों के पुरस्कार एवं दण्ड।

'आचार' या व्यवहार के नियम

एक ब्राह्मण अपने उच्च जन्म के कारण देवताओं में परम देवता कहलाता है। वह समस्त जगत् के लिये सत्य का मानदण्ड है ऐसा श्रुति का वचन है (११ ८४)।

विद्या[1] अपने स्वर्गीय गृह से उतरकर ब्राह्मण के पास आकर बोली, 'मैं तुम्हारा अभीष्ट भण्डार बनने आई हूँ, मुझे असूया रखने वाले को मत देना, किन्तु पवित्र, आत्मसंयमी धर्मात्मा तथा प्रमादरहित ब्रह्मचारी रक्षक को प्रदान करना। इस प्रकार ऐसे व्यक्तियों के पास पहुँचकर मैं अमोघ शक्ति से सम्पन्न हो जाऊँगी (२ ११४, ११५)।'

श्वेत केश वाले व्यक्ति को ही देवता लोग वृद्ध समझ कर आदर नहीं देते, केवल वही व्यक्ति जो यथार्थतः ज्ञानी है[2] युवक होते हुए भी वृद्ध होता है (२.१५६)।

लकड़ी का हाथी, चमड़े का हिरण और बिना विद्या के ब्राह्मण—तीनों ही केवल नाम धारण करते हैं (२ १५७)। जिस प्रकार कृषक परिश्रम के साथ कुदाल से जमीन को खोदकर मधुर जल के स्रोत प्राप्त करता है उसी प्रकार जो व्यक्ति जिज्ञासापूर्वक सत्य का अन्वेषण करता है वह अपने गुरु के मस्तिष्क में भरे हुए ज्ञान के भण्डार को प्राप्त करता है। (२ ११८)।

माता कष्ट के साथ सन्तान का जन्म देती है। पिता उसे कष्ट उठाकर पालता-पोसता है। जैसे-जैसे पुत्र बढ़ता है वह उन दोनों की चिन्ताओं

---

[1] २ ११७ में विद्या या ज्ञान के तीन वर्ग किये गये हैं—१. लौकिक; २. वैदिक; ३ आध्यात्मिक या आत्मा से सम्बद्ध।

[2] स्ट्राबो (१५ १,५७) हिन्दुओं का विवरण देता है।

तथा कष्टों के बोझ को बढाता जाता है। इस प्रकार उस पर ऐसा ऋण लद जाता है कि उसे वह सैकडों वर्षों तक भी प्रयत्न करके नही चुका सकता (२ २२७)।

पुत्र! सोचो कि किस प्रकार तुम अपने पिता, माता और गुरु को प्रसन्न रख सकते हो—उनकी आज्ञा का पालन करो, भक्तिपूर्वक उन के गुरु-ऋण को चकाने का प्रयत्न करो, यह तुम्हारा परम कर्तव्य और धर्म है (२ २२८)।

मृत्यु शय्या पर पडा हुआ जो व्यक्ति अपने चारों ओर कुपुत्रो को ही पाता है उसकी दशा एक ऐसे मनुष्य की होती है जो सड़े हुए काठ के पटरे पर जल की बाढ को पार करने की इच्छा करता है (९.१६१)।

पीडित किये जाने पर भी अपने पिता, माता, गुरु तथा अग्रज का अनादर मत करो (२.२२६)।

विष से भी अमृत ग्रहण करो, अपवित्र पृथ्वी के पिण्ड से विशुद्ध सोना ग्रहण करो; शत्रु से भी उत्तम आचरण की शिक्षा लो और बालक से भी सुन्दर वचन ग्रहण करो। सभी से कुछ ग्रहण करो; यदि तुम विनम्र हो तो निम्न वर्ण के मनुष्यो से भी विद्वत्ता की शिक्षाये ग्रहण करो (२.२३८, २३९)।

पीडित किये जाने पर भी दूसरे व्यक्ति को आघात न पहुँचाओ; किसी को विचारो या कर्मो से पीडा न पहुँचाओ; अपने समान बन्धुओ के प्रति कष्टकारक वचन मत बोलो (२ १६१)।

सत्य वोलो; अप्रिय और असत्य भाषण मत करो (४ १३८)। किसी का अपमान मत करो[१]; धैर्य के साथ दूसरो की कटूक्तियो को सहन करो; क्रुद्ध व्यक्ति के साथ कभी क्रोध मत दिखाओ; शापो के बदले आशीर्वाद दो (६ ४७, ४८)। जिस प्रकार सारथि उद्धत घोड़ो को वश में रखता है, उसी प्रकार यदि तुम बुद्धिमान हो तो अपनी इन्द्रियो को वश मे करो जो अनियन्त्रित होकर तुम्हे दूर खीच ले जा सकती हैं (२ ८८)। जब कोई याचना करे तो कुछ दे दो, चाहे

---

[१] ४ १३५ मे गृहस्वामी को वेद मे पारंगत ब्राह्मण, क्षत्रिय, और सर्प के साथ दुर्व्यवहार न करने का विशेष रूप से आदेश दिया गया है क्योकि (कुल्लूक के अनुसार) ब्राह्मण के पास मन्त्र तथा अभिचारो की शक्तियो से नष्ट कर देने की अदृष्ट क्षमता होती है और अन्य दो के पास दृष्ट शक्ति (दृष्टशक्त्या) होती है। तुकी० ब्राह्मणो की शक्ति विषयक श्लोक जो पृ० २३१ पर अनूदित हैं।

वह स्वल्प ही क्यों न हो; स्वार्थरहित तथा प्रसन्नचित्त होकर अपने सामर्थ्य के अनुसार दो। इतना विचार अवश्य रखो कि जिसे दान दे रहे हो वह उसका पात्र है या नही (४.२२७, २२८)।

अपने धार्मिक कार्यो पर गर्व मत करो; निर्धनों का दान दो; परन्तु अपने दान की चर्चा मत करो। गर्व से धर्म के पुण्यफल पिघल जाते हैं; दान देने के पुण्य प्रदर्शन से नष्ट हो जाते हैं (४.२३६,२३७)।

पापी अपने मन मे सोचते है कि हमे कोई नही देखता; परन्तु परमात्मा उन्हे देखता है; उनके हृदयो मे विद्यमान सर्वत्र आत्मा उन्हे देखता है। मेरे भले मित्र, तुम सोचते हो कि 'मैं अकेला हूँ' परन्तु तुम्हारे भीतर एक ऐसा जीव है जो तुम्हारे प्रत्येक कार्य पर दृष्टि रखता है; तुम्हारे सद्गुणो और दुर्गुणो का ज्ञान रखता है (८ ८५,९१)।

आत्मा अपना ही साक्षी है; यह अपना स्वयं रक्षक है; हे मनुष्य शोक मत करो, तुम्हारा आत्मा महान् आन्तरिक साक्षी है (८.८४)।

आकाश, पृथिवी, समुद्र, चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, वायु, रात्रि तथा दोनो पवित्र सन्ध्याएँ[1], और धर्म, सभी मनुष्यों के कर्मो को सम्यक जानने वाले[2] है (८.८६)।

पाप करके अपने पाप को व्रत और तपस्या के आवरण मे छिपाने का प्रयत्न मत करो (४ १९८)।

वेदो का अध्ययन, यज्ञ कर्म, दान देना, कठोर व्रताचरण, ये कोई भी उस व्यक्ति को स्वर्ग नही पहुँचा सकते जिसके अन्तरात्मा का पतन हो चुका है (२९७)।

यदि अपने भीतर निवास करने वाले महान देवता से तुम्हारा कोई विरोध नही है तो स्नान के लिये गंगा मत जाओ और तीर्थ यात्रा के लिये कुरुक्षेत्र मत जाओ (८ ९२)[3]।

अधर्म का आचरण एक बीज से समान अधर्मी को फल देने मे चूकता नही, यदि अधर्मी उसका फल नही भोगता तो उसके पुत्र और पौत्रो को भोगना पड़ता है (४.१७३)।

सन्तोष सुख का मूल है, असन्तोष दुःख का। प्रसन्न होना चाहते हो तो समभाव रखो (४ १२)।

---

[1] पृ० २३९ पर सन्ध्याओं का विवरण देखिए।

[2] यम, दे० पृ० २२

[3] देखिए पृ० २४२ टि० १

अन्न का आदर करो, इसे भक्तिपूर्वक ग्रहण करो. सन्तोष और आनन्द के साथ इसे ग्रहण करो; इसे घृणा से मत देखो। अधिक भोजन न करो, क्योंकि अतिभोजन गर्हित है, स्वास्थ्य के लिये घातक होता है, मृत्यु का मार्ग बन सकता है और धर्म तथा पारलौकिक सुख के मार्ग मे बाधक होता है (२ ५४,५७)।
इच्छाएँ उपभोग से शान्त नही होती; घृत डालने से अग्नि बुझती नही अपितु और अधिक तेज होकर जलने लगती है (२.९४)।
सासारिक प्रतिष्ठा से उसी प्रकार दूर रहो जैसे मनुष्य विष से दूर रहते है। अपमानित ही रहो, अपमानित व्यक्ति शान्ति से सो सकता है शान्ति से जागता है; और अपमान करनेवाले का नाश हो जाता है (२.१६२,१६३)।

प्रतिदिन अश्रान्त होकर अपना नियत कर्म करो और भावी संसार का सच्चे सहचर या मित्र-रूपी गुणो का भण्डार जुटाओ, जैसे चीटियाँ अपने भण्डार की ढेरी लगा देती हैं; क्योंकि जब तुम दूसरे लोक को जाओगे तो पिता, माता पत्नी, पुत्र, बन्धु कोई भी साथ नही रहेगा। तुम्हारे सद्गुण ही एक मात्र सखा बनकर साथ रहेगें (४ २३८,२३९)।

प्रत्येक प्राणी अकेला जन्म लेता है अकेला ही वह परलोक सिधारता है; अपने दुष्कर्मों का फल वह अकेला ही भोगता है; सत्कर्मों का फल अकेले चखता है; जब वह संसार को छोड़ता है तो उसका शरीर एक काष्ठखण्ड या मृत्पिण्ड के समान पृथ्वी पर पडा रहता है, उसके बन्धु-बान्धव उससे दूर हट जाते हैं, मृत्यु पर केवल धर्म ही उसके साथ रहता है, वही उसे घोर अन्धकार से भी पार करता है (४.२४०,२४२)।[1]

जो वस्तु तुमने बोई नही उसे तुम काट नही सकते; जिस प्रकार का वृक्ष तुम लगाओगे उस पर वैसा ही फल आवेगा (९ ४०)।
दूसरे पर आश्रित न रहो, अपने पर भरोसा रखो; अपने पौरुष मे विश्वास रखो, दूसरो की इच्छाओ का दास बनना कष्ट देता है। यथार्थ सुख आत्मविश्वास मे ही है (४ १६०)।

---

[1] डा० म्यूर ने यह निर्देश किया है कि 'तमस्तरति दुस्तरम्' अर्थात् दुस्तर अन्धकार को पार करता है, वाक्य अथर्ववेद ९.५.१ के इस स्थल से लिया गया हो सकता है 'तीर्त्वा तमासि बहुधा महान्ति'।

जो कार्य तुम्हे दिया गया है, उसे विना थके पूरा करने का प्रयत्न करो, अपने प्रयत्नो को नई शक्ति दो; पुन. थककर भी एक वार फिर पौरुप करो। इस प्रकार तुम सफलता प्राप्त करोगे, सुख प्राप्त करोगे (९.३००)।

कभी अपनी अवमानना न करो। यदि तुम्हारी प्राथमिक चेष्टाएँ असफल हो तव भी उन्हे दोप न दो। धैर्य के साथ मृत्युपर्यन्त समृद्धि प्राप्त करने की चेष्टा करो, उसे दुर्लभ मत समझो (४.१३७)। प्रत्येक कार्य मे सफलता भाग्य[1] और पौरुप दोनो पर निर्भर होती है। दैव के कर्म मनुष्य के नियन्त्रण से परे है, दैव का विचार न करो किन्तु पौरुप करो (७.२०५)।

अतिथि का सत्कार करो; उसे अपनी शक्ति के अनुसार आसन, शय्या, जल तथा पर्याप्त भोजन दो; उसका सत्कार करो, और विना उसे भोजन कराये स्वयं कुछ ग्रहण मत करो, अतिथिसेवा धन, यश, आयु और स्वर्गसुख प्रदान करती है (३. १०६; ४. २९)।

जो धनवान् व्यक्ति स्वजनो के दुःखपूर्वक जीवन व्यतीत करते रहने पर भी अन्य अपरिचितो को धन देता है, वह यश के मधु का पान करने की इच्छा करता है, किन्तु उसे विप ही मिलता है; वह निन्दित होकर नष्ट हो जाता है। इस प्रकार की उदारता निर्दयता का ही रूप है (११९)।

जो अपने को इस रूप में प्रकट करने का आडम्वर वनाता है जैसा कि वह वास्तव मे नही है वह घोर पाप करता है क्योंकि चोर के समान वह एक सज्जन के हृदय की चोरी करता है (४.२५५)। तुम अपने धर्म के कार्यों के लिए कष्ट भले ही उठाओ फिर भी न्यायोचित फल के अतिरिक्त अन्य वस्तु की कामना मत करो (४.१७१)।

इस ससार के अपने अल्पजीवन में इस प्रकार कार्य करो कि तुम्हारे वस्त्र, वाणी तथा ज्ञान का भण्डार, तुम्हारी आयु, व्यवसाय, साधनो एवं वंश के अनुकूल हो (४.१८)।

जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियो, वाणी और चित्त को वश मे रखता है, उत्तम कार्य करता है, एव सतत सावधान रहता है[2] वह विद्याध्ययन

---

[1] यहाँ दैव, पृ० ६७ पर वर्णित अदृष्ट है।

[2] देखिए पृ० २८३ की टिप्पणी १

के सभी फलों को प्राप्त करता है; उसे व्रत या तपस्या करने की आवश्वकता नही होती (२ १६०)।

किन्तु यदि कोई एक इन्द्रिय विचलित होती है तो उसके दोष से एक चर्म कोश से जल धीरे धीरे चू कर निकल जाता है (२.९९)।

सन्तोष तथा कष्ट मे धैर्य, आत्म सयम, अस्तेय, सभी इन्द्रियो का नियन्त्रण, शुचिता[1], भक्ति, विद्या[2], सत्यता, अक्रोध—ये धर्म के दस लक्षण हैं (६ ९२)।

मृत्यु की इच्छा मत करो, और न जीवन के पीछे दौडे । जिस प्रकार एक मजदूर अपनी मजदूरी जोडता है उसी प्रकार धैर्यपूर्वक अपने समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए (६ ४५)।

पृथ्वी के कणो से निर्मित यह आत्मा का निवासस्थान शोक तथा वृद्धावस्था से आविष्ट है, रोग और कष्टों का घर है, अज्ञान तथा अन्धकार के बन्धनो से बँधा हुआ है, बुद्धिमान मनुष्य प्रसन्नतापूर्वक इसका त्याग करे । (६.७७)।

इस शरीर को छोडकर उसकी स्थिति वही होती है जो एक वृक्ष को छोडकर जाने वाले पक्षी की। इस प्रकार वह इस दु.खमय संसार रूप ग्राह के चंगुल से छूट जाता है[3] (६ ७८)।

स्त्रियों तथा पत्नियों के धर्म

कौमार्यावस्था मे पिता अपनी पुत्री की रक्षा करे, युवावस्था मे पति अपनी पत्नी की रक्षा करता है, वृद्धावस्था मे पुत्र माता की रक्षा करते हैं। स्त्री कभी भी स्वतन्त्र न रहे (५.१४८; ९ ३)।

एक पतिव्रता पत्नी, जो अपने पति के स्वर्ग को प्राप्त करना चाहती है। अपने पति को देवता मानकर पूजा करे और कभी उसे कष्ट पहुँचाने वाले कार्य न करे, चाहे पति किसी भी दशा मे हो, कितना भी गुणहीन हो (५ १५४, १२६)।

जो अपने जीवित या मृत पति की, मन, वाणी, और शरीर से पूजा करती है, वह स्त्री साध्वी कहलाती है (५ १६५)।

स्त्री का यह कर्तव्य है कि अपने पति के सम्पत्ति की सावधानी से रक्षा करे। वह इसके व्यय की, घर के सम्पत्ति की व्यवस्था की,

---

१ कुल्लूक ने 'धी' का अर्थ शास्त्रो मे निहित धर्मतत्व का ज्ञान किया है।

२ विद्या, परमात्माविषयक ज्ञान—कुल्लूक ।

3 कृच्छ्राद्ग्राहात्=संसार कष्टाद् ग्राहादिव ।

भोजन तथा भोजन के वस्तुओ के क्रय की अधिकारिणी होवे। वह सदैव प्रसन्न रहे, सभी गृह्यकर्मो मे कुशल होवे, और व्यय करने मे अधिक उदार न हो (५.१५०)।

मद्यपान, कुसङ्गति, पति से पृथक् रहना, इधर-उधर घूमना, बिना अवसर सोना तथा दूसरो के घरों मे निवास करना—इन सबका वह परित्याग करे। ये छ. बाते स्त्री के यश को कलंकित कर देती हैं। (९.१३)।

पति का जो कुछ भी चरित्र तथा स्वभाव हो वैसे ही गुण उसके स्वभाव मे होने चाहिये, जैसे एक नदी समुद्र के साथ जाकर मिल जाती है (९.२२)।

जो स्त्रियाँ विवाह बन्धन और गुणवान सन्तानो की इच्छा से अपने प्रिय पतियो से बँधी हुई हैं वे आदर की पात्र होती है, सुखी होती है और लक्ष्मी के समान अपने पतियो के घर की शोभा बढाती है (९.२६)।

तभी मनुष्य एक पूर्ण मनुष्य बनता है जब वह तीन हो जाता है—वह स्वयं, उसकी पत्नी और उसका पुत्र, क्योकि इस प्रकार विद्वान् लोगो ने कहा है कि पति और पत्नी मिलकर एक होते हैं (९.४५)।

मृत्यु तक परस्पर दृढ प्रेम ही विवाहित दम्पति के धर्म का मूल मन्त्र है (९.१०१)।

यदि पत्नी पति की मृत्यु के बाद भी जीवित रहती है तो वह पति-व्रता और दृढ प्रेमव्रत का पालन करने वाली रहे; अपने निर्मल यश को दूसरे के नाम के उच्चारण से भी कालकित न करे (५.१५७)।

'व्यवहार' : शासन तथा न्याय सम्बन्धी नियम

जगत् के स्वामी ने हमारे कष्टो को देखकर, दया से द्रवीभूत होकर, हमारे ऊपर शासन करने के लिए और हमारी रक्षा के लिए राजाओ की सृष्टि की। राजा के बिना यह ससार भयापन्न होता है (७.३)।

राजा यदि बालक भी हो तब भी उसे मनुष्य समझकर उसका अनादर नही करना चाहिए। वह मानव स्वरूप मे देवता होता है (७.८)।

राजा, उसके मन्त्रिगण, राजधानी, राष्ट्र,[1] कोष, सेना तथा मित्र, ये राज्य के सात अग है (९.२९४)।

---

[1] राष्ट्र (= देश) के लिये याज्ञवल्क्य ने 'जन' अर्थात् जनता शब्द का प्रयोग किया है।

राजदण्ड का भय ही दुष्टों का दमन करता है, सज्जनों का नियन्त्रण करता है, और राष्ट्र को सुखी बनता है (७.१५); अतएव राजा को निर्भीक होकर दण्ड देना चाहिए, अन्यथा अधिक शक्तिशाली दुर्बलों पर अत्याचार करेंगे, दुष्ट लोग सज्जनो को कष्ट देंगे और शक्तिवाले लोग दुर्बलो को मछली की तरह भूनेंगे;[1] कौआ यज्ञ के पवित्र धानो का भक्षण करने लगेगा, कुत्ता पकायी हुई हवि को खाने लगेगा; सम्पत्ति के अधिकारो मे अन्याय होगा और वर्णों की श्रेष्ठता तथा निम्नता के नियम मे व्यतिक्रम आ जायेगा, और सम्पूर्ण ससार के नियम अस्त-व्यस्त तथा उल्टे हो जायेंगे (७.२०,२१,२४)।
किन्तु दण्ड उठाने के पूर्व राजा, पात्र, समय, न्याय के लिखित विधान, तथा अपनी शक्ति पर विचार कर ले (७.१६)।

जुआडी, नाचने गाने वाले, नास्तिक, वेद का विरोध करने वाले, अपना छोडकर दूसरे का कर्म करने वाले—इन सबको राजा अपने राज्य से बहिष्कृत कर दे (९.२२५)।
स्त्री, बालक, उन्मत्त व्यक्ति, वृद्ध, दरिद्र, रोगी इन सबके प्रति राजा कभी कठोर व्यवहार न करे; यदि यें अपराध करें तो इन्हे हल्का दण्ड दे या पाशबद्ध करे[2] (९.२३०)।
जो राजा अपराधी को मुक्त कर देता है और निर्दोप व्यक्ति को दण्ड देता है वह अन्यायी होता है। वह दुष्टो को कॉटा समझे और उन्हे शीघ्र नष्ट कर दे तथा सज्जनो और गुणवान् लोगो की रक्षा करे (९.२५२, २५३)।
राजा या न्यायाधीश सघर्ष को प्रोत्साहन न दे किन्तु न्याय करते समय वह दोनो पक्षो के बीच निष्पक्ष होकर न्याय करे (८.४३)।
यदि धर्म अधर्म द्वारा बिद्ध होकर सभा मे न्याय के लिए उपस्थित होता है और न्याय करने वाला उसको लगे हुए बाण को नही निकालता है तो वही बाण न्याय करने वाले के हृदय को भी बींधना है (८ १२)।
धर्म मारा जाने पर मारने वाले को नष्ट करता है; रक्षित होने पर

---

[1] इसका शब्दशः अनुवाद होगा 'सबल निर्बलो को उसी प्रकार भूनेंगे जैसे मछली शूल पर भूनी जाती है (शूले मत्स्यान् इवापक्ष्यन् दुर्बलान बलवत्तरा)।

[2] मूल के अनुसार 'एक कोडे, टहनी या रस्सी से'। समझा जा सकता है कि कोड़े और टहनी का प्रयोग बालकों के लिये ही बताया गया है।

रक्षा करने वाले की रक्षा करता है। अतएव धर्म का हनन नही करना चाहिए अन्यथा धर्म हत होकर हम सबको नष्ट कर डालेगा (८ १५)।

जिस प्रकार व्याध मृग का अनुसरण उसके शरीर से गिरी हुई रक्त की बूंदो से कर लेता है उसी प्रकार राजा धर्म का हनन करने वाले को ढूँढ निकाले (८ ४४)

राजा भलीभाँति साक्ष्य, देश, रूप, काल, सत्य तथा स्वयं अपने पर न्याय के नियमो का पालन करते हुए विचार करे (८ ४५)।

धर्म का पालन करने वाले तथा ज्ञानी व्यक्ति चाहे जिस वर्ण के हो, तथा अपने कर्म को जानने वाले लोभ रहित व्यक्ति, साक्षी हो सकते है। इनके विपरीत करने वाले व्यक्तियो को साक्षी नही माना चाहिए (८ ६३)।

राजा, श्रोत्रिय, ब्रह्मचारी, संन्यासी, कर्ज लेने वाले, मित्र, सहायक, शत्रु, अपराधी, रोगी, विकलेन्द्रिय, निम्न कर्म करने वाले, नाचने वाले, मत्त व्यक्ति, वृद्ध, बालक, सुरापान करने वाले, विकर्मी, चोर, भूख मे पीडित व्यक्ति, क्रोधी और एक व्यक्ति—ये सभी साक्षी नही हो सकते (८ ६४–६७)।

स्त्रियाँ केवल स्त्रियो के लिए ही साक्षी हो सकती है; द्विज केवल द्विज के लिये ही साक्षी हो सकते हैं; दास, दास के लिए और निकृष्ट वर्ण वाले ही जातिच्युत व्यक्ति के पक्ष मे साक्षी हो सकते है (८.६८)।

न्याय सभा मे ऐसे व्यक्ति को साक्षी रूप मे नही प्रवेश करने देना चाहिये जो निष्कपट होकर सत्य नही बोलता क्योकि जो व्यक्ति सत्य नही कहता या उसका झूठा बयान करता है वह व्यक्ति भी अपराधी ही होता है (८ १३)।

जो साक्षी सत्यतापूर्ण साक्ष्य देता है वह सभी पापो से मुक्त होता है, इस लोक मे यश पाता है और स्वर्ग मे सुख पाता है (८ ८१,८३)।

वह दुष्ट व्यक्ति सीधे घोर नरक मे गिरता है जो सभा मे एक भी प्रश्न का गलत उत्तर देता है। वह सैकडो जन्मो मे यातनायें भोगेगा (८ ८२,९४)। उसके सभी सुकृतो के उत्तम फल कुत्तो को मिल जायेंगे अतएव उसे सत्य वचन कहना चाहिए (८ ९०, १०१)।

बुद्धिमान व्यक्ति को थोडी-सी बात के लिये मिथ्या शपथ नही खानी चाहिए, इस प्रकार व्यर्थ शपथ खाने वाला व्यक्ति नरक प्राप्त करता है और नष्ट हो जाता है (८.१११)।

प्रायश्चित्त : 'तपस्याएँ तथा व्रत'

पाप करने वाला व्यक्ति अपने पाप के कथन से, तपस्याचरण से, तप के अभाव मे दान देकर तथा अपने किए हुए कर्म पर पश्चात्ताप करके ज्यो-ज्यो अपने पाप को प्रकट करता है त्यो-त्यो वह उससे उसी प्रकार मुक्त होता है जैसे साँप केचुल छोड़ देता है। (११.२२७,२२८)।

यदि मनुष्य पाप करता है तो केवल इतना ही कहना पर्याप्त नही है कि 'मै पाप नही करूँगा', उसे उस पर पश्चात्ताप करना चाहिए और पुन उस प्रकार के पाप से दूर रहना चाहिये। तभी उस पाप से छुटकारा मिलता है (११.२३०)।

अतएव मनुष्य ज्ञान या अज्ञान से जो कुछ भी निन्दित कर्म करता है उसे वह अपराध त्यागने का निश्चय करके पुन न करने का प्रयत्न करे (११ २३२)।

इस प्रकार मन से कर्मों के फलो का विचार करता हुआ मन, वाणी तथा शरीर से सत्कर्म ही करे[1] (११ २३१)।

अपने पाप के कथन, पश्चात्ताप, तपस्या, तथा प्रतिदिन वेदो के अभ्यास से,[2] पाँच धार्मिक कर्मों द्वारा[3], दान द्वारा, धैर्य से एव कष्टो को सहन करके महापातकी मनुष्य भी पाप से मुक्ति प्राप्त कर सकता है (११.२२७,२४५)।

जो कुछ भी दुस्तर है, कठोर है, वह सब तपस्या के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है—मन, वाणी तथा कर्म द्वारा किये गये पाप भी तपस्या से दूर हो सकते हैं। अत: तप का आचरण करे (११.२३८,२४१)।

जिस प्रकार विशाल जलाशय मे डालने पर मिट्टी का ढेला घुल जाता है, उसी प्रकार तीनो वेदो मे लीन होने पर पाप नष्ट हो जाता है (११ २६३)।

देवताओ तथा मनुष्यो के सभी सुखो का मूल तप है। तप ही उनका मध्य और अन्त है, ऐसा विद्वानो ने कहा है।[4] (११.२३४)

---

[1] यहाँ और आगे दिये गये उदाहरणो से मनु ने मन, वाणी तथा कर्म के तीन विभाजन किये हैं (देखिए पृ० २३३ पर टिप्पणी)। बौद्ध ग्रंथो मे भी ये ही त्रिविध वर्ग पाये जाते है।

[2] ख्यापनेन, अनुतापेन, तपसा अध्यनेन च।

[3] अर्थात् पाँच महायज्ञ; तु० पृ० २४२।

[4] पृ० २६९ पर व्रतो का विस्तृत वर्णन देखा जा सकता है।

'कर्मफल' : कर्मों का भोग

असंख्य आत्मा लिङ्ग शरीर धारण कर[1] इस परमात्मा के शरीर से निकलते है और वे निरन्तर भूतो को सक्रिय बनाते है (१२.१५)। मनुष्य जिस प्रकार के भाव से जिस प्रकार का कर्म करता है उसी प्रकार का शरीर पाकर उस कर्म के फल को भोगता है (१२ ८१)। मन, वाणी, तथा देह से किये गये सभी प्रकार के शुभाशुभ कर्मों के फल होते हैं। मनुष्य को उत्तम, मध्यम और अधम गति कर्मों के कारण ही मिलती है (१२ ३)।

सत्व गुणवाला आत्मा देवताओं की योनि प्राप्त करता है, राजसी आत्माएँ मनुष्यो की तथा तापसी पशुओ की योनि प्राप्त करते है— ये तीन मार्ग हैं (१२ ४०)

अतएव सभी मनुष्य सावधान होकर ब्रह्मा, देवता, मनुष्य, पशु, वनस्पति, प्रस्तर की योनियो मे आत्मा के पुनर्जन्म पर विचार करे और ऐसा विचार कर केवल सत्कर्मों मे ही प्रवृत्त हों (१२ २२,४२,५०)।

जिस मात्रा में जीवात्मा विषयवासना मे लिप्त होता है उसी मात्रा में भावी योनियो मे इन्द्रियाँ तत्तत् विषयो में अनुराग रखती हैं (१२ ७३) कर्मों के दोप से[2] उत्पन्न होने वाली मनुष्यो की गतियो, नरक मे पतन तथा यम द्वारा दिये जाने वाले कष्टो पर विचार करे।

पुन: जीवन मे प्रियजनो से वियोग तथा अप्रिय कष्टो एवं जीवों से संयोग; शरीर पर रोग, वृद्धावस्था तथा मृत्यु की विजय का विचार करे; आत्मा के कष्टमय शरीर त्याग, तथा एक गर्भ से दूसरे गर्भ की यातनाओ को भोगते हुए सहस्रकोटि योनियो में विचरण करने के कष्टो पर विचार करे[3] (६.६१,६३)। तब योग से परमात्मा के सूक्ष्म रूप का ध्यान करे जो ऊपर-नीचे, सभी प्राणियों मे, सर्वत्र समान रूप से विद्यमान है (६ ६५)।

जो परमात्मा के सर्वत्र विद्यमान होने का ध्यान रखता है वह कभी कर्मों का दास नही होता, किन्तु जो उसका दर्शन नही करता वह कभी मुक्ति नही पाता है (६ ७४)।

जो अपने पापो की पुनरावृत्ति करते हैं वे घोर दु:ख प्राप्त करते हैं

---

[1] उपनिपदो के उद्धरणो से तुलना कीजिए पृ० ३७,४१।

[2] 'अवेक्षेत गतीर्नृणा कर्मदोपसमुद्भवाः।'

[3] योनिकोटि सहस्रेपु स्पष्टीश्च अन्नरात्मन:।

जो अधिकाधिक बढता जाता है, और वे उत्तरोत्तर अधम योनि प्राप्त करते है (१२ ७४)।

वे गर्हित पशुओ का जीवन प्राप्त करेंगे, शीत तथा ताप के अनेक प्रकार के कष्ट, विविध रोग तथा भय के भागी होगे (१२ ७७,८०)। जो नियमपूर्वक अपने वचनो, मन् तथा शरीर पर नियन्त्रण रखता है वही उचित रूप से त्रिदण्डी कहलाता है[1] (१२.१०)।

इस तरह अपने ऊपर तथा प्रत्येक प्राणी के प्रति त्रिविध नियन्त्रण रखते हुए काम तथा क्रोध का दमन कर वह सज्जनो की अभिप्रेत सिद्धि को प्राप्त करे (१२ ११)।

प्रत्येक जीवित प्राणी, जो सत् है किन्तु नित्य नही है[2], आत्मा मे विद्यमान है ; जो ध्यान लगता है वह स्वयं को, तथा सभी वस्तुओ को परमात्मा[3] मे स्थित देखता है और पाप-कर्मों मे प्रवृत्त नही हो सकता (१२.११८)।

आत्मा ही सभी देवता है, आत्मा ही सभी संसार है, आत्मा ही शरीरी आत्मा के सभी कर्मों का कारण है (१२.११९)। वह सबका शासक है, स्वर्ण से भी अधिक प्रकाशमान् है, परमाणुओ से भी सूक्ष्म है; ध्यान से ही देखा जा सकता है अन्यथा अज्ञेय है, सर्वव्यापक है, सभी को शरीर से युक्त करने वाला है, सभी भूतो को चक्र के समान अनेक जन्मो, मृत्यु एव विनाश मे घुमाने वाला है (१२.१२२,१२४)।

---

[1] यही त्रिदण्डिन् है (देखिए पृ० १३९ पर टिप्पणी)। यह द्रष्टव्य है कि भारतीय साधु का, जिसके विषय मे एरियन (७३) ने बताया है कि उसने अपने से सिकन्दर महान् को चकित कर दिया था, नाम बताया गया है जो संभवत· उसी धातु से व्युत्पन्न है जिससे 'दण्ड' शब्द (दम् 'दमन करना') दूसरो ने उसका नाम मन्द्रनिस ('मण्ड'धातु?) बताया है।

[2] इसका अर्थ, जैसा डॉ० जोहेण्टगेन ने बताया है, यह है कि 'वह जिसका अस्तित्व वास्तविक है किन्तु जो किसी कारण का कार्य होने के कारण नित्य नही है।' तुलना, साख्यप्रवचन:५.५६।

[3] डॉ० जोहेण्टगेन का विचार है कि इस श्लोक मे 'आत्मा' शब्द का 'परमात्मा' अर्थ अशुद्ध है। उनका विश्वास है कि इसका अर्थ है 'मनुष्य का सम्पूर्ण आत्मा या अस्तित्व' जो सम्पूर्ण विश्व का संक्षिप्त रूप माना गया है। अपने विचार की पुष्टि मे वे तत्त्व समास ५६ का निर्देश देते हैं। मनु ८.८४ भी देखिये, पृ० २७६ पर अनूदित।

जो व्यक्ति इस प्रकार अपनी आत्मा के द्वारा सभी प्राणियो मे ब्रह्म को स्थित देखता है, वह सभी मे समता रखता हुआ परम पद को प्राप्त करता है (१२.१२५) ।

याज्ञवल्क्य स्मृति

मनुस्मृति के बाद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्मृतिग्रथ है याज्ञवल्क्य का धर्मशास्त्र जो विज्ञानेश्वर लिखित प्रसिद्ध टीका, मिताक्षरा, के साथ इस समय बनारस तथा मध्य भारत मे प्रमुख प्रामाणिक ग्रन्थ है । मौलिकरूप मे यह मिथिला[1] या उत्तर बिहार की शुक्लयजुर्वेदी शाखा मे उद्भूत है, जिस प्रकार, जैसा कि हम देख चुके है (पृ० २०५) मानवो का धर्मशास्त्र दिल्ली के निकट किसी कृष्णयजुर्वेदी शाखा मे उत्पन्न हुआ था ।

अध्याय १.२ मे स्मृतिकार ने कहा है :—

मिथिला के निवासी उस योगी ने कुछ काल विचार करके मुनियो से कहा. 'कृष्ण मृगो वाले देश मे प्रचलित नियमो को सुनो ।' (तु० मनु २.२३)

याज्ञवल्क्य का ग्रन्थ[2] मनुस्मृति से अधिक सूक्ष्म है, क्योकि यह स्मृति बारह अध्यायो की अपेक्षा तीन अध्यायो मे है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मानवो की स्मृति की अपेक्षा इस स्मृति के मूल रूप को बाद मे सशोधन करने वालो ने अधिक सक्षिप्त रूप दे दिया । उस स्मृति के समान इस स्मृति के पहले भी एक वृद्ध तथा बृहद् याज्ञवल्क्य स्मृति होने का आभास मिलता है । आजकल यह ग्रन्थ जिस रूप मे उपलब्ध होता है वह सामान्य श्लोक-छन्दों मे लिखा हुआ है । प्रथम अध्याय, जिसमे ३७६ श्लोक है, मुख्यत: सामाजिक या वर्णाचारो पर है; दूसरे मे ३०७ श्लोक है (जो प्राय शब्दश. अग्नि पुराण से लिये गये हैं) और यह मुख्यतः राजा के न्याय तथा अर्थ एवं दण्ड विधि (व्यवहार) पर हैं; तीसरे मे ३३५ श्लोक है और यह प्रधानत· भक्ति, शुद्धि. तथा प्रायश्चित्त के व्रतो (प्रायश्चित्त) आदि पर है । मिताक्षरा भाष्य भी इसी योजना का अनुसरण करता है और तीन भागो मे विभक्त है ।

---

[1] डॉ० रूअर के अनुसार यह मिथिला शाखा का अब भी प्रधान प्रामाणिक ग्रन्थ है, किन्तु कोलब्रूक अन्य रचनाओ का भी उल्लेख करते हैं जो इस शाखा के प्रमुख ग्रन्थ है ।

[2] मैंने स्टेन्जलर के सुन्दर संस्करण का उपयोग किया है । मैंने इस स्मृति पर डॉ० रूअर तथा डब्ल्यू० ए० मोन्ट्रिओ लिखित आमूख तथा अनुवाद का एवं इसके कातिपय अशो के अनुवाद का भी सहारा लिया है जिसमे एक विद्वत्तापूर्ण भूमिका भी जोड़ी गई है ।

जहाँ तक याज्ञवल्क्य स्मृति के काल का प्रश्न है इसे अनुमानतः ईसा की प्रथम शताब्दी के मध्य का समय दिया गया है । निश्चय ही इसके प्रथम सकलन के समय का ठीक-ठीक निर्धारण नही किया जा सकता, किन्तु आन्तरिक प्रमाणो से यह स्पष्टत सूचित होता है कि इसका वर्तमान संस्करण मनुस्मृति के वर्तमान संस्करण से बहुत बाद का है ।

इस विषय मे मैंने निम्नलिखित बातें पाई है —

१ यद्यपि याज्ञवल्क्य स्मृति ने भारत के एक भिन्न एव सुदूर पूर्वीय भाग मे स्थित एक (मिथिला) जन पद मे प्रचलित रीतियो एव व्यवहारो का प्रतिनिधित्व किया होगा, तथापि प्रथम अध्याय की प्राय सभी शिक्षाएँ तथा द्वितीय एव तृतीय अध्यायो की अधिकाश शिक्षाएँ मानवो की स्मृति मे आने वाली समान शिक्षाओ के ही समानान्तर है ।

२. यद्यपि यह सामान्यत· मनु पर आधृत है तथापि यह हिन्दू विकास की एक परवर्ती अवस्था प्रस्तुत करती है । इसका विन्यास काफी अधिक सुयोजित एवं क्रमपूर्ण है । इसमे अल्पतर पुनरुक्तियाँ एवं विरोधाभास है और धर्म, नैतिकता तथा प्रदर्शन का अर्थ एवं दण्ड विधि के साथ कम विपर्यास देखने मे आता है ।

३ अध्याय १ ३ मे धर्म के स्रोत मनु की अपेक्षा अधिक बनाये गये है यद्यपि बाद मे १.७ मे मनु के चार प्रकार के धर्ममूल (दे० पृ० २०५) इस प्रकार बताये गये है —

'पुराणो मे न्याय, मीमासा, धर्मशास्त्र, तथा (छ·) वेदाङ्गो सहित वेद, ये विद्याओ (विद्यानाम्) तथा धर्म के (धर्मस्य) चौदह आश्रयस्थान (स्थानानि) है (१ ३) ।

वेद (श्रुति), परम्परागत विधि (स्मृति), सज्जनो के आचार (सदाचार), और स्वयं अपनी चित्तवृत्ति, ये धर्म के मूल कहे जाते है (१ ७)

४. इनमे से वे शिक्षाएँ, जो नये विषयो को प्रस्तुत करती है, अत्यधिक विकसित ब्राह्मण-धर्म तथा अधिक कठोर वर्ण-व्यवस्था का प्रमाण प्रस्तुत करती है । उदाहरणार्थ १.५७ मे यह आदेश दिया गया है कि ब्राह्मण को चौथी पत्नी रूप मे शूद्रा से विवाह नही करना चाहिए किन्तु केवल तीन उच्चवर्णों की ही पत्नियाँ रखनी चाहिए, जबकि मनु (देखिये पृ० २४१) मे इस प्रकार की पत्नी होने की आज्ञा है[1] ।

५ १ २७१ २७२ मे बौद्धो के केशरहित शिर (मुण्ड) तथा गेरुए वस्त्रो

---

[1] बाद की स्मृतियो ने ब्राह्मणो को केवल अपने वर्ण की पत्नी तक सीमित कर दिया है ।

(कापायवास) का उल्लेख है जो वौद्ध-धर्म की स्थापना के वाद तथा उसके निष्क्रमण के पूर्व के समय का निर्देश करता है। यह मानना पडेगा कि वौद्धो का नामत· उल्लेख कही नही हुआ है।

६. २.१८५ मे राजा को मठो की स्थापना, अनुदान देने, तथा उनमें वेद के विद्वान व्राह्मणो को नियुक्त करने का आदेश दिया गया है।

७. २.२४१ मे असली (अकूट) तथा नकली (कूटक) दोनो प्रकार के नाणक, अर्थात् एक प्रकार की मुद्रा का उल्लेख हुआ है, जबकि यद्यपि मनु ने सुवर्ण, पल, निष्क, धरण तथा पुराण (८.१३५,१३७) नाम के सोने एव चाँदी के वजनो का उल्लेख किया है; तथापि यह सन्देहास्पद है कि उनके समय मे किसी प्रकार की राजचिह्नयुक्त मुद्रा प्रचलित थी या नही।

८. लिखित दोपारोपण एवं सफाई के वयान (लेख्य) आवश्यक कर दिये है (२ ६,७) तथा साक्ष्य के लिये लिखित विवरणो (लिखितम्) की ही आज्ञा दी गई है (२.२२.)। १.३१.८ मे भूमि के अनुदान-पत्र तथा ताम्रपत्रो के राजचिह्नाङ्कित होने का उल्लेख है।

९ विघ्नविनाशक के रूप मे गणेश की पूजा का १.२७० मे स्पष्टतः संकेत किया गया है तथा २.२९४ मे 'ग्रह यज्ञ' अर्थात् ग्रहों के लिये वलिकर्म का विधान किया गया है।

१०. ३ ११० मे स्मृतिकार (याज्ञवल्क्य) ने एक ऐसे आरण्यक या उपनिपद् के (जो शुक्लयजुर्वेद से सम्बद्ध है) विपय में वताते है, जिसे उन्होंने स्वयं सूर्य से प्राप्त किया था तथा योगशास्त्र या 'दर्शन की योग पद्धति' का उल्लेख करते हैं जिसे स्वयं उन्होने (पतंजलि को) प्रदान किया था।[१]

उपरोक्त वातो मे से कुछ मनु एवं याज्ञवल्क्य स्मृति के वीच एक दीर्घ समय का अन्तर होने के विषय मे निर्णयात्मक प्रतीत होती है और उनके आधार पर हम उन लोगो से सहमत हो सकते है जो याज्ञवल्क्यस्मृति के वर्तमान स्वरूप को ईसा की प्रथम शताव्दी से पूर्व का समय देने मे हिचकते है।[२] दूसरी ओर उपरोक्त वाक्यो मे कुछ इस स्मृति के कतिपय भागो को जितना प्राचीन माना जाता है उससे भी अधिक प्राचीन मानने को वाध्य करते हैं।

[१] इस ग्रन्थ का पृ० ९८ देखिए; यहाँ वे पतंजलि, जिनका समय लासन के अनुसार लगभग २०० ई० पू० है, उल्लिखित नही है।

[२] याज्ञवल्क्य के कुछ श्लोक पञ्चतन्त्र मे भी पाये जाते हैं जिसके प्राचीन अंशो का समय ईसा की पाँचवी शताव्दी वताया जाता है। प्राय· सभी संस्कृत रचनाओ मे प्राचीन ग्रन्थो से उपयुक्त श्लोको को मूल विपय के प्रातिपादन के लिये ग्रहण करने की प्रवृत्ति सामान्य है।

मैं अब याज्ञवल्क्य स्मृति के तीन विभागो के उदाहरण प्रस्तुत करूँगा।

१. अधोलिखित उदाहरण **'आचार'** अर्थात् सामाजिक रीतियों एवं प्राचीन व्यवहारो का विवेचन करने वाले प्रथम अध्याय से लिये गये है। विभिन्न अनूदित श्लोकों के अन्त मे दिये गये मनु के समान वाक्यों पर भी ध्यान देना चाहिए। चार वेदो एवं उनके अध्ययन के माहात्म्य का वर्णन अवलोकनीय है :—

'ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य द्विज कहलाते है, क्योकि एक बार तो उनका जन्म माता से होता है और दूसरी बार मुजुमेंखला के बन्धन ('मौञ्जी बन्धनात्', १.३९; तु० मनु २.१६९ और देखिये पृ० २३८)।

'द्विजो को मोक्ष प्रदान करने मे वेद, यज्ञो, तपस्याओ तथा सत्कर्मों से भी अधिक समर्थ है ('द्विजातीना नि.श्रेयसकर: पर', १ ४०, तु० मनु २ १६६)।

जो द्विज[1] प्रतिदिन ऋग्वेद (ऋच·) का पाठ करता है वह देवताओ का मधु तथा दूध से, और पितरो का मधु तथा घृत से तर्पण करता है (१४१; तु० मनु० २ १०७)।

जो अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिदिन यजुर्वेद (यजूषि) का अध्ययन करता है वह देवताओं को आज्य से तथा पितरो को मधु से प्रसन्न करता है (१४२)।

जो प्रतिदिन सामवेद (सामानि) का पाठ करता है वह देवताओ को सोम और घृत से तथा पितरो को मधु और धृत से तुष्ट करता है (१.४३)।

जो द्विज अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिदिन अथर्ववेद (अथर्वाङ्गिरस, देखे पृ० २०७) का पाठ करता है वह देवताओं का मेद से तथा पितरो का मधु एवं घृत से तर्पण करता है (१.४४)।

जो प्रतिदिन अपनी शक्ति के अनुसार शास्त्रीय विवादो (वाकोवाकम्[2]), पुराणो, नाराशंसी[3], पवित्र गीतो (गाथिका), इतिहास तथा शास्त्रो (विद्या.)

---

[1] ब्रह्मयज्ञ या जपयज्ञ के महत्व का वर्णन करने मे ये पाँच श्लोक मनु से भी अधिक स्पष्ट है। ये शतपथ ब्राह्मण ११.५ ६ ४–८ तथा आश्वलायन गृहसूत्र ३.३,२ आदि पर आधृत हैं।

[2] इसका अनुवाद 'संवाद' (डायलाग) हो सकता है। शतपथ ब्राह्मण ४ ६, ९.२० से ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक कथाशास्त्र के कुछ भाग को 'वाकोवाक्यम्' या 'ब्रह्मोद्यम्' कहते थे।

[3] इस शब्द को मेरी संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी में देखे। आश्वलायन गृहसूत्र मे दिये गये ब्रह्मयज्ञ संबन्धी नियमो से तुलना कीजिए, जिनका अनुवाद इस ग्रंथ के पृ० १९६ पर दिया गया है।

का अध्ययन करता है, वह देवताओं (दिवौकसः) को मास, दुग्ध, ओदन, तथा मधु से, एवं पितरो को मधु तथा घृत से तृप्त करता है (१.४५,४६)।

यह नियम कि द्विज शूद्रा को पत्नी बना सकता है (तु० मनु ३.१३. ९.१४९) मुझे मान्य नही, क्योकि पत्नी मे पुरुष स्वयं उत्पन्न होता है, (जिस कारण मनु ९ ८ के अनुसार उसे 'जाया' नाम दिया गया है)।

क्रमशः (प्रथम तीन वर्णों मे) तीन पत्नियाँ ब्राह्मण की, दो क्षत्रिय की तथा एक पत्नी वैश्य की होनी चाहिए। शूद्र केवल अपने ही वर्ण की कन्या से विवाह कर सकता है (१.५६,५७)।

वर्ष में इन व्यक्तियो की अर्घ से पूजा करनी चाहिए :—स्नातक (देखिए पृ० १९७), आचार्य (दे० पृ० २२१), राजा, मित्र, जामाता; किन्तु पुरोहित की पूजा प्रत्येक यज्ञ के अवसर पर करनी चाहिए[1]। (१.११०, तु० मनु ३.११९)

पथिक को तथा वेद का ज्ञान रखनेवाले ब्राह्मण को भी अतिथि मानना चाहिए। जो गृहस्थ ब्रह्मलोक प्राप्त करने की इच्छा रखता है उसे इन दोनो का विशेष रूप से सत्कार करना चाहिए (१ १११, तु० मनु १.१२०, १३०)।

प्रत्येक कर्म मे सफलता दैव तथा मनुष्य के भाग्य पर निर्भर होती है; किन्तु दैव स्पष्टतः मनुष्य के पूर्वजन्म के कर्मों के (फल के) अतिरिक्त और कुछ नही है (१.३४८, तु० मनु ७ २०५)।

कुछ लोग दैव से ही या किसी वस्तु की प्रकृति (या शक्ति) से ही सभी फल प्राप्त करने की कामना करते हैं; कुछ लोग काल की गति से और कुछ स्वयं अपने पौरुष से सिद्धि की कामना करते हैं; किन्तु अधिक बुद्धिमान् व्यक्ति इन सबके मेल से सिद्धि की इच्छा रखते हैं (१.३४९)।

२ अधोलिखित उदाहरण याज्ञवल्क्य स्मृति के 'व्यवहार' या न्याय-व्यवस्था विषयक दूसरे अध्याय से लिये गये हैं।—

प्रतिदिन अपने (न्याय कर्म करने के) फल को यज्ञ के फल के समान समझकर और प्रतिदिन सभ्यजनो को साथ लेकर विधिविवादों (व्यवहार) का निर्णय करे[2] (१.३५९, तु० मनु ८.१)।

---

[1] पारस्कर गृह्यसूत्र १ १ (स्टेन्ज़लेर) मे इन छ. अर्घ्य व्यक्तियो को प्रायः नाम से गिनाया गया है।

[2] अपने निबन्धों (प्रोफेसर ई० बी० कोवेल का संस्करण भाग २. पृ० ४९०) मे से एक मे कोलब्रूक ने भारतीय न्यायसभा की रचना का हिन्दू स्मृतियों के अनुसार एक रोचक विवरण दिया है। आर्थिक तथा अपराध

राजा उन वर्णों, परिवारों, शिल्पियों के संघों (श्रेणी), विद्यालयों तथा जनसमूहों को जो अपने वर्ण के धर्म (स्वधर्म, तु० पृ० १३५) से विचलित हो गये हैं, शुद्ध करे एवं उचित मार्ग पर आरोपित करे (१.३६०, तु० मनु ८.४१)।

राजा, स्वयं क्रोध तथा लोभ का त्याग कर विद्वान ब्राह्मणो के साथ लिखित धर्मशास्त्र के अनुसार विवादों का निर्णय करे (धर्मशास्त्रानुसारेण, २.१, तु० मनु ८.१)।

वह न्यायाधीशो के रूप में ऐसे व्यक्तियो को नियुक्त करे जो वेद के अध्ययन में पारंगत, धर्म को जाननेवाले, सत्य भाषण करनेवाले और मित्र तथा शत्रु के प्रति निष्पक्ष रहनेवाले हैं (२.२)।

संबन्धी न्याय का पालन राजा या सम्राट् के प्रमुख धर्मो में एक है। इसलिये राजा की सभा को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। उसके सहकारी विद्वान् ब्राह्मण होते हैं जिनमे एक उसकी अनुपस्थिति मे प्रधान न्यायाधीश का काम करता है। यह एक स्थान पर नही होती किन्तु राजा के साथ साथ ही सभा होती है। दूसरे प्रकार की न्यायसभा, जो एक स्थान पर होती है, राजा द्वारा नियुक्त मुख्य न्यायाधीश (प्राडविवाक) की सभा होती है, जिसके तीन या अधिकाधिक सात ब्राह्मण सहायक होते हैं। तीसरी न्यायसभा छोटे न्याया-धीशों की होती है जो स्थानीय विवादो का निर्णय करती है। इनके अतिरिक्त गाँव की भी न्यायसभाएँ (पूग), तथा व्यापारियों, कर्मकारो इत्यादि (श्रेणी), तथा सम्बन्धियो की न्यायसभाएँ (कुल) भी हैं जो छोटे मामलो मे न्याय देती हैं। सार्वभौम या सर्वोच्च न्यायालय की तुलना (जिनमें अन्य सभी न्यायालयो के विवादो की पुन. सुनवाई होती है) विभिन्न अंगो को मिलाकर बनाई गई समिति से की गई है जिसके अंग हैं:—१. राजा, २. प्रमुख न्याया-धीश, ३. सहायक न्यायाधिकारी, ४. राज्य के मन्त्री, ५. राजा का घरेलू पुरोहित, ६. लिखित विधि, अर्थात् धर्मशास्त्र, ७. स्वर्ण, अग्नि, जल (जो शपथ एवं परीक्षण के लिए प्रयुक्त होते हैं), ८. गणक, ९. लेखक (कायस्थ), १० विवाद के विषयों को उपस्थित करने वाला एव निर्णयो का पालन कराने-वाला, ११. सन्देशवाहक, १२. न्यायालय की देख-रेख करने वाला। श्रोता या दर्शको को भी न्यायसभा का अंग माना गया है। कोई योग्य व्यक्ति परामर्श देने या राय देने के लिये स्वतन्त्र होता है। इन सबको मृच्छकटिक के नवें अंक मे बड़े सुन्दर ढंग से दिखाया गया है जिसका उल्लेख हम अपने आगे के व्याख्यान में करेंगे। न्यायालय के वर्णन मे, जैसा प्रो० कोवेल ने कहा है 'श्रेष्टिन्' या व्यापारी वर्ग का प्रमुख तथा कायस्थ या लेखक न्यायाधीश के सहायक रूप मे बैठने वाले प्रतीत होती हैं।

यदि कोई व्यक्ति धर्म या व्यवहार के विपरीत किसी व्यक्ति द्वारा आहत हुआ राजा के पास न्याय की याचना करता है तो यह विधि-निर्णय का उचित स्थान (व्यवहारपदम्) होता है (२.५)।

वादी द्वारा की गई शिकायत को लिखित रूप मे प्रतिवादी के सम्मुख रखा जानी चाहिए और उसके अभियोगपत्र पर वर्ष, मास, पक्ष, दिन, नाम तथा वर्णों आदि का विवरण होना चाहिए (२.६)।

अभियोग का उत्तर उस व्यक्ति के सम्मुख लिखा जाय जिसने पहले न्याय की याचना की है। उसके बाद वादी तत्काल उन प्रमाणों को लिखित रूप मे प्रस्तुत करे जो वह अभियोग के समर्थन मे देना चाहता है (२.६,७)।

वैधानिक साक्ष्य (प्रमाण) तीन प्रकार का होता है:—लिखित बयान (लिखितम्), वास्तविक अधिकार (भुक्ति), तथा साक्षी (साक्षिणः) । इनमे से किसी एक के अभाव मे किसी एक दिव्यपरीक्षा (दिव्यान्यतमम्) का विधान है (२.२२, तु० मनु ८ ११४) ।

तुला, अग्नि, जल, विष, मूर्ति के प्रक्षालन के उपरान्त शिष्ट जल का पान (कोश), ये सभी निर्दोषता के परीक्षण के लिये दिव्य है (२,९५, तु० पृ० २६७ टि०)।

कम से कम तीन साक्षी होने चाहिएँ जो वेद के आदेशों या स्मृतियों के अनुसार आचरण करनेवाले और उपयुक्त वर्ण के हों (२.६९, तु० मनु ८.६० दे० इस ग्रन्थ का पृ० २६७)।

वादी तथा प्रतिवादी के पार्श्व मे खड़े हुए साक्षियो से राजा इस प्रकार कहे:—'महापातकियो के घर जलानेवालो, स्त्रियो तथा बालको की हत्या करने वालो के लिये जो लोक बताये गये है वही लोक मिथ्या प्रमाण देनेवाले व्यक्ति को मिलेंगे ('साक्ष्यस्यानृतम्', २.७३, ७४, तु० मनु ८ ८९)।

जो कुछ पुण्यफल तुमने पहले के सौ जीवनो मे किये गये सत्कर्मों के द्वारा प्राप्त किये हैं वे उसे मिल जाते हैं जिसे तुम झूठा साक्ष्य देकर परास्त करते हो, ऐसा जान लो[1] (२ ७५, तु० मनु ८ ९०)।

जहाँ दो परस्पर विरोधी प्रमाण हो (द्वैवे) वहाँ उनमे बहुमत के प्रमाण को (बहूनाम्) मानना चाहिए; जहाँ दोनो मे समानता हो वहाँ गुणवान् व्यक्तियो के वचन को ग्रहण करे; जब गुणी व्यक्ति भी परस्पर दो प्रकार के विचारवाले हो तो वहाँ सर्वाधिक गुणी व्यक्ति के वचन को ग्रहण करना चाहिए (२ ७८, तु० मनु ८.७३)।

---

[1] मनु मे सुकृत के फलो का कुत्तो को प्राप्त हो जाना कहा गया है।

जहाँ कभी किसी साक्षी के प्रमाण से किसी भी वर्ण के व्यक्ति को मृत्युदण्ड मिलने की स्थिति हो वहाँ साक्षी असत्य भाषण कर सकता है। इस मिथ्या साक्ष्य देने के उपरान्त प्रायश्चित्त के लिये (पावनाय) द्विज सरस्वती देवी के लिये चरु की बलि दे (२.८३, तु० मनु ८.१०४, १०५)।

जब हत्या या धनापहरण हुआ हो (घातितेऽपहृते) और ग्राम के बाहर इसका कोई चिह्न न मिलता हो, तो इसका अपराध ग्राम के शासक (ग्राम-भर्तु.) पर होता है और ग्राम को इसे चुकाना होता है (२.२७१, २७२)।

जब ब्राह्मण चोर हो तो उसे तपे हुए लोहे से दाग कर राष्ट्र से बाहर निकाल दे (२ २७०)।

सेंध लगानेवाले, अश्व तथा हाथी की चोरी करनेवाले, और बलपूर्वक हत्या करनेवाले को शूली पर चढा देना चाहिए (२.२७३, तु० मनु० ९ २७६,२८०)।

वस्त्र चुरानेवाले के हाथ काट लेना चाहिए और गठरी काटनेवाले का अँगूठा तथा तर्जनी काट लेना चाहिए (२.२७४, तु० मनु ९.२७७)।

सबसे ऊँचा धनदण्ड उस व्यक्ति पर लगावे जो जानबूझ कर चोर या हत्यारे को भोजन, आश्रय, अग्नि, जल, परामर्श, उपकरण या धन देता है (२.२७६, तु० मनु ९.२७८)।

जो कोई व्यक्ति गलत तराजू, गलत राजाज्ञा, कम तोल के बटखरे, या नकली मुद्रा रखता है और उनके व्यवहार से अपना व्यापार चलाता है उससे सर्वाधिक धनदण्ड लेना चाहिए (२ २४०, तु० मनु ९.२८४)।

जो व्यक्ति चिकित्सक बनने का ढोंग करता है और वह यह धोखे का कार्य किसी पशु के प्रति करता है तो प्रथम कोटि का दम (धनदण्ड) लेना चाहिए, यदि मनुष्य के प्रति करता है तो मध्यम कोटि का, और यदि राजा के किसी अधिकारी के प्रति धोखा करता है तो सर्वोच्च दण्ड लेना चाहिए (२.२४२ तु० मनु ९.२८४)।

जो व्यक्ति ओषधि, तैल, नमक, सुगन्धित द्रव्य, अन्न, शर्करा या अन्य वस्तुओ मे मिलावट करता है उससे सोलह पण दण्ड रूप मे लेना चाहिए (२ २४५, तु० मनु ८.२०३, ९.२८६, २९१)

सर्वाधिक धनदण्ड उन पर लगाना चाहिए जो मूल्यो की वृद्धि और ह्रास का ज्ञान रखते हुए भी अपना मनमाना मूल्य बनाकर कर्मकारो और शिल्पकारों को हानि पहुँचाते हैं (२.२४९)।

यदि राजा अन्यायपूर्वक कोई अर्थदण्ड देता है तो वह वरुण को हवि देने के उपरान्त उस धन का तीस गुना ब्राह्मणों को दे (२.३०७, तु० मनु ९.२४४)।

३. तीसरे अध्याय मे **प्रायश्चित्त** अर्थात तपस्या-व्रत एवं शुद्धि के नियम दिये गये है। इनमे से बहुत से नियम मनु के नियमो के समान ही हैं। यहाँ कुछ उदाहरणो को दे देना पर्याप्त होगा जो अन्त्येष्टि कर्म से सम्बन्ध रखते है :—

दो वर्ष से कम उम्र वाले बालक को भूमि में गाड़ना चाहिए, उसके लिए जल का तर्पण न देवे। उसके अतिरिक्त किसी अन्य मृत व्यक्ति (के शव) को सम्बन्धीगण लेकर श्मशान जावे ('आ श्मशानत्' ३.१, देखें पृ० १९७, तु० मनु ५.६८,६९,१०३।

तव उसे सामान्य अग्नि (लौकिक अग्नि) से जलाया और उस समय यमसूक्त एव पवित्र गाथाओ का उच्चारण किया जाता है (३.२)।

ऐसी विधि है कि मृत व्यक्ति के सम्बन्धी (मृत व्यक्ति के लिए) उसके नाम तथा गोत्र का उच्चारण करके फिर मौन होकर एक बार तर्पण करें (देखें पृ० २००)।

किन्तु ब्रह्मचारी तथा जातिवहिष्कृत व्यक्तियो को उदकदान करने की आज्ञा नही है (२ ५, तु० मनु ५.८८)।

नास्तिक (पाखण्डिन्), अस्थिर आश्रय वाले व्यक्तियो (अनाश्रिता), चोरों, अपने पति का वध करने वाली अथवा स्वतन्त्र जीवन विताने वाली (आत्म त्यागिन्यः) स्त्रियो के लिए उदकदान नही होता (३.६, तु० मनु ५.८९, ९०)।

जव सम्वन्धी उदक देकर स्नान करके कोमल घास से आवृत्त स्थान पर वैठ जॉय तो वृद्ध जन और लोगों को प्राचीन इतिहासो के कुछ अंश सुनाये, यथा (३.७) :—

'जो कदली के स्तम्भ के समान निःसार तथा जल बुद्बुद के समान क्षणभंगुर मानव जीवन मे सार प्राप्त करने की इच्छा रखता है वह मूर्ख होता है। यह पाँच तत्त्वो से निर्मित शरीर यदि अपने ही कर्मों की शक्ति से पुन· पाँच तत्त्वो मे मिल गया तो इसमे शोक करने की क्या बात है?'

पृथ्वी, समुद्र तथा स्वयं देवताओ का अवश्य ही नाश होता है, फिर मर्त्यलोक, जो फेन के समान मरणशील है, क्यो नही मृत्यु के नियम का पालन करेगा (३ ८-११)?

इस प्रकार के वचनो को सुनकर वे घर लौटें, अल्प आयु वाले वालक सवसे आगे-आगे चले; वे घर के द्वार के वाहर ही खड़े होकर नीम के पत्ती चवायें (निम्वपत्राणि, ३.१२)।

अपने मुख धोकर, अग्नि, जल, गोबर तथा सफेद सरसों का स्पर्श करके और पत्थर पर पैर रखकर वे घर मे प्रवेश करें (३.१३, तु० गृह्यसूत्रों में दिये गये शवयात्रा के विवरण पृ० १९८–२००)।

शव को छूने से उत्पन्न अशौच ('शावमाशौचम्') तीन रात्रियो या दस रात्रियों तक रहता है (३ १८, तु० मनु० ५.५९,६४)।

जो इस स्मृति को परिश्रम के साथ स्मृति मे रखते हैं वे इस लोक में ख्याति और मृत्यु के बाद स्वर्ग प्राप्त करते हैं (३ ३३०)।

जो श्राद्ध के अवसर इस स्मृति के केवल तीन ही श्लोको का पाठ करता है वह अपने मृत पितरो को सदैव तुष्टि प्रदान करता है, इसमें सन्देह नही। इस ग्रन्थ का अध्ययन करके ब्राह्मण शुभ फल प्राप्त कर सकता है, क्षत्रिय विजयी हो सकता है और वैश्य धनधान्य से पूर्ण हो सकता है (३.३३२, ३३३)।

मनु तथा याज्ञवल्क्य के बाद की अठारह प्रमुख स्मृतियाँ

इनमे से अत्यन्त महत्त्व के अठारह ग्रन्थो की सूची पृ० २०४ पर दी गई है। जैसा कि कोलब्रूक[1] ने वर्णन किया है, ये सभी किसी न किसी रूप मे विद्यमान है। इनमे से किसी के भी लेखक के विषय मे हमारा ज्ञान नही के बराबर है। इनकी उत्पत्ति नई विधियो की रचना करने तथा प्राचीन विधियों को विशिष्ट देश तथा विशिष्ट काल के अनुकूल बनाने के ध्येय से किये गये परिवर्तनो से हुई है। इन्हे प्राचीनता एवं प्रमाणिकता से युक्त बनाने के लिए सभी अठारह स्मतियो को मनु तथा याज्ञवल्क्य की स्मृतियो के समान विविध देव-शास्त्रीय प्रबुद्ध मुनियो से जोड़ दिया गया है। असलियत यह है कि यद्यपि मनु और याज्ञवल्क्य अब भी हिन्दू न्यायशास्त्र के आधार बने हुए है तथापि अनेक नियमो को अधिक अर्वाचीन हिन्दू विधायकों द्वारा जगत् के प्रथम तीन युगो के लिये ही अभिप्रेत और इस कारण वर्तमान चतुर्थ तथा सर्वाधिक पतित कलियुग मे प्रभावहीन माना गया है तथा इनके स्थान पर दूसरे ग्रंथो को प्रामाणिक माना गया है (देखिए पृ० १८० टि० २)। इस प्रकार नारद[2] रचित बताये जाने वाले ग्रन्थ मे कहा गया है :—

मृत भाई की विधवा से विवाह, अतिथि के लिये पशु का वध, श्राद्ध कर्म

---

[1] उनके निबन्धो का प्रोफेसर ई० बी० कोवेल का संस्करण भाग १ पृ० ४६८–४७० देखिए। इन अठारह प्रबुद्ध विधायको की रचनाएँ अथवा उनके संक्षेप कलकत्ता मे प्रकाशित हुए है।

[2] सर डब्ल्यू जोन्स द्वारा उद्धृत भाग ८, पृ० १५३

मे मांस की वलि, तथा तीसरे आश्रम (वानप्रस्थ मे प्रवेश), ये चौथे वय मे निपिद्ध हैं।

प्राचीन नियमो द्वारा कतिपय स्थितियो मे विहित निम्नलिखित कर्म भी चौथे वय मे निषिद्ध है :—

मद्यपान करना, चाहे वह धार्मिक उत्सव के अवसर पर ही क्यो न हो[1]; युवा विवाहित स्त्री का पति यदि उसके कौमार्य नाश के पूर्व ही मर जाय तो उसका पुनः दूसरे वर को दान; द्विज पुरुपो का अपने से भिन्न वर्ण की स्त्री से विवाह, जिसने समुद्र पर नौका से यात्रा की है ऐसे पुरुप के साथ सम्बन्ध; किसी यज्ञ पर वृषभ की वलि, आदि।

पराशर स्मृति[2] के रचयिता का कथन है '—विभिन्न कालों के धर्म भिन्न-भिन्न होते है। मनु की स्मृति कृत युग की है, गौतम की त्रेतायुग की, शंख तथा लिखित की स्मृतियाँ द्वापर की हैं, और पराशर की स्मृति कलियुग की है।

बहुत से आधुनिक विधिवेत्ता मनु से प्रारम्भ कर सभी स्मृति को एक रचना मानते हैं और उनका कथन है कि इनके विरोधाभासो की व्याख्या की जा सकती है।

मै यहाँ मनु तथा याज्ञवल्क्य के वाद की प्रमुख अठारह स्मृतियो से संवद्ध विषयो का कुछ विवरण देता हूँ :—१. मनु के दस प्रजापतियो (१ ३५) में अन्यतम अत्रि की स्मृति श्लोक मे और सुवोधगम्य शैली मे लिखी हुई है। २. विष्णुस्मृति भी श्लोक मे है और इसे एक सुन्दर ग्रन्थ माना जाता है; इसका एक लघु सस्करण भी विद्यमान है। ३. हारीत की धर्मसंहिता गद्य मे है किन्तु इसका पद्यवद्ध सक्षिप्त रूपान्तर भी हुआ है। ४. उशनस् या शुक्र का नीतिशास्त्र छन्द मे है और इसका लघुरूप भी विद्यमान है। ५. प्रायः सत्तर छन्दों का एक लघु ग्रन्थ अङ्गिरस् रचित वताया जाता है जो मनु के प्रजापतियो तथा महर्पियो (१.३५) मे एक हैं। ६. सौ श्लोकों का एक ग्रन्थ, जिस पर कुल्लूकभट्ट ने टीका लिखी है, कथाशास्त्रीय दृष्टि से मृतात्माओ के स्वामी यम (मनुर्वैवस्वत के भाई) द्वारा लिखित वताया जाता है। ७. आपस्तम्व का नीतिशास्त्रीय ग्रन्थ गद्य मे है किन्तु उसका पद्य मे संक्षिप्त रूपान्तर भी विद्यमान है। ८. संवर्त की स्मृति का भी छन्दिक लघु संस्करण है। ९. कात्यायन का धर्मग्रन्थ पूर्ण तथा प्रमुख है। १०. वृहस्पति के धर्मशास्त्र का सक्षिप्त रूप है और इम विपय मे सन्देह है कि यह सक्षित रूप इसी धर्मशास्त्र का है या किसी दूसरे का। ११. पराशरस्मृति को कुछ लोग चौथे अर्थात् कलियुग के लिए

---

[1] उदाहरणार्थ सौत्रामणी।

[2] प्रोफेसर स्टेन्ज़लर ने याज्ञवल्क्य के आमुख में उद्घृत किया है।

सर्वाधिक प्रामाणिक मानते हैं। इस पर माधवाचार्य ने भाष्य लिखा है। १२. पराशर-पुत्र व्यास के नाम से भी एक विधिग्रन्थ है। १३, १४. शङ्ख तथा लिखित द्वारा रचित दो पृथक् ग्रन्थ छन्द मे विद्यमान है किन्तु गद्य मे लिखित दोनो के सम्मिलित धर्मग्रथ का ही प्रायः कुल्लूक एवं अन्य आचार्यो ने उद्धरण दिया है। इसे द्वापर युग के लिये लिखा गया कहा जाता है। एक पद्य मे रचित धर्मग्रन्थ मनु के दस प्रजापतियो (१.३५) मे अन्यतम, दक्ष, का बताया जाता है, जो विशेष महत्त्व नही रखता। १६. स्पष्ट शैली मे लिखित एक गद्यमय रचना को गौतम द्वारा त्रेता युग के लिये रचित बताया जाता है। १७. शातातप का धर्मग्रथ मुख्यत: व्रत तथा प्रायश्चित्त पर है; इसका एक संक्षिप्त सस्करण छन्द मे भी है। १८. मनु के प्रजापतियों (१.३५) मे अन्यतम वसिष्ठ द्वारा रचित धर्मग्रन्थ मे गद्य तथा पद्य दोनो ही हैं।

पद्मपुराण इत्यादि मे विविध देवशास्त्रीय विधिनिर्माताओ से संबद्ध अन्य धर्म संहिताओ मे मरीची, पुलस्त्य, भृगु, नारद (मनु १ ३५), काश्यप, विश्वामित्र, गार्ग्य, बौधायन, पैठीनसि, सुमन्तु, लोकाक्षि, कुथुमि या कुठुमि तथा धौम्य रचित ग्रथो का उल्लेख करना पर्याप्त होगा।

इनके अतिरिक्त प्राचीन धर्मसहिताओ पर आधृत बहुत सी विधि संबन्धी रचनाएँ तथा टीकाएँ अर्वाचीन विधिवेत्ताओ द्वारा लिखी गई है और ये रचनाएँ भारत के विभिन्न भागो मे प्रचलित तथा प्रमाण रूप मे मान्य हैं। ये मिलकर पाँच शाखाएं होती हैं जिनका मैं संक्षिप्त वर्णन यहाँ प्रस्तुत करता हूं।

हिन्दू विधिशास्त्र की पाँच शाखाएँ

ये शाखाएँ हैं —१ बंगाल; २. बनारस; ३. मिथिला (उत्तर बिहार तथा तिरहुत); ४. मद्रास (द्राविड); तथा ५. बम्बई (महाराष्ट्र) की शाखाएँ।[१] बहुत से ग्रन्थ ऐसे हैं जिन्हे इन शाखाओ मे से प्रत्येक मे विशिष्ट प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप मे स्वीकार किया गया है।

१. बगाल मे मनु और याज्ञवल्क्य दोनो ही विधि के मूल रचयिताओ के रूप मे नितान्त आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। हम पहले कह आये हैं कि मनुस्मृति की सर्वोत्तम टीका कुल्लूक भट्ट लिखित मन्वर्थमुक्तावली है (पृ०

---

[१] यहाँ मैंने श्री० हरबर्ट कोवेल के टैगोर लॉ लेक्चर से सहायता ली है जिसकी प्रतियाँ कलकत्ता विश्वविद्यालय का सीनेट मुझे कृपाकर बराबर देता रहा है।

२१३); मेधातिथि की भी टीका है (जो अंशतः नष्ट हो गई है और जिसे दूसरे लेखक ने पूरा किया है) । एक गोविन्द राज की टीका है और उसके अतिरिक्त धरणीधर, भागुरि तथा अन्य आचार्यों की भी टीकायें हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति के मिताक्षरा के अतिरिक्त कम से कम चार अन्य भाष्य है : अपरार्क का भाष्य (जो सब मे प्राचीनतम है); शूलपाणि की (दीपकलिका नामक) टीका; और विश्वरूप का भाष्य । शूलपाणि ने व्रत तथा प्रायश्चित्त पर एक और ग्रन्थ लिखा है । विज्ञानेश्वर[1] की मिताक्षरा टीका (जैसा कि पहले देखा गया है) याज्ञवल्क्य स्मृति पर प्रमुख टीका है । इसका बंगाल मे बहुत अध्ययन किया जाता है किन्तु बंगाल शाखा में प्रमुख प्रामाणिक ग्रन्थ एक दूसरा ही प्रसिद्ध ग्रन्थ है जो स्वरूप तथा सिद्धान्त में इससे बहुत कुछ भिन्न है। उसका नाम है दायभाग या उत्तराधिकार विषयक ग्रन्थ और उसके रचयिता है जीमूतवाहन[2] जिन्हे कुछ लोग सिलार के वंश का राजकुमार मानते हैं। उन्होंने सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ के पूर्व ही या तो स्वयं इसकी रचना की अथवा दूसरो से इसकी रचना करवायी । यह कह देना चाहिए कि मिताक्षरा और दायभाग दोनो ही मनु तथा याज्ञवल्क्य स्मृति .पर टीका होने की अपेक्षा उन्ही मे विकसित हुए हैं । यद्यपि ये स्वयं को इन प्राचीन धर्म ग्रन्थो पर आधृत होने का दावा करते है तथापि ये कभी-कभी उनमें प्रतिपादित नियमो को अधिक विकसित सामाजिक व्यवस्था के साथ मेल खाने के लिये संशोधित भी कर देते है । दूसरी स्थितियो में ये सन्देहास्पद विषयो का विवेचन कर देते है और अनेक लुप्त बातों की पूर्ति करते हैं । पुन. इनपर भी बाद के विधिवेत्ताओं ने टीकायें लिखी हैं जिनकी रचनाओ मे अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर और भी अधिक परिवर्तन हुए है ।[3] यथा :—

मिताक्षरा पर लिखी गई तीन प्रमुख टीकाओ के नाम है विश्वेश्वर भट्ट

---

[1] विज्ञानेश्वर शङ्कराचार्य द्वारा स्थापित संन्यासियों के वर्ग के है, और उनकी टीका ईसा की ११ वीं शताब्दी मे ही लिखी जा चुकी होगी ।

[2] कोलब्रूक ने अनूदित किया है । जीमूतवाहन की रचना को ही शायद धर्मरत्न कहते हैं जिनका केवल उत्तराधिकार विषयक अध्याय अवशिष्ट है ।

[3] सभी महत्त्वपूर्ण संस्कृत ग्रंथो मे पाठ की यथार्थता का निश्चय टीका लिखने की प्रणाली के कारण ही हो पाता है क्योकि टीकायें सदैव मूल पाठ के शब्दों को उद्धृत करती हैं और इस प्रकार मूल में परिवर्तन नहीं होने देती । पुनः नवीनतम टीकाओं की असल्यित और निःसन्दिग्धता का ज्ञान उन पर लिखी हुई टीकाओ से हो जाता है ।

की सुबोधिनी (जिसे कोलब्रूक ने चौदहवी शताब्दी का माना है); बलराम भट्ट रचित एक परवर्ती ग्रन्थ; तीसरी 'प्रतिताक्षरा' नाम की नन्द पण्डित लिखित है जो दत्तक मीमासा या सम्पत्ति के अधिकार विषयक ग्रंथ दत्तकमीमासा तथा वैजयन्ती (देखिए इसके वाद का पृष्ठ) के लेखक भी थे। दायभाग पर अनेक टीकाएँ हैं जिनमे से कुछ (जो प्रसन्न कुमार ठाकुर की अध्यक्षता मे प्रकाशित हुई हैं) ये हैं—श्रीकृष्ण तर्कालङ्कार की टीका जो इसी लेखक की एक अन्य रचना 'दायक्रम संग्रह' के साथ साथ बंगाल में बहुत आदर से देखी जाती है; श्रीनाथाचार्य चूडामणि की टीका, अच्युत चक्रवर्ती की टीका तथा महेश्वर की टीका। इनमे से किसी के पहले हमे रघुनन्दन नाम के एक प्रसिद्ध ब्राह्मण द्वारा (जो सोलहवी शताब्दी के प्रारम्भ में थे) लिखे हुए ग्रन्थ को रखना होगा, जो सत्ताइस अध्यायों मे तथा संस्कारों, रीतियो एवं उनके पालन के विषय पर है। उसके ग्रन्थ, जो जीमूतवाहन पर टीका प्रस्तुत करते हैं तथा उनका समर्थन करते हैं, स्मृति तत्त्व, तिथितत्त्व आदि कहलाते हैं। इनमें प्रथम के अन्तर्गत व्यवहार तत्त्व तथा दायतत्व आते हैं।[1]

२. जहाँ तक बनारस तथा मध्यभारत की शाखा का प्रश्न है, यह स्मरणीय है कि इस शाखा के अनुयायी याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा टीका को प्रमाण मानते एवं उसका अध्ययन करते हैं जैसा कि प्राय: सभी पाँचों शाखाये इसे मान्यता देती है। किन्तु बनारस शाखा मे मिताक्षरा की कुछ प्रचलित टीकाओ, यथा मित्रमिश्ररचित वीरमित्रोदय, और कमलाकर लिखित विवाद-ताण्डव, को अधिक महत्व दिया गया है।

३. मैथिल या मिथिला (उत्तर बिहार तथा तिरहुत) की शाखा मे, मिताक्षरा सहित याज्ञवल्क्य स्मृति के अतिरिक्त वाचस्पतिमिश्र[2] रचित विवाद चिन्तामणि तथा व्यवहार चिन्तामणि का अध्ययन अधिक किया जाता है; इसके साथ चण्डेश्वर (जो लगभग १३१४ ई० मे हुये थे) के विवाद रत्नाकर तथा लखिमा देवी नाम की विदुषी द्वारा रचित विवाद चन्द्र का भी अध्ययन किया जाता है। लखिमा देवी के विषय में कहा जाता है कि उन्होने स्वयं ग्रन्थ की रचना करके उसे अपने बन्धु मिसरूमिश्र के नाम कर दिया।

---

[1] १८२८ मे कलकत्ता मे मुद्रित। रघुनन्दन को अक्सर स्मार्तभट्टाचार्य कहा गया है।

[2] प्राय इन्हे मिश्र कहते हैं। इनकी रचना का अनुवाद प्रसन्नकुमार ठाकुर ने किया है जो कलकत्ता मे १८६३ ई०मे प्रकाशित हुआ है। अनुवादक ने कृपाकर मेरे पास भी एक प्रति भेजी है।

४. द्राविड़ या दक्षिण भारतीय शाखा में पूर्ववत् ही मिताक्षरा के अतिरिक्त देवन भट्ट रचित स्मृति चन्द्रिका तथा दत्तक चन्द्रिका है; माधवाचार्य लिखित पराशर स्मृति की (पराशर स्मृति व्याख्या नाम की) टीका है; विष्णु स्मृति पर (वैजयन्ती नाम की) तथा पराशर स्मृति पर नन्दपण्डित की टीकायें हैं और गोद लेने के कानून पर 'दत्तकचन्द्रिका' नामक उनका ग्रन्थ भी है।

५ पश्चिमी (बम्बई तथा महाराष्ट्र की) शाखा मे मिताक्षरा के अतिरिक्त नीलकण्ठ भट्ट रचित कुछ ग्रन्थ हैं जिनमे व्यवहारमयूख[१] सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।

---

[१] बम्बे सिविल सर्विस के श्री एच० बोरोडेली (Borrodaile) द्वारा किया गया इस ग्रन्थ का अनुवाद सूरत मे १८२७ ई० मे मिशन प्रेस मे छपा था।

४. इतिहास या महाकाव्य—रामायण[1]

भारत मे प्रकृति के सम्पूर्ण दृश्यसघात के समान ही साहित्य का रूप भी विशाल है। काव्य, जिसका जन्म हिमालय के भव्य दृश्यो के बीच और जिसका पालन-पोषण काल्पनिक शक्तियो को उत्तेजित करने वाली जलवायु मे हुआ था, अन्त मे यदि सदैव यथार्थ गभीरता के साथ नही तो प्राच्य वैभव के साथ तो अवश्य ही विकसित् हुआ। यद्यपि ग्रीस निवासियो के समान हिन्दुओ के भी केवल दो ही विशाल महाकाव्य[2] है—रामायण तथा महाभारत—तथापि इन दोनो वृहत रचनाओं की तुलना 'इलियड' और 'ओडिसी' के साथ करना वैसा ही है जैसे संसार के सर्वाधिक ऊँचे पर्वतो के हिमशिखरो से निकलने वाली, अनेक धाराओ के मिलन से उमड़ती हुई विस्तृत मैदानो मे बिखरने वाली या विभिन्न गहन सरिताओ मे विभक्त होने वाली सिन्धु और गंगा नदियों की एटिका की सरिताओ या थेसली की पर्वत धाराओ के साथ तुलना। वस्तुतः इस विषय मे आकार की विशालता उपलक्षित होती है जैसी कि संस्कृत साहित्य के प्रत्येक दूसरे विभाग मे उपलब्ध होती है, और यह आकार की विशालता अधिक सीमित अन्तरिक्ष के अभ्यस्त योरोपीय मस्तिष्क के लिये नितान्त विस्मयजनक है।

इन दो भारतीय महाकाव्यों की अधूरी रूपरेखा भी पाश्चात्य विद्वानो के लिए रोचक ही होगी; क्योकि सभी यथार्थ काव्यों मे, चाहे वह योरोपीय हो या एशियाई, समानताएँ होती ही है; और पूर्व मे जिस प्रकार की ख्याति

---

[1] इस व्याख्यान तथा महाभारत विषयक व्याख्यान का एक अंश मैंने ९ मई १८६२ ई० को आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय मे दिये गये अपने व्याख्यान मे प्रस्तुत किया था। बाद मे वह अंश एक 'इण्डियन एपिक पोएट्री' नामक लघु ग्रंथ के रूप मे प्रकाशित हुआ, जो अब अप्राप्य है।

[2] मेरा तात्पर्य उस प्रकार के महाकाव्य से है जिसे हम स्वाभाविक तथा अकृत्रिम कह सकते है और जो कलावादी (कृत्रिम) महाकाव्यो से भिन्न है। भारतीय महाकाव्य (इतिहास) या स्वयं 'इलियड' ही अरस्तू की इपोस (Epos) की परिभाषा को सन्तुष्ट कर सकते हैं या नही यह एक अलग प्रश्न है। कृत्रिम महाकाव्य (काव्य) का परवर्ती संस्कृत साहित्य में अभाव नही है और उनके उदाहरण आगे आने वाले एक व्याख्यान में दिये जायेंगे।

इन दोनो महाकाव्यों को मिली है, वैसी किसी भी काव्य को न मिल पाती यदि वे मानव स्वभाव के लिए सामान्य तथा अंग्रेजों और हिन्दुओं मे समान रूप से पाई जाने वाली अनुभूतियो तथा भावनाओं से आप्लावित न होते ।

अतएव मैं अगले तीन व्याख्यानों मे रामायण तथा महाभारत[1] के स्वरूप तथा वर्ण्यविषयो का एक संक्षिप्त और सामान्य विवेचन प्रस्तुत करूँगा जिसमे इन दोनो की परस्पर कतिपय महत्वपूर्ण विवरणो मे तुलना की जायगी तथा इलियड एवं ओडिसी से इनका भेद दिखाते हुये प्रत्येक शास्त्रीय विद्वान् का ध्यान आकृष्ट करने वाली नितान्त स्पष्ट समानताओं या विषमताओ का भी निर्देश किया जायगा ।

निःसन्देह गीतकाव्य से भिन्न महाकाव्य की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसका संबन्ध आन्तरिक अनुभूतियो की अपेक्षा बाह्य क्रिया से अधिक रहता है । यही वह विशेषता है जो एपोस (Epos) को प्रारम्भिक राष्ट्रीय जीवन की स्वाभाविक अभिव्यक्ति का रूप प्रदान करती है । जब शताब्दियों का प्रयत्न राष्ट्रो के मस्तिष्कों को अन्तर्मुखी कर देता है, और जब मनुष्य चिन्तन और तर्क करने लगते हैं, भाषा को समृद्ध करने लगते हैं, और विज्ञान के भण्डार को भरने लगते हैं तो सुसंस्कृत काव्य का भी अभाव नही हो सकता, किन्तु महाकाव्यीय गीत का नैसर्गिक उद्भव राष्ट्रीय जीवन की उस अवस्था मे उतना ही असंभव है जितना अस्सी वर्ष के बूढ़े के लिये अपने बचपन की दैत्यो और दैत्यो का नाश करने वालों की कथाओ मे आनन्द लेना । प्राचीन काल के हिन्दू चरित्र को प्रतिविम्बित करने वाले रामायण तथा महाभारत मे अतिशयोक्तिपूर्ण वीरता के कार्यों की आश्चर्यजनक घटनाओ का प्राचुर्य होने का सहज ही अनुमान किया जा सकता है ।

भारत मे महान् योद्धाओ की प्रशस्ति मे गीत-गायन की परम्परा प्राचीन काल मे संभवतः उस समय प्रचलित थी जब ग्रीस मे होमर के काव्यो का युग था । ऋग्वेद के सूक्तो मे राम, अर्जुन और, युधिष्ठिर का कोई उल्लेख नही है, किन्तु इन्द्र और अन्य देवताओं तथा वीरों के कार्यों का, जिन्हे अधिक सभ्य आर्यों की असभ्य अनार्यों से रक्षा करने वाला माना गया था, का वर्णन एवं गान किया गया है, और उनकी प्रशस्ति में रचे गये इन गीतो मे ही हम भारतीय महाकाव्य के अङ्कुर ढूंढ सकते हैं । पुनः, हमें यह विदित है कि इतिहास या आख्यानो का मौखिक गान उस समय प्रचलित था जब गृह्यसूत्रो एवं

---

[1] रामायण तथा महाभारत का अधिक पूर्व विश्लेषण मैंने 'इण्डियन एपिक पोएट्री' नामक लघुग्रन्थ के अन्त मे दिया था, यह शायद कुछ और विस्तृत रूप मे इसके बाद छप सके ।

मनुस्मृति की रचना हुई थी (देखिये पृ० १९६ की अन्तिम पंक्ति; पृ० २०७ टि०; तथा पृ० २४७)। निश्चय ही इस प्रकार की कथाओ ने उस युग के लोकप्रिय जननायको के विलक्षण कार्यों को रग-योजना की भव्यता से अनुरंजित कर दिया जो प्राच्यदेशीय जलवायु एवं वातावरण से उत्तेजित कल्पनाओं वाले कवियो के लिए स्वाभाविक था। किन्तु यह बात विश्वसनीय नही लगती कि यदि वे ऐतिहासिक तथ्य के आधार पर आश्रित न होते तो अधिक लोकप्रिय होते।

यह निश्चित रूप से संभव है कि प्राचीन काल मे जब आर्य जातियो को पाँच नदियो वाले प्रदेश मे पहली बार बसे हुए अधिक दिन न हुआ होगा तब कुरु नाम के बाहर से आए हुए प्रतिद्वन्द्वी कबीलो ने हिन्दुस्तान के मैदानो की ओर बढ़ते हुए प्रभुता-प्राप्ति के लिये सघर्ष किया होगा। यह भी हो सकता है कि उनके गगा के निकटवर्ती जनपदो मे बसने के तत्काल बाद ही एक वीर नेता के नेतृत्व मे तथा युद्ध प्रिय किन्तु असभ्य पर्वती कबीलो की सहायता लेकर आक्रमणकारियो का एक दल दक्षिण की ओर भारत प्रायद्वीप मे लंका तक बढ आया। दोनों ही स्थितियो मे दलनेताओ के वीरतापूर्ण कार्य स्वभावतः महाकाव्यीय कविता के विषय बन गये होगे तथा विन्ध्य एवं पडोस की पहाड़ियो के जगली आदिम निवासियो को काव्य मे वानरो[1] का रूप दे दिया गया होगा जबकि दक्षिण की आर्यों के पूर्व की शक्तिशाली जातियो को अनेक सिर वाले राक्षसो एवं खून के प्यासे दैत्यो के रूप मे उपस्थित किया गया।[2] ये जातियाँ, जिन्हे आर्य अर्थात् सभ्य के विरोधी अर्थ मे 'अनार्य' अर्थात्

[1] स्ट्राबो (१५.२९) ने यह वर्णन दिया है कि एक बार बहुत से बन्दर जंगलो से निकले और मेसिडोनिया की सेनाओ के सामने खड़े हो गये। मेसिडोनिया की सेनाओ ने उन्हें स्पष्टतः सैना जैसी पंक्तियो मे खड़े देखकर सेना ही समझा और उन्हे शत्रु समझ कर उन पर आक्रमण करने की तैयारी कर दी।

[2] हमे मद्रास प्रेसिडेसी मे निवास करने वाली और तमिल, तेलुगू, कन्नड़ एवं मलयालम बोलने वाली विशाल द्राविड़ जातियो को भारत की पहाड़ियो एवं जंगलो मे निवास करने वाली असभ्य आदिम जातियों के साथ एक मानने का भ्रम नही करना चाहिए। द्राविड जातियाँ (जिनके प्रतीक महाकाव्यीय कविता मे रावणों एवं विभीषणों के रूप मे मिलते हैं) सस्कृत बोलने वाली आर्य जातियो के पूर्व आई थी और संभवतः उनका भी उद्गम-स्थान मध्येशिया का वही क्षेत्र था, जहाँ से वे उन्ही पर्वतीय दर्रो से होकर पंजाब तथा उत्तरी भारत में आई थी। उनमे में अंशत. बढ़ते हुए आर्यों के साथ मिल

असभ्य कहा जाता है, आर्य निवासियों द्वारा शनैः शनैः दक्षिण की ओर या पहाड़ियों की ओर खदेड़ दी गईं। संभवतः ऋग्वेद की रचना के समय इन जातियो ने उत्तर में बहुत सघर्ष किया। उन्हे ऋग्वेद मे दस्यु, यातुधान आदि नाम दिया गया है और आकृति मे भयंकर, देवता न

गई होंगी। किन्तु अधिकाश द्राविड जातियाँ दक्षिण की ओर खदेड़ दी गईं थी। वहाँ उन्होंने पर्याप्त स्वतन्त्र सभ्यता का विकास किया। उनकी भाषाएँ यद्यपि अन्ततः अल्पाधिक संस्कृत शब्दों के साथ युक्त हो गईं तथापि आकृति मे सश्लोषणात्मक हैं (सामान्यतः जिसे तूरानी कहते हैं) और उनका अपना विस्तृत तथा महत्वपूर्ण साहित्य है। दूसरी ओर, पहाड़ी कबीले और अन्य जातियाँ, जिनकी प्रतीक हनुमान की वानरी सेना है, मध्य भारत की गोड़ जातियाँ, गोड़ो के पश्चिम की ओर पहाड़ी भील जातियाँ, गोण्डवाना तथा उड़ीसा के उत्तर की पहाड़ी शृंखलाओं के पूर्वीय जनपदो की खोण्ड या खुस जातियाँ, पूर्वीय सीमा के खासिया और गारोस—उन विभिन्न तातर जातियों की आधुनिक प्रतिनिधि हैं जो विभिन्न कालो मे आईं। इनमे से कुछ संभवतः चीनी तार्तरी तथा तिब्बत से आईं और बंगाल मे ब्रह्मपुत्र की ओर बढ गईं। ये जातियाँ असीमित विभिन्न बोलियाँ बोलती हैं और परस्पर एक दूसरे की भाषा नही समझती। यदि तूरानी शब्द से भाषा तथा रीतिरिवाज मे नितान्त भिन्न भारत की द्राविड़ तथा विभिन्न पर्वतीय जातियों से तात्पर्य है, तो जितनी जल्दी इस शब्द का भाशाशास्त्री तथा नृवंशविद्याविद परित्याग करें उतना ही उत्तम होगा। किसी भी स्थिति में तूरानी भाषाओ के दो वर्ग हो सकते है: उत्तरी और दक्षिणी। पहले के अन्तर्गत सामोयडिक एव फिनिश के अतिरिक्त तीन बहने, तुंगुसिक (या मंचू), मंगोल, तथा टर्की, आती है, जबकि दूसरे वर्ग मे तिब्बती, स्यामी बर्मी तथा द्राविड भाषाय आती है। एकाक्षर चीनी भाषा इन दोनो के बीच की है। बोलियों मे कदाचित हिमालयीय जातियो की बोलियाँ सभी पर्वतीय दक्षिण तूरानी भाषा वर्ग में रखे जाने के लिये सर्वाधिक उपयुक्त हैं। डॉ० काल्डवेल ने अपने विद्वात्तपूर्ण ग्रन्थ 'कम्परेटिव ग्रामर आफ साउथ इण्डियन लैंग्वेजेज' (दक्षिण भारतीय भाषाओ का तुलनात्मक व्याकरण) में द्राविड परिवार की भाषाओं का बड़ी योग्यता के साथ विचार किया है। उनका विचार है कि द्राविड लोग भारत के प्रथम निवासी थे और उन्हें उन आक्रमणकारियो ने दक्षिण की ओर खदेड़ा दिया जिन्हे बाद मे आर्यों ने परास्त किया था। अधिक दक्षिण की पर्वतीय जातियों की अविकसित विभाषाएं अंशतः द्राविडीय भाषाओ, विशेषतः तुण्ड, कोट (नीलगिरि पहाड़ियो की दो भाषायें) गोण्ड तथा खोण्ड (कु)

माननेवाले, अमानवीय, ब्राह्मण-हिंसक, धर्म-कर्म विध्वसक तथा मनुष्य और अश्व के मास-भक्षक के रूप मे वर्णित किया गया है। (ऋग्वेद १०.७८, १६ मूइर का टेक्स्ट्स २ ४४५)। महाकाव्यीय कविता मे उन्हे सामान्यत: राक्षस या दुष्ट दैत्य कहा गया है जो देवो, सज्जनो एवं धर्मक्रिया के घोर शत्रु है।[1] इन्ही अनार्य जातियो की क्षत्रियवश के वीर आर्य नेताओं द्वारा पराजय की घटना से तथा इन आर्य प्रवासियो की विभिन्न शाखाओ के बीच की प्रतिद्वन्द्विता से वे स्थितियाँ उत्पन्न हुईं जिन्होने इन दो महाकाव्यो को जन्म दिया। रामायण तथा महाभारत के प्रख्यात योद्धा गृह्यसूत्रों तथा मनुस्मृति (३ २३२) में उल्लिखित इतिहासो के योद्धाओ से अभिन्न ही हैं इसे प्रमाणित नही किया जा सकता; किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि तीन रामो और अर्जुन आदि के वीरतापूर्ण

से सबद्ध है। समूजी तथा बहुत से कोरवार लोग तेलुगु की ही एक विभाषा बोलते है। दक्षिणी घाटों के 'मले-अरसर' (पर्वतीय राजा) अशत: भ्रष्ट मलायम और भ्रष्ट तमिल बोलते है। लाम्बाडी या जिप्सी लोग हिन्दुस्तानी भाषा की ही एक बोली बोलते है। दक्षिण की असभ्य जातियो मे लका के जगलो की वेदार जाति भी आती हैं।

[1] एक स्थान पर (रामायण ३.१, १५) उन्हे काले रग का, ऊनी बालों और मोटे ओठो वाला बताया गया है। निम्न अश ३.१, २२ से है —'मनुष्यो को खाने वाले अनेक रूपो वाले राक्षस तथा हिंसक पशु विस्तृत वनो मे रहते हैं। वे नगर मे रहने वाले भक्तो को कष्ट पहुचाते है। वे भयकर अकार वाले तथा भद्दे राक्षस अपने दुश्चरित को अनेक निर्दयतापूर्ण एव भयंकर कार्यों द्वारा प्रकट करते है। वे अनार्य दुष्ट जीव बहुत उत्पात करते है। अपने रूप बदल कर और झाड़ियो मे छिपकर वे साधुओ को डराते है। वे यज्ञीय पात्रो तथा सुवा आदि (ऋग्भाण्डम्) को फेंक देते हैं, पकाये हुए चरु को दूषित कर देते है और रक्त से बलि आदि को नष्ट कर देते है। वे धर्मात्माओ के भयंकर शब्द करते है।' विराध नाम के एक राक्षस को (रामायण ३.७,५ मूइर २.२४७) पर्वत शिखर के समान विशालकाय, लम्बी टाँगो वाले विशाल शरीर, टेढी नाक, डरावनी आखो, लम्बे मुख और निकले हुये पेटवाला तथा मृत्यु के समान मुँह खोलने वाला वर्णित किया गया है। पुराणो के निषाद भी इसी आकृति वाले है यद्यपि उन्हे आकार मे बौना बताया गया है और इसमे सन्देह नही कि निषादो से भी उसी जाति का अभिप्राय है। इसी प्रकार ग्रीक लोगो को अज्ञात जातियो तथा साइक्लोपीज, लेस्ट्रीगोनीज, सेन्टॉरी आदि का वर्णन करते समय होमर तथा अन्य ग्रीसनिवासी लेखको ने अतिशयोक्तियो का सहारा लिया है और नितान्त तर्कहीन कथाये गढ डाली है।

कर्म मनु के समय के तत्काल बाद, गीतो के विषय बन गये; और प्रथमत. इन योद्धाओ को महान् शक्ति तथा तेज से युक्त मनुष्यो के ही रूप मे प्रस्तुत किया गया था, जिनकी शक्तियाँ चाहे कितनी भी असाधारण क्यो न रही हो, मानव की शक्तियो से बढकर नही थी। जनता मे कथा कहनेवालो द्वारा उनके कार्यों एवं साहसो के मौखिक वर्णन इन दोनो महाकाव्यो के मौलिक आधार बने और स्वभावत· वे क्षत्रिय तथा विजयी वर्ग की अद्वितीय सम्पत्ति थे। संभवतः ये कथाएँ पहले गद्य मे कही गई थी, जिनमे शनै शनैः सरलतम् छन्दो यथा अनुष्टुभ अथवा श्लोक जैसे छन्दों का भी अन्तर्निवेश कर दिया गया।[1]

रामायण तथा महाभारत पर एक उडती नजर डालने वाला पाठक भी अधिक परवर्ती विस्तारो मे अन्तर्निहित सरल वीरचरित्र-वर्णन का आधार या मूल आसानी से ढूंढ सकता है। किन्तु इन काव्यो की प्रथम रूप रचना किस काल की कही जा सकती है? पुन·—ब्राह्मण धर्म के विस्तार की वह प्रथम क्रिया कब घटित हुई जिसने इनके मौलिक स्वरूप को आच्छादित तथा परिवर्तित कर दिया? अन्तत —इनकी रचना कब पूरी हुई और किस समय ये उस रूप मे आये जिस रूप मे आज विद्यमान हैं?

पहले प्रश्न के उत्तर मे मुझे इस विचार के समर्थन मे पाँच तर्क देने हैं कि दोनो महाकाव्यो की प्राचीनतम अथवा प्राग-ब्राह्मणीय रचना पाँचवी शताब्दी ई० पू० के बाद की नही हो सकती। वे तर्क इस प्रकार है—

१. रामायण मे सतीप्रथा का वर्णन नही है। महाभारत मे पाण्डु की पुत्री माद्री अपने पति के साथ जल जाती है,[2] और वसुदेव की चार पत्नियाँ एवं कृष्ण की कुछ पत्नियाँ भी यही करती है[3]। फिर भी, यह उल्लेखनीय है कि युद्ध मे हत् अनेक योद्धाओ की पत्नियो को इस प्रकार सती होते नही बताया गया है। इससे पता चलता है कि पंजाब के निकट उत्तर पश्चिमी भारत मे सती प्रथा का प्रचलन प्रारम्भ हो रहा था, (जहाँ प्रायः ३०० ई० पू० मे इसके प्रचलित होने की बात हमे विदित है) किन्तु रामायण की प्राचीनतम रचना के समय यह प्रथा सुदूर पूर्वीय जनपदों मे नही पहुँची थी। किन्तु यदि एक

---

[1] महाभारत के प्राचीनतम भाग में एक खण्ड पूर्णतः गद्य मे है। श्लोको की प्रथम रचना का श्रेय रामायण के प्रसिद्ध रचयिता वाल्मीकि को दिया गया है। इस मान्यता का लक्ष्य निश्चित रूप से उन्हे भारतीय कवियों में आद्य तथा प्राचीनतम कवि सिद्ध करना है। यह छन्द वेद में भी उपलब्ध होता है।

[2] आदिपर्व, ४८९६; देखिए ३०३० भी।

[3] मौसलपर्व १९४.२४९,

महाकाव्य मे सती प्रथा का कोई वर्णन नही और दूसरे मे कुछ थोड़ी सी घटनाओ का उल्लेख है—यद्यपि कथा की परिस्थितियों मे इस प्रथा के वर्णन के अनेक अवसर आये हैं—तो इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि दोनो ग्रन्थो की प्रथम रूपरेखा या योजना का समय तीसरी शताब्दी ई० पू० से पहले रखना चाहिए जिस समय, जैसा कि हमे मेगास्थनीज़ से ज्ञात होता है, यह सामान्य रूप मे मगध तक प्रचलित थी।

२. राम और पाण्डवो की कथाओ की निश्चित कथावस्तुवाले काव्यो के रूप मे प्रथम रचना या पहली ढलाई बुद्ध के पहले की उस समय की प्रतीत होती है जब यह अभी प्राग्ब्राह्मणीय थी—जिससे मेरा तात्पर्य यह है कि बौद्ध धर्म के ब्राह्मण विरोधी मत की वास्तविक स्थापना के पहले हुई थी। रामायण में बुद्ध और बौद्ध धर्म का स्पष्ट उल्लेख केवल एक बार आया है और वे श्लोक जिनमे यह उल्लेख आया है और जिनमें बुद्ध की तुलना एक चोर से की गई है क्षेपक माने जाते हैं और मौलिक काव्य के अग नही हैं। यह भी प्रमाणित नही किया जा सकता कि मौलिक महाभारत मे कोई इस प्रकार का स्पष्ट उल्लेख आया है। इन सबके होते हुए दोनो महाकाव्यो मे, विशेषत. परवर्ती महाकाव्य मे, उस हेतुवादी जिज्ञासा तथा बौद्ध संशयवाद के विकास के अनेक उल्लेख (जो परवर्ती विस्तारो के छिह्न से युक्त नही है, आये हैं, जिसका प्रारम्भ ५०० ई० पू० मे हुआ था।[१]

३. अशोक के अभिलेखो से यह स्पष्ट है कि तीसरी शताब्दी ई० पू० मे हिन्दुस्तान में बहुमत जनता की भाषा शुद्ध सस्कृत नहीं थी। यह एक प्रकार की विभिन्न प्रान्तीय सस्कृत बोलियो का मिश्रण थी जिसे प्राकृत का सामान्य नाम दिया गया है। तब यदि इन लोकप्रिय काव्यो का प्रथम सकलन तीसरी शताब्दी मे हुआ हो तो क्या यह सम्भव है कि सवादो मे किसी प्राकृत भाषा-रूप का प्रयोग नही किया गया होगा और न उसमे प्राकृत के अंशो को अवशिष्ट छोड़ा गया होगा जैसा कि नाटको मे पाया जाता है—जिनमे सबसे प्राचीन मृच्छकटिक दूसरी शताब्दी ई० पू० के बहुत बाद का नही माना जा सकता? यह सत्य है कि दोनो महाकाव्यो की मूल कथा की भाषा, जो वर्तमान पाठ मे ढूढी जा सकती है, सामान्यत सरल सस्कृत है जो किसी भी प्रकार यत्नकृत या कृत्रिम नही है। किन्तु यह वही भाषा है जिसे पाँचवी शताब्दी ई०

---

[१] विशेष रूप से ब्राह्मण जाबालि द्वारा अभिव्यक्त नास्तिक विचारों तथा रामायण के बगाली संस्करण के अध्याय १ १२ देखिए जहाँ श्रमण या बौद्ध भिक्षुकों का उल्लेख किया गया है (पृ० १३३ भी देखिए)

पू० मे जनता की भाषा के सामान्य रूप मे प्राकृत के व्यवहृत होने के पूर्व बहुसंख्यक जनता समझती थी ।

४. जब इन काव्यो की कथाओ को एक साथ क्रमबद्ध रूप मे पहली बार रखा गया तो उस समय, यह स्पष्ट है कि दखन और भारत के सुदूर पश्चिमी एवं दक्षिणी भागो मे आर्य फैल चुके थे । किन्तु अशोक के अभिलेखो से हमे पता चलता है कि मगध तथा पालिबोथ् के राजाओं के राज्य का तीसरी शताब्दी में सभी दिशाओ मे फैलाव था, क्योकि ये अभिलेख पजाब, दिल्ली, कटक और पश्चिम की ओर गुजरात तक मे पाये जाते हैं ।

५. ग्रीक लेखक, डिआन क्रिसोस्टमस, जिसका जन्म प्रथम शताब्दी के मध्य मे हुआ था और जिसे सम्राट् ट्रोजन ने विशेष सम्मान दिया था, लिखता है (ओर० ५३.५५५) कि उसके समय मे हिन्दुओ द्वारा गायी जाने वाली ऐसी महाकाव्यीय कविताओ के लेख विद्यमान थे जो होमर से नकल या अनूदित की गई थी । जैसा कि प्रोफेसर लासेन ने प्रदर्शित किया है (इण्डि अल्ट० ३ ३४६) ये विवरण मेगास्थनीज़ के वर्णनो से लिये गये होगे जिसने चन्द्रगुप्त के दरबार मे निवास किया था (दे० पृ० २३१ टि०) । वे यह प्रदर्शित करते हैं कि इलियड से मिलती जुलती कविताएं कम से कम तीसरी या चौथी शताब्दी ई० पू० मे भारत में प्रचलित थी यद्यपि इससे यह निष्कर्ष नही निकलता कि हिन्दू कवियो ने होमर से कोई विचार ग्रहण किया था ।[1]

ये तथ्य इन दोनो काव्यो के प्रथम प्राग्ब्राह्मणीय तथा प्राग्बौद्ध संस्करणों

---

[1] डिआन क्रिसोस्टमस का वर्णन इस प्रकार है (राइस्के का स्करण, सं० २५३) · 'योरोपीय विद्वानों मे यह प्रवृत्ति दिखाई पडती है कि वे हिन्दुओं को मौलिकता से रहित मानते हैं । मैं प्रोफेसर लासेन के मत से सहमत हूँ कि मेगास्थनीज को भ्रम हो गया था यद्यपि प्रतिद्वन्द्वी जातियो मे महान् युद्ध तथा दक्षिण भारत के राजा द्वारा सीता का अपहरण इलियड के विवरण से मिलता जुलता है जिसने शब्दचौर्य के विचार को जन्म दिया होगा । धृतराष्ट्र के कष्ट प्रायम (Priam) के कष्टो के समान है तथा पाण्डवो एवं कौरवो के बीच युद्ध के उपरान्त मृत योद्धाओ की पत्नियो का विलाप हेकुवा तथा अन्ड्रोमेसी (Andromache) के विलापो से मिलता जुलता है जब कि अर्जुन तथा उनके युद्ध के वीरतापूर्ण कार्य एचिलीज और हेक्टर के कार्यो के समान है । प्रोफेसर वेबर के अनुसार डिआन के अंश मे भारतीय महाकाव्यीय कविता के अन्य रचयिताओ द्वारा दिये गये प्राचीनतम विवरण हैं । उनका मत है कि भारतीय कवियो ने वस्तुत· होमर से विचार ग्रहण किये ।

का ५०० ई० पू० के लगभग का समय मानने के विचार को बल देते हैं। इन मौलिक संस्करणों के रचयिताओं के नाम लुप्त प्रतीत होते है, जब तक कि यह न माना जाय (जो कि बिल्कुल असभव लगता है) कि राम की कथा बहुत प्राचीन समय मे काव्य के रूपमे वाल्मीकि ने लिखी थी।

हम उनकी रचना की दूसरी श्रेणी पर आते है। हमने मनुस्मृति मे चित्रित ब्राह्मण धर्म के (दे० पृ० २०७) तथा इनके साथ ही बौद्ध सशयवाद के उदय का संभावित समय पाँचवी शताब्दी ई० पू० माना है। महत्वाकाक्षी ब्राह्मणों ने, जिनका लक्ष्य धार्मिक तथा बौद्धिक प्राधान्य प्राप्त करना था, इन विशाल राष्ट्रीय महाकाव्यो को, जिन्हें वे दबा नही सके, सामान्य जनवर्ग के विचारो को अपनी व्यवस्था के अनुकूल ढालने का साधन बनाया। यह भी संभव है कि उन्होने इन काव्यो को बौद्ध हेतुवाद के विकास को कुण्ठित करने लिए प्रमुख यन्त्रों का रूप देने का भी विचार किया होगा। इन सबके आधार पर मेरा अनुमान है कि उन्होंने चौथी शताब्दी ई० पू० मे इन दोनो महाकाव्यों का पुनर्निर्माण तथा पुनर्रूनसयोजन प्रारम्भ कर दिया। सक्षेप मे वे, पहले जो कुछ केवल क्षत्रियो या युद्ध व्यवसायी वर्ग की सम्पत्ति थी, उसे ब्राह्मणीय रूप देने की ओर अग्रसर हुए। इस कार्य का भार कवियो पर सौंपा गया जो ब्राह्मण थे, और यह समूचा कार्य एक बार ही पूरा नही हुआ। इन गीतो को, जो नितान्त सरलता से क्षत्रिय वर्ण की स्वाधीनता का वर्णन करते थे, सुधारा गया, रूपको से गूढ और दानवीय कथाओ तथा देवशास्त्रीय चमत्कारो द्वारा उन्हे असभव बना दिया गया। किसी भी ऐसी स्थिति का जो ब्राह्मणीय व्यवस्था के प्रतिकूल प्रतीत हुई, विशेष रूप से व्याख्यान करके निराकरण किया गया, उस पर टीका की गई और उसे रहस्यमय बना दिया गया।[1] यदि

[1] उदाहरणार्थ जब शिकार खेलते हुए दशरथ एक बालक की हत्या कर देते हैं तो मरते हुए बालक के मुख से यह कहलाया जाता है कि यद्यपि वह एक मुनि का पुत्र है परन्तु ब्राह्मण नही है। और इस प्रकार राजा को ब्राह्मण की हत्या के पाप से मुक्त कर दिया गया है, जो मनु के अनुसार लोक परलोक में कही भी क्षम्य नही थी (मनु ८ ३५५)। पुन. क्षत्रिय रामचन्द्र की ब्राह्मण परशुराम पर—जो पुरोहित वर्ण के देवशास्त्रीय वीर है—विजय के वर्णन को रहस्यवाद के आवरण से ढक दिया गया है जबकि विश्वामित्र का महर्षि वसिष्ठ के साथ संघर्ष तथा विश्वामित्र की क्षत्रिय होते हुए भी ब्राह्मण का पद प्राप्त करने की सफलता का विस्तृत वर्णन करने वाले आख्यान मे लम्बी चौड़ी अतिशयोक्तियों का प्रयोग किया

जावालि सरीखे शास्त्रविरोधी व्यक्ति पर्दे पर लाये भी गये तो इसी प्रयोजन से कि उनके तर्कों का खण्डन किया जा सके और उनके चरित्र को गर्हित दिखाया जा सके। महान् क्षत्रियवंशो की उत्पत्ति ब्राह्मण ऋषियो से बताई जाने लगी। राजाओ को विना ब्राह्मण मन्त्रियो की आज्ञा के कुछ भी न करने का आदेश दिया गया।[1] जबकि महान् वीर भी वस्तुतः क्षत्रिय या मनुष्य नही थे अपितु देवताओ से ही उत्पन्न हुए थे।

रामायण के विषय मे, हम देखते है कि कथा की एकता एक से अधिक रचयिताओ की रचना के न होने के कारण छिन्न-भिन्न नही हुई है। इसके एकमात्र लेखक हैं वाल्मीकि जिन्होने यह कार्य अकेले ही पूरा किया होगा। अतएव एक स्पष्ट तथा सामजस्यपूर्ण कथानक से युक्त होने के कारण इसका काव्यीय स्वरूप कभी नष्ट नही हुआ। दूसरी ओर, पाण्डवो एव कौरवो के वीच हुए महायुद्ध की कथा को ब्राह्मणीय रूप प्रदान करने के लिए कवियो की एक शृङ्खला की आवश्यकता पड़ी जिन्होने अपनी निजी रचनाओ को ग्रन्थ की मौलिक योजना मे बैठा दिया, जिससे उसकी वैयक्तिकता और उसके प्रथम लेखक का नाम भी निरन्तर नये विषयो की वृद्धि के साथ लुप्त हो गया। इस कारण हमे महाभारत के एक से अधिक ब्राह्मणीय सस्करण एवं विस्तार मानने पड़ेगे जिन्हे रामायण के विषय मे मानने की आवश्यकता नही। अपरञ्च निरन्तर बढने वाले विषयो के विशाल संघात का, जिसके नीचे पाण्डवो की मौलिक कथा प्रायः ओझल हो गई और जिसके नीचे काव्य कही जाने की योग्यता असम्बद्ध इतिहास मे जाकर मिल गई, विन्यास करने तथा क्रमबद्ध करने के लिए व्यास नाम के एक काल्पनिक संकलनकर्त्ता की आवश्यकता पडी।

दोनों महाकाव्यो का ब्राह्मणीय रूप मे प्रथम क्रमबद्ध संकलन, मेरे विचार से, रामायण के विषय मे प्रायः तीसरी शताब्दी ई० पू० के प्रारम्भ मे, तथा महाभारत के विषय में (जिसकी मौलिक कथा सम्भवत. रामायण की कथा से भी अधिक प्राचीन है) और भी बाद के समय मे हुआ होगा—संभवतः दूसरी शताब्दी ई० पू० मे। ब्राह्मणीय महाभारत की उत्तरकालीनता की पुष्टि बौद्ध विचारो तथा यवनो या ग्रीक लोगो के सम्बन्धो के अपेक्षाकृत अधिक निर्देशो द्वारा होती है, जब कि यवन या ग्रीक लोगो का हिन्दुओ के साथ कोई उल्लेखनीय

गया है, जिनका स्पष्ट ध्येय ब्राह्मण के पद को दुष्प्राप्य प्रतिष्ठा से युक्त तथा अन्य लोगो को इस पद की प्राप्ति से विरत करना है।

[1] रामायण मे राजा दशरथ को ब्राह्मण मन्त्रियो से परिवृत्त बताया गया है।

सम्पर्क सिकन्दर के आक्रमण के दो या तीन शताब्दी बाद तक नही था।[1]

दोनो महाकाव्यों के वर्तमान रूप की अन्तिम रचना को एक तीसरे या उससे भी बाद के युग का मानना आवश्यक हो जाता है। और यदि हम रामायण मे उत्तर काण्ड जैसे पूरक अंश को, तथा महाभारत मे भगवद्गीता, हरिवंश तथा राम और कृष्ण की परमात्मा मे तादात्म्य प्रदर्शित करने वाली कथाओ जैसे अंशो को इन दोनों महाकाव्यो के अभिन्न अंग के रूप मे स्वीकार करें तो इन अशो को आरम्भिक ईसवीय शताब्दियो का मानना पडेगा। पुनः इन दोनो महाकाव्यों की अन्तिम रूपरचना मे हमे यह ध्यान रखना चाहिए कि राम पर देवत्वाविरोपण कृष्ण की देवत्वकल्पना की अपेक्षा एक अधिक प्राचीन विष्णु पूजा की अवस्था को प्रस्तुत करता है। और जिस रूप मे रामायण इस समय विद्यमान है उसमे महाभारत की अपेक्षा बहुत ही कम अर्वाचीन क्षेपक हैं।

अतएव दोनो भारतीय महाकाव्यो के ब्राह्मणीय रूप को क्रमशः तीसरी तथा दूसरी शताब्दी ई० पू० का समय देने, तथा महाकाव्यीय कविता का विवेचन पाण्डवों की कथा की अपेक्षा, राम की कथा से प्रारम्भ करने के मेरे कारण स्पष्ट हो जायेंगें। यह स्मरणीय है कि एक काव्य की दूसरे काव्य से पूर्वकालीनता को किसी निश्चित कालगणना विषयक आधार पर नही रखा

---

[1] प्रोफेसर वेबर की रचनाओ, विशेषतया इण्डियन एण्टिक्वेरी मे, हाल ही मे दिये गये उनके विचारो के निष्पक्ष अध्ययन के बाद मैंने ९ मई १८६२ को दिये गये 'इण्डियन एपिक पोएट्री' पर अपने व्याख्यान के कुछ कथनो को कुछ हद तक सशोधित किया है। किन्तु मैं इस विचार से सहमत नही हो सकता कि वाल्मीकि की रचना ईसाई सन् के प्रारम्भ के समय की है। मैं इस विचार से भी सहमत नही कि रामायण दशरथ जातक नामक बौद्ध कथा के बाद या कुछ सीमा तक उसकी नकल है, जिसमे राम को सीता के भाई के रूप मे दिखाया गया है और रामायण के वर्तमान सस्करण मे पाये जाने वाले श्लोको के अनुरूप श्लोक भी है। मेरा यह भी विचार नही है कि यह विशाल भारतीय महाकाव्य इस या किन्ही दूसरी बौद्ध कथाओ के बीज से पनपा है। मैं इस सिद्धान्त को तो और भी मान्यता नही देता कि हिन्दू महाकाव्यो ने होमर की कविताओ से विचार ग्रहण किये और न मैं श्री टॅल्ब्वायज़ ह्वीलर के इस सुझाव को मानता हूँ कि रामायण की कथा ब्राह्मणो एवं लंका के बौद्धो के, जिन्हे राक्षस रूप मे वर्णित बताया गया है, बीच वैमनस्य की भावना व्यक्त करने के लिये गढी गई थी।

जा सकता। वस्तुतः महाभारत, आर्यों के प्राचीनतम् निवास स्थान के अत्यन्त निकटवर्ती जनपद में असंस्कृत उपनिवेशपतियों के संघर्ष का वर्णन करता है, जब कि रामायण एक अधिक व्यवस्थित राज्य (कोसल) तथा अधिक व्यवस्थित एवं सुखसाधन पूर्ण राजधानी (अयोध्या) से संबद्ध है।

इन दोनों में से किसी की कथा का संक्षिप्त वर्णन प्रारम्भ करने के पूर्व यह अधिक स्पष्टता से विचार कर लेना उत्तम होगा कि कब और कैसे ईश्वरीय अवतार के सिद्धान्त ने इन दोनों महाकाव्यों में प्रवेश किया और उन्हें वह धार्मिक तथा पवित्र स्वरूप प्रदान किया जो तबसे अक्षुण्ण रहा है, और जो उनकी तुलना अन्य राष्ट्रों के महाकाव्यों से करते समय उनको अलग करने वाली प्रमुख विशेषता है। स्ट्राबो तथा डिओडोरस में सुरक्षित मेगास्थनीज के वर्णनों से हम जानते हैं कि विष्णु के वीरों के रूप में अवतारों की पूजा ईसा से ३०० वर्ष पूर्व हिन्दुस्तान में प्रचलित थी (पृ० २७२ पर टि० देखिए)। महापुरुषों को देवताओं का रूप देने की प्रवृत्ति संभवतः ब्राह्मणों की अपनी व्यवस्था में श्रेष्ठ क्षत्रिय योद्धाओं को भी सम्मिलित करने की इच्छा से प्रारम्भ हुई। इस प्रवृत्ति का उदय युद्धशील वर्ण को सम्मान देने की इच्छा से नहीं अपितु एक आवश्यकता से हुआ। भारत में बौद्ध प्रतिक्रिया ने ब्राह्मणीय एकाधिकार को छिन्न भिन्न कर दिया और एक प्रतिद्वन्द्वी मत की स्थापना की। कतिपय प्रतिक्रियाओं एवं धार्मिक विश्वासों का समान रूप से लोकप्रिय विस्तार ब्राह्मणधर्म के स्वयं अस्तित्व के लिये आवश्यक प्रतीत हुआ और जनता के समक्ष अपने देवताओं को बौद्ध धर्म की प्रतिद्वन्द्विता में अधिक आकर्षक रूप देकर उपस्थित करना आवश्यक हो गया। इस कारण पहले के मानव वीरों, राम और कृष्ण, को ब्राह्मणों ने देवत्व के पद पर बैठा दिया और अन्ततोगत्वा स्वयं बुद्ध को भी अपने मत में भगवान विष्णु के दस अवतारों में एक अवतार के रूप में उपस्थित किया।[1]

ईश्वर के अवतार की कल्पना हिन्दू मस्तिष्क में इससे भी पहले घर कर चुकी थी। यह संभव है कि उस आदिम देश में, जो ग्रीसवासियों एवं हिन्दुओं के पूर्वजों का एक ही निवासस्थान था, मनुष्यों ने अपनी प्रथम धार्मिक

---

[1] वीरता, साहसपूर्ण बहादुरी, तथा व्यक्तिगत शक्ति की पूजा करने वाले सदैव भारत में उपलब्ध रहेंगे। यह लिखित तथ्य है कि बहुत से पंजाबी हिन्दुओं ने एक महान् वीर तथा श्रेष्ठ व्यक्ति जोन निकोलसन की 'निक्किल सेइन' (Nikklseyn) नाम से पूजा करनी प्रारम्भ कर दी थी। उन्होंने इस मूर्खता को रोकने का प्रयत्न किया किन्तु उनकी परवाह न कर लोग पूजा करते रहे।

भावनाओ को प्रकृति के मुख्य तत्त्वो एव शक्तियो की, बिना स्पष्ट रूप तथा निश्चित विधि के, आदर्श रूप मे कल्पना करके एव पूजा के रूप मे सन्तुष्ट किया। ये प्रकृति के तत्त्व थे प्राणवायु, वर्षा, वात, तूफान, अग्नि तथा सूर्य, जिन पर कृपिप्रधान एवं चरवाहो की जाति होने के कारण उनका सुख निर्भर था। यह प्रकृति का प्राचीनतम धर्म था जिसे आर्य जातियो ने, जब पहली बार अपने मूल निवास के देश को छोडा तो, साथ ले आई और अपने भ्रमण के समय भी पालन किया; और इसी धर्म मे हम उनके अनुवर्ती धार्मिक दर्शन के अंकुरों को ढूंढ सकते हैं। जब वे अपने नये निवासस्थानों मे बस गये तो उनकी धार्मिक भावनाएँ स्वभावत प्रार्थनाओ, सूक्तों एवं सरल याज्ञिक क्रियाओं के रूप मे फूट पड़ी। धर्म अथवा एक महत्तर शक्ति के ऊपर आश्रित होने की बुद्धि तथा उसके अस्तित्व का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा उनके विकास के साथ विकसित हुई और उनके बल के साथ ही प्रबल होती गई। किन्तु सभी समयो एवं देशो मे बहुसख्यक मानवसमाज का धर्म शीघ्र ही मानवीकृत देवो की पूजा का स्वरूप धारण कर लेता है। भारत तथा ग्रीस मे अनेक देवताओ वाले पुराकथाशास्त्र का उसी स्वाभाविकता से उदय हुआ जिस स्वाभाविकता से स्वयं काव्य की उत्पत्ति हुई। इनमे प्रथम का उद्भव दूसरे, अर्थात् काव्य, से हुआ और वह वस्तुत उन उच्च आकाक्षाओ की काव्यीय अभिव्यक्ति थी जो आर्य स्वभाव की विशेपता है। ग्रीसवासियो के समय हिन्दुओ ने भी सीधे प्रकाशित वचन का आश्रय न लेकर शीघ्र ही न केवल बाह्य प्रकृति की शक्तियो को अपितु सभी आन्तरिक भावनाओ, इच्छाओ, नैतिक तथा बौद्धिक गुणो, एवं मन की सभी शक्तियों को भी मानवीय रूप से युक्त तथा देवता का रूप दे दिया। शीघ्र ही वह प्रत्येक भव्य उपकारक वस्तु को विश्व के अधिष्ठाता परम ज्ञानमय ईश्वर की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति समझने लगा और प्रत्येक मृत वीर या हितकारी व्यक्ति को उसी सर्वज्ञ एव सर्वव्याप्त शासक का प्रतिबिम्ब मात्र मानने लगा। अतएव इस प्रकार विश्व मे प्रत्यक्षत. अभिव्यक्त इस परमसत्ता के विविध गुणो एव कर्मो को स्पष्ट करने के लिए हिन्दू तथा ग्रीसवासी दोनो ने ही अपने-अपने देवमण्डल को अनेक दैवी तथा अर्धदैवी कृतियो से भर दिया, उन्हे पुरुष तथा स्त्री के परिधान मे सजा दिया और उनके विषय मे विविध काल्पनिक तथा प्राय भयंकर कथाओ, कहानियो एवं रूपको को गढ डाला जिसे विवेकहीन बहुसंख्यक मानवसमाज ने उनमे प्रतीक मे अभिव्यक्त विचारो का रचमात्र ज्ञान पाये बिना वास्तविक घटनाओ के रूप में स्वीकार कर लिया। भारत मे हम इन मानवीकृत देवो की पूजा के विचारो के विकास को उनके उद्गम-स्थान, ऋग्वेद, तक मे ढूंढ सकते है

और वहाँ से उन्हे एक-एक कर मनुस्मृति, महाकाव्यीय कविताओ तथा पुराणो मे विकसित होते देख सकते है। ऋग्वेद मे विष्णु देवता को प्राय सौर शक्ति की एक अभिव्यक्ति, किंवा सूर्य का एक रूप, बताया गया है; और जो विशेषता उसे दूसरे देवताओ से भिन्न करती है वह है उसका आकाश को तीन पाद-न्यासो से पार करना, जो सूर्य की प्रतिदिन की तीन अवस्थाओं, उदय, मध्याह्न तथा अस्त का प्रतीक है। इसके बाद वह बारह आदित्यो या वर्ष के बारह मासो मे सूर्य के बारह विभिन्न रूपो मे सर्वप्रथम स्थान प्राप्त करता है। ब्राह्मणो मे उसे यज्ञ से अभिन्न दिखाया गया है और एक बार वामन बताया गया है (शतपथ ब्राह्मण १४.१,१,६; १२,५,५)। मनुस्मृति मे ब्रह्म या विश्वात्मा को ब्रह्मा या सभी वस्तुओ के स्रष्टा के रूप मे स्वत विकसित हुआ कहा गया है और इस देवता के अनेक दूसरे दृश्य स्वरूप भी स्वीकृत किये गये हैं, जैसा कि हम वेद मे पाते हैं। अध्याय १२.१२१ मे विष्णु तथा हर (= शिव) को मानव शरीर मे विद्यमान बताया गया है, जिसमे विष्णु मासपेशियो मे गति प्रदान करते है और हर बल देते है।

इन सबमे एक वैयक्तिक ईश्वर मे विश्वास रखनेवाले धर्म के लिए मानव हृदय की इच्छाओ को सन्तुष्ट करने वाली कोई वस्तु नही थी। वह वैयक्तिक ईश्वर एक इस प्रकार का ईश्वर था जो मानव समाज के साथ और यहाँ तक कि तुच्छकोटि के जीवो के साथ भी सहानुभूति रखने वाला, अपने सभी जीवो से प्रेम रखने वाला तथा उनकी विपत्तियो में उन्हे सदैव सहायता प्रदान करने वाला था। दूसरी ओर क्रिया तथा सत्कर्मो, तपस्या तथा इन्द्रिय दमन, चिन्तन तथा उच्च आध्यात्मज्ञान के धर्म के लिये मानव के गूढ स्वभाव के दूसरे अवयवो की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए भी कोई वस्तु पर्याप्त नही थी। अतएव शीघ्र ही विश्व के परमात्मा को मानव की बढती हुई अधिकरणनिष्ठता के माध्यम से अधिक मानवीकृत रूप मे देखा जाने लगा। उसे एक ऐसे जीव के रूप मे देखा जाने लगा जो केवल मनुष्य की रचना ही नहीं करता था अपितु मानव के साथ सहानुभूति भी रखता था और जो देवता मनुष्य या पशु सभी प्राणियो के साथ अपना निकट संबन्ध बनाये रखता था।

सबसे पहले यह प्रश्न उठा कि इस परमात्मा को सृष्टि करने की इच्छा ही क्यो और कैसे हुई? इसका उत्तर देने के लिये यह कल्पना की गई कि जब विश्वात्मा तथा असीमित ब्रह्म ने (नपु० ब्रह्मन् से कर्ता कारक)—जो एकमात्र यथार्थ सत् वस्तु है, पूर्णत निर्विकार, तीनो गुणो या किसी प्रकार के धर्मो से अबद्ध और अप्रभावित है—अपने ही आनन्द के लिए विश्व के पदार्थो की सृष्टि करने की इच्छा की, और रजस गुण धारण करके वह ब्रह्मा

(कर्त्ता कारक पु०) अर्थात् स्रष्टा के रूप मे पुरुष बन गया। पुन: इसके बाद भी आत्मोद्भव की क्रिया के विकसित होने के साथ साथ उन्होने विष्णु के रूप मे सत्त्व नामक दूसरे गुण से तथा विध्वंसक शिव रूप मे तीसरे तमस्[1] गुण से स्वय को युक्त करने की इच्छा की। इस त्रिविध अभिव्यक्ति (त्रिमूर्ति) के सिद्धान्त का यह विकास, जो सर्वप्रथम भारतीय महाकाव्यो के ब्राह्मणीय संस्करण मे दिखाई पडता है, इसके पहले वेद मे भी अग्नि के त्रिविध रूपो (दे० पृ० १९) तथा अग्नि, सूर्य एव इन्द्र देवताओ की देवत्रयी मे (पृ० २० टि०) तथा अन्य रूपो मे प्रतिबिम्बित हो चुका है।[2]

वस्तुत: मनुस्मृति की बजाय वेद ही बाद के अवतारो का स्रोत था। (सूर्य से सम्बद्ध) वैदिक विष्णु ही ससार के पालनकर्ता विष्णु बन गये तथा (इन्द्र एवं मरुतो से सम्बद्ध) प्रबल वात के देवता, रुद्र, संसार के सहारक शिव बन गये। शिव के रूप मे परमात्मा की सृष्टि तथा पालन का कर्म त्याग कर विनाश कर्म करने की कल्पना की गयी है। ये तीनो विभिन्न कर्म तीन विभिन्न देवताओ को सौंपे गये जो स्वयं सीमित हैं और कल्प के अन्त मे प्रलय के सार्वभौम नियम का पालन करते हुये पुन: केवलात्मा मे विलीन हो जाते है। किन्तु चूँकि यह आवश्यक था कि सहार करनेवाले देवता का भी मानव समाज से सम्बन्ध हो और चूँकि हिन्दू धर्म के एक मौलिक सिद्धान्त के अनुसार मृत्यु के बाद नया जीवन होता है और सभी विनाश-कर्म के बाद पुन: सृष्टि होती ह इसलिये यह स्वाभाविक था कि इसमे प्रथम क्रिया की अपेक्षा दूसरी क्रिया को ही मानव के साथ सम्बन्ध की शृखला माना जाय। इस कारण उनके सहारक के कार्य को स्रष्टा के कार्यों से बदल दिया गया, स्वय उन्हे ही शिव अर्थात् कल्याणकारी कहा गया और उनके स्वरूप को किसी नाश

---

[1] कुमारसम्भव २.४ मे निम्न वचन है :—

नमस्त्रिमूर्तये तुभ्य प्राक्सृष्टे केवलात्मने।
गुणत्रयविभागाय, पश्चाद्भेदमुपेयुषे ॥

'हे भगवन् सृष्टि के पहले एक रूप धारण करने वाले और सृष्टि प्रवृत्ति-काल मे तीनो गुणो को अधिष्ठित कर क्रमश: त्रिमूर्ति रूप धारण करने वाले, आपको प्रणाम है।'

[2] ऋग्वेद के तैंतीस (३ के ग्यारह गुने) देवता ('त्रिभिरेकादशैर्देवेभिः र्यातम्' १.३४, ११; १.४५.२) इसी त्रिविध रूप के विचार की ओर सकेत करते है।

क्रिया सम्बन्धी चिह्न की अपेक्षा सृजनहारी लिङ्ग का रूप दिया गया (जिसमे यौन भावनाओं का समावेश नही है)। असल मे इसी मूर्ति के रूप मे उनकी समूचे भारतवर्ष मे पूजा होती है।[१] फिर भी उन्हे मानव स्वरूप मे भी चित्रित किया गया है, जो अपनी पत्नी पार्वती[२] के साथ हिमालय के पर्वतो मे निवास करते है और राक्षसो को कुचलने तथा उनका नाश करने के कर्म मे लगे रहते हैं। अपने नीले कण्ठ के चारो ओर सर्प तथा मुण्डो की माला पहनते हैं और वाह्य चिह्नो के सम्पूर्ण समूह से (यथा श्वेत वृषभ जिस पर वे चढते हैं, चन्द्रवलय, त्रिशूल[3], बाघम्बर, हस्तिचर्म, डमरू, पाश आदि से) युक्त हैं;

[१] प्राय. बारहवी शताब्दी मे भारत के बारह प्रमुख नगरो मे, बारह मन्दिरो मे बारह प्रमुख लिङ्गो की स्थापना की गई थी, जिनमे सोमनाथ मन्दिर का लिङ्ग एक था। जननेन्द्रिय का प्रतीक स्त्री जननेन्द्रिय के प्रतीकयोनि से घिरा होने पर भी भक्तिभावना मे व्यवधान नही उपस्थित करता। आधुनिक काल मे शिव की पूजा के पतन का कारण बहुत कुछ इसमे ही अन्तर्हित है, जैसा कि तन्त्र नाम की रचनाओ एवं शाक्तों के व्यवहारो मे पाया जाता है। शिव को अर्धनारी, आधा पुरुष आधा स्त्री, रूप मे प्रस्तुत करना प्रजनन शक्तियो के संयोग का प्रतीक है। कुछ लोगो का विचार है कि लिङ्ग सहित शिव देवता को आर्यों ने मूलनिवासियो से ग्रहण किया। शिव शब्द का अर्थ होता है कल्याणकारी और सर्वप्रथम वात देवता (रुद्र) के लिये प्रशसात्मक अर्थ मे प्रयुक्त होने के कारण विनाश के देवता के नाम से सम्बद्ध हो गया।

[२] देवता की शक्ति या सक्रिय क्षमता को उसकी पत्नी के रूप मे प्रस्तुत किया गया है और जो लोग स्त्रीशक्ति की पूजा करते है उन्हे शाक्त कहते हैं। पर्वत की पुत्री पार्वती, जो दुर्गा नाम से बंगाल मे पूजी जाती है, शाक्तो या तन्त्रिको की आराधना का प्रमुख लक्ष्य हैं।

[3] यह तीन नोको वाला प्रतीक सृष्टि, प्रलय तथा पुन सृष्टि को सूचित कर सकता है। उनकी तीन आँखें भी है (जिनमे एक मस्तक पर है) जो या तो तीन वेदो या तीन कालो, भूत, वर्तमान या भविष्यत् का सकेत देती है (जिस कारण उन्हे त्र्यम्बक कहा गया है)। उनके पाँच मुख हैं जिससे उन्हे पञ्चानन कहते हैं। अर्धचन्द्र भी समय के माप पर उनके शक्ति का प्रतीक हैं। उन्हे कई स्थलो पर आठ रूपो मे अभिव्यक्त कहा गया है—आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र तथा ऋत्विज् (जिस कारण उनका नाम अष्टमूर्ति पडा है)। उनका कण्ठ समुद्र से मथकर निकाले गये विषपान से नीला पड़ गया, जिसे यदि वे पी न गये होते तो वह सम्पूर्ण ससार को नष्ट कर डालता।

जिसका अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन हिन्दू प्रतीकवाद को एक ऐसा स्वरूप प्रदान करता है जो योरोपीय दृष्टिकोण से विचार करने पर बालिश और भोड़ा है। पुनः महादेव या परमदेवता शिव एक अन्य मानवीकृत रूप मे भी मानव समाज से संबद्ध है जो अभी बताये गये रूप से नितान्त भिन्न है। वह रूप है, धूलधूसरित केशवाले[१] एव नग्न योगी का ('दिगम्बर, धूर्जटि), जो अपनी पत्नी से दूर होकर वन मे निवास करते है तथा स्थिर और अविचल (स्थाणू) होकर एक ही स्थान पर स्थित रहते हैं, मनुष्यो को अपनी ही तपस्या द्वारा यह शिक्षा देते है कि प्रथमत: तप, शरीर निग्रह[२], तथा इच्छा-दमन द्वारा शक्ति प्राप्त की जाय तथा द्वितीयत: समाधि के महान् गुण को प्राप्त किया जाय जिससे सर्वोच्च आध्यात्म ज्ञान की प्राप्ति होती है और अन्तत: परमात्मा के साथ लय (योग) या वास्तविक ऐक्य की अवस्था आती है।[3]

---

[१] शिव के भक्त योगी भी इसी प्रकार की जटाएँ रखते है (दे० पृ० १००)

[२] महाभारत के सौप्तिकपर्व मे वर्णन है कि ब्रह्मा ने शिव को प्राणियो की रचना करने के लिए कहा और शिव ने अपने को इस कार्य के लिये योग्य बनाने के लिये जल मे तपस्या की।

[3] समाधि के देवता के रूप मे शिव को योगेश या योगिन कहा जाता है। निश्चय ही कतिपय पुराणो मे योग की उत्पत्ति (दे० पृ० १००) शिव से बतायी गयी है। कुमार सभव के सर्ग १.५५, तथा ३ ४५–५० मे, तथा मृच्छकटिक के प्रथम मगलपाठ या नान्दी मे शिव के आसन तथा समाधिस्थ दशा की शारीरिक अवस्था का वर्णन है। वे अपने जंघो पर 'पर्यङ्कवन्ध' नामक आसन मे (पृ० ९९ टि० ३) अपनी प्राणवायु को रोककर तथा चक्षु को नासिकाग्र पर स्थिर करके बैठे हुए हैं। जब वे इस अवस्था में थे तो कामदेव ने उनके हृदय मे हिमालय की पुत्री, पार्वती, के प्रति प्रेम उत्पन्न करना चाहा, जिससे कि शिव के पुत्र उत्पन्न हो सके और वह उस तारकासुर का नाश करे जिसने अपनी तपस्याओ द्वारा ब्रह्मा से अनेक वरदान माँगकर सम्पूर्ण विश्व को अपनी प्रजा बना लिया था। अपनी तपस्या के भंग होने से क्रुद्ध शिव ने अपने नेत्र की ज्योति से काम (प्रेम) देव को भस्म कर दिया। तब स्वयं पार्वती ने शिव के मार्ग का अनुसरण किया और तपस्या का व्रत प्रारम्भ कर दिया, जिसके द्वारा उन्होने शिव को प्रसन्न किया और उनकी पत्नी बन गईं। इसके बाद कार्तिकेय, अर्थात् युद्ध का देवता, उत्पन्न हुआ जिसने तारक का वध किया। यही कुमार सम्भव की कथा है। शिव की पूजा मे शरीर पर पोते जाने वाली भस्म तथा माला के रूप मे रुद्राक्ष की गुरियो का बहुत महत्त्व है।

ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के ये तीन रूप, जिनके कार्यों मे कभी-कभी विपर्यास भी हो जाता है[१], महाकाव्यो मे विकसित तथा उनके अनुवर्ती पुराणों मे और भी अधिक उद्घाटित हिन्दू धर्म के तीन पहलुओ को प्रदर्शित करते है। पहला है क्रिया तथा कर्मों का योग, दूसरा विश्वास और प्रेम का धर्म और तीसरा है तपस्या, चिन्तन तथा अध्यात्मज्ञान का धर्म। इनमे अन्तिम को सर्वोपरि माना जाता है क्योकि यह केवलात्मा मे लय द्वारा सभी कर्मों की समाप्ति तथा सभी वैयक्तिक सत्ता तथा अस्तित्व के पूर्ण नाश का ध्येय रखता है।

मध्ययुग मे क्रमश ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव[२] नाम से अभिव्यक्त इन तीन

---

[१] इस प्रकार (शिव पूजा के समान ही) विष्णु पूजा को भगवद्गीता मे परम आध्यात्म ज्ञान से सबद्ध किया गया है। भारत के कुछ भागो में दत्तात्रेय नामक महात्मा की त्रिमूर्ति का सम्मिलित रूप होने के कारण पूजा की जाती है।

[२] ब्रह्मा, स्रष्टा, की अपना कार्य कर चुके होने के रूप मे कल्पना की गई है; इस कारण उनकी पूजा का लोप हो गया और केवल एक जगह, अजमेर (राजपूताना) के पुष्कार मे, ब्रह्मा की पूजा का चिह्न अभी विद्यमान है। अन्य दो रूपो की पूजा भी समय के साथ कम होती गयी। अन्त मे शिव की पूजा का पुनरुद्धार महान् आचार्य तथा सुधारक शङ्कराचार्य ने आठवी शताब्दी मे किया (जिन्हे शिव का अवतार भी माना जाता है) और विष्णु या कृष्ण की पूजा का पुन. प्रचलन बारहवी शताब्दी मे रामानुज ने और पन्द्रहवी शताब्दी के अन्त मे वल्लभाचार्य ने किया। आज कल शिव ब्राह्मणो एव उच्च वर्गो के इष्ट देवता है जब कि कृष्ण इनसे इतर लोगो के। बनारस शिव की पूजा का गढ है (जिस कारण शिव का नाम काशीनाथ भी है) किन्तु वहाँ भी निम्न कोटि के जनवर्ग मे कृष्ण लोकप्रिय देवता है। भारत के दक्षिण मे कई मठो के मठाधीशो को अब भी शंकराचार्य कहा जाता है। एक प्रचलित त्योहार, किंवा उपवास या व्रत, जिसे शिवरात्रि कहते हैं और जो (लिङ्ग रूपधारी) शिवकी अराधना मे होता है, माघ महीने (जनवरी-फरवरी) की कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के पूरे दिनऔर रातभर रखा जाता है। वसन्तोत्सव, जिसे सामान्यत हूली या होली कहते है और जो फाल्गुन (फरवरी–मार्च) की पौर्णमासी के कुछ दिन पूर्व मनाया जाता है और शिवरात्रि की अपेक्षा अधिक प्रचलित है, कृष्ण तथा गोपियो के अग्नि के चारो ओर नाचने की स्मृति मे मनाया जाता है। उनकी क्रीडाओ को अनेक प्रकार के खेलो और मजाको मे याद किया जाता है। भारत के कुछ भागो मे होली दोलयात्रा, या झूले के उत्सव के रूप मे होती है जिसमे कृष्ण तथा उनकी प्रिय पत्नी राधा की मूर्तियाँ सजाए गये झूले मे झुलाई जाती हैं।

सिद्धान्तो के अनुयायियों में कटुतापूर्ण प्रतिद्वन्द्विता तथा सघर्ष उठ खडे हुए। प्रत्येक सम्प्रदाय अपने मत की श्रेष्ठता से गर्वोन्मत्त रहता था और किसी न किसी देवता को सर्वोच्च स्थान देने के लिए विशिष्ट पुराणो को भी खपा दिया गया। किन्तु आजकल सम्प्रदायो के संघर्ष ने सामान्यत: सार्वभौम सहिष्णुता को स्थान दे दिया है और भारत मे परमार्थ विद्या की एक उदार शाखा का उदय हुआ है। शिक्षित वर्ग मे अधिकांश विचारशील व्यक्ति, चाहे वे नामत: जिस किसी धर्म के अनुयायी हो, ब्रह्मा, राम, कृष्ण, तथा शिव को उस एक परमात्मा की विभिन्न अभिव्यक्तियो के सरल प्रतीक मात्र मानते हैं, जिसकी पूजा विभिन्न बाह्य रूपों मे तथा पूजा करनेवालो की मनोवृत्ति, परिस्थिति तथा पसन्द (इष्टि) के अनुसार विभिन्न विधियों से की जा सकती है। सक्षेप मे, उनकी यह मान्यता है कि मोक्ष के तीन मार्ग या साधन है—१ कर्ममार्ग, २. भक्तिमार्ग, ३. ज्ञानमार्ग। और उनका कथन है कि इन मार्गों मे से किसी एक का या तीनों का एक साथ अनुसरण करने पर स्वर्ग पहुँचा जा सकता है। दूसरा मार्ग भारतीय धर्म के जनसामान्य मे प्रचलित रूप को उपस्थित करता है, जो सभी यथार्थ या मिथ्याधर्मों का प्रचलित रूप है।

आश्विन के अन्त और कार्तिक के प्रारम्भ (सितम्बर-अक्तूबर) मे मनाया जाने वाला दीवाली (दीपाली) या 'ज्योति का पर्व' विष्णु की पत्नी लक्ष्मी की पूजा मे होता है। जो लोग दुर्गा या शिव की पत्नी पार्वती की पूजा करते है वे शाक्त कहलाते हैं। शैवो, वैष्णवो एव शाक्तो के तीन प्रमुख सम्प्रदायो के अतिरिक्त तीन दूसरे कुछ निम्न कोटि के सम्प्रदायो के भी नाम लिये जाते हैं। वे हैं गाणपत्य, या गणपति अथवा गणेश के भक्त; सौर्य या सौर जो सूर्य के भक्त है; तथा भागवत, जो 'भगवत्' या परमात्मा की पूजा करने वाले बताये जाते है। पंजाब के सिख लोग भी है जो गुरु नानक सिंह—लाहौर के निकट उत्पन्न—के शिष्य हैं, जिन्होने बाबर के राज्यकाल में पन्द्रहवी शताब्दी के अन्त मे हिन्दू धर्म तथा इसलाम को मिलाना चाहा और हमारे सुधार युग के समय के आसपास ही उन्होने 'आदिग्रन्थ' अर्थात् प्रथम ग्रन्थ नाम के ग्रन्थ का उपदेश दिया (जिसमे मूर्तिपूजा का निषेध किया गया है और ईश्वर की एकता का विश्वदेवतावादी विचार से उपदेश दिया गया)। यह एक प्रकार का नया वेद है। उनके बाद दूसरे नौ गुरु हुए जिनमे प्रत्येक कुछ वैशिष्ट्य से युक्त थे। दसवे गुरु गोविन्द ने पहले ग्रन्थ के साथ एक और ग्रन्थ जोड़ा और औरंगजेब के अन्तर्गत कष्ट पाकर उन्होने सिखो को एक विशिष्ट गुरु के शान्तिप्रिय अनुयायी से एक सैनिक जाति और मुगल साम्राज्य के शत्रुओं के रूप मे बदल दिया। सिख सरदारो ने मिसल नाम के संघ बनाये जिनमे रणजीत सिंह सर्वप्रमुख बन गये थे।

हिन्दुओ के अनुसार परमात्मा ने विष्णु के रूप में मानव के दुःखो के प्रति सहानुभूति, मानव जाति के लिये प्रेम, सभी प्रकार के प्राणियो के लिये आदर, और उसकी सृष्टि के अभिन्न अङ्गभूत तुच्छ प्राणियो पर भी कृपा प्रदर्शित की। उनका कथन है कि उनके शरीर का अश ही तुच्छ पशुओ और मनुष्यो के रूप मे महान् विपत्तियो से संसार को बचाने के लिये अवतरित हुआ। नौ प्रमुख अवसर अब तक आ चुके है जब परमात्मा ने प्राणियो के उद्धार के लिये अवतार लिया है। दसवा अवतार अभी होने वाला है। संक्षेप मे ये अवतार इस प्रकार है[1] :—

१. मत्स्यावतार—इस अवतार मे मनुष्य जाति के जनक सातवे मनु को महाप्रलय से बचाने के लिये विष्णु ने मत्स्य का अवतार लिया।[2] (आगे इसकी कथा देखिए)।

२. कूर्म[3] या कच्छप। इस अवतार मे उन्होने कतिपय बहुमूल्य वस्तुओं का, जो प्रलय मे नष्ट हो गई थी, उद्धार किया। इस कार्य के लिये कूर्म रूप मे वे समुद्र तल मे इस प्रकार स्थित हुए कि उनकी पीठ मन्दर पर्वत का आधार बना। उस पर्वत को देवो तथा राक्षसो ने वासुकि नाग से बाँधा और फिर एक दूसरे के आमने सामने खडे हो गये और नाग को रस्सी बनाकर तथा मन्दर पर्वत को मथानी बनाकर अमृत, देवी लक्ष्मी[4] तथा बारह अन्य समुद्र मे विलीन बहुमूल्य तथा विशिष्ट वस्तुओ की प्राप्ति के लिए मन्थन करने लगे।[5]

---

[1] यह उल्लेखनीय है कि भागवतपुराण मे विष्णु के बाइस अवतार दिये गये है। मूइर का टेक्स्ट्स ४.१५६।

[2] इस आख्यान का प्राचीनतम रूप, जो इस परवर्ती अवतार का बीज प्रस्तुत करता है शतपथब्राह्मण मे मिलता है जो इस ग्रन्थ के पृ० ३२–३३ पर दिया गया है। यह कथा महाभारत, वनपर्व मे भी कही गई है जहाँ मत्स्य को ब्रह्मा का अवतार बताया गया है; तथा भागवतपुराण ८ २४ ७ मे इसे विष्णु से अभिन्न बताया गया है। मूइर का टेक्स्ट्स १.२०८।

[3] शतपथब्राह्मण ७.४,३,५ मे प्रजापति के कूर्म रूप धारण करने का वर्णन है। 'कच्छप का रूप धारण कर प्रजापति ने भूतो की उत्पत्ति की। जो कुछ उन्होंने सृष्टि की उसे बनाया (अकरोत्) इस कारण उनका 'कूर्म' नाम पडा।' मूइर के टेक्स्ट्स ४.२७।

[4] सौन्दर्य की देवी, विष्णु की पत्नी, एक प्रकार की हिन्दू वेनस, एफ्रोडाइट फेन से उत्पन्न।

[5] यहाँ पर रूपक प्रतीत होता है और इससे यह शिक्षा दी गई लगती है

३. वराह-अवतार—विष्णु ने हिरण्याक्ष नामक राक्षस की शक्ति से पृथ्वी को मुक्त करने के लिये धारण किया, जो पृथ्वी को खीचकर पाताल चला गया था। वराह के रूप मे विष्णु ने पाताल मे प्रवेश किया और एक हजार वर्षों तक हिरण्याक्ष से लड़ने के बाद उसे पछाड़ा और पृथ्वी को ऊपर ले आये।[1] इसके पहले के आख्यानो मे विश्व को विशाल जलनिधि के रूप में दिखाया गया है जिसके भीतर डूबी हुई पृथ्वी को ईश्वर के अवतार, वराह, ने अपने दाँतो से ऊपर किया। कुछ के अनुसार इस अवतार का प्रयोजन वेद का उद्धार करना था। यह विचारणीय है कि प्रथम तीन अवतारो का सम्बन्ध एक विशाल प्रलय की परम्परा से जोड़ा गया है।

४. नरसिंह—इस अवतार में हिरण्यकशिपु नामक दैत्य के, जिसने ब्रह्मा से यह वरदान पाया था कि किसी देवता, मनुष्य या पशु द्वारा उसकी मृत्यु न होगी, अत्याचार से संसार का उद्धार करने के लिए एक ऐसे प्राणी का शरीर धारण किया जो आधा मनुष्य था और आधा सिंह। उक्त वरदान से वह दैत्य इतना शक्तिशाली हो गया था कि उसने तीनो लोको का राज्य हड़प लिया और देवताओ के लिये किये जानेवाले यज्ञो को भी रोक दिया। जब उसके धर्मात्मा पुत्र प्रह्लाद ने विष्णु की प्रार्थना की तो उस दैत्य ने उस बालक का वध करना चाहा किन्तु विष्णु एक स्तम्भ से नरसिंह रूप धारण कर प्रकट हुए और हिरण्यकशिपु के शरीर को फाड डाला।

इन प्रथम चार अवतारो को सत्ययुग या संसार के प्रथम युग मे हुआ बताया गया है।

कि मनुष्य विना परिश्रम के या मानो वना प्रकृति के गहन क्षेत्र मे प्रवेश किये कोई मूल्यवान् वस्तु उत्पन्न या प्राप्त नही कर सकता।

[1] प्रारम्भिक साहित्य मे इस कथा के बीज बड़े सरल है। तैत्तिरीय ब्राह्मण १ १,३,५ मे यह वर्णन है—'विश्व पहले जल ही जल था। वराह के रूप मे प्रजापति ने इसमे प्रवेश किया। उन्हे नीचे पृथ्वी मिली। उसके एक अंश को तोडकर वे जल के ऊपर आये।' शतपथ ब्राह्मण १४ १,२,११ मे यह वर्णन है : पृथ्वी पहले इतनी बडी थी कि एमूष, अर्थात् वराह ने इसे ऊपर उठाया (मूइर के टेक्स्ट्स ४.२७)। रामायण २.११० में विष्णु के स्थान पर ब्रह्मा को वराह का रूप धारण करने वाला दिखाया गया है। 'यह सभी कुछ जल ही था, जिसमे पृथ्वी की सृष्टि हुई। उससे ब्रह्मा उत्पन्न हुए। वराह वनकर ब्रह्मा ने पृथ्वी को ऊपर उठाया,' इत्यादि। देखिये मूइर के टेक्स्ट्स १.५३; ४.३६ इत्यादि।

५. वामन—दूसरे या त्रेता युग मे भगवान् विष्णु ने वलि से (जो राम और कृष्ण की कथाओ के रावण तथा कंस से मिलता-जुलता है) तीनो लोकों का राज्य छीन लेने के लिये एक वामन का अवतार लिया। विष्णु उसके पास एक वामन के रूप मे पहुँचे और तीन पग के बराबर भूमि की याचना की। जब वलि ने उनकी याचना स्वीकार कर ली तो उन्होने दो पगों से आकाश और पृथ्वी को नाप लिया किन्तु दया करके निचले लोक या पाताल को उस दैत्य के अधिकार मे रहने दिया।[1]

६ परशुराम, अर्थात् परशु धारण करनेवाले राम। इस अवतार में विष्णु दूसरे युग में भृगुवंशी ब्राह्मण जमदग्नि के पुत्र के रूप मे उत्पन्न हुए और ब्राह्मण वर्ण पर शासन के गर्व से अत्याचार करनेवाले क्षत्रियो को रोकने के लिये अवतार ग्रहण किया। कहा जाता है कि परशुराम ने इक्कीस बार पृथ्वी को क्षत्रियो से शून्य कर दिया।[2]

---

[1] इस अवतार का वीज ऋग्वेद मे मिलता है। मैं एक अश उद्धृत करता हूँ : 'विष्णु ने इस (संसार) पर अपने चरण रखे; उन्होने अपने पद तीन स्थानो पर आरोपित किये (१ २२,२७) इस कारण विष्णु को त्रिविक्रम कहते है।' इस ग्रन्थ का पृ० ३१४ तथा मूइर के टेक्स्टस भाग ४. पृ० ६३ भी देखिए। वामनावतार का एक वर्णन रामायण (स्लेगेल) १ ३१,२ मे तथा (बम्बई संस्करण) १.२९,२. इत्यादि (गोरेसिओ १ ३२.२) मे भी है। महाभारत मे शान्ति पर्व तथा वन पर्व मे भी यह कथा आती है।

[2] यद्यपि आजकल इसे ब्राह्मणत्व का आख्यानात्मक रूप माना जाता है, जो युद्धशील क्षत्रिय वर्ग के विरोध मे उपस्थित किया गया है। प्रथमतः, वे एक क्षत्रिय द्वारा जमदग्नि नामक ब्राह्मण से गाय चुराने से बढे हुए संघर्ष के जनक हुये। वदले मे जमदग्नि के पुत्र परशुराम ने क्षत्रियो को मार डाला, जिसपर दूसरे क्षत्रियो ने मिलकर जमदग्नि को मार डाला। उसके वाद जमदग्नि के पुत्र एवं हत्यारो मे भयकर सघर्ष छिड़ गया। ये सभी वर्णन दो प्रमुख जातियो के निरन्तर पारस्परिक संघर्षो की ओर संकेत करते हैं। परशुराम के राम के साथ युद्ध करने (एवं उनके पराजित होने) तथा महाभारत मे भीष्म से युद्ध करने के वर्णन से यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि क्षत्रिय ब्राह्मणो के साथ सघर्ष मे जीत न सके तो भी उन्होने अपनी स्थिति वानये रखी। परशुराम की कथा वनपर्व, शान्तिपर्व, भागवत् के नवम स्कन्ध, पद्म एव अग्नि पुराणो मे कही गयी है। वनपर्व मे परशुराम को राम के वाणो द्वारा मूर्छित दिखाया गया है। उद्योग पर्व परशुराम तथा भीष्म के दीर्घ सग्राम का वर्णन करता है। वे एक दूसरे को बार-बार मूर्च्छित

७. राम (जिन्हें सामान्यतः रामचन्द्र[1] अर्थात् प्रिय या चन्द्र तुल्य राम) रामायण के नायक, सूर्यवंशी राजा दशरथ के पुत्र, और इस कारण एक क्षत्रिय हैं। विष्णु ने यह अवतार दूसरे, अर्थात् त्रेता युग के अन्त में रावण नामक राक्षस के वध के लिए लिया था (दे० पृ० ३३५)।

८. कृष्ण—भारत के सभी परवर्ती देवताओं मे सर्वाधिक लोकप्रिय हैं।[2] चन्द्रवंशी वसुदेव और देवकी के आठवें पुत्र के रूप मे भगवान् विष्णु का यह अवतार द्वापर या संसार के तीसरे युग में[3] अत्याचारी राजा कंस के वध

कर देते हैं। अन्ततोगत्वा कुछ मुनि लोग उनसे युद्ध न करने की प्रार्थना करते हैं। आदिपर्व मे कहा गया है कि परशुराम ने शत्रुओं का नाश त्रेता तथा द्वापर युगों के बीच में किया था। मूइर, टेम्स्ट्स १-४४७ में यह वर्णन है कि परम्परा मलाबार समुद्र तट के निर्माण का श्रेय परशुराम को देती है जिन्होने समुद्र को हट जाने के बाध्य किया और पश्चिमी घाटो पर परशु की चोट से दरार बना डाली।

[1] राम के साथ उन्हे अन्य दो रामो से भिन्न करने के लिए चन्द्र शब्द का प्रयोग केवल परवर्ती साहित्य मे पाया जाता है।

[2] विशेष कर बगाल मे; उत्तर के प्रान्तो मे (कृष्ण के अपने नगर मथुरा को छोड़कर) अवध, बिहार तथा मुख्य हिन्दुस्तान के वृहत्तर भाग मे सातवें अवतार रामचन्द्र की मुख्य रूप से पूजा की जाती है। कृष्ण की पूजा का अपेक्षाकृत आधुनिक होना इस तथ्य से प्रकट होता है कि प्राचीन बौद्ध सूत्रो में बौद्ध धर्म के उदय के समय पूजे जाने वाले देवताओ मे ब्रह्मा, नारायण, शिव, इन्द्र आदि का ही नाम है, कृष्ण का नही।

[3] कलियुग या ससार के चौथे युग का आरम्भ कृष्ण की मृत्यु के बाद से माना गया है। अतएव महाभारत की घटनाएँ द्वापर के अन्त मे हुई होगी और रामायण की घटनाएँ दूसरे अर्थात् त्रेता युग मे। मृच्छकटिक के दूसरे अक मे आये द्यूतक्रीडा के दृश्य से यह संभव लगता है कि चारो युगो का नाम जूए की चार फेको को दिया गया है—सर्वोत्तम क्षेपण को कृत कहते हैं; त्रेता तीन अक्षो का या उससे थोडा कम उत्तम क्षेपण है; द्वापर अक्षो का ऐसा क्षेपण है जिसे निकृष्ट माना गया है; सबसे निकृष्ट कलि होता है। हिन्दुओ का विचार यह प्रतीत होता है कि द्यूतक्रीडा विशेष रूप से द्वापर एवं कलियुग में प्रचलित थी। नल की कथा मे मूर्तिमान द्वापर अक्षो मे प्रवेश करता है और मूर्तिमान् कलि स्वयं नल मे प्रवेश करता है, तब नल को द्यूतक्रीड़ा की घातक इच्छा उत्पन्न होती है। हिन्दुओ की चार युगो के क्रम की वह कल्पना जिसमें क्रमशः मानव जाति का उत्तरोत्तर पतन होता है, ओविड की मेटामोरफोसिस

के लिये हुआ था, जो पहले अवतार के रावण के समान पाप कर्मो का प्रतिनिधि था।

कृष्ण के बाद के जीवन का विस्तृत विवरण महाभारत के परवर्ती अशो मे जोड़ दिया गया है और इस काव्य के सौष्ठव को हानि पहुँचाये बिना उन अंशो को निकाला जा सकता है। निश्चय ही ये महाकाव्य के नायक नही है। ये एक ऐसे प्रमुख नायक लगते है जो वास्तविक् नायको—पाण्डवो[1]—का भी हाथ बँटाते है और इस कारण इन्हे देवता का रूप देने मे भी विवाद उठ खडा होता है। इनके प्रारम्भिक दिन और युवावस्था की लीलाएँ यद्यपि महाभारत के प्राचीनतम अशो मे वर्णित नही है, तथापि हरिवश एवं पुराणो, विशेषतया

(१८९ आदि) मे वर्णित रोम वालो के स्वर्ण, राजत, कास्या तथा लौह युगो से मिलती है। किन्तु सासारिक युगो का हिन्दू कल्पना मे बहुत लम्बा चौड़ा विस्तार किया गया और कदाचित् वह आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तो से अधिक मेल खाती है (पृ० १७९, टि० ४ देखे)। महायुग या चारयुगों के काल मे १२००० दैव वर्ष होते है, जो (विष्णु पुराण के अनुसार) १२,००० X ३६० ('सामान्य वर्ष के रूप मे दिनो की कल्पित सख्या) अर्थात् ४३,२०,००० मानव वर्षो के बराबर है, जिसके बाद चार युगो का दूसरा युग प्रारम्भ होता है। चार युगो वाले. एक हजार महायुग मिलकर एक कल्प या ब्रह्मा के दिन होते है। यह कल्प ४,३२,००,००,००० मानव वर्षों के बराबर होता है (इसमे चौदह मन्वन्तर या चौदह मनुओ के क्रमश: स्थितिकाल आते हैं)। इसके बाद ससार का प्रलय (प्रतिसञ्चार, महाप्रलय) होता है और सभी प्राणी—ब्रह्मा, विष्णु, शिव, देवता, असुर, मनुष्य, पशु—ब्रह्म या केवलात्मा मे विलीन हो जाते है। वर्तमान कल्प मे छ: मनु हो चुके है जिनमे प्रथम स्वयभुव थे और वर्तमान या सातवें वैवस्वत हैं। मनु का विवरण स्पष्ट है और कुछ लोग कहते है कि उनके चार युगो का काल क्रमश: ४८००, ३६००, २४००, तथा १२०० सामान्य वपो से अधिक नही है (मनुस्मृति १.६९–७१)। ऋग्वेद मे संसार के युगो का कोई उल्लेख नही हैं किन्तु ऐतरेय ब्राह्मण (७.१५) मे उल्लेख हैं। वर्तमान कलियुग का प्रारम्भ १८ फवरी ३१०२ ई० पू० की मध्यरात्रि को उज्जयिनी की क्रान्ति पर होने की गणना की गई है। ह्विटनी की ओरिएन्टल स्टडीज की दूसरी सिरीज पृ० ३६६; मूइर का टेक्स्ट्स १.४३; वेबर का इण्डिश्श स्टूडियन १.२८६,४६०।

[1] महाभारत के बाद के क्षेपको ने पाण्डवो को भी कतिपय देवताओ का अवतार बना दिया हैं।

भागवतपुराण के दशम स्कन्ध मे वर्णन मिल जाता है। भागवत मे इस प्रकार वर्णन है—

'वसुदेव (यदु के वंशज, जो यदु पुरु के साथ ययाति के दो पुत्रो के रूप में दो वंशो के स्थापक हैं) की दो पत्नियाँ थी रोहिणी और देवकी। देवकी के आठ पुत्र हुये जिनमे आठवे कृष्ण थे। यह भविष्यवाणी हुई कि इन पुत्रों मे से एक मथुरा के राजा और देवकी के चचेरे भाई कंस का वध करेगा। इस कारण कंस ने वसुदेव तथा उनकी पत्नी को बन्दी बना लिया और पहले छः सन्तानो का नाश कर दिया। सातवें बलराम योग द्वारा देवकी के गर्भ से रोहिणी के गर्भ में पहुँच गये और इस प्रकार उनकी रक्षा हो गयी। आठवें कृष्ण थे जिनका वर्ण श्याम और वक्ष पर श्रीवत्स का चिह्न था।[1] उनके पिता वसुदेव मथुरा से पुत्र सहित बचकर निकले और देवताओ की कृपा से यादव वश के गोप, नन्द, के यहाँ पहुँचे जिनकी पत्नी यशोदा के तत्काल पुत्र हुआ था। अपने पुत्र को रखकर वसुदेव यशोदा की सन्तान को लेकर देवकी के पास लौट आये। नन्द ने बालक कृष्ण को साथ लेकर पहले गोकुल या व्रज मे निवास बनाया और फिर वन्दावन आ गये जहाँ कृष्ण तथा बलराम का साथ साथ पालन पोषण हुआ। वे वनो मे घूमते और ग्वाल-बालो के साथ खेलते रहे। कृष्ण जब बालक ही थे तो उन्होने कालिय नाग का नाश किया और गोवर्धन पर्वत को अपनी अगुलि पर गोपियो की इन्द्र से रक्षा करने के लिये धारण किया जो उनके कृष्ण के प्रति प्रेम को देखकर कुपित हुए थे और घोर जलप्लावन से उनका नाश करने के लिये उद्यत थे। उन्हे गोपियों या ग्वाल-बालाओ के साथ कीड़ा करने वाला बताया गया है, जिनमे से एक हजार उनकी पत्नियाँ बन गईं यद्यपि केवल आठ पत्नियो के ही नाम गिनाये गये है। राधा उनमे सबसे प्रिय थी। कृष्ण ने गुजरात मे द्वारकापुरी बनवायी, और कंस को मारने के बाद मथुरा के निवासियो को अपने साथ यहाँ ले आये।

कुछ लोगो के अनुसार, कृष्ण विष्णु के अवतार नही अपितु स्वयं विष्णु ही है जिस कारण द्वापर या जगत् के तीसरे युग के अन्त मे वसुदेव और देवकी के पुत्र, तथा कृष्ण के अग्रज बलराम[2] को कृष्ण के स्थान पर विष्णु का आठवाँ अवतार माना गया है।

---

[1] कृष्ण के जन्मोत्सव के वार्षिक पर्व को जन्माष्टमी कहते हैं क्योकि उनका जन्म भाद्र (अगस्त–सितम्बर) महीने की अष्टमी को हुआ था। यह बडे समारोह से मनाया जाता है। कुछ दिन पूर्व प्रोफेसर वेबर ने इसका सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया था।

[2] इन तीसरे राम को, जिन्हे सामान्यतः वसुदेव का सातवाँ पुत्र माना

९. बुद्ध—ब्राह्मणो के अनुसार जगत् के चौथे युग मे भगवान विष्णु ने दैत्यो या राक्षसो को देवताओं की पूजा से छलपूर्वक विरत करने के लिए महान् नास्तिक दार्शनिक का अवतार लिया और इस प्रकार उन दैत्यो का नाश किया।

१०. कल्कि या कल्किन्—यह अवतार चतुर्थ युग, कलियुग, के अन्त मे अभी होने वाला है। जब ससार के पापो का घडा भर जायगा तो कल्कि दुष्टो के संहार के लिये, पृथ्वी पर धर्म की स्थापना के लिये एवं एक नये धर्मयुग (सत्य युग) को उपस्थित कर सृष्टि के पुनरुद्धार के लिये अवतार लेंगे। कुछ लोगो के अनुसार वे श्वेत अश्व पर विराजमान होकर, हाथ मे नंगी तलवार लेकर, पुच्छल तारे के समान चमकते हुए आकाश मे प्रकट होगे।[१]

इन दसो अवतारो पर अधिक निकट से दृष्टिपात करने पर हम यह देख सकते है कि प्रथम तीन अवतारो मे विष्णु पशुओ का रूप धारण करते

गया है, कभी-कभी हलायुध अर्थात् हल जैसे अस्त्र से युक्त, और मुसली 'मूसल धारण करने वाले' कहा गया है। ये हरकुलीज़ के हिन्दू रूप हैं। महाभारत (तथा विष्णु पुराण मे) इन्हें विष्णु के सफेद केश से उत्पन्न बताया गया है जिस प्रकार कृष्ण को उनके काले केश से उत्पन्न कहा गया है। अन्यत्र इन्हे शेष नाग का अवतार कहा गया है और अनुशासन पर्व मे इन्हे अर्ध दैवी जीव, आधा मनुष्य तथा आधा सर्प, बताया गया है। इनकी मृत्यु के समय (जो मौसलपर्व मे वर्णित है) यह बताया गया है कि इनके मुख से एक सर्प निकल कर समुद्र मे प्रवेश कर गया। डिओडोरस सिक्यूलस ने भारतीयों के वर्णन (२ ३९) के सम्बन्ध मे इस प्रकार कहा है—यह कहा है कि हरकुलीस ने (और पर्वतो के निवासियो द्वारा पूजित ने भी) उनके बीच निवास किया। ग्रीक निवासियो की तरह उन्होने उसे भी गदा और व्याघ्रधर्म से युक्त रूप मे चित्रित किया है। शारीरिक बल और वीरता में वे सभी मनुष्य से बढ़ कर थे और उन्होने पृथ्वी तथा समुद्र को दैत्यो से खाली कर दिया। चूंकि उनकी अनेक पत्नियो से अनेक पुत्र थे किन्तु एक ही पुत्री थी अतः जब वे सब बड़े हुए तो उन्होने सम्पूर्ण भारत को बराबर भागो मे बाँटा जिससे उन सबका स्वतन्त्र राज्य हो और अपनी एक पुत्री को उन्होने साम्राज्ञी बनाया। उन्होने अनेक नगरो की स्थापना की जिनमे सबसे बड़ा और प्रसिद्ध पलिबोथ्र था। मृत्यु के बाद उन्होने देवता का पद प्राप्त किया।

[१] विष्णुपुराण ४ २४ के अनुसार वे सम्भल के प्राचीन ब्राह्मण विष्णु-व्यास के परिवार मे कल्कि रूप मे अवतरित होगे।

हैं, और चौथे मे आधे पशु और आधे मनुष्य का। इस चौथे अवतार को एक प्रकार की मध्यस्थ शृंखला माना जा सकता है जिसका ध्येय यह है कि परमात्मा का बिल्कुल सीधे उच्चकोटि के सासारिक जीवन से सम्बन्ध न स्थापित किया जाय। आधे सिंह और आधे मनुष्य के मिश्रित रूप से पूर्ण मनुष्य के रूप के बीच संक्रमण स्वाभाविक है। मानव रूप प्राप्त करने पर भी ईश्वरीय तत्व क्षुद्र कोटि के मनुष्यो से प्रारम्भ करता है जो एक वामन रूप मे मूर्त है। तब यह बलशाली वीरो का रूप धारण करता है जो ऐसे दुष्ट राक्षसो एवं दैत्यो के अत्याचार से मुक्ति दिलाता है जिनकी शक्ति चौथे युग मे मानव समाज के पतन के साथ बढती गयी थी। दसवें या अन्तिम अवतार में, जो अभी होने वाला है, पाप तथा अत्याचार का समूल नाश हो जायगा। इन सबके भीतर हम हिन्दू पुनर्जन्म के सिद्धान्त को काम करते हुए देखते हैं। मनु के समय में भी यह सर्वमान्य सिद्धान्त था कि मनुष्यो की आत्मा, जिसे परमात्मा से निकला हुआ अश माना गया है, पशुओ की योनि मे गिर सकती है या उच्च जीवो की योनि प्राप्त कर सकती है। अतएव इस प्रकार के सिद्धान्त का सहज ही विस्तार हुआ कि परमात्मा को भी संसार को कष्टों एव पापो से मुक्त करने के लिए और सम्पूर्ण सृष्टि कर्म मे धर्म की स्थापना करने के लिये अवतार की विभिन्न श्रेणियो से गुजरना पडता है।

मैं यहाँ भागवत् पुराण १०८९ से एक रोचक कथा देता हूँ जो प्रेम सागर के अन्त मे भी आयी है। मैं इसका (कुछ विस्तृत रूप देकर) यहाँ अनुवाद देता हूँ क्योकि यह तीन देवताओ ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव, के स्वरूप का एव मनुष्यो से उनके सम्बन्ध का वर्णन प्रस्तुत करती है—

प्रथम मनु द्वारा उत्पन्न किये गये दस महर्षियों या पुरातन पिताओ मे एक, महर्षि भृगु, से पूछा गया कि सबसे बड़ा देवता कौन है। उन्होने कहा कि मै इसका पता लगाऊँगा। पहले वे ब्रह्मा के पास पहुँचे। उनके पास पहुँचकर उन्होने जानबूझ कर प्रयोजन से प्रणाम नही किया। इस पर ब्रह्मा ने उनकी बडी निन्दा की, किन्तु क्षमा माँगने पर वे शान्त हो गये। तब वे कैलास पर शिव के निवासस्थान पर पहुँचे और उन्होने शिव के अभिनन्दन वचनो का उत्तर नही दिया। अपना अपमान मानकर शिव क्रुद्ध हो ऋषि का नाश करने के लिये उद्यत हो गये किन्तु पार्वती ने उन्हें शान्त किया। अन्त मे वे विष्णु के लोक, वैकुण्ठ, पहुँचे। उन्होने विष्णु को लक्ष्मी की गोद मे सिर रख कर सोये हुए देखा। उनकी सहनशक्ति की परीक्षा करने के लिए उन्होने उनके वक्षस्थल पर पैर से प्रहार किया जिससे विष्णु जग गये। क्रोध दिखाने के स्थान पर विष्णु ने उठकर जब भृगु को देखा तो बडी नम्रता से

पूछा कि कहीं उनके चरण को कष्ट तो नहीं पहुँचा और उनके पैर को सहलाने लगे। भृगु ने कहा कि यही सबसे श्रेष्ठ देवता है, यह सबसे बडे अस्त्र को धारण करने वाला है--सहानुभूति और दया के अस्त्र को।'

रामायण

अब मैं वाल्मीकि[१] के काव्य रामायण (राम-अयन, राम का आचरण या कर्म) का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करूंगा, जो वर्तमान रूप मे प्राय: २४००० श्लोको का है और जिनमे अधिकाश प्रचलित वीरकाव्यीय अनुष्टुभ छन्द हैं।[२]

सर्वप्रथम यह द्रष्टव्य है कि इसके मूल की विशुद्धता खतरे मे है जिससे बड़ा महाकाव्य महाभारत मुक्त है। इसकी कथा अधिक प्रचलित तथा आकर्षक है। यह छोटी और विषयान्तरो के बोझ से बोझिल भी कम है। इसमे कथावस्तु का

---

[१] वाल्मीकि का जन्म भारत के उस भाग मे बताया जाता है जो कोशल (जिसका प्रमुख नगर अयोध्या था और जिस पर राम के पिता दशरथ ने शासन किया था) के समान और विदेह राज्य के निकट था। विदेह के राजा सीता के पिता जनक थे जिनके याज्ञवल्क्य के साथ सम्बन्ध के वर्णन शुक्ल यजुर्वेद के ब्राह्मणो तथा महाभारत की कथाओ मे मिलते हैं। वाल्मीकि को कृष्ण यजुर्वेदीय शाखा का माना जाता है। यह निश्चित है कि राम की कथा तैत्तिरीयको ने मनोयोग से सुरक्षित रखी थी और वाल्मीकि ने उनकी कथाओ को अपनी कथा मे मिला लिया। श्री कस्ट के अनुसार (कलकुत्ता रिव्यू ४५) वाल्मीकि जमुना के किनारे पर प्रयाग मे संगम के निकट निवास करते थे और परम्परा से बुन्देलखण्ड मे बाँदा जिले की एक पहाड़ी को इनका निवास स्थान बताया गया है। कुछ लोग तो यह भी कहते है कि अपने जीवन के प्रारम्भ मे वे पथिको को लूटने वाले डाकू थे किन्तु अपने दुष्कर्म पर पाश्चात्ताप करके उन्होने पर्वतो पर आश्रम बनाया जहाँ उनके आश्रम मे कालान्तर मे जनभावना से अधिक भय रखने वाले राम द्वारा वनवास के लिए निकाली गई राम की पत्नी सीता ने आश्रय लिया। यही सीता के दो पुत्र, कुश तथा लव (जिन्हे कभी कभी एक समस्त नाम कुशीलवौ' दिया गया है) उत्पन्न हुए जिन्हें अपने अज्ञात पिता के कर्मो का वर्णन करने वाली कविताओ को गाने की शिक्षा दी गई। इन्ही से प्रतिष्ठित राजपूत अपनी उत्पत्ति बताते हैं। समीक्षक ने यह सभव माना है कि वाल्मीकि उन नायको के समकालीन रहे होंगे जिनका उन्होने वर्णन किया है।

[२] जिस छन्द मे रामायण तथा महाभारत का वृहत्तर भाग लिखा गया है वह प्रचलित श्लोक है (मेरा संस्कृत ग्रामर, पृ० ९३५ देखें) जिसमे प्रत्येक

सौष्ठव अधिक है, इसकी भाषा सरल है और उसे समझने मे कम कठिनाई होती है। इन स्थितियों के फलस्वरूप यह अधिक आसानी से याद कर लिया जाता था। अतएव ऐसा हुआ कि इसके रूप की अन्तिम निश्चित रचना हो जाने के बाद भी भारत के वृहत् भाग मे यह मौखिक रूप मे प्रचलित रहा। प्रथम काण्ड के चौथे अध्याय से हमे पता चलता है कि ग्रीस के चारणो के समान रामायण के भी गाने वाले और सुनाने वाले व्यक्ति थे। फलत: वर्णनो के शब्दो मे पाठभेद प्राय. अपरिहार्य हो गया। समय बीतने पर जब इस काव्य की लिखित प्रतियो की वृद्धि हुई तो प्रचलित ओजस्वी छन्द के अबाधित प्रवाह से ऐसे प्रतिलिपि लेखको द्वारा किये गये पाठभेदो एव प्रक्षेपो को सरलता से स्थान मिलता गया जिनमे कभी कभी कवि बनने की आकाक्षा वाले व्यक्ति भी होते थे। अतएव इस काव्य के मूल के कम से कम तीन संस्करण है: एक वनारस तथा उत्तर-पश्चिम से सम्बद्ध; दूसरा जो यदि सदैव नही तो आमतौर से अधिक विस्तृत और प्रक्षेपो से युक्त लगता है, और कलकत्ता तथा खास बंगाल प्रदेश से सबद्ध है; और तीसरा पश्चिमी भारत (बम्बई) का सस्करण है। ये प्रमुख सस्करण तथा सभी ज्ञात पाण्डुलिपियाँ, भले ही उनमे स्थान स्थान पर पाठभेद हो,[1] इस काव्य को सात काण्डो मे इस प्रकार विभाजित करती है—

चरण की सोलह मात्राओ मे केवल पाँच मात्राएँ वस्तुत. नियत होती है। दूसरी मात्राएँ लघु या गुरु हो सकती हैं। त्रिष्टुभ् के इन्द्रवज्रा रूप का भी महाभारत मे बहुत व्यवहार हुआ है, और रामायण मे अध्यायो के अन्त मे प्राय: जगती (ग्रामर ९३७,९४१) छन्दो का प्रयोग है। इनमे इन्द्रवज्रा मे प्रत्येक अर्द्धर्च मे ग्यारह मात्राएँ और जगती मे बारह मात्राएँ होती है। प्रत्येक मात्रा का आकार (ह्रस्व या गुरु) नियत होता है अत. सरलता एव शैलीगत स्वतन्त्रता कम होती है।

[1] प्रोफेसर वेबर ने यह प्रदर्शित किया है कि भारत के विभिन्न भागो की रामायण की पाण्डुलिपियो के पाठ भेद, जो अब ढूँढ निकाले गये है, इतने अधिक हैं कि अब केवल तीन ही सस्करण नही कहा जा सकता। बगाल (गौड) सस्करण के सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि भारत के इस भाग मे, जहाँ पाण्डुलिपियो की कम आवश्यकता होती है, विद्वान व्यक्तियो ने स्वय ही स्वतन्त्र रूप से प्रतिलिपि की है और उन्होने मूल के साथ उत्तर के अशिक्षित प्रतिलिपि लेखको की अपेक्षा अधिक स्वच्छन्दता बरती है। १८०६ और १८१० मे करे (Carey) तथा मार्शमैन (Marshman) ने इस संस्करण के सात काण्डो मे से दो काण्डो का मूल तथा अनुवाद प्रकाशित किया; किन्तु यत्र

१. वालकाण्ड—राम की वाल्यावस्था से सम्वद्ध काण्ड। २. अयोध्या काण्ड—जो अयोध्या के राज्य पर शासन और राम के उनके पिता दशरथ द्वारा निष्कासन का वर्णन करता है। ३. अरण्य काण्ड—जिसमे निष्कासन के वाद राम के वनवास से सम्वद्ध घटनाओ तथा रावण द्वारा सीता के अपहरण का वर्णन है। ४. किष्किन्धा काण्ड—जो राम के मित्र सुग्रीव की राजधानी किष्किन्धा मे होने वाली घटनाओ का विस्तृत वर्णन करता है। ५. सुन्दर काण्ड—इसमे उन चमत्कारपूर्ण कार्यो का वर्णन हैं, जिनके द्वारा समुद्र में सेतु का निर्माण तथा आक्रमण करने वाली सेनाओ का लंका (सीलोन) मे प्रवेश सभव हो सका। ६. युद्ध काण्ड—इसमे राम के रावण के साथ युद्ध का, उसकी सेनाओ पर विजय तथा उनके नाश करने का, सीता की प्राप्ति, अयोध्या को प्रत्यावर्तन, चारो भाइयो के मिलन तथा राम के राज्याभिषेक का वर्णन है। ७. उत्तर काण्ड मे अयोध्या लौटने पर राम के राज्याभिषेक के उपरान्त उनके जीवन की अन्तिम घटनाओ—उनका लोकापवादों पर ध्यान, नगर वासियो की दुर्भावना, और फलत: सीता का रावण के घर मे वन्दी अवस्था मे उनके निर्दोष चरित्र की असन्दिग्धता के विपरीत भी वाल्मीकि के आश्रम मे वनवास लेना, मुनि के आश्रम मे उनके यमज पुत्रो, कुश और लव, का जन्म, अन्त मे सीता के साथ रामका मिलना, और स्वर्ग की प्राप्ति का वर्णन है। इस कथा के इन सभी पूरको को भवभूति ने अपने 'उत्तर राम चरित' मे तथा सम्पूर्ण प्रारम्भिक जीवन चरित्र को 'महावीर चरित' मे नाटक का रूप दिया है।

तत्र उन्होंने उत्तरी संस्करण का अनुसरण किया है। वीस वर्ष वाद आगस्टस विलियम स्लेगेल ने उत्तरी सस्करण के दो काण्डो के मूल को प्रथम काण्ड के लैटिन अनुवाद सहित प्रकाशित कराया। फिर अगले वीस वर्षो के व्यवच्छेद के वाद सिग्नोर गोरेसियो (Signor Gorresior) नामक इटालियन विद्वान ने राजा चार्ल्स अल्वर्ट के व्यय से वगाल संस्करण का सुन्दर और सही संस्करण इटालियन अनुवाद के साथ प्रकाशित किया जिसका अनुसरण प्राय मैंने अपने संक्षिप्त विवेचन मे किया है। उस संस्करण का अवशिष्ट भाग, जिसका सम्पादन स्लेगेल ने प्रारम्भ किया था, अप्रकाशित ही रह गया। दस वर्ष से अधिक हुए जब कि एक अधिक विश्वसनीय पाठ के टीका सहित संस्करण कलकत्ता और वम्बई मे निकले। कलकत्ता के सस्करण पर १९१७ सवत् की तिथि है। श्री आर० ग्रिफिथ का रमागण का काव्य में अनुवाद, जो इस वीच प्रकाशित हो चुका है, अत्यन्त सम्मान के योग्य है और सम्मान प्राप्त कर भी चुका है।

हम यह देख चुके है कि सातवे काण्ड और प्रथम काण्ड की प्रास्तवना के अध्याय, जिनमे कथानक का सक्षेप है और जो राम की विष्णु या परमात्मा से अभिन्नता प्रदर्शित करने वाले अंश है (यथा ६.१०२,१२, गोरेसिओ) निश्चय ही अपेक्षाकृत अर्वाचीन क्षेपक है।

क्षेपको तथा पाठ भेदो के विषय मे सन्देह होने पर भी देशवासियो[1] की दृष्टि मे इस काव्य के पवित्र रूप पर आँच नही आती। जिस श्रद्धा की दृष्टि से इसे देखा जाता है उसका ज्ञान प्रस्तावना के अध्याय के अन्त मे आए हुए श्लोको से प्राप्त किया जा सकता है—

'जो इस पवित्र जीवनदायक रामायण का अध्ययन और पाठ करता है वह सभी पापो से मुक्त हो अपने सम्पूर्ण वश सहित परम स्वर्गलोक को प्राप्त करता है।

१.२,४० मे कवि वाल्मीकि से ब्रह्मा कहते है—'जब तक पृथ्वी पर पर्वत एव नदियाँ रहेगी तब तक रामायण की कथा लोक मे प्रचलित रहेगी (याव-त्स्थास्यन्ति गिरय. सरितश्च महीतले, तावद्रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति)।

काव्य[2] की मुख्य कथा यद्यपि प्राय. ऐसी लम्बी कथाओं से छिन्न हो जाती है जिनका कथानक से कोई विशेष संबन्ध नही, तथापि यह महाभारत की कथा की अपेक्षा बहुत अधिक अविरल और स्पष्ट गति से प्रवाहित होती है। इसे हम चार प्रमुख भागो या कालो मे बाँट सकते है जो राम के जीवन की चार मुख्य अवस्थाओ के समकक्ष हैं। १ उनकी बाल्यावस्था, अपने पिता, अयोध्या के राजा दशरथ, की सभा मे शिक्षा तथा निवास, सीता से सुखमय विवाह, तथा उनके युवराज बनाये जाने की घोषणा; २. उनके निष्कासन की स्थितियाँ, उनके निष्कासन तथा मध्य भारत के वनो मे निवास का वर्णन; ३ अपनी पत्नी सीता की प्राप्ति के लिए दक्षिण के राक्षस या दैत्यो के साथ उनका युद्ध, उनकी विजय और रावण का वध तथा सीता से पुनर्मिलन;

---

[1] वेबर ने यह निर्देश दिया है कि सर्वदर्शन सग्रह (पृ० ७२, प० १५) मे स्कन्दपुराण से एक अश उद्धृत किया गया है जो शास्त्र के रूप मे 'मूल रामायण' को चार वेदो, भारत तथा पञ्चरात्रक के बाद स्थान देता है। उत्तर काण्ड के कुछ सर्गों पर प्रक्षिप्त होने के कारण टीका नही है।

[2] रामायण का अपना विवेचन लिखते समय मैंने इस काव्य पर कलकत्ता रिव्यू (४५) के एक विद्वत्तापूर्ण लेख से सहायता ली है, जिसके प्रति मैं बहुत ऋणी हूँ। इस लेख के लेखक मेरे मित्र मिस्टर आर० एन० कष्ट है जो बगाल सिविल सर्विस के एक सम्मान्य सदस्य थे।

४. सीता के साथ अयोध्या को प्रत्यागमन, पिता के राज्य की प्राप्ति, और आगे चल कर सीता का परित्याग।[१]

काव्य अयोध्या के वर्णन[२] तथा राजा दशरथ एवं उनके मन्त्रियो की प्रशस्ति से प्रारम्भ होता है जिनमें सर्वश्रेष्ठ वसिष्ठ तथा वामदेव नाम के दो प्रमुख प्रधान मन्त्री हुए। इनके अतिरिक्त मनु के विधान (दे० पृ० २५२ टि० सहित) के अनुसार आठ दूसरे मन्त्री (अमात्या:) भी थे। ये सभी नि.सन्देह ब्राह्मण थे एवं राज्य के कार्य का संचालन करते थे। राजा दशरथ के कोई पुत्र नही है (८.१) जो भारत मे, जहाँ श्राद्ध क्रिया का उचित सम्पादन करने के लिए पुत्र जी आवश्यकता समझी जाती है, एक गम्भीर विपत्ति होती है (दे० पृ० २४२ टि० १ सहित)। इस दुर्भाग्य का प्रचलित उपचार एक बड़ा यज्ञ होता है जिसे सोद्देश्य नितान्त कठिन एवं गूढ कर्मो से लाद दिया गया हैं। इन यज्ञो का ब्राह्मणो के अतिरिक्त कोई अन्य सम्पादन नहीं करा सकता था और उन्हे बदले मे प्रचुर दक्षिणा मिलती थी। निश्चय ही राक्षस लोग किसी दोप, भ्रम या न्यूनता की ताक मे बैठे रहते थे। यदि कोई दोष आ पड़ता था तो सम्पूर्ण क्रिया छिन्न भिन्न हो जाती और यज्ञ का फल नही मिलता था।

---

[१] प्रोफेसर लासेन के अनुसार राम की कथा को चार अवस्थाओ में बाँट सकते है। काव्य की प्रथम अवस्था मे राम के निर्वासन के बाद से हिमालय तक की कथा तथा सीता और उनके भ्राता लक्ष्मण को राम का अनुगमन करने के लिये बाध्य करने वाली स्थितियो का वर्णन नहीं था। दूसरी अवस्था मे निर्वासन का स्थान गोदावरी दिखाया गया और अरण्यजातियो के विपरीत मुनियो की सहायता का वर्णन आता था। तीसरी अवस्था मे दखन के निवासियो को पराभूत करने के पहले के प्रयत्नो का वर्णन आता था। चौथा विस्तार, जो भारतीयो के लका द्वीप के ज्ञान के फलस्वरूप सभव हुआ लङ्का के ऊपर राम के आक्रमण के वर्णन से सयुक्त था। देखिए इण्ड० अल्ट० २. पृ० ५०५।

[२] यद्यपि रामायण मे घटनाओ का स्थल अयोध्या है, तथापि कवि हमे बहुत विस्तृत देश की सैर कराता है· कभी सतलज के उस पर पजाब मे, कभी विन्ध्यपर्वतो के पार दक्षिण मे, और कभी नर्मदा और गोदावरी के पार भारत के सुदूर दक्षिण और लका मे पहुँचा देता है। इस काव्य का भूगोल यद्यपि महाभारत की तुलना मे बहुत अधिक रोचक तथा प्रत्येक देश मे दूर-दूर तक विस्तृत है तथापि सदैव विश्वसनीय नहीं है। सरयू नदी को आज कल घाघरा कहते हैं।

इस कारण एक प्रसिद्ध ऋषि, ऋष्यशृङ्ग, का दशरथ की पुत्री शान्ता से विवाह होता है और उनसे एक महान् अश्वमेध यज्ञ के सम्पादन मे सहायक होने की प्रार्थना की जाती है।

जिस अंश मे इस मुनि की कथा कही गई है वह बहुत ही विलक्षण है—

एक बार अंग देशके, जो आजकल के बगाल के अन्तर्गत भागलपुर है, पार्श्ववर्ती राज्य में बहुत बड़ी अनावृष्टि हुई। राजा लोमपाद को यह निश्चय हो गया कि वृष्टि प्राप्त करने का एक मात्र मार्ग यही है कि ब्रह्मचारी ऋष्यशृग को वैराग्य से विरत किया जाय और उन्हे राजा की पुत्री या लोमपाद की दत्तक तथा वस्तुतः राजा दशरथ की पुत्री से विवाह करने को उद्यत किया जाय। वे ब्रह्मचारी विभाण्डक के पुत्र थे जो भयंकर शक्ति वाले तपस्वी पुरुष थे। विभाण्डक ने ऋष्यशृंग को बिना माता के उपन्न और उनका पालन-पोषण अकेले वन मे किया था जहाँ उन्होने न तो कभी नारी सौन्दर्य का दर्शन किया और न कभी उसके सम्बन्ध मे सुना ही था। ऐसी योजना बनाइ गई कि युवतियो का एक दल ब्रह्मचारियो के रूप मे भेजा जाय और इस प्रकार महर्षि को विरक्त जीवन से विमुख किया जाय। अपने विलक्षण अतिथियो का स्वागत करने के उपारान्त ऋषि के मन मे आश्चर्य एवं चंचलता, ध्यानोपासना मे विघ्न और हृदय की व्याकुल के वर्णन अद्वितीय है। अन्त मे मुनि आश्रम से बहलाकर नौका द्वारा गगा नदी से लाये जाते है। राजा की पुत्री से उनका विवाह होता है और वे यज्ञ कराने के लिये अयोध्या लाये जाते हैं-।[१]

अतएव अश्वमेध यज्ञ[२] का सफलतापूर्वक अनुष्ठान किया गया। यह बताया गया कि किसी होम को छोडा नही गया और कोई दोष नहीं आया, सभी क्रियाएँ ठीक-ठीक वेद के अनुकूल की गईं (१ १३,१०)। रानी कौसल्या

---

[१] मैंने इस विषय मे कलकत्ता रिव्यू (४५) मे प्रकाशित मिस्टर कस्ट के लेख का भी अवलोकन किया है। उनका कथन है : 'हम इस प्रकार घटना की संभावना की हँसी उड़ाते यदि लेवाण्ट के एक आधुनिक यात्री मि० कर्जन ने उन्नीसवी शताब्दी में माउण्ट एथास के कॉन्वेन्ट मे एक इसी प्रकार की घटना की पुष्टि न की होती। वहाँ उन्हे एक ऐसा अधेड़ साधु मिला, जिसने कभी स्त्रियो को नही देखा था और देव वेदी पर लगाये गये कुमारी मेरी के काले और अस्पष्ट चित्र से प्राप्त स्त्री की कल्पना से अधिक ज्ञान नही रखता था। निर्दयी यात्री ने नारी के सौन्दर्य का ठीक ठीक वर्णन करके बेचारे साधु के मन की शान्ति को भविष्य के लिये बिल्कुल नष्ट कर दिया।'

[२] इस कार्य के लिए चुने गये घोड़े को छोड़ दिया जाता था और उसे एक

तथा अन्य दो रानियाँ, सुमित्रा तथा कैकेयी[1], यज्ञ मे संज्ञपित अश्व के साथ पूरी रात रहती है (१ १३,३६.६७)। ब्रह्मा, विष्णु, तथा शिव देवता, इन्द्र तथा उसके सहायक मरुतो के साथ यज्ञ की आहुति ग्रहण करने आते हैं, और प्रसन्न होकर राजा दशरथ को चार पुत्रो का वरदान देते है (१ १४,९)। तब देवलोक का दृश्य आता है। देवताओ का एक दल ब्रह्मा से कुछ निवेदन करने की प्रतीक्षा करता है। यह दल ब्रह्मा से निवेदन करता है कि सम्पूर्ण संसार रावण नाम के राक्षसराज द्वारा नष्ट किये जाने के भय से व्याकुल है जो

वर्ष तक घूमने दिया जाता था। यदि इस समय कोई उसे नही पकड़ता तो उसे यज्ञ के योग्य समझा जाता था। किन्तु कभी-कभी इन्द्र देवता ही घोड़े को पकडवा देते थे क्योकि उन्हे अपने राज्य मे अनेक अश्वमेध करने वालो की महान शक्ति से भय उत्पन्न हो जाता था। दूसरा वर्ष यज्ञ की तैयारियो मे बीत जाता था। १ १३ मे दिया गया यज्ञकर्म का वर्णन विलक्षण है। इक्कीस यूप या यज्ञस्तम्भ की रचना की गई जिनसे अनेक पशु तथा घोड़ा बाँध दिये गये। घोडे के पास दशरथ की रानियाँ रात भर रहीं। घोड़े (पतत्रिन्=अश्व, टीकाकार के अनुसार 'पुरा अश्वाना पक्षाः सन्ति') की वपा निकाली गई और साफ की गई। घोड़े के भी टुकड़े-टुकड़े करके, अग्नि मे आहुति दे दी गई और जलते हुए अश्व के मास की गन्ध सूँघकर राजा अपने पापो से मुक्त हो गये। अश्वमेध के साथ और भी कई यज्ञ होते थे, यथा चतुष्टोम, ज्योतिष्टोम, अतिरात्र, अभिजित् , इत्यादि। प्रवर्ग्य और उपसद का वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण १.१८,१,२३-२५ मे किया गया है। ऋग्वेद (१.१६२, १६३) के अश्वमेध सूक्तो तथा शतपथ ब्राह्मण १३. एवं कात्यायनसूत्र २०. ६,७८ में दिये गये अश्वमेध के नियमो से तुलना कीजिये। इस कर्म का प्रमुख अङ्ग ब्राह्मणो को भोजन कराना तथा दक्षिणा देना भी था। राजा दशरथ के विषय मे बताया गया है कि उन्होने अपने ऋत्विजो को एक लाख, गौएँ, एक सौ अयुत स्वर्णमुद्राएँ तथा इससे चौगुना चाँदी के टुकडे दिये।

[1] दशरथ की तीन रानियो मे महिषी कौसल्या को उन्ही के कुल और देश का बताया जाता है (संभवतः कोसल या दशरथ के राज्य के नाम से उसका नाम पडा है); दूसरी कैकेयी केकय के राजा अश्वपति की पुत्री थी। केकय देश पंजाब में स्थित माना जाता है (केकय देश के नाम पर राजा को भी केकय कहा गया है); तीसरी सुमित्रा संभवतः मगध या बिहार की थी। सुमित्रा के पिता एक वैश्य बताये जाते हैं। यह द्रष्टव्य है कि केकय के राजा अश्वपति का उल्लेख ब्राह्मणो मे प्रायः सीता के पिता जनक के समकालीन राजा के रूप में हुआ है।

अपनी राजधानी लंका से पृथ्वी तथा स्वर्गलोग को नाश के भय से त्रस्त कर रहा है। उसकी शक्ति इतनी विशाल बताई गई है कि—

जहाँ वह रहता है, वहाँ सूर्य ताप नही देता, वायु उसके भय से नही बहता, अग्नि नही जलती और चंचल लहरों वाला समुद्र भी स्थिर हो जाता है (१ १४,१७)।

इस शक्ति का रहस्य दीर्घकालीन तपस्या है[1], जिसने हिन्दू विचार के अनुसार पर्याप्त तपस्या करने वाले रावण को, चाहे उसका मन्तव्य कितना भी गर्हित क्यो न था, स्वयं देवताओं से भी अधिक श्रेष्ठ और ब्रह्मा से यह उल्लेखनीय वर प्राप्त करने योग्य बना दिया कि देवता या दैत्यगण उसे परास्त न करने पावे। गर्व मे चूर होकर उसने मानव से रक्षा का वर माँगना हास्यास्पद समझा और यदि कोई मनुष्य उसका सामना करने योग्य होता तो वह मनुष्य की ओर से वध्य था। विष्णु इस सभा मे सम्मिलित होते हैं और अन्य देवताओ की प्रार्थना पर रावण के वध के लिये मानव का रूप धारण करने की प्रतिज्ञा करते हैं जिससे रावण का वध कर सके। इस प्रकार वे अयोध्या के सूर्यवंशी

---

[1] हिन्दू विचार के अनुसार (तु० पृ० १०२) तप एवं विभिन्न प्रकार के व्रतो का आचरण स्वर्ग के खजाने मे धन जमा करने के समान था। धीरे-धीरे पर्याप्त धन जमा हो जाता था जिससे जमा करने वाला बचत की रकम को इच्छानुकूल निकल भी सकता था; उसे अपने ड्राफ्ट के न भजने की चिन्ता नही होती। दुर्बल मनुष्यो द्वारा भी इस प्रकार प्राप्त पुण्य और बल इतना अधिक होता है कि देवता और मनुष्य समान रूप से इन सर्वशक्तिमान् से कुछ ही कम शक्ति वाले तपस्वियो के अधीन रहते थे। इसलिए ऋषियो, राक्षसो और देवताओ को भी, विशेषकर शिव को (दे० पृ० ३१७) स्वेच्छा से मनुष्य मात्र के लिये उदाहरण प्रस्तुत करने के लिये, या कदाचित् उनके द्वारा पराभूत न होने के लिए, या ब्रह्म मे लय प्राप्ति के ध्येय से बिचलित न होने के लिए, तपस्या करते हुए दिखाया गया है। इन स्थलो पर (जैसा प्रोफेसर बनर्जी का कथन है) यदि 'तपस्' का किये गये पापकर्मों का प्रायश्चित्त अर्थ है तो इसका 'पेनान्स' (Penance) अनुवाद करना अशुद्ध है। यह केवल स्वत आचरित कष्ट एवं तितिक्षा है जिसका लक्ष्य अद्भुत शक्तियो या अन्तिम मोक्ष की प्राप्ति है। 'तप्' शब्द का प्रथमतः 'जलाना' अर्थ है और तब 'कष्ट देना'। इसका सम्बन्ध लैटिन के 'टेपिओ' से है। ग्रीक 'टेप्रा' से भी इसका संबन्ध है। इसमे अन्तिम शब्द का मौलिक अर्थ शव को 'जलाना' है, 'गाडना' नही। फिर भी 'पेनान्स' शब्द 'पोइना' (Poena), Pain, कष्ट से व्युत्पन्न है। सभवत. संस्कृत तप का यही उपयुक्त समानार्थक है।

राजा दशरथ के घर मे इस कार्य के लिये अवतार लेने को सहमत हो जाते है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भारत के आख्यानात्मक इतिहास के अनुसार उत्तर मे मूलत दो राजवशो का प्राधान्य था, सूर्य तथा चन्द्रवंश, जिनके अधीनस्थ छोटे-छोटे राजा शासन करते थे। सूर्यवश के अधीन ब्राह्मणधर्म ने उससे कही अधिक शक्ति एवं पूर्णता के साथ प्राधान्य प्राप्त किया जितना कि सुदूर उत्तरी जनपदो का चन्द्रवंश के अधीन विकास हुआ। लड़ाकू जातियो के नये आगमनो से यद्यपि यह सूर्यवश असल मे इक्ष्वाकु से प्रारम्भ होता है, तथापि इसकी उत्पत्ति सूर्य से किंवा उसके पूर्व के स्रोत, स्वय ब्रह्मा, से हुई मानी गयी है। सम्भवत. ब्राह्मण कवि या इस काव्य के परवर्ती निर्माताओ का ध्येय उस समय विष्णु के अवतार-रूप मे स्वीकृत राम का सम्बन्ध वेद के और विष्णु के साथ जोड़ना रहा हो (दे० पृ० २१९)। ऐसी वात रही भी हो तव भी राम के आख्यानात्मक वंश से बढकर कोई दूसरा तथ्य इस वात को नही प्रदर्शित करता कि किस प्रकार सम्पूर्ण काव्य एक ब्राह्मणीकरण का विषय वन गया। हम इससे यह देखते है कि क्षत्रिय राजाओ के सर्वाधिक शक्तिशाली वश की उत्पत्ति महान् धार्मिक ब्राह्मणीय ऋषियो से दिखाई गई है। मैं यहाँ सक्षेप मे इस वंश का विवरण देता हुँ—

इक्ष्वाकु मनु वैवस्वत (अर्थात् सातवें मनु या इस युग के मनु) के पुत्र थे। मनु वैवस्वत विवस्वत् या सूर्य के पुत्र थे। सूर्य उन कश्यप मुनि के पुत्र थे जो ऋषि मरीचि के पुत्र थे। मरीचि स्वयं ब्रह्मा के पुत्र थे। इक्ष्वाकु से सूर्य की दो शाखाएँ निकली, एक अयोध्या या अवध का सूर्यवंश, जिसे इक्ष्वाकु के पौत्र काकुत्स्थ से प्रारम्भ मान सकते है (क्योकि इक्ष्वाकू के पुत्र तथा काकुत्स्थ के पिता विकुक्षि ने राज्य नही किया), और दूसरा वंश मिथिला या विदेह (उत्तर विहार तथा तिरहुत) का था जो इक्ष्वाकु के दूसरे पुत्र निमि से प्रारम्भ हुआ। ककुत्स्थ से पैंतीसवी पीढ़ी में सगर हुए; उनकी चौथी पीढी मे भगीरथ, उनसे तीसरी मे अम्वरीप तथा उनसे पन्द्रहवी में रघु हुए जो अज के पिता थे। अज दशरथ के पिता थे। इस कारण इस क्रम मे ये नाम आते है—ब्रह्मा, मरीचि, कश्यप, विवस्वत या सूर्य, वैवस्वत, इक्ष्वाकु [विकुक्षि], ककुत्स्थ [.........................], सगर [...], दिलीप, भगीरथ [...], अम्वरीष [...], नल [...............], रघु अज, दशरथ, राम। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राम के काकुत्स्थ, राघव, दाशरथ, दाशरथि, आदि, अनेक नाम क्यो हैं।[1]

[1] यह वंशावली प्रिन्सेप के टेवुल मे दी गई प्रचलित वंशावली से मिलती है, किन्तु रामायण २.११०, तथा रघवंश की वंशवलियो मे वहुत भेद है।

इस प्रकार हम इस कथा के प्रारम्भ, राम के जन्म, पर आते है।[1] दशरथ की तीन रानियो के चार पुत्र उत्पन्न होते है। सबसे बड़े पुत्र राम, जो विष्णु के आधे रूप से युक्त है, कौशल्या से उत्पन्न होते है; दूसरे भरत, जो विष्णु के चतुर्थांश है, कैकेयी से; और अन्य दो, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न, जो विष्णु के शेष चतुर्थ भाग के बराबर-बराबर अंश को धारण करनेवाले है, सुमित्रा से उत्पन्न होते है। सभी भाई परस्पर बहुत प्रेम रखते हैं, किन्तु लक्ष्मण (जिन्हे प्रायः सौमित्र) कहते है, विशेप रूप से राम के, और शत्रुघ्न भरत के सहचर है।[2]

बाल्यावस्था मे ही राम और उनके भाइयो को विश्वामित्र (दे० पृ० ३५३) मिथिला या विदेह के राजा जनक की सभा मे ले जाते हैं।[3] जनक

उदाहरणार्थं इक्ष्वाकु के पुत्र कुक्षि और उनके पुत्र विकुक्षि कहे गये हैं; दिलीप के पुत्र भगीरथ है और उनके पुत्र ककुत्स्थ; और ककुत्स्थ के पुत्र रघु हैं। रघुवंश मे अज के पिता रघु (५.३६) को दिलीप का पुत्र कहा गया है (३.१३)।

[1] स्लेगेल के तथा बम्बई के रामायण मे राम का जन्मपत्र दिया हुआ है। उनके जन्म दिन को रामनवमी कहते है क्योकि उनका जन्म चैत्र की नवी तिथि को बताया जाता है, जब प्राय महाविषुव था और बृहस्पति कर्कट मे था। वेबर का विचार है कि राशि और बृहस्पति का उल्लेख इस बात का प्रमाण है कि रामायण के कम से कम इस अंश की रचना का समय बाद का माना जाय क्योकि हिन्दुओ ने राशि और ग्रहो का ज्ञान ग्रीसवालों से प्राप्त किया और ग्रीक लोगो ने अपना राशिचक्र प्रथम शताब्दी ई० पू० में पूर्ण किया। वेबर का कथन है कि रामायण मे लंका को कभी भी ताम्रपर्णी या सिंहल नही कहा गया है (केवल जिस नाम से ग्रीक इसे जानते थे) किन्तु सदैव लङ्का ही बताया गया है।

[2] यद्यपि १९ मे भरत के जन्म का वर्णन राम के जन्म के बाद किया गया है, तथापि उनका जन्म यमल के बाद समझा जाता है। १.२५ मे हम यह वर्णन पाते है कि विष्णु के अश से युक्त दैवी अमृत का पान कौशल्या के बाद सुमित्रा ने किया था। स्लेगेल के अनुसार भरत राम से ग्यारह महीने छोटे थे और दोनो जुडवे केवल तीन महीने छोटे थे। संभवतः भरत की माता का पद सुमित्रा से श्रेष्ठ था जिससे उन्हे प्रधानता मिलती है। लक्ष्मण राम के लिये दूसरे प्राण के समान थे (रामस्य लक्ष्मणो वहिःप्राण इवापरः, न च तेन विना निद्रा लभते, न त विना मिष्टमन्नमुपानीतमश्नाति, १ १९ २०–२२)।

[3] यह स्पष्ट है कि मिथिला (उत्तर विहार तथा तिरहुत) जो बिल्कुल

के पास एक विलक्षण धनुष था जो पहले शिव का था। जनक ने यह प्रतिज्ञा की थी कि जो व्यक्ति धनुष को झुका देगा वही सीता को प्राप्त करेगा।[१] राम और उनके भाइयों के आगमन पर वह धनुष आठ पहियोवाले मञ्च पर ५००० मनुष्यों द्वारा खीच कर लाया जाता है। राम न केवल धनुष को झुकाते हैं, अपितु उसे इतनी घोर शक्ति से खीचते हैं कि सम्पूर्ण सभा के लोग पृथ्वी पर गिर पडते हैं और पृथ्वी ऐसे कॉपने लगती है मानो किसी पर्वत के दो टुकड़े कर दिये गये हो।

सीता इस प्रकार राम की पत्नी बनती हैं और वे उनकी एकमात्र पत्नी बनी रहती हैं—जो एक पत्नी की आदर्श पतिभक्ति का आदर्श है। राम भी सदैव उनके सच्चे पति बने रहे—जो इस बात का नमूना है कि एक पति को किस प्रकार प्रेमपूर्ण कोमलता तथा एक पत्नीव्रत का आचरण करना चाहिए।[२]

दशरथ एवं उनके पुत्रो के अयोध्या लौटते समय उनकी भेंट परशुराम से होती है और यहॉ पर दूसरे राम तथा विष्णु के पूर्व अवतार के बीच युद्ध की विलक्षण कथा आती है। परशुराम सहसा पर्दे पर आते हैं (यद्यपि जबतक

पूर्व मे था, इस समय आर्य लोगो का देश था, क्योकि जनक को सभी शास्त्रो तथा वेदो मे पारङ्गत बताया गया है (रामा० १.१२)। बृहद्देवता मे प्राय सभापक रूप मे आते हैं।

[१] उनको सीता इसलिये कहा जाता है कि वे किसी स्त्री से नही उत्पन्न हुई थी अपितु जब राजा जनक हल चला रहे थे तो कुण्ड (सीता) से उत्पन्न हुई (१.५६ १४)। फलतः यह सिद्धान्त चल पड़ा कि राम की कथा दक्षिण भारत मे कृषि के आरम्भ का प्रतीक है। सीता नाम तैत्तिरीय ब्राह्मण २ ३,१०,१–३ मे सावित्री या प्रजापति की पुत्री के रूप मे आया है। वहाँ सीता को चन्द्रमा से प्रेम करता हुआ दिखाया गया है और चन्द्रमा श्रद्धा से प्रेम करता है। किन्तु अन्त मे चन्द्रमा सीता से प्रेम करने लगता है (ऋग्वेद ४.५७,६.७, अथर्ववेद ११.३.१२)। यह उस प्राचीन कथा का एक रूपान्तर है जो सवितृ को अपनी पुत्री सूर्या को चन्द्रमा के लिये प्रदान करता हुआ उपस्थित करता है। इस आख्यान के कारण ही 'रामचन्द्र'— 'चन्द्रमा के समान राम', नाम हो सकता है, जो अन्ततः रामायण के नायक के लिये प्रयुक्त हुआ है।

[२] इस सम्बन्ध मे वे उल्लेखनीय रूप से पाँच पाण्डवो, महाभारत के के नायको से—भेंद रखते हैं—जिनकी एक पत्नी सबकी सम्पत्ति थी और उनकी अपनी-अपनी अलग पत्नियाँ भी थी।

विविध विचित्र शकुन एवं भयकर उत्पात उनके आगमन की सूचना नही देते तब तक उनका वर्णन नही होता) और वे दशरथ के अल्पवय बालक को युद्ध के लिये ललकारते हैं। इस प्रसंग का, जो मूलकथा का अंग नही है, लक्ष्य यह है कि विष्णु का पूर्ववर्ती ब्राह्मण रूप मे अवतार, अपने को क्षत्रिय अवतार से उचित रूप मे पराभूत मानकर दूसरे राम के देवत्व को ब्राह्मणीय मान्यता प्रदान करे। किन्तु कथा के साथ बहुत-से देवशास्त्रीय रहस्य जोड़ दिये गये है जिनका स्पष्ट उद्देश्य क्षत्रिय वीर की विजय के सही तथ्यो को प्रच्छन्न करना है, अन्यथा स्पष्ट भाषा मे उनका वर्णन करने पर वे ब्राह्मणों के ही गर्व को चूर-चूर कर देती। मैं रामायण मे जिस ढंग से यह कथा कही गई है उसका सक्षेप यहाँ देता हूँ :—

जव राम के सीता के साथ विवाह के उपरान्त राजा अपने पुत्र राम को लेकर राजधानी लौट रहे थे तो अपशकुन-रूप कुछ पक्षियों की बोली से उन्हें कुछ चिन्ता हुई, जिसका निराकरण, जैसा वसिष्ठ ने राजा को समझाया, अरण्यपशुओ के वाहन होने के शुभ लक्षण से हो गया। तब एक भूकम्प-सा आया जिससे पृथ्वी काँपी, पेड उखड गये और सूर्य पर गहन अन्धकार छा गया। अन्त मे परशुराम प्रकट हुए। देखने मे वे भयंकर थे, अग्नि के समान उनकी आँखें थी, उनके हाथ मे परशु था और कन्धे पर धनुष। अपने गुरु शिव, के धनुष तोड़े जाने पर वे क्रुद्ध थे। अत्यन्त आदर-सत्कार पाकर वे राम से कहने लगे : 'मैंने शिव का धनुष तोड़ने का तुम्हारा पराक्रम सुना और मैं एक दूसरा धनुष ले आया हूँ, यह कभी विष्णु का धनुष था।' (१.७५,१३)। उन्होने राम से वह धनुष झुका कर उस पर बाण चढ़ाने को कहा और बोले कि यदि वह धनुष झुका देंगे तो उन्हे उनसे (परशुराम से) अकेले-अकेले युद्ध करना पडेगा। राम ने उत्तर दिया कि यद्यपि उनकी शक्ति अपने प्रतिद्वन्द्वी से कम है तब भी वे अपनी शक्ति का प्रमाण देंगे। इस पर क्रोध मे आकर वे परशुराम से धनुष ले लेते हैं, उसे झुकाते हैं, धनुष की डोरी पर बाण चढा देते हैं, और अपने प्रतिद्वन्द्वी परशुराम से कहते हैं कि उनके ब्राह्मण होने के कारण वे उनका वध नही करेंगे, किन्तु या तो उनकी दिव्य गति की शक्ति को नष्ट कर देंगे या तपस्याओ द्वारा जो स्वर्ग सुख उन्होने अर्जित किया है उसे नष्ट कर देंगे। देवता इस दृश्य को देखने पहुँच जाते है। परशुराम का उत्साह नष्ट हो जाता है, वे अपनी शक्ति खो बैठते हैं और प्रार्थना करते है कि उनकी आकाश मे विचरण करने की शक्ति नष्ट न की जाय (क्योकि इस प्रकार वे कश्यप को दी हुई अपनी इस प्रतिज्ञा का पालन नही कर सकेंगे कि वे प्रति रात्रि पृथ्वी छोड़ दिया करेंगे)। तब वे कहते हैं : 'धनुष के

झुका देने से मैंने राम के देवत्व को पहचान लिया और तीनो लोकों के स्वामी से अपनी पराजय को मैं अपमान नही समझता।' दूसरे राम वाण छोड़ते हैं और रहस्यमय ढग से परशुराम के भावी स्वर्गलोक में निवास की शक्ति को नष्ट कर देते है।

दशरथ अपने दल के साथ राजधानी लौटते है। राम का राज्य के उत्तराधिकारी रूप मे अभिषेक करने की तैयारी होने लगती है। इसी बीच राम के भ्राता भरत की माँ, कैकेयी, जो कौशल्या के पुत्र के प्रति विशेष पक्षपात दिखाये जाने से ईर्ष्यालु है, राजा से कुछ वर्ष पहले दिये गये इस वचन को कि वे कोई भी दो वर प्रदान करेंगे, पूरा करने की वात कहती है। पूर्वीय देशो मे इस प्रकार का वचन विल्कुल तोडा नही जा सकता। और राजा को कैकेयी उनके प्रिय पुत्र राम को चौदह वर्षों के लिए दण्डकारण्य मे निर्वासित करने और भरत का राज्याभिषेक करने का वर देने को वाध्य करती है।

अतएव राम अपनी पत्नी सीता तथा भाई लक्ष्मण के साथ निर्वासित हो जाते है। वे गोदावरी[1] के किनारे वन मे निवास करते है। इसी बीच पीड़ित-हृदय राजा दशरथ अनिवारणीय कष्ट से परलोक सिधार जाते है। यहाँ एक मार्मिक कथा का वर्णन आता है (२.६३)। निराश होकर राजा पश्चात्ताप करते है कि उनका वर्तमान सताप युवावस्था मे उनके द्वारा की गयी एक हत्या का फल है। यह घटना इस प्रकार घटी : (मैंने प्रायः शब्दशः अनुवाद किया है यद्यपि कुछ अंशो को यत्र-तत्र छोड भी दिया है) —

'एक दिन जब वर्षा ने पृथ्वी मे नया जीवन डाल दिया था, मेरा हृदय आनन्द से फूल उठा। जलती हुई पृथ्वी को तपाकर ग्रीष्म का सूर्य दक्षिणायन हो चुका था। ठंढी वायु ने ग्रीष्म के ताप को दूर कर दिया था। कृतज्ञ बादल उठे, मेढक बोलने लगे, मयूर नाचने लगे, हिरण आनन्द से मत्त हो गये, सभी पक्षी मत्त के समान अपने भीगे पंख वृक्षो के ऊपर वायु मे सुखाने लगे। वर्षा की धाराओं ने पर्वतो को ढँक लिया और वे जलराशि के समान दिखाई पड़ने लगे। पर्वतो के किनारो से धाराएँ खण्डित प्रस्तरो और खनिजो से मिलकर रक्तवर्ण की होकर गिरने लगी। वे मार्ग मे साँपो की तरह चक्कर काटते हुए वह रही थी। उस मधुर वेला मे, मैं वायु का आनन्द लेने के लिए निकल पडा। हाथ मे धनुष-वाण लेकर मै मृगया के लिए यह सोचकर चल पड़ा कि कही संयोगवश नदी के किनारे जल पीने के लिये आया

[1] दण्डक वन को यमुना के दक्षिण से प्रारम्भ होकर गोदावरी तक फैला हुआ बताया जाता है। यह सम्पूर्ण प्रदेश वन था जिसमे जंगली जातियाँ (राक्षस) निवास करते थे और जगली जानवर विचरण करते थे।

हुआ कोई महिष या हाथी मेरे मार्ग में आ जाय। गोधूलि मे मैंने जल मे गलगलाहट का शब्द सुना। मैंने अपना धनुष लिया और उस शब्द की ओर लक्ष्य करके बाण छोड दिया। मानव का आर्त्तस्वर उस स्थान से निकला—मैंने एक मनुष्य की आवाज सुनी और एक बेचारा मुनि बालक बाण से विद्ध हो रक्तरञ्जित गिरा हुआ था। कराहते हुए उसने कहा, 'किस अपराध के लिए मुझ निर्दोष मुनि बालक की हत्या की जा रही है? सन्ध्या को मैं इस स्थान पर जल का घट भरने आया था परन्तु मुझे किसने बींध डाला? मैंने किसका अपराध किया है? ओः! मुझे अपनी मृत्यु का कष्ट नही है, किन्तु मुझे अपने बूढे और अन्धे माता-पिता की चिन्ता है जो मेरी मृत्यु पर जीवित नही रहेंगे। हाय! मेरे प्रिय माता-पिता का अन्त क्या होगा जिन्हें बहुत दिनो से मेरे हाथों का ही सहारा था? इस घातक बाण ने मुझे और उन्हे दोनो को मार डाला।' उस करुणापूर्ण वाणी को सुनकर मैं, दशरथ, जो किसी बालक या वृद्ध मनुष्य को कष्ट नही पहुँचाना चाहता था भय से किंकर्तव्यविमूढ हो गया। मेरे धनुष और बाण मेरे निश्चल हाथो से गिर पड़े। व्याकुल होकर मैं उस स्थान पर पहुँचा और वहाँ मैंने तट पर पडे हुए निर्दोष मुनिबालक को देखा। वह कष्ट से छटपटा रहा था, धूल और खून से लथपथ था, उसकी जटाएँ बिखरी हुई थी और टूटा हुआ घड़ा उसके पास पड़ा था। मैं अवाक् और मूक खडा था। उसने मेरे ऊपर आखे खोल कर दृष्टि डाली और तब मानो मेरी अन्तरात्मा को जलाने के लिये उसने कहा—'हे राजन् मैंने तुम्हारा क्या अपराध किया था कि तुम्हारे निर्दय करों से मैं शराबिद्ध हुआ। मुझ दुखी मुनि बालक पर तुमने बाण छोड़ा। इस बाण से पिता, माता तथा पुत्र तीनों का तुमने नाश कर दिया। मेरे माता-पिता कुटिया मे मेरे लौटने की प्रतीक्षा करते हुए बैठे हैं, उत्कण्ठा से मेरी बाट जोह रहे हैं—वे प्यास से व्याकुल हैं और भय से चिन्तित हो रहे है। मेरे पिता के पास जाओ—मेरी मृत्यु का समाचार कहो, अन्यथा उनका घोर शाप तुम्हे भस्म कर देगा जैसे अग्नि की लपट सूखे काठ को जला देती हैं। किन्तु पहले कृपा करके मेरे वक्ष में लगे हुए इस बाण को निकाल दो जिसके कारण निकलते हुए प्राण कूलों द्वारा अवरुद्ध सरिता के समान अटके हुए हैं।'[1] यह कह कर वह चुप हो गया और जब उसने कष्ट से अपनी आँखे बन्द की और लड़खडाकर पृथ्वी पर लोट गया, मैंने उसके पार्श्व मे लगे बाण को निकाला। तब दयापूर्ण दृष्टि से उसका मुख भयाकुल हो गया। उसकी मृत्यु हो गई।

---

[1] मैंने बालक के इस वर्णन को छोड दिया हैं कि वह ब्राह्मण नही था अपितु एक वैश्य द्वारा शूद्रा स्त्री से उत्पन्न था (२.६३,४८ इत्यादि)।

अपने हाथो मूर्खतावश हुए इस अपराध से खिन्न होकर मैने मन मे सोचा, 'मै अपने अपराध को किस प्रकार दूर करूँ', और तव मैने उसके वताये हुए मार्ग से आश्रम की ओर प्रस्थान किया । वहाँ मैने उसके माता पिता को देखा । वे वृद्ध और अन्धे थे । वे दो परकटे पक्षियों की तरह वैठे थे जो अपने मार्ग-दर्शक के आगमन की उत्सुकता से प्रतीक्षा और अपनी चिन्ता को दूर करने के लिये उसके विपय मे वार्तालाप कर रहे थे । उन्होने शीघ्र ही पगध्वनि पहचान ली और मैने वृद्धपुरुप को उलाहना भरी वाणी मे यह कहते सुना :—'वेटा ! तुमने क्यो देर लगा दी ? जल्दी करो, हम दोनो को कुछ जल पीने को दो । हमे भूलकर कहाँ पडे रहे तुम, क्या ठंडी नदी मे खेलने लगे ? आओ, तेरी माँ अपने वेटे को ढूँढ रही है । यदि उसने या मैंने तुझे कोई कष्ट दिया हो या कठोर वचन कहे हो, तो अपने मुनियो के क्षमाव्रत का विचार कर उन पर ध्यान न दो, हम असहायो के लिए तुम्ही सहारा हो । अन्वे पिता के नेत्र ! तुम चुप क्यो हो ? वोलो ! तेरे मातापिता दोनो के जीवन तुझमे ही तो वँधे हैं ।' वृद्ध पिता यह कहकर मौन हो गया । मै अवाक् खडा रहा । अन्त मे साहस वटोरकर लड़खड़ाती हुई वाणी मे मैंने कहा—'हे पवित्र और श्रेप्ठ मुनि ! मैं आपका पुत्र नही । मै राजा हूँ । वनुप वाण लेकर मृगया के लिए नदी तट पर विचरण करते हुए मैने अज्ञानवश आपके पुत्र को वाण से विद्ध कर डाला है । और आगे कुछ कहने की आवश्यकता नही । आप मुझपर दया करें ।' मेरे इन परुप वचनो को सुनकर, अपने नाश पर विलाप करते हुए वे थोड़ी देर के लिए मूर्च्छित हो गये । तव उच्छ्वास लेकर अश्रुस्नात मुख से वे वोले' 'यदि तू स्वयं समाचार को सुनाने न आया होता तो इसके पाप के भार ने तेरे सिर के दस हजार टुकड़े कर दिया होता । हे राजा, तूने यह दुर्भाग्यपूर्ण कार्य अज्ञानवश किया है अन्यथा तू वचता नही और सम्पूर्ण राघवकुल का नाश हो जाता । हमे उस स्थान पर ले चलो । यद्यपि वह रुधिर से लथपथ प्राणहीन पडा है, तथापि हम उसे देखेंगे ?[१] अपने पुत्र को अन्तिम वार देखेंगे और उसका आलिङ्गन करेंगे ।' तव विलाप करते हुए उस दम्पति को मैं उस स्थान पर ले आया। वे अपने पुत्र के ऊपर गिर पडे । स्पर्श से रोमाञ्चित होकर पिता विलाप करने लगा—'मेरे वेटे, हमारा अभिनन्दन क्यो नही करते, वोलते क्यो नही ? यहाँ पृथ्वी पर क्यो लेटे हो ? क्या रूठ गये हो ? या अव हमसे तुम प्रेम नहीं रखते । मेरे वेटे ! देखो यह तेरी माता है । तुम सदैव हमारी आज्ञा मानते थे, हमसे लिपटते क्यो नही ? एक शब्द भी वोलो ।

---

[१] इसका शाब्दिक अनुवाद किया गया है । तात्पर्य यह है कि अन्धे व्यक्ति भी सामान्यत: इस प्रकार वातें करते हैं मानो वे देख सकते हो ।

कौन प्रात.काल हमे शास्त्र पढकर सुनायेगा ? कौन मेरे लिए कन्द-मूल लाकर प्रिय अतिथि के समान खिलायेगा ? मैं दुर्बल और अन्धा तेरी बूढ़ी और पुत्र के लिए दु:खी माता को कैसे सँभालूँगा ? रुको, अभी यम के यहाँ न जाओ; एक दिन और अपने माता पिता के साथ रहो। कल हम दोनों भी तुम्हारे साथ उस रास्ते पर चलेंगे। निराश, दु:खी, पुत्र से परित्यक्त और इस वन में किसी रक्षक के बिना हम दोनो भी यमराज के घर पहुँच जायेंगे।' इस प्रकार विलाप करते हुए उन्होने अन्त्येष्टिकर्म किया। मेरी ओर मुड़कर आदर से निकट खड़े हुए मुझे सम्बोधित कर दु:खी पिता ने कहा—'मेरे एक ही पुत्र था और तुमने मुझे पुत्रहीन कर दिया, अब इस बाप को भी मार डालो, मुझे मृत्यु से कोई कष्ट नही होगा। तुझे फल यह मिलेगा कि पुत्र वियोग का दु:ख तुझे भी एक दिन मृत्यु के घर पहुँचा देगा।'

अपने प्रारम्भिक जीवन की यह हृदयद्रावक कथा कहने के पश्चात् राजा दशरथ दु:ख से दग्ध होकर मूर्च्छित होते है और मर जाते है।[1]

इसके तत्काल बाद मन्त्रिगण जुटते हैं और यह निर्णय करते है कि भरत शासनसूत्र सभाले (२ ७९) किन्तु वे अपने ज्येष्ठ भ्राता राम को उनके न्यायोचित उत्तराधिकार से वञ्चित करना अस्वीकार कर देते है और राम को वापस बुलाने के लिये सेना सहित प्रस्थान करने का अपना अभिप्राय एवं उनके स्थान पर स्वय चौदह वर्ष की निश्चित निर्वासन की अवधि वन मे व्यतीत करने के निश्चय की घोषणा करते है (२ ७९,८ ९)।

कुछ कठिनाई के उपरान्त वे चित्रकूट मे राम के चरणचिह्न ढूँढ लेते है।[2] वही वे राम को अपने पिता की मृत्यु का दु:खमय समाचार सुनाते हैं और

---

[1] उसका शरीर बडे समारोह के साथ जलाया जाता है। इस काव्य की प्राचीनता के प्रमाणस्वरूप हम पहले यह देख चुके है कि उनकी विधवा पत्नियाँ उनके साथ नही जलायी जाती हैं (दे० पृ० ३०६)।

[2] चित्रकूट नाम की निर्जन पहाड़ी राम के भक्तो के लिए पवित्रतम स्थान हैं, और इस स्थान पर लक्ष्मण के मन्दिरों की भरमार है। प्रत्येक गुफा के साथ उनके नाम जोड दिये गये हैं। ऊँचाई पर बन्दर रहते है और कुछ वन्य फलो को अब भी सीताफल कहते हैं। यह पिशुनी नामक नदी पर स्थित है, जिसे मन्दाकिनी (२.९५) कहा गया है और जो बुन्देलखण्ड के बाँदा शहर से पचास मील दक्षिण पूर्व को है, २५ १२' अक्षाश, ८०.४७° देशान्तर। नदी के किनारे घाट है और सीढियाँ है जिन पर तीर्थ स्नान किया जा सकता है। यह ध्यान देने योग्य है कि कुछ पवित्र स्थानो पर हिन्दू लोग सभी प्रकार के वर्णभेदो को ताक पर रख देते है।

उनसे अयोध्या लौटने एवं राज्यसत्ता ग्रहण करने की प्रार्थना करते हैं (१०२)।

तब दोनो भाइयो मे एक उदारतापूर्ण होड़ होती है : भरत राम से सिंहासन ग्रहण करने की प्रार्थना करते है और राम अपने पिता की प्रतिज्ञा का पालन करने के कर्त्तव्य पर जोर देते है (१०६, १०७)।

यही वह कथा आती है जिसमे जावालि ब्राह्मण, जो संशयवाद के एक प्रकार से मूर्त रूप हैं, अपने लघु सभापण मे (२.१०८) राम मे नास्तिक तथा धर्मविरुद्ध भावनाएँ इस आशा से भरना चाहते हैं कि वे शायद दृढप्रतिज्ञा से विचलित हो जॉय और राज्य स्वीकार कर ले। उनका भाषण इस कारण रोचक है कि वह रामायण के ब्राह्मणीय संस्करण पूरा होने के समय मे प्रचलित नास्तिक एवं भौतिकवादी सिद्धान्तो का द्योतक है। सक्षेप मे उनका भाषण इस प्रकार है :—

"तुम्हे अपने पिता के राज्य को छोड़कर अनुचित मार्ग पर नही जाना चाहिए जो कठिनाइयो और दु खो से भरा है। अपना अयोध्या मे राज्याभिषेक होने दीजिये। दशरथ (तुम्हारे पिता) मर चुके है और वे तुम्हारे कुछ नही हैं और न तुम उनके लिये कुछ हो। कोई व्यक्ति जो किसी दूसरे व्यक्ति से मोह रखता है, मूर्ख होता है क्योकि कोई किसी का कुछ नही होता। मैं उनके लिए रोता हूँ जो सदाचार और न्याय से विचलित नही होते। ऐसे व्यक्ति इस लोक मे कष्ट पाते हैं और जब वे मरते हैं तो उनका पूर्णतया नाश हो जाता है। मनुष्य बड़े यत्न से अपने पितरो का तर्पण करते हैं, किन्तु मृत व्यक्ति को भोजन की क्या आवश्यकता ? यदि इस लोक मे दी गयी बली दूसरे के शरीर मे पहुँच जाती है तब दूर देश की यात्रा करनेवाले व्यक्ति के लिये भी श्राद्ध किया जाय; उसे अपनी यात्रा मे भोजन करने की आवश्यकता नही होनी चाहिए (तुलना—चार्वाको का दर्शन, पृ० १२७)। पुरोहित द्वारा रचित पुस्तके (जिनमे लोगो को पूजा करने, दक्षिणा देने, यज्ञ करने, व्रताचरण करने तथा संसार का त्याग करने का उपदेश दिया गया है) दक्षिणा इकट्ठा करने (दानसंवनना) के साधन हैं। मन मे बैठा लो (कुरु बुद्धिम्) कि मृत्यु के उपरान्त किसी का अस्तित्व नही रहता। उन्ही वस्तुओ को मानो जो इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्ष है। इसके अतिरिक्त अन्य वस्तुओ की ओर पीठ फेर लो (पृष्ठत. कुरु)। (देखिए जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसाइटी, भाग १९, पृ० ३०३ मे डॉ मूइर का लेख)।

राम का उत्तर, जिसमे वे जावालि की घृणापूर्वक भर्त्सना करते हैं, धर्म तथा विश्वास का एक सुन्दर प्रतिपादन है, किन्तु उनका बुद्ध का उल्लेख तथा

बुद्ध के लिए चोर शब्द का प्रयोग (२.१०८, ३३) बाद का क्षेपक माना जाना चाहिए।[१]

अन्त मे भरत अपने भाई से सिंहासन ग्रहण करने के लिए आग्रह करने से विरत होते है किन्तु स्वयं केवल राज्य का भार एक न्यास रूप मे लेने को सहमत होत है। इसके चिह्न रूप मे राम की पादुका सिर पर लेते हैं (११३ १) और अयोध्या के बाहर नन्दिग्राम मे उस समय तक निवास करते हैं जब तक न्यायोचित राजा लौट नहीं आते। वे कोई कार्य पहले पादुका के सम्मुख रखे विना नही करते (११५)। उन्हे विदा करने के पूर्व क्षमाशील राम उनसे प्रार्थना करते हैं कि वे अपनी माता पर, पारिवारिक विपत्ति उत्पन्न करने के लिये क्रुद्ध न हो। वे कहते है .—

'अपनी माता कैकेयी के प्रति प्रेम रखना, उनके प्रति घृणा न दिखाना' (२ ११२,२७)।

भरत के लौट आने के बाद राम के वनवास के दस वर्ष एक आश्रम से दूसरे आश्रम मे भ्रमण करते हुए बीत गये। वनवासो के शान्त जीवन के वर्णन मे उनके प्रात. तथा सायंकाल के सन्ध्यावन्दन का वर्णन कही भी छोड़ा नही गया है। सीता अपना कर्तव्यपालन करती हुई अपने पति तथा देवर की सेवा करती है और कभी उनके भोजन करने के पूर्व भोजन नही करती।[२] जब वे चलते है तो राम सबसे आगे चलते हैं, सीता बीच मे रहती हैं और लक्ष्मण पीछे (३.१५,१)। अन्त मे वे पश्चिम की ओर विन्ध्य पर्वतो के निकट अगस्त्य मुनि के आश्रम मे पहुँचते है। वे राम को वनवास की अवधि मे गोदावरी के तट पर, जनास्थान के निकटवर्ती पञ्चवटी मे निवास करने की सलाह देते हैं[3] (१९)। इस प्रदेश मे राक्षस विचरण करते है और अन्य राक्षसो मे रावण की बहन शूर्पणखा भी आती है जो राम के लिए काम-पीडित हो जाती है। वे उसे यह कहकर टाल देते हैं कि वे विवाहित है (२४.१)। किन्तु इससे शूर्पणखा के मन मे ईर्ष्या होती है। वह सीता पर आक्रमण करती है, और इस प्रकार क्रोधी लक्ष्मण को भड़का देती है जिससे वे

---

[१] हेतुवादी सिद्धान्तो के अन्य उल्लेख सम्पूर्ण रामायण मे यत्रतत्र मिल जायेगे।

[२] यह प्रथा आज भी अपरिवर्तित है। मनु० ४.४३ से तुलना कीजिए 'अपनी पत्नी के साथ भोजन न करे और उसके भोजन करते समय उसे न देखे।

[3] यह आजकल का नासिक नाम का स्थान है जो बम्बई प्रेसिडेंसी मे है।

विना विचारे उसकी कान और नाक काट लेते है[1] (२४.२२)। शूर्पणखा कष्ट से भागती हुई, प्रतिशोध का निश्चय कर अपने भाई, लका के राक्षस-राज रावण, के पास पहुँचती है।

रावण का वर्णन (३.३६; बम्बई संस्करण ३२) इस प्रकार है :—

इस विशाल राक्षस के दस मुख, वीस भुजाएँ थी। ताम्रवर्ण की आखें, विशाल वक्षस्थल, और नये चन्द्रमा के समान चमकते हुए दाँत थे। उसका शरीर घने वादल या पर्वत या खुले मुख वाले यमराज के समान था। उसमे राजा के सभी लक्षण थे किन्तु उसके शरीर पर देवताओ के साथ युद्ध में लगे हुए दिव्यास्त्रो के प्रहार से वनी चोटो के चिह्न थे। उस पर इन्द्र के वज्र के आघात का चिह्न था, ऐरावत (इन्द्र के हाथी) के सूड के चोट का चिह्न था तथा विष्णु के चक्र के आघात का चिह्न था। उसकी शक्ति इतनी अधिक थी कि वह समुद्र मे क्षोभ उत्पन्न कर सकता था, पर्वतशिखरो को तोड सकता था। वह सभी नियमो का उल्लङ्घन करनेवाला तथा परस्त्रियो का अपहरण करने वाला था। एक वार उसने भोगवती (पाताल मे सर्पों की राजधानी) मे प्रवेश किया, वासुकि नाग को जीता और तक्षक की प्रिय पत्नी का अपहरण किया। उसने वैश्रवण (अर्थात् अपने ही भाई, धन के देवता कुवेर) को पराजित किया और पुष्पक नाम के स्वत.चालित रथ को उठा ले गया। उसने चित्ररथ के कुञ्जो तथा देवो के उपवन को उजाड़ डाला। पर्वतशिखर के समान ऊँचे अपने हाथों से सूर्य तथा चन्द्रमा को उनके मार्ग मे रोक दिया और उन्हे उगने नही दिया। सूर्य जब उसके प्रासाद के ऊपर से गुजरता तो अपनी किरणो को मन्द कर लेता। उसने गोकर्ण नामक वन मे पञ्चाग्नि के वीच मे खडे होकर दस हजार वर्षों तक घोर तपस्याएँ की (दे० पृ० १०१) उसने अपने पैर ऊपर बाँध रखे थे, ब्रह्मा ने उसे वन्धन से मुक्त कर दिया। रावण ने ब्रह्मा से (अन्य वरो के साथ, दे० पृ० ३३६) इच्छानुकूल रूप धारण करने की शक्ति का वरदान मे माँगा।[2]

[1] इस घटना के कारण ही पञ्चवटी को आजकल नासिक (नासिका = नाक) कहते है।

[2] इस वर्णन के अश की तुलना मिल्टन द्वारा प्रस्तुत सेटन (Satan) के चित्र से किये विना नही रहा जा सकता। अंग्रेजी कवि की भव्य कल्पना वाल्मीकि की असंस्कृत अतिशयोक्तियो से विपर्यास प्रस्तुत करती है। ३ ५३ (गोरेसिओ) से यह प्रकट होता है कि रावण विश्रवस् का पुत्र था जो पुलस्त्य का पुत्र था, और पुलस्त्य ब्रह्मा के पुत्र थे। इस कारण रावण कुवेर देवता का भाई था (यद्यपि उसकी माता भिन्न थी) और ३० वें श्लोक मे

शक्तिशाली रावण की सहायता प्राप्त करने के लिये शूर्पणखा उसमे सीता का हरण करने की इच्छा जाग्रत करने मे सफल होती है, (३.३८, १७)। रावण सीता का हरण करने का निश्चय करता है। कठिनाई से दूसरे राक्षस मारीच—जो पहले राम द्वारा मारे गये (१.२७,८) ताड़का का पुत्र था—की सहायता प्राप्त कर रावण अपने सहायक के साथ दिव्य वाहन, पुष्पक, से राम की कुटिया के निकट रथ से उतरता है। मारीच एक सुन्दर स्वर्णमृग का रूप धारण करता है, जो सीता को आकृष्ट कर लेता है (३.४८,११)। राम उस मृग को पकडने या मारने के लिए सीता को लक्ष्मण के पास छोड़कर चल पडते है। राम के वाणो द्वारा बिद्ध होकर राम की वाणी का अनुकरण कर सहायता के लिये वह पुकारता है जिससे सीता इतनी शङ्काकुल हो जाती है कि लक्ष्मण को उनकी इच्छा के विरुद्ध उन्हे अकेले छोडकर अपने भाई की सहायता के लिए जाने को वाध्य करती है। इसी बीच रावण एक भिक्षुक साधु के रूप मे प्रकट होता है। जैसे ही वह आगे बढता है सभी प्रकृति भयाकुल प्रतीत होती है (३.५२,१०.११) और जब सीता की आखे उस अपरिचित व्यक्ति पर पड़ती है वह चौंक पडती हैं। किन्तु उसके संन्यासी के वस्त्रों से वे विश्रब्ध हो जाती है और उसे भोजन तथा जल देती है। सहसा रावण अपने को प्रकट करता है। अपना छद्मवेश दूर कर वह उन्हें अपनी रानी बनाने का निश्चय प्रकट करता है। सीता का क्रोध फूट पडता है किन्तु भयंकर रावण के सामने उनके क्रोध की एक नही चलती। रावण उन्हें भुजाओ से उठाता है, उन्हे अपने स्वचालित रथ में बैठाता है, और आकाश मार्ग से अपनी राजधानी को ले जाता है। जब सीता ले जाई जाती हैं तो वे आकाश तथा पृथ्वी, पर्वत तथा नदियो को पुकारती है (५५.४३)। देवता और ऋषि देखने आते है और भय से व्याकुल हो जाते हैं किन्तु वे भयके विपरीत भी यह जानते है कि यह रावण के वध की योजना का एक अंश है। सम्पूर्ण प्रकृति कॉपने लगती है, सूर्य मण्डल मन्द हो जाता है, आकाश मे अन्धकार छा जाता

वह अपने को कुवेर का भाई तथा शत्रु वताता है। उसे और कुवेर दोनो को कई स्थलो पर पौलस्त्य कहा गया है। विभीषण और कुम्भकर्ण भी रावण के भाई थे, और उसके समान ही उन्होने भी ब्रह्मा को तपस्या द्वारा प्रसन्न किया और उसी के समान वर प्राप्त किया किन्तु विभीषण ने यह वर मांगा कि वह धर्म के मार्ग से कभी [illegible] हो। कुम्भकर्ण (जिसका शरीर विशाल था और जो वहुत भ[illegible] था) यह वर मांगा कि वह वहुत दिनों तक निद्रा का आनन्[illegible] भारत)।

है (५८.१६–४३)। यह अधर्म की धर्म पर क्षणिक विजय है। स्वयं स्रष्टा जगते हैं और कहते हैं 'पाप का घडा भर गया।' (३ ५८,१७)।

राक्षस-नगरी में आकर रावण सीता को अपनी राजधानी के आश्चर्यों एवं सौन्दर्यों का निरीक्षण करने के लिये वाध्य करता है (३. ६१)। वह वचन देता है कि यदि वे उसकी रानी वनना स्वीकार कर लें तो वह सव वैभव उनका हो जायगा। अनादरपूर्वक ठुकराया जाकर वह क्रुद्ध हो जाता है और सीता को राक्षसियो के एक दल के हाथ मे सौंप देता है जो रूप से भयंकर तथा मनुष्यभक्षण करने वाली हैं (३.६२,२९–३८)। उनकी यातनाओं से पीडित होकर सीता प्राय: निराशा से मृत्यु के निकट आ जाती हैं। किन्तु दया से भरकर ब्रह्मा उनके पास इन्द्र को निद्रादेवी[१] तथा दिव्य फलों से भरे पात्र के साथ भेजते है जिससे (६३,७ ८) उनकी शक्ति वनी रहे।

सामान्यत: शान्त रहने वाले राम जब लौटने पर सीता के रावण द्वारा हर लिये जाने की वात जानते है तो उनका क्रोध उग्र रूप धारण कर लेता है (६९)। वे और लक्ष्मण उनका उद्धार करने के निश्चय से ढूंढने निकल पडते है। अनेक साहस पूर्ण कार्यो मे वे शिरहीन राक्षस कवन्ध से युद्ध करते हैं, जो उनके मार्ग को रोकता है, मारा जाता है और फिर उनके द्वारा स्वर्ग प्राप्त करता है (३.७४)। इसके वाद वे वानरो (वनवासियो) के राजा सुग्रीव के साथ मित्रता करते हैं तथा एक वानरसेनापति, हनुमान, की और रावण के भाई विभीषण की सहायता पाकर लङ्का मे रावण की राजधानी पर-आक्रमण करते हैं (४ ६३)।

सेना को समुद्र के पार भेजने के लिए विश्वकर्मन् के पुत्र वानरसेनापति नल की देखरेख मे एक सेतु का निर्माण होता है :—

हजारो सेतु वाँधनेवाले वानर आकाश मे प्रत्येक दिशा मे उड़कर शिला-खण्डो और वृक्षो को तोड रहे हैं और उन्हे जल मे फेंक रहे है। हिमालय से विशाल शिलाखण्डो को लाने मे कुछ अचानक गिर गये हैं और आज भी उस शौर्य के स्मारक है। अन्त मे वीस योजन लम्वा और दस योजन चौड़ा सेतु[२] वनता है (५.९५ ११–१५) जिससे सेना सागर को पार करती है।

---

[१] इसी प्रकार ओडिसी (४.७९५) मे पेनेलोप को सान्त्वना देने तथा जीवन प्रदान करने के लिये मिनर्वा एक स्वप्न भेजती है।

[२] समुद्र के देवता ने पहले सेतुबन्ध का विरोध किया (५.९४ ८) यद्यपि सेतु का निर्माण वाद मे हो गया था; इस स्रोत (चैनल) मे पत्थरो की पक्ति को भारत मे रामसेतु कहा जाता है। नक्शो मे इसे आदम का पुल (Adam's Bridge) कहते हैं। भारत मे सर्वत्र असंबद्ध पर्वतो के अंश पड़े है जिन्हे

विभीषण सबका नेतृत्व करते है। देवता, ऋषि, पितृगण आदि देखते हैं और यह प्रख्यात भविष्यवाणी करते है :—

'जबतक सागर रहेगा तबतक यह सेतु रहेगा और राम के यश का गान होगा[१]।'

अनेक कार्यों के बाद, जिनका लम्बा और अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया गया है, राम और रावण का महायुद्ध होता है—

देवता राम का पक्ष लेने के लिये एकत्र होते है और सभी राक्षस तथा दुष्ट दैत्य अपने स्वामी की सहायता करते है (६. ८७. ८)। रावण मानव मुखवाले घोडो द्वारा (मनुष्यवदनैर्हयैः) खींचे जाने वाले रथ पर बैठा है और इस विचार से कि दोनो प्रतिपक्षी समान रूप से लड़े इन्द्र अपना रथ अपने सारथि, मातलि; द्वारा राम के लिये भेजते हैं। दोनो सेनाएँ ऊपर देखने के लिए युद्ध बन्द करती हैं किन्तु देवता या राक्षस अपने-अपने पक्ष का समर्थन करते है और उनका युद्ध फिर शुरू हो जाता है।[२] अब वे दोनो वीर एक दूसरे पर बाणो

देशनिवासी राम का सेतु बनानेवालो द्वारा गिराये गये बताते हैं। इससे भी बढकर मथुरा के निकट गोवर्धन पहाड़ी और मध्यभारत मे सम्पूर्ण (कैमूर) पर्वतश्रेणी की उत्पत्ति का भी यही कारण बताया जाता है।

[१] समुद्र की गोद मे रामेसुरम (रामेश्वर) या राम का स्तम्भ स्थित है, जिसकी पश्चिमी हरकुलीस के स्तम्भो के समान प्रतिष्ठा है। आज भी वहाँ एक साइक्लोपस की शैली का विशाल मन्दिर खड़ा है, जिसे राम द्वारा निर्मित बताया जाता है। इस मन्दिर की मूर्ति को प्रतिदिन गंजाजल से नहलाया जाता है। सबसे ऊँचे शिखर से दूर-दूर तक समुद्र और मनार की खाड़ी के आरपार फैली चट्टानो की अटल श्याम रेखा दिखाई पड़ती है। उस स्थान पर भारत के सभी भागो से मनुष्य तीर्थयात्रा के विचित्र लोभ से आते है। यमुना के निकट छतरकोट (चित्रकूट) से यहाँ तक एक सौ श्रेणियाँ बताई जाती है। मैंने कुछ ऐसे लोगो से बातचीत की है जिन्होने इस आश्चर्यजनक कार्य को पूरा किया था, किन्तु बहुत से लौटते नही; या तो रास्ते मे मर जाते है या मार्ग के किनारे किसी आश्रम मे हतोत्साहित होकर निवास करते है। इसकी उत्पत्ति जो कुछ भी रही हो किन्तु एक चट्टानी अवरोध है जिससे गंगा के मुहाने से जाने-आनेवाले जहाजो को लंका द्वीप का चक्कर लगाना पड़ता है' (तुलना—कलकत्ता रिव्यू ४५)।

[२] ठीक ऐसी ही घटना इलियड मे एचीलिज तथा हेक्टर के महान् युद्ध के पूर्व घटित होती है। देवता लोग दोनों पक्षो मे अपना-अपना स्थान ग्रहण करते

की वर्षा करते है। राम रावण के धड़ से एक के बाद एक सौ सिर उड़ाते हैं किन्तु ज्यों ही एक सिर कटता है दूसरा उसके स्थान पर प्रकट हो जाता है[1] (९२.२४) और युद्ध, जो सात दिन और सात रातो से निरन्तर चलता आया है, विना अन्त के वढता चला जाता है। अन्त मे मातलि राम को वताता है कि रावण की मृत्यु सिर पर मारने से नही हो सकती। तव राम अगस्त्य से प्राप्त भयकर ब्रह्मास्त्र[2] छोड़ते हैं और राक्षराज भूलुण्ठित हो जाता है (९२.५८)।

रावण के भूमि पर गिरने के पूर्व अनेक उत्पात एवं अद्‌भुत घटनाएँ होती हैं और जब विजय पूरी होती है तो पुष्पो की वर्षा विजेता को ढँक लेती है। दयालु राम अपने शत्रु की समारोह सहित अन्त्येष्टि कराते है, उसका शव उचित ढंग से जला दिया जाता है।[3] राम विभीषण को लंका की राजगद्दी पर बैठाते हैं (६. ९७.१५)। राम तव सन्देश के साथ हनुमान् को सीता के पास भेजते हैं और विभीषण सीता को एक पालिका (शिविका) मे बैठाकर उनके सम्मुख लाते हैं किन्तु राम उन्हे अपने पास पैदल आने की आज्ञा देते हैं जिससे सम्पूर्ण सेना उन्हे देख सके।

वानर सीता के चारो ओर घिर आते है और उनके अद्वितीय सौन्दर्य की प्रशंसा करते हैं जो इस सघर्ष, युद्ध और स्वयं उनके कष्ट का कारण वना था।[4] उन्हे देखकर राम दया से द्रवीभूत हो उठते हैं। तीन भावनाएँ उनके मन को व्याकुल करती हैं—हर्ष, शोक और क्रोध (९९.१९)—परन्तु वे अपनी पत्नी स कुछ कहते नही हैं। सीता, अपनी पवित्रता को समझती हुई राम के इस निष्ठुर आचरण से दुःखी होती हैं और 'हा आर्यपुत्र' कहकर अश्रुपात करने लगती है। राम तव परुष वचनो मे उत्तर देते है कि अपनी पत्नी का हरण करने वाले राक्षस का वध कर अपने प्रतिष्ठा की रक्षा करने के अतिरिक्त वे

हैं (इलि० २०)। होमरीय वर्णन की भारतीय काव्य की असगत कल्पनाओं के साथ तुलना एक रोचक विषय है।

[1] इससे हरकुलीस और हेड्रा (Hydra) का स्मरण हो आता है।

[2] यहाँ इसे 'पैतामहमस्त्रम्' कहा गया है, पवन को इसका पतत्र वताया गया है, अग्नि और सूर्य को इसका अग्रभाग, वायु को शरीर, तथा मेरु एवं मन्दर पर्वतो को इसका वजन वर्णित किया गया (६. ९२. ४५)। इसमे एक लाभपूर्ण वात यह थी कि अपना कार्य करके यह पुनः वाण छोड़नेवाले के तरकस मे लौट आता था। इस अमोघ अस्त्र के अनेक रूप दिखाई पड़ते हैं।

[3] मृत हेक्टर के प्रति एचिलीज़ के व्यवहार से इसका विपर्यास देखे।

[4] सम्पूर्ण दृश्य इलियड३ १२१ आदि से वहुत मिलता है, जहाँ हेलेन स्वयं प्राकार पर आती है और इसी प्रकार की प्रशंसा प्राप्त करती है।

और कुछ नहीं कर सकते। वे उन्हें अपने साथ नहीं ले जा सकते क्योंकि वह अवश्य दूषित हो गई होगी (६.१००)। सीता अपनी निर्दोषता की पुष्टि ओजस्वी एवं हृदयद्रावक भाषा मे करती है और लक्ष्मण से एक चिता तैयार करने लिये कहती है जिससे वे अपनी शुद्धता की परीक्षा दे सके। वे अग्नि का आह्वान करती हुई ज्वाला में प्रवेश करती हैं (१०१) जिसके बाद वृद्ध दशरथ सहित सभी देवता प्रकट होते है और राम को बताते है कि वे स्वयं भगवान् नारायण[1] के अवतार हैं और सीता लक्ष्मी हैं (१०२)। अग्नि देवता, सीता को लेकर प्रकट होते हैं और वे उन्हे राम की गोद मे सुरक्षित रख देते हैं।[2] तब राम अत्यन्त प्रसन्न होते है और बताते है कि वे अग्निपरीक्षा इसलिये लेना चाहते थे कि संसार की नजरों मे अपनी पत्नी की निर्दोषता सिद्ध कर सकें (१०३)। तब दशरथ अपने पुत्र को आशीर्वाद देते हैं और उत्तम परामर्श देकर स्वर्ग लौट जाते हैं (१०४)। राम के कहने पर इन्द्र युद्ध मे मृत सभी वानरो को पुन: जीवित कर देते है (१०५)।

विभीषण, सुग्रीव तथा सहायको सहित राम और लक्ष्मण अपने आप चलने वाले पुष्पक विमान पर चढते हैं, जिसके भीतर पूरा महल बने होने का वर्णन किया गया है। इस प्रकार वे अयोध्या को लौटते हैं। जब वे आकाश मार्ग से चलते हैं तो मार्ग के खेद को दूर करने के लिये राम नीचे दिखाई पडने वाले उन दृश्यो को दिखाते चलते है जहाँ उन लोगो ने पहले निवास किया था (१०८)।[3] प्रयाग मे भरद्वाज के आश्रम पर पहुँचकर विमान रुक जाता है और वनवास के चौदह वर्ष पूरे हो जाते है (१०९)। हनुमान् को भरत को उनके लौटने की सूचना देने के लिये भेजा जाता है। राम और उनके तीनो भाई फिर एक बार मिलते है। अपने भाइयो, सीता, तथा मानव शरीर धारण

---

[1] इसके पूर्व कि देवता उन्हे उनके देवत्व का बोध करावें वे इसका ज्ञान रखते नही दिखाई पड़ते (देखिये ६.१०२,१०;११९)। महाभारत मे कृष्ण के विषय मे ऐसी बात नही है। जैसा कि हम देख चुके है, यह सम्भव है कि ये सभी अंश परवर्ती क्षेपक हो।

[2] राम द्वारा सीता के तिरस्कार का सम्पूर्ण दृश्य निश्चय ही रायायण के सुन्दरतम दृश्यो मे से एक है।

[3] कालिदास ने अपने 'रघुवंश' का प्राय सम्पूर्ण तेरहवाँ सर्ग इस विषय में लगाया है, जिसे वे अपना भौगोलिक तथा स्थानवर्णन का ज्ञान प्रदर्शित करने का एक बहाना बनाते है जैसा कि उन्होने मेघदूत मे किया है। भवभूति ने अपने महावीरचरित नाटक के सातवे अक मे भी यही किया है और मुरारि ने भी इसी विषय के सम्बन्ध अपने नाटक मे इसका वर्णन किया है।

करने वाले वानरों के साथ (११२.२८) वे बड़े समारोह के साथ अयोध्या मे प्रवेश करते है। तब उनका राज्यारोहण होता है। वे लक्ष्मण को राजकार्य मे साथ रखते हैं और अपने सहायकों को विदा करने के पूर्व उन्हे बहुमूल्य उपहार देते हैं (११२)। हनुमान् अपनी ही प्रार्थना पर अमर जीवन और युवावस्था का उपहार प्राप्त करते हैं (११२,१०१)। सभी अपने-अपने घर को प्रसन्न चित्त तथा उपहारो से लदे हुए लौटते है और राम अयोध्या पर सुखपूर्ण राज्य प्रारम्भ करते हैं (११३)।

रामायण के उत्तरकाण्ड या पूरक अध्याओं को छोड़कर, जिनमें राम के जीवन की अन्तिम घटनाएँ हैं, रामायण की यही संक्षिप्त रूपरेखा है (दे० पृ० ३३०)। कथा के परवर्ती विवरण अतिशयोक्तिपूर्ण हैं यद्यपि उसका बहुत बड़ा अंश, जैसा हम पहले कह आए है, ऐतिहासिक तथ्य की नींव पर आधृत है।

यह भी स्पष्ट है कि सम्पूर्ण कथा का लक्ष्य एक नैतिक शिक्षा प्रदान करना है। सभ्य राम की सेना तथा राक्षस रूप मे वर्णित दक्षिण की असभ्य जातियो के संघर्ष की कथा के रूप मे धर्म और अधर्म की शक्तियों के बीच निरन्तर चलते रहने वाले संघर्ष के महान् रहस्य का एक प्रतीकात्मक चित्रण दिखाई पडता है। किसी भी प्रतीकात्मक या लाक्षणिक कल्पना के सम्बन्ध मे—यथा राम सौर शक्ति के मूर्त रूप मात्र हैं.[१] सीता उत्तर भारत से दक्षिण भारत की

---

[१] नि सन्देह सूर्यवंशी राजा हैं किन्तु यह महाकाव्यीय विष्णु का (जिनका अवतार राम को माना जाने लगा) वेद के सौर विष्णु से सम्बन्ध प्रदर्शित करता है। प्रोफेसर वेबर का कथन है कि चूंकि राम को आगे चलकर रामचन्द्र कहा गया है और एक स्थान पर केवल चन्द्र ही कहा गया है, अत: उनके चरित्र की प्रमुख विशेषता, विनय, का कारण यह मानकर स्पष्ट किया जा सकता है कि वे चन्द्रमा के एक रूप थे, और तैत्तिरीय ब्राह्मण (दे० पृ० ३३८ टि०) मे सीता (हल से बनी हुई कुंड) का चन्द्रमा के प्रति प्रेम वर्णन करने वाली कथा को कुछ उत्साही देवशास्त्रवेत्ता रामायण की कथा का प्रथम बीज मान सकते है। सौन्दर्यवर्धक लेप (अंगरागा) जो अत्रि की पत्नी अनुसूया ने सीता के अंगो में लगाया (३ २) वह कुण्ड पर पड़ी हुई ओस की बूंदो को द्योतित करता है, जिनमे चन्द्रमा प्रतिबिम्बित होता है। तथापि वेबर का विचार है कि यत· रामचन्द्र नाम बहुत बाद के समय तक राम के लिए नहीं प्रयुक्त हुआ था (इसका प्रथम प्रयोग भवभूति के महावीर चरित ३.१२ मे मिलता है) इसलिए इसके विपरीत बात सही हो सकती है, अर्थात् यह कि ब्राह्मणो की काव्यीय भावना ने राम को केवल उनके स्वभाव की नम्रता के कारण चन्द्रमा से उन्हे सम्बद्ध कर दिया।

ओर बढने वाली जातियो द्वारा कृषि या सभ्यता के प्रारम्भ किये जाने का, और राक्षस रात्रि के अन्धकार अथवा शरद के प्रतीक हैं—इन सिद्धान्तों मे एक या सभी मे चाहे जितनी पटुता हो यह सन्देहास्पद प्रतीत होता है कि इस काव्य या काव्य के किसी अश की रचना करने वाले कवि के मन मे कभी इस प्रकार का विचार आया होगा।

यदि हम रामायण मे वर्णित सभी कथाओ का नितान्त सक्षिप्त रूप भी प्रस्तुत करने का प्रयत्न करें तो भी स्थान का अभाव ही रहेगा। जितने का वर्णन किया जा चुका है उसके अतिरिक्त अन्य दो का विवरण मैं देता हूँ। विश्वामित्र (१ ५१–६५) की कथा, जो रोचक है, संक्षेप मे इस प्रकार है[१] :—

'गाधि के पुत्र, विश्वामित्र, चन्द्रवंश के राजकुमार थे जो मगध जनपद में कन्नौज पर राज्य करता था। कामधेनु (जिसे शबला भी कहते हैं) की प्राप्ति के लिए उनका ब्राह्मण वसिष्ठ के साथ घोर विरोध था। निश्चय ही यह कामधेनु पृथ्वी (गो) या भारतवर्ष का प्रतीक थी। वसिष्ठ की आज्ञा पर कामधेनु ने असभ्य जातियो, यथा पह्लव (फारसी), शक (सिथियन), यवन (ग्रीक), कम्बोज आदि की सेनायें उत्पन्न की, जिनकी सहायता से वसिष्ठ ने विश्वामित्र पर विजय प्राप्त की। अतएव ब्राह्मणत्व की शक्ति को श्रेष्ठ मानकर विश्वामित्र ने स्वय ब्राह्मण पद प्राप्त करने का निश्चय किया और इस ध्येय की सिद्धि के लिये हजारो वर्षों तक उन्होने घोर तपस्याएँ की। देवताओ ने, जो सदैव तपस्वियो के विपरीत अपनी रक्षा के लिये सघर्परत रहते थे, उनकी तपस्या भंग करने के लिये यथाशक्ति प्रयत्न किया और वे अंशतः सफल भी हुए। कुछ समय के लिये विश्वामित्र, देवताओ द्वारा उनके विचारो को ऐन्द्रिक सुखो की और खीचने के ध्येय से भेजी गई अप्सरा, मेनका, के सौन्दर्य के दास बन गये। इस क्षणिक पतन के फल से (शकुन्तला नामक) एक पुत्री का जन्म हुआ। तथापि अन्त मे दृढव्रती तपस्वी के आगे देवताओ की एक न चली। उन्होने विषय पर पूर्ण आधिपत्य प्राप्त कर लिया और जब फिर भी देवताओ ने उन्हे ब्राह्मण मानना अस्वीकार किया तो उन्होने नये स्वर्ग और नये देवताओ की रचना प्रारम्भ कर दी, और कुछ नक्षत्रो की रचना भी कर डाली। तब देवताओ ने इस विषय को सुलझाना और उन्हे एक यथार्थ ब्राह्मण बनाना ही उचित समझा।

दूसरी रोचक कथा गगा के विषय मे है (१ ३६-४४)[२].—गङ्गा, मूर्त गगा

---

[१] विश्वामित्र की कथा मे अम्बरीष की कथा भी आती है जो इस ग्रंथ के पृ० २९ पर दी गई है।

[२] यह कथा महाभारत के वनपर्व मे भी कही गयी है।

नदी, पर्वतराज हिमालय की सबसे बडी पुत्री थी और उनकी छोटी वहन उमा थी। अयोध्या के सूर्यवंशी राजा सगर के ६०,००० पुत्र थे, जिन्हें पिता सगर ने अश्वमेध के अवसर पर एक राक्षस द्वारा चुराये गये घोडे को ढूंढने की आज्ञा दी। पृथ्वी पर ढूंढकर जब वे घोडा पाने में असफल रहे तो उन्होंने पाताल पहुँचने के लिए पृथ्वी खोदनी शुरू कर दी। कपिल मुनि को देखकर वे उन्हें घोडा चुराने का दोषी बताने लगे जिससे मुनि इतने क्रुद्ध हुए कि अनायास ही उन्होंने उन सबको भस्म कर दिया। कुछ समय के उपरान्त सगर के पौत्र वहाँ पहुंचे और उन्होंने अपने पूर्वजों का श्राद्ध प्रारम्भ किया, किन्तु उन्हें यह बताया गया कि उस भस्म पर गंगा का प्रवाह होना आवश्यक है। न तो सगर और न उनके पौत्र ही गगा को पृथ्वी पर लाने के लिये कोई उपाय कर सके। किन्तु उनके प्रपौत्र, भगीरथ, अपनी तपस्याओ द्वारा इस पवित्र नदी को पृथ्वी पर लाने मे सफल हुये। स्वर्ग से उतरते समय गंगा पहले बड़े वेग से शिव पर गिरी जिन्होंने उनके गिरने के वेग को रोक लिया।

श्री राल्फ ग्रिफिथ ने इस अवरोहण के वर्णन का अनुवाद बडे सुन्दर एव मनोहर ढग से किया है। मैं उनके अनुवाद का एक अश देता हूँ (भाग १. पृ० १९४)—

> पहले शिव के शीश पर स्वर्ग मे गिरती हुई धाराओ ने विश्राम पाया। तब वे बडे वेग से नीचे की ओर फूट पड़ी और हरहराती हुई पृथ्वी पर बहने लगी।
>
> अनेक चमकती हुई धाराओ पर अरुणोदय का प्रकाश पड़ रहा था; मत्स्य और तिमि उस बहती हुई सरिता मे गिर रहे थे, और व्याकुल हो रहे थे। दिव्य गान करने वाले गायक और स्वर्ग की अप्सराएँ आकाश से पृथ्वी पर आती हुई उस नदी को देखने के लिए एकत्र हुईं। तेजस्वी देवतागण भी अपने-अपने लोक से सोने के रथो में आसीन होकर उस अद्भुत दृश्य को देखने के लिए दौड पडे। जब देवो के आभामय विमान आने लगे तो मेघहीन आकाश सैकड़ों सूर्यों के प्रकाश से भर गया, वायु मे मणियो वाले सर्प विचरने लगे, प्रत्येक वर्ण की मछलियाँ दिखाई पड़ने लगी : जैसे कि विद्युत् ग्रीष्म के नीले गगन मे चमकती है। शुभ्र, फेनो वाली चाँदी के समान फुहारे ऊपर उठ रही थी जैसे हंस आकाश-मार्ग से अपने निवास-स्थानो को प्रस्थान करते है।

तब और तपस्या करके भगीरथ ने उस पावन नदी को पृथ्वी पर बहने के लिये, अपने पीछे पीछे वहाँ से समुद्र को जाने के लिये (इस कारण ही समुद्र

को सागर कहते हैं), और समुद्र से पाताल जाने के लिये बाध्य किया जहाँ गङ्गा ने सगर के पुत्रो की भस्म को सीचा और उनकी आत्माओ को स्वर्ग पहुँचाने का साधन बनी। इसलिये गंगा का एक प्रचलित नाम भागीरथी है।

गङ्गा नदी का दूसरा नाम जाह्नवी है, क्योकि अपने मार्ग मे बढती हुई इस नदी ने जह्नु ऋषि के यज्ञस्थान को आप्लावित कर दिया। ऋषि ने अनायास ही गंगा को पी लिया परन्तु पुन. कान के रास्ते से निकाल देने को तैयार हो गये।

वाग्जाल तथा अतिशयोक्ति के वनो के विपरीत भी, जिनमे होकर भारतीय महाकाव्यो के पाठक को प्राय: विचरण करना होता है, सम्पूर्ण विश्व के साहित्यो मे रामायण से बढ़कर सुन्दर काव्य नही है। इसकी उदात्त शुद्धता, स्पष्टता, शैली की सरलता, यथार्थ काव्यीय भावनाओ की वे अनुभूतियाँ जिनसे यह परिपूर्ण हैं, इसका वीरतापूर्ण घटनाओ एवं प्रकृति के सुन्दरतम दृश्यो का सजीव वर्णन, इसमे प्रदर्शित मानव भाव, हृदय की विरोधी प्रवृत्तियो एवं नितान्त उदात्त संवेगो के साथ इसका गहन परिचय, सब मिलकर इस काव्य को किसी भी युग और किसी भी देश की सर्वोत्तम रचनाओं मे प्रथम स्थान प्रदान करते हैं। यह एक विस्तृत एवं आमोदपूर्ण उपवन के समान है, जिसमे यत्र-तत्र झाडियाँ हैं किन्तु जो फलों और फूलो से लदा हुआ तथा अवरिल स्रोतों से सीचा गया है, और इसकी अत्यधिक घनी झाड़ियों के भीतर भी सुन्दर पथ बने हुए है। राम का चरित्र बडे सुन्दर ढग से चित्रित किया गया है। वह इतना स्वार्थरहित है कि मानवीय नही प्रतीत होता। वस्तुत: हमे यह ध्यान रखना चाहिए कि कवि का मन्तव्य अपने नायक को देवत्व के स्थान पर उठा देना है। यद्यपि हमारी दृष्टि उनके अतिमानुष चरित्र की चमक से समय-समय पर चकाचौंध हो जाती है तथापि हम प्रायः इससे अन्धे या अवाक् नही रह जाते। कम से कम काव्य के आरम्भिक भागों मे उन्हें एक ऐसे वीर, मनस्वी, धर्मात्मा एवं सदाचारी पुरुष, एक आदर्श पुत्र, पति, और भ्राता से बढकर नही दिखाया गया है, जिनकी वीरता, नि स्वार्थ उदारता, पितृभक्ति, पत्नी के प्रति मधुर प्रेम, भ्रातृ प्रेम और सभी दुर्विचारों के परित्याग की प्रशसा किये बिना हम नहीं रह सकते। जब वे अपने पिता की दूसरी पत्नी की ईर्ष्या के शिकार बन जाते हैं तो वे प्रतिशोध की कोई भावना नही रखते। जब निर्वासन का आदेश उन्हे सुनाया जाता है तो उनके ओठो से असन्तोप का एक शब्द भी नही निकलता। विनयपूर्ण भाषा मे वे पिता को वचन तोड़ने देने की अपेक्षा स्वयं को बलि दे देने का अपना निश्चय प्रकट करते हैं, और अपनी माता कौशल्या की प्रार्थनाओ, अपने क्रुद्ध भाई लक्ष्मण के व्यंगपूर्ण वचनो एवं साथ

चलने के लिए उद्यत सीता की रक्षा के विषय मे अपनी चिन्तापूर्ण आशङ्का के विपरीत भी वे अपने निश्चय पर दृढ़ रहते हैं । पुन, पिता की मृत्यु के बाद जब भरत राम से राज्य ग्रहण करने की अनुनय और सभी पुरवासी प्रार्थनाएँ करते है एवं नास्तिक जाबालि तक अपने हेत्वाभासपूर्ण तर्क प्रस्तुत करते हैं तब राम यह उत्तर देते हैं :—

'सत्य से बढ़कर कुछ नही है; और सत्य को सभी वस्तुओ मे परम पवित्र समझना चाहिए । वेद का आधार सत्य मे है । अपने पिता की आज्ञा का पालन करने का व्रत लेकर मैं लोभ से, विस्मरण से, या गहन अज्ञान से सत्य की मर्यादा नही तोड़ूगा ।'

जहाँ तक सीता का प्रश्न है, वे पत्नीत्व के गुणो की प्रतिमा है । उनकी वनवास की अवधि मे अपने पति के साथ रहने की आज्ञा के लिए प्रार्थना पति एवं स्वामी के प्रति इतनी उच्च भक्ति से परिपूर्ण है कि मैं अपने उदाहरणो को इसके कुछ उद्धरण देकर ही समाप्त करूँगा ।[1]

'पत्नी को अपने पति के सुख-दु ख मे भाग लेना चाहिये । मेरा धर्म है कि आप जहाँ कही जाँय मैं भी साथ चलू । आप से वियुक्त होकर मैं स्वर्ग मे भी निवास नहीं करूँगी । पति से वियुक्त होकर पत्नी एक शव के समान होती है । आपकी छाया के समान मैं इस लोक और परलोक मे साथ रहूँगी । आप मेरे स्वामी हैं, मेरे नेता है, मेरे एकमात्र शरण हैं, मेरे देवता है । मेरा दृढ निश्चय आपके पीछे चलने का है । यदि आपको कण्टकमय, गहन वन मे चलना होगा तो मैं आगे चलूँगी, और काटो को कुचल कर आपके लिए मार्ग प्रशस्त करूँगी । आपके आगे चलते हुए मैं श्रान्त नही होऊँगी, वन के काटे रेशमी वस्त्रो के समान लगेंगे, पत्तो की शय्या कोमल पर्यङ्क के समान होगी । आपकी छाया का आश्रय मेरे लिए भव्य महलो, प्रासादो, और स्वर्ग से भी बढकर होगा । आपकी बाहो द्वारा सुरक्षित रहने पर देवता, राक्षस, और मनुष्य मुझे कष्ट नही दे सकेगे । आपके साथ मैं फल मूल खाकर भी सन्तुष्ट रहूँगी । वे चाहे मीठे हो या खट्टे हो यदि वे आपके हाथो से मुझे प्राप्त होगे तो वे मेरे लिए प्राणदायक होगे । आपके साथ निर्जन वनो मे घूमते हुए मेरे लिए एक हजार वर्ष एक दिन के समान होगे । आपके साथ रहने पर नरक भी मेरे लिए स्वर्ग के सुख से पूर्ण होगा ।'

मानो इस ग्रन्थ के प्रारम्भ मे (दे० पृ० ३३०) दी गई भविष्यवाणी के

[1] मैंने इनका अनुवाद प्रायः अक्षरशः सोलह मात्रा वाले मूलछन्द मे किया है यद्यपि यह क्रमशः नही है । इनका सारांश गोरेसिओ के रामायण, भाग २. पृ० ७४ आदि पर मिलेगा ।

अनुसार ही रावण की मृत्यु और सीता की पुनः प्राप्ति तक की कथा आज भी नियमतः प्रतिवर्ष भारत के बहुत बडे भाग मे अक्टूबर के प्रारम्भ मे रामलीला[१] नामक एक शरत्कालीन पर्व पर दुहरायी जाती है। अपरंच, हिन्दू लेखक इस घिसी-पिटी कथा को अनेक रूपो मे ढालने मे भी कभी थकते नही दिखाई पड़ते। अतएव राम के पराक्रम का इतिहास या कम से कम उनका कुछ उल्लेख प्रायः परवर्ती साहित्य के प्रत्येक ग्रन्थ मे मिल जाता है। मैं इस व्याख्यान को कुछ उदाहरणो के साथ समाप्त करता हूँ :—

महाभारत (वनपर्व) मे रामोपाख्यान प्रायः रामायण के समान ही कहा गया है, किन्तु इसमें न तो वाल्मीकि का इस कथा के रचयिता के रूप मे उल्लेख है और न उस विशाल समरूप महाकाव्य की स्थिति का ही कोई निर्देश है। द्रौपदी के प्राप्त होने पर (जो जयद्रथ के द्वारा हर ली गयी थी, जैसे रावण ने सीता का हरण किया था) मार्कण्डेय इस कथा को युधिष्ठिर से यह प्रदर्शित करने के लिए कहते हैं कि प्राचीनकाल में भी सज्जनो के दुर्जनो द्वारा पीडित होने के उदाहरण हैं। यह सम्भव है (और प्रोफेसर वेबर इसे सम्भव मानते भी हैं) कि महाभारत की कथा रामायण से ही सक्षिप्त रूप मे ली गई हो और उसे मौलिक रूप देने के लिये यत्रतत्र परिवर्तित कर दिया गया हो। तथापि, कई उल्लेखनीय भेद दिखाई पड़ते है। यद्यपि महाभारत की कथा सामान्यतः राम को केवल एक महान् पराक्रमी पुरुष के रूप मे वर्णित करती है, तथापि उन अवस्थाओं से प्रारम्भ होती है जिन अवस्थाओ ने उन्हें विष्णु

[१] अश्विन मास या अक्टूबर के प्रारम्भ मे जिस दिन बगाली लोग दुर्गा की मूर्ति का जलप्रवाह करते हैं (अर्थात् दुर्गापूजा पर, जिसके चौथे दिन को दशहरा कहते है, और जिस अवसर पर पूरे पक्षभर सभी कार्य बन्द रहते हैं और यहाँ तक की चोर और बदमाश भी आराम करते हैं) दूसरे प्रान्तो के हिन्दू लोग रामलीला करते है जिसमे सीताहरण को नाटक के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है और जो रावण की मृत्यु से समाप्त होता है, जिसका यह दिन एक वार्षिकी होता है। राम का जन्मदिन चैत्र (अप्रैल) महीने की नवी तिथि, रामनवमी, को मनाया जाता है। उत्तरकाण्ड तथा उत्तररामचरित मे आने वाली कथा का क्रम उचित रूप से ज्ञात नही है। मई १८७२ की 'इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' मे रेव० के० एम० बनर्जी लिखित एक लेख देखिए। यह द्रष्टव्य है कि रामकथाओ मे सदैव शुद्धता बनी रही और ब्रह्मा, कृष्ण, शिव, तथा दुर्गा की कथाओ के विपरीत, इसमे अश्लीलता और अभद्रता नही मिलने पायी। वस्तुतः राम की पूजा का उस सीमा तक ह्रास नही हुआ है जितना इनमे से कुछ देवताओ की पूजा का।

के अवतार का रूप दे दिया। और यह कथा जो कुछ पहले रामायण के उत्तर-काण्ड मे कहा गया है (अर्थात् रावण तथा उसके भाई का प्रारम्भिक इतिहास) उसी का विस्तृत वर्णन करती है। उसके बाद राम का जन्म, उनकी युवावस्था, और उनके पिता दशरथ की उन्हे युवराज बनाने की इच्छा का सक्षिप्त वर्णन किया गया है। दशरथ के यज्ञ, राम की शिक्षा, सीता की प्राप्ति तथा बाल-काण्ड के अन्य विषयो को छोड़ दिया गया है। अयोध्याकाण्ड की घटनाये एवं अरण्यकाण्ड की बहुत-सी घटनाएँ प्रायः चालीस श्लोको में वर्णित हैं। इससे अधिक विस्तृत वर्णन उस समय प्रारम्भ होता है जब कटे हुए नाक-कान वाली शूर्पणखा रावण के सम्मुख पहुँचती है। किन्तु कई भेद भी हैं, उदाहरणार्थ कबन्ध का वध होता है पर वह पुनः जीवित नही होता शबरी की कथा छोड दी गयी है, और ब्रह्मा द्वारा सीता को सान्त्वना देने के लिये भेजे गये स्वप्न का वर्णन नही किया गया है।[1]

महाभारत मे इस कथा के अन्य उल्लेख एवं सक्षिप्त वर्णन भी आये है, यथा वनपर्व, द्रोणपर्व, शान्तिपर्व, और हरिवश मे।

राम की कथा का उल्लेख (जैसा प्रोफेसर वेबर का कथन है) मृच्छकटिक (अंक १) मे भी आया है, और यद्यपि कालिदास के नाटको मे इसका उल्लेख नही है, तथापि मेघदूत (छन्द १,९९) मे इसका जिक्र आया है। रघुवंश मे, जो एक प्रकार का संक्षिप्त रामायण है—कवि वाल्मीकि का नाम लिया गया है (१५.६६,६४)। अपरच रामायण सेतुबन्ध नाम की एक प्राकृत रचना का भी आधार है (जो कालिदास का बताया जाता है और जिसका उल्लेख दण्डी के काव्यादर्श १ ३४ मे आया है)। भट्टि के व्याकरणीय काव्य, भट्टिकाव्य, का (जो लासेन के इण्ड० अल्ट० ३.५१२ के अनुसार वलभीपुर मे राजा श्रीधरसेन के अन्तर्गत ५३० और ५४५ ई० के बीच रचा गया था) तथा भवभूति के दो प्रसिद्ध नाटकों, महावीर चरित एवं उत्तररामचरित (जिसका समय लासेन ने ६९५ तथा ७३३ ई० के बीच माना है) आधार रामायण ही

[1] इन तथा अन्य विषमताओ के आधार पर प्रोफेसर वेबर ने यह खोज करने का सुझाव दिया है कि कही महाभारत मे दी गई कथा का रूप रामायण की कथा से अधिक पुराना किंवा मौलिक न हो जिससे दूसरे रूप विकसित हुए हैं। उनका प्रश्न है कि क्या हम यह मान लें कि महाभारत मे हमारे वर्तमान रामायण से भी पूर्व की किसी कथा का संक्षेप है, या दोनो ही कथा-रूपो को, रामोपाख्यान तथा रामायण को, किसी एक सामान्य मूल रचना पर आवृत किन्तु पृथक् दृष्टिकोण से युक्त माना जाय?'

है। इन नाटको मे से अन्तिम में तीन स्थलों पर रामायण के श्लोक भी उद्धृत है : एक श्लोक द्वितीय अंक मे और दो श्लोक षष्ठ अंक मे। निःसन्देह, राम के चरित्र को नाटक का विषय बनानेवाला नाट्य साहित्य बहुत विस्तृत है। भवभूति के दो नाटको के अतिरिक्त चौदह अको मे हनुमन्नाटक या महानाटक है, जिसके स्वय वानरश्रेष्ठ हनुमान् रचित होने की कल्पना की गई है और कहा जाता है कि प्रथमतः उन्होने इसे शिलाखण्डो पर लिखा और तब वाल्मीकि को प्रसन्न करने के लिए (कि कही यह उनके रामायण की प्रसिद्धि को समाप्त न कर दे) उन्होने इसे समुद्र मे डाल दिया जहाँ से इसके कुछ अश भोज के समय मे निकाले गये और उन्हें मिश्रदामोदर (सभवतः दसवी शताब्दी) ने क्रमबद्ध रूप दिया। मुरारि द्वारा लिखित सात अंको मे 'अनर्वराघव' या अनर्घ्यराघव भी है। जयदेव (संभवत गीतगोविन्द के रचयिता नही) रचित 'प्रसन्नराघव'; सुन्दरमिश्र रचित, सात अको में 'अभिराममणि'; विदर्भराज (या भोज) लिखित पाँच अङ्कोवाला 'चम्पूरामायण'; राजशेखररचित राघवाभ्युदय तथा बालरामायण; 'उदात्तराघव'; 'छलितराम (अन्तिम तीन के उद्धरण काव्यशास्त्र के प्रख्यातग्रन्थ साहित्यदर्पण मे आये है); सुभटरचित एक लघु ग्रन्थ दूताङ्गद, एव अन्य रचनायें भी रामायण पर आधारित है।

वेबर द्वारा उल्लिखित तथा रामायण का उल्लेख करने वाली अन्य रचनाये ये है :—वराह मिहिर की रचना—जो ५०५ तथा ५८७ ई० के बीच लिखी गई है—जिसमें यह बात सुस्पष्ट है कि राम की उस समय अर्धदेव के रूप मे पूजा होती थी; राजा शीलादित्य के आश्रय मे प्रायः ५९८ ई० मे वलभी मे रचित 'शत्रुञ्जयमाहात्म्य'; सुबन्धु का 'वासवदत्ता' (सातवी शताब्दी के आरंभ के लगभग, वेबर इण्डिश्श स्ट्राइफेन १.३७३, ३८०) जिसमे सुन्दरकाण्ड का रामायण के अंश रूप मे उल्लेख किया गया है; बाण की कादम्बरी (कुछ समय बाद रचित, इण्डिश्श स्ट्राइफेन ३ ३५४) जिसमे कई बार इस महाकाव्य का उल्लेख है (१.३६,४५,८९); हाल का 'सप्तशतक' (३५, ३१६) जिस पर वेबर ने एक ग्रथ लिखा है; राजशेखर (प्राय. दसवी शताब्दी का अन्त) रचित प्रचण्ड पाण्डव; धनञ्जय का दशरूपक (१.६१, प्राय. उसी समय का); गोवर्धन की सप्तशती (३२, दसवी शताब्दी या उसके बाद की); त्रिविक्रमभट्ट की दमयन्ती कथा (११); राजतरङ्गिणी (१.१६६); शार्ङ्गधरपद्धति (बौटलिक, इण्ड, स्प्र० १५८६) इत्यादि।

अठारह पुराणो मे (जो बहुत हद तक दोनों महाकाव्यो से विषयो को ग्रहण करते है) निश्चय ही रामायण के अनेक उल्लेख हैं और कभी-कभी सम्पूर्ण कथा कही गयी है। अग्निपुराण मे सात काण्डों का संक्षेप सात अध्यायों

मे है। पद्म तथा स्कन्द पुराणो मे भी इस विषय पर कई अध्याय हैं। विष्णु पुराण मे भी एक खण्ड (४ ४) राम के विषय मे है तथा ३.३ मे वाल्मीकि को चौबीसवें द्वापर का वाल्मीकि कहा गया है। ब्रह्माण्ड पुराण मे भी, जो विविध विषयो का अस्तव्यस्त भण्डार है, रामायण माहात्म्य है। इसी पुराण मे प्रसिद्ध आध्यात्म रामायण भी है जो ऐसे सात काण्डो मे विभक्त है जिनके नाम वाल्मीकि के रामायण के काण्डो के ही समान हैं। इसका लक्ष्य यह प्रदर्शित करना है कि राम परमात्मा के एक रूप थे और सीता (जिनका तादात्म्य लक्ष्मी से स्थापित किया गया है) प्रकृति का एक रूप है।

आध्यात्म रामायण के दो काण्डो को विशेषतया पवित्र माना जाता है :—१—रामहृदय या प्रथम काण्ड जिसमे राम के आन्तरिक एवं गूढ स्वरूप की व्याख्या और परमात्मा के रूप मे विष्णु से उनके तादात्म्य की पुष्टि की गयी है; २. रामगीता या सातवे काण्ड का पाँचवा अध्याय जिसका रचयिता, जो स्पष्टत. वेदान्ती है, परमात्मा का चिन्तन करने एव उनमे लय प्राप्ति के लिये सभी कर्मों के परित्याग के माहात्म्य का प्रतिपादन करता है।

वासिष्ठरामायण (या योगवासिष्ठ, या वासिष्ठं महारामायणम्) नाम का एक प्रख्यात ग्रंथ है जो एक प्रकार का उद्बोधन है। इसमे दृष्टान्त रूप मे वसिष्ठ द्वारा अपने शिष्य, बालक राम, को दिये गये उपदेशो का वर्णन है जो उपदेश वास्तविक सुख प्राप्ति के सर्वोत्तम साधनो के नियम हैं। इसे रामायण के परिशिष्ट के रूप मे स्वयं वाल्मीकि द्वारा रचित माना जाता है।

यहाँ तुलसीदास रचित विख्यात हिन्दी रामायण का भी उल्लेख कर देना चाहिए। भारत के कुछ भागो मे इस काव्य का लोग इतना ज्ञान एवं इसके प्रति इतनी श्रद्धा रखते है कि यह कहा जाता है कि रामायण नाम के तीन महाकाव्य हैं—१. वाल्मीकि का रामायण; २. व्यास रचित आध्यात्मरामायण; तथा ३. तुलसीदास रचित हिन्दी भाषा का महाकाव्य।

मै इस सूची को इस विषय पर अपेक्षाकृत अधिक अर्वाचीन कलावादी काव्यो के उल्लेख से समाप्त करता हूँ—१. कविराज रचित 'राघवपाण्डवीय', जो एक अद्वितीय ग्रंथ है। परवर्ती भारतीय लेखको ने इसको बहुत आदर दिया एव इसका अनुकरण किया है। यह एक प्रकार का काव्य है जिसमे श्लेषयुक्त शब्द इस चतुराई से रखे गये हैं कि वे रामायण और महाभारत दोनो की कथा संक्षेप मे प्रस्तुत करते है। २. विश्वनाथ (साहित्यदर्पणकार) रचित 'राघव विलास'; ३. रामचरण रचित रामविलास; ४. हरिनाथ रचित एक

दूसरा रामविलास (जो गीत गोविन्द के अनुकरण मे है); ५. अग्निवेश का रामचन्द्र चरित्रसार; ६. प्रोफेसर वेबर द्वारा उल्लिखित 'रघुनाथाभ्युदय'[१]। जहाँ तक चम्पू नाम की रचना का प्रश्न है यह एक उच्च कोटि की कृत्रिम शैली होती है जो गद्य और पद्य दोनों मे होती है।

---

[१] रामायण तथा महाभारत की कथा विस्तृत रूप में, जैसी मि० टालब्वायज ह्वीलर ने अपने भारत के इतिहास मे दी है, बहुत रोचक और ज्ञानपूर्ण है, हॉलाकि यह उनके द्वारा मूल संस्कृत ग्रन्थ के आधार पर किया गया विश्लेषण नहीं है।

इतिहास या महाकाव्य—महाभारत

अब मै महाभारत पर आता हूँ, जो संभवतः ससार का सबसे लम्बा महाकाव्य है। इसका मुख्य ध्येय राजा भरत[1] के वंशजो के बीच हुए महायुद्ध का वर्णन करना है। भरत चन्द्र वश के सबसे प्रसिद्ध सम्राट थे और यह कहा जाता है कि उन्होंने हस्तिनापुर या प्राचीन दिल्ली के प्रातिवेश मे शासन किया था। उन्होंने अपनी शक्ति भारत के एक विस्तृत भाग पर फैलायी थी, जिस कारण हिन्दुस्तान को आज भी यहाँ के देशवासी भारतवर्ष कहते है। यह महाकाव्य एकमेव विषय से सबद्ध काव्य होने की अपेक्षा हिन्दू देवशास्त्र, आख्यानात्मक इतिहास, आचारशास्त्र तथा दर्शन का एक बृहत कोश या भण्डार है। जिस रूप मे यह ग्रन्थ विद्यमान है, उसे संभवत. काव्य के मूल रूप का प्रतिनिधि नही माना जा सकता। इसका सकलन क्रमशः शताब्दियो तक चलता रहा प्रतीत होता है। किसी भी स्थिति मे, जैसा कि हम पहले सकेत दे चुके है (पृ० ३११–३१२) यह संकलन रचना और पुनःरचना की कई अवस्थाओ से गुजरा हुआ प्रतीत होता है। अन्ततः एक या अनेक ब्राह्मणो द्वारा, जिनके नाम अब ज्ञात नही है[2] अन्तिम रूप मे विन्यस्त एवं सामान्य लिखित आकार

---

[1] इस काव्य का नाम महाभारत है, जो नपुंसकलिङ्ग मे एक समस्त पद है। इसके प्रथम पद 'महा' (महत् के लिये) का अर्थ बड़ा और दूसरे पद 'भारत' का अर्थ 'भरत से सम्बद्ध' है। ग्रन्थ का नाम प्रायः नपुंसकलिङ्ग मे होता है जिसके साथ 'काव्यम्' जैसा शब्द छिपा रहता है। यहाँ महाभारत जिस शब्द से संबद्ध है वह या तो 'आख्यानाम्' अर्थात् एक ऐतिहासिक काव्य, या 'युद्धम्' अर्थात् लड़ाई है। यह विचित्र लगता है कि सग्रह पर्व या प्रारम्भिक संक्षेप मे महाभारत शब्द का कारण इसके विशाल आकार और अधिक भार को बताया जाता है क्योंकि इस काव्य का भार चारो वेदो एव रहस्यमय रचनाओ के एक साथ रखने पर भी उन सबसे अधिक कहा गया है। वह अंश यह है—'एकतश्चतुरो वेदान् भारतं चैतदेकतः पुरा किल सुरैः सर्वैः समेत्य तुलया धृतम्। चतुर्भ्यः सरहस्येभ्यो वेदेभ्यो ह्यधिकं यदा। तदा प्रभृति लोकेऽस्मिन् [महत्त्वा- द्भारवत्त्वाच्च] महाभारतमुच्यते।

[2] प्रोफेसर लासेन अपने 'इण्डिश्च अल्टेरथुम्सकुण्ड' (२. ४९९ नया संस्करण) मे सोचते हैं कि महाभारत की भूमिका की छान बीन से यह सिद्ध

मे संक्षिप्त किया गया प्रतीत होता है। भारत की पावन कथाओ एवं आख्यानों के साथ, जिनमे से बहुत महाभारत मे स्थानान्तरित किये जाने के पूर्व मौखिक रूप मे संक्रमित होते थे, मौलिक ब्राह्मण संकलनकर्ता का सबन्ध वैसा ही था जैसा पिसिस्ट्रेटस का होमर की कविताओ के साथ। किन्तु हिन्दू लोग इस व्यक्ति को, चाहे वह जो कोई भी रहा हो, रहस्यमय पवित्रता के आवरण से युक्त कर देते है और यह घोषणा करते है कि वे अन्य प्रख्यात धार्मिक रचनाओ, यथा, वेदो तथा पुराणो को भी क्रमबद्ध रूप देने वाले थे। उन्हे व्यास कहा गया है किन्तु यह निश्चय ही सस्कृत धातु वि + अस् से व्युत्पन्न एक विशेषण मात्र है जिसका अर्थ है 'नियमित क्रम मे प्रदर्शित करना' और इस कारण इसका प्रयोग समान रूप से किसी भी संकलनकर्त्ता के लिये हो सकता है।[१]

किया जा सकता है कि इस काव्य की विभिन्न लेखको द्वारा एक के बाद एक तीन विरचनाएँ हुईं। प्रथम या प्राचीनतम पाठ, जो केवल भारत कहा जाता है और जिसमे २४००० श्लोक थे, क्षत्रिय या युद्धव्यवसायी वर्ण के जनक (आदिपर्व) मनु क इतिहास से प्रारम्भ होता है। इसके साथ ही एक लघु खण्ड व्यास के वंश का तथा यह भी वर्णन करता है कि वे किस प्रकार जनमेजय के सर्पयज्ञ मे आए एवं किस प्रकार उन्होने जनमेजय की प्रार्थना पर वैशम्पायन को पाण्डवों एव कौरवो के बीच हुए युद्ध की कथा कहने का आदेश दिया—यह लघुखण्ड भी प्राचीनतम भारत की भूमिका मे रहा होगा। इस काव्य की दूसरी विरचना या ढलाई—जिसे प्रोफेसर लासेन आश्वलायन गृह्य सूत्र मे उल्लिखित एवं शौनक के अश्वमेधयज्ञ मे गाये जाने वाले इतिहास से अभिन्न मानते है—लगभग ४०० ई० मे हुई थी। यह राजा वसु की कथा से प्रारम्भ होता था, जिसकी पुत्री सत्यवती व्यास की माता थी, और पौष्य नाम का खण्ड, जिसकी प्राचीनता इसके प्राय आद्योपान्त गद्य मे होने से प्रकट है, इसकी भूमिका के रूप मे रहा होगा। पौलीन नाम का खण्ड संभवतः इस महाकाव्य की तीसरी रचना के आरम्भ का द्योतक है जो उनके विचार से अशोक के राज्यकाल से पहले हो चुकी थी।

१ विव्यास वेदान् यस्मात् स तस्माद् व्यास इति स्मृति, (१.२४१०) इसी प्रकार 'होमेरस' नाम को कुछ लोग 'ओमोड' से व्युत्पन्न मानते हैं। यह विचित्र लग सकता है नितान्त भिन्नस्वभाव वली विभिन्न युगो मे रची गई रचनाओ, जैसे वेद, महाभारत तथा पुराण आदि को एक ही व्यक्ति से सम्वद्ध समझना चाहिए। किन्तु विद्वान भारतवासी इन रचनाओ मे जो घनिष्ठ संबन्ध मानते है इससे यह स्पष्ट होता है कि उनकी विरचना मे उन्होंने उसी

वहुत सी कथाये वैदिक एवं वहुत प्राचीन हैं, जब कि दूसरी कथाएँ, जैसा हमने ही निर्देश दिया है, अपेक्षतया अर्वाचीन हैं—सम्भवतः ईसाई संवत् की आरम्भिक शताब्दियो मे प्रक्षिप्त की गई है। वस्तुतः सम्पूर्ण ग्रन्थ मे २,२०,००० पंक्तियाँ ऐसे अठारह पर्वों या खण्डो मे निवद्ध है जिनमे से प्राय. प्रत्येक एक वड़ा ग्रन्थ वन सकता है, और इस ग्रन्थ की तुलना भूगर्भविज्ञान-विपयक पार्थिवाशपुटो के अस्तव्यस्त पिण्डो से की जा सकती है। मुख्य कथा, जो समूचे ग्रन्थ के पञ्चमाश से थोड़ा ही अधिक स्थान घेरती है, सबसे निचली परत है; किन्तु इस बार वाद की परते इस प्रकार पूरी तरह से जम और सभी परते इस प्रकार एक साथ मिल गई है कि मौलिक धरातल को सदैव स्पष्टतः नही देखा जा सकता। यदि अनुवर्ती परतो का सदैव सूक्ष्म दृष्टि से विश्लेषण किया जा सके एवं उन्हे अलग किया जा सके और अधिक प्राचीन रूपो को परवर्ती क्षेपकों और ऐतिहासिक तत्त्व को विशुद्ध कपोल कल्पित विषयो से अलग किया जा सके तो यह आशा की जा सकती है कि भारत के प्राचीन धार्मिक, सामाजिक, तथा राजनीतिक इतिहास पर प्रकाश पड़ेगा—जो एक ऐसा

महर्षि को सहायतार्थ क्यो बुला लिया है। माधवाचार्य (जो चौदहवी शताव्दी मे थे) के वेदार्थप्रकाश के तैत्तिरीय यजुर्वेद (पृ० १) को व्याख्या करने वाले अश का उद्धरण, जिसका अनुवाद डॉ० मूइर ने अपने संस्कृत टेक्स्टस, भाग ३ पृ० ४७ मे किया है, महाभारत का वास्तविक रचयिता व्यास को वताता है और उनके महाभारत लिखने का एक उल्लेखनीय कारण प्रस्तुत करता है :—'यह कहा जा सकता है कि सभी प्रकार के व्यक्ति, जिनमे स्त्रियाँ तथा शूद्र भी संमिलित हैं, वेद का अध्ययन करने के योग्य होने चाहिए क्योकि इष्ट की कामना (इष्टं मे स्यादिति) तथा अनिष्ट की निन्दा सम्पूर्ण मानव जाति मे होती है। किन्तु यह सत्य नही है। क्योकि यद्यपि उपाय है और स्त्रियाँ तथा शूद्र इसे जानने के लिये इच्छुक हैं, तथापि वे एक दूसरे कारण से वेद के योग्य अध्येता नही माने गये है। शास्त्र का कथन है कि केवल वे ही व्यक्ति, जो उपनीत हैं, वेद का अध्ययन करने के लिये योग्य हैं। वही शास्त्र यह भी कहता है कि वेद का अध्ययन स्त्रियो और शूद्रो के दु:ख का कारण बनता है (क्योकि वे उपनीत नही होते)। तव ये दो प्रकार के मानववर्ग किस प्रकार भावी सुख का साधन ढूंढ सकते है ? हमारा उत्तर है कि पुराणो एव इस प्रकार की अन्य रचनाओ से। इसलिये कहा गया है कि चूंकि तीनों वेदों का श्रवण स्त्रियाँ, शूद्र तथा पतित द्विज नही कर सकते अतएव मुनि ने कृपा करके महाभारत (भारतमाख्यानम) की रचना (कृतम्) की।'

विषय है कि अब भी प्रोफेसर लासेन एवं अन्य लोगो की बहुमूल्य खोजों के उपरान्त भी, गहन अन्धकार के आवरण मे आवृत्त है।

मैं इस काव्य के अठारह खण्डों या पर्वों के नाम उनमे वर्णित विषय के संक्षिप्त विवरण के साथ प्रस्तुत करता हूँ—

१. आदिपर्व—या आरम्भिक पर्व :—इसमे यह वर्णन है कि किस प्रकार धृतराष्ट्र तथा पाण्डु दोनो भाइयो का पालन उनके चाचा भीष्म करते हैं; किस प्रकार अन्धे धृतराष्ट्र को उनकी पत्नी गान्धारी से एक सौ पुत्र उत्पन्न होते हैं—जिन्हे सामान्यतः कुरु राजकुमार कहा गया है; और किस प्रकार पाण्डु की दोनो पत्नियो, (कुन्ती) तथा माद्री, से पाण्डव या पाण्डु के राजकुमार नामक पाँच पुत्र उत्पन्न होते हैं।

२. सभापर्व हस्तिनापुर की विशाल सभा या राजकुमारों की सभा का वर्णन करता है, जब पाँचो पाण्डवो मे ज्येष्ठ युधिष्ठिर को शकुनि के साथ द्यूत खेलना पड़ता है और युधिष्ठिर अपना राज्य खो देते है। पाँचों पाण्डव तथा उनकी पत्नी द्रोपदी को बारह वर्ष तक बनवास करना पड़ता है।

३. वनपर्व मे पाण्डवो के काम्यकवन के जीवन का वर्णन है। यह लम्बे पर्वों में से एक है और इसी पर्व मे नल और किरातार्जुनीय की कथा आती हैं।

४. विराटपर्व वनवास के तेरहवे वर्ष तथा वेश बदलकर राजा विराट की सभा मे सेवा करनेवाले पाण्डवो के पराक्रम का वर्णन करता है।

५. उद्योगपर्व—इसमे पाण्डवो एवं कौरवो दोनो ही पक्षों की युद्ध की तैयारियो का वर्णन किया गया है।

६. भीष्मपर्व—इस पर्व मे दोनो ही सेनाएँ दिल्ली के उत्तर पश्चिम के मैदान, कुरुक्षेत्र, मे जुटती हैं। कौरवो का सेनापतित्व भीष्म करते है जो अर्जुन के बाणो से बिद्ध हो शरशय्या पर गिर पड़ते हैं।

७. द्रोणपर्व—इस पर्व मे कौरव सेनाओ का सेनापतित्व द्रोण करते है एव अनेक युद्ध होते है। द्रोण धृष्टद्युम्न (द्रुपद) के पुत्र के साथ युद्ध मे गिर पडते हैं।

८ कर्णपर्व—इस पर्व मे कुरुओ के सेनापति कर्ण है। अन्य युद्धों का वर्णन किया गया है। अर्जुन कर्ण का वध करते है।

९ शल्यपर्व—इसमे शल्य कुरु सेना के सेनापति बनाये जाते है। अन्तिम युद्ध होते हैं और कुरुपक्ष के केवल तीन वीर दुर्योधन सहित बच जाते हैं। भीम और दुर्योधन गदा युद्ध करते है। कुरुओं में प्रमुख एवं ज्येष्ठ दुर्योधन मार डाला जाता है।

१०. सौप्तिकपर्व—इसमें तीन अवशिष्ट कुरु, रात्रि में पाण्डवो के शिविरों

पर आक्रमण कर के उनकी सभी सेना को मार डालते है किन्तु पाँच पाण्डव बच जाते है।

११. स्त्रीपर्व मे रानी गान्धारी तथा अन्य पत्नियो एवं स्त्रियो द्वारा मृत वीरो के शव के निकट विलाप का वर्णन है।

१२. शान्तिपर्व—इस पर्व मे युधिष्ठिर हस्तिनापुर मे राजा बनते हैं। अपने बन्धु-बान्धवो की हत्या से व्यथित उनके आतमा को शान्ति देने के लिये भीष्म, जो अब भी जीवित हैं, विस्तृत रूप मे उन्हे राजा के कर्तव्यों (राजधर्म), संकट के कर्तव्यो (आपद्धर्म), तथा अन्तिम मोक्ष प्राप्ति के नियमो (मोक्षधर्म) की शिक्षा देते है।

१३. अनुशासनपर्व—इसमे भीष्म की शिक्षा चलती रहती है। भीष्म सभी विषयो, यथा राजा के धर्म, उदारता, उपवास, व्रत आदि विषयो पर शिक्षाएँ एवं नीतिवचन कहते हैं जो कथाओ, नैतिक एवं धार्मिक उपदेशों, एव आध्यात्मिक चिन्तनों से मिला-जुला है। अपने दीर्घ उपदेशो का उपसहार कर भीष्म मर जाते हैं।

१४ आश्वमेधिकपर्व—इसमे राजपद प्राप्त कर, युधिष्ठिर अपनी संप्रभुता के लक्षण-रूप मे अश्वमेध यज्ञ करते है।

१५. आश्रमवासिकपर्व मे यह वर्णन है कि किस प्रकार बूढे तथा अन्धे राजा धृतराष्ट्र अपनी रानी गान्धारी तथा पाण्डवो की माता कुन्ती के साथ वन मे आश्रम मे निवास प्रारम्भ करते हैं। दो वर्ष बाद दावानल उठता है और वे स्वर्गसुख की प्राप्ति के लिए स्वय को भस्म कर देते है।

१६. मौसलपर्व, मे कृष्ण तथा बलराम की मृत्यु, उनके स्वर्गारोहण, कृष्ण के नगर द्वारका का समुद्र मे विलयन और कुछ ब्राह्मणो के शाप से मूसल के युद्ध मे कृष्ण के वशज, यादवो, के अपना स्वयं नाश करने का वर्णन है।

१७. महाप्रस्थानिकपर्व मे युधिष्ठिर एवं उनके चारो भाइयो के राज्य-त्याग और मेरु पर्वत पर इन्द्रलोक मे उनके लौटने का वर्णन है।

१८ स्वर्गारोहणिकपर्व मे पाँचों पाण्डवो, उनकी पत्नी द्रौपदी एवं स्वजनो का स्वर्ग मे जाने या प्रवेश करने का वर्णन है। परिशिष्ट या हरिवश पर्व, जो बाद मे जोड़ा गया है, कृष्ण की वशावली, जन्म तथा उनकी बाल्यावस्था की घटनाओ का विस्तृत वर्णन करता है।

आगे इस काव्य की कथा का अधिक पूर्ण एवं अविच्छिन्न वर्णन प्रस्तुत है, जो व्यास के शिष्य वैशम्पायन द्वारा अर्जुन के प्रपौत्र जनमेजय को सुनायी गयी है।

हम यह देख चुके हैं कि रामायण सूर्यवंशी राजाओ की वंशावली के

वर्णन से प्रारम्भ होना है, जिनमे राम एक थे। महाभारन के नायक दूसरे प्रमुख वंश के है जिसे चन्द्र वंश कहते हैं। सूर्य वंश के समान यहाँ भी ब्राह्मण संकलनकर्त्ता ने राजाओ के इस दूसरे बड़े वंश की उत्पत्ति एक प्रसिद्ध ब्राह्मण ऋषि से जोडने मैं सावधानी बरती है : मै इस वशावली को संक्षेप मे प्रस्तुत करता हूँ क्योकि कथा को समझने के लिये यह आवश्यक है :—

'चन्द्रवंश को उत्पन्न करने वाले सोम, अर्थात चन्द्रमा, जिन्होने हस्तिनापुर पर शासन किया, ऋषि अत्रि के पुत्र थे। उनके पुत्र बुध थे जिन्होने सूर्यवंशी राजा इक्ष्वाकु की पुत्री इला या इडा से विवाह और ऐल या पुरूरवस नाम का पुत्र प्राप्त किया। ऐल को उर्वशी से आयु नाम का पुत्र प्राप्त हुआ जिनसे ययाति के पिता नहुष हुए। ययाति के दो पुत्र थे पुरु[1] और यदु, और इन्ही से चन्द्रवंश की दो शाखाएँ हुईं। यदु के वश मे केवल तीन अन्तिम राजाओं का उल्लेख करना अपेक्षित है—वे हैं शूर, वसुदेव[2] तथा अपने भ्राता बलराम सहित कृष्ण। दूसरे अर्थात् पुरु के वंश मे पन्द्रहवी पीढी मे दुष्यन्त हुए। ये भरत के पिता थे, जिनके नाम से देश का नाम भारतवर्ष पड़ा है। भरत की नवी पीढी मे कुरु हुए और उनसे चौदहवें शान्तनु। शान्तनु को सत्यवती से विचित्रवीर्य नामक पुत्र हुआ। भीष्म ने, जिन्हे शान्तनव, देवव्रत आदि भी कहते है, उत्तराधिकार के अधिकार को त्याग दिया और ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा की।[3] ये शान्तनु की पहली पत्नी गङ्गा देवी से उत्पन्न हुए थे जिस कारण इनका एक नाम गाङ्गेय भी है। सत्यवती ने शान्तनु से विवाह होने के पूर्व पराशर ऋषि से व्यास को उत्पन्न किया था। इस प्रकार विचित्र वीर्य, भीष्म तथा व्यास द्वैमातुर भाई थे[4] और यद्यपि व्यास ने ध्यान और समाधि का

---

[1] पुरु (कर्ता कारक पुरु.) नाम सभवत: पोरस का मूल रूप है, जिसका पजाब मे ही हीडस्पीस (Hydaspes) और एसेसीनीज (Acesines) के बीच का राज्य सिकन्दर महान द्वारा जीत लिया गया था।

[2] पृथा या कुन्ती, जो पाण्डु की पत्नी और तीन पाण्डवो की माता थी, वसुदेव की बहन और इस कारण कृष्ण की बुआ लगती थी।

[3] अर्थात् अखण्ड अविवाहित जीवन, 'अद्यप्रभृति मे ब्रह्मचर्यं भविप्यति। अपुत्रस्यापि मे लोका भविष्यन्त्यक्षया दिवि।'

[4] पराशर तथा सत्यवती का मिलन उस समय हुआ जब सत्यवती अभी बालिका थी और पराशर नौका से यमुना नदी पार कर रहे थे। उनके यौन संबन्धो के परिणामस्वरूप व्यास का जन्म हुआ जिन्हे श्यामवर्ण होने से कृष्ण कहा गया और उनका द्वैपायन नाम इसलिय पड़ा कि सत्यवती ने उनका पोषण यमुना के बीच एक द्वीप मे किया (देखें महाभारत)।

जीवन व्यतीत करने के लिये वन का आश्रय लिया तथापि उन्होंने अपनी माता को वचन दिया कि जब भी उन्हे उनकी सेवा की आवश्यकता होगी वे उनकी सेवा मे उपस्थित हो जायेंगे। जब सत्यवती के पुत्र विचित्रवीर्य नि:सन्तान मर गये तो वह उनके पास पहुँची और उनसे विचित्रवीर्य की दो विधवाओं, अम्बिका और अम्बालिक पर ध्यान देने को कहा। वे सहमत हो गये और उन दोनो से क्रमश: दो पुत्र हुए: धृतराष्ट्र जो जन्मान्ध उत्पन्न हुए, और पाण्डु जिनका वर्ण पीले रंग का था।[1] जब सत्यवती ने व्यास से एक तीसरे पुत्र (जिसमे कोई दोष न हों) का पिता होने की प्रार्थना की तो बड़ी पत्नी ने व्यास के उग्र रूप से डरकर अपनी एक दासी को अपने ही वस्त्रों मे भेज दिया। यह दासी विदुर की माता बनी (जिससे उन्हे कभी कभी क्षत्रि[2] भी कहा गया है)।

धृतराष्ट्र, पाण्डु एवं विदुर इस प्रकार भाई और व्यास के पुत्र थे, जो महाभारत के कल्पित रचयिता या संकलनकर्ता हैं। इसके बाद व्यास पुन:

---

[1] पाण्डु की माता का नाम कौशल्या भी था और यह नाम (जो रामचन्द्र की माता का था) धृतराष्ट्र की माता के लिये भी प्रयुक्त प्रतीत होता है। शरीर के वर्ण की पाण्डुता हिन्दुओं की दृष्टि मे एक प्रकार का चर्मरोग और अन्धता के समान ही एक बड़ा दोष है। इन दोषो के लिये दिये गये तर्क बड़े विलक्षण है। अम्बिका व्यास के श्याम वर्ण तथा रूक्ष रूप से (उनके शरीर से निकलनेवाली गन्ध की तो बात ही नही) इतनी भयभीत हो गयी कि जब वह उनके पास गयी तो उसने आँखे बन्द कर ली और जबतक व्यास उसके पास रहे तबतक उसने आँखे नही खोली। फलत: इस आँख बन्द करने से उसका पुत्र अन्धा उत्पन्न हुआ। दूसरी ओर यद्यपि अम्बालिका ने अपनी आँखें खुली रखी तथापि वह भय से इतनी विवर्ण हो गई कि उसका पुत्र पाडुवर्ण का हुआ। अन्य दृष्टियो से पाण्डु सुन्दर थे। 'सा देवी कुमारमजीजनत्पाण्डु-लक्षणसंपन्नं दीप्यमानं वरश्रिया।'

[2] व्यास इस दासी से इतने प्रसन्न हुए कि उन्होने उसे मुक्त कर दिया और कहा कि उसका पुत्र विदुर 'सर्वबुद्धिमतां वर:' अर्थात् सभी बुद्धिमानो मे श्रेष्ठ होगा। यद्यपि मनुस्मृति मे क्षत्रि शूद्र पिता और ब्राह्मण माता से उत्पन्न पुत्र को कहा गया है किन्तु यहाँ ब्राह्मण पिता तथा शूद्र माता से उत्पन्न पुत्र को सूचित करता है। विदुर महाभारत के श्रेष्ठ पात्रो मे एक हैं। वे सदैव पाडवो एवं अपने भाई धृतराष्ट्र को परामर्श (हितोपदेश) देने के लिए तैयार रहते हैं। उनकी मन.प्रवृत्ति उन्हें पांडव राजकुमारों का पक्ष लेने एवं उनको कौरवो के षड्यन्त्रो से सचेत करते रहने के लिए प्रेरित करती है।

वन को चले गये, किन्तु दिव्यज्ञान से युक्त होने के कारण वे पुत्रों और पौत्रों के सम्मुख, जब कभी वे कठिनाई मे होते अथवा उनके परामर्श एवं सहायता की आवश्यकता रखते, प्रकट हो जाते थे।

धृतराष्ट्र तथा पाण्डु इन दो भाइयो का पालन उनके चाचा भीष्म करते[1] रहे, जो उनके वयस्क होने तक हस्तिनापुर का राज्य चलाते थे।[2] धृतराष्ट्र पहले उत्पन्न हुए थे किन्तु उन्होंने अन्धा होने के कारण राज्य त्याग दिया। दूसरे भाइ विदुर शूद्रा के पुत्र होने के कारण सिंहासन के उत्तराधिकारी न हो सके। अतएव जब पाण्डु वयस्क हुए तो वे राजा बने। इसी बीच धृतराष्ट्र ने गान्धारी से विवाह किया जिसे सौबलेयी या सौबली भी कहते हैं और जो गान्धारराज सुबल की पुत्री थी। जब उसने पहले सुना कि उसके भावी पति अन्धे हैं तो उसी क्षण से उसने उनके प्रति अपना आदर प्रकट करने के लिए आँखो पर पट्टी बाँध ली और आँखें बन्द करके ही वह सदैव उनके निकट रहती थी।[3] थोडे दिन बाद राजा कुन्तिभोज ने एक स्वयंवर रचाया और उसकी गोद ली हुई पुत्री पृथा या कुन्ती ने पाण्डु को अपना पति चुना। वस्तुत वह यादव राजा शूर की पुत्री थी, जिन्होंने उसे अपने सन्तानहीन चचेरे भाई कुन्तिभोज को दे दिया। पृथा का पालनपोषण कुन्तिभोज के यहाँ हुआ :—

एक दिन विवाह से पहले ही उसने दुर्वासा नाम के महर्षि की, जो उसके पिता के अतिथि थे, इतनी सेवा की कि उन्होने उसे एक मन्त्र दिया और एक अभिचार भी सिखाया, जिसकी शक्ति से वह अपनी इच्छा से किसी देवता को अपने निकट बुलाकर उनसे पुत्र उत्पन्न कर सकती थी। उत्सुकतावश उसने सूर्य का आह्वान किया, और उनसे उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ जो कवच धारण किये हुए था।[4] किन्तु अपने संबन्धियो मे अपमान के भय से पृथा (कुन्ती) ने बालक को नदी मे छोड दिया। उसे अधिरथ नाम के रथवाहक (सूत) ने पाया और उसकी पत्नी राधा ने उसका लालन-पालन किया, जिस कारण आगे चलकर वह बालक राधेय कहलाया यद्यपि उसके

---

[1] उन तीनो को भीष्म ने भलीभाँति शिक्षा दी थी। धृतराष्ट्र को सबसे अधिक शक्तिशाली बताया गया है; पाण्डु धनुर्विद्या मे और विदुर सद्गुणो एवं बुद्धिमत्ता मे सबसे बढकर थे।

[2] हस्तिनापुर को गजसाह्व्य तथा नागसाह्व्य कहा गया है।

[3] सा पटमादाय कृत्वा बहुगुणं तदा बबन्ध नेत्रे स्वे राजन् पतिव्रता-परायणा।' उसे इतनी पतिव्रता बताया गया है कि 'वाचाऽपि पुरुषानन्यान् सुव्रता नान्वकीर्तयत्।'

[4] सूर्य ने बाद मे उसे पुनः 'कन्यात्व' प्रदान किया।

पालक पिता ने वसुषेण नाम रखा था। जब वह बड़ा हुआ तो इन्द्र देवता ने उसे महान शक्ति दी और उसका नाम कर्ण रखा।[1]

पाण्डु का पृथा के साथ विवाह होने के उपरान्त, उनके चाचा भीष्म ने उनका दूसरा विवाह करने की इच्छा से मद्र देश के राजा शल्य से मिलने के लिये अभियान किया और उन्हे प्रभूत रत्नराशि के बदले अपनी बहन माद्री का विवाह पाण्डु से करने को तैयार कर लिया। इस दूसरे विवाह के तत्काल बाद पाडु ने दिग्विजय प्रारम्भ किया और कई देशो को अधीन कर लिया जिससे हस्तिनापुर का राज्य उनके अधीन इतना समृद्ध और विस्तृत हो गया जितना उनके पूर्वज भरत के अन्तर्गत था। प्रचुर धन प्राप्त कर उन्होने उसे भीष्म, धृतराष्ट्र तथा विदुर को दे दिया और तब वे मृगया के शौक को पूरा करने के लिये वन मे चले गये। वहाँ वे अपनी दो पत्नियो के साथ वनवासी के समान हिमालय के दक्षिणी पर्वतमूल मे निवास करने लगे। अन्धे धृतराष्ट्र को, जिनका सञ्जय नाम का अत्यन्त उपकारी सारथि था, भीष्म की सहायता से शासन सूत्र ग्रहण करना पडा।

इसके बाद धृतराष्ट्र के पुत्रो के अतिमानवीय जन्म का वर्णन आता है :—

एक दिन गान्धारी ने व्यास मुनि का बहुत स्वागत सत्कार किया। मुनि ने प्रसन्न होकर वरदान मागने को कहा। गान्धारी ने यह वरदान माँगा कि मैं सौ पुत्रो की माता होऊँ। दो वर्ष बाद उसने एक मासपिण्ड का प्रसव किया, जिसे व्यास ने अँगूठे के पोरो के बराबर एक सौ एक टुकड़ो मे काट दिया। इन टुकडो से समय से बडा पुत्र 'दुर्योधन', जिसे परास्त न किया जा सके, उत्पन्न हुआ। उसके जन्म के समय अनेक अपशकुन हुए : शृगालो ने आर्तनाद किया, गदहे रेंकने लगे, चक्रवात बहने लगे, आकाश में मानो आग लग गयी। धृतराष्ट्र घबडा उठे; उन्होने मन्त्रियो को बुलाया। मन्त्रियो ने उस पुत्र को त्याग देने की सलाह दी किन्तु उन्हे अपने परामर्श के अनुसार कार्य करने को बाध्य न कर सके। तब उचित समय से शेष निन्यानवे पुत्रो का जन्म हुआ।[2] एक दुःशला नाम की पुत्री भी थी (जिसका विवाह जयद्रथ से हुआ)।

---

[1] उन्हे विकर्तन या सूर्य के पुत्र होने से 'वैकर्तन' भी कहा जाता है और कुछ स्थलो पर वृष भी कहा गया है। कर्ण सूर्य की उस समय तक पूजा करता था जब तक कि उसकी पीठ गरम नही हो जाती थी (आपृष्ठतापात्, अर्थात् मध्याह्न के बाद तक जब सूर्य उसके पीछे की ओर तपने लगता था)। तुलना हितोप० द्वितीय खण्ड ५ ३२।

[2] उनके नाम विस्तार से १ ४५४० मे दिये गये हैं।

उसके बाद पाण्डु के पाँच प्रख्यात पुत्रो के असाधारण जन्म का वर्णन आता है—

'एक दिन मृगया के लिये निकले हुए पाण्डु ने पाँच बाणों से एक मृग और मृगी को मार डाला। ये दोनो एक मुनि और उनकी मुनिपत्नी थे जिन्होंने इन पशुओ का रूप धारण किया था। मुनि ने पाण्डु को शाप दिया कि वह अपनी पत्नी के साथ आलिंगन के समय मृत्यु प्राप्त करेगा। इस शाप के परिणामस्वरूप पाण्डु ने ब्रह्मचारी का व्रत लिया[1]। अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति ब्राह्मणो को दी और वानप्रस्थ हो गये।'

उसके बाद उनकी पत्नी पृथा (जिसे कुन्ती भी कहते हैं,) ने उनकी अनुमति से दुर्वासा द्वारा दिये गये मन्त्र एवं अभिचार का प्रयोग किया और तीन देवताओं धर्म, वायु, तथा इन्द्र से क्रमश. युधिष्ठिर, भीम एवं अर्जुन इन तीन पुत्रो को प्राप्त किया।

'युधिष्ठिर का जन्म पहले हुआ और उनके जन्म के समय यह भविष्य-वाणी हुई कि 'यह मनुष्यो मे सबसे बड़ा धर्मात्मा है।' पृथा और वायु के पुत्र भीम का जन्म उसी दिन हुआ जिस दिन दुर्योधन का हुआ था। जन्म के शीघ्र बाद ही ये माँ के हाथ से दैवात् गिर पड़े और एक महान् आश्चर्य-जनक घटना हुई जिससे उनकी विशिष्ट विशाल शक्ति सूचित होती थी। जब शिशु भीम का शरीर शिला पर गिरा तो शिला चूर-चूर हो गयी। अर्जुन के जन्म पर शुभशकुन दिखाई पड़े, फूलो की वर्षा हुई;[2] गन्धर्व आकाश मे खुशी मनाने लगे और आकाशवाणी ने अर्जुन की प्रशसा एवं भावी कीर्ति का गान किया।'

पाण्डु की दूसरी पत्नी माद्री भी सन्तान पाने के लिए उत्सुक थी और तब पृथा (कुन्ती) ने उससे किसी देवता का स्मरण करने को कहा। उसने अश्विन देवताओ का वरण किया (दे० पृ० १५)। वे उसके सामने प्रकट हुए और उसके जुडवे पुत्रो नकुल और सहदेव के पिता हुये। जब पाँचो राजकुमार बालक ही थे तभी पाण्डु ने मृग रूप मे मारे गये मुनि के शाप को भूलकर एक दिन अपनी पत्नी माद्री का आलिङ्गन किया और उसके आलिङ्गन मे ही उनकी मृत्यु हो गई। माद्री और पृथा (कुन्ती) में सती बनने के गौरव के लिए विवाद उठ खडा हुआ। (दे० पृ० ३०६) अन्त में माद्री पति के शव के साथ भस्म हो गई। पृथा एव पाँचो पाण्डवों को पाण्डु के मित्र कुछ

---

[1] ब्रह्मचर्यव्रत या विषय त्याग की प्रतिज्ञा।

[2] भारतीय काव्य मे पुष्प की वर्षा वैसे ही आम है जैसे रक्त की वर्षा। एक शुभ सूचक है दूसरी अशुभ सूचक।

ऋषियों ने हस्तिनापुर पहुँचाया। वहाँ वे धृतराष्ट्र के निकट पहुँचाई गई एवं धृतराष्ट्र को सभी समाचार वताया गया। भाई की मृत्यु का समाचार सुनकर धृतराष्ट्र ने वहुत शोक प्रकट किया। उन्होंने उचित अन्त्येष्टि कर्म करने का आदेश दिया और पाँचो वालक राजकुमारो एवं उनकी माता को अपने परिवार के साथ रहने की आज्ञा दी। सभी चचेरे भाई एक साथ खेलते थे—

'वाल्यावस्था के खेलो मे पाण्डु के पुत्र धृतराष्ट्र के पुत्रो को हरा देते थे जिससे ईर्ष्या उत्पन्न होने लगी। और वाल्यावस्था मे भी दुष्ट दुर्योधन ने भीम को भोजन मे विष देकर मार डालने का प्रयत्न किया और विष के प्रभाव से मूर्छित होने पर उन्हे पानी में फेंक दिया। फिर भी भीम डूवे नही। वे नागों (सर्प-दानवो) के लोक मे पहुँच गये। नागो ने उन्हें विष से मुक्त किया और उन्हे इस प्रकार का रस पीने को दिया जिससे उन्हे दस हजार नागो का वल प्राप्त हो गया। उस समय से वे हरकुलीस के समान वीर हो गये।'

तव दुर्योधन, कर्ण, तथा शकुनि[1] ने पाण्डवो का नाश करने के लिए कई षड्यन्त्र रचे किन्तु वे असफल रहे।

पाँच पाण्डवो का चरित्र नितान्त कलात्मक कोमलता के साथ चित्रित और उसका सम्पूर्ण काव्य मे समान रूप से निर्वाह किया गया है[2]। सवसे बड़े, युधिष्ठिर, सज्जनता के हिन्दू आदर्श है—न्याय, एकता, शान्त एवं विकारहीन चित्तवृत्ति, वीरोचित मान एव शान्त वीरता के आदर्श रूप हैं।[3] भीम पाशविक उत्साह एव शक्ति के रूप है। वे विशालकाय, उद्धत, शीघ्र क्रुद्ध होनेवाले,

---

[1] शकुनि गान्धारी का भाई था और इस कारण कौरव राजकुमारों का मामा (मातुल) लगता था। वह दुर्योधन का मन्त्री था। प्रायः उसे सौवल कहा गया है जैसे गान्धारी को सौवली नाम दिया गया है।

[2] महाभारत जैसे काव्य मे, जिसका विकास अनेक शताब्दियो में हुआ है पूर्ण सामंजस्य की आशा नही की जा सकती। पृ० ३७७ पर वर्णित पाँच पाण्डवों का कर्म उनकी सामान्य सज्जनता एव उदारता से मेल नही खाता, हाँलाकि यह अत्यधिक उत्तेजना से प्रेरित होकर किया गया है। भीम अधिक अपराधी प्रतीत होते है जो उनके प्रतिकूल नही है।

[3] युधिष्ठिर (अर्थात् युद्ध मे स्थिर) का शरीर लम्वा, चौड़ा और प्रभावशाला था। उन्हे 'महासिंह गति' अर्थात् 'सिंह के समान शानदार गति वाला', वेलिंगटन के समान मुख वाला (प्रलम्बोज्ज्वलचारुघोण), तथा वड़े-वड़े कमल के समान नेत्रो वाला (कमलायताक्ष) कहा गया है।

बहुत कुछ प्रतिशोधशील, तथा अत्यन्त क्रूर हैं जिससे अपने नाम के अर्थ के अनुसार ही वे भयकर है। स्पष्ट ही है कि इस अगाध शक्ति को बनाये रखने के लिए वे अति परिमाण मे भोजन भी करते हैं, जैसा कि उनके वृकोदर अर्थात् भेड़िये के समान पेट वाला, नाम से अत्यधिक भोजन करने की बात सूचित होती है; और यह बताया गया है कि पाँच भाइयों के भोजन में आधा भोजन भीम करते थे (१.७१६१)। किन्तु उनके भीतर उत्कट एवं स्वार्थहीन प्रेम करने की क्षमता है। माता तथा भाइयो के प्रति उनमे अगाध प्रेम है। अर्जुन पूर्णता के योरोपीय मानस्तर के अधिक निकट हैं। उन्हे महाभारत का वास्तविक नायक माना जा सकता है[१]। वे अप्रतिहत शक्ति वाले, उदार[२], सुसंस्कृत एवं कोमल भावनाओं से युक्त, कोमल हृदय, क्षमाशील, स्त्रीवत् प्रेमी, तथापि अतिमानवीय शक्ति से युक्त, और अस्त्र-प्रयोग मे अद्वितीय हैं। नकुल और सहदेव दोनो सुशील, उदात्तचित्तवाले एवं साहसी हैं[३]। ये पाँचों धृतराष्ट्र के सौ पुत्रो से इतने असमान है जितना संभव हो सकता है। धृतराष्ट्र के पुत्र, जिन्हे सामान्यतः कुरु राजकुमार या कौरव[४] कहा जाता है, नीच, दुष्ट, गर्हित एवं खल है।

---

[१] कठोर अर्थों मे, इलियड के समान ही कोई वास्तविक नायक दृष्टि में नही रहता।

[२] कदाचित् यह आपत्ति हो सकती हैं, कि अर्जुन के कुछ कर्म उनके चरित्र से मेल नही खाते। उदाहरणार्थ उन्होने कृष्ण की बहन सुभद्रा का बलपूर्वक अपहरण किया। यह ध्यान मे रखना चाहिये कि स्वयं कृष्ण उन्हें इस कार्य के लिए उत्साहित करते हैं और कहते है—'प्रसह्य हरणं क्षत्रियाणा प्रशस्यते' तुलना पृ० ३८१।

[३] पाँच पाण्डव राजकुमारो के महाभारत मे अनेक नाम है जिनमे से कुछ का उल्लेख यहाँ करना उपयोगी होगा। युधिष्ठिर को धर्मराज, धर्मपुत्र और कभी-कभी केवल राजन् कहा गया है। उनके सारथि का नाम इन्द्रसेन था। भीम के अन्य नाम हैं भीमसेन, वृकोदर, बाहुशाली। अर्जुन को भी कीर्तिन्, फाल्गुन, जिष्णु, धनजय, वीभत्सु, सव्यसाची, पाकशासनि, गुडाकेश, श्वेतवाहन, नर, विजय, कृष्ण, और कभी कभी श्रेष्ठ पार्थ कहते हैं यद्यपि भीम और युधिष्ठिर भी पृथा के पुत्र होने के नाते इस अन्तिम नाम से पुकारे जाते हैं। नकुल और सहदेव को माद्रेयौ (माद्री के पुत्र) और कुछ स्थलो पर यमौ (जुड़वे) कहा गया है।

[४] इस नाम का स्थल-स्थल पर पाण्डवो के लिए भी प्रयोग हुआ है क्योकि वे और धृतराष्ट्र के पुत्र दोनो ही कुरु के वंशज थे।

ये सौ भाई इतने दुष्ट हैं और समान रूप से इस प्रकार गुणो से शून्य हैं कि उनके चरित्र मे कोई विशेषता नही दिखाई पड़ती। इन सब मे प्रमुख दुर्योधन[1] है जिसे अन्य भाइयों के प्रतिनिधि के रूप में काले रंग मे रंगा गया है और जो उनके सभी दुर्गुणों का मूर्तरूप है। जब हम महाभारत को (रामायण के समान) प्रतीकात्मक वर्णन मानते हैं तो दुर्योधन (रावण के समान) मानव स्वभाव के असत्[2] तत्व का प्रत्यक्ष रूप सिद्ध होता है जो सदैव उस सद् एवं दैवी तत्व के साथ संघर्ष मे लगा है जिसके प्रतीक पाण्डु के पाँच पुत्र हैं।

यद्यपि ये चचेरे भाई स्वभाव मे इतने असमान थे तथापि इनको धृतराष्ट्र के नगर, हस्तिनापुर, मे द्रोण[3] ने एक साथ ही शिक्षा दी, और उन्होंने पाण्डव राजकुमारों को योग्य शिष्य पाया। उनसे पाण्डु के पाँचो पुत्रो ने 'बुद्धि, विद्या, उच्चध्येय, धर्मपरायणता एवं सत्यप्रियता' प्राप्त की। सभी चचेरे भाइयो को युद्ध और शस्त्रो की शिक्षा समान रूप से दी गई किन्तु अर्जुन ने द्रोण की सहायता से, जिन्होने उन्हें मन्त्रपूत अस्त्र दिये थे, सबको परास्त कर दिया और प्रत्येक अभ्यास मे अपने अद्वितीय कौशल का प्रदर्शन किया। वे सदैव गुरु के आज्ञापालक, सन्तुष्ट, विनम्र, प्रसन्नचित्त, तथा धीर रहते थे। भीम और दुर्योधन दोनों ने अपने मातुलपुत्र बलराम से गदायुद्ध की शिक्षा ली।

उनकी शिक्षा समाप्त हुई। एक प्रतियोगिता हुई, जिसमे सभी युवक पितृव्य-पुत्रों ने धनुष के प्रयोग, रथों (रथचर्या), घोड़ों एवं हाथियों के प्रबन्ध, खड्ग, भाला तथा गदा के अभ्यास एवं मल्लयुद्ध मे अपने-अपने कौशल का प्रदर्शन किया :—

---

[1] 'जिसे जीतना कठिन हो'; सबके नाम आदिपर्व में दिये गये हैं। दु:शासन भी उनमे प्रमुख है।

[2] उसके और रावण के चरित्र में बहुत सी ऐसी विशेषताएं हैं जिनकी तुलना मिल्टन के सेटन (Satan) की कल्पना से की जा सकती है। कदाचित् उसका असुर चार्वाक के साथ घनिष्ठ संबन्ध उसे एक नास्तिक एवं शास्त्र-विरोधी के रूप मे तथा सभी दुर्गुणों से युक्त उपस्थित करने के लिए दिखाया गया है। रावण के संबन्ध मे यह उल्लेखनीय है कि उसने अपनी शक्ति तपस्या से प्राप्त की और उसे वेद में पारंगत बताया गया है। (राम० ६.९३, ५८)। विभीषण, अतिकाय, जैसे कुछ राक्षसों को धर्मात्मा दिखाया गया है। (राम० ६ ७१, ३१) (तुलना मनु ७ ३८)।

[3] ऐसा प्रतीत होता है कि द्रोण का अपना शिक्षालय था जिसमें सभी पार्श्ववर्ती देशों के राजकुमार आते थे। उन्होने कृप की बहन कृपी से विवाह किया और उससे उनके अश्वत्थामा नामक पुत्र हुआ।

एक विशाल दर्शक समूह प्रतिद्वन्द्वियो को उत्साहित कर रहा था। भीड़ की उत्तेजना विस्तृत समुद्र के गर्जन के समान थी। अर्जुन ने अपने बल का प्रदर्शन कर पाँच बाण एक साथ ही घूमते हुए लोहे के बने सूकर के मुख में मारा, और एक रज्जु से लटकाये गये गाय के सींग के छिद्र मे इक्कीस बाण मारे। अचानक प्रदर्शन बन्द हो गया। भीड़ ने देखा कि रंगभूमि के दूसरे किनारे पर एक योद्धा चुनौती के साथ[1] बाण छोडने की ध्वनि से आकाश को वज्र के समान विदीर्ण करता हुआ दूसरे प्रतिद्वन्द्वी के उपस्थित होने की सूचना दे रहा है। यह कर्ण नामक वीर था जिसने पूर्ण कवच धारण करके रंगभूमि मे प्रवेश किया एवं बाण प्रयोग के कौशल का प्रदर्शन कर अर्जुन को द्वन्द्व युद्ध के लिये ललकारा। किन्तु प्रत्येक वीर को अपना नाम तथा वंश बताने को कहा गया और कर्ण का जन्म-वश सन्देहास्पद होने से (दे० पृ० ३६९) उसे मुरझाए कुमुद के समान लज्जा से सिर अवनत करके चला जाना पडा।

इस प्रकार खुले आम अपमानित हुआ कर्ण आगे चलकर अपने ही भाइयों के विपरीत कौरवों का प्रमुख एवं महत्वपूर्ण सहायक बन गया। उसके चरित्र की कल्पना उत्तम है। अपने जन्म के कलक का अनुभव कर उसका चरित्र कष्टो से पवित्र हो गया था। उसमे अत्यन्त धैर्य, वीरोचित मान, आत्मत्याग एव भक्ति थी। वह विशेषतया उदार एव दानी स्वभाव के लिये उल्लेखनीय था।[2] वह कभी अपने मित्र कुरुओं के समान दुष्कर्मों का दास नही बना, जो स्वभावतः दुष्ट व्यक्ति थे।

गुरु की दक्षिणा ('गुर्वर्थ' दे० पृ० १९७; २४० मनु २.२४५; रघुवंश ३ १७) जो द्रोण ने अपने शिष्यों से उन्हे प्रदत्त विद्या के बदले माँगी वह यह थी कि वे पचाल के राजा द्रुपद पर आक्रमण करे, जो उनके पुराने सहपाठी थे, किन्तु जिन्होने उनकी मित्रता भुलाकर उनका अपमान किया था :—

'इस कारण उन्होने द्रुपद के राज्य पर आक्रमण किया एव उन्हे वन्दी बना लिया। द्रोण ने उनपर दया करके उन्हें छोड़ दिया और आधा राज्य भी लौटा दिया। प्रतिशोध से जलते हुए द्रुपद ने ऐसा पुत्र प्राप्त करने का प्रयत्न किया जो उनकी पराजय का बदला ले सके और द्रोण का नाश कर सके। दो ब्राह्मणो

---

[1] इसी प्रकार विष्णुपुराण पृ० ५१३ मे कृष्ण ने उस सरिता के भीतर प्रवेश करके चुनौती देते हुए अपनी वाहे ठोकी जिसकी ध्वनि सुनकर नागराज शीघ्र ही वाहर निकल आया।

[2] आज भी उनकी दानशीलता का आदर्श के रूप मे उल्लेख होता है। इसी कारण उनका नाम वसुषेण है।

ने उनके लिये यज्ञ किया और वेदी के बीच यज्ञ कुण्ड से एक पुत्र और एक पुत्री उत्पन्न हुये। पुत्र धृष्टद्युम्न था और पुत्री कृष्णा या द्रौपदी जो बाद मे पाण्डवो की पत्नी बनी।

इसके बाद धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर को युवराज बनाया और उन्होंने पराक्रम द्वारा शीघ्र ही अपने पिता पाण्डु के राज्य की समृद्धि प्राप्त कर ली।

पाण्डव-राजकुमारो की महान् ख्याति से धृतराष्ट्र के मन में ईर्ष्या तथा दुर्भावना उत्पन्न हुई परन्तु प्रजा के मन मे पाडवो के प्रति प्रेम विकसित हुआ। पुरवासियों ने सभा बुलायी एव विचार-विमर्श करके यह घोपित कर दिया कि चूँकि धृतराष्ट्र अन्धे है अतः उन्हे राजकार्य छोड़ देना चाहिये। भीष्म पहले सिंहासन त्याग चुके थे अत. उन्हे भी सरक्षण का कार्य करने की आज्ञा नही दी जा सकती थी। अतएव उन्होने युधिष्ठिर को तत्काल राजा घोषित कर दिया। जब दुर्योधन ने इस विषय मे सुना तो उसने कर्ण, शकुनि, तथा दुःशासन के साथ इस सम्बन्ध मे विचार किया कि किस प्रकार युधिष्ठिर को सिंहासन से उतार कर वह स्वयं सम्राट बन सकता है।

'दुर्योधन के कहने पर धृतराष्ट्र ने पाण्डव राजकुमारो को वारणावत नगर की सैर के लिये इस बहाने से भेजा कि उनकी इच्छा थी कि पाण्डव उस नगर की शोभा देखें एवं वहाँ उत्सव मे सम्मिलित हों। इसी बीच दुर्योधन ने अपने मित्र पुरोचन को पाण्डवो के जाने के पूर्व वहाँ पहुँच कर उनके स्वागत के लिये एक भवन बनाने को कहा जिसमे गुप्त रूप से सनई तथा अन्य जलने वाले पदार्थ रखकर और उसकी दीवालो पर तेल और लाक्षा आदि का लेप लगाने का आदेश दिया। जब ये राजकुमार उस भवन मे, निःशङ्क होकर सोएं तो उसमे उसको आग लगा देनी थी। पाँचो पाण्डव तथा उनकी माता ने पुरवासियो के आंसुओ और शोक के बीच हस्तिनापुर छोड़ा और आठवे दिन वारणावत पहुँचे जहाँ पुरवासियों द्वारा अत्यन्त सम्मान के प्रदर्शन के उपरान्त पुरोचन उन्हे लाक्षागृह मे ले गया। विदुर द्वारा पहले ही सावधान कर दिये जाने से उन्होने शीघ्र ही भवन की रचना समझ ली और विदुर द्वारा भेजे गये एक सुरंग खोदने वाले (खन्दक) की सहायता से उन्होने बाहर बच निकलने के लिये एक सुरंग खोद ली। तब उन्होने भी एक प्रतियोजना रची और इस बात पर सहमत हुए कि एक अधम जातिहीना स्त्री (निषादी) पाँच पुत्रो सहित भोजन कराने के लिये बुलाई जाय और उन सबको मद्यपान से सज्ञाहीन कर दिया जाय। भीम को उस लाक्षागृह मे अग्नि लगाने का कार्य सौंपा गया, जिसमे वे सभी एकत्र हुए थे (दे०पृ० ३७२ टि०)। ऐसा ही किया गया। पुरोचन जल गया और पाँच पुत्रो के साथ निषादी भी जल गई किन्तु वे स्वयं गुप्तमार्ग (सुरङ्ग)।

से बच निकले। बाद मे निषादी और उसके पाँच पुत्रों के जले हुए शरीर पाये गये और यह समझ लिया गया कि पाण्डव राजकुमार अग्निदाह मे जल गये। धृतराष्ट्र ने तो उनका श्राद्धकर्म भी कर डाला। इसी बीच वे वनो मे निकल गये। सबसे बलशाली भीम अपनी माँ तथा जुडवा भाइयो को कन्धे पर लेकर चले। दूसरे भाई भी यदि थक जाते और नही चल पाते तो उन्हें भी वह बाहो पर उठा लेते थे। जिस समय भीम की माता एवं सभी भाई एक गूलर के पेड़ के नीचे सोये थे उस समय भीम का हिडिम्ब नाम के भयंकर दानव के साथ घोर युद्ध हुआ, जिसे भीम ने मार डाला।[1] भीम ने इस दानव की बहन हिडिम्बा से विवाह और घटोत्कच नाम का पुत्र उत्पन्न किया।

अपने पितामह व्यास के परामर्श से पाण्डवो ने एकचक्रा नगरी मे एक ब्राह्मण के घर निवास किया। वहाँ वे बहुत दिनो तक ब्राह्मण भिक्षुको का वेश बनाकर रहे और दुर्योधन को इसका पता न चल सका। प्रतिदिन वे भोजन की भिक्षा माँगने जाते थे, जिसे उनकी माता कुन्ती रात मे बाँटती और पूरे भोजन का आधा भाग भीम को मिलता था (तु० पृ० ३७३)। ब्राह्मण के परिवार मे निवास करते समय भीम ने उसके परिवार एवं एकचक्रा नगरी का एक बक (या वक) नाम के भयंकर राक्षस से उद्धार किया, जिसने नगरवासियो को प्रतिदिन एक व्यक्ति द्वारा भोजन भेजने के लिए बाध्य कर रखा था और भोजन ले जानेवाले व्यक्ति को भी भोजन करने के बाद स्वादिष्ट खाद्य के रूप मे मारकर खा डालता था।[2]

'उस ब्राह्मण की भी राक्षस के लिए भोजन भेजने की बारी आई। उसने स्वय ही जाने का निश्चय किया किन्तु अपने भाग्य की विपरीतता पर विलाप करने लगा। इस पर उसकी पत्नी एवं पुत्री अत्यन्त करुणा से भरी वाणी से अपनी-अपनी कथा कहने लगे। प्रत्येक सदस्य परिवार के कल्याण के लिये अपना बलिदान देने के लिये जिद करने लगा। अन्त मे छोटा पुत्र, जो अभी साफ बोल भी नही पाता था, चमकती हुई आँखों और मुसकराते हुए मुख से अपने माता-पिता के पास पहुँचा और बोला—'पिताजी रोओ मत, माँ शोक मत करो।' तब एक तृण लेकर उसने कहा 'इस तिनके से मैं उस नरभक्षी राक्षस को मार डालूँगा।' अपने बच्चे की इस भोली बात को सुनकर उसके माता-

---

[1] यह एक प्रमुख कथा का विषयवस्तु है जिसका सम्पादन बोप ने किया है।

[2] यह कथा एक मार्मिक आख्यान है, जिसे बोप ने प्रकाशित और मिल्मैन ने अनूदित किया है।

पिता इस हृदयावर्जक दुःख मे भी अद्वितीय आनन्द से विभोर हो गये। अन्त मे भीम यह सब वार्तालाप छिपे-छिपे सुनकर स्वय ही राक्षस को भोजन पहुँचाने के लिये चल पड़े और उसका शीघ्र ही नाश कर दिया।

इसके बाद व्यास अपने पौत्रो के पास आये और उन्होने सूचना दी कि पञ्चाल के राजा द्रुपद की पुत्री द्रौपदी उन सबकी पत्नी होगी[1]—

'वस्तुतः अपने पूर्वजीवन मे वह एक मुनि की पुत्री थी जिसने पति की प्राप्ति के लिए उग्र तप किया था। उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर उसके सम्मुख शिव प्रकट हुए और एक पति के बदले उन्होने पाँच पतियो का वरदान दिया। जब मुनि कन्या ने शिव से कहा कि उसे तो एक ही पति की इच्छा थी तो भगवान् ने उत्तर दिया 'तूने पाँच बार मुझसे कहा है कि मुझे पति दो, इसलिये दूसरे जन्म मे तुम्हारे पाँच पति होंगे।' यही ऋषिकन्या द्रुपद के वंश मे अपूर्व सुन्दरी कन्या के रूप मे उत्पन्न हुई और पाडवो की पत्नी बनी।[2]

---

[1] बहुपतित्व की प्रथा आज भी शिमला के निकट हिमालय की पहाड़ियो एवं अन्य निर्जन पर्वतीय क्षेत्रो तथा भूटान की पर्वतीय जातियो में प्रचलित है, जहाँ जनसंख्या अधिक नही। यह मलाबार की नैर (नायर) जाति में भी प्रचलित है। हमारे पूर्वजो या कम से कम प्राचीन ब्रिटेन-निवासियों में भी सीजर के अनुसार, यह प्रथा प्रचलित थी। Uxores habent deni duodenique inter se comnunes', इत्यादि। डे बेलो गैलिको ५ १४।

[2] व्यास जो कठोर ब्राह्मणत्व के प्रतीक और प्रतिनिधि हैं, विस्तार से द्रौपदी की पाँच पाण्डवों के साथ विवाह की आवश्यकता को स्पष्ट करते हैं (जिसे सूक्ष्मधर्म कहा गया है)। उन्होने द्रुपद को दिव्य दृष्टि (चक्षुर्दिव्यम्) प्रदान किया जिससे कि वे पाण्डवों के देवत्व को और उस रहस्यमय अर्थ को समझ सकें अन्यथा ब्राह्मणो के धर्मों एवं नियमो का उल्लघन होता। इससे द्रुपद अपनी पुत्री के पूर्वजन्म से अभिज्ञ हो गये और यह जान गये कि अर्जुन स्वय इन्द्र के अंश (शक्रस्यांश) थे तथा उनके सभी भाई भी उसी देवता के अश थे। द्रौपदी स्वय भी नाममात्र के लिए द्रुपद की पुत्री थी। वस्तुतः अपने भाई धृष्टद्युम्न के समान वह भी यज्ञ की अग्नि से (वेदी मध्यात्, १ ६९३१ दे० पृ० २७५) उत्पन्न हुई थी और लक्ष्मी का एक रूप थी। उसके अतिमानवीय जन्म तथा शरीर से निकलने वाले एक कोस तक महकने वाली सुगन्ध (कोशामात्रात्प्रवाति) का कोई दूसरा कारण नही था। व्यास ने उसी समय कृष्ण तथा बलदेव के रहस्यपूर्ण जन्म की कथा बताई कि कैसे भगवान् विष्णु

अपने पितामह की आज्ञा का पालन कर पाँचों पाण्डवों ने एकचक्रा छोड़ दिया और वे राजा द्रुपद की सभा मे पहुँचे जहाँ द्रौपदी का स्वयंवर होने वाला था—

स्वयंवर मे भाग लेने के लिए आये हुए राजाओ की भीड़ लगी हुई थी। वे अपने अनुचरो सहित समारोह मे आये थे। राजा द्रुपद उत्सुकता से अर्जुन की प्रतीक्षा कर रहे थे, जिससे वे उस वीर से संबन्ध स्थापित कर शक्तिशाली होकर द्रोण के क्रोध का बदला ले सके। इसलिये उन्होने एक विशाल धनुष बनवाया था। वे समझते थे कि अर्जुन के अतिरिक्त कोई और उसकी प्रत्यञ्चा नही चढा सकता। इसके बाद उन्होने राजाओ के शक्ति की परीक्षा लेने की योजना बनाई और यह घोषणा की कि जो कोई धनुष से पाँच बाण एक साथ एक घूमते हुए चक्र के भीतर से मारकर लक्ष्य-बेध कर देगा उसे वे अपनी पुत्री प्रदान करेंगे। नगर से बाहर एक रंगभूमि बनायी गयी, जिसमे चारों ओर ऊँचे ऊँचे आसन थे, मंच थे, और रंगविरगे वितान लगे थे। भव्य प्रासादो के ऊपर एकत्र हुये उत्सुक दर्शक दृश्य का अवलोकन कर रहे थे। नट, आभिचारिक, खिलाडी और नर्तक भीड के सम्मुख अपना अपना कौशल दिखा रहे थे। सुन्दर मधुर गीत के स्वर आकाश मे गूँज रहे थे, नगाड़े और दुन्दुभि बज रहे थे। लोगों की प्रतीक्षा चरमसीमा पर पहुँची और उधर सुन्दर वस्त्रो मे

ने अपने दो केश, श्याम और श्वेत, तोड़ा और वे केश यादव वश की दो स्त्रियो (देवकी तथा रोहिणी) में प्रवेश कर गये तथा गौर वर्ण बलदेव एवं श्याम वर्ण कृष्ण के रूप मे उत्पन्न हुए (विष्णुपुराण ५ १)। मार्कंडेयपुराण (अध्याय ५) में दिखाया गया है कि किस प्रकार पाँचों पाण्डव इन्द्र के ही अंश थे और फिर भी उनमे चार अन्य देवताओ के अंश थे। जब इन्द्र ने त्वष्टा के (या प्रजापति रूप विश्वकर्मन्) के पुत्र को मारा तो उसको ब्रह्महत्या का दण्ड यह मिला कि उसका सम्पूर्ण तेज निकल कर धर्म मे जा मिला। त्वष्टा का पुत्र वृत्र रूप में उत्पन्न हुआ और इन्द्र ने जब उसे फिर मार डाला तो उसका दण्ड यह मिला कि इन्द्र का बल उन्हें छोडकर मरुत या वायु मे जा मिला। अन्त मे जब इन्द्र ने गौतम मुनि की पत्नी अहल्या के साथ व्यभिचार किया तब उनका रूप या सौन्दर्य उन्हे छोडकर नासत्यौ अथवा अश्विनों मे जा मिला। जब धर्म ने इन्द्र का तेज छोड़ा तो युधिष्ठिर उत्पन्न हुए; जब वायु ने इन्द्र का बल छोड़ा तो भीम का जन्म हुआ; जब अश्विन ने इन्द्र का रूप लौटाया तो नकुल और सहदेव हुए। अर्जुन इन्द्र के आधे अश के रूप मे उत्पन्न हुए। यतः ये सभी एक ही देवता के अंश थे अतः इन पाँचों का द्रौपदी का पति होना असंगत नही था।

सजी हुई द्रौपदी सभा में आयी। धनुष लाया गया। धृतराष्ट्र के सौ पुत्रों ने विशाल धनुष को झुकाने में भारी शक्ति लगा दी किन्तु कोई परिणाम न हुआ। उसके झटके से वे पृथ्वी पर गिर पडते थे और भीड़ की हँसी के पात्र बन जाते थे।'

एक ब्राह्मण के वेश मे अर्जुन आगे बढ़े। इस सम्बन्ध मे मै यहाँ एक अश का अनुवाद देता हूँ (१.७०४९)—

> एक क्षण के लिये वे निश्चल खड़े रहे एवं अपनी सारी शक्ति लगाकर धनुष को तौला। फिर उसके चारो ओर श्रद्धा से घूमते हुए उन्होने सभी उपहारों को देनेवाले ईश्वर की प्रार्थना की। तब अपना सम्पूर्ण ध्यान द्रौपदी पर लगाकर उन्होने उस विशाल धनुप को हाथ में पकड लिया और एक ही प्रयत्न मे उसकी डोरी चढा दी। पलक गिरते उन्होने लक्ष्य साध लिया। बाण छूटे और लक्ष्य विद्ध होकर पृथ्वी पर था। सारी रंग-सभा में जय जयकार की ध्वनि गूंज उठी। फूलो की मालाओं से उस वीर का कण्ठ भर गया। दस हजार पताकाएँ आकाश में फहराने लगी और दुन्दुभियाँ तथा नगाड़े बजने लगे।

मुझे उस समानता को प्रदर्शित करने की आवश्यकता नही जिसे प्राचीन साहित्य के विद्वान् इस शराभ्यास की परीक्षा एवं ओडेसी मे आए हुए इसके अनुरूप वर्णन में सहज ही देख सकते है।

जब द्रौपदी को जीतने की इच्छा से आये हुए राजाओ ने अपने को एक ब्राह्मण भिक्षुक का वस्त्र धारण किये हुये युवक से परास्त देखा तो उनके क्रोध की सीमा नही रही और उसके बाद वस्तुतः युद्ध प्रारम्भ हो गया—

पाण्डवों ने द्रुपद की रक्षा और अद्भुत कर्म किए। भीम एक वृक्ष उखाड़कर उसे गदा के समान घुमाने लगे। अन्त में कर्ण एक नव गज के समान अर्जुन से लड़ने आया। उन दोनो ने एक दूसरे को बाणो की वर्षा से सम्भ्रमित कर दिया। आकाश मे अन्धकार छा गया। किन्तु देवसदृश अर्जुन के घोर प्रहार के सामने कर्ण भी नही टिक सका और वह तथा दूसरे विवाहेच्छुक राजा परास्त होकर भाग खड़े हुए। द्रौपदी अर्जुन की वधू हुई।

द्रौपदी द्वारा अर्जुन का वरण करने के बाद पाँचो पाण्डव उसके साथ अपनी माता के पास लौटे। घर के भीतर काम मे लगी हुई माता ने यह सोचकर कि वे भिक्षा ले आये हैं उनसे कहा कि 'अपने मे बाँट लो' (भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे)। माता-पिता द्वारा इस प्रकार कहे गये वचनों की अवहेलना

करने पर उसका परिणाम अशुभ होता है और व्यास द्वारा पुत्री[१] के दैव रचित गन्तव्य की बात बताने पर उनके आग्रह से सब इससे सहमत हो गये कि द्रौपदी पाँचो पाण्डवो की समान रूप से पत्नी बने। पुरोहित धौम्य ने सर्वप्रथम उसका विवाह युधिष्ठिर से कराया और तब जन्म की पूर्वकालीनता के आधार पर अन्य चार पाण्डवो से।[२]

पञ्चाल के शक्तिशाली राजा के साथ संबन्ध द्वारा शक्ति प्राप्त कर पाण्डवों ने अपने छद्मवेश उतार डाले और धृतराष्ट्र ने अपने राज्य को पाण्डवो एवं अपने पुत्रो मे बाँटकर आपसी वैमनस्य को दूर कर देना अधिक राजनीतिपूर्ण समझा। उन्होने हस्तिनापुर अपने पुत्रो को दिया जिनका अग्रणी दुर्योधन था, और पाँचों पाण्डवो को यमुना के निकट खाण्डवप्रस्थ नामक जनपद ले लेने की आज्ञा दी। वहाँ उन्होने इन्द्रप्रस्थ (आधुनिक दिल्ली) नगर का निर्माण किया और उनके अग्रणी युधिष्ठिर ने विजय यात्रायें करके निकटवर्ती बहुत सी भूमि को अपने अधीन कर लिया।

एक दिन जब अर्जुन गंगा मे स्नान कर रहे थे तो वे नागो की पुत्री उलूपी को देखकर मोहित हो गये और उससे विवाह कर लिया। उसके बाद उन्होने मणिपुर के राजा की पुत्री चित्राङ्गदा से विवाह और उससे बभ्रुवाहन नामक पुत्र उत्पन्न किया।

एक व्रत का पालन करने के लिये बारह वर्ष तक वन मे भ्रमण करते हुए अर्जुन प्रभास आये जो दक्षिण भारत मे एक तीर्थस्थान है। वहाँ उनकी भेट

---

१ देखिए पृ० ३७८ टि० २। द्रुपद ने पहले आपत्ति की। युधिष्ठिर की अपने एवं अपने भाइयो के लिए क्षमा प्रार्थना उल्लेखनीय है—पूर्वेषामानुपूर्व्येण यातं वर्तमानुयामहे (१)

२ पाँच भाइयो मे प्रत्येक से उसके एक एक पुत्र हुए—युधिष्ठिर से प्रतिविन्ध्य, भीम से सुतसोम, अर्जुन से श्रुतकर्मन्, नकुल से शतानीक, सहदेव से श्रुतसेन। अर्जुन की दूसरी पत्नी, कृष्ण की बहन सुभद्रा थी जिसे द्वारका मे कृष्ण से मिलने के लिए गये हुए अर्जुन भगा ले आये थे। उससे अभिमन्यु नामका पुत्र हुआ। उनके उलूपी नाम की नागकन्या से इरावत् नाम का पुत्र भी था। भीम का राक्षसी हिडिम्बा से घटोत्कच नामक पुत्र हुआ (देखिये पृ० ३७७) और अन्य पाण्डवो के भी विभिन्न पत्नियो से पुत्र थे (विष्णु-पुराण, पृ० ४५९)। अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु और अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित् जनमेजय के पिता थे। परीक्षित् सर्प के काटने से मर गये थे और सर्प के काटने और उनकी मृत्यु के बीच उन्हे भागवत पुराण सुनाया गया था।

कृष्ण[1] से हुई, जिनके प्रारम्भिक जीवन का विस्तृत विवरण दिया जा चुका है (पृ० ३२५)। यहाँ अर्जुन के साथ उनकी प्रथम मित्रता हुई। वे अर्जुन को द्वारका ले गये जहाँ उनका सत्कार अतिथि के समान किया। इसके उपरान्त कृष्ण के कुछ स्वजनो ने रैवतक पर्वत पर एक उत्सव किया जिसमे अर्जुन और कृष्ण दोनों ही उपस्थित हुए। वहाँ उन्होने कृष्ण के वड़े भाई वलराम को अपनी पत्नी रेवती के साथ मद पान से प्रमत्त देखा।[2] वही उन्होंने कृष्ण की वहन सुभद्रा को भी देखा। सुभद्रा के सौन्दर्य ने अर्जुन के हृदय मे प्रेम की आग भडका दी। कृष्ण की आज्ञा पाकर अर्जुन ने उसका हरण एवं उससे विवाह किया (दे० पृ० ३८१ टि० २)। वारहवें वर्ष मे वे उसके साथ इन्द्रप्रस्थ लौटे।

पाण्डव एवं इन्द्रप्रस्थ के सभी निवासी कुछ समय तक युधिष्ठिर के राज्य के अन्तर्गत वड़े सुख से रहे। अर्जुन ने अपनी विजयो से फूलकर कृष्ण की सहायता से राजसूय नामक महान यज्ञ प्रारम्भ किया जिसमे स्वयं उनका राज्याभिपेक होने वाला था।

फलत. एक बड़ी सभा हुई—

अनेक राजकुमार सम्मिलित हुए। वे अपने साथ वहुमूल्य उपहार ले आए। उनमे भीष्म, धृतराष्ट्र एवं उनके सौ पुत्र, सुवल (गान्धार के राजा), शकुनि, द्रुपद, शल्य, द्रोण, कृप, जयद्रथ, कुन्तिभोज, शिशुपाल, और दूसरे सुदूर दक्षिण और उत्तर (द्राविड, लंका तथा काश्मीर) से आये राजा थे।[3] अभिपेक के दिन भीष्म ने नारद के परामर्श पर यह प्रस्ताव रखा कि पूजा के लिए उपस्थित व्यक्तियो मे सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वाधिक शक्तिशाली व्यक्ति के निमित्त एक अर्घ प्रस्तुत किया जाय, और ऐसा व्यक्ति उन्होने कृष्ण को वताया। पाण्डव इससे तत्काल सहमत हो गये हैं और सहदेव को यह कार्य करने की आज्ञा दी। शिशुपाल ने (जिसे सुनीथ भी कहते हैं) कृष्ण की पूजा का विरोध किया। उसने उन्हे एक अधम तथा अशिक्षित व्यक्ति कहकर उनकी निन्दा की और

[1] पृ० ३७८ पर टि० २। महाभारत मे कृष्ण के लिये आये हुए नामो मे से कुछ इस प्रकार हैं—वसुदेव, केशव, गोविन्द, जनार्दन, दामोदर, दशार्ह, नारायण, हृपीकेश, पुरुषोत्तम, माधव, मधुसूदन, अच्युत (देखिए ५.२५६०)। द्रौपदी हरण मे कृष्ण तथा अर्जुन को 'कृष्णौ' कहा गया है।

[2] मेघदूत, छन्द ५१, से तुलना कीजिए जिसमें बलराम की मद्यपान मे आसक्ति का उल्लेख हैं। देखिए विष्णु पुराण ५.२५ भी।

[3] काव्य के इस अंश का विस्तार रोचक एवं विलक्षण है। जैसा प्रोफेसर एच० एच० विलसन ने दिखाया है वे भारत के एक प्रारम्भिक युग की भौगोलिक विभाजनो एवं राजनीतिक स्थिति पर प्रकाश डालते हैं।

उन्हे युद्ध के लिए ललकारा,[1] किन्तु कृष्ण ने तत्काल उसका सिर सुदर्शन चक्र से काट गिराया ।[2]

इसके बाद धृतराष्ट्र से हस्तिनापुर मे दूसरी सभा का आयोजन करने का आग्रह किया गया। विदुर पाण्डवो को बुलाने के लिए भेजे गये। पाण्डव सहमत हो गये। युधिष्ठिर को दुर्योधन ने शकुनि के साथ जुआ खेलने के लिए आसानी से तैयार कर लिया। एक-एक करके युधिष्ठिर ने सब कुछ दाँव पर लगा दिया—अपना राज्य, अपनी सम्पत्ति और अन्त मे द्रौपदी को भी। वे सभी हारते गये और तब द्रौपदी के प्रति, जो अब एक दासी के समान थी, दु शासन ने घोर अपमानपूर्वक व्यवहार किया। उसे वह केश पकड़कर खीचते हुए सभा मे ले आया, जिस पर भीम ने यह प्रतिज्ञा की कि वे एक दिन दु शासन के टुकड़े टुकडे करके उसका रक्तपान करेगे ।[3] अन्त मे एक समझौता होता है। राज्य बारह वर्ष के लिए दुर्योधन को दे दिया गया और पाँचो पाण्डवों को इतनी अवधि तक वन मे निवास करने एवं तेरहवें वर्ष में नाम बदल कर एव छद्म वेश धारण कर अज्ञातवास करने की सन्धि हुई।

फलतः पाण्डव काम्यक वन मे पहुँचे और उन्होने सरस्वती के किनारे अपना निवास बनाया।

जब वे वन मे निवास कर रहे थे तो अनेक घटनाएँ घटी। यथा :—

अर्जुन हिमालय पर्वत पर कठिन तपस्या करने एव उसके द्वारा दिव्यास्त्र प्राप्त करने गये। कुछ समय के बाद शिव उन्हे पुरस्कृत करने के लिए एवं उनकी वीरता को प्रमाणित करने के लिए किरात या मृगया से जीवित रहने वाले वनवासी के रूप मे उस समय पहुँचे जब मूक नाम का राक्षस सूकर का वेश धारण कर उन पर आक्रमण करने दौड़ रहा था। शिव और अर्जुन दोनो

---

[1] महाभारत के परवर्ती भाग में दुर्योधन भी अर्जुन के देवत्व के विषय मे सन्देह प्रकट करता है।

[2] शिशुपाल की कथा और अर्जुन द्वारा उनके वध का वर्णन प्रसिद्ध माघ-काव्य का विषय है। महाभारत मे कही गई कथा का वर्णन डॉ० मूइर ने अपने सस्कृत टेक्स्ट्स, भाग ४, मे दिया है। विष्णुपुराण शिशुपाल को हिरण्य-कशिपु एव रावण आदि दानवों से अभिन्न बताता है (विलसन पृ० ४३७)

[3] इस प्रतिज्ञा को उन्होने पूरा भी किया। यह घटना उल्लेखनीय है क्योकि यह भट्टनारायण के प्रसिद्ध नाटक वेणीसंहार का विषय है, जो यह वर्णित करता है कि किस प्रकार दौपदी के केशो की चोटी, जिसे दुःशासन ने खींचा था, पुनः भीम ने बाँधा। भीम कहते है 'स्वयमहं संहरामि', मैं स्वयं ही केशपाश को बाधूंगा। (देखिये साहित्यदर्पण पृ० १६९)।

ने सूकर पर वाण छोड़े। सूकर पृथ्वी पर मृत होकर गिर पडा। दोनों स्वय सूकर को मारने का दावा करने लगे। इससे किरात वेशधारी शिव को अर्जुन से विवाद करने एवं लड़ने का अवसर मिला। अर्जुन देर तक किरात[१] के साथ लडते रहे किन्तु उसे जीत न सके। अन्त मे उन्होंने शिव को पहचान लिया और उनके पैरो पर गिर पड़े। उनकी वीरता पर प्रसन्न होकर शिव ने उन्हे प्रसिद्ध पाशुपतास्त्र दिया जिससे वे कर्ण एवं कौरवो को युद्ध मे जीत सकें।

पाण्डव राजकुमारो को वनवास के समय धीरज बँधाने के लिए भी अनेक कथाएँ दुहराई गई हैं। उदाहरणार्थ इसमे हम जलप्लावन के आख्यान का महाकाव्यीय रूप भी पाते हैं जिसका प्राचीनतम वर्णन शतपथ ब्राह्मण मे आता है (इस ग्रन्थ का पृ० ३१ देखिये) यथा :—

हिन्दू नोआ, मनु (ब्रह्मा के पौत्र और प्रसिद्ध स्मृतिकार नही, अपितु सातवें मनु या वर्तमान मन्वन्तर के वैवस्वत नाम के मनु, जिन्हे मानव जाति की सृष्टि करने वाला माना जाता है; मनु १.१,६३) विश्व के पतन के युग मे अपनी तपस्याओ से परमात्मा की कृपा प्राप्त करते हुए दिखाई पड़ते है। एक मत्स्य, जो ब्रह्मा का अवतार था (तु० पृ० ३२०), उनके नदी के तट पर स्नान करते समय प्रकट होता है और उनसे अन्य वड़े मत्स्यो से रक्षार्थ प्रार्थना करता है। मनु ने उसकी प्रार्थना सुनी एवं उसे एक शीशे के पात्र मे रखा। इससे भी वडा होने पर उसने और भी विस्तृत स्थान मे ले जाने की प्रार्थना की। मनु ने तव उसे सरोवर मे रखा। फिर भी मत्स्य बढ़ता गया और सरोवर, जो तीन कोस लम्वा था, उसके लिए छोटा पड़ने लगा। तव उसने गंगा मे ले जाये जाने की प्रार्थना की किन्तु शीघ्र ही गंगा भी छोटी पड़ने लगी। अन्त मे उसे समुद्र मे पहुँचाया गया। वहाँ भी वह वढ़ता रहा। अन्त मे उसने मनु को सम्बोधन कर आसन्न जलप्लावन से सतर्क किया।

मनु की रक्षा मत्स्य की सहायता से होने वाली थी। मत्स्य ने उन्हे एक नौका वनाने का आदेश दिया और उस नौका पर अपनी पत्नी और सन्तानो सहित नही अपितु सात ऋषियो के साथ चढ़ने का आदेश दिया। उसमे जीवो के जोड़े रखने को नही, अपितु सभी वस्तुओं के वीज रखने को कहा। जलप्लावन हुआ। मनु नौका पर चढ़ गये और मत्स्य के आदेशानुसार उन्होंने

---

[१] यह भारवि के प्रसिद्ध काव्य किरातार्जुनीयम् का विषय है। शिव को किरातो का देवता माना गया है। किरात प्रत्यक्षत: एक मूल जाति थी जिसका हिन्दू लोग वीरता एवं धनुष चलाने की दक्षता के कारण आदर करते थे।

नौका को मत्स्य के सर मे निकली सीघ मे बाँध दिया। तब मत्स्य उन्हें खीचकर ले चला[1] (मैं प्राय: शब्दश: अनुवाद करता हूँ) .—

"उस श्रेष्ठ नौका पर प्रजापति मनु समुद्र मे बढते जा रहे थे, और थिरकती हुई, गिरती हुई, लहरियो एवं गर्जन करते हुए सागर के ऊपर नौका बढ रही थी। वह इधर-उधर सागर के ऊपर थपेड़ो से फेकी जा रही थी, भँवरों के ऊपर चक्कर लगा रही थी, एक मदोन्मत्ता युवती के समान काँपती, लड़खड़ाती चल रही थी। कही पृथ्वी नही थी, न दूर का अन्तरिक्ष था, और न इनके बीच अन्तरिक्ष, क्योंकि सर्वत्र जल ही जल था। आकाश, अन्तरिक्ष-सर्वत्र जल ही फैला हुआ था। सम्पूर्ण जगत् जल से डूब गया, जल के ऊपर कुछ भी शेष नही था। केवल मनु थे, सात ऋषि थे और नौका को ले जानेवाला मत्स्य था। बिना श्रान्त हुए वह मत्स्य वर्षों तक उस विस्तृत जल के समुद्र में तैरता रहा। अन्त मे वह नौका को हिमालय के एक पर्वत पर ले गया। मन्द स्मित के साथ मत्स्य ने मनु से कहा :—'अपनी नौका को शीघ्र इस पर्वत-शिखर से बाँध दो, मुझे सभी भूतो का स्वामी एवं स्रष्टा ब्रह्मा समझो; मैं सर्वशक्तिमान् हूँ, मैंने मत्स्य का आकार धारण कर तुम्हें इस घोर संकट से बचाया है। मनु से ही सभी सृष्टि, देवता, असुर तथा मनुष्य उत्पन्न होगे। मनु ही इस स्थावर-जगम सम्पूर्ण जगत् की रचना करेगा'।"

काव्य के इस भाग मे आयी हुई दूसरी कथा अपनी यथार्थ काव्यीय भावनाओ एवं करुण रस के गुणो के कारण उद्धृत की जा सकती है। इन गुणो मे एडमेटस और एलसेस्टिस की कथाये इससे बढ़कर नही है। मैं इसका यथासंभव सूक्ष्म रूप प्रस्तुत करता है :—

राजा अश्वपति की सुन्दरी कन्या, सावित्री, सत्यवान नामक मुनिकुमार से प्रेम करती थी। किन्तु उसे एक ऋषि ने अपने मोह को रोकने की चेतावनी दी क्योंकि सत्यवान की मृत्यु निकट थी और उसके जीवन का एक ही वर्ष शेष था। परन्तु सावित्री यह उत्तर देती हैं .[2]

---

[1] जलप्लावन का एक परवर्ती वर्णन भागवतपुराण मे मिलता है जहाँ मत्स्य को भगवान विष्णु का अवतार बताया गया है। भगवान् के मत्स्य रूप मे अवतार लेने का प्रयोजन यह है कि वे नौका को खीच सकें। असीरिया के वर्णन मे (जैसा एम० जी० स्मिथ ने बताया है) नाव चलाने वाले और नाविक नौका पर चढ़ते है।

[2] मैंने यथासम्भव मौलिक के अनुरूप अनुवाद किया है। इस आर भारतीय काव्य के अन्य सुन्दर उदाहरणो का अधिक स्वच्छन्द एवं काव्यमय अनुवाद श्री आर० ग्रिफिथ ने किया है।

'चाहे उनका जीवन थोड़े ही वर्षों का हो या कई वर्षों का; वह सभी सौन्दर्य से युक्त हो या विकृत रूप वाले हों, मेरे हृदय ने उनका वरण किया है और यह अब दूसरी बार किसी का वरण नही करेगा।' फलतः राजा की पुत्री और मुनि के पुत्र का विवाह होता है। नववधू इस अशुभ भविष्यवाणी को भूलने का प्रयत्न करती है। किन्तु जब वर्ष का अन्तिम दिन आता है तो उसकी चिन्ता बढ जाती है। मृत्यु के हाथो को रोक देने की अभिलाषा से वह स्वयं को प्रार्थनाओं एवं व्रतो द्वारा क्षीण कर देती है, किन्तु कभी अपने पति से इस नाशपूर्ण तथ्य को प्रकट नही करती। अन्त मे वह दुःखमय दिन आया और सत्यवान वन मे काष्ठ काटने चल पड़ा। उसकी पत्नी ने भी साथ चलने की आज्ञा माँगी और अपने पति के पीछे स्मितवदन हो चलने लगी, परन्तु उसका हृदय दु.खी था। शीघ्र ही सत्यवान की कुल्हाड़ी की ध्वनि से वन प्रतिध्वनित होने लगा, किन्तु सहसा उसके मस्तक मे पीड़ा होने लगी और अपने को गिरता जानकर उसने अपनी पत्नी को सहारा देने के लिए पुकारा।

तब उसने अपने मूर्च्छित होते हुए पति को बाँहों में पकड़ा, ठंडी भूमि पर बैठ गयी और उसके शिथिल सर को धीरे से गोद मे रखा। शोक-विह्वल होकर उसने ऋषि की भविष्यवाणी की याद की और दिनो एवं घड़ियो को गिना। एक क्षण में उसने अपने सम्मुख रक्त के समान लाल वस्त्र .धारण किये हुये एक भयंकर आकृति देखी, जिसके सर पर चमकता हुआ मुकुट था। उसका शरीर सूर्य के समान प्रकाशपूर्ण किन्तु फिर भी अस्पष्ट था। उसकी आँखें अग्निशिखा के समान थी और हाथ मे एक पाश लटक रहा था। उसका रूप भयंकर था। वह उसके पति के शरीर के निकट खड़ा हो गया और आग्नेय नेत्र से देखने लगा। काँप कर वह चौंक पड़ी, अपने मृत पति सत्यवान को उसने भूमि पर रख दिया और हाथ जोड़कर श्रद्धापूर्वक उस आकृति से बोली :—

निश्चय ही आप एक देवता हैं, क्योंकि आपका रूप मनुष्य के रूप से बढकर है। हे देवतातुल्य रूपवाले मुझे बताइए आप कौन है? यहाँ क्यों उपस्थित हुए हैं?

उस आकृति ने उत्तर दिया, 'मै मृत्यु का देवता यम हूँ। तुम्हारे पति की मृत्यु का समय आ गया है और मैं अब इसे बाँध कर ले जाऊँगा।' तब यम ने उसके पति के शरीर से अँगूठे के बराबर देहवाले आत्मा को खीचा और उसे पाश से दृढतापूर्वक बाँध लिया। तत्काल ही उस निर्जीव एवं निष्प्राण शरीर की सम्पूर्ण श्री नष्ट हो गई और वह भयावना तथा निश्चल हो गया।

आत्मा को बाँध कर यम अपनी दिशा, दक्षिण, की ओर प्रस्थान करते हैं।

यदि कोई व्यक्ति उसके सारथि का काम करने को तैयार होता। वृहन्नला (अर्जुन) ने यह कार्य करना स्वीकार किया और उत्तरा तथा महल की अन्य स्त्रियों के लिये सुन्दर वस्त्र तथा आभूपण ले आने का वचन दिया। जब वे कुरु सेना के पास पहुँचे तो उत्तर का साहस, जो अभी किशोर था, समाप्त हो गया। वृहन्नला ने उसे सारथि बनाया और स्वयं (अर्जुन) कौरवों से लडने लगे। उसके बाद भयंकर उत्पात मच गया। भीष्म, दुर्योधन तथा अन्य साथी भयभीत हो गये। उन्होने सन्देह कर लिया कि वृहन्नला के वेश में अर्जुन ही थे। घोड़े भी आँसू बहा रहे थे[1] (४. १२९०)। दुर्योधन ने यह घोषणा की कि यदि वह अर्जुन निकला तो उसे फिर बारह वर्ष के लिये वनवास करना पड़ेगा। इसी बीच अर्जुन ने उत्तर के सम्मुख अपना भेद खोला और अपने भाइयो एव द्रौपदी के छद्मवेश भी स्पष्ट कर दिये। उत्तर ने इसकी परीक्षा लेने के लिये पूछा कि क्या वह अर्जुन के दस नाम गिना सकता था और उनका अर्थ बता सकता था। अर्जुन ने उन नामो[2] (अर्जुन, फाल्गुन, जिष्णु किरीटिन्, श्वेतवाहन, बीभत्सु, विजय, कृष्ण, सव्यसाचिन्, धनंजय) को गिनाया और उनकी व्युत्पत्ति बताई। उत्तर ने बताया कि वह आश्वस्त हो गया और उसे कुरु सेना से भय नही रह गया।

तब अर्जुन ने अपनी चूड़ियाँ और स्त्रियों के वस्त्र उतार डाले। गाण्डीव चढाया और एक शमी वृक्ष पर छिपाकर रखे हुए सभी अस्त्रो को धारण किया। उत्तर ने अर्जुन से भक्तिपूर्वक कहा'—'हम आपके सेवक आपकी आज्ञा का पालन करने के लिए तैयार है[3]।' उन्होने उत्तर के झंडे को उतार डाला और अपनी हनुमान के चिह्नवाली ध्वजा को रथ के आगे लगा दिया। तब अर्जुन और कौरवो मे घमासान युद्ध हुआ। अन्त मे सम्पूर्ण कुरु सेना भाग गई और सभी धन एवं विराट की गायें प्राप्त हो गईं। अर्जुन ने उत्तर से युद्ध की वास्तविक घटना को छिपाने को कहा, किन्तु पिता के पास राजधानी मे विजय की सूचना देने वाले दूतो को भिजवा दिया। विराट बहुत प्रसन्न हुए, और उन्होने सम्पूर्ण नगर को सजाने की आज्ञा दी।

कुछ ही दिनो बाद विराट ने एक बड़ी सभा की जिसमे पाँचो पाण्डव भी सम्मिलित हुए, उन्होने अन्य राजाओ के साथ ही आसन ग्रहण किया। विराट, जो अब तक उनके वास्तविक नाम से परिचित नही थे, इस दुःसाहस पर बहुत क्रुद्ध हुए (४ २२६६)। तब अर्जुन ने यह बताया कि वे कौन थे। विराट्

[1] तुलना होमर: इलियाड १७ ४२६।
[2] अर्जुन के अन्य नाम पृ० ३७३ टि० ३ मे देखिए।
[3] तुलना, पृ० ३९३ टि० १.।

बहुत प्रसन्न हुए । उन्होने पाण्डवो को गले लगाया । उन्हें अपनी सारी सम्पत्ति दी और अर्जुन को उन्होने विवाह मे अपनी पुत्री उत्तरा को अर्पित करना चाहा । अर्जुन ने इसे अस्वीकार किया किन्तु अपने पुत्र अभिमन्यु के लिये उत्तरा को स्वीकार करने को सहमत हो गये ।

विराट ने राजाओं की एक सभा बुलायी जिसमे पाण्डव, कृष्ण तथा बलराम उपस्थित हुए और इस विषय पर विचार हुआ कि पाण्डव किस मार्ग का अनुसरण करे :—

कृष्ण ने यह सुझाव दिया कि पहले दुर्योधन के पास एक दूत भेजकर उसे आधा राज्य लौटा देने का सदेश भेजने के पूर्व पाण्डव युद्ध न करें । बलराम ने कृष्ण के मत का समर्थन किया एवं मेल कर लेने (सामन्) का परामर्श दिया । किन्तु सात्यकि ने कुद्ध स्वर मे युद्ध करने की राय दी (५. ४०) । द्रुपद ने उसका समर्थन किया और यह सुझाव दिया कि पाण्डव अपने सभी मित्र राजाओ के पास दूत भेजकर सभी देशो से सेनाएँ एकत्र करें । सबका परिणाम यह हुआ कि द्रुपद के पुरोहित को पाण्डवों ने हस्तिनापुर धृतराष्ट्र के निकट सन्धिवार्ता के प्रभाव को आजमाने के लिये भेजा ।’

इस बीच कृष्ण और बलराम द्वारका लौट आये। इसके शीघ्र बाद दुर्योधन कृष्ण के पास इस आशा से पहुँचा कि वह उन्हे कुरुपक्ष से लडने के लिये राजी कर सकेगा :—

‘उसी दिन अर्जुन भी वहाँ पहुँचे और ऐसा हुआ कि वे दोनो कृष्ण के कक्ष मे एक ही साथ उस समय पहुँचे जब वह सोये हुए थे । दुर्योधन कक्ष मे पहले प्रवेश करने मे सफल हुआ और वह कृष्ण के सिरहाने बैठ गया । अर्जुन ने बाद मे प्रवेश किया और वे श्रद्धा सहित कृष्ण के पैरो की ओर खड़े हो गये । जगने पर कृष्ण की आँखें पहले अर्जुन पर पड़ी । उन्होंने उन दोनो से आगमन का कारण पूछा । दुर्योधन ने उनसे युद्ध मे सहायता करने की प्रार्थना की और कहा कि यद्यपि कृष्ण का संबन्ध अर्जुन से भी उतना ही था फिर भी चूँकि वह (दुर्योधन) कक्ष मे पहले आया था अत उसे प्राथमिकता मिलनी चाहिए । कृष्ण ने उत्तर दिया कि चूँकि उन्होने अर्जुन को पहले देखा था अतः पहले अर्जुन को दो वस्तुओ मे से एक को माँग लेने का अवसर देना उचित था । एक ओर उन्होने स्वयं अपने को रखा और कहा कि वे अस्त्रशस्त्र त्याग कर युद्ध से विरत रहेगे । दूसरी ओर उन्होने एक अर्बुद वीरो वाली नारायणी नाम की सेना रखी । अर्जुन ने बिना हिचक के कृष्ण को चुना और दुर्योधन ने खुशी खुशी सेना को स्वीकार कर लिया क्योंकि उसने सोचा कि कृष्ण

अस्त्र न धारण करने की प्रतिज्ञा कर चुके थे अतः वे पाण्डवों की युद्ध में कोई सहायता नहीं कर पावेंगे। (५ १५४)।

इसके बाद दुर्योधन ने बलराम के पास जाकर सहायता माँगी। बलराम ने बताया कि वे और कृष्ण दोनों ही युद्ध में भाग न लेने का निश्चय कर चुके हैं।[१] कृष्ण ने अर्जुन का सारथि बनना स्वीकार किया और वे युधिष्ठिर से मिलने चल पड़े जो भाइयो सहित अभी विराट के देश मे ही निवास कर रहे थे। इसके बाद सन्धि करने के कई प्रयत्न किये गये और युद्ध की घोषण की जाने के पूर्व पाण्डवों ने अन्तिम बार विचार किया और अर्जुन ने कृष्ण को मध्यस्थ बनने के लिये कहा। कृष्ण राजी हो गये और उन्होने हस्तिनापुर के लिये प्रस्थान किया—

मार्ग मे उन्हे परशुराम एवं अन्य ऋषि मिले, जिन्होने कुरु राजकुमारों की होनेवाली सभा के समय उपस्थित होने के अपने निश्चय प्रकट किये। हस्तिनापुर पहुँचने पर, कृष्ण विदुर के घर विश्राम करने पहुँचे। प्रातःकाल उन्होने सभी सन्ध्यादि धार्मिक कर्म किये, वस्त्र धारण किया, कौस्तुभ मणि धारण की और सभा के लिये प्रस्थान किया। तब महती सभा हुई। नारदादि ऋषि आकाश मे उपस्थित हुए, उन्हे आसन दिया गया। कृष्ण ने अपना वक्तव्य इस प्रकार प्रारम्भ किया :—'कौरवो और पाण्डवों मे सन्धि (शम) हो।' तब धृतराष्ट्र की ओर देखकर उन्होने कहा—इस कार्य का बोझ आप और मुझपर है कि हम सन्धि स्थापित कराएँ।' जब उन्होने अपना व्याख्यान समाप्त किया तो सभी उनकी वाणी से मुग्ध एवं आनन्दविभोर हो गये। कुछ देर के लिये कण्व, ऋषि नारद, और परशुराम के अतिरिक्त किसी को बोलने का साहस न हुआ। इन लोगो ने चचेरे भाइयो मे सन्धि तथा मेलजोल का समर्थन किया। अन्त मे दुर्योधन ने सीधे-सीधे पाण्डवो को रंचमात्र भूमि भी देने से इन्कार कर दिया। उसने कहा, 'यह हमारा दोष नही कि पाण्डव द्यूतक्रीड़ा मे हार गये।' इस पर कृष्ण का क्रोध भड़क उठा और उन्होंने दुर्योधन को सम्बोधित करते हुए कहा—'तुम सोचते हो कि मैं अकेला हूँ, पर जान लो कि पाण्डव, अन्धक, वृष्णि, आदित्य, रुद्र, वसु और ऋषिगण सभी मुझमे उपस्थित हैं।' तब अँगूठे के बराबर अग्नि की लपटे उनसे उठने लगी। ब्रह्मा उनके मस्तक पर, रुद्र वक्षस्थल पर प्रकट हुए; सभी लोकपाल उनकी बहुओ से निकले, अग्नि मुख से निकला। आदित्य, साध्य, वसु, अश्विन्, मरुत, इन्द्र, विश्वदेवो, यक्षो गन्धर्वो, तथा राक्षसो सहित उनके शरीर से प्रकट हुए; अर्जुन उनकी दाहिनी

[१] मेघदूत, ५१, से तुलना कीजिए जहाँ बलराम को 'बन्धुप्रीत्या समर-विमुखः' कहा गया है।

भुजा से और बलराम बायी भुजा से प्रकट हुए। भीम, युधिष्ठिर तथा माद्री के पुत्र उनके पृष्ठ भाग से उत्पन्न हुए। अग्नि की ज्वालाएँ उनकी आँख, नाक तथा कानों से निकलने लगी। त्वचा के रोमकूपों से सूर्य की किरणें फूटने लगी।[1] इस भयंकर दृश्य को देखकर उपस्थित राजकुमारो ने नेत्र बन्द कर लिये किन्तु द्रोण, भीष्म, विदुर, सञ्जय, ऋषियों एवं अन्धे धृतराष्ट्र को कृष्ण ने दिव्य दृष्टि प्रदान की जिससे वे उनके विश्वरूप का दर्शन कर सकें। (तु० इस ग्रन्थ का पृ० १४३) इसके उपरान्त एक भूचाल आया, अन्य उत्पात हुए और सभा विसर्जित हो गयी। कृष्ण ने अपने देवत्व को पुनः छिपा लिया और मनुष्य का शरीर धारण कर वे लौट पड़े। वे कर्ण को कुछ दूर तक अपने रथ मे इस आशा से ले आये कि वे उसे पाण्डवों की पक्ष से, छठाँ भाई होने के कारण, युद्ध करने को राजी कर लेगें। किन्तु कृष्ण के सभी तर्कों के विपरीत भी कर्ण प्रभावित नही हुआ और रथ से उतर कर धृतराष्ट्र के पुत्रो के पास लौट आया।

इस बीच भीष्म ने कौरवो की सेना का सेनापति बनना स्वीकार कर लिया (५. ५७१९)। यद्यपि वे अपने बन्धुजनो से युद्ध करने के विपरीत थे तथापि क्षत्रिय होने के नाते युद्ध प्रारम्भ हो जाने पर उससे अलग न रह सके[2] :—

सेनाओ के युद्ध क्षेत्र मे एकत्र होने के पूर्व व्यास अपने पुत्र धृतराष्ट्र के पास आये। धृतराष्ट्र युद्ध की संभावना से बहुत ही खिन्न थे। व्यास ने उन्हें सात्वना दी और युद्ध देखने के लिये दिव्य दृष्टि प्रदान करने की बात कही। किन्तु धृतराष्ट्र ने अपने ही नेत्रो से स्वजनों का वध देखने से इन्कार कर दिया। तब व्यास ने कहा 'मैं संजय (धृतराष्ट्र के सारथि) को सभी घटनाओ को जान लेने की दिव्यदृष्टि प्रदान करूँगा, उसे अवध्य बना दूंगा और उसे शक्ति प्रदान करूँगा कि वह युद्ध क्षेत्र मे किसी समय किसी भी स्थान पर आ-जा सके (६.४३–४७)।

---

[1] यह उल्लेखनीय अंश, जो विष्णु का संसार की सभी वस्तुओ से तादात्म्य प्रदर्शित करता है, संभवतः परवर्ती क्षेपक है।

[2] यद्यपि भीष्म कुरु एवं पाण्डव राजकुमारों के पिता के पितृव्य थे तथापि उन्हे प्रायः उनका पितामह कहा गया है। यद्यपि वे वास्तव मे धृतराष्ट्र और पाण्डु के पितृव्य लगते थे पर कभी-कभी उन्हे उनका पिता भी कहा गया है। वे युद्ध का आदेश देने एवं दक्षता मे प्राइम (Priam) के समान किन्तु एक कठोर वयोवृद्ध योद्धा है जो दूसरो से युद्ध का परित्याग करने के लिये कभी सहमत नही होते।

दोनों ओर की सेनाएँ वर्तमान दिल्ली के उत्तर पश्चिम मे कुरुक्षेत्र के विस्तृत मैदान मे जुटी। कौरव पक्ष की सेनाओं का संचालन भीष्म कर रहे थे और पाण्डव सेनाओं का संचालन द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न (६. ८३२)। जब सेनाएँ मोर्चेबन्दी करके इस प्रकार खड़ी थी उस समय अर्जुन के सारथि का काम करते हुए कृष्ण ने अर्जुन को एक लम्बा दार्शनिक उपदेश दिया जो भगवद्गीता नाम के प्रसिद्ध ग्रन्थ का विषय है (६. ८३०–१५३२) इसका संक्षेप इस ग्रंथ के पृ० १३०–१५० पर दिया जा चुका है।

जैसे ही सेनाएँ आगे बढी, आकाश मे घोर रव उठने लगे, पृथ्वी काँप उठी; उग्र वायु से उठी हुई धूल आकाश मे पहुँचने लगी और सूर्य पर पर्दा पड़ गया। भयंकर उत्पात हुए, रुधिर की वर्षा हुई[1], गायो से गदहे उत्पन्न हुए, घोड़ियो से बछड़े उत्पन्न हुए, कुतियो से शृगाल उत्पन्न हुए। चील, गिद्ध, और रोते हुए सियार आगे बढती हुई सेनाओ के निकट मँड़राने लगे। अनभ्र आकाश मे वज्र की गर्जना हुई, अन्धकार फैल गया, विद्युत् चमकने लगा, प्रकाशपुञ्ज और उल्का तिमिराच्छन्न आकाश मे प्रकट हुए। फिर भी—

> वीर योद्धा साहस के साथ उनके विनाश की प्रतीक्षा करने वाले आकाश के उत्पातों की उपेक्षा करते हुए एक दूसरे का नाश करने के लिये बढ रहे थे, और सेनाओ के कलरव से संसार काँप उठा।

एक योरोपीय के लिये पूर्व देशीय युद्ध स्वरूप मे कुछ ऐसा विशाल और विस्तृत होता है कि उसे समझना उसके लिये कठिन है। फिर भी युद्ध के दृश्यो का सजीव वर्णन किया गया है, यद्यपि ये वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण है। ये वर्णन हमारी कल्पना को कुचलते हुए, अपने विशाल गज, मनुष्यो एवं घोड़ो को कुचलते हुए और अपनें विशाल दाँतों से विनाश करते हुए रणक्षेत्र मे बढ रहे है। विशाल गदाएँ और लोहे के दण्ड वज्र के समान गर्जन करते हुए टकरा रहे है। घड़घड़ाते हुए रथ एक दूसरे से भिड़ रहे है। हजारो बाण वायु और आकाश मे सरसरा रहे हैं उसे अन्धकार युक्त बना रहे है। दुन्दुभियों नगाड़ो और शंखो की ध्वनि का घोर रव और भी बढ रहा है। सर्वत्र भाग दौड, नर-संहार और मृत्यु है।

इन सबमे तो कोई अतिरञ्जित बात नही है किन्तु जब अर्जुन के एक ही साथ पाँच हजार योद्धाओ का नाश करते हुए या सम्पूर्ण रणक्षेत्र को खून की नदियो से भर देने, युधिष्ठिर के एक निमेप मे (निमेष मात्रेण) एक

---

[1] इसी प्रकार इलियड मे जूपिटर भी रुधिर की वर्षा करता है; ११.५२ तथा १६.४५९; हेसिओड स्कुट० हेरक० मे भी ऐसा ही वर्णन है।

एक सौ मनुष्यो का संहार करने, भीम के एक ही गदा-प्रहार से सभी सवारों सहित एक विशालकाय गज और चौदह पैदल सैनिकों के संहार करने, नकुल और सहदेव के अपने रथो पर बैठकर हजारो का सर काट कर उन्हे बीज की तरह धरती पर पाटते हुए युद्ध करने का वर्णन किया गया है, तथा जब प्रमुख वीर असाधारण शक्तियो से युक्त एवं स्वत. स्वर्गीय प्राणी माने गये[1] देवो द्वारा प्रदत्त रहस्यमय अस्त्रो का प्रयोग करते हैं—तो हमे यह तत्क्षण अनुभव होता है कि ऐसे दृश्यो की नितान्त अयथार्थता वर्णन के सौन्दर्य को नष्ट कर देती है। फिर भी, यह ध्यान में रखने योग्य है कि जिन कवियो ने इस भारतीय महाकाव्य को ब्राह्मणप्रभावित रूप दिया उन्होने वीरो को अर्द्धदैवी स्वरूप से युक्त कर दिया, और जो कर्म एक सामान्य मनुष्य के लिये अविश्वसनीय है वही कर्म जब एक उपदेवता द्वारा किया जाता है तो उसके लिये वह न केवल शक्य होता है अपितु योग्य भी होता है।[2] वीरो के बीच वीरता के व्यक्तिगत कार्य एव द्वन्द्वयुद्धो का सजीव वर्णन किया गया है। बिगुल

[1] रामायण मे प्रायः एक सौ ऐसे शस्त्रो को गिनाया गया है (१.२९); और रामायण तथा महाभारत दोनो के ही युद्ध के वर्णनो मे इनका निर्बाध उल्लेख किया गया है। अर्जुन ने शिव से अस्त्र प्राप्त करने के लिये दीर्घकाल तक कठोर तप किया था (देखिए पृ० ३८४)। घोर ब्रह्मास्त्र से ही वसिष्ठ विश्वामित्र को जीत सके और राम रावण का बध कर सके। कभी कभी वे समाधि द्वारा सिद्ध रहस्यमय शक्तियाँ प्रतीत होते है, अस्त्र नही, और उन्हे चेतन रूप धारण करने वाला माना गया है। 'अरेबियन नाइट' के भूतो के समान उनके नाम एवं क्षमताएँ है और वे धारण करने वाले से भाषण करते हुए भी दिखाये गये है (देखिए पृ० ३८७)। उनके उचित प्रयोग एव संहार के लिये कुछ मन्त्रों, अभिचारो एव प्रार्थनाओ का स्मरण करना आवश्यक बताया गया है। रामा० १. २९, ३० मे उन्हें मूर्तरूप दिया गया है, रघुवंश ५.५७ (संमोहनं नाम अस्त्रमाधत्स्व प्रयोग संहार विभक्तमन्त्रम्)। एक वार अस्त्र के छोड़ने पर केवल वही व्यक्ति उसे वापस कर सकता है जो इस मन्त्र का प्रयोग जानता है, किन्तु ब्रह्मास्त्र स्वयं ही अपने स्वामी के पास लौट आता है।

[2] अरस्तू का कथन है कि महाकाव्य के कवि को ऐसी असभावनाओ का आश्रय लेना चाहिए जो ऐसी वस्तुओ के सम्भव प्रतीक हो जो यद्यपि सभव हो पर असभय प्रतीत होती हो (पोएटिक्स ३ ६)। इसके पूर्व महाकाव्यीय कविता की दु खान्त रचना (ट्रेजेडी) से तुलना करते समय वह कहता है कि दु.खान्त रचना मे आश्चर्यजनक तत्त्व आवश्यक हैं किन्तु महाकाव्यीय कविता

के रूप मे प्रत्येक प्रमुख योद्धा के पास एक शङ्ख है और सभी प्रमुख अस्त्रो का अपना-अपना नाम है, जैसे कि वे कोई व्यक्ति हों।[1] उदाहरणार्थ :—

'अर्जुन ने अपना देवदत्त नाम का शङ्ख बजाया और गाण्डीव नाम का धनुष धारण किया। कृष्ण ने पञ्चजन राक्षस की हड्डियो से निर्मित और इस कारण पाञ्चजन्य कहा जानेवाला शङ्ख बजाया। भीम ने पौण्ड्र नाम का विशाल शङ्ख बजाया और युधिष्ठिर ने अनन्तविजय नाम का शङ्ख बजाया।'

पहला महान् द्वन्द्व युद्ध भीष्म और अर्जुन मे हुआ। इसका अन्त यह हुआ कि अर्जुन ने भीष्म के ऊपर असंख्य वाण छोड़े और भीष्म के शरीर का दो अङ्गुल भी विना बाण से विद्ध हुए न बचा।

'भीष्म अपने रथ से गिर पड़े किन्तु उनका शरीर असंख्य वाणों से विद्ध होने के कारण पृथ्वी पर न जा सका (६.५६५८)। शरीर ऊपर ही रह गया मानो वह वाणो की शय्या पर पड़े हो (शरतल्पे शयन)। उस स्थिति में उनकी चेतना लौट आयी और उस वृद्धा योद्धा की दैवीशक्ति से रक्षा होने लगी। उन्होने अपने पिता से अपनी मृत्यु का समय स्वयं ही निश्चित करने की शक्ति प्राप्त की थी[2] और उन्होने यह बताया कि वे उस समय तक जीवन धारण करने की इच्छा करते थे, जब तक सूर्य ग्रीष्म अयन् (उत्तरायण) मे प्रवेश नही कर जाता। दोनो पक्षो के सभी योद्धाओ ने युद्ध बन्द कर दिया जिससे वे इस विचित्र दृश्य को देख सकें एव अपने मरते हुए सम्बन्धी के प्रति आदर व्यक्त कर सकें (६.५७१६)। जब वे अपनी शरशय्या पर पडे थे तो उनका सिर नीचे लटक रहा था। उन्होंने शिरोपधान माँगा। इस पर महारथी कोमल उपधान ले आये जिसे वृद्ध योद्धा ने कुपित होते हुए अस्वीकार कर दिया। तब अर्जुन ने तीन बाणों से उनके सिर को ऊँचा कर दिया, इससे भीष्म प्रसन्न हुए। कुछ देर बाद उन्होने अर्जुन से जल लाने को कहा। इस पर अर्जुन ने पृथ्वी मे एक वाण मारा, जलधारा फूट निकली और उससे भीष्म इतने तृप्त हुए कि उन्होने दुर्योधन को बुलाया और अपने लम्बे वक्तव्य मे, जब कि अभी बहुत देर नही हुई थी, आधा राज्य पाण्डवो को दे देने के लिये कहा (६ ५८१३)।

इससे भी आगे जाती है और असंभव एवं अविश्वसयीय तत्त्वो को भी मान्यता देती है जिससे उच्चतम कोटि के आश्चर्य की सृष्टि होती है (३ ४)।

[1] होमर के वीरो ने तूर्य का प्रयोग नही किया है। इस कारण स्टेन्टोरियो के ध्वनि का महत्त्व है किन्तु इलि १८.२१९ मे आक्रमण के समय तूर्य का स्पष्ट उल्लेख है।

[2] तुलना—किरातुर्जुनीय ३.१९।

भीष्म के गिरने के बाद, कर्ण ने दुर्योधन को अपने पुराने गुरु, द्रोण, को सेनापति बनाने की राय दी—जो मुख्यतः अपने आग्नेय बाणों एवं मन्त्रपूत अस्त्रों[1] के कारण सर्वाधिक शक्तिशाली थे (७.१५०)। अनेक द्वन्द्वयुद्ध तथा सामूहिक युद्ध (सङ्कुल युद्धम्, तुमुलयुद्धम्) होते हैं, जिनमे कभी एक पक्ष विजयी रहता है कभी दूसरा। यहाँ एक द्वन्द्वयुद्ध का वर्णन है (७.५४४)।

> एक ऊँचे भव्य रथ पर, जो वेगवान् घोड़ो से उडा जा रहा था, पुरु का पुत्र गर्व के साथ सुभद्रा के पुत्र से लड़ने के लिये आया। युवक योद्धा भी युद्ध से विमुख न हुआ। उस अभिमानी योद्धा पर वह वेग के साथ उसी प्रकार झपटा जैसे सिंहशावक वृषभ पर झपटता है और एक क्षण मे पुरु भूलुण्ठित हो गया किन्तु उसके बाण ने अभिमन्यु के ऊपर उठे हुए वाण के टुकड़े कर दिये।[2] उस किशोर योद्धा ने अपने हाथो से उन टुकड़ों को फेक दिया और खड्ग निकाल कर हाथ में लोहे का ढाल ले लिया। पौरव के रथ पर वह कूद पड़ा, उसके सारथि का वध कर दिया और उस राजा को पकड़ कर पृथ्वी पर निष्प्राण करके पटक दिया।[3]

अन्य युद्धो मे घटोत्कच एवं कर्ण मे एक घोर युद्ध हुआ जिसमे राक्षस होने से घटोत्कच (राक्षसी हिडिम्बा और भीम के पुत्र) ने अनेक रूप धारण किये किन्तु अन्त में मारा गया (७.८१०४)। इस विपत्ति से पाण्डव बहुत दुःखी हुए किन्तु उस दिन के विजयोल्लास को धृष्टद्युम्न (द्रुपद के पुत्र) ने पुनः प्राप्त किया, जिसने द्रोण के साथ युद्ध किया एवं उनके निर्जीव शरीर का सिर काटने मे सफल रहा, यद्यपि वह ऐसा तभी कर सका जब द्रोण ने अपने अस्त्रशस्त्र त्याग दिये और स्वयं सूर्य के समान प्रकाशवान रूप से स्वर्गारोहण करके धृष्टद्युम्न को एक ब्राह्मण तथा आचार्य की हत्या के घोर पाप से बचा लिया। उनका ब्रह्मलोक गमन केवल पाँच व्यक्तियो ने देखा और पृथ्वी का त्याग करने के पूर्व उन्होंने सभी अस्त्र अपने पुत्र अश्वत्थामा को प्रदान कर दिये। सेनापति द्रोण की मृत्यु से सम्पूर्ण कौरव सेना भागने लगी

---

[1] इन आग्नेयास्त्रों को द्रोण ने अग्नि के पुत्र से प्राप्त किया था और अग्नि के पुत्र ने इसे द्रोण के पिता भरद्वाज से प्राप्त किया था।

[2] सुभद्रा से उत्पन्न हुए अर्जुन के पुत्र का नाम।

[3] इसका तथा पृ० ३९२ दिये गये लघु अंश का अनुवाद प्रोफेसर एच० एच० विल्सन की संकलित रचनाओ की भाग ३, जिनका संपादन डा० आर० रोस्ट ने किया है, कुछ सुन्दर पंक्तियों का रूपान्तर है।

(७.८८७९), किन्तु उन्होंने द्रोण के स्थान पर कर्ण को सेनापति नियुक्त किया और युद्ध पुनः प्रारम्भ हो गया।

इस युद्ध मे इतना भयंकर नरसंहार हुआ कि रुधिर की नदियाँ बहने लगी और पूरा रणक्षेत्र रुण्डमुण्ड से पट गया (८ २५५०, ३८९९)। अनेक योद्धाओ ने युद्ध मे अर्जुन को मारने की प्रतिज्ञा की किन्तु वे सभी नष्ट हो गये और दुर्योधन द्वारा अर्जुन से लड़ने के लिये भेजी गयी तेरह हजार हाथियो सहित म्लेच्छो या असभ्य जातियों की सेना को अर्जुन ने तहस-नहस कर दिया।

तब भीम और दुःशासन मे घोर युद्ध हुआ। दुःशासन मारा गया और भीम ने द्रौपदी के अपमान का एवं उसके परिणामस्वरूप की गयी अपनी प्रतिज्ञा का (देखिए पृ० ३८४) स्मरण कर उसके शीश को काट डाला और युद्धक्षेत्र में उसके रक्त का पान किया।

तब कर्ण और अर्जुन का युद्ध प्रारम्भ हुआ :—

अर्जुन कर्ण द्वारा छोड़े गये एक वाण से आहत और मूर्च्छित हो गये, और यदि कर्ण के रथ का पहिया न धँस जाता तो उनकी पराजय हुई संभव प्रतीत होती थी। जब पहिया धँसने पर कर्ण नीचे उतरा तभी अर्जुन के एक वाण ने आकर उसका सिर धाड़ से अलग कर दिया[1] (८.४७९८)। उसकी मृत्यु से कौरव सेना मे आतंक छा गया और वह भय से भागने लगी। भीम और पाण्डव दल ने इतना जयघोष किया कि स्वर्ग और पृथ्वी काँप उठे।

कर्ण की मृत्यु पर मद्र देश के राजा शल्य कौरव सेना के सेनापति नियुक्त किये गये जिसकी संख्या उस समय तक बहुत अल्प हो गयी थी (९ ३२७)। तब एक सकुल युद्ध और शल्य तथा भीम का गदायुद्ध हुआ, जिसमे दोनो बराबर जोड़ के थे (९.५९४)। यहाँ इस युद्ध का वर्णन दिया जाता है :—

> जब महाराज ने अपने सारथि को आहत देखा तो उसने झट अपनी गदा उठा ली और एक दृढ निश्चल पर्वत के समान आक्रमण की प्रतीक्षा करने लगा। उस योद्धा का आकार सर्वस्वभक्षण करने वाले अग्नि के समान भयंकर था। वह पाशधारी यमराज, ऊँचे

[1] इस वाण को मूल मे अञ्जलिक (८ ४७८८) कहा गया है। महाभारत मे प्रयुक्त वाण अनेक प्रकार के है। कुछ के अग्रभाग अर्ध चन्द्राकार है। यहाँ वाणो के लिये प्रयुक्त शब्दो की सूची दे देना लाभदायक होगा जो युद्धो के वर्णन मे बराबर आते हैं : शर, वाण, इषु, पत्रिन् , काण्ड, विशिख, नाराच, विपाठ, पृषत्क, भल्ल, तोमर (एक प्रकार का भाला), शल्य, इषीका, शिलीमुख।

कैलास पर्वत, स्वयं वज्र धारी इन्द्र, त्रिशूलधारी शिव या एक मत्त वन्यगज के समान था। उसे चुनौती देने के लिए भीम वेग से अपनी गदा लेकर आगे बढे। दोनों पक्षों से उठी हुई हजारो शङ्खों एवं बिगुलों की ध्वनि ने प्रत्येक वीर के उत्साह को बढाते हुए आकाश को चीर डाला। युद्ध के दर्शक इस प्रकार उत्साह बढाने लगे 'अकेले मद्र देश का राजा ही भीम के वेग को सहन कर सकता है और भीम के अतिरिक्त दूसरा कोई शल्य के प्रहार को नही रोक सकता।' दो भयंकर वृषभों के समान वे हाथ मे गदा लेकर एक दूसरे पर झपटे और पहले जब उन्होंने अपने अस्त्रों को घुमाते हुए परिक्रमा की तो वे दोनों एक दूसरे के समान ही प्रतीत हुए। लाल वेष्टन से सजी हुई शल्य की गदा मानो ज्वालाओं से दहक रही थी और भीम की गदा विद्युत के समान चमक रही थी। शीघ्र ही दोनों गदायें टकरायी और अग्नि के स्फुलिङ्गो की वर्षा होने लगीं। तब हाथियो के या भड़के हुए साँडों के समान उग्रकर्मा दोनो ही एक दूसरे को मारने लगे। घोर प्रहार हुए और शीघ्र ही उन दोनों का शरीर चोटों से युक्त होकर किंशुक की तरह चमकने तथा लाल फूलों से सुजा हुआ मालूम होने लगा। प्रहारो के नीचे भीम निश्चल होकर शिला की तरह चोट सहन करते रहे। शल्य ने भी उसी दृढ़ता के साथ भीम के प्रहारो का उत्तर दिया। कभी उनकी टकराती हुई गदाओ से बादलो के गर्जन सा शब्द होता था तो कभी गदाएँ ऊपर उठ जाती थी। वे आठ पग पीछे हटे और फिर आगे बडकर लडने लगे मानो दो विशाल पर्वत-खण्ड आपस मे टकरा रहे हो। उनकी गदाएँ एक दूसरे के प्रहार को नही सँभाल सकी और दो विशाल स्तम्भो के समान चूरचूर होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी।

इसके उपरान्त युधिष्ठिर और शल्य के बीच एक महायुद्ध हुआ। शल्य की रक्षा पहले अश्वत्थामा ने की किन्तु अन्त मे शल्य मारा गया। (९ ९१९)।

निरन्तर विपत्तियो के झेलकर कौरवो ने अन्तिम युद्ध के लिए सेनाएँ एकत्र की जिसका परिणाम पूर्ण पराजय तथा भीषण नरसंहार हुआ। दुर्योधन, अश्वत्थामा (द्रोण का पुत्र), कृतवर्मा (जिसे भोज भी कहते हैं), तथा कृप (देखिए पृ० ३७४ टि०) केवल ये ही कौरव सेना के महारथी बच गये थे।[१]

---

[१] सञ्जय को धृष्टद्युम्न ने पकड़ लिया और उसे मारने ही जा रहा था कि व्यास सहसा उपस्थित हुये और सञ्जय को अक्षत छोड़ देने के लिये कहा (तुलना पृ० ३६८)।

सम्पूर्ण ग्यारह सेनाओं मे कोई नही बचा (९.१५८१)। आहत, उत्साहहीन तथा भयभीत दुर्योधन ने अपने रक्षार्थ पलायन का विचार किया :—

केवल गदा लेकर पैदल ही चलकर एक जलाशय के भीतर प्रवेश कर वह छिपकर बैठ गया और मन्त्र द्वारा जल का इस प्रकार स्तम्भन किया कि उसके शरीर के चारो ओर एक कक्ष बन गया[1]। उसके छिपने के स्थान के विषय मे सूचना पाकर पाण्डव जलाशय के निकट आये और युधिष्ठिर ने दुर्योधन के प्रति व्यंग्य वचन बोलना प्रारम्भ कर दिया—'तुम्हारा पौरुष कहाँ हैं ? तुम्हारा अभिमान कहाँ है ? तुम्हारा शौर्य कहाँ है ? तुम्हारा युद्धकौशल कहाँ गया जो तुम जलाशय के नीचे छिपे बैठे हो। निकलो, लड़ो, अपने क्षत्रिय के कर्तव्यों को पूरा करो (९.१७७४)।' दुर्योधन ने उत्तर दिया कि वह भय से नही अपितु थककर छिपा है और उन सबसे लड़ने के लिये तैयार है। उसने प्रार्थना की कि आप लोग जाकर राज्यग्रहण करे, मुझे राज्य के सुख की आवश्यकता नही क्योकि मेरे सभी भाई नष्ट हो गये। युधिष्ठिर व्यंग्य वचन बोलते गये। अन्त में उनके व्यंग्य-बाणों के कशाघात से (वाक् प्रतोव) पूर्ण रूप से उत्तेजित होकर दुर्योधन जलाशय से निकला, उसके शरीर से रुधिर और जल बह रहा था (९.१८६५)।

यह तय हुआ कि दुर्योधन और भीम के बीच अकेले गदायुद्ध हो और जब बलराम ने अपने इन दोनो शिष्यो के (पृ० ३७५) युद्ध होने का समाचार सुना तो वे यह देखने लिये उपस्थित हो गये कि कही युद्ध मे अन्याय न हो।[2]

तब घोर गदायुद्ध हुआ।

दोनो प्रतिद्वन्द्वी मैदान मे डट गये और उन्होने एक दूसरे को चुनौती दी। कृष्ण, बलराम, और अन्य पाण्डव दर्शक के रूप मे खड़े थे। युद्ध कठिन था। दोनों प्रतिद्वन्द्वी समान ही जोड़ के थे। अन्त मे भीम ने दुर्योधन के जंघों

---

[1] 'अस्तंभयत् तोयं मायया' (९.१६२१) तथा 'विष्टभ्य अपः स्वमायया' (१६८०, १७३९) का मैं यही अर्थ करता है। दुर्योधन को जलाशय की तली में पड़े हुए तथा सोये हुए वर्णित किया गया है।

[2] तीर्थो के माहात्म्य, विशेषकर पवित्र सरस्वती (९. २००६) नदी के तट पर पर स्थित तीर्थों के महात्म्य के विषय मे एक रोचक कथा भी इस काव्य के इस अंश में घुसेड़ दी गयी है। दक्ष के पाप से क्षयग्रस्त होने वाले चन्द्रमा की कथा तथा वसिष्ठ एवं विश्वामित्र की प्रसिद्ध कथा भी यहाँ कही गयी है। (२२९६, देखें पृ० ३६३)।

पर प्रहार किया, जंघों को तोड़ कर उसे पृथ्वी पर गिरा दिया। तब द्रौपदी के अपमान की याद दिलाकर उन्होंने उसके सिर पर बायें पैर से ठोकर मारी (९.३३१३)। इस पर बलराम क्रुद्ध हुए और उन्होंने कहा कि भीम ने अन्यायपूर्ण युद्ध किया था (क्योंकि गदायुद्ध में यह नियम था कि शरीर के मध्य भाग से नीचे के अंगों पर प्रहार न किया जाय) और उन्हे भविष्य मे जिह्मयोधी (अन्यायपूर्ण युद्ध करने वाले) और दुर्योधन को ऋजुयोधी (न्यायपूर्वक युद्ध करने वाला) कहा जायगा।

तदुपरान्त बलराम द्वारका लौट गये। कृष्ण के साथ पाँचो पाण्डवों ने दुर्योधन के शिविरो मे प्रवेश किया और इन शिविरो तथा धन भाण्डारों पर अधिकार कर लिया।

तीन बचे हुए कौरव पक्ष के महारथी (अश्वत्थामा, कृप और कृतवर्मन्) दुर्योधन के गिरने का समाचार सुनकर उस स्थान की ओर दौड़े जहाँ उसका शरीर पड़ा था। उन्होने उसे रक्तरञ्जित पाया यद्यपि वह जीवित था। उसने उनसे कहा कि वे उसकी मृत्यु पर शोक न करें और यह विश्वास दिलाया कि एक क्षत्रिय के कर्तव्यो को पूरा करके वह सुख से मरेगा। तब दुर्योधन को रणक्षेत्र मे जीवित छोड़ कर उन्होंने वन मे शरण ली।

वहाँ, रात को उन लोगों ने एक न्यग्रोध वृक्ष के नीचे विश्राम किया जिसके ऊपर हजारो कौओ ने बसेरा डाला था। अश्वत्थामा ने, जिसे नीद नही आ रही थी, एक उल्लूक को चुपके से आकर अनेक कौओं को नष्ट करते हुए देखा। इससे उसके मन मे रात को पाण्डवो के शिविर मे प्रवेश करने और उन्हें सुप्तावस्था[1] मे मार डालने का विचार आया। फलतः वह पाण्डवों के शिविर की ओर चल पड़ा और उसके पीछे-पीछे कृप और कृतवर्मा भी चले। शिविर के द्वार पर उसे एक भयंकर आकृति ने रोका, जो महाकाय, सूर्य के समान तेजवान, व्याघ्र चर्मधारी, लम्बी बाहो वाली और सर्पों का केयूर धारण किए हुए थी। यह शिव भगवान् थे।[2] उनके साथ घोर युद्ध के

[1] इस कारण काव्य के इस पर्व का सौप्तिक नाम पड़ा है। होमर द्वारा दिये गये डिआमेड तथा यूलिसिस के ट्रोजनो के युद्ध में प्रदर्शित पराक्रम (इलियाड १०) से तुलना कीजिए।

[2]. इस अश मे शिव का वर्णन ध्यानार्ह है। उनके शरीर से निकलने वाली ज्योति से सैकड़ो हजारो कृष्ण प्रकट होते बताये गये हैं। शिव के अनेक नाम भी गिनाये गये हैं यथा—उग्र, स्थाणु, शिव, रुद्र, शर्व, ईशान, ईश्वर, गिरिश, वरद, देव, भव, भावन, शितिकण्ठ, अज, शुक्र, दक्ष-क्रतुहर, हर, विश्वरूप, विरूपाक्ष, बहुरूप, उमापति (१०. २५२)।

बाद अश्वत्थामा ने भगवान को पहचाना और उनकी पूजा करके उन्हे प्रसन्न कर लिया ।

अश्वत्थामा ने कृप और कृतवर्मा को शिविर के द्वार पर खड़े रहने और बचकर भागने वाली पाण्डवो की सेना का संहार करने का आदेश दिया । तब स्वयं उसने अकेले धृष्टद्युम्न के शिविर मे प्रवेश किया जो गंभीर निद्रा मे सोया था । उसे उसने पाद-प्रहार से मार डाला और कहा कि उसके पिता (द्रोण, देखें पृ० ३९५) एक ब्राह्मण तथा आचार्य का वध करनेवाले के लिए इसी प्रकार की मृत्यु उपयुक्त थी । शिविर मे सबको मारकर एव सम्पूर्ण पाण्डव सेना का (पाँचो पाण्डव, सात्यकि और कृष्ण के अतिरिक्त) नाश करके अश्वत्थामा अपने मित्रो के पास लौटा और वे तीनो उस स्थान की ओर दौडे जहाँ दुर्योधन पड़ा था । उसका थोड़ा थोड़ा प्राण शेष था । वह खून मे सना हुआ शिकारभक्षी पशुओ के बीच पड़ा था । अश्वत्थामा ने उससे बताया कि उसने उसकी मृत्यु का प्रतिशोध ले लिया, क्योकि पाण्डव-सेना मे केवल सात ही योद्धा जीवित बच गये तथा शेष सभी पशुओं के समान बलि दे दिये गये (१०. ५३१) । यह सुनकर दुर्योधन मे प्राण लौट आया, शक्ति बटोरकर उसने धन्यवाद दिया, विदा माँगी और चल बसा । उसकी आत्मा आकाश की ओर उठ गई और शरीर पृथ्वी मे मिल गया । (१० ५३६) ।

इस प्रकार कौरवो एवं पाण्डवों की सेनाओ का नाश हो गया । अपने पुत्रो की मृत्यु पर धृतराष्ट्र शोक से इतने व्याकुल हो गये कि उनके पिता व्यास प्रकट हुए और उन्होने यह कहकर धीरज बँधाया कि उनका भाग्य पहले से निश्चित था, वे मृत्यु से नही बच सकते थे । उन्होने यह भी कहा कि पाण्डवो का दोष नही था, क्योकि यद्यपि दुर्योधन गान्धारी से उत्पन्न हुआ था, तथापि वह वस्तुत: कलि का एक आंशिक अवतार था (कलेरंश) तथा शकुनि द्वापर का अंश था (दे० पृ० ३२३ टि० ३) ।

विदुर ने भी सदा की भाँति अपने ज्ञानपूर्ण उपदेशो से राजा को सान्त्वना प्रदान की और अन्तिम सस्कार (प्रेत कार्याणि) करने का सुझाव दिया । धृतराष्ट्र ने रथ तैयार करवाए और स्त्रियो सहित युद्धभूमि की ओर प्रस्थान किया ।

वहाँ वे पाचो पाण्डवो से मिले और उनके साथ मेल कर लिया किन्तु उनकी पत्नी गान्धारी ने उन्हे शाप दे दिया होता यदि व्यास ने हस्तक्षेप नही किया होता । पाँचो भाइयो ने अपनी माँ, पृथा, का आलिङ्गन किया और उसे सान्त्वना दी । पृथा भी गान्धारी और अन्य पत्नियो एवं स्त्रियों के साथ

हत वीरो के शव के निकट, जैसे-जैसे वे एक एक करके युद्ध भूमि मे दिखाई पड़ते, विलाप कर रही थी। (११. ४२७–७५५)।

अन्तत. युधिष्ठिर की आज्ञा से अन्त्येष्टि (श्राद्ध) कर्म किये गये। इसके उपरान्त युधिष्ठिर एवं उनके/भाइयो ने विजयोल्लास के साथ हस्तिनापुर मे प्रवेश किया।

सभी राजपथ सजाये गये थे; ब्राह्मण आशीर्वाद दे रहे थे; उन आशीर्वादो को उन्होने ब्राह्मणो मे दक्षिणा देकर ग्रहण किया (१२ १४१०)। केवल एक व्यक्ति अलग खडा था जो एक छद्मवेशधारी निकला। वह दुर्योधन का मित्र चार्वाक नाम का राक्षस था जो सन्यासी के वेश मे युधिष्ठिर की तथा ब्राह्मणो की भर्त्सना कर रहा था। उसका शीघ्र ही पता लग गया और वास्तविक ब्राह्मणो ने क्रोध मे आकर उसे वही मार डाला (दे० पृ० १२८)।

इस घटना के बाद सोने के सिहासन पर विराजमान युधिष्ठिर का राज्याभिषेक हुआ।

विजय प्राप्त करने के उपरान्त भी वे खिन्न और व्याकुल थे। अपने बन्धुओं के नाश से उनका मन पीडित हो रहा था। वे शान्ति प्राप्त करना चाहते थे और कृष्ण ने उन्हे भीष्म से प्रार्थना करने का सुझाव दिया। भीष्म अब भी रणक्षेत्र मे वीरो की शय्या (वीर-शयन) पर पडे हुए थे और व्यास, नारद, आदि ऋषि उन्हे घेरे हुए थे। फलत. युधिष्ठिर एवं उनके भाई कृष्ण के साथ कटे हुए अगोवाले शवो, खोपड़ियो, टूटे हुए कवचो, एवं युद्ध की भयंकरता के अन्य चिह्नो को पार करते हुए हस्तिनापुर को चल पड़े। इससे कृष्ण को परशुराम की संहार लीला का स्मरण हो आया जिन्होने इक्कीस बार पृथ्वी को शून्य कर दिया था (दे० पृ० ३२२)। युधिष्ठिर से परशुराम की कथा कृष्ण ने सुनायी। तव वे भीष्म के निकट पहुँचे जो शर शय्या पर पडे हुए थे (शरसंस्तर शायिनम्)। कृष्ण ने उनसे अर्जुन को शिक्षा देने एवं उनकी आत्मा को सान्त्वना देने की प्रार्थना की।

इस पर भीष्म, जो अट्ठावन रात्रियो से शरशय्या पर पड़े थे, कृष्ण, नारद, व्यास तथा अन्य ऋषियो की सहायता से एक दीर्घ और रोचक उपदेश देने लगे (जो शान्तिपर्व तथा अनुशासनपर्व मे आता है)[१]।

---

[१] १२.१२४१ मे प्रायश्चित्त के लिये विलक्षण नियम हैं तथा १३९३ मे भक्ष्य तथा अभक्ष्य पदार्थों के विषय मे नियम है। इनमे से कुछ उपदेश मनु से या तो उद्धृत किये गये हैं या उन्ही पर आश्रित हैं। उदाहरणार्थ ६०७१ की तुलना मनु २.२३८ से कीजिए। हितोपदेश के अनेक आचार संबन्धी श्लोक शान्तिपर्व मे पाये जा सकते है, और तीन ज्योतियो की कथा

तब अपने सम्बन्धियों को शिक्षा देना समाप्त करके उन्होंने उनसे विदा एवं कृष्ण से प्रस्थान करने की आज्ञा माँगी। सहसा बाणों ने उनके शरीर को छोड दिया, उनका मस्तक फट गया और धूमकेतु के समान प्रकाश-पूर्ण उनका आत्मा ब्रह्मरन्ध्र से निकल कर आकाश मे चला गया (१३. ७७६५)। युधिष्ठिर ने उन्हे मालाओ एव पुष्पों से ढँक दिया, गंगा के किनारे ले गये, और उनका अन्त्येष्टि-कर्म पूरा किया।

एक योरोपीय कवि इस कथा को यही समाप्त कर देता किन्तु सस्कृत कवि का मानव-स्वभाव का, या कम से कम हिन्दू चरित्र का ज्ञान, अधिक गहरा होता है।

भारतीय नाटको मे सर्वाधिक प्रसिद्ध (शकुन्तला) मे निम्न भावना आती है[१]—

> यह विचार मिथ्या है कि लक्ष्य को प्राप्त कर लेने से, या आकाक्षा की सिद्धि से विश्राम प्राप्त होता है। सफलता केवल अभिलाषा के ज्वर को हल्का कर देती है। शीघ्र ही सपत्ति के नाश का भय उसे सुरक्षित रखने की चिन्ता द्वारा व्याकुल कर देता है।

यदि इस विशाल राष्ट्रीय महाकाव्य को वस्तुत: हिन्दू मस्तिष्क की गम्भीरतम भावनाओ को सन्तुष्ट करना था, तो यह पाण्डवो को राज्य के सुख-भोग मे ही सन्तुष्ट नही छोड़ सकता था। इसे एक उच्चतर आचार से अनुप्राणित होकर एक ऐसी शिक्षा देनी थी जिसे अध्यात्म दर्शन का अनुसरण करनेवाले भी जल्दी सीखने का ध्यान नही देते। वह शिक्षा यह है कि विश्राम की इच्छा रखने वाले व्यक्तियो को ब्रह्म के साथ लय को लक्ष्य बनाना चाहिए। अतएव अन्तिम अध्यायो में पाँचों पाण्डवो के राज्य-परित्याग का तथा मेरु पर्वत मे स्वर्गारोहण की यात्रा का उदात्त वर्णन हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया गया है। नीचे मैं इसके एक अश (१७,२४ इत्यादि) का अनुवाद देता हूँ—

'जब चार भाइयों' ने राजा युधिष्ठिर के उच्च निश्चय की बात जानी तो तत्काल वे द्रौपदी के साथ निकल पडे। उनके पीछे-पीछे एक कुत्ता भी था। राजा स्वय राजधानी से सातवे व्यक्ति होकर निकले। सभी पुरवासी और

४८८९ मे आई हुई कथा पर आश्रित है। आश्वमेधिक, आश्रमवासिक तथा मौसल पर्वों के विवरण के लिये पृ० ३६६ देखें।

[१] मेरा इस नाटक का अनुवाद देखें, ४ था सस्करण, पृष्ठ १२४। इसे हाल ही मे डब्ल्यू० एच० एलेन एण्ड क० ने १३ वाटरलू पैलेस से प्रकाशित किया है।

महल की नारियाँ पीछे चली किन्तु कोई उन्हे लौटने के लिये कहने का साहस न कर सका। अतएव अन्त मे पुरवासी अन्तिम अभिनन्दन कर लौट आए। तब पाण्डु के मनस्वी पुत्र एव द्रौपदी आगे बढ़ते गये। वे उपवास कर रहे थे और अपने मुख पूर्व की ओर करके आगे बढ़ते जा रहे थे। उनकी आत्मा ब्रह्म के साथ लय प्राप्त करने के लिये इच्छुक थी, और वे सभी सांसारिक वस्तुओ का त्याग करने का निश्चय कर चुके थे। वे अनेक देश पार कर गये। कई समुद्र और कई नदियां पार कर गये। युधिष्ठिर सबसे आगे थे, उनके बाद भीम थे, उनके बाद अर्जुन, तब क्रमश दोनों यमज भाई, और सबसे अन्त मे द्रौपदी जो श्याम वर्ण की, कमल जैसे नेत्रो वाली, पतिव्रता, स्त्रियो मे सबसे सुन्दर और पत्नियो मे सर्वाधिक गुणवती थी। उनके पीछे एकमात्र जीवित प्राणी श्वान था। क्रमश. वे लवण-मिश्रित समुद्र के निकट पहुँचे। वहाँ अर्जुन ने अपना धनुष और तूणीर लहरो मे डाल दिया।[1] तब आत्मा को भलीभाँति नियन्त्रित करके वे उत्तरी क्षेत्र की ओर गये। उन्होने स्वर्गप्राप्ति की इच्छा लेकर विशाल हिमालय पर्वत को देखा ओर उसके ऊंचे शिखरो को पार कर एक मरुस्थल मे पहुँचे। अन्त मे वे पर्वतो के राजा मेरु पर्वत पर पहुँचे। जैसे ही उत्सुक होकर वे आगे बढे—उनकी आत्माये नित्य ब्रह्म मे लय के लिए व्याकुल थी—द्रौपदी अपनी उच्च आशाओ को खो बैठी और पृथ्वी पर गिर पडी।

एक-एक करके दूसरे भी गिर पड़ते हैं। अन्त मे केवल भीम, युधिष्ठिर और श्वान बच रहते है। फिर भी, युधिष्ठिर दृढ़ता के साथ आगे चलते है। वे शान्त और निश्चल हैं, न बाएँ देखते है और न दाएँ और दृढ व्रत मे अपने आत्मा को केन्द्रित कर चलते जाते हैं। भीम अपने सहचरो के नष्ट हो जाने पर बहुत दु खी होकर, और समझने मे असमर्थ होकर कि क्यो बाह्यत: निर्दोष व्यक्ति भी दैव द्वारा हत होते हैं, अपने भाई से प्रश्न करते हैं। युधिष्ठिर बिना पीछे देखे हुए बताते हैं कि पापपूर्ण विचारो एव सासारिक विषयो मे अधिक आसक्ति का फल मृत्यु ही होता है। उन्होने बताया कि द्रौपदी की मृत्यु अर्जुन के प्रति अधिक अनुराग के कारण हुई। सहदेव की (जो पाँचो भाइयो मे सबसे विनीत माने गये है) मृत्यु अपने ज्ञान के अहकार से; नकुल (जो बहुत ही सुन्दर थे) रूप के अभिमान के कारण; और अर्जुन की मृत्यु शत्रुओ का नाश करने के लिये दम्भपूर्ण आत्माभिमान के कारण हुई। भीम स्वय भी गिरने का अनुभव करते है और युधिष्ठिर उनसे बताते हैं कि उनकी मृत्यु स्वार्थपरता,

[1] गाण्डीव नाम के धनुष के अतिरिक्त अर्जुन के पास दो तूणीर थे जिन्हे अग्नि देवता ने प्रदान किया था। देखिये किरातार्जुनीयम् ११ १६।

अहकार तथा भोगो मे अधिक आसक्ति के कारण हो रही है। एकमात्र युधिष्ठिर बच जाते हैं जो दृढता के साथ आगे बढते है और श्वान उनका अनुगमन करता है।

तब पृथ्वी और आकाश में सहसा एक 'घोर ध्वनि व्याप्त हुई। शक्तिशाली देवता अपने रथ पर सवार होकर युधिष्ठिर के संमुख आये और बोले, 'हे दृढव्रती राजन्, रथ पर सवार हो जाओ।' तब युधिष्ठिर ने पीछे अपने मृत भाइयो की ओर देखा और दुःख के साथ सहस्राक्ष भगवान से बोले, 'मेरे भाई भी मेरे साथ चलें। हे देवों के स्वामी उनके बिना मैं स्वर्ग मे भी प्रवेश करने की इच्छा नही करता। पतिव्रता पत्नी राजकुमारी द्रौपदी भी साथ चले जो अनन्त सुख के योग्य है। मेरी प्रार्थना पर आप प्रसन्न होवें।'

इस पर इन्द्र उन्हे बताते हैं कि द्रौपदी एवं उनके भाइयो की आत्माये स्वर्ग मे पहुँच चुकी हैं, और केवल वही स्वर्ग मे सशरीर जा सकते हैं। युधिष्ठिर विनय करते है कि उनके साथ उनका श्वान भी चले। इन्द्र कुछ कठोर होकर उत्तर देते हैं कि स्वर्ग मे श्वान लेकर जाने वाले व्यक्तियो के लिए स्थान नही है (श्ववताम्)। किन्तु युधिष्ठिर अपने निश्चय पर दृढ रहते हैं और उस स्वामि-भक्त कुत्ते को छोडने से इन्कार कर देते हैं। इन्द्र समझाते है 'जब तुमने अपने भाइयों और द्रौपदी को छोड दिया तो इस श्वान को क्यों नही छोड़ते?' इस पर युधिष्ठिर कुछ उग्र होकर उत्तर देते हैं—'मेरे पास उन्हे पुनः जीवित करने की शक्ति नही थी, जिनका जीवन ही समाप्त हो गया उनके छोड़ने का प्रश्न ही कहाँ उठता है?'

स्वयं युधिष्ठिर के पिता धर्म ही श्वान का वेश धारण किये हुए थे (१७. ८८ [1])। अब अपना स्वरूप धारण कर वे प्रकट होते है और युधिष्ठिर की सत्यपरायणता की प्रशंसा करते हैं। वे एक साथ स्वर्ग में प्रवेश करते है। स्वर्ग मे युधिष्ठिर दुर्योधन एव अपने पितृव्यपुत्रो को पाकर और अपने भाइयो एवं द्रौपदी को न पाकर चकित होते हैं। तब वे बिना भाइयो के स्वर्ग मे रहना अस्वीकार कर देते हैं। एक देवदूत युधिष्ठिर को अधम लोक मे और वैतरणी पार कर नरक मे ले जाने के लिए भेजा जाता है, जहाँ उनके भाइयो को द्रौपदी सहित वास करते हुए बताया जाता है। इसके बाद आने

[1] मूल से मैंने यही निष्कर्ष निकाला है, यद्यपि यह कुछ अस्पष्ट है। इसमे 'धर्मस्वरूपी भगवान्' कहा गया है,। कुछ भी हो, कुत्ता केवल युधिष्ठिर की परीक्षा के लिये एक मायानिर्मित जीव था जैसा कि यह प्रकट है कि असली कुत्ते के साथ युधिष्ठिर को स्वर्ग में नही जाने दिया जाता।

वाले दृश्य की तुलना ओडिसी के ग्यारहवे अध्याय मे आये नेक्योमैण्टिया या दांते के एक अंश से की जा सकती है।

जिस नरक मे युधिष्ठिर ले जाये जाते है वह एक घना वन है जिसमें पत्तियाँ तेज तलवार है और पृथ्वी पर छुरे बिछे हुए हैं (असि पत्र वन, देखिए पृ० ६४, टि० २)। मार्ग मे दुर्गन्धपूर्ण एवं कटे शव पड़े हुए हैं। भयंकर आकृतियाँ आकाश मे उड़ती, और उनके ऊपर मँडराती है। कही भयंकर घना अन्धकार दिखाई पडता है। कही पापी धधकती हुई अग्नि मे जल रहे हैं। सहसा वे अपने भाइयो एवं सहचरों की कण्ठध्वनि सुनते हैं जो उनसे अपना दु ख दूर करने और छोड़कर न जाने की प्रार्थना करते हैं। वे अड जाते हैं, बहुत दयार्द्र होकर वे देवदूत को छोड़ कर चले जाने और स्वयं उनके दुःखों का सहभोगी बनने को कहते है। यही उनकी अन्तिम परीक्षा है। सम्पूर्ण दृश्य लुप्त हो जाता है। यह केवल एक माया थी जो उनकी धर्मपरायणता की परीक्षा लेने के लिये रची गयी थी। उन्हे स्वर्गीय गङ्गा में स्नान करने को कहा जाता है। उस पवित्र नदी मे डुबकी लगाने पर वे स्वर्ग में प्रवेश करते है, जहाँ वे द्रौपदी एवं अपने भाइयों से मिलते और ऐसी शान्ति एवं सुख प्राप्त करते हैं जो पृथ्वी पर अप्राप्य है।
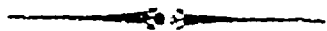
महाकाव्यों की परस्पर एवं होमर के काव्यों के साथ तुलना

अब मैं कुछ ऐसे तथ्यों पर विचार करूंगा जो इन दो भारतीय महाकाव्यों की परस्पर एवं होमर की कविताओ के साथ तुलना करने पर बरबस ध्यान आकृष्ट कर लेते है। मैं यह कह चुका हूँ कि महाभारत की कथाएँ सम्पूर्ण काव्य का तीन चौथाई से अधिक स्थान घेरती है।[1] वस्तुतः यह एक काव्य नहीं कई काव्यो का संघात है। यह वाल्मीकि के काव्य के समान एक कवि द्वारा रचित एक काव्य नही वरन् कई लेखको द्वारा लिखित एक इतिहास है। रामायण से तुलना करने पर यह इसकी दूसरी अनोखी विशेषता है। दोनो महाकाव्यो मे एक प्रधान कथा है जिसके चारो ओर अन्य कथाओ का समवाय एकत्र किया गया है, किन्तु महाभारत मे मुख्य कथा, स्वतन्त्र कथाओ तथा धार्मिक, नैतिक, एवं राजनीतिक शिक्षाओ के विशाल सघात को एक साथ जोड़ने के लिए केवल एक पतले धागे का काम करती है; जब कि रामायण मे कथाएँ असंख्य हैं किन्तु वे कभी भी एक प्रमुख एवं सर्वप्रधान विषय की ठोस शृङ्खला को नही तोड़ती, जिसे सदैव दृष्टिगोचर रखा गया है। अपरञ्च रामायण मे उपदेशात्मक वचन स्वल्प और सूत्रमय उक्तियो की भी कमी है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि दोनो महाकाव्य दो भिन्न समयो और भिन्न देशों से सबद्ध हैं। न केवल महाभारत के एक बडे भाग की रचना रामायण के बाद हुई, क्योकि इसके कुछ अंश अपेक्षतया अधिक आधुनिक है अपितु इन दोनो काव्यो को जन्म देने वाले स्थान भी अलग अलग है। देखें पृ० ३११। अपरञ्च रामायण मे आर्यों द्वारा अधिकृत दिखाये गये भूभाग की सीमा महाभारत मे वर्णित भूभाग की अपेक्षा अधिक सकुचित है। यह पूर्व मे विदेह

---

[1] यद्यपि महाभारत रामायण से इतना लम्बा है कि इसके रामायण की तरह एक लेखक की या कुछ थोड़े से लेखको की रचना होने के विचार का खण्डन हो जाता है, फिर भी कथाओ की संख्या ही सबसे अधिक असमानता उत्पन्न करती है। इन्हे अलग कर देने पर महाभारत की मुख्य कथा दूसरे महाकाव्य की कथा से लम्बी नही है।

या मिथिला और अङ्ग देश तक, दक्षिण पश्चिम में सुराष्ट्र तक, और दक्षिण मे यमुना तथा विस्तृत दण्डकवन तक पहुँचती है। इसके विपरीत महाभारत में (जैसा कि प्रोफेसर लासन ने निर्देश किया है) आर्य निवासियो को पूर्व मे गङ्गा के मुहाने तक, कारोमण्डल समुद्र तट पर गोदावरी के मुहाने तक, और पश्चिम मे मालाबार समुद्रतट तक फैला हुआ बताया गया है; और यहाँ तक कि लङ्का (सिंहल) के निवासी भी उत्तर के राजाओं के पास भेट लेकर आते है। यह सुविदित है कि भारत मे पास पास स्थित जिलो मे भी प्रायः विभिन्न प्रथा एवं विचारधाराओ का बोल बाला रहता है, और यह मानी हुई बात है कि ब्राह्मणधर्म ने अधिक युद्धप्रिय उत्तरी क्षेत्र मे वैसा प्राधान्य नही प्राप्त किया जैसा कि उसने अवध के अड़ोस-पडोस मे प्राप्त किया था।[1] इस कारण महाभारत मे रामायण की अपेक्षा बौद्ध संशयवाद का उल्लेख बहुत अधिक है। वस्तुतः यद्यपि प्रत्येक काव्य एक दूसरे के समानान्तर होता है, फिर भी उसमें भिन्नता का स्पष्ट विन्दु भी होता है। परन्तु महाभारत जैसे-जैसे अनेक देशों मे प्रचलित होता गया वैसे वैसे दूसरे महाकाव्यो की अपेक्षा अधिक गलियो और चौराहो मे फूटता गया। इस कारण, कुछ दृष्टियो से रामायण महाभारत से अधिक पूर्ण रचना है और एक अधिक परिष्कृत सामाजिक अवस्था एवं अधिक विकसित सभ्यता के चित्र प्रस्तुत करता है। वस्तुतः महाभारत वैदिकोत्तर पुराकथाशास्त्र का पूर्ण वृत्त प्रस्तुत करता है। इसमे अनेक ऐसी कथाएं है जिनके अकुर वेद मे मिलते हैं और जो अस्तव्यस्त तथा विरोधी आख्यानो की सम्पूर्ण शृङ्खला के साथ हिन्दू धर्म की परवर्ती अवस्थाओ का समावेश करने के लिये निरन्तर अपनी परिधि को बढाते रहे है।[2] इसी भण्डार से अधिकाश पुराणो

---

[1] प्रोफेसर वेबर (इन्ड० स्टू० १.२२०) का कथन है कि उत्तर पश्चिमी जातियो ने अपनी प्राचीन रीतियो को वनाये रखा, जिसे पूर्व के आने वालो ने भी अपना लिया था। इसमे उत्तर पश्चिमी जातियो (जैसो कि वे महाभारत मे प्रदर्शित है) ने स्वय को पौरोहित्य तथा वर्ण के उन प्रभावो से मुक्त रखा जो अयोध्या (रामायण) के निवासियो मे, उनके आदिमजातियो के साथ सम्पर्क मे आने एवं मिश्रण से उत्पन्न हुए।

[2] यह उल्लेखनीय है कि हिन्दू महाकाव्य के अनेक आख्यानों के बीज ऋग्वेद मे मिलते है। कभी-कभी एक ही आख्यान महाभारत के विभिन्न भागो मे कतिपय विभिन्नता के साथ दुहराया गया है : यथा, वायु तथा वज्र के देवता इन्द्र का वृत्रासुर से युद्ध का आख्यान, जो आच्छादित करने वाले मेघों एवं वाष्प का प्रतीक है। देखिए वनपर्व ८६९० इत्यादि; तथा शान्तिपर्व १०१२४

तथा अधिक आधुनिक वीर काव्यो एवं नाटको मे से अनेक का उद्भव हुआ है। इसमे रामायण के अनेक आख्यानो एव राम के जीवनचरित्र को भी दुहराया है (दे० पृ० ३५८)। इसमे हमे धर्म, राजनीति, नैतिकता तथा दर्शन के लम्बे उपदेश भी मिलते हैं जो कथावस्तु के साथ किसी विशिष्ट सम्बन्ध के बिना ही दिये गये हैं। इसमे विष्णु के अवतार के अनेक वर्णन, शिव की पूजा से सम्बद्ध अनेक कहानियाँ तथा कृष्ण के जीवन के विविध आख्यान भी हैं। जो कथाएँ विशेपतया कृष्ण की अर्वाचीन पूजा पर प्रकाश डालती है वे हरिवंश नामक परिशिष्ट मे दी गयी हैं जो स्वत: ही एक लम्बा काव्य—१६३७४ श्लोकों का[१]—और इलियड तथा ओडिसी दोनों को मिलाने पर भी उनसे लम्बा है।[2] अतएव महाभारत की धार्मिक व्यवस्था रामायण की अपेक्षा बहुत अधिक लोकप्रिय, उदार, तथा स्पष्ट है। यह सत्य है कि महाभारत मे भगवान् विष्णु का सम्बन्ध कृष्ण से दिखाया गया है जैसा कि रामायण मे राम से; किन्तु रामायण मे राम ही सब कुछ है; जब कि महाभारत मे कृष्ण किसी प्रकार इस व्यवस्था के केन्द्र नही हैं। उनका देवत्व भी कभी कभी विवादास्पद है।[3] पाँचो पाण्डव भी अशत. दैवी स्वरूप हैं और वे पृथक्-पृथक् प्राधान्य प्राप्त करते है। कभी अर्जुन, कभी युधिष्ठिर, तो कभी भीम ही मुख्य पात्र दिखाई पडते हैं जिनके चारो ओर कथानक घूमता है।[४] अपरञ्च अनेक अंशो मे शिव का परम देवता के रूप मे वर्णन किया गया है और कृष्ण भी उनकी पूजा करते हैं।[५] दूसरे अशो मे कृष्ण को सर्वोपरि स्थान दिया

आदि से तुलना कीजिए। श्येन तथा कपोत, वनपर्व १०५५८, के कथा की अनुशासन पर्व २०४६ से तुलना कीजिए।

[१] हरिवंश का महाभारत के साथ ऐसा ही सम्बन्ध है जैसा कि रामायण के अन्तिम काण्ड, उत्तरकाण्ड, का इस काव्य के पहले काण्डो से।

[२] इलियड और ओडिसी दोनो मे मिलाकर ३०,००० पंक्तियाँ हैं।

[3] जैसा कि शिशुपाल या अन्य लोगो द्वारा। देखिए पृ० ३८३ टिप्पणियो सहित।

[४] इस दृष्टि से महाभारत इलियड के मिलता-जुलता है। एत्रिलीज को इसका नायक नही कहा जा सकता। अन्य योद्धा उसके साथ फलप्राप्ति मे अधिक अंश ग्रहण करते हैं।

[५] भगवद्गीता मे कृष्ण केवल विष्णु के अवतार ही नही है, अपितु उन्हे ब्रह्म या परमात्मा से अभिन्न बताया गया है और वे कई स्थानो पर इस रूप मे दिखाई भी पड़ते हैं। यह सुविदित है कि होमर मे एक देवता (जोव) की प्रधानता एवं अन्य देवताओ की उचित गौणता बनाये रखी गयी है।

गया है और शिव से उनकी पूजा करायी गयी है। वस्तुतः रामायण जहाँ सामान्यत. एकपक्षीय एव ऐकान्तिक ब्राह्मण-धर्म को प्रस्तुत करता है[1] वही महाभारत हिन्दू धर्म के बहुविध स्परूप को प्रतिबिम्बित करता हैं। उसके अद्वैत और बहुदेववाद को, आध्यात्मिकता और भौतिकता को, उसकी कठोरता और मृदुता को, उसके पौरोहित्य तथा पौरोहित्य-विरोध को, उसके धर्माध्यक्षों की असहिष्णुता तथा हेतुवादी दर्शन को एक साथ उपस्थित करता है। ऐसी बात नही कि इस ग्रन्थ की मौलिक योजना में विविधता अभिप्रेत थी; किन्तु स्थिति यह है कि प्रत्येक प्रकार की विचारधारा एक लम्बी अवधि में क्रमिक प्ररिबृंहण से निर्मित इस संकलन मे अभिव्यक्त हुई है।

अधिक लौकिक, प्रचलित, एवं मानवीय स्वरूप के साथ ही साथ महाभारत के वर्णनो मे रामायण की अपेक्षा नियत रूप मे मात्र काल्पनिक रूपक कम और ऐतिहासिक सभावनाएँ अधिक हैं। तथापि, इसके विपरीत बात भी देखने में आती है। उदाहरणार्थ, रामायण ४.४० मे संसार का चार दिशाओं या क्षेत्रो मे एक सरल विभाजन है, जब कि महाभारत ६ २३६ आदि मे सात गोलाकार द्वीपो या महाद्वीपों का काल्पनिक विभाजन है (जिसे बाद मे पुराणो ने भी ग्रहण किया है) : वे हैं १. जम्बू द्वीप या पृथ्वी; २. प्लक्ष द्वीप; ३. शाल्मलि द्वीप; ४-कुश-द्वीप; ५. क्रौञ्च द्वीप; ६. शाकद्वीप; ७. पुष्कर द्वीप। ये समान केन्द्रीय मेखलाओ में क्रमशः सात समुद्रो से घिरे हुए हैं—१. खारे जल का समुद्र (लवण); २. ईख के रस का समुद्र (इक्षु); ३. सुरा का सागर; ४. घृत का सागर (सर्पिस्); दही का सागर (दधि); ६. दूध का सागर (दुग्ध); ७ निर्मल जल का सागर (जल)। मेरु पर्वत या देवताओ का निवास स्थान जम्बूद्वीप के मध्य में है, जो नौ वर्ष या देशो मे आठ पर्वतश्रेणियो द्वारा बँटा हुआ है। भारत नाम का वर्ष (इण्डिया) हिमवान् पर्वतश्रेणियो के दक्षिण है।[2]

---

[1] रामायण मे कुछ स्वतन्त्र विचारो ने स्थान प्राप्त कर लिया है; देखिए २ १०८ (स्ल०); ६.६२.१५ (गोर० वम्बे० ८३.१४); ६.८३.१४ (कलकत्ता)। यह उल्लेखनीय है कि रामायण मे राम और रावण दोनो ही एक ही देवता की आराधना करते हैं जिस प्रकार इलियड मे ग्रीक और ट्रोजन। हनुमान ने लङ्का पहुँचकर प्रात कालीन ब्रह्मघोष सुना (रामायण ५.१६,४१)। इसे वेबर ने प्रदर्शित किया है।

[2] ये आठ पर्वतश्रेणियाँ हैं—निषध, हेमकूट, निषध जो मेरु के उत्तर मे है, उत्तर मे नील, श्वेत, तथा शृङ्गी; पश्चिम तथा पूर्व मे माल्यवान तथा गन्ध-

इन असंगत विचारो एवं भोडी कल्पनाओ के बावजूद भी महाभारत में दूसरे महाकाव्यो की अपेक्षा वास्तविक जीवन, तथा पारिवारिक एवं सामाजिक अभिरुचियो और आचारो के उदाहरण बहुत अधिक हैं। इसकी भाषा भी रामायण की भाषा की अपेक्षा अधिक अनेकरूपता लिये हुए है। रामायण का बहुत बड़ा भाग (क्षेपको एव जोडो के होते हुए भी) एक कवि की रचना है और शैली तथा छन्द की अबाधित सरलता के साथ रचा गया है (दे० पृ० ३२८ टि० २)। उसके बृहत्तर भाग की प्राचीनता वाक्विन्यास की यत्नकृत रचना के अभाव से सिद्ध हो जाती है। दूसरी ओर महाभारत, यद्यपि सामान्यतः भाषा की दृष्टि से सरल एवं स्वाभाविक तथा परवर्ती लेखको के चमत्कारो एव कृत्रिम वाग्विन्यासो से मुक्त है, तथापि रचना की अधिक विभिन्नता प्रदर्शित करता है, जो कभी तो (विशेषत. जब इन्द्रवज्रा छन्द के प्रयोग मे) यह उच्च कोटि की शैली पर उडता है और न केवल शिथिल एवं अनियमित अपितु बृहत् रूप मे गूढ व्याकरणीय रूपो तथा प्राचीन आख्यानो के मिश्रण से स्थल स्थल पर प्राचीन शब्दो एव वैदिक रूपो[१] का भी प्रयोग करता है।

इन दोनो भारतीय महाकाव्यो का इलियड और ओडिसी के साथ भेद प्रदर्शित करते समय हमे बहुत सी समानताएँ देखने को मिल सकती है। कुछ समानान्तर अंशो का सकेत किया जा चुका है। हम एक दूसरे से बहुत दूर के स्थानो मे निवास करने वाली दो विभिन्न जातियो मे (यद्यपि दोनो ही आर्य परिवार की है) भिन्न मानसिक क्षमता पाने की आशा करते है जो समरूपता के सामान्य पहलुओ के होने के बावजूद भी उनके महाकाव्यो को भिन्न रंग-रूप प्रदान करती है। रामायण तथा महाभारत होमर की कविताओ की तुलना मे मानव मस्तिष्क के स्मारक के रूप मे कम अनूठे नही और न प्राचीन काल के मानव जीवन एव व्यवहारो के चित्र के रूप मे उनसे कम रोचक ही हैं।

मादन। निर्मल जल वाले समुद्र के बाद स्वर्णभूमि नाम का क्षेत्र है और लोकालोक पर्वत के इस वृत्त के बाहर, जो सूर्य के प्रकाश की सीमा है, जब एक ओर के सभी प्रदेश प्रकाशित हो तो दूसरी ओर के प्रदेश घोर अन्धकार मे होते हैं। देखिए रघुवश १.६८। सात द्वीपो के नीचे सात पाताल हैं और इसके नीचे इक्कीस नरक (पृ० ६४ टि० २)।

[१] इस प्रकार, जीवसे (१.७२) कुर्मि (३.१०९४३ तथा रामायण २ १२. ३३) हित (हरिवश ७७९९) के लिये, परिणयामास, परिणाययामास के लिए, मा भैः मा भैंपी के लिये, व्यवसिष्यामि, व्यवसास्यामि के लिये। अनियमित व्याकरणीय रूपो का प्रयोग कभी कभी छन्द की आवश्यकता के कारण है।

फिर भी उन पर उल्लेखनीय परिमाण मे विशिष्टता की वह मुहर लगी है जो सदैव एशियाई देशो की रचनाओ पर लगी होती है और जो उन्हे योरोपीय रचनाओ से अलग करती है। कला और अनुपात के सामञ्जस्य के पक्ष मे दस सिर और बीस बाहो वाले रावण की अस्वाभाविक रूप-रेखा ग्रीक मूर्तियो के सौष्ठव के साथ तुलना में जिस प्रकार दिखाई पड़ती है उससे बढ़कर भारतीय महाकाव्य इलियड और ओडिसी की प्रतिद्वन्द्विता मे टिक नही सकते। जहाँ एक की सरलता उसे सुतरां परिष्कृत एवं सभ्यजन संबन्धी रुचि का भाजन बनाती है, वहाँ दूसरे का वाग्विस्तार केवल एशियाई मन के विस्मय को उत्तेजित करता है, या यदि योरोपीय के लिये आकर्षक है तो केवल प्राच्य-शिक्षालय मे पली हुई कल्पनाओ को ही सन्तुष्ट कर सकता है।

इस प्रकार इलियड मे समय, देश एवं क्रिया, सभी अत्यन्त सकुचित सीमा मे आबद्ध है। ओडिसी मे उन्हें कुछ विस्तृत सीमा दी गयी है, यद्यपि वह बहुत विस्तृत नही है; किन्तु रामायण और महाभारत में उसका क्षेत्र प्राय: असीमित है। रामायण चूँकि एक ही व्यक्ति के जीवन का वर्णन पर्याप्त तारतम्य के साथ करता है अत इस दृष्टि से इलियड की अपेक्षा ओडिसी से अधिक समता रखता है। दूसरे दृष्टिकोणो से, विशेषतः कथावस्तु की दृष्टि से, शैली की अधिक सरलता एवं असम्बद्ध कथाओ से अपेक्षयता अधिक स्वतन्त्रता मे इसका इलियड से अधिक साम्य है। रामायण तथा महाभारत दोनो मे अनेक सजीव अंश है जो वर्णन के सौन्दर्य मे होमर के काव्य की किसी वस्तु से मात नही खा सकते। यह भी द्रष्टव्य है कि भारतीय महाकाव्यो का वाग्विन्यास होमर की तुलना मे अधिक परिष्कृत, नियमित एवं यत्नकृत और भाषा भी अधिक विकसित अवस्था मे है। निश्चय ही यह स्नायविक शक्ति एव उत्साह पर प्रभाव डालता है जो शैली के लिए हानिकारक होता है। और यह भी मानना पडेगा कि सस्कृत काव्यो मे विशेषणो की अधिक भरमार है, उत्प्रेक्षा, उपमा तथा अतिशयोक्ति का अत्यन्त उदार प्रयोग है, और पुनरुक्ति, विस्तृत वर्णन तथा वाग्विस्तार का अन्त नही।

वस्तुत· एक योरोपीय को, जो उचितरूप से भारतीय महाकाव्यो का मूल्याङ्कन करना चाहता है, इस बात के लिए तैयार रहना चाहिये कि वह इनका एकमात्र अपने दृष्टिकोण से आकलन न करे। उसे यह ध्यान मे रखना चाहिए कि सामान्य प्राच्य रुचि को सन्तुष्ट करने के लिए काव्य मे अतिशयोक्ति-पूर्ण वर्णन की आवश्यकता पड़ती है।

पुन., पाश्चात्य देशीय विद्यार्थी के लिए अनेक अंशो का आकलन करना उसके भारतीय पुराकथाशास्त्र, तथा प्राच्य प्रथाओ, दृश्यो, एव पशुजगत् के

विशिष्ट जातिस्वभावों से परिचय पर निर्भर करता है। हिन्दू महाकाव्यीय कविता मे अनेक उपमाएँ एशियाई पशुओ, यथा, हाथियों और सिंहो[1] की रुचियों एव गतियो से या भारतीय वनस्पतितो एवं प्राकृतिक वस्तुओ की विशेपताओ से दी गई है। जहाँ तक दृश्य का वर्णन है, जिसमे हिन्दू कवि निश्चय ही ग्रीक या लैटिन[2] कवियो की अपेक्षा अधिक सजीव और सुन्दर है, पूर्व मे वाह्य प्रकृति के सम्पूर्ण दृश्य, वनस्पति जगत् का वैभव, वृक्षो, फलो एव फूलो का प्राचुर्य[3], तपते आकाश की आभा, वर्षा ऋतु की ताजगी, प्रवल वायु का प्रकोप, भारतीय चाँदनी की शान्ति,[4] एवं विशाल पृष्ठभूमि जिसमें प्रायः प्राकृतिक वस्तुओ को ढाला गया है, तथा अन्य अनेक विशेषताएँ एक योरोपीय के लिये दुर्वोध हैं। हमे पूर्वीय रीतियो की भिन्नता का भी ध्यान रखना चाहिए; यद्यपि इस दिशा मे एक विस्तृत हाशिया छोड़ने के वाद यह स्वीकार करना पड़ेगा कि कतिपय प्राचीन आख्यानों के नितान्त वीभत्स

---

[1] इस प्रकार किसी भी प्रमुख या साहसी व्यक्ति को मनुष्यो मे सिंह, 'पुरुषसिंह', कहा जायगा। उपमाओ के अन्य पशु, व्याघ्र, चक्रवाक या रथाङ्ग; महिष, वराह, कोयल (कोकिल), क्रौञ्च, वृषभ (गवय, अर्थात् वस गवेयस) इत्यादि हैं। एक स्त्री की चाल हाथी की मत्त चाल के समान वतायी जाती है। यह उल्लेखनीय है कि भारतीय महाकाव्यो मे उपमाएँ यद्यपि वहुत आई हैं तथापि वे कतिपय शब्दो मे सीमित हैं और तीन या चार पंक्तियो मे नही जैसा कि होमर मे।

[2] होमर मे दृश्यो एवं प्राकृतिक वस्तुओ के वर्णन इतने संक्षिप्त और सामान्य है कि वे वस्तुतः सजीव नही हो सकते। उनमे अधिक रंगयोजना तथा विस्तृत वर्णनो की सूक्ष्मता की आवश्यकता है। कुछ लोग इसका कारण यह वताते हैं कि ग्रीक कवि प्रकृति का दर्शन चित्रकार की दृष्टि से करने का अभ्यस्त नही था।

[3] सभी प्रकार के पुष्पो के वाहुल्य का संकेत एक संस्कृत शब्दकोश मे आनेवाले वनस्पतिशास्त्रीय शब्दो से मिलता है। महाकाव्य मे उल्लिखित कतिपय नितान्त सामान्य फूल तथा वृक्ष ये है: चूत या आम, अशोक (जिसका वर्णन सर विलियम जोन्स ने किया है), किंशुक (लाल फूलो वाला वुटिआ फ्रोण्डोसा); इमली (अम्लिका); जूही (जिसकी कई जातियाँ हैं, यथा, मालती, जाती, यूथिका इत्यादि); कुरुवक (अमरन्थ); चन्दन; कर्कन्धु; अनार (दाड़िम); कदम्व (नीप); प्रिचुल, वकुल, कर्णिकार, श्रृंगार इत्यादि।

[4] रामायण (गोर०) १.३६.१५ मे रात्रि का सुन्दर वर्णन देखिए।

विवरणो के खोलकर रख देने मे सम्पूर्ण शिष्टता की उपेक्षा, जो हमे यत्र तत्र भारतीय महाकाव्यो (विशेषतया महाभारत) मे मिलती है, एक गहरा कलंक है। यह दोष होमर के काव्य के पृष्ठो को विकृत नही करता, यद्यपि स्थल-स्थल पर होमर ने भी वर्णन मे स्वतन्त्रता बरती है। फिर भी, भारतीय महाकाव्यो मे होमर की कविताओं जैसी सभ्यता का दर्शन तो होता ही है उससे उच्चकोटि की सभ्यता के चिह्नो का भी अभाव नही है। यद्यपि रामायण तथा महाभारत के युद्धक्षेत्रो के वर्णन वालिश अतिशयोक्तियो एव अतिमानवीय अस्त्रो के प्रयोग से नष्ट हो गये हैं, तथापि वे अमर्यादित हिंसाओ द्वारा अशिष्ट नही बनाये गये है,[१] और अयोध्या तथा लङ्का के वर्णनो मे स्पार्टा तथा ट्रॉय के वर्णनो की अपेक्षा बहुत अधिक विलासिता तथा आचारसौजन्य की अभिव्यन्जना होती है।

रामायण तथा महाभारत दोनो मे मुख्य कथा मे (जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है) लम्बी उपकथाओ द्वारा निरन्तर व्यवधान स्वयं कथा के अप्रासगिक वाग्विस्तार के साथ सदैव हिन्दू महाकाव्यीय कविता का प्रमुख दोष समझा जायगा और यह इनकी भिन्नता प्रदर्शित करने वाली अनोखी विशेषताओ मे एक है। इस दृष्टि से इलियड भी आलोचको के दोषारोपण से बच नही पाया है। अनेक लोगो का विश्वास है कि यह काव्य एक ही विषय से संबद्ध विभिन्न गीतो के मिश्रण का परिणाम है, जो विविध स्थानो मे बहुत दिनो से प्रचलित थे और जो बहुत कुछ महाभारत के समान ही परिवर्ती क्षेपको से युक्त है। किन्तु ग्रीसनिवासियो की कलावादी अन्तःप्रवृत्ति को इस बात की आवश्यकता थी कि सभी अंग, परिशिष्ट, एवं अधिक अर्वाचीन जोड़ों को एक सुष्ठु, समरूप एवं संगतावयवपूर्ण रूप में मिला दिया जाय। यद्यपि होमर मे हमे निश्चय ही सामयिक अप्रस्तुतानुसन्धान एवं निक्षिप्तवाक्य मिलते है, यथा 'एचिलीज़ के ढाल' के वर्णन मे एवं वीनस तथा मार्स की कथा मे, किन्तु ये भारतीय उपाख्यानो के समान नही हैं। यदि ये महाकाव्य की योजना की पूर्णता के लिये नितान्त आवश्यक नही है तब भी कथावस्तु की प्रक्रिया से स्वभावत उभर आते है एवं उसकी एकता मे कोई उग्र-भेद नही उपस्थित करते। इसके विपरीत भारतीय कथालेखक या कथा

---

[१] एचिलीज़ के हेक्टर के प्रति व्यवहार मे कुछ बर्बरता है; तथा ओडिसी के बाइसवे अध्याय मे यूलिसिस द्वारा आदिष्ट निर्दयता भी बड़ी बीभत्स है। इनकी तुलना युद्धकाण्ड मे वर्णित राम द्वारा अपने किये गये शत्रु रावण के प्रति व्यवहार के साथ कीजिए।

सुनानेवाले कथा के विपय मे प्रायः तारतम्य का सोद्देश्य व्यच्छेद करते हैं। वे अनेक पृथक कथाओ की माला गूंथने मे आनन्द लेते हैं जो एक दूसरे से असंबद्ध होती हैं यद्यपि उनमे सजावट के लिए रखी गयी मूर्तियो के समान पारस्परिक संवन्ध होता है। यहाँ तक कि वे प्रत्येक कथा के तारतम्य को प्रयोजनवश तोड़ देते हैं जिससे एक का अन्त होते होते दूसरे का प्रारम्भ हो जाता है और उसके पूरा होने के पहिले ही अन्य कथाएँ वीच मे गूंथ दी जाती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि कथाओ के भीतर कथाओ का परस्पर आकुञ्चन हो जाता है जो सभी मूल कथा के पतले धागे से गुँथी होती हैं। इसका सुविदित उदाहरण हितोपदेश नाम के कथाओ के संकलन एवं 'अरेबियन नाइट्स' मे मिलता है। यही प्रवृत्ति महाकाव्यो की रचना मे भी—और रामायण की अपेक्षा महाभारत मे कही अधिक वढ-चढ़ कर—देखने को मिलती है।

रामायण के कथा-वस्तु एवं चरित्रो की इलियड के कथावस्तु एवं चरित्रो के साथ विना यह माने हुए, जैसा कि कुछ लोगो ने माना है कि इनमे से कोई एक काव्य दूसरे का अनुकरण है, तुलना करने पर यह नि.सन्देह यथार्थ एवं उल्लेखनीय ठहरता है कि दोनो का विषय एक ऐसा युद्ध है जो योद्धाओं मे से एक की पत्नी का दूसरे पक्ष के नायक द्वारा अपहरण होने पर उसकी पुनः प्राप्ति के लिये किया गया था; और इस दृष्टि से राम मेनेलाउस से मिलते हैं, जब कि दूसरे विपयो मे उनकी तुलना एचिलीज़ से की जा सकती है। सीता हेलेन के, स्पार्टा अयोध्या के, और लङ्का ट्रॉय के अनुरूप है। यह भी सत्य है कि एगामेम्नन तथा सुग्रीव, पेट्रोक्लस तथा लक्ष्मण, नेस्टर तथा जाम्बवत्[1] के चरित्रो मे भी समानता ढूँढी जा सकती है। पुन. यूलिसिस[2] की एक दृष्टि से हनुमान के साथ तुलना की जा सकती है; तथा ट्रोजन पक्ष के सबसे वीर योद्धा हेक्टर की कुछ विपयो मे इन्द्रजीत के साथ एवं दूसरे विपयो मे कुलद्रोही विभीषण[3] के साथ या महाभारत के दुर्योधन के साथ अनुरूपता दिखाई जा सकती है, जब कि एचिलीज के वहुत गुण अर्जुन के गुणो के समान हैं। अन्य समानताओ को किसी भी सीमा तक पग-पग पर कठिनाइयो का सामना किये बिना नही सिद्ध

---

[1] जाम्ववत भालुओ का सरदार था और ज्ञानपूर्वक उपदेश दिया करता था।

[2] जब कोई ऐसा कार्य करना होता था जिसमे विशिष्ट कौशल या युक्ति की आवश्यकता होती तो वह इन्ही को सौंपा जाता था।

[3] हेक्टर भी विभीषण के समान अपहरणकर्त्ता से द्रोह रखता था किन्तु वह अपने भाई के पक्ष मे युद्ध करने से इन्कार नही करता।

किया जा सकता, और इस कारण हिन्दू तथा ग्रीक महाकाव्य के कवियो मे विचारो के आदान-प्रदान के सम्बन्ध मे कोई भी सिद्धान्त असंगत ठहरता है। राम के चरित्र की मेनेलाउस के चरित्र के साथ वस्तुतः कोई समानता नही है और एचिलीज़ के चरित्र के साथ भी समानता नही के बराबर है, यद्यपि योद्धाओ मे सबसे वीर एवं शक्तिशाली होने के नाते उनकी तुलना मेनेलाउस की अपेक्षा एचिलीज़ से अधिक हो सकती है। यद्यपि क्रोध के समय वे एचिलीज़ के समान हैं तथापि उनका सम्पूर्ण चरित्र यूनानी वीर की अपेक्षा कही अधिक मानवीय साँचे मे ढला है: वह एक आदर्श पति, पुत्र और भ्राता है। सीता भी अपने पति के प्रति परमभक्ति एवं पातिव्रत्य तथा विपत्तियो एव प्रलोभन के सम्मुख अदम्य धैर्य और दृढता दोनो ही दृष्टियो से चरित्र मे हेलेन से बहुत ऊँची उठी हुई हैं, और पेनेलोप[1] से भी ऊँची हैं। जहाँ तक भरत और लक्ष्मण का प्रश्न है वे भ्रातृत्व प्रेम के आदर्श हैं। कौसल्या मातृसुलभ कोमलता और दशरथ पिता के वात्सल्य प्रेम के आदर्श है। यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि रामायण का सम्पूर्ण नैतिक स्तर इलियड से निश्चय ही ऊपर है। पुन:, इलियड मे विषय वस्तुत एचिलीज का क्रोध है। जब उसकी सन्तुष्टि होती है तो नाटक समाप्त हो जाता है। कथावस्तु की पूर्णता के लिये ट्रॉय के पतन को आवश्यक नहीं समझा गया है, जब कि रामायण मे सम्पूर्ण क्रिया लङ्का के विध्वंस एवं अपहरणकर्ता के विनाश की ओर सकेत करती है। कोई भी व्यक्ति रामायण या महाभारत पढते समय यह अनुभव किये बिना नहीं रह सकता कि ये होमर की कविताओ से इस विषय में ऊँचे उठते हैं; कि सभी कथाओ मे एक गम्भीर धार्मिक अर्थ अन्तर्निहित दिखायी पड़ता है; नितान्त असस्कृत रूपक भी एक उच्च कोटि की नैतिक शिक्षा को गूढ बनाने का ध्येय रख सकता है; सद् एवं असत् के सघर्ष का प्रतीक हो सकता है; एवं इस भयकर संघर्ष मे आत्मा की पवित्रता, आत्मसंयम एवं इच्छाओ के दमन के अभाव मे विजय की अप्राप्यता का उपदेश दे सकता है।

वस्तुत भारतीय महाकाव्यो का धार्मिक तत्व ही होमर के काव्य के साथ तुलना करने पर उनकी भिन्नता प्रदर्शित करनेवाली प्रमुख विशेपता है। हम यहाँ भारत, रोम तथा ग्रीस के देवताओ की तुलना जैसे रोचक विपय की मात्र रूपरेखा का प्रदर्शन करने से अधिक कुछ नही कर सकते। यथा:—

[1] पेनेलोप के अनेक विवाहेच्छुक पुरुषो को अपने निकट आने की आज्ञा देने मे कुछ स्त्री सुलभ रूपगर्व की शका होती है, यद्यपि वह उन पुरुषो को पास नही फटकने देती है।

इन्द्र[1] तथा शिव जूपिटर तथा ज्यूस से समानता प्रकट करते है; दुर्गा या पार्वती जूनो से; कृष्ण अपोलो से; श्री सेरेस (Ceres) से; पृथिवी साइवेले (Cybele) से; वरुण नेपच्यून से, तथा अपने प्रारम्भिक रूप मे यूरेनस से; विद्या तथा कला की देवी सरस्वती मिनर्वा से; युद्ध के देवता कार्तिकेय या स्कन्द मार्स से;[2] यम प्लूटो या माइनोस (Minos) से; कुवेर प्लुटस से; विश्वकर्मन् वल्कन से; प्रेम के देवता काम क्यूपिड से; उनकी पत्नी रति वीनस[3] से; नारद मर्करी से[4]; हनुमान् पान से; उपस् तथा परवर्ती देवशास्त्र के अरुण इओस तथा आरोरा से; वायु एइओलस से; सभी क्रियाओं के प्रारम्भ मे पूजे जाने वाले देवता गणेश जानुस् से; अश्विनीकुमार[5] डिआस्करी, कास्टर तथा पोलक्स से ।

किन्तु ग्रीस मे पुराकथाशास्त्र, जो कई दृष्टियो से होमर की कविताओ की रचना के समय पूर्णत: क्रमवद्ध हो चुका था,[6] कभी कतिपय सीमाओ के वाहर

---

[1] जैसा कि हम देख चुके है (पृ० १४) इन्द्र जूपिटर प्लूवियस है जो वर्षा करता है एवं वज्र धारण करता है और आरम्भिक देवशास्त्र मे वह ज्यूस के समान देवताओ का प्रमुख है। आगे चलकर उसकी पूजा का स्थान कृष्ण तथा शिव की पूजा ने ले लिया ।

[2] यह विलक्षण बात है कि युद्ध के देवता कार्तिकेय को हिन्दू पुराकथा मे चोरो के देवता के रूप मे उपस्थित किया गया है—और सम्भवत. इसका कारण चोरो की घरो में तोड कर घुसने तथा सेंध लगाने की आदत ही है (देखिए मृच्छकटिक अङ्क ३)। भारतीय चोर ऐसी दक्षता एवं चतुराई प्रदर्शित करते हैं कि मर्करी अर्थात् बुध का उनका स्वामी होना अधिक जँचता । कार्तिकेय शिव के पुत्र थे जिस प्रकार मार्स जूपिटर की सन्तान थे ।

[3] एक या दो विषयो मे लक्ष्मी की तुलना वीनस मे की जा सकती है ।

[4] जिस प्रकार मर्करी लायर के आविष्कारक थे उसी प्रकार नारद वीणा के आविष्कारक थे ।

[5] एक घोडी (अश्विनी) रूप में परिवर्तित संज्ञा नाम की पत्नी से उत्पन्न सूर्य के ये सदैव कुमार रहनेवाले यमल पुत्र अपने कर्मों एवं भक्तो की सहायता दोनो ही दृष्टियो से डिआसकरी से मिलते-जुलते है (पृ० १५)।

[6] हेरोडोटस कहता है, (इउटेर्पे ५३) कि 'होमर एवं हेसिआड ने ग्रीक देवोत्पत्ति की रचना की, देवताओ को विशिष्ट नाम दिये, उनमे सम्मान तथा कार्यों का विभाजन एवं उनके रूपों का वर्णन किया। मेरा निकर्ष यह है कि क्रिया से हेरोडोटस का तात्पर्य यह नही था कि होमर ने पुराकथाओं

नही गया और न रूपरेखा की एक निश्चित अवयवसगति से अधिक विकसित हुआ। इलियड तथा ओडिसी मे किसी देवता का आदर्श मानव से अधिक नही है। उसका आकार एव क्रियाये कदाचित् ही इस स्वरूप के प्रतिकूल जाती है। दूसरी ओर, हिन्दू पुराकथाशास्त्र, जो उसी स्रोत से उद्भूत है जिस स्रोत से योरोप का पुराकथाशास्त्र किन्तु जो एक भारतीय वन की समान अतिवृद्धि के साथ ही विस्तृत होता रहा और प्रशाखाओ मे फैलता रहा है, बड़ी तीव्र गति से सभी आनुपातिक सामञ्जस्य से भी अधिक वढकर विकट एवं अस्त-व्यस्त रूपक की उलझी हुई झाड़ियो से घिर गया। निःसन्देह भारतीय एवं ग्रीसदेशीय महाकाव्यो के देवताओ मे उनकी समान उत्पत्ति के कतिपय चिह्न अवशिष्ट हैं जो परस्पर विविध प्रकारो से अनुरूप है। वे मानवीय कार्यों मे हस्तक्षेप करते हैं, मनुष्यो के समान चरित्र-दोष प्रदर्शित करते है। वे अपने प्रिय वीरो के युद्ध मे भाग लेते हैं, उन्हे दिव्यास्त्र प्रदान करते हैं और सीधे उनकी रक्षा करने के लिए उपस्थित तक होते है।

किन्तु रामायण, महाभारत, एवं पुराणो मे, जिन तक ये पहुँचते है, दैवी और अर्धदैवी भूतो की आकृति एवं क्रियाएँ सामान्यत विकट, भयंकर एवं अविश्वसनीय की अभिव्यञ्जक हैं। मानव रूप को चाहे वह जितना भी आदर्शभूत क्यो न हो, दैवी गुणो की अभिव्यक्ति के लिए कदाचित् ही उचित समझा गया है। ब्रह्मा चार मुखवाले हैं। शिव तीन नेत्रोवाले और कभी-कभी पाँच सिर वाले हैं। इन्द्र के एक हजार नेत्र हैं। कार्तिकेय के छ मुख, रावण के दस सिर तथा गणेश के हाथी का सिर है। प्राय. प्रत्येक देवता या देवी के कम से कम चार भुजाएँ हैं और प्रत्येक हाथ मे गूढ़ अर्थवाले चिह्न है।[1] उन वीरो के कर्म, जो स्वय ही आधे देवता हैं, कल्पना को नितान्त अयुक्त और असंभवकल्पना के क्षेत्र मे पहुँचा देते हैं। सम्पूर्ण हिन्दू देवमण्डल विलक्षण कल्पनाओ से, भयंकर जीवो से जो आधे पशु और आधे देवता हैं, नरभक्षी दानवो से, अनेकसिरवाले दैत्यो एवं घृणित राक्षसो से इस सीमा तक परिपूर्ण है कि उसे ग्रीक एवं रोमन लोगो की कोमल चेतना सहन नही कर पाती।[2]

को जन्म दिया अपितु उसका तात्पर्य यह है कि उसने पहले से ही प्रचलित पुराकथाओं को क्रमबद्ध रूप प्रदान किया। तथापि क्रोचे का हिस्ट्री आफ ग्रीस १.४८२ इत्यादि देखिए।

[1] रोमन देवता जेनुस (जो 'डिआनस' के स्थान पर माने जाते है और जो 'डाइस' से सबद्ध हैं) जो शिरो के साथ और कभी-कभी चार शिरो के साथ उपस्थित किये गये थे।

[2] यह सत्य है कि होमर कभी-कभी विकट जीवो की सृष्टि मे लग जाता

अपरञ्च, भारतीय महाकाव्यो मे प्राकृतिक एवं अतिप्राकृतिक के बीच, पृथ्वी एव आकाश के बीच, और दैवी, मानवीय, तथा यहाँ तक कि पशु सृष्टि के बीच सीमाएँ अनुपम ढंग से अनियत तथा अस्पष्ट हैं। प्रत्येक अवसर पर देवताओं एवं अर्धदैवी व्यक्तियो के दल मञ्च पर दिखाई पड़ते है। देवता, मनुष्य तथा पशु सदैव स्थान बदलते रहते हैं। दोनों संसार के बीच एक सबाधित सम्बन्ध बनाए रखा गया है और उनका पारस्परिक ऐसा अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है कि प्रत्येक दूसरे की सहायता की आवश्यकता रखता प्रतीत होता है। यदि दुःखी मर्त्यो को दैवी मध्यस्थता द्वारा अपनी विपत्ति से छुटकारा पाने मे सहायता मिलती है, तो प्रायः पासा पलट भी जाता है। स्वयं व्याकुल देवताओं को, जो दयनीय कष्टापन्न अवस्था मे पड़े हुए हैं, राक्षसों के साथ सघर्ष मे मानव की सहायता की प्रार्थना करने को बाध्य होना पडता है।[1] यहाँ तक कि वे अपने प्रतिदिन के भोजन के लिए मनुष्यो का मुँह ताकते है और उन्हें वास्तव मे मनुष्यो द्वारा दी गई बलियो पर जीविका निर्वाह करनेवाला दिखाया गया है। वे प्रत्येक यज्ञ-क्रिया के अवसर पर अपना अश ग्रहण करने के लिए दल बनाकर उपस्थित होते है। वस्तुत हिन्दुओं के लिये यज्ञ केवल प्रायश्चित्त या देवता को प्रसन्न करने के लिए नही होता। यह देवताओ के भोजन एव भरण के लिये भी आवश्यक होता है। यदि यज्ञ न होते तो देवता भूखों मर जाते (दे० भूमिका) केवल यही एक कारण है जिससे वे राक्षसो का विनाश करने मे रुचि रखते है, जिनका प्रमुख ध्येय उनके भरण-पोषण के इन स्रोतो मे व्यवधान उपस्थित करना है। बहुत कुछ इसी प्रकार मृत व्यक्तियों की आत्माओ को अस्तित्व एव सुख के लिये जीवित व्यक्तियो पर निर्भर बताया गया है क्योकि उन्हे श्राद्धकर्मो में चरु के अपूपो एवं जल के तर्पण द्वारा भोजन देना होता है।

पुनः, न केवल मनुष्य उन पशुओ से सहायता प्राप्त करते हैं जो मानव कर्म करते हैं, वरन् देवता भी पक्षियो, सभी प्रकार के पशुओ, तथा वनस्पतियो पर आश्रित एव उनसे संबद्ध होते है। अनेक प्रमुख देवताओ को वाहन या सवारी के रूप मे पशुओ का प्रयोग करते हुए दिखाया गया है। ब्रह्मा हस पर चलते हैं और कभी-कभी कमल पर बैठते हैं; विष्णु आधे गृध्र

है किन्तु पोलिफेमस का वर्णन भी रामायण के तीसरे काण्ड मे आये हुए (दे० पृ० ३४८) कबन्धासुर के अतिशयोक्तिपूर्ण घोर रूपो के समान सभी सभावनाओं का अतिक्रमण नही करता।

[1] शकुन्तला तथा विक्रमोर्वशीय मे इन्द्र ऐसा करते हैं।

एवं आधे मनुष्य रूप वाले प्राणी के ऊपर (जिसे गरुड कहा गया है) चढते है या सेवित होते हैं; लक्ष्मी कमल पर विराजती हैं या हाथ मे एक कमल धारण करती है; शिव के पास वाहन या सहचर के रूप मे वृषभ रहता है; युद्ध के देवता कार्तिकेय के पास मयूर है;[1] इन्द्र के पास हाथी है; मृत्यु के देवता यम के पास महिष[2] है। इसी प्रकार कामदेव का शुक तथा मछली,[3] गणेश का मूषक,[4] अग्नि का मेष, वरुण का मत्स्य, और दुर्गा का वाहन सिंह है। दुर्गा को कभी-कभी अपने पति के साथ एक वृषभ पर विराजमान प्रस्तुत किया गया है। स्वय शिव का भी सिंह एव मृग तथा असंख्य सर्पो के साथ सम्बन्ध दिखाया गया है। विष्णु (हरि, नारायण) को भी परमात्मा रूप मे शेष (या अनन्त) नामक सहस्रशीर्षवाले सर्प पर सोया हुआ दर्शाया गया है।

इस शेष को नागो या अर्धदैवी प्राणियों का राजा बताया गया है, जिनकी संख्या कभी-कभी एक हजार बतायी गयी है और वे आधे सर्प और आधे मनुष्य है। उनका सिर मनुष्यो जैसा है और शरीर सर्पों जैसा। वे सात पातालो[5]

---

[1] कार्तिकेय को एक सुन्दर युवक के रूप मे वर्णित किया गया है, (यद्यपि उनके छ. मुख हैं)। उनके मयूर से सम्बद्ध होने का यही कारण हो सकता है।

[2] कदाचित् इसके अधिक बल के कारण।

[3] शुक प्रायः भारतीय प्रेमकथाओ मे आता है। उसका सम्बन्ध एक प्रकार के घड़ियाल से भी है जो प्रतीक है (इस कारण इसका नाम मकरध्वज पड़ा है)। इस प्रकार का जीव उसके मन्दिरो के निकट तालाबों मे रखा जाता है।

[4] इसे अधिक चतुराई से युक्त माना जाता है।

[5] पाताल शब्द का व्यवहार यद्यपि पृथ्वी के नीचे के सात लोको के लिये होता है, तथापि वस्तुत. यह इनमें से एक का नाम है। इनके क्रमशः ये नाम हैं: अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल तथा पाताल। इनके ऊपर सात लोक हैं—भू (पृथ्वी), भुव., स्व॰, महः, जनः, तपः तथा ब्रह्म या सत्य (देखिए पृ० ६४, टि० २)। ये चौदहो शेषनाग के फणो पर आधृत है। नागो की जाति को, जो इन निचले लोको मे रहती है (जिन लोको को नरको मे नही समझना चाहिए, दे० पृ० ६४ टि० २) कभी-कभी केवल एक पाताल से अथवा इसके एक भाग, नागलोक, से सम्बद्ध बताया जाता है जिसकी राजधानी भोगवती है। उनके कश्यप की पत्नी, कद्रू, से जन्म लेने की कथा है, और उनमे कुछ स्त्रियो (नागकन्याओ) के मनुष्य-वीरो के साथ विवाह करने का वर्णन किया गया है। इस प्रकार उलूपी अर्जुन की पत्नी हुई थी (पृ० ३८१ टि० २) और विचित्र बात यह है कि राजपूतो मे एक जाति आज भी

या पृथ्वी के नीचे के क्षेत्रो में निवास करते है जिन्हे ऊपर के सात लोकों सहित शेपनाग के सहस्र मस्तकों पर आधृत बताया गया है। शेष अनन्त के प्रतीक हैं, क्योकि एक प्रचलित पुराकथा के अनुसार वे सृष्टि के अभ्यन्तरकालों के बीच परमेश्वर को और प्रत्येक काल के आदि में रचित सृजारों को आलम्बन देते हैं (पृ० ३२३ टि०)। पुनः, पृथ्वी के आठ पुराकथाशास्त्रीय हाथियों एवं आठ हस्तिनियो के विशाल मस्तकों एवं पृष्ठदेश पर अवलम्बित होने की कल्पना की गयी है और इन सभी हाथियो तथा हस्तिनियो के नाम भी है।[1] ये आठ दिशाओ के हाथी हैं। जब इनमे से एक भी अपना शरीर हिलाता है तो सम्पूर्ण पृथ्वी मे भूकम्प आता है (देखिए रामायण १.४१)।

वस्तुतः भारतीय एवं ग्रीसदेशीय महाकाव्यो के बीच अन्तर केवल अस्त-व्यस्त, अतिशयोक्तिपूर्ण एवं परिवृंहित पुराकथाओं मे नही अपितु इनके विचारहीन तथा अतिप्रयोग में निहित है। रामायण तथा महाभारत मे आध्यात्मिक तथा अतिस्वाभाविक तत्व सर्वत्र इतने प्रबल एव अतिव्याप्त हैं कि कोई भी वस्तु, जो केवल मानवीय है, अप्रकृत प्रतीत होती है।

इलियड और ओडिसी में धार्मिक एव अतिमानवीय तत्त्व संभवत: कम व्याप्त नही हैं। देवता निरन्तर मध्यस्थता एवं निर्देशन करते हैं, किन्तु वे ऐसा इस प्रकार करते हैं मानो वे स्वयं मनुष्यो से अलग नही हैं या कम से

अपनी उत्पत्ति नागो से बताती है। नागो की पूजा का एक पवित्र दिन होता है और जुलाई (श्रावण) के अन्त मे नागपञ्चमी को उनकी पूजा होती है। वासुकि एवं तक्षक दूसरे नागप्रमुख हैं। इन लोगो को निचले लोकों के भिन्न-भिन्न भागो की सर्प जातियो का राजा बताया गया है। सभी नागो के फण मे मणि बतायी गयी है। उनके राजा शेष, वासुकि, एवं तक्षक, सामान्यतः सर्पो पर राज्य करनेवाले बताये जाते हैं, और गरुड़ को सर्पो (नागारि) का शत्रु बताया है जिससे नाग शब्द सामान्य सर्पो के लिये प्रयुक्त होता है। सर्पो के बिलो मे छिपने की आदत के कारण नागो के निचले लोकों मे निवास करने की कल्पना उठ खड़ी हुई होगी। रेव० के० एम० बैनर्जी के इस विषय मे सिद्धान्त विलक्षण है।

[1] गजो के आठ नाम अमरकोश मे इस प्रकार दिये गये हैं—ऐरावत, पुण्डरीक, वामन, कुमुद, अञ्जन, पुष्पदन्त, सार्वभौम, सुप्रतीक। चार के नाम रामायण मे (१.४१) आये है: विरूपाक्ष, महापद्म, सुमनस् तथा भद्र। कभी-कभी इन हाथियो की भ्रमणशील प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है और ये अपनी-अपनी दिशा के निकटवर्ती आकाश मे विचरण करते है (दे० मेघदूत १४)

कम काव्य की नाटकीय संभावना का विनाश या सरल यथार्थ मानवता के सामान्य वातावरण को क्षीण बनाये बिना ऐसा करते हैं। हम यह मानते है कि होमर में आत्मा के भावी जीवन, दूसरे जीवन मे उसके सुख या दुःख की अवस्थाओ का प्रायः उल्लेख है; और होमर का शरीर-वियुक्त आत्माओं का वर्णन कई दृष्टियो से इस विषय पर हिन्दुओ के विचारो से साम्य रखता है[1]—फिर भी ये सिद्धान्त होमर मे इस प्रकार अतिशयोक्तिपूर्ण यथार्थता के साथ नही उठ खड़े होते कि मानवीय विषय अयथार्थ प्रतीत होने लगें। उसकी कविताओ मे आत्मा की किसी पूर्ण शरीर मे स्थिति और इस जीवन के बाद अन्य शरीर धारण करने की क्षमता का भी उल्लेख नही है—यह एक ऐसा सिद्धान्त है जो हिन्दू काव्य मे वर्तमान जीवन के कर्मों को एक रहस्यमय अर्थ से संयुक्त और भारतीय आध्यात्मविद्या को एक गहन सविशेषक रूप प्रदान करता है।

इन सबके अतिरिक्त यद्यपि इलियड एवं ओडिसी मे पुरोहितोका स्थान-स्थान पर उल्लेख है तथापि होमर की कविताओ मे एक नियमित पुरोहितवाद की किसी मान्यता अथवा ऋत्विजों के मध्यस्थ वर्ण की आवश्यकता का नितान्त अभाव है।[2] यह, जिसे भारतीय महाकाव्यो मे पौरोहित्य का तत्त्व कहा जा सकता है, अल्पाधिक मात्रा मे उनकी नस-नस मे गुँथा हुआ है। इन रचनाओ मे ब्राह्मणवाद भी उतना ही क्रियाशील रहा है जितनी कि कवियो की

---

[1] इन अशो को देखिए जो मृत्यु के उपरान्त एक साधारण रूप मे हेडेज़ में निवास करने के विषय पर प्रकाश डालते हैं—इलियड २३.७२,१०४; ओडि० ११.२१३, ४७६; २०.३५५; २४.१४। यह विलक्षण बात है कि श्राद्ध किये जाने (दे० पृ० २४६) के पूर्व आत्मा की अशान्त दशा का हिन्दू विचार इस प्राचीन सभ्यजनवर्गीय अन्धविश्वास से मेल खाता है कि मृत व्यक्तियो के प्रेत उस समय तक भटकते रहते हैं और अन्य मृत व्यक्तियो के पास नही पहुंच पाते जब तक उनके शरीर को दफनाया नहीं जाता। देखिए ओडिसी० ११, ५४; इलि० २३ ७२, तथा तुलना एनी० ६.३२५; ल्यूकन १.२; इउर० हेक० ३०।

[2] होमर के काव्य मे राजा या किसी भी व्यक्ति को पुरोहित की सहायता के बिना यज्ञ करने की आज्ञा है। देखिए इलियड २ ४११; ३.३९२। फिर भी इस स्थल पर हमे यज्ञ निरीक्षक मिलता है जो यज्ञ की अग्निशिखाओ एवं धूंए से भविष्यवाणी करता था। दे० इलियड २४.२२१, ओडि० २१.१४४; २२.३१९।

कल्पनाएँ; और इसने मानवीय एवं दैवी सभी ज्ञान के एकाधिपत्य का निर्भीकता से दावा करते हुए उसे विभाजित कर दिया है, जैसा कि इसने साहित्य के प्रत्येक विभागो का निर्माण तथा अपने प्रयोजनो की सिद्धि के लिये उसे आवृत्त कर दिया है। इसकी नीति बुद्धि के विकास को रोकने एवं निम्न वर्णो को निरन्तर बाल्यावस्था में रखने की ही रही है। इसने एक इस प्रकार के अतिशयोक्ति की भूख को उत्तेजित किया जो उससे अधिक अतृप्तिकर होती है जितनी कि सर्वाधिक वाग्विस्तारयुक्त योरोपीय कल्पित कथा मे सहन की जा सकती। महाभारत की अपेक्षा रामायण मे यह बात अधिक पायी जाती है, किन्तु परवर्ती महाकाव्य मे, जो भौगोलिक, कालक्रम सम्बन्धी एवं ऐतिहासिक वर्णनो से परिपूर्ण है, किसी भी उक्ति पर विश्वास नही किया जा सकता। समय का नाप अनेक अयुत वर्षो से किया गया है; दूरी का नाप कई अयुत मीलो से किया गया है और जब कभी युद्ध का वर्णन करना होता है तो कई अयुत सैनिको, हाथियो एवं घोडो को रणक्षेत्र मे उपस्थित किये बिना उसके विषय मे कुछ सोचा तक नही जा सकता।[1]

योरोप एवं भारत की धार्मिक पद्धतियो का अन्तर और भी उल्लेखनीय हो जाता है, जब हम यह ध्यान मे रखते हैं कि रामायण तथा महाभारत की सुतरां अनुपयुक्त काल्पनिक कथायें आज भी हिन्दुओ की धार्मिक निष्ठा के साथ घनिष्ट रूप मे संबद्ध हैं। यह निश्चित है कि उनमे अधिक बुद्धिमान व्यक्ति ग्रीस एवं रोमनिवासियो मे अधिक शिक्षित व्यक्तियो के समान ही पुराकथा की कल्पनाओ को रूपकात्मक मानते थे और अब भी मानते हैं; किन्तु योरोप तथा एशिया दोनो मे ही बहुसंख्यक जनसमुदाय ने प्रतीको के रहस्ययुक्त तात्पर्य के विषय मे चिन्ता न करके प्रतीको एव रूपको को वास्तविक मान लिया, और निःसन्देह वे ऐसा अब भी पश्चिम तथा पूर्व के देशो मे समान रूप से मान सकते हैं। योरोपीय देशो मे बहुसंख्यक जनसमुदाय का मृदु धर्म भी पर्याप्त मात्रा मे उनकी श्रद्धालुता के ऊपर किसी अधिक मर्यादातिक्रम को लादने के धार्मिक मनुष्यो की श्रद्धोन्माद का निषेध करने की सामान्य बुद्धि द्वारा पर्याप्त मात्रा मे नियन्त्रित रहता है; और यद्यपि होमर की कविताओ की अब भी बहुत प्रशंसा होती है तथापि संसार के किसी कोने मे कोई भी व्यक्ति उसके आख्यानो मे स्वल्प निष्ठा रखने का स्वप्न तक नही देखता जिससे उनका सम्बन्ध धार्मिक विचारो एवं व्यवहारो के साथ जोड़ा जा सके। भारत में इन विषय में पूर्ण विपर्यास देखा जा सकता

---

[1] तुलना अरस्तू के पोएटिक्स के उद्धरणो से।

है। भारतीय महाकाव्यों की कथायें आज भी वर्तमान धर्म से पूरी तरह गुँथी हुई है। वस्तुतः एक अशिक्षित हिन्दू की सुतरा विकट कथाओ को मान लेने एव उनकी प्रशसा करने की क्षमता स्पष्टत. असीमित होती है। सामान्य हिन्दू मस्तिष्क के लिये तथ्यो का साधारण संबन्ध कोई आकर्षण नही रखता।

वीरो के चरित्र के वर्णन मे भी, जिनमे भारतीय कवि अधिक दक्षता प्रदर्शित करते हैं, अद्भुत की उस अतिकाक्षा के चित्रण की उपेक्षा नही हो सकी है जो पूर्वदेशीय लोगो की मानसिक रचना से प्राय. अवियोज्य प्रतीत होती है।

होमर के पात्र शेक्सपियर के पात्रो के समान है। यदि आप माने तो वे यथार्थ नायक है किन्तु वे सदैव मनुष्य हैं जो कभी पूर्ण नही है, कभी मानवीय दुर्गूणो, विरोधाभासो, एवं स्वभाव की चपलताओ से मुक्त नही है। यदि उनके कर्म कभी कभी मानवेतर है भी तो वे ऐसे असम्भव कर्म तो नही ही करते जो पूर्णत. असङ्गत हों। अपरञ्च वह अपने पात्रो को चित्रित करता हुआ नही दिखाई देता; वह उन्हे स्वयं ही अपना चित्रण करने के लिये छोड़ देता है। वे प्रकृति की सम्पूर्ण यथार्थता से युक्त फोटो के समान सम्मुख आते हैं। हमे यह अधिक नही बताया गया है कि वे क्या करते या कहते हैं।[1] हिन्दू महाकाव्यो में कवि अपनी ओर से बहुत लम्बे एव अरोचक वर्णन देता है और उसके चरित्र नियमत या तो उचित से अधिक भले होते है या अधिक बुरे। अपने सभी दोषो के साथ एचिलीज़ व्यवहार की प्राय. कष्टपूर्ण निर्दोषता से युक्त राम की तुलना मे कितना अधिक स्वाभाविक है। मृत हेक्टर के प्रति प्रदर्शित एचिलीज़ का निर्दयतापूर्ण प्रतिशोध भी मृत रावण के प्रति राम के उदार व्यवहार की तुलना मे हमे अधिक यथार्थ प्रतीत होता है। निःसन्देह कभी कभी ये चरित्र-नायक भी ऐसा कर बैठते है जिसे एक योरोपीय अपराध कहेगा और पाण्डव निश्चय ही प्रवञ्चना के एक अमानवीय कर्म के अपराधी थे। एक भयकर मृत्यु से बच निकलने की चिन्ता मे वे एक जातिहीना स्त्री तथा उसके पाँच पुत्रो को फुसलाकर ज्वलनशील लाक्षागृह मे ले जाते हैं और उसे जीवित जला देते है (दे० पृ० ३७६)। किन्तु इस कार्य का अपराध एक हिन्दू की दृष्टि मे इस विचार से दूर हो जाता है कि वह स्त्री जातिच्युत थी, और इसके अतिरिक्त

[1] अरस्तू कहता है कि 'होमर की अनेक प्रशंसनीय विशेषताओं में एक यह है कि—वही एक मात्र कवि है जो यह ज्ञान रखता प्रतीत होता है कि अपने काव्य मे स्वय उसको किस प्रकार का भाग लेना उचित था। कवि को अपनी ओर से यथासंभव अल्पवचन कहना चाहिए। होमर कुछ उपकल्पक पक्तियों के बाद तत्काल ही एक पुरुष, एक स्त्री या किसी दूसरे चरित्र को उपस्थित करता है, क्योंकि इन सबका अपना चरित्र है (पोएटिक्स ३.३)।

वर्वर भीम ही आग लगाते हैं। राम और लक्ष्मण ने भी शूर्पणखा का अंगभग करने मे एक निर्दयतापूर्ण कार्य प्रदर्शित किया है। इसके लिये भी क्रोधी लक्ष्मण उत्तरदायी थे। यदि उत्तम नायक पाप करते हैं तो वे मनुष्यो के समान पाप नहीं करते। हम उनमे अपना कोई चित्र नही पाते। चित्रों मे एक ही रग की भरमार है, प्रकाश और छाया की परम्परायें नही है, और विरोधी रगो का कलात्मक सम्मिश्रण भी नही के बराबर है। एक ओर सभी देवता या अर्ध-देवता हैं और दूसरी ओर सभी राक्षस या दैत्य। हम मिश्रित स्वभावो वाले यथार्थ मानव प्राणियों को नही पाते। विरोधपूर्ण मानवता के सम्मुख कोई दर्पण नही रखा गया है। दुर्योधन और उसके निन्यान्नवे भाई सभी समानरूप मे इतने अधिक दुष्ट हैं कि वे वास्तविक मनुष्यो के प्रतिरूप नही हो सकते। रामायण के चरित्र-नायको मे सभवतः लक्ष्मण का और महाभारत के नायको मे भीम का चरित्र अधिक स्वभाविक है। अनेक दृष्टियो से भीम का चरित्र एचिलीज़ के चरित्र से असमान नही है, किन्तु अपने सर्वाधिक मानवीय चरित्रनायको का चरित्रचित्रण करने मे भी भारतीय कवि वाग्विस्तार मे प्रवेश करने की अविच्छिन्न प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है।

यह मानना पड़ेगा कि पारिवारिक जीवन के चित्रों एवं व्यवहारो का प्रदर्शन करने मे संस्कृत महाकाव्य ग्रीक और रोमन महाकाव्यों से भी अधिक यथार्थ एवं वास्तविक है। स्त्रियो के चरित्रचित्रण मे हिन्दू कवि सभी अतिरञ्जित रूपसज्जा का परित्याग करके प्रकृति का आश्रय लेता है। कैकेयी, कौशल्या, मन्दोदरी (रावण की प्रियपत्नी[1]) तथा कुबड़ी मन्थरा का भी (रामायण २. ८) जीता जागता चित्र खींच गया है। सीता, द्रौपदी और दमयन्ती, हेलेन या स्वय पेनेलोप की अपेक्षा हमारी सहानुभूति एवं रुचि को बहुत अधिक आकृष्ट करती है। नि सन्देह हिन्दू स्त्रियाँ सामान्यतः पातिव्रत की पूर्ण आदर्श होती है; और इसमे भी सन्देह नही किया जा सकता कि पतिव्रता पत्नी के इन हृदयावर्जक चित्रो मे हम प्राचीन कालों की हिन्दू गृह्य व्यवहारों की पवित्रता एवं सरलता का यथार्थ प्रतिनिधित्व पाते है।[2]

---

[1] रामायण ६.९५ (गोरेसिओ का सं०) मे रावण के मृत शरीर के निकट मन्दोदरी के विलाप एवं उसके सीता के प्रति विनाशकारी कामुकता के उल्लेखों से अधिक स्वाभाविक क्या हो सकता है ?

[2] इसमे सन्देह नही कि एक हिन्दू पत्नी की भक्ति मे उसमे उससे कहीं अधिक हीनभावना अन्तर्निहित थी जितनी स्वातन्त्र्य के आधुनिक योरोपीय विचारों के अनुकूल हो सकती है। जिस सीमा तक भी, इस पति-

महाकाव्यो से हम मुसलमानी आक्रमण के पूर्व हिन्दू स्त्रियों द्वारा उपभुक्त सामाजिक स्थान के विषय में अनेक रोचक संकेत भी एकत्र कर सकते हैं। रामायण तथा महाभारत पढ़ने वाला कोई भी व्यक्ति इस निष्कर्ष पर पहुँचे बिना नही रह सकता कि स्त्रियो को पर्दे में रखने एवं उन्हे नीचा समझने की प्रवृत्ति कुछ सीमा तक सभी पूर्वी देशो के लिए स्वाभाविक है और प्राचीनतम कालो मे भी प्रचलित थी।[१] फिर भी, दोनो काव्यो मे अनेक अश स्पष्टतः इस

परायणता का पालन तुच्छ विषयो मे भी किया जाता था उसका विलक्षण उदाहरण गान्धारी की कथा में मिलता है, जो अपने अन्धे पति की सहानुभूति मे कभी भी आँखों पर पट्टी बाधे बिना प्रजा के संमुख नही उपस्थित होती थी (देखिए पृ० ३६९)। अतएव कौरवो एवं पाण्डवो के महान् कूटयुद्ध मे विदुर धृतराष्ट्र और गान्धारी के निकट दृश्यो का वर्णन करने के लिये उपस्थित रहते थे (देखिए पृ० ३७५)।

[१] ग्रीस और रोम वालों के लिये भी यह स्वाभाविक था। स्त्री जाति के लिये वीरता एवं सम्मान का प्रदर्शन केवल उत्तर मे उत्पन्न योरोपीय राष्ट्रो में पाया जाता था, जो स्त्री को परम सम्मान का भाजन (inesse foeminis sanctum aliquid) मानने वाले प्रथम राज्य थे (टेक० जर्म० ८)। यह तथ्य कि प्राचीन काल मे स्त्रियाँ कुछ अवसरों के अतिरिक्त पर्दा रखती थी पाणिनि द्वारा नृपपत्नी के लिये प्रयुक्त 'असूर्यम्पश्या' (सूर्य के प्रकाश को न देखनेवाली) शब्द से जाना जा सकता है—यह एक कठोर शब्द है और मुसलमानो के 'पर्दा-नशी' शब्द से भी अधिक कठोर अर्थ वाला है। यह भी द्रष्टव्य है कि रामायण (६.९९,३३) मे भी एक प्रकार की पर्दा-प्रथा का स्पष्ट उल्लेख है और मुसलमानो के आक्रमण के बहुत पहले ही 'अवरोध', 'घिरा हुआ या सुरक्षित स्थान', शब्द स्त्रियो के निवासखण्ड के लिये प्रयुक्त मिलता है। रत्नावली मे राजा वत्स के मन्त्री, उसके कंचुकी, तथा लंका से आये दूत को रानी और राजभवन की स्त्रियो के पास ले जाया जाता है। और यद्यपि रामायण (९.९९) में राम सीता को सम्पूर्ण जनसमवाय की दृष्टि के समक्ष आने को कहते हैं फिर भी वे उन अवसरो का वर्णन करते है (९९,३४) जब किसी स्त्री को बिना पर्दा रखे लोगो के सम्मुख आना चाहिए। मैं यहाँ इस अश का अनुवाद करता हूँ क्योकि यह इस रोचक विषय पर उल्लेखनीय ढग से प्रकाश डालता है। राम विभीषण से कहते हैं '—

'घर, वस्त्र, घिरी हुई दीवालें, उत्सव, तथा राज-सत्कार कोई भी एक स्त्री के लिये आवरण नही हैं। केवल उसका अपना गुण ही उसकी (चारो

तथ्य की स्थापना करते हैं कि भारत में प्राचीन काल मे आजकल की अपेक्षा स्त्रियो पर सामाजिक बन्धन कम होते थे और वे पर्याप्त स्वतन्त्रता का भी उपभोग करती थी।[१] निःसन्देह प्राचीन विधिनिर्माता मनु स्त्रियों की कोई अपनी इच्छा न होने एवं स्वतन्त्रता के लिये उनकी अयोग्यता की बात कहते हैं (दे० इस ग्रन्थ का पृ० २४९); किन्तु संभवतः उन्होंने इस प्रकार की सामाजिक दशा का वर्णन किया है जिसकी स्थापना पुरोहित वर्ग का लक्ष्य था न कि वह उनके समय मे वस्तुतः विद्यमान अवस्था थी। बाद के समय मे ब्राह्मणवाद के दम्भ ने और उससे भी अर्वाचीन काल में इस्लाम धर्म के प्रभाव ने स्त्रियो को ऐसी स्वतन्त्रता से भी वञ्चित कर दिया जो उन्हें कभी प्राप्त थी और इसी कारण वर्तमान काल मे किसी हिन्दू स्त्री को सिद्धान्ततः कोई स्वतन्त्रता नही है। केवल यही बात नही हैं कि वह स्वयं अपनी स्वामिनी नही होती, उसका अपने ऊपर अधिकार भी नही है और न कभी किसी अवस्था मे हो सकता है। पहले वह पिता की होती है जो उसे उसके पति को दान कर देता है जिसकी वह सदैव सम्पत्ति बनकर रहती है[२]। उसे उस प्रकार के उच्च

और रक्षा करता है)। घोर विपत्तियो मे (व्यसनेषु), विवाहों मे, (क्षत्रिय वर्ण के लिए), यज्ञ मे, सभाओ मे (ससत्सु) सभी लोक स्त्रियों को देख सकते हैं (स्त्रीणां दर्शनं सर्वलौकिकम्)।

अतएव शकुन्तला दुष्यन्त के खुले दरबार में उपस्थित होती है, दमयन्ती अकेली भ्रमण करती है, और उत्तर रामचरित मे राम की माता वाल्मीकि के आश्रम मे पहुँचती है। पुनः, स्त्रियां नाटक आदि देखने उपस्थित होती थी, देवताओ के मन्दिरो मे जाती थी और अपना स्नान एकान्त में नही करती थी। अन्तिम तो अब भी प्रचलित है, यद्यपि मुसलमान स्त्रियाँ ऐसा नही करती।

[१] महाभारत १.४७१९ मे आया है—अनावृताः किल पुरा स्त्रिय आसन् काम-चार-विहारिण्यः स्वतन्त्रा., इत्यादि।

[२] अतएव पति की मृत्यु होने पर वह पुनर्विवाह नही कर सकती

कोटि के धर्म के योग्य नही समझा गया है जैसा पुरुष को[1]; और वह समाज मे आती-जाती नहीं। परन्तु प्राचीन काल में जब महाकाव्यीय गीत भारत मे प्रचलित थे तो स्त्रियों के संबन्ध अपने ही परिवारों तक सीमित नही थे; वे बहुत कुछ अपनी इच्छा के अनुकूल करती थी, इधर उधर आती-जाती थी, समाज मे बिना हिचक के आती थी,[2] और यदि वे क्षत्रिय वर्ण की होती थी तो उन्हे विवाहेच्छुक पुरुषो के समूह मे अपने पतियो को चुनने की भी छूट होती थी[3]। अपरञ्च, यह स्पष्ट है कि कई उदाहरणो में नारी का स्वरूप पर्याप्त मान एवं प्रतिष्ठा से युक्त था और परिवारो मे अधिक पारस्परिक प्रेम रहता था। रामायण तथा महाभारत के पारिवारिक एवं सामाजिक आनन्दो के चित्रों से बढकर कुछ भी अधिक सुन्दर और हृदयावर्जक नही है। बच्चे अपने

दूसरे विवाह की संभावना पर उसकी चिन्ता से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस प्रकार का विवाह उस समय भी अच्छा नही समझा जाता था।

[1] गार्गी तथा मैत्रेयी (बृहदारण्यक उपनिषद्, रोइर का अनुवाद पृ० १९८, २०३, २४२) देखिए। इसमे सन्देह नही कि महाकाव्यों एवं परवर्ती काव्यो में स्त्री की धर्म के विषय मे निम्न योग्यता का तात्पर्य था। पति पत्नी का देवता तथा स्वामी होता था और उसका सबसे बडा धर्म उसे प्रसन्न करना था। इस ग्रन्थ के पृ० ३५६ पर सीता की उक्ति, तथा माधवाचार्य का उद्धरण जो चौदहवी शताब्दी मे हुए थे (पृ० ३६४ टि०) देखिए। इस प्रकार के श्लोक हिन्दू साहित्य मे आम है—भर्ता हि परम नार्या भूषणं भूषणैर्विना' अर्थात् पति एक पत्नी का बिना आभूषणो के भी सर्वोत्कृष्ट आभूषण होता है। मनु कहते हैं (५.१५१)।

यस्मै दद्यात् पिता त्वेनाम् भ्राता वानुमते पितु ।
तं शुश्रूषेत जावन्तं संस्थितं च न लङ्घयेत् ॥

इस ग्रन्थ का पृ० २७९ देखिए; ४.१९८ मे मनु स्त्रियो का शूद्रो के साथ वर्गीकरण करते हैं।

[2] विशेषतया विवाहित स्त्रियाँ। एक पत्नी को अपने पति का आज्ञापालान विना विचारे करना होता था, किन्तु दूसरे विषयो मे वह स्वतन्त्र होती थी ('स्वातन्त्र्य मर्हति', महाभारत १. ४७४१)।

[3] कभी-कभी स्वयंवर अपवाद-स्वरूप भी होता था और केवल राजाओं या क्षत्रियो की कन्याओं के लिए विहित प्रतीत होता है। देखिए द्रौपदी स्वयवर, महाभारत १.७९२६ ।

माता पिता के प्रति कर्त्तव्यपरायण है[1] और अपने बड़ो के प्रति विनम्र, छोटे भाई अपने अग्रजो के प्रति आदर रखते है, उनके हितों की चिन्ता करते हैं और उनके कल्याण के निमित्त अपना वलिदान तक कर देते है। पत्नियाँ अपने पतियों के प्रति श्रद्धालु, परायणा एवं आज्ञाकारिणी है; फिर भी वे चरित्र की अधिक स्वतन्त्रता प्रदर्शित करती हुई अपने विचारो को अभिव्यक्त करने मे हिचकती नही। पति अपनी पत्नियो के प्रति मधुर प्रेम रखते हैं, और उन्हे आदर एवं सौजन्य की दृष्टि से देखते हैं। पुत्रियाँ एवं स्त्रियाँ सामान्यतः गुणवती एवं सलज्जा है, फिर भी उत्साहपूर्ण एवं समय उपस्थित होने पर दृढ़ एवं साहसी भी। प्रेम एवं सामञ्जस्य पूरे पारिवारिक घेरे मे राज्य करता है। वस्तुतः, पारिवारिक प्रेम के दृश्यो का चित्रण करने मे और उन सार्वभौम भावनाओं एवं सवेदनाओ को अभिव्यक्त करने में जो सभी समयों में और सभी देशों में मानव स्वभाव का नैसर्गिक अंग रहा है, संस्कृत महाकाव्यीय कवि की समता ग्रीक एपोस (Epos) भी नहीं कर सकता। होमर हमे प्रायः युद्धक्षेत्र के बाहर नही ले जाता; और यदि हम पेट्रोक्लस तथा हेक्टर की मृत्यु पर विलापों, + प्रायम (Priam) के एचिलीज़ के शिविर में गमन् एवं हेक्टर तथा एण्ड्रोमाख के वियोग की कल्पना करे तो भी इलियड मे मुनि बालक की मृत्यु (पृ० ३४१), सीता की अपने पति के साथ वन जाने की अभ्यर्थना (पृ० ३५६) तथा रामायण के अन्त मे सम्पूर्ण अग्निपरीक्षा के दृश्य के समान कोई हृदयद्रावक अंश नही मिल सकता। भारतीय महाकाव्यो में ऐसे अशो की भरमार है और वे प्राचीन भारत के पारिवारिक जीवन की पवित्रता एव सौख्य का उच्च कोटि का चित्र प्रस्तुत करने के साथ ही हिन्दू नारियो की नितान्त पवित्र एवं महत्त्वपूर्ण सामाजिक कर्त्तव्यो को निभाने की क्षमता भी प्रदर्शित करते हैं।

[1] हिन्दू पुत्रो और पुत्रियो के अपनी माता के प्रति आदर के साथ बोलने के ढग से, सामान्यतः कठोर शब्दो मे अपनी माता से बोलने वाले टेलमेकस लोगों की वोली का अन्तर देखिए। पितृ प्रेम एवं पिता के प्रति श्रद्धा आज भी हिन्दू लोगो की वैसे ही दर्शनीय विशेषता है जैसी कि प्राचीन काल मे थी। अविवाहित भारतीय सिपाहियो मे यह बात आम पायी जाती है कि वे प्राय. भूखो रह जाते हैं जिससे वे अपने वृद्ध माता-पिता के पास पैसे भेज सकें। वस्तुत. राष्ट्रीय बन्धन की दुर्वलता किंवा पूर्ण अभाव के अनुपात मे ही पारिवारिक बन्धन दृढ और मजवूत है। इंग्लैगण्ड और अमेरिका मे, जहाँ राष्ट्रीय जीवन सर्वाधिक दृढ है, पुत्र पुत्रियाँ अपने मातापिता के प्रति कम श्रद्धालु होते है।

हमे ऐसी धारणाओ से सतर्क रहना चाहिए कि भारतीय स्त्रियाँ वर्तमान काल में अपने प्राचीन स्वरूप से बिल्कुल गिर गयी। इस्लाम धर्म के भ्रष्ट करने वाले उदाहरण के तथा आधुनिक हिन्दू धर्म की पतनोन्मुख प्रवृत्ति के बावजूद भी नैतिक तथा बौद्धिक उत्कर्ष के उल्लेखनीय उदाहरण अब भी पाये जा सकते हैं[1]। तथापि ये अपवाद स्वरूप है और हम यह मान सकते है कि जब तक एशियाई स्त्रियाँ, चाहे वे हिन्दू हो या मुसलमान, उच्च पद पर आसीन और शिक्षित नही की जाती तब तक एशियाई देशो को योरोपीय देशो के स्तर तक उठाने का हमारा प्रत्न निष्फल होगा।[2] हम यह आशा रखते हैं कि जब रामायण और महाभारत धर्म के पवित्र भण्डार और विश्वसनीय परम्परा के आगार नही माने जाने लगेगे तब भी प्रबुद्ध हिन्दू इन काव्यो से अबला जाति का सम्मान करना सीख सकेंगे, और प्राचीन स्वतन्त्रता को पुनः प्राप्त कर एव ईसाई धर्म की 'आनन्दपूर्णता' के अंशग्राही होने से और भी ऊँचे पद पर आसीन होकर हिन्दू स्त्रियाँ हमारे पूर्वी साम्राज्य के लिये वही कार्य कर सकेंगी हैं जो पश्चिम की स्त्रियो ने योरोप के लिये किया है—वे देश की जनता के चरित्र को मृदुता, शक्ति और गौरव प्रदान कर सकती है।

मैं अपने वर्तमान विषय को दोनो महाकाव्यो की धार्मिक एवं नैतिक शिक्षाओं के उद्धरण के साथ समाप्त करूँगा। दोनो काव्यो से उद्धृत कुछ भावनाएँ एवं उक्तियाँ यहाँ प्रस्तुत हैं--

> एक शत्रु का घोर प्रहार भी[3] समय-समय पर आने वाली क्षुद्र विपत्तियो की अपेक्षा अधिक सरलता से सह्य होता है।
>
> रामायण (बम्बई संस्करण) २ ६२,१६

---

[1] भारत के कुछ भागो में, विशेषतया मराठी जिलो मे अब भी स्त्रियो को पर्याप्त विचार एवं कार्य की स्वतन्त्रता प्राप्त है।

[2] मनु एक महान् सत्य का उद्घाटन करते हैं जब वे कहते है (३. १४५), कि 'सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते', माता माहात्म्य मे सौ पिताओ से बढकर होती है।

[3] यद्यपि इनमे से कुछ अनुवाद वर्षों पूर्व वेटलिक के इण्डिश्श स्प्रिश्श नाम के सुन्दर सकलन मे किये गये थे, तथापि मुझे अनेक उदाहरणो का अनुवाद करने मे डा० मूइर के 'रिलिजस एण्ड मॉरल सेण्टिमेण्टस फ्रीली ट्रान्सलेटेड फ्राम इण्डियन राइटर्स' से सहायता मिली है जो हाल ही मे एडिनबर्ग से परिशिष्ट एवं टिप्पणियों सहित प्रकाशित हुआ है। मैं डॉ० मूइर के समान सफल नही कहा जा सकता, किन्तु अतुकान्त छन्द ने मुझे बहुत कुछ मूल के अधिक निकट रखा है।

शब्दो मे किसी कार्य को कह देना सरल होता है, किन्तु उसे कार्य द्वारा पूरा करना ही पौरुष की वास्तविक कसौटी है ।

रामायण (गोरेसिओ सं०) ६.६७,१०

सत्यता, धर्म एवं पदप्रतिष्ठा सभी राजा मे केन्द्रित होते है; वह अपनी प्रजा का माता, पिता, तथा हितैषी होता है ।

रामायण (बम्बई सं०) २.६७,३५

बिना राजाओ के देश मे कोई व्यक्ति अपनी सम्पत्ति या अपने परिवार को अपना नही कह सकता, कोई भी व्यक्ति स्वयं अपना स्वामी तक नही होता ।

रामायण (गोरेसिओ स०) २.६९,११

जहाँ कही हम जाते है मृत्यु हमारे साथ चलती है; जहाँ कही हम बैठते है मृत्यु हमारे निकट बैठती है; जब चाहे जितनी लम्बी यात्रा करे मृत्यु हमारे साथ सहयात्री के रूप मे रहती है और हमारे साथ घर तक पहुँचती है । प्रत्येक उषाकाल के आगमन पर मनुष्य आनन्दित होते है एवं प्रशंसा भरी दृष्टि से सूर्यास्त की आभा को निहारते है । प्रत्येक ऋतु आकर उन्हे आनन्दों से भर देती है, किन्तु फिर भी वे कभी नही सोचते कि प्रत्येक आने वाली ऋतु, प्रत्येक बीतने वाला दिन थोडा-थोडा करके उनके जीवन को समाप्त कर देता है । जिस प्रकार समुद्र के जल मे बहने वाले लकड़ी के लट्ठे इधर उधर बहते हुए थोड़े समय के लिये एक साथ मिल जाते हैं किन्तु फिर अलग-अलग बहने लगते है उसी प्रकार पुरुष का पत्नी, सन्तान, सम्बन्धियो एव सम्पत्ति के साथ सम्बन्ध क्षणिक है, अतएव इन सबसे विदा लेने का समय अवश्य आवेगा ।

रामायण (बम्बई सं०) २.१०५,२४-२७ ।

मनुष्य जो कोई कार्य करता है उसमें उसकी सिद्धि का सर्वाधिक प्रभावशाली साधन और सभी सफलताओ का सफल स्रोत है नैराश्यहीन अदम्य शक्ति ।

रामायण (बम्बई सं०) ५.१२,११ ।

दैव मनुष्य को वज्र-तुल्य कठोर पाशो से बाँधता है और उसे खीचकर सर्वोच्च स्थान पर पहुँचा देता है या विपत्ति के गर्त मे डाल देता है ।

रामायण (बम्बई सं०) ५.३७,३ ।

जिसके पास धन है उसी के पास बुद्धिबल है; जिसके पास धन है, उसी के पास विद्या का भण्डार होता है; जिसके पास धन है वही उच्च जन्म वाला है; धनवान् व्यक्ति के ही सम्बन्धी और मित्र होते हैं; जिसके पास धन है वही शूर माना जाता है; धनवान व्यक्ति सभी सद्गुणों का आस्पद होता है।

रामायण (बम्बई सं०) ६. ८३,३५ ३६।

जब मनुष्य सोते रहते है तो समय जगता रहता है। कोई उसकी पकड से बच नही सकता और न उसकी गति को बदल सकता है। वह सभी पर समान रूप से अभिभूत रहता।

महाभारत १.२४३।

तुम सोचते हो कि तुम अकेले और एकान्त में हो और उस नित्य परमात्मा को नही देखते जो तुम्हारे हृदय में निवास करता है; जो कुछ भी दुष्कर्म तुम करते हो उन सबको वह देखता है और ध्यान रखता जाता है।

महाभा० १ ३०१५।

आकाश, पृथ्वी, जल, सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, दिन, रात्रि, सन्ध्यायें, आत्मा, धर्म, देवता, और स्वय हृदय ये सभी मनुष्य के कर्मों को देखते है एवं उनका भलीभाँति निरीक्षण करते हैं।[1]

महाभा० १.३०१७।

पत्नी मनुष्य का आधा भाग होती है—उसका प्रिय सखा, धर्म का अर्थ, और काम का स्रोत होती है—वह मूल होती है जिससे वंश उत्पन्न होता है।

महाभा० १.३०२८।

एक दुरात्मा व्यक्ति अपने पड़ोसी के दोष का छिद्रान्वेषण करने में पटु होता है चाहे वे दोष सरसों के बराबर लघु क्यो न हों, किन्तु जब वह अपने दोषो की ओर देखता है तो, चाहे वह विल्व[2] फल के बराबर बड़े क्यो न हो, वह उन्हे दोष नही समझता।

महाभा० १.३०६९।

---

[1] तुलना मनु ८ ८६, इस ग्रंथ का पृ० २७५।

[2] यह एग्ले मारमेलस् (बेल) या बंगाल क्विन्स है जिसका फल बडा-बड़ा होता। इसे महादेव के लिये पवित्र मानते हैं। सेण्ट मैथ्यू ७.३.४ से तुलना कीजिए।

यदि सत्य और सहस्रों अश्वमेध-यज्ञो को एक साथ तौला जाय तो सत्य सबसे अधिक भारी होगा ।[1]

महाभा० १.३०९५ ।

जीवन के साथ मृत्यु ध्रुव रूप मे विद्यमान रहती है; अत: एक अवश्यम्भावी घटना पर शोक कैसा ?

महाभा० १ ६१४४ ।

दान न देने वाले व्यक्ति को दान देकर जीतो; असत्य बोलने वालो को सत्य द्वारा जीता; क्रोधी व्यक्ति को नम्रता से जीतो; और दुष्ट व्यक्ति पर सज्जनता द्वारा विजय प्राप्त करो ।[2]

महाभा० ३.१३२५३ ।

मन, वाणी, तथा कर्म के तीन प्रकार के नियमन, मौन का कठोर व्रत, जटाजूट, सिर के केशो का क्षौर करना, मृगचर्म या वल्कल वस्त्र धारण करना, उपवास, स्नानादि शौच, यज्ञाग्नि की स्थापना, मुनि का जीवन और शरीर को दुर्बल करना—ये सभी व्यर्थ हैं जब तक अन्तरात्मा दोष से मुक्त नही है ।

महाभा० ३ १३४४५ ।

किसी को मन, वाणी, या कर्म से हानि न पहुँचाना, दूसरों को दान देना, और सबके प्रति दयालु होना—यही सज्जनों का नित्य धर्म है। मनस्वी व्यक्ति बिना स्वार्थ की चिन्ता किये सत्कर्म करने में आनन्दित होते है। जब वे दूसरे का उपकार करते है तो वे उसके बदले मे अपने हित की कामना नही करते ।[3]

महाभा० ३.१६७८२.१६७९६ ।

एक धनुर्धारी जो बाण छोड़ता है वह व्यक्ति को मार सकता है या किसी भी व्यक्ति का वध नही कर सकता। किन्तु चतुर व्यक्ति अपनी बुद्धि के बाण छोड़ते हैं जिनकी चोट में एक राजा और उसके राज्य को पराभूत कर देने की शक्ति होती है।

महाभा० ५.१०१३ ।

---

[1] हितोपदेश ४.१३५ ।

[2] रोम १२.२१ देखिए। पालि राजोवाद जातक से तुलना कीजिए '(फ्राउसदेल के टेन जातकाज' पृ० ५) : 'अक्कोधेन जिने कोधम्, असाधुम् साधुना जिने, जिने कदरियम् दानेन, सच्चेन अलिक वादिनम् ।' धम्मपद २२३ भी देखे।

[3] तुलना—सेण्ट ल्यूक ६.३५ ।

दो प्रकार के व्यक्ति मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग से भी ऊपर प्रतिष्ठित होते हैं—असीम बलवाला व्यक्ति जो अपनी शक्ति का अविवेकपूर्ण प्रयोग नही करता, तथा वह व्यक्ति जो धनवान न होते हुए भी दान देता है।[१]

महाभा० ५.१०२८।

पर्याप्त धन, नित्य स्वास्थ्य, मित्र, प्रियवादिनी भार्या, आज्ञाकारी पुत्र तथा सार्थक विद्या—ये छ जीवलोक के पुरुषो के सुख हैं।

महाभा० ५.१०५७।

बुद्धिमान् व्यक्ति उत्तम वचनो, उत्तम कर्मो, एवं सुन्दर विचारो का प्रत्येक स्थान से संग्रह करता है, जिस प्रकार उञ्छशील व्यक्ति धान्य के कणो का सचय करता है।

महाभा० ५.११२६।

देवता जिस व्यक्ति का हित करना चाहते है उसकी रक्षा गदा या ढाल से नही करते, वे उसे बुद्धि देते है; और जिस व्यक्ति का वे विनाश करना चाहते है उसकी बुद्धि का नाश कर देते हैं[२] जिससे उसे सभी वस्तुएँ विकृत दिखाई पडती है। तब जब वह मतिमूढ हो जाता है और उसके पतन का समय आ जाता है, तो अशुभ वस्तुएँ उसे शुभ प्रतीत होती है; मङ्गलमय घटनायें भी उसे हानि पहुँचाती है और उसका विनाश कर देती है।

महाभा० ५ ११२२,२६७९,।

जिह्वा का नियन्त्रण करना एवं वाणी को समरूप बनाना सभी कार्यों मे सर्वाधिक कठिन है।[3] अधिक बोलने वाले व्यक्ति के शब्दों में न तो कोई तत्व होता है और न विविधता होती है।

महाभा० ५.११७०।

विषाक्त बाण और अयोमुख शूल शरीर के मास मे चाहे कितना भी प्रवेश क्यो न कर जायँ, उन्हे निकाला जा सकता है; किन्तु एक व्यंग्य वचन को, जो भाले के समान हृदय को वेध देता है, कोई निकाल नही सकता; वह हृदय मे चुभा रहता है और व्यथा उत्पन्न करता रहता है।

महाभा० ५ ११७३।

---

[१] तुलना कीजिए सेण्ट मार्क १२ ४१-४४।

[२] Quos Deus vult perdere prius dementat.

[3] सेण्ट जेम्स ३.८।

पुन: पुन: किये गये पाप-कर्म बुद्धि का नाश कर देते हैं और जिस व्यक्ति का विवेक नष्ट हो जाता है वह पाप-कर्मों की ही आवृत्ति करता है। धर्म का निरन्तर आचरण मानसिक शक्तियो की वृद्धि करता है, और जिस व्यक्ति की विवेकशक्ति बढती जाती है वह सदैव उचित कर्म करता है।

महाभा० ५.१२४२।

कठोर शब्दो को धैर्य के साथ सहो, किसी क्रोधी व्यक्ति से क्रोधपूर्ण व्यवहार न करो, अपमान का बदला अपमान से मत लो; प्रहार करने वाले व्यक्ति पर प्रहार न करो; अपने वचन एवं कर्मों मे सौम्य बनो।

महाभा० ५.१२७०,११७२

यदि तुम बुद्धिमान हो तो धर्म एवं हितकारी कर्मों मे शान्ति एवं सुख का अन्वेषण करो, और दिन मे इस प्रकार का कर्म करो जिससे रात्रि में शान्तिपूर्वक सो सको। युवावस्था में इस प्रकार आचरण करो कि वृद्धावस्था में तुम्हारे दिन शान्ति से व्यतीत हो सकें। और अपने जीवन मे इस प्रकार कार्य करो कि जब तुम्हारे जीवन का अवसान हो तो तुम परलोक में अक्षय आनन्द प्राप्त कर सको।

महाभा० ५.१२४८।

जिस लाभ के अन्त मे कष्ट उठाना पड़े उसे हानि ही समझे और उस हानि को भी लाभ ही समझे जो सुख प्रदान करती है।

महाभा० ५.१४५१।

यह विचार करो कि जीवन क्षणिक है, मृत्यु निकट है। अपनी युवावस्था मे कभी कोई ऐसा कार्य न करो जिससे तुम्हारी अन्तरात्मा दु:खित हो, नही तो जब दुर्बलता आती है और तुम रोगशय्या पर होते हो तो भय और उद्विग्नता तुम्हारे कष्टों को बढ़ा देती है।

महाभा० ५.१४७४।

दूसरे के प्रति कोई ऐसा कार्य न करो जो यदि तुम्हारे प्रति किया जाय तो तुम्हे कष्ट हो, यही धर्म का मूलमन्त्र है।

महाभा० ५. १५१७।

कोई व्यक्ति ज्ञान का अनुराग और साथ ही सुख कैसे प्राप्त कर सकता है? यदि विद्या प्राप्त करना चाहते हो तो सुख का त्याग करो।

विद्या या सुख दोनो मे से किसी एक का त्याग करना ही होगा।
महाभा० ५.१५३७।

कोई पवित्र ज्ञान पाखण्डी को, चाहे वह कितनी ही कुशलता से धर्म का आडम्बर क्यों न रचता हो, नरक से नही बचा सकता। जब उसका अन्त आता है तो उसके पवित्र ग्रन्थ अपने नीड़ों को छोड़ने के लिए उत्सुक पक्षी के समान उड़ जाते हैं।
महाभा० ५.१६२३.

जब मनुष्यो का नाश निकट आ जाता है तो उन्हें नष्ट कर देने के लिए एक तृण भी वज्र के समान शक्तिशाली हो जाता है।
महाभा० ७.४२९।

क्रोध, भय तथा लोभ से भ्रमित हुए मनुष्य स्वयं को समझने का या आत्मज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न नही करते। कोई व्यक्ति अपने पद का अभिमानी होता है और दूसरो को निम्नकोटि का समझते हुए अपने जन्म को गौरवपूर्ण समझता है; दूसरा व्यक्ति अपने धन का गर्व करता है और निर्धनो से घृणा करता है; कुछ व्यक्ति अपने ज्ञान का अभिमान करते हैं एवं अल्प बुद्धि वाले व्यक्तियो को घृणा-पूर्वक मूर्ख कहते हैं; चौथा व्यक्ति अपनी निर्दोषता पर गर्वान्वित होता हुआ दूसरे व्यक्तियो के दोषो का अन्वेषण करता रहता है; किन्तु जब ऊँचे या नीचे, धनी या निर्धन, बुद्धिमान और मूर्ख, योग्य और अयोग्य सभी अपने अन्तिम विश्रामस्थल, मृत्यु, को प्राप्त करते हैं और जब उनके सभी कष्ट उस चिर-निद्रा मे समाप्त हो जाते हैं तथा उनके भौतिक शरीर का केवल अस्थिपञ्जर मात्र बच जाता है—तो क्या जीवित व्यक्ति उनमे कोई अन्तर देख सकते हैं या जीवन अथवा रूप की धूल मे कोई भेद देख सकते हैं ? अतएव जब सबको मृत्यु बराबर बना देती है, और सभी एक साथ पृथ्वी के गर्भ मे शयन करते हैं तो हे मूर्ख मर्त्यो ! एक दूसरे पर अत्याचार क्यो करते हो ?
महाभा० ११.११६।

कुछ लोग, जो धनी होते हैं, यौवन मे ही मृत्यु प्राप्त करते हैं; दूसरे, जो अभागे और निर्धन होते हैं, सौ वर्ष तक जीते हैं; जो धनवान व्यक्ति जीवित रहते हैं उनमे प्रायः धन का उपभोग करने की शक्ति नही होती।
महाभा० १२.८५९।

राजा को पहले अपने ऊपर नियन्त्रण करना चाहिए और तब शत्रुओं के ऊपर विजय प्राप्त करनी चाहिये । जो राजा स्वय अपने ऊपर शासन नही कर सकता है, वह शत्रुओ को कैसे पराजित कर सकता है । इन्द्रियो को रोकना ही आत्म-विजय है ।

महाभा० १२.२५९९ ।

इस जगत् मे कौन व्यक्ति दुष्ट व्यक्तियों मे सज्जन को पहचान सकता है । पृथ्वी दोनो का समान रूप से पालन करती है, दोनो को सूर्य समान ही प्रकाश देते हैं, दोनो पर समान रूप से मधुर वायु बहती है, एवं दोनो को जल समान रूप से शुद्ध करता है । किन्तु मृत्यु के बाद ऐसा नही होता । उस समय सज्जन दुर्जन से पृथक् हो जाता है; तब स्वर्णिम आभा से प्रकाशित लोक मे प्रकाश एवं अमृतत्व के केन्द्र मे धर्मात्मा व्यक्ति सुख से निवास करता है ।[1] दुष्ट व्यक्ति के लिये घोर नरक और विपत्ति का गहन गर्त प्रतीक्षा करते हैं जिनमे दुर्जन सिर के बल गिरते है और असंख्य वर्षों तक कष्ट भोगते हैं ।

महाभा० १२.२७९८ ।

जो व्यक्ति समय को निकल जाने देता है और उसका उपयोग नही करता वह भले ही अपना कार्य सिद्ध करने का प्रयत्न करता रहे परन्तु उस कर्म के लिये पुनः उचित समय नही प्राप्त करता ।

महाभा० १२ ३८१४ ।

स्वयं सुखरहित होते हुए भी दूसरे की समृद्धि का उपभोग करो; सज्जन अपने पड़ोसियो के सुख मे आनन्दित होते हैं ।

महाभा० १२.३८८० ।

शत्रु भी यदि अतिथि होकर आता है तो उसका उचित आतिथ्य-सत्कार करना चाहिए । काटने के लिये गये हुए व्यक्ति पर भी वृक्ष छाया ही करते हैं ।[2]

महाभा० १२.५५२८ ।

आज ही सत्कर्म कर लो, समय बीता जाता है, मृत्यु निकट है, मृत्यु अनवधान व्यक्ति पर उसी प्रकार आती है, जैसे हिंसक भेड़िया भेड के ऊपर टूटता है । मृत्यु ऐसे समय पर आ जाती है जब उसके आने

---

[1] सैण्ट मैथ्यू १३.४३; २५.४६ से तुलना कीजिए ।

[2] यह श्लोक हितोपदेश १.६० मे आता है । तुलना रामायण १२.२० । प्रोफेसर विलसन को संस्कृत का अध्ययन करने की प्रेरणा कही यह पढ़ने पर मिली कि यह भावना संस्कृत साहित्य मे उपलब्ध होती है ।

की रंच मात्र भी आशा नही रहती। मृत्यु कभी-कभी जीवन के कर्म के पूरा होने या लक्ष्यों की सिद्धि होने के पूर्व ही ग्रहण कर लेती है। मृत्यु दुर्बल और बलवान को, वीर और कायर को, बुद्धिमान और मूर्ख को तथा उन सभी व्यक्तियो को भी जिनके लक्ष्यो की सिद्धि नही हुई रहती है समान रूप से ग्रहण कर लेती है। अतएव देर न करो; मृत्यु आज भी आ सकती है। मृत्यु यह जानने के लिये प्रतीक्षा नही करेगी कि तुम तैयार हो या नही, तुम्हारा कार्य सिद्ध हुआ है या नही। इसलिये कर्म करो। जब तक तुम युवक हो और समय तुम्हारे हाथ मे है तब तक कर्म कर लो। कल का कार्य आज ही कर डालो। संध्या के कर्म इस प्रात.काल ही कर लो। जब तुम अपना कर्तव्य पूर्ण कर लोगे तो यदि तुम जीवित रहोगे तो तुम्हे प्रतिष्ठा और सुख मिलेगा, और यदि तुम्हारी मृत्यु हो जाती है तो तुम मोक्ष प्राप्त करोगे।[१]

महाभा० १२.६५३४।

भवन बनाने मे अनेक परेशानियाँ होती हैं और कभी सुख नही मिलता, इस कारण धूर्त सर्प दूसरो के बनाए बिलों की खोज करते हैं और उनमे प्रवेश करके सुखपूर्वक निवास करते हैं।

महाभा० १२.६६१९।

जिस प्रकार आकाश मे उडकर जाने वाले पक्षी के पीछे बने मार्ग को नही जाना सकता और न जल मे तैरने वाली मछली के मार्ग को ही जाना जा सकता है, उसी प्रकार सत्कर्म करने वालो के मार्ग सदैव दृष्टिगोचर नही होते।

महाभा० १२.६७६३,१२१५६।

किसी व्यक्ति को तुच्छ याचक को भी लौटाना नही चाहिए या उसे खाली हाथो नही जाने देना चाहिए; किसी जातिहीन व्यक्ति या कुत्ते को भी दी गई वस्तु फेकी नही जाती या निष्फल नही होती।

महाभा० १३.३२१२।

समय बीतता जाता है और निरन्तर बढ़ता हुआ . मनुष्य अपने केश, दाँत, तथा आँखो को सदैव पुराना होता पाता है; केवल एक वस्तु

---

[१] इस अनुवाद मे मूल के क्रम को थोडा बदल दिया है तथा इसके शब्दों के प्रयोग मे थोड़ी स्वतन्त्रता बरती गयी है।

उसके भीतर वृद्धी नही होती, और वह है घनो की प्यास और काञ्चन का प्रेम ।

महाभा० १३.३६७६,३६८ ।

यही यथार्थ धर्म का सार है कि दूसरो से वैसा व्यवहार करो जैसा व्यवहार तुम दूसरो से चाहते हो । अपने पड़ोसी के प्रति कोई ऐसा कार्य न करो जिसे तुम पड़ोसी द्वारा अपने प्रति किया जाना नही चाहते । सुख देने मे या दुःख देने मे, उपकार करने मे या दूसरों को आघात पहुँचाने मे, किसी प्रार्थना को स्वीकार करने मे या अस्वीकार करने मे, एक व्यक्ति अपने पड़ोसी पर अपने समान दृष्टि रखकर कर्म करने का उचित नियम प्राप्त करता है ।[1]

महाभा० १३.५५७१ ।

कोई व्यक्ति अपने समय से पहले नहीं मरता चाहे वह सैकड़ो बाणो से विद्ध क्यो न हो; किन्तु जब उसका निश्चित समय आ जाता है तो केवल एक तीक्ष्ण कुश की खरोच से भी वह निश्चित ही मर जाता है ।[2]

महाभा० १३.७६०७ ।

मासपेशियों मे दुर्बलता आने के पहले, समय के विनाश द्वारा शक्ति-बल के क्षीण होने तथा अंगो के सौन्दर्य के बिगड़ने के पहले, और इसके पहले कि मृत्यु, जिसका सारथि रोग है, तुम्हारी ओर दौडती हैं, क्षीण शरीर को तोड़ती है और तुम्हारे जीवन का अन्त करती है,[3] अपने एक मात्र भण्डार को भर लो—सत्कर्म करो; गम्भीरता एवं आत्मसंयम का अभ्यास करो; वह धन एकत्र करो जिसे चोर छीन नही सकते, अत्याचारी शासक जिसका हरण नही कर सकते, जो तुम्हारी मृत्यु पर तुम्हारे साथ रहता है और जो कभी नष्ट नही होता, कभी दूषित नही होता ।[4]

महाभा० १३.१२०८४ ।

स्वर्ग का द्वार बहुत संकुचित और सूक्ष्म होता है;[5] इसे ससार की

---

[1] तुलना सेण्ट मैथ्यू २२.३९; सेण्ट ल्यूक ६ ३१ ।

[2] यह हितोपदेश २.१५ मे भी आता है ।

[3] तुलना एक्लेसि० १२.१;

[4] तुलना सेण्ट मैथ्यू ६.१९; जॉब २१.२३ ।

[5] तुलना सेण्ट मैथ्यू ७.१४ ।

माया से अन्धे बने हुए मूर्ख व्यक्ति भी, जो इस मार्ग का अन्वेषण कर लेते हैं और इसमें प्रवेश करना चाहते है, इसके द्वार को रुद्ध और दुर्भेद्य पाते हैं। अभिमान और लिप्सा, लोभ तथा वासना इसकी अर्गलाएँ होती हैं।

महाभा० १४.२७८४।

स्वर्ग के देवता भावी जीवन मे प्रतिफल की आशा से अर्पित किये गये मूल्यवान् दानो से उतना प्रसन्न नही होते जितना उचित उपार्जन मे से निकालकर अर्पित एवं श्रद्धा से पवित्र किये गये तुच्छ कण से प्रसन्न होते हैं।[1]

महाभा० १४.२७८८

---
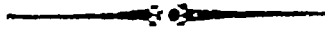
[1] तुलना सेण्ट मैथ्यू ६ १–४; सेण्ट मार्क १२ ४३,४४।

कलावादी काव्य, नाटक, पुराण, तन्त्र, और नीतिशास्त्र

मैं भारतीय रचनाओ के उन अवशिष्ट वर्गों का केवल संक्षेप मे ही विवेचन कर सकता हूँ जो रामायण तथा महाभारत का अनुसरण करती है। अपने धार्मिक रूप मे, स्मृति के अङ्ग होने तथा मुख्य दो महाकाव्यो से उद्धृत होने के कारण अट्ठारह पुराण, महाकाव्यो के बाद दूसरे स्थान पर आते हैं। कतिपय अधिक विख्यात कलावादी काव्यो एवं नाटको मे से कुछ ऐसे को गिना देना सुविधाजनक होग जो महाकाव्यो से संबद्ध हैं। इस परिगणना के साथ हम कुछ व्याख्याएँ एवं उदाहरण भी देंगे किन्तु उनका तथा सस्कृत साहित्य के अन्य विभागो का अधिक पूर्ण विवेचन भविष्य के लिए छोड़ देंगे।

कलावादी काव्य

कुछ प्रसिद्ध कलावादी काव्य ये हैं :—

१. रघुवंश या 'रघु के वश का इतिहास'—यह उन्नीस सर्गो में है और इसके रचयिता कालिदास है। इसका विषय रामायण का विषय, अर्थात् राम का जीवन चरित्र, ही है किन्तु यह उनके पूर्वजों के लम्बे वर्णन से प्रारम्भ होता है। २. कालिदास रचित कुमारसम्भव, जो उस कुमार या कार्त्तिकेय के जन्म का वर्णन करता है जो युद्ध के देवता तथा शिव एवं पार्वती के पुत्र हुए। यह मूलतः सोलह सर्गो मे था, जिनमे से केवल सात का ही सामान्यतः सम्पादन हुआ है, यद्यपि नौ या अधिक सर्गों का मुद्रण बनारस से निकलने वाले 'पण्डित' पत्र में हुआ है। ३. कालिदास का ही मेघदूत जो मन्दाक्रान्ता छन्द में ११६ पद्यों में है (इसका सुन्दर सपादन प्रोफेसर जॉनसन ने किया है)। यह बहिष्कृत यक्ष द्वारा हिमालय पर्वत पर निवास करनेवाली अपनी पत्नी के पास भेजे गये सन्देश का वर्णन करता है; इसमे एक मेघ को मूर्त रूप देकर उसे सन्देशवाहक बनाया गया है। ४. भारवि रचित किरातार्जुनीय अर्थात् किरात और अर्जुन का युद्ध। यह अट्ठारह सर्गो मे है और महाभारत के वनपर्व के चौथे अध्याय से लिए गये एक विषय, अर्थात् पाण्डव राजकुमार अर्जुन द्वारा की गयी तपस्या और किरातवेशधारी शिव के साथ उनके युद्ध से सम्बद्ध है। ५. कवि माघ रचित शिशुपालवध अर्थात् शिशुपाल का नाश, जो बीस सर्गों मे है एवं महाभारत

के सभापर्व के सातवें अध्याय से लिए गये एक विषय, अर्थात् युधिष्ठिर द्वारा किए गये राजसूय के अवसर पर (दे० पृ० ३८२) कृष्ण द्वारा पापी शिशुपाल के वध से सम्बद्ध है। ६. श्रीहर्ष[1] का नैषध या नैषधीय जिसका विषय महाभारत के वनपर्व के छठें अध्याय से ली गई वह कथा है जो निषध के राजा नल के जीवन चरित्र एवं कृत्य का वर्णन करती है।

उपर्युक्त छः काव्यो को कभी-कभी महाकाव्य भी कहते हैं, जिससे उनके विस्तार से नहीं (क्योंकि ये सामान्यतः छोटे हैं) अपितु उनके वर्ण्य-विषयों से तात्पर्य है। उनके साथ निम्नलिखित काव्यो को भी गिनाया जा सकता है—

७. ऋतुसंहार या ऋतुओ का संग्रह। यह कालिदास रचित एक लघु किन्तु प्रसिद्ध काव्य है जो छः ऋतुओं पर है (ग्रीष्म या गर्मी का मौसम, वर्षा, शरद् या पतझड की ऋतु, हेमन्त, शिशिर, वसन्त)।

८. **नलोदय :** यह एक कलावादी काव्य है और एक कालिदास का बताया जाता है किन्तु यह प्रख्यात कवि कालिदास की रचना नही है, और नैषध के समान विषय पर है; यह विशेषतया पदच्युत नल की पुनः राज्य-प्राप्ति का वर्णन करता है। ९. **भट्टिकाव्य :** कुछ लोगों के अनुसार भतृहरि या उनके पुत्र की रचना है, और उसी विषय पर है जिस पर रामायण। इसकी रचना वलभी (वल्लभि) मे श्रीधर सेन (संभवतः गुजरात मे ५३०–५४४ ई० मे शासन करने वाले राजा) के काल मे हुई थी। इसका लक्ष्य संस्कृत व्याकरण के नियमों एवं अलङ्कारो को सभी संभव शब्द-रूपो एवं अलङ्कारों के प्रयोग द्वारा स्पष्ट करना है (दे० पृ० ४४५)। यह दो प्रमुख भागो मे बँटा है : 'शब्द लक्षण' या व्याकरण के दृष्टान्त, तथा 'काव्यलक्षण' या काव्य का निवेचन। इसमें कुल बाइस सर्ग हैं। १०. **राघवपाण्डवीय :** यह कविराज रचित एक कलावादी काव्य है, जो रघु और पाण्डु दोनो के वंशजों के चरित्रों का वर्णन ऐसी भाषा में करता है कि इसे दोनों ही वशो का इतिहास समझा जा सकता है। ११. **अमरु-शतक** या **अमरूशतक :** यह श्रृङ्गारिक विषयों पर है। इसके सौ श्लोकों की रहस्यवादी व्याख्या की जाती है और विशेषतः ये महान् दार्शनिक शङ्कराचार्य की उस समय की रचना माने जाते है, जब एक लोक-

---

[1] इनका समय प्राय १००० ई० माना जाता है। ये हर्ष सभी सन्देहवादी दार्शनिको मे सर्वप्रमुख थे और इन्होने अन्य मतों का खण्डन करने के लिए खण्डनखण्डखाद्य नामक ग्रन्थ लिखा। नैषध ६ ११३ (प्रेमचन्द की टीका) में इसका उल्लेख है। टीकाकार नारायण इसका अर्थ समझते नही प्रतीत होते। नैषध मे कुछ दार्शनिक सर्ग भी हैं।

कथा के अनुसार उन्होंने मृत राजा अमरु के शरीर मे प्रवेश किया। उनका ध्येय राजा की विधवा का पति बनने का था जिससे वे मण्डन नामक ब्राह्मण की पत्नी के साथ कामशास्त्र के विषयो पर शास्त्रार्थ कर सके। १२. जयदेव रचित **गीतगोविन्द** अर्थात् गोविन्द (गायो को ढूँढने वाला, या गोपालक) रूप मे कृष्ण की स्तुति। यह एक गीतिकाव्य या शृङ्गाररस-प्रधान काव्य है, जिसकी रचना ईसा की बारहवी या तेरहवी शताब्दी मे हुई थी। मूलतः इसकी रचना कृष्ण तथा गोपियो की प्रेमलीलाओं, विशेषतया कृष्ण तथा राधा की प्रेमलीलाओ का गीतो मे वर्णन करने के लिये हुई, किन्तु यतः राधा को जीवात्मा का प्रतीक मानता जाता है, अतः सम्पूर्ण काव्य की रहस्यवादी व्याख्या सभव हो सकती है।

इन काव्यो मे से कुछ मे, विशेषतया रघुवंश, कुमारसम्भव, मेघदूत और ऋतुसहार मे, जो कालिदास रचित है (जिनका समय देशीय विद्वानो के अनुसार ईसवी सवत् के प्रारम्भ के कुछ समय पूर्व का है किन्तु अब ईसा की तीसरी शताब्दी मे माना जाता है[1]), यथार्थ काव्यीय भावनाओ की भरमार है, और ये कल्पना एवं वर्णन-प्रतिभा की नितान्त उर्वरता का प्रदर्शन करते हैं। किन्तु यह अस्वीकार नही किया जा सकता कि सर्वश्रेष्ठ भारतीय कवियो की इन रचनाओ मे भी समय-समय पर ऐसे काल्पनिक चमत्कार मिलते हैं जो नितान्त श्रमकृत कृत्रिम शैलीगत अलकरण तथा ऐसी प्रवृत्ति के साथ मिले हुए है जिसे एक योरोपीय अनुप्रास एवं शाब्दी क्रीडा ('वोर्ट-स्पील') का प्रायः बालिश प्रेम कहेगा। कुछ अन्य काव्यो, यथा किरातार्जुनीय, शिशुपालवध, नलोदय, नैषध, तथा भट्टिकाव्य में यत्र-तत्र काव्यीय भावना, आकर्षक कल्पना, तथा उदात्त विचारो का अभाव नही है, किन्तु वे इस हद तक कलावादी है कि योरोपीय रुचि की मान्यताओ के सर्वथा विपरीत जा पड़ते हैं। रचयिताओ का मुख्य ध्येय सस्कृत भाषा की क्षमताओं, उसकी मृदुता, नितान्त विस्तृत से अत्यन्त सक्षिप्त शैली तक हर प्रकार से व्यक्त किये जाने की योग्यता, शब्दो का समास करने की शक्ति, उसकी नैसर्गिक व्याकरणीय रचना, छन्दो की गूढ प्रणाली, तथा लय, स्वर एवं अनुप्रास की योजना मे इसके साधनो की प्रचुरता को व्यक्त करने के कौशल का प्रदर्शन करना है।

वस्तुतः सम्पूर्ण ग्रीक या लैटिन या किसी भी दूसरे साहित्य मे ऐसा कुछ भी नही है जिसकी तुलना इन काव्यो से की जा सके। इनमे प्राय. प्रत्येक छन्द एक पहेली प्रस्तुत करते हैं—जिससे एक पहेली का समाधान होने पर दूसरी पहेली के समाधान के लिए कोई सामग्री नही मिलती—अथवा अध्याय शब्दो,

[1] प्रोफेसर वेबर उन्हें तीसरी या छठी शताब्दी मे रखते हैं।

अप्रचलित व्याकरणीय रूपों, तथा गूढ समासो का प्रदर्शन करते है, मानो उन्हे एक साथ गूढ धातु-बन्धनो मे बट दिया गया है जिनको केवल देशीय टीकाओ की सहायता से ही उधेड़ा जा सकता है।

निःसन्देह, ऐसी स्थितियों मे अर्थ तथा कठोर व्याकरणीय रूपो की भी शब्दो को छन्द या लय के अनुकूल बनाने के लिये तोड़ने मरोड़ने के कौशल का प्रदर्शन करने के लिये बलि दे दी जाती है; और इस कला का अनुशीलन स्वतः एक साध्य के रूप मे किया जाता है जिसमे भाषा के माध्यम से व्यक्त किये जाने वाले विचार नितान्त गौण विषय होते हैं। इसे इस अन्तिम सीमा तक पहुँचाया गया है कि कभी कभी सम्पूर्ण छन्द केवल एक व्यंजन की आवृत्ति से रचा गया है[1] जब कि दूसरे स्थलो पर ऐसे विशेषणो की माला का प्रयोग किया गया है जो वाक्य मे दो नितान्त पृथक शब्दो के साथ जोडे जा सकते हैं और शाब्दिक प्रहेलिका को हलकर्ता की इच्छा के अनुसार दोनो ही शब्दो के साथ मेल खाने वाले भिन्न अर्थ देते हैं।

पुनः, छन्दो की रचना इस प्रकार की गई है कि उनसे काल्पनिक आकृतियाँ या चित्र बनाये जा सके, यथा, कमल का चित्र (पद्म-बन्ध); अथवा छन्द के पाद या पादाश को आडे, कोनाकोनी या लम्बवत् अथवा उल्टी ओर से पढने पर किसी प्रकार के महत्वपूर्व एवं व्याकरणसम्मत वाक्य निकल सकें। ऐसी स्थिति मे अर्थ को गौण महत्व दिया जाता है। इसे चित्रालङ्कार कहते हैं।

अष्टदल पद्मबन्ध की रचना का वर्णन साहित्यदर्पण १० मे किया गया है, पृ० ३६८। इन अत्यन्त प्रचलित कृत्रिम छन्दो मे एक 'सर्वतो भद्र' छन्द है जो इस प्रकार से रचा जाता है कि प्रत्येक पाद मे एक ही अक्षर आते है,

---

[1] मुझे भय है कि किरातार्जुनीय (१५.१४) के निम्नलिखित पद्य के समान रचना के लिये अंग्रेजी नितान्त असदृश है—

न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु।
नुन्नो नुन्नोननुन्नेनो नानेन नुन्ननुन्ननुत् ॥

या माघ (१९.११४) का निम्नलिखित श्लोक—

दाददोदुद्दुद्दादी दादादोदूददीददोः।
दुद्दादं दददे दुद्दे ददाददददोदद. ॥

यद्यपि लैटिन के इनियस के 'O Tite tute Tati tibi tanta tyranne tulisti' मे भी ऐसी कलावादिता देखने में आती है। यह मानना पड़ेगा कि Peter Piper picked a peck of pepper से प्रारम्भ होने वाला बच्चो का गीत भी इसी दिशा में एक प्रयत्न है।

चाहे आगे से पढा जाय या पीछे से, मध्य से पढा जाय या अन्त से, जब कि सभी पद चाहे नीचे से पढे जाँय या ऊपर से, मध्य से पढे जाँय या किनारे से एक ही होते हैं। इस प्रकार के छन्द का उदाहरण किरातार्जुनीय १५.२५ है।

इससे भी अधिक गूढ रूप स्थल-स्थल पर पाये जाते है, जिनका वर्णन डॉ० येट्स (Yates) ने अपने नलोदय के संस्करण में किया है—

इसी प्रकार मुरज-बन्ध होता है जो मुरज या ढोलक के आकार का होता है; खड्गबन्ध, तलवार के आकार का होता है; धनुबन्ध, धनुष के आकार का, स्रगबन्ध माला के आकार का, वृक्षबन्ध, वृक्ष के आकार का तथा गोमूत्रिका गाय के मूत्र की धारा के समान होता है। ये विषमपदो मे होते हैं।

विविध रसों, भावो, तथा नाट्य एव शृङ्गाररस प्रधान काव्यो मे चित्रित भावनाओ को व्यक्त करने के लिए अनन्त प्रकार के अलङ्कारों का आविष्कार एव प्रयोग करने की कला का भी अध्ययन उस हद तक किया गया है जो दूसरी भाषाओ मे बिल्कुल अज्ञात हैं। नितान्त परिष्कृत सूक्ष्मता का प्रदर्शन उपमा, तथा रूपक आदि की सूक्ष्म श्रेणियो के विवेचन द्वारा किया गया है। इस विषय पर अनेक ग्रथ हैं जिन्हे एक प्रकार का काव्य शास्त्र (Ars poetica) या अलङ्कारशास्त्र (Ars rhetorica) कह सकते है। इनमे से कुछ प्रमुख ग्रंथ ये हैं :—

१. **साहित्यदर्पण:**—इसके लेखक हैं विश्वनाथ कविराज (जिन्हे पन्द्रहवी शताब्दी के आसपास ढाका का निवासी बताया जाता है)। इसमें सरल वाक्यो से लेकर महाकाव्यो एवं नाटको की रचना तक की साहित्यिक रचनाओं के लिये नियम तथा विधान, और श्रेष्ठ लेखकों, विशेषतया रूपकों के लेखकों की रचनाओ से उदाहरण भी दिये गये हैं (दे० पृ० ४५६ टि०)। २. **काव्यादर्श, दण्डिन्** रचित; ३ **काव्यप्रकाश,** मम्मट रचित, (जिसकी गोविन्द रचित टीका काव्यप्रदीप कहलाती है); ४. धनजय रचित **दशरूपक,** अर्थात् रूपक नाम की नाट्य रचनाओ के दस प्रकारो का वर्णन; ५. वामन रचित '**काव्यालङ्कारवृत्ति**'; ६. भोजदेवरचित **सरस्वतीकण्ठाभरण**; ७. **शृङ्गारतिलक** जो रुद्रभट्ट की रचना है और विविध भावों, तथा नायक-नायिका की प्रेम-चेष्टाओ का सोदाहरण विवेचन करता है जैसा कि नाटकों मे दर्शाया गया है; ८ **रसमञ्जरी,** जो भानुदत्त रचित ग्रन्थ है और जिसका विषय भी पूर्वोक्त ग्रन्थ के समान ही रस है।[1]

---

[1] दस रस गिनाये गये हैं जिनके उदाहरण नाट्यकाव्य की रचनाओं मे दिये गये हैं। वे हैं—१ शृङ्गार; २. वीर; ३. वीभत्स; ४ रौद्र; ५. हास्य;

मैं यहाँ कतिपय अत्यन्त प्रचलित अलङ्कारो का संक्षिप्त वर्णन देता हूँ। अलङ्कारो को दो वर्गों मे बाँटा गया है—क. शब्दालङ्कार— जो केवल शब्दो की ध्वनि से निष्पन्न होते है; ख. अर्थालङ्कार—जो अर्थ पर आश्रित होते हैं। साहित्यदर्पण का दसवाँ परिच्छेद तथा भट्टिकाव्य इसी विषय का विवेचन करते है।

शब्दालङ्कार के उदाहरण ये हैं : १. अनुप्रास—स्वरो के भिन्न होते हुए भी एक ही व्यञ्जन की आवृत्ति, अर्थात् समालिङ्गनङ्गन्; २. यमक—अधिक पूर्ण अनुप्रास या स्वरों एवं व्यञ्जनो की आवृत्ति, जैसे, सकलै. सकलैः। विविध प्रकार के यमक भट्टिकाव्य १०.२–२१ मे पाये जा सकते है, तथा किराता-र्जुनीय १५.५२ मे महायमक है।

अर्थालङ्कार के उदाहरण ये हैं : १. उपमा (जिसमे तुलना के विषय को उपमेय और कभी-कभी प्रस्तुत, प्रकृत, प्रक्रान्त, वस्तु, विषय कहते है, जबकि जिस वस्तु से उपमा दी जाती है उसे 'उपमानम्' और कभी-कभी अप्रस्तुत, अप्रकृत इत्यादि कहते हैं)। उपमा के लिये यह आवश्यक है कि उपमेय, उपमान तथा सामान्य धर्म व्यक्त हो और उपमान उपमेय के पूर्णतः अधीन हो, यथा, 'उसका मुख आह्लादकत्व मे चन्द्रमा के समान है'. यहाँ 'उसका मुख' उपमेय है, चन्द्रमा उपमान और आह्लादकत्व सामान्य धर्म। यदि सामान्य धर्म का लोप हो तो लुप्तोपमा होती है (देखिए भट्टिकाव्य १०.३०–३५)। २. उत्प्रेक्षा एक प्रकार की तुलना होती है जिसमे उपमान उपमेय को ढँककर उसके तुल्य प्राधान्य प्राप्त कर लेता है। यह बत्तीस प्रकार की होती है, जिसके दो वर्ग है : पहला वाच्य है जो 'इव' जैसे शब्द से उक्त होता है, यथा, उसका मुख इस प्रकार चमक रहा है मानो वह चन्द्रमा हो; दूसरा वर्ग है प्रतीयमान उत्प्रेक्षा का जिसमें 'इव' शब्द छिपा होता है (तुलना भट्टिकाव्य १०.४४)। ४. रूपक— इसमे मूल विषय पर काल्पनिक रूप का आरोप होता है। उपमेय तथा उपमान का इस प्रकार का सम्बन्ध होता है मानो दोनो का प्राधान्य समान हो और उनका साधर्म्य व्यक्त न होकर व्यङ्ग्य होता है। यथा, चन्द्रमुख, उसका मुख चन्द्र है (भट्टिका० १०.२८)। ४. अतिशयोक्ति (भट्टिका० १०. ४२) जिसमे उपमान मे उपमेय का निगरण हो जाता है, जैसे 'उसका मुख', के लिये 'उसका चन्द्र' या 'उसकी देह', के लिए 'उसकी क्षीण लता' का प्रयोग। ५. तुल्ययोगिता, जिसमे उपमान तथा उपमेय को एक सामान्य गुण के कारण जोड़ा जाता है, यथा 'हिमशुभ्र पुष्प' (भट्टिका० १०.६१; कुमार स० १.२)।

---

६. भयानक; ७. करुण; ८. अद्भुत; ९, शान्त; १०. वात्सल्य। कुछ आचार्य केवल १–८ तक को मान्यता देते है।

६. दृष्टान्त—समान गुणो की तुलना या विपर्यास द्वारा उदाहरण देना (माघ २ २३)। ७. दीपक अर्थात् किसी पद्य के आदि, मध्य या अन्त मे ऐसे शब्दो का प्रयोग करना जो वर्णन पर प्रकाश डालें (भट्टिका० १०.२२–२४; कुमार सं० २.६०)। ८. व्याजस्तुति—प्रच्छन्न या अप्रत्यक्ष प्रशंसा जिसमे स्तुति स्पष्टत उक्त न होकर छिपी रहती है (भट्टिका० १०५९)। ९. श्लेष (शाब्दिक अर्थ मिलना)—ऐसे भिन्न शब्दो का प्रयोग जिनमे ध्वनिसाम्य और अर्थवैभिन्य हो। इस प्रकार 'विधौ' शब्द यदि 'विधि' से व्युत्पन्न है तो उसका अर्थ होगा भाग्य मे, और 'विधु' से बना हुआ माने तो अर्थ होगा 'चन्द्रमा मे'। १०. विभावना—बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति का वर्णन (कुमारसंभव १.१०)। ११. विशेषोक्ति—कारण के होने पर स्वाभाविक कार्य की उत्पत्ति न होने का वर्णन। १२. अर्थान्तरन्यास—दूसरे विषय पर निक्षेप अर्थात् विशिष्ट विषय को स्पष्ट करने के लिये सामान्य विषय का कथन (भट्टि का० १०. ३६; किरातार्जुनीय ७.१५)। १३. अर्थापत्ति—एक तथ्य से दूसरे तथ्य का अनुमान। १४. सार—अर्थात् उत्कर्ष। १५. कारणो की शृखला। १६. व्यतिरेक—विपर्यास या वैषम्यप्रदर्शन। १७ आक्षेप अर्थात् सकेत। १८. सहोक्ति—'सह' शब्द से सबद्ध एकसाथ होने वाले कार्य का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन। १९. परिकर—अनेक सार्थक विशेषणों का प्रयोग। २० संसृष्टि—एक ही पद्य मे अनेक स्वतन्त्र अलंकारो का प्रयोग, (भट्टि का० १०.७०)। जब एक से अधिक अलङ्कारों का मिश्रण होता है तो संकर कहलाता है; विशेषतया जब उनमे एक अलङ्कार दूसरे के अधीन होता है (अगाङ्गिभाव)

ऊपर गिनाये गये (पृ० ४४०-४४१) सभी कलावादी काव्यो से उदाहरण देना क्लान्तिजनक होगा। अतः कालिदास के रघुवंश से एक अंश तथा किरातार्जुनीय एवं शिशुपालवध मे विकीर्ण कतिपय नैतिक भावनाओ को उद्वृत कर देना पर्याप्त होगा। मैं पहले रघुवंश १०.१६–३३ का अनुवाद करता हूं। अवरकोटि के देवता, विष्णु की परमात्मा के रूप मे अराधना करते हुए दिखाये गये है (तुलना कुमारसम्भव २ में इसी प्रकार की प्रार्थना से).—

> पहले संसार की सृष्टि करने वाले, संसार का पालन करनेवाले और फिर संसार का नाश करनेवाले[1]—इस प्रकार अपने को तीन रूपों मे विभक्त करने वाले देव ! तुम्हें नमस्कार है।
>
> जिस प्रकार एक रसवाला वर्षा का जल प्रत्येक स्थान पर अन्य रसों को प्राप्त करता है उसी प्रकार विकार-रहित तुम भी सत्त्वादि गुणों[2] मे विविध अवस्थाओ को प्राप्त करते हो।

---

[1] देखिए पृ० ३१५। [2] देखिए पृ० ३१५ टि० १।

तुम अमेय हो फिर भी संसार का माप करनेवाले हो; निःस्पृह, दूसरों की याचना को पूर्ण करनेवाले, दूसरो से न जीते गये, सब पर विजय करनेवाले, अत्यन्त सूक्ष्म और स्थूल ससार के कारण हो।

हे भगवन् ! ऋषि लोग तुमको अत्यन्त निकट रहनेवाला जानते हुए भी दूर रहनेवाला, निष्काम होने पर भी तपस्या करनेवाला, दयालु होकर भी दु:ख से अछूता, तथा प्राचीन होने पर भी जरा-रहित जानते हैं।

तुम सर्वज्ञ हो किन्तु तुम्हे कोई नही जानता; तुम सबके कारण हो फिर भी स्वयं उत्पन्न होनेवाले हो; तुम सबके स्वामी हो, तुम्हारा कोई स्वामी नही है और तुम एक होकर भी सब में निवास करने वाले हो।

ज्ञानीजन सात मन्त्रो द्वारा तुम्हारी स्तुति करते हैं; तुम्हें सातों समुद्रो[१] मे सोनेवाला, सात ज्वाला से युक्त मुखवाला, तथा सात लोको[२] का मुख्य आश्रय बताते है। चारमुखवाले तुमसे चतुर्वर्ग फल का ज्ञान चार युग[३] तथा चार वर्ण उत्पन्न हुए है।

योगी लोग अभ्यास द्वारा वश मे किये गये मन से हृदय मे स्थित प्रकाशस्वरूप तुमको मोक्ष के लिये ढूँढते हैं।

अज होने पर भी जन्म ग्रहण करनेवाले, निश्चेष्ट होकर भी शत्रुओं का नाश करनेवाले, सुप्त प्रतीत होते हुए भी सदैव जागरूक रहने-वाले ! तुम्हारी वास्तविकता को कौन जान सकता है ?

हे भगवन् ! तुम शब्द आदि विषयों को भोगने के लिए, कठिन तप करने के लिए, प्रजाओं की रक्षा करने के लिये और उदासीन रहने के लिए समर्थ हो।

शास्त्रो से अनेक प्रकार से भिन्न भी सिद्धि के कारणभूत सभी मार्ग तुममे उसी प्रकार विलीन होते हैं जिस प्रकार समुद्र मे गङ्गा का प्रवाह विलीन होता है।

तुममे चित्त लगाने वाले, तथा तुम्ही मे सभी कर्मों का समर्पण करने वाले विरक्त योगियो की मुक्ति के लिये तुम्ही गति हो।

तुम्हारी महानता हमारे नेत्रो के समक्ष प्रकट है, फिर भी तुम्हारी

---

[१] देखिए पृ० ४०९।

[२] देखिए पृ० ४२०।

[३] देखिए पृ० ३२३ टि० ३

सत्ता का ज्ञान वेदादि आप्त वचन एवं अनुमान द्वारा ही हो सकता है।[1] तुम्हारे विषय में क्या कहा जाय ?

तुम स्मरणमात्र से ही पुरुष को पवित्र करनेवाले हो, और तुम्हे उद्दिष्ट कर किये गये अन्य कर्मो का भी फल मिलता है।

समुद्र के रत्नो और सूर्य के तेजो से भी अधिक तुम्हारा चरित्र, स्तुति से भी बढकर है।

तुम्हारे लिये कोई वस्तु अप्राप्त या अप्राप्तव्य नही है, किन्तु लोक पर एकमात्र कृपा ही तुम्हारे जन्म तथा कर्म का कारण है।[2] तुम्हारी महिमा के कथन मे हमारी वाणी हमारी असमर्थता के कारण शिथिल हो जाती है, न कि तुम्हारी महिमा सीमित है।

इसके बाद मैं भारवि के किरातार्जुनीय से कुछ नैतिक भावनाओं एवं वैदुष्यपूर्ण उक्तियो का अनुवाद प्रस्तुत करता हूँ :—

अपने इष्टजनो का कल्याण चाहनेवाले व्यक्ति कभी भी उन्हे मिथ्या वचनो से प्रसन्न करने की इच्छा नही रखते (१.२)

दुष्टो के साथ सम्पर्क रखने की अपेक्षा सज्जनों के साथ वैर करना ही श्रेयस्कर है (१.८)।

जिस प्रकार अल्प और कटु होते हुए भी उत्तम रासायनिक औषधि, आरोग्य और बल आदि गुण दिखलाती है उसी प्रकार समय पर उक्त अल्प एवं चुभने वाले वचन भी उन व्यक्तियो की शक्ति को उत्तेजित करते है जो निराश होकर दुर्भाग्य झेलते रहते हैं (२.४)। विना विचारे कोई कार्य आरम्भ नही करना चाहिए। अविवेक ही असफलता और विपत्ति का मूल कारण होता है। गुण के ऊपर रीझनेवाली सम्पत्तियां उसी पुरुष का वरण करती है जो कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व सोच लेता है (२.३०)।

जो व्यक्ति धैर्य एव विचार के साथ कार्य की भूमि को तैयार करता है वह उसी प्रकार फलसिद्धि प्राप्त करता है जैसे वीजो को श्रमपूर्वक सीचनेवाले कृषक शरत्काल मे प्रचुर अन्न प्राप्त करते है (२.३१)। शुद्ध शास्त्राभ्यास ही शरीर की वास्तविक शोभा है। क्रोध का उपशमन करना ही उस शास्त्र का अलङ्कार होता है। अवसर प्राप्त

---

[1] यहाँ साख्य के तीन प्रमाणो, प्रत्यक्ष, अनुमान, तथा आप्तवचन या शब्द का उल्लेख है; देखिए पृ० ९०।

[2] देखिए पृ० ३१४।

होने पर शौर्य क्रोधोपशान्ति का भूषण होता है, और कार्य की सिद्धि पराक्रम का आभरण होती है। (२.३२)।

सन्देह एवं मतवैषम्य से आच्छन्न कठिन एव गूढ विषयों मे ऋषियो द्वारा उपदिष्ट, और सम्यक् अभ्यस्त वेद उसी प्रकार-विवेकी मनुष्य का मार्ग प्रदर्शन करता है जिस प्रकार प्रकाशपूर्ण दीपक मार्ग को प्रकाशित करता है (२.३३)।

जो व्यक्ति महापुरुपो द्वारा आचरित प्रशस्त मार्ग का अनुकरण करते है उनके लिये ठोकर खाना भी उन्नति के समान है क्योकि इस प्रकार की विपत्तियाँ उन्हें कष्ट या हानि नही पहुँचाती। बुद्धिमान व्यक्ति के लिये आपत्ति भी सफलता के तुल्य ही है (२.३४)।

उन्नति की इच्छा रखनेवाले पुरुष को सर्वप्रथम अपनी बुद्धि द्वारा अज्ञान को दूर करना चाहिए; सूर्य भी रात्रि के अंधकार का नाश किये बिना नही उदित होते (२.३६)।

ऐसा भूमिपाल जो न तो अत्यन्त सरलता और न अत्यन्त क्रूरता का अवलम्बन करता है तथा यथासमय कोमलता और क्रूरता दोनों का व्यवहार करता है, वह सूर्य के समान अपने प्रताप से समग्र संसार पर आधिपत्य बनाये रखता है (२.३८)।

जो व्यक्ति शास्त्र का ज्ञाता होते हुए भी अपने शरीर से उत्पन्न काम-क्रोधादि शत्रुओ को वश मे नही करता, वह शीघ्र ही अपनी चञ्चल सम्पत्तियो को नष्ट कर अपकीर्ति का भागी होता है (२.४१)।

यदि तुम अपनी कार्य सिद्धि चाहते हो तो धैर्य धारण करो, क्योकि धैर्य के समान सफलता देनेवाला कोई साधन नही है। धैर्य निश्चय ही कर्मों का प्रचुर फल उत्पन्न करता है, असफलताओं से कुण्ठित नहीं होता और विघ्नों का नाश कर देता है (२.४३)।

यदि राज्य के अंगों मे परस्पर विग्रह उत्पन्न हो जाता है तो एक आन्तरिक संघर्ष शासक का नाश कर देता है, जिस प्रकार एक वृक्ष की शाखाओ के घर्षण से उत्पन्न हुई अग्नि पूरे पर्वतप्रदेश को जला डालती है (२.५१)।

सफलता एक युवती के समान है, जिसे असंख्य मनुष्य प्राप्त करने की कामना करते है किन्तु वह उसी व्यक्ति के बाहुपाश मे आती है जो अत्युत्साह से रहित, दृढतापूर्वक प्रयत्न करनेवाला तथा धैर्यवान् है (३.४०)।

सुन्दर स्त्री के मुख पर पड़े हुए स्वेदकण भी मोतियो के समान प्रतीत

होते हैं। स्वाभाविक मनोरम वस्तुओ मे कोई विकार भी सुन्दरता को कम नही करते अपितु बढ़ाते ही है (७.५)।

महात्मा व्यक्ति दूसरे की सुख समृद्धि के लिये अपना जीवन अर्पित कर देते हैं; आघात पहुँचानेवाले व्यक्तियो का भी वे उपकार ही करते हैं। यथार्थ सुख दूसरो को सुखी बनाने में है (७.१३,२८)।

उपकार करनेवाले व्यक्ति के स्वल्प दोष से उसके सत्कर्म के महत्व को कम नही समझना चाहिए (७.१५)।

यदि सज्जनो के साथ क्षणिक और आकस्मिक संगति भी मनुष्य का कल्याण कर सकती है तो उनकी निरन्तर मित्रता कितनी अधिक हितकारी होगी (७.२७)।

जिस प्रकार थके हुए मनुष्य सुगन्धयुक्त चन्दन-वृक्षों के आश्रय मे नही जाते जिनके मूल प्रदेश मे सर्प लिपटे रहते हैं उसी प्रकार मनुष्य को ऐसे सज्जन के निकट नही जाना चाहिए जिसके चारों ओर दुर्जन लोग घिरे रहते हैं.(७.२९) ।

एक स्त्री अपने प्रेमी द्वारा प्रदत्त पुष्पहार को धूलधूसरित और मलिन हो जाने पर भी नही फेंकती। किसी उपहार का महत्व उपहार की वस्तु मे नही होता अपितु उस प्रेम मे होता है जिसके चिह्नस्वरूप उपहार दिया जाता है (८.३७)।

जो व्यक्ति अपने प्रियपात्र से वियुक्त होकर एकान्त में सन्ताप पाता है उसके लिए चन्द्रमा की शीतल किरणें भी असत्य होती हैं क्योकि दुःख मे आनन्दवर्धक वस्तुएँ भी पीड़ा को ही बढाती हैं (९.३०)।

मदिरा और रहस्यगोपन मे वैर है; मदिरा मे छिपी हुई बात को भी प्रकट कर देने की शक्ति होती है—यह अच्छे-बुरे सभी गुणो को प्रकट कर देती (६.६८)।

सच्चा प्रेम सदैव सशंकित रहता है और जो शङ्का के आस्पद नही हैं वहाँ भी प्रेम को शङ्का ही दिखलाई पड़ती है (९.७०)।

युवावस्था की शोभा शरत्काल के मेघ के समान चचल है; इन्द्रियों के सुख इसी काल मे मनोहर प्रतीत होते हैं; अन्तिम अवस्था मे तो वे सन्ताप ही देते हैं (११.१२)।

जैसे ही मनुष्य जन्म लेता है उसका शत्रु, मृत्यु, उसके साथ लग जाता है; अनन्त विपत्तियाँ आरम्भ होती हैं; उसे अपने जन्मस्थान संसार को तो एक दिन छोड़ना ही पड़ता है। अतएव बुद्धिमान व्यक्ति इस जीवन से मुक्ति का आनन्द प्राप्त करने का पूरा प्रयत्न करते हैं (११.१३)।

अर्थ एवं काम सभी बुराइयों के मूल हैं। अत: इनमे अनुराग नही रखना चाहिए क्योकि ये दोनों तत्त्वज्ञान के ऐसे लुटेरे है जिनका कोई उपाय नही (११.२०)।

अभीष्ट के समागम से न्यूनता भी पूर्ण हो जाती है, दु:ख भी सुख के समान प्रतीत होता है। इष्ट के द्वारा की गई प्रतारणा भी लाभ-दायक होती है। अभीष्ट का संसर्ग सभी अवस्थाओं में सुख का कारण होता है। प्रिय की वियोगावस्था मे मनोरम वस्तुएँ भी कुरूप प्रतीत होती हैं, प्रिय प्राण भी हृदय मे काँटे के समान खटकते हैं। उस अवस्था मे कुटुम्ब-परिवार के रहते हुए भी वियोगी अपने को अकेला समझता है (११.२७,२८)।

शरीर के भीतर उत्पन्न होनेवाले शत्रुओं को जीतना कठिन होता है, तुम्हे अपनी दुराकाक्षाओ को जीतना चाहिए। जो व्यक्ति इन्हे जीत लेता है वह सम्पूर्ण ससार को जीत लेता है (११.३२)।

आज का सुखोपभोग दूसरे दिन के लिए केवल स्मरणीय रह जाता है अत: विषयोपभोगो को स्वप्न समझकर अपने को उनके अधीन मत करो (११.३४)।

जो कामादि शत्रुओ पर विश्वास करता है वह इन्हे महान प्रवञ्चक पाता है। मित्र के समान व्यवहार करते हुए ये उसके घोर शत्रु होते है; उसे सुख देकर भी ये महान अपकारक होते हैं। इनका परित्याग करके इन्हे दूर भगाना चाहे तब भी ये पिण्ड नही छोड़ते (११.३५)।

विवेकी मनुष्य का चित्त समुद्र के गम्भीर जल के समान मर्यादा के उल्लंघन के भय से बाह्यत: क्षुब्ध भले ही हो परन्तु सदैव निर्मल और शान्त रहता है (११.५४)।

दुष्टों की मित्रता नदी के तटप्रदेश की छाया के समान है जिसके सेवन से भयङ्कर अनर्थ होने की सम्भावना बनी रहती है (११.५५)।

भय से त्रस्त होकर भागते समय पशुओ की नैसर्गिक शत्रुता समाप्त हो जाती है। इसी प्रकार जब आकस्मिक विपत्तियाँ आती हैं तो परस्पर विरोध रखनेवालो की शत्रुता भी नष्ट हो जाती है (१२.४६)।

निम्नलिखित अश माघरचित शिशुपालवध के द्वितीय सर्ग से उद्धृत है (मैं प्राय: शाब्दिक अनुवाद देता हूँ):—

उपकार करनेवाले शत्रु के साथ सन्धि करनी चाहिए किन्तु अपकार करनेवाले मित्र के साथ नही। इस कारण इन दोनो के लक्षण

उपकार और अपकार को लक्षित करना चाहिए। (३७)[1]

जो व्यक्ति क्रोधयुक्त शत्रु के साथ विरोध कर उसकी ओर से उदासीन हो जाता है, वह घास की ढेरी मे जलती हुई आग डालकर हवा के सामने सोता है (४२)।

जो व्यक्ति जाति, क्रिया और गुण के द्वारा किसी अर्थ विशेष का सम्पादन नहीं करता उस व्यक्ति का जन्म यदृच्छा शब्द के समान नाममात्र के लिए होता है (४७)।

मन्द वायु के चलने पर भी निःसार तृण स्वयं झुक जाते है; उसी प्रकार तृणतुल्य क्षुद्र मनुष्य शत्रु के सम्मुख नत हो जाते हैं (५०)।

अपनी इच्छा के अनुसार असङ्गतवचन बहुत कहा जा सकता है किन्तु कार्य से युक्त सन्दर्भवचन श्रमसाध्य है (७३)।

राजा को बुद्धि तथा उत्साह दोनों बनाये रखना चाहिए, क्योंकि ये दोनों विजयाभिलाषी राजा के भविष्य मे आनेवाली आत्मसम्पत्ति के मूल (प्रधान कारण) हैं (७६)।

जो व्यक्ति युक्ति से युक्त, अत्यन्त स्थिर बुद्धि को शय्या बनाते है और उस पर सदैव आसीन रहते है वे कभी थकते नही (७७)।

तीक्ष्ण बुद्धिवाले व्यक्ति बाणो के समान बाहर थोड़ा स्पर्श करते है और भीतर बहुत दूर तक घुस जाते है। इसके विपरीत स्थूल बुद्धि व्यक्ति बाहर अधिक स्पर्श करनेवाले बड़े प्रस्तरखण्ड के समान बाहर ही रह जाते हैं (७८)।

मूर्ख व्यक्ति छोटा कार्य प्रारम्भ करते हैं किन्तु अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं। इसके विपरीत कुशल बुद्धिवाले व्यक्ति बड़े-बड़े कार्य प्रारम्भ करते हैं और निराकुल रहते है (७९)।

उपाय से ही कार्य करते हुए भी प्रमादी पुरुष के कार्य नष्ट हो जाते हैं, क्योकि सोनेवाला शिकारी उपशय में रहता हुआ भी मृगो को नही मार पाता (८०)।

बुद्धिरूपी शस्त्रवाला, प्रकृति रूपी अंगों वाला, अत्यन्त गुप्त मन रूपी कवच वाला, गुप्तचररूपी नेत्रोंवाला तथा दूतरूप मुखवाला कोई भी व्यक्ति राजा होता है (८२)।

क्षेमयुक्त तेज बलविषयों का उसी प्रकार भोग करता है, जिस प्रकार

[1] यह श्लोक हितोपदेश ४.१६ मे भी आया है।

तेल के भीतर स्थित वर्तिका द्वारा दीपक तेल को ग्रहण कर लेता है (८५)।

बुद्धिमान् केवल भाग्य का ही अवलम्बन नही करता अथवा केवल पुरुषार्थ पर ही निर्भर नही रहता, किन्तु जिस प्रकार श्रेष्ठ कवि शब्द तथा अर्थ दोनो की अपेक्षा रखता है उसी प्रकार विद्वान् भी भाग्य तथा पुरुषार्थ दोनो का अवलम्बन करता है (८६)।

बडे-बड़े सहायकोवाला अत्यन्त तुच्छ व्यक्ति भी कार्य को वैसे ही सिद्ध कर लेता है जिस प्रकार पहाड़ी नदियाँ महानदियो में मिलकर समुद्र तक पहुँच जाती हैं (१००)।

सन्तो की बुद्धि तीक्ष्ण होती है, किन्तु मर्मस्थल को पीड़ित करनेवाली नही होती; कर्म प्रतापयुक्त किन्तु शान्त होता है। मन कुल-शीलादि के अभिमान से उष्ण होता है किन्तु दूसरे को सन्तप्त नही करता; उसका वचन प्रवाहपूर्ण किन्तु एक होता है (१०९)।

नाटक

यदि हम यह ध्यान मे रखें कि पन्द्रहवी शताब्दी के पहले आधुनिक योरप के राष्ट्रो के पास नाटक साहित्य नही पाया जाता, तो विद्यमान हिन्दू नाटको की प्राचीनता, जिनमे से कुछ ईसा की प्रथम या द्वितीय शताब्दी के भी हैं, स्वतः ही एक उल्लेखनीय स्थिति के रूप में उपस्थित होती है। इन नाटकों की प्राचीनता के साथ इनके असन्दिग्ध साहित्यिक मूल्य का भी उल्लेख कर देना चाहिए, जो प्राच्य शैली के होते हुए भी वास्तविक काव्य के भण्डार हैं। हिन्दू समाज की प्राचीन दशा को प्रतिविम्बित करने तथा कतिपय वर्तमान विशिष्टताओ पर प्रकाश डालने के कारण भी वे महत्वपूर्ण हैं, क्योकि योरप के साथ बढ़ते हुए सम्बन्ध के बावजूद भी भारत अन्य पूर्वीय देशों के समान ही परम्परा के उन रूढ नियमों के बन्धन से स्वयं को मुक्त करने मे शिथिल है जिनकी मुहर इस देश के व्यवहारो तथा सामाजिक रीतियों के ऊपर पड़ी हुई है।

नि.सन्देह ग्रीसवासियो के नाट्याभिनयो के समान हिन्दुओ के किसी नाटक का अंकुर जनसमूह के समक्ष किये जानेवाले नृत्य के प्रदर्शन में मिल सकता है जो प्रथमतः गान या संगीत के साथ सामंजस्य रखकर किये जानेवाले सरल शारीरिक गतियो तक सीमित था। वस्तुतः, 'नट' धातु तथा 'नाट्य' एवं 'नाटक' संज्ञाएँ, जिनका प्रयोग नाटकीय अभिनय के लिए होता है, सम्भवतः 'नृत्' अर्थात् नाचना, 'नृत्य' अर्थात् नाच, तथा 'नर्तक' अर्थात् नाचने वाला के

विकृत रूप है। शनैः शनैः इस नृत्य की विभिन्न क्रियाओ या विविध रसो एवं भावों को अभिव्यक्त करने के लिये नृत्य की लास्य, ताण्डव[1] आदि अनेक शैलियाँ खोज निकाली गईं।

शीघ्र ही नृत्य का क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया कि अधिक बढ़े चढे संगीत-शास्त्रीय अभ्यासो के साथ किये गये मूक अभिनय के अङ्गसंचालनादि हावभाव भी इसके अन्तर्गत आ गये और इन हावभावों के साथ साथ गीत के विराम के वीच समय समय पर हार्दिक उद्गार भी व्यक्त किये जाने लगे। अन्ततः संगीत तथा गान का स्थान स्वाभाविक भाषा ने ले लिया और हावभाव नाटक के संवादों को वल देने के लिए सहायक मात्र वन गये।

जब हम वास्तविक नाटय रचनाओ पर आते हैं तो हमे यह मानना पड़ता है कि महाकाव्यीय कविता और प्रायः संस्कृत रचना के प्रत्येक विभाग के समान इसकी उत्पत्ति भी नितान्त प्राचीन काल मे लुप्त है। इस वात का प्रमाण उपलब्ध है कि तीसरी शताब्दी ई० पू० मे अशोक के शासन काल मे भी नाटको का अभिनय होता था। उस समय भारत और ग्रीस मे संवन्ध जरूर प्रारम्भ हो चुका था, किन्तु इससे यह बात नही दिखाई पड़ती कि हिन्दुओ ने अपने किसी भी नाटक का विषय या रूप ग्रीसवालो से उधार लिया (देखिए लासेन का इण्ड० अल्ट० २.५०७)

सेमेटिक राष्ट्रो की प्रवृत्ति रंगमंचीय अभिनय की ओर कभी नही रही। जॉब की पुस्तक एक प्रकार का नाटकीय संवाद है। सॉङ्ग आफ सोलोमन के कतिपय अशो के विषय मे भी यही बात कही जा सकती है और अल हरीरी के मकामात तथा एक हजार एक रातो की कथा मे भी स्थल-स्थल पर संवाद है। किन्तु न तो हिब्रू और न अरवों ने ही नाटक संवन्धी कल्पनाओं को इस सीमा से आगे बढाया है। इसके विपरीत आर्यों तथा चीनियो में नाटक का उद्भव स्वाभाविक रूप मे हुआ प्रतीत होता है। कम से कम ग्रीस तथा भारत में इसके स्वतन्त्र उद्भव के विषय मे सन्देह नही किया जा सकता. क्योंकि इन दोनों देशो ने स्वतन्त्र रूप से महाकाव्यीय कविता, व्याकारण, दर्शन तथा तर्कशास्त्र को भी जन्म दिया है चाहे यह भले ही संभव हो कि परवर्ती समयो में इन दोनो देशों मे विचारों का आदान प्रदान होने लगा था। वस्तुतः हिन्दू नाटक अन्य राष्ट्रो के अभिनयो से वहुत कुछ समानता रखते हुए भी अपना एक नितान्त विशिष्ट स्वरूप रखते हैं जो उन्हे अत्यन्त रोचक वना देता है।

[1] ताण्डव एक प्रचन्ड नृत्य है जिसे शिव की विशिष्ट खोज माना जाता है। लास्य पार्वती द्वारा आविष्कृत कहा जाता है और रासमण्डल कृष्ण का वृत्ताकार नृत्य है।

इसके साथ ही साथ यदि यह कहा जाय कि हमारे पास मौजूद प्रचीनतम हिन्दू नाटक, मृच्छकटिक, का रचयिता संभवतः प्रथम या द्वितीय शताब्दी ई० का कवि था तो इसमे पन्द्रह शताब्दी बाद के हमारे नाटकों के साथ समानताएँ पाकर एक अंग्रेज पाठक चकित हो जायगा। जिस कौशल के साथ कथावस्तु की योजना की गई है, जिस दक्षता से घटनाओं को जोड़ा गया है, जिस निपुणता से चरित्रों का चित्रण एवं विपर्यास दिखाया गया है, तथा शैली की जो नवीनता और हृदयावर्जकता है वह सभी हमारे महान नाटककारो के योग्य है। रंगमंचीय योजना, पात्रो लिए सूक्ष्म निर्देशन, तथा विविध दृश्य-कल्पनाओ मे भी समरूपता का अभाव नही है। जनान्तिक एवं स्वगतकथन, निष्क्रमण तथा प्रवेश, वक्ताओ के बोलने का ढंग एवं हावभाव, उनकी वाणी का स्वर, अश्रुपात, तथा हास्य उसी प्रकार नियमत· निर्दिष्ट हैं जैसे आधुनिक नाटक मे होते हैं।

मृच्छकटिक के अतिरिक्त बहुत से अन्य प्राचीन नाटक भी विद्यमान है तथा अनेक प्रसिद्ध नाटको का मुद्रण भी हो चुका है। इन हिन्दू नाटको का योरोपीय विचार धाराओं के अनुसार वर्गीकरण करना, या उन्हे दुःखान्त (ट्रजेडी) तथा सुखान्त (कामेडी) के सामान्य वर्गों मे रखना असम्भव है। वस्तुतः यदि ट्रेजेडी के लिए दु.खमय उपसंहार आवश्यक समझा जाय तो हिन्दू नाटक कदापि 'ट्रेजेडी' नही है;[1] बल्कि वे मिश्रित रूप वाले हैं जिनमे सुख तथा दुःख, शुभ तथा अशुभ, उचित तथा अनुचित, न्याय तथा अन्याय नाटक के अन्त तक एक साथ घुले-मिले दिखाई पड़ते हैं। अन्तिम अंक में सामञ्जस्य की स्थापना की जाती है, शान्ति-अशान्ति पर विजय प्राप्त करती है, और दर्शकों के चित्त, जो दुष्ट तत्त्वों की प्रबलता देखने के कारण अब क्षुब्ध नही रह जाते, शान्त होते हैं, कथा से मिलनेवाली नैतिक शिक्षा से निर्मल हो जाते हैं, अथवा अदृष्ट (दे० पृ० ६७) अवश्यम्भावी फलो को स्वीकार करने को प्रेरित होते हैं। इस प्रकार के नाटक की मान्यताएँ वस्तुतः ठीक वैसी ही हैं जैसी एक उस प्रकार के जनसमूह मे प्रचलित हो सकती हैं जो मानव जीवन की किसी भी घटना को दु खमय नही समझते अपितु सभी प्रकार के दु.खो एवं कष्टो को पूर्वजन्मो मे प्रत्येक जीवात्मा द्वारा किये गये कर्मों तथा उसकी स्वतन्त्र इच्छा के अपरिहार्य फल मात्र के रूप में स्वीकार करते हैं।

नाटकीय रचना के विषय को प्रतिष्ठा प्रदान करने के लिए सदैव की

---

[1] एक नियम मे कहा गया है कि नायक की मृत्यु का संकेत न किया जाय। यद्यपि इस नियम का पालन सर्वत्र नही किया गया है तथापि रंगमच पर किसी का वध नही दिखाया जाता।

भाँति (तुलना पृ० ३६३) एक महर्षि को नाट्यशास्त्र का रचयिता बताया गया है। उन्हें भरत कहा गया है और संगीतशास्त्र तथा सूत्रों एवं नियमोवाले अलङ्कार-शास्त्र का भी रचयिता माना गया है। नाटकीय रचनाओ के मूल प्रमाण के रूप मे उनके ग्रन्थ से निर्बाध उद्धरण दिया जाता है।[1] भरत के सूत्रो के पीछे अनेक ऐसे ग्रन्थो की रचना हुई, जिन्होंने नाटको की रचना एवं निर्देश के लिए सूक्ष्म शिक्षाएँ एवं नियम प्रस्तुत किये तथा नाटक की रचना को काव्यीय तथा अलङ्कारशास्त्रीय शैली के नितान्त परिष्कृत एवं कृत्रिम नियमो के बन्धन में बाँध दिया।

पृ० ४४४-४४५ पर उल्लिखित दशरूपक, काव्यप्रकाश, काव्यादर्श तथा साहित्यदर्पण आदि के अतिरिक्त अन्य ऐसे ग्रन्थो को भी गिनाया गया है जो नाटकीय रचना के साथ-साथ अलङ्कारो का भी विवेचन करते हैं। उदाहरणार्थ वामनरचित काव्यालङ्कारवृत्ति; भामह का अलङ्कारसर्वस्व; कवि कर्णपूरक का अलङ्कारकौस्तुभ, अप्पय (या अप्य) दीक्षित का कुवलयानन्द; जयदेवकृत चन्द्रालोक; सङ्गीत, गान तथा नृत्य पर शार्ङ्गदेवरचित सगीतरत्नाकर नामका ग्रन्थ, जिसे विलसन ने बारहवी तथा तेरहवी शताब्दी के बीच रचित माना हैं।

ये ग्रन्थ बड़े विस्तृत रूप मे संस्कृत नाटको का अनेक वर्गों मे विभाजन करते हैं तथा साहित्यदर्पण, जो एक लोकप्रिय प्रामाणिक ग्रन्थ है[2]—नाटको को दो प्रमुख भाँगो मे बाँटता है :—१. रूपक या प्रमुख नाटक, जिसके दस भेद हैं; २. उपरूपक या छोटे नाटक, जिसके अठारह प्रकार गिनाये गये है। हमारे ड्रामा, मेलोड्रामा, कामेडी, फार्स तथा वैले द्वारा निर्दिष्ट भेदो से भी अधिक सूक्ष्म आधार के अनुसार हिन्दू नाटक के प्रत्येक प्रकार के लिये नाम ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न इस बात का प्रमाण है कि योरोपीय देशो की अपेक्षा भारत में नाटकीय रचनाओ का अभ्यास अधिक यत्नपूर्वक होता रहा है। रूपक के दस भेद इस प्रकार है :—

१. नाटक—इसमें पाँच से दस अंक होने चाहिएं तथा एक प्रमुख कथा

---

[1] डा० फिटज-एडवर्ड हाल के पास ३६ अध्यायों मे इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि है जिनमे से १८,१९,२० तथा ३४ वें अध्याय उनके दशरूपक के अन्त मे छापे गये है। इस समय डा० हेमन सम्पूर्ण ग्रन्थ का सम्पादन कर रहे है।

[2] साहित्यदर्पण दस परिच्छेदो मे है तथा काव्य के स्वरूप एवं भेदों, शब्द की विभिन्न शक्तियो, शैली के भेदो, शैली के अलङ्कारो एवं दोषो का विवेचन करता है। मैंने इस स्थल पर स्वर्गीय डा० वैलेण्टाइन द्वारा अनूदित तथा बनारस से प्रकाशित इस ग्रन्थ के एक अश से सहायता ली है।

(जैसे राम का चरित्र) इसका वितयवस्तु होना चाहिए। इसमें पात्र वीर या देवतुल्य होने चाहिएँ तथा सत्कर्मों का प्रदर्शन होना चाहिए। शैली उच्च कोटि की होनी चाहिए और उत्तम रसों का प्राधान्य होना चाहिए। अपरञ्च इसमें कथावस्तु की पाँचों सन्धियाँ[1], चार प्रकार की वृत्तियाँ, चौसठ अंग या विशिष्टताएँ, तथा छत्तीस लक्षण होने चाहिएँ। नायक या प्रमुख पात्र धीरोदात्त स्वभाव का हो[2], वह उच्चवंश का राजर्षि हो (यथा शाकुन्तल में दुष्यन्त), या देवता (यथा कृष्ण) अथवा अर्धदैव (दिव्यादिव्य) हो जो (रामचन्द्र के समान) देवता होते हुए भी स्वयं को मनुष्य समझे (नराभिमानी, दे० पृ० ३५१ पर टि० १)। प्रमुख रस (दे० पृ० ४४४ टि०) या तो शृङ्गार हो या वीर, तथा अन्त (निर्वहण) में अद्भुत रस हो। इनकी रचना गोपुच्छाग्र के समान होनी चाहिए। अर्थात् प्रत्येक अंक क्रमशः छोटा होना चाहिए। यदि इसमें चार पताका स्थान तथा दस अंक हों तो यह महानाटक कहलाता है। नाटक का उदाहरण शकुन्तला है तथा महानाटक का बालरामायण (दे० आगे)। २. **प्रकरण**—अङ्कों की संख्या तथा अन्य दृष्टियों से नाटक के समान होना चाहिए, किन्तु वस्तु किसी लौकिक या मानव कथा पर आधृत, कवि कल्पित तथा शृंगाररस प्रधान हो। नायक या तो ब्राह्मण हो (यथा मृच्छकटिक मे), या मन्त्री (जैसे मालतीमाधव मे), या श्रेष्ठि (जैसे पुष्पभूषित मे)। उसे धीरप्रशान्त होना चाहिये और नायिका कभी उत्तमवंशीया और कभी वेश्या अथवा दोनो होती है। ३. **भाण**—मे एक अंक होता है किन्तु घटनाएँ अनेक प्रकार की होती हैं और उनका विकास क्रमशः नही हुआ रहता। वस्तु कविकल्पित होती है। इसमे केवल मुख तथा निर्वहण सन्धियाँ होनी चाहिए (दे० नीचे टिप्पणी)। इसका उदाहरण है, लीलामधुकर। ४. **व्यायोग**—एकाकी होता है। इसकी वस्तु एक सुप्रसिद्ध कथा होनी चाहिए और अल्प स्त्रीपात्र हो। इसका नायक धीरोद्धत वर्ग का कोई प्रसिद्ध पुरुष होना चाहिए। इसका प्रमुख रस (द्र० पृ० ४४४ टि०) हास्य, शृंगार

---

[1] पाँच सन्धियाँ ये हैं: १—मुख या प्रारम्भ; २—प्रतिमुख या वस्तु के बीज का प्रथम विकास; ३—गर्भ या बीज का वास्तविक विकास; ४—विमर्श या बीज के विकास मे अवरोध; एवं ५—निर्वहण या उपसंहृति अर्थात् निष्कर्ष।

[2] चार प्रकार के नायक होते हैं: १. उदात्त किन्तु धीर (धीरोदात्त); २. धीर किन्तु उद्धत (धीरोद्धत); ४, प्रसन्नचित्त तथा धीर (धीरललित); ४. धीर तथा शान्त (धीरप्रशान्त)।

तथा शान्त हो। ५. समवकार—चार अंको का होता है जिनमें विविध प्रकार के विपयों को मिलाया जाता है (समवकीर्यन्ते)। इसमे एक ख्यात कथा को नाटक का रूप दिया जाता है, जो देवताओ तथा असुरों से संबद्ध होती है। इसका उदाहरण है समुद्रमथन (भरत के शास्त्र ४ मे वर्णित)। ६. डिम—चार अंकों का तथा प्रसिद्ध कथा पर आधृत होता है। इसका प्रमुख रस रौद्र होना चाहिए तथा सोलह नायक होने चाहिएँ (देवता, यक्ष, राक्षस, सर्प, दैत्य इत्यादि)। इसका उदाहरण है त्रिपुरदाह (जो भरत के शास्त्र ४ मे वर्णित है)। ७. ईहामृग—चार अकों का तथा मिश्रवृत्त पर आधृत होता है जो अशतः ख्यात और अंशतः कविकल्पित होता है। नायक तथा प्रतिनायक मनुष्य या देवता होते है। कुछ आचार्यो के अनुसार इसमे छ. नायक होने चाहिएँ। इसका नाम ईहामृग इसलिये पड़ा है कि इसमे नायक एक ऐसी स्वर्गीय स्त्री को प्राप्त करना चाहता है (ईहते) जो हिरण (मृग) के समान अप्राप्य होती है। ८. अक या उत्सृष्टिकाङ्क एक अंक का होता है। इसमे सामान्य व्यक्ति (प्राकृतनराः) नायक होते हैं। प्रमुख रस करुण होता है। इसका रूप (सृष्टि) प्रचलित नियमों का अतिक्रमण करता है (उत्क्रान्त)। इसका उदाहरण है शर्मिष्ठाययाति। ९. वीथि—एक अंक का होता हैं और इसका नाम वीथि इसलिये पड़ा है कि इसमे विविध रसो की माला (वीथि) जैसी बनी होती है, तथा इसमे तेरह अग होते हैं। इसका उदाहरण है मालविका। १०. प्रहसन—एक अंक का तथा फार्स (Farce) की तरह का होता है। इसमे निन्द्य चरित्र प्रस्तुत किये जाते है; वस्तु कविकल्पित होती है; प्रमुख रस हास्य होता है। यह 'शुद्ध' हो सकता है जिसका उदाहरण है कन्दर्पकेलि; या धूर्तचरित के समान 'संकीर्ण' हो सकता है अथवा इसमे चरित्रो को विभिन्न छद्मवेशो में विकृत करके उपस्थित किया जाता है।

अठारह उपरूपको का इतना विस्तृत विवेचन करने की आवश्यकता नही। उनके नाम इस प्रकार हैं :—

१. नाटिका, जो दो प्रकार की होती है—शुद्धा और प्रकरणिका, और नाटक तथा प्रकरण से थोड़ा भेद रखती है। रत्नावली नाटिका का उदाहरण है। २. त्रोटक—पाँच, सात, आठ या नौ अंको का होता है; वस्तु कोई अर्धदेव वृत्त होता है तथा विदूषक प्रत्येक अंक मे आता है। इसका उदाहरण है विक्रमोर्वशीय। ३ गोष्ठी; ४. सट्टक; ५. नाट्यरासक; ६. प्रस्थान; ७. उल्लाप्य; ८. काव्य; ९. प्रेङ्खन; १०. रासक; ११. संलापक; १२.

श्रीगदित—एक अंक मे तथा श्री देवी विषयक होता है; १३. शिल्पक; १४. विलासिका; १५. दुर्मल्लिका; १६. प्रकरणी; १७. हल्लीश जिसमे सगीत एवं गान का प्राधान्य होता है; १८. भाणिका।

जैसा मैंने अन्यत्र कहा है (देखिए शकुन्तला के अनुवाद की भूमिका) यह सम्भव है कि ग्रीस की ही भाँति भारत मे भी दृश्य मनोरञ्जन धार्मिक उत्सवो एवं विशेषत: फाल्गुन मे पड़नेवाले वसन्तोत्सव (जो वर्तमान काल के होली से मिलता है) पर होते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि शकुन्तला का अभिनय ग्रीष्मऋतु के प्रारम्भ मे हुआ था जो समय भारतीय प्रेमदेवता का इष्ट समय होता है। यह बताया गया है कि इसका अभिनय ऐसे दर्शको के समक्ष हुआ था जिनमे मुख्य रूप से ज्ञानी एवं कलापारखी व्यक्ति थे। चूँकि प्रत्येक नाटक का अधिकाश संस्कृत में लिखा गया था, जो निश्चय ही नाटको के अभिनय के समय देश मे बोली जानेवाली भाषा नही थी इसलिए ऐसे दर्शक नही उपस्थित रहे होगे जो विद्वत्समाज के न हो (इस ग्रन्थ की भूमिका पृ० २९ देखिए)। यह स्थिति हिन्दू समाज की व्यवस्था के अनुकूल ही है, जिसके द्वारा साहित्य की रचनाएँ तथा राज्य के पद सम्मानित वर्णों के लिये ही सुरक्षित रहते थे। आगे साधारण हिन्दू नाटक की रचना का सक्षिप्त वर्णन दिया जाता है :—

प्रत्येक नाटक एक प्रस्तावना से, या अधिक ठीक कहा जाय तो, एक भूमिका से प्रारम्भ होता है जिसका लक्ष्य नाटक के पात्रो का प्रवेश करने के लिए मार्ग बनाना है। प्रस्तावना नान्दी या प्रार्थना[1] से प्रारम्भ होता है (जिसका उच्चारण एक ब्राह्मण अथवा (यदि सूत्रधार ब्राह्मण होता है तो) सूत्रधार करता है। इसमे कवि अपने इष्टदेव की आराधना दर्शको की मगलकामना के लिए करता है। आशीर्वचन के बाद प्रायः सूत्रधार तथा एक या दो पात्रो के बीच संवाद होता है जिसमे नाटक के रचयिता का विवरण दिया जाता है, दर्शको की आलोचना शक्ति की प्रशंसा की जाती है, और प्राचीन काल की घटनाओं अथवा वर्तमान स्थितियो के ऐसे निर्देश किये जाते है जिनसे कथावस्तु का प्रकाशन आवश्यक हो जाता है। प्रस्तावना के अन्त मे सूत्रधार सहसा हार्दिक उद्गार व्यक्त कर चतुरता से नाटक के एक पात्र को रंगमंच पर लाता है और वास्तविक अभिनय प्रारम्भ होता है। इस प्रकार प्रारम्भ होकर नाटक

[1] यह तथ्य कि सस्कृत साहित्य का कोई भी ग्रंथ बिना किसी देवता की प्रार्थना के नही प्रारम्भ होता, प्रोफेसर, बनर्जी के कथनानुसार हिन्दू जाति को अनुप्राणित करनेवाली धार्मिक पवित्रता की विश्वजनीन भावना का प्रमाण है।

आगे दृश्यों एवं अङ्कों मे बढ़ता जाता है। प्रत्येक दृश्य मे एक पात्र आता है और दूसरा पात्र निकल जाता है। नाटक के पात्रो के तीन भेद किये गये हैं: नीच पात्र—जो अनुदात्त स्वर मे (अनुदात्तोक्त्या) प्राकृत बोलते हैं; मध्यम पात्र, तथा प्रधान पात्र। अन्तिम दो प्रकार के पात्र उदात्त के साथ (उदात्तोक्त्या) संस्कृत बोलते है। एक सम्पूर्ण नाटक के समान अंक के प्रारम्भ मे भी एक प्रास्तावना सदृश स्वकथन या एक या अधिक पात्रो का संवाद आता है और इसे निष्कम्भ या प्रवेशक कहते हैं। इस दृश्य मे उन घटनाओ का सकेत किया जाता है जो अङ्कों के व्यवच्छेद के बीच घटित हुई रहती है। इस प्रकार दर्शक कहानी का सूत्र ग्रहण करने के लिये तैयार किये जाते हैं जो बड़े कौशल से अन्तिम दृश्य तक बनाये रखा जाता है। प्रारम्भ के समान नाटक राष्ट्रीय समृद्धि के लिये इष्ट देवता की प्रार्थना के साथ समाप्त होता है जिसका उच्चारण नाटक का कोई प्रमुख पात्र करता है।

यद्यपि कथावस्तु के निर्देशन तथा चरित्रचित्रण मे हिन्दू नाटककार पर्याप्त दक्षता प्रदर्शित करते हैं, तथापि स्वयं कथावस्तु मे या उस कहानी मे जिसपर नाटक आधृत होता है, वे कदाचित् ही सृजनात्मक फलोत्पादकता का प्रदर्शन करते हैं। राम के कृत्यो की कथाएँ तथा हिन्दू पुराकथाशास्त्र की अन्य अत्यन्त प्रचलित कहानियों का पिष्टपेषण किया गया है। हिन्दू विचारों के अनुसार या प्रेम ही अधिकाश हिन्दू नाटको का विषय है। नायक एवं नायिका एक दूसरे के प्रति प्रथम दृष्टि मे प्रेमबाणो से विद्ध हो जाते हैं और वह भी बड़े रोचक ढंग से। मानसिक शान्ति के लिए विदूषक के चरित्र के रूप मे, जो नायक का सदैव सहचर होता है, तथा युवतियो के चरित्र के रूप मे जो नायिका की विश्वस्त सखियाँ होती है और शीघ्र उसके गोपनीय प्रेम को जान जाती है, जीवन के एक तत्त्व का अभिनिवेश किया जाता है। विचित्र नियम तो यह है कि विदूषक सदैव ब्राह्मण होता है, तथापि उसका कार्य, रूप, अवस्था, तथा वस्त्र से हास्यास्पद बनकर प्रसन्नता उत्पन्न करना होता है। उसे श्वेतकेशवाला, कुबड़ा, लंगड़ा तथा कुरूप उपस्थित करना चाहिए। वह मूर्ख (बफून) के प्रकार का होता है और स्वय सबके हास्य का विषय होने से उसे बोलने की पूरी स्वतन्त्रता होती है। बुद्धिमत्तापूर्ण वचन कहने का प्रयत्न तो कदाचित ही सफल होता है तथा भोजन के आनन्दो के विषय मे उसके उल्लेख, जिसका वह भक्त होता है, अपने प्रणय व्यापार में कठिनाइयो के कारण निराश नायक की गम्भीरता के साथ भोडा विपर्यास प्रदर्शित करते हैं। दूसरी ओर, नायिका की विश्वस्त सखियो की चतुराई कभी भी अत्यन्त गम्भीर स्थितियो में भी असफल नही होती, जब कि उनके मीठे उपहास, व्यंग्योक्तियाँ, हास्यप्रेम,

प्रणयव्यापार के विकास के प्रति उनकी युवतीजन सुलभ सहानुभूति, तथा अपनी सखी के प्रति उनका उत्कट अनुराग कथावस्तु की रोचकता का उत्कर्ष करते हैं और उसकी एकरसता को दूर करते हैं।

अब मैं कतिपय सुप्रसिद्ध नाटकों के विषय मे कुछ वर्णन प्रस्तुत करूंगा, जिनमे कुछ का उल्लेख किया जा चुका है। सर्वप्रथम हम प्राचीनतम विद्यमान संस्कृत नाटक, मृच्छकटिक, को लेते है—

इसे (संभवत: केवल चाटुकारितावश) एक राजा, शूद्रक, का लिखा हुआ बताया गया है, जिनका राज्यकाल प्रथम या द्वितीय शताब्दी ई० पू० बताया जाता है। इसके वास्तविक लेखक के विषय मे कुछ भी ज्ञात नही और इसका वास्तविक समय भी अनिश्चित है। प्रोफेसर बेबर के अनुसार इतना तो कहा ही जा सकता है कि इसकी रचना ऐसे समय मे हुई थी जब बौद्धधर्म पूरी तरह फूलाफला था। कुछ लोग श्रमण या बौद्ध भिक्षु के विहारो के प्रधान नियुक्त होने के वर्णन से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि ईसा के बाद एक सौ वर्ष का समय इतना प्राचीन है कि बौद्धधर्म को भारत मे इस स्तर तक पहुँची हुई दशा को प्रस्तुत करने के लिये संभव नही माना जा सकता। किसी भी स्थिति मे इस नाटक का समय प्रथम शताब्दी ई० से पहले नही रखा जा सकता।[1] नाटक दस अङ्को मे है और यद्यपि इतना लम्बा और विस्तृत है कि योरप की रंगमञ्चीय मान्यताओं के अनुकूल नही पड़ सकता, तथापि इसमें पर्याप्त नाटकीय गुण विद्यमान है; कथावस्तु का विकास कुशलता से किया गया है तथा उत्तेजक घटनाओ की तीव्र गति, उनका तारतम्य, रोचकता तथा प्रतिदिन के जीवन के विविध दृश्यो द्वारा रोचकता पूर्णत: बनाये रखी गयी है। वस्तुतः गृह्यव्यवहारों के इसके चित्र तथा साधारण पुरुषों एवं स्त्रियो के स्वाभाविक सम्बन्धो के वर्णन, जिनके पीछे सामाजिक बुराइयो की शृंखला जुड़ी होती है, इस नाटक को अन्य संस्कृत नाटको की अपेक्षा अधिक रोचक बनाते हैं, क्योंकि ये अन्य नाटक नियमत. अधिक अतिमानवीय तत्त्वो का समावेश करते हैं एवं पाश्चात्य विचारो के साथ मेल न खानेवाले अतिश्रमकृत काव्यीय कल्पनाओं से भरे पड़े है।

मृच्छकटिक का प्रधानपात्र या नायक एक गुणी ब्राह्मण, चारुदत्त, है जो अपनी अत्यधिक दानशीलता के कारण निर्धन हो गया है। नायिका एक सुन्दर एवं सम्पन्न स्त्री, वसन्तसेना, है जो यद्यपि नैतिकता की कठोरतम मान्यताओ के अनुसार चरित्र से निर्दोष नही है तथापि उच्च विचारवाली उदार स्त्री की

---

[1] प्रोफेसर लासेन ने १५० ई० समय माना है।

हिन्दू कल्पना के सर्वथा अनुकूल कही जा सकती है। अपरञ्च, उसका नैसर्गिक भद्र व्यवहार चारुदत्त से प्रथम परिचय के समय से और भी पुष्ट हो जाता है। उसका प्रेम उसके प्रति लग जाता है और वह राजा के संस्थानक को ठुकरा देती है जो एक दुष्ट और दुराचारी है और जिसका चरित्र चारुदत्त के चरित्र के विपर्यास मे भलीभाँति चित्रित किया गया है। एक उदारता का नमूना है और दूसरा अनैतिकता के निकृष्ट पहलुओ के मूर्त रूप मे वडे गौरव के साथ सामने आता है। इन दोनो का सजीव चित्रण किया गया है किन्तु दूसरा वर्णन प्राचीन काल में प्राच्यदेशीय न्यायालयो के भ्रष्टाचार के प्रमाण रूप मे अधिक उल्लेखनीय है, जब कि प्राय· पशु से भी गयागुजरा व्यक्ति भी ऊँचे पदपर आसीन होने के कारण अपनी निकृष्ट इच्छाओ की स्वार्थपूर्ण सन्तुष्टि करके बेदाग बच जाता था।[1]

दूसरे अक के प्रारम्भ मे एक धूतकर माथुर नाम के द्यूताध्यक्ष तथा एक दूसरे द्यूतकर से बचकर भागता हुआ दिखाया गया है। मैं यहाँ इस दृश्य का अनुवाद देता हूँ[2] :—

प्रथम द्यूतकर—द्यूताध्यक्ष और अन्य द्यूतकर मेरे पीछे लगे हैं। मैं कैसे बचूँ। यहाँ एक शून्य मदिर है; मैं पैर पीछे करके इसमे प्रवेश करूँगा और मूर्ति बनकर बैठूँगा।

माथुर—अरे! उस चोर को पकड़ो! एक द्यूतकर जुए मे दस सुवर्ण हार गया है और उसे बिना दिये भाग रहा है। उसे पकड़ो! पकड़ो!

द्वितीय द्यूतकर—वह यहाँ तक दौड़ा है, किन्तु यहाँ पदचिह्न नष्ट हो गये हैं।

माथुर—अच्छा! मैं जान गया, पदचिह्न उल्टे कर दिये गये हैं, वह धूर्त बिना प्रतिमावाले इस मन्दिर में उल्टे पैर चलकर घुस गया है।

---

[1] इस प्रकार का व्यक्ति पूर्व के राजाओ की सभा मे सामान्यतः होता था यह बात इस तथ्य से प्रमाणित होती है कि वह 'शकार' नाम से भारतीय नाटकों के पात्रों मे एक प्रधान चरित्र रहता आया है। वह राजा का नीच वर्ण की पत्नी के सम्बन्ध से राजा का साला होता है और रंगमञ्चीय नियमों के अनुसार उसे मूर्ख, उद्दण्ड, दुष्ट, स्वार्थी, दम्भी और निर्दय रूप मे उपस्थित किया जाता है।

[2] मैंने स्टेन्जलर के उत्तम अनुवाद का उपयोग और प्रोफेसर एच० एच० विलसन के स्वतन्त्र अनुवाद का भी अवलोकन किया है। मैं दूसरी व्याख्यानमाला मे इस नाटक का साराश दे सकने की आशा करता हूँ।

(वे प्रवेश करते हैं एवं अपने खोज की वस्तु को भाँप लेते हैं जो एक शैलखण्ड पर स्थित है, और वे परस्पर संकेत करते है ।

द्वितीय द्यूतकर—क्या यह काष्ठप्रतिमा है ? मुझे आश्चर्य होता है ?

माथुर—नही, नही, यह शैलप्रतिमा होगी । (ऐसा कहकर वे उसे हिलाते एवं खोदते हैं) । जो कुछ भी हो, हम यही बैठे और जुआ खेलना प्रारम्भ करें । (वे जुआ खेलना प्रारम्भ करते हैं) ।

प्रथम द्यूतकर (जो अब भी प्रतिमा बनकर बैठा है और बड़ी कठिनाई से अपनी द्यूतक्रीडा की इच्छा को दबा रहा है—स्वगत)—विना कौड़ीवाले व्यक्ति को जुए की गोटियो का शब्द उसी प्रकार आकृष्ट करता है, जिस प्रकार राज्यभ्रष्ट राजा को दुन्दुभि का शब्द । निःसन्देह, यह शब्द कोयल के गीत के समान मधुर है ।

द्वितीय द्यूतकर—मेरा दाँव है । मेरा दाँव है ।

माथुर—नही नही, मैं कहता हूँ मेरा दाँव है ।

प्रथम द्यूतकर—(अपने को भूलकर और मूर्तिशिला से कूदकर) नही, मैं कहता हूँ मेरा दाँव है ।

द्वितीय द्यूतकर—हमने उसे पकड लिया ।

माथुर—अरे दुष्ट अन्त मे तू हाथ आ ही गया, ला दे दे सुवर्ण ।

प्रथम द्यूतकर—मैं समय से दे दूँगा ।

माथुर—अभी, इसी समय लाकर दे (वे उसे पीटते हैं) ।

प्रथम द्यूनकर—(दूसरे द्यूतकर के निकट आकर) मैं तुम्हे आधा दे दूँगा यदि तुम शेष माफ कर दो ।

द्वितीय द्यूतकार—अच्छा, मान गया ।

प्रथम द्यूतकर—(माथुर के निकट जाकर) यदि आप आधा छोड़ दे तो मैं आधे का वचन देता हूँ ।

माथुर—मान लिया ।

प्रथम द्यूतकर—आप दोनो को नमस्कार, मैं चला ।

माथुर—अरे, रुको, कहाँ भागे जा रहे हो ? सुवर्ण लाकर दो ।

प्रथम द्यूतकर—देखिए महानुभावों, एक ने तो आधे का वचन ले लिया और दूसरे ने आधा छोड़ दिया है, क्या यह साफ नही है कि मुझे अब कुछ नही देना है ।

माथुर—नही नही । अरे धूर्त ! मेरा नाम माथुर है । मैं वैसा मूर्ख नही जैसा तू समझता है । यह मत समझ की मुझे धोखा देकर दस सुवर्ण लेकर भाग जायगा । अभी उन्हें रख दे ।

उसके बाद वे दोनों उस अभागे द्यूतकर को मारने-पीटने लगते हैं जिसकी पुकार सुनकर उधर से जाता हुआ एक दूसरा द्यूतकर उसे बचाने दौडा आता है। बहुत से लोग आपस मे झगडने लगते हैं और इस बीच प्रथम द्यूतकर भाग निकलता है। भागते-भागते वह वसन्तसेना के निवास-स्थान पर आता है और द्वारा खुला देखकर भीतर घुस जाता है। वसन्तसेना पूछती है कि वह कौन है और क्या चाहता है। वह अपनी कथा कहता है और बताता है कि कभी वह चारुदत्त की सेवा मे था, जिसने उसे निर्धन होने से सेवामुक्त कर दिया है। अतएव उसे द्यूतक्रीडा द्वारा जीविकोपार्जन करना पड़ता है। चारुदत्त के नामोल्लेख से वसन्तसेना तत्काल सहायता करती है और पीछा करनेवालो के उसके निवास-स्थान पर पहुँच जाने पर वह उनके लिए एक रत्न जटित हार देती है जिससे वे सन्तुष्ट होकर लौट जाते है। द्यूतकर कृतज्ञता प्रकट करता है और वसन्तसेना की सेवा कर सकने की आशा प्रकट करता है। वह अपनी निन्दिन वृत्ति को त्यागने की प्रतिज्ञा कर बौद्ध भिक्षु बन जाता है।

बौद्ध भिक्षु बन जाने का बाद वह निम्न स्वकथन का उच्चारण करता है। मैं इसका स्वतन्त्र अनुवाद करता हूँ—

मूढ़ो सुनो, मेरा यही कथन है कि धर्म को अपनी एकमात्र सम्पत्ति बनाओ; अल्प धन से सन्तोष रखो; लोभ और बहु-भोजन से सावधान रहो।

निद्रा का त्याग करो, अध्यवसाय करो, समाधि में लीन रहो, अपनी क्षुधा को नियन्त्रित करो। ये चोर तुम्हारे सद्गुणों को न चुरा ले। पुण्यो को सदैव एकत्रित करते जाओ और नियत्व का ध्यान रखो। मेरे समान नियमपूर्वक जीवन व्यतीत करो और केवल सद्गुणो के आलय बने रहो। अपनी पाच इन्द्रियो का नाश करो, तब स्त्रियो एवं अधम पुरुषों का दमन करो। जिस व्यक्ति ने सात दोषो का नाश कर लिया है वह अपने को बचा लेता है और स्वर्ग प्राप्त करता है। सिर मुड़ा कर यह प्रदर्शित करने का विचार न करो कि तुम्हारी इच्छाएँ भर गयी हैं; जो अपने सिर को मुड़ाता है किन्तु मन को निर्मल नही करता वह अंशतः यति होता है; किन्तु जिसका मन पूर्णतः साफ हो गया है उसके सर के केश मुड़े ही है।

अन्त मे चारुदत्त और वसन्तसेना का आनन्दमय विवाह होता है किन्तु इसके पूर्व बौद्ध श्रमण दोनो का जीवन बचाता है।

मैं भारतीय नाटककारो मे सर्वश्रेष्ठ नाटककार, कालिदास, पर आता हूँ। उन्हें कुछ देशीय विद्वानों ने (यद्यपि अपर्याप्त आधारों पर) प्रसिद्ध राजा

विक्रमादित्य के समय का माना है जिनका राज्यकाल ५७ वर्ष ई० पू० से प्रारम्भ होनेवाले संवत् नाम के हिन्दू युग का आरम्भ विन्दु हैं। इस राजा की राजधानी उज्जयिनी (उज्जैन) थी। वह साहित्य का महान आश्रयदाता था और कालिदास को उसकी सभा के नवरत्न नामक नौ प्रमुख व्यक्तियो मे एक बताया गया है। तथापि यह अधिक सभव है कि कालिदास तृतीय शताब्दी के आरम्भ के आस-पास हुये थे और इसी समय उन्होने अपने काव्यों की रचना की[1]। उनके सुविदित काव्यो का विवेचन पृ० ४४०–४४२ पर किया जा चुका है[2]। उन्होने केवल तीन नाटको की रचना की, शकुन्तला, विक्रमोर्वशीय तथा मालविकाग्निमित्र। इनमे शकुन्तला, जो सात अङ्को में है, निश्चय ही सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय है। इस सुन्दर नाटक के अनुवाद का चतुर्थ संस्करण, डब्ल्यू० एच० एलेन एण्ड कं० द्वारा प्रकाशित है।[3] मैने इस रचना के

---

[1] प्रोफेसर लासेन कालिदास को २५० ई० मे रखते हैं। डा० भाऊ दाजी उन्हे छठी शताब्दी मे विक्रमादित्य के राज्यकाल मे मानते हैं। कालिदास संभवत: उज्जयिनी मे निवास करते थे, कारण उन्होने उज्जयिनी का वर्णन मेघदूत मे बड़े मनोयोग के साथ किया है और इसलिये उनका कल्पित संबंध विक्रमादित्य से जोड़ा जा सकता है।

[2] इनके अतिरिक्त उनका 'सेतुकाव्य' या 'सेतुबन्ध' नाम का भी एक काव्य बताया जाता है जो राम के सेतु बनाने का वर्णन करता है और काश्मीर के राजा प्रवरसेन के लिये लिखा गया है। श्रुतबोध नाम का छन्द विषयक ग्रंथ भी उन्ही का बताया जाता है। अन्तिम ग्रंथ किसी दूसरे कालिदास का हो सकता है। इसमे सन्देह नही कि इस सर्वश्रेष्ठ भारतीय कवि के महान् दार्शनिक शङ्कराचार्य के समान ही अनेक ग्रंथ ऐसे बताये गये है जिनकी रचना इन दोनो में से किसी ने नही की है।

[3] जैसा कि प्रत्येक प्राच्य विद्याविद को विदित है, सर डब्ल्यू० जोन्स ने सर्वप्रथम शकुन्तला का अनुवाद किया था किन्तु उन्होने केवल बंगाल के (बंगाली) संस्करण का ही अवलोकन किया था। उसके अतिरिक्त दो अन्य पाठ भी है, एक उत्तरपूर्व मे प्रचलित (जिसे सामान्यत: देवनागरी कहते है) और दूसरा भारत के दक्षिण मे प्रचलित। अन्तिम संस्करण सबसे छोटा है और बंगाली संस्करण सबसे बड़ा। देवनागरी संस्करण, जिसका मैंने अंग्रेजी मे अनुवाद किया है, सर्वाधिक शुद्ध माना जाता है। तथापि डॉ० आर० पिशेल ने अपने एक विद्वत्तापूर्ण लेख मे यह प्रदर्शित किया है कि बंगाली संस्करण ही सबसे शुद्ध है और यह मानना पड़ेगा कि कुछ दृष्टियो से बंगला संस्करण में ऐसे अनेक

कतिपय गुणो का बोध कराने का प्रयत्न किया है जिसने गेटे जैसे कवि को भी इन शब्दो में असंगत प्रशंसा कर डालने के लिये प्रेरित किया (श्री. ई०-बी० इष्टविक का अनुवाद) :—

Wouldst thou the young year's blossoms and the friuts of its decline.

And all by which the soul is charmed, enraptured, feasted, fed ?

Wouldst thou the earth and heaven itself in one sole name combine ?

I name thee, O Shakoontala ! and all at once is said.

(यदि तुम नव वर्ष के पुष्पो एवं वर्ष के अवसान के समय के फलो को, और उन सबको पाना चाहते हो जिससे मन लुब्ध होता है—आनन्दविभोर, एवं तृप्त होता है; यदि तुम पृथ्वी और स्वयं स्वर्ग को केवल एक नाम में मिला देखना चाहते हो तो ओ शकुन्तला, मैं तेरा नाम लेता हूँ और फिर कुछ कहने को शेष नही रह जाता) ।

मैं शकुन्तला के अपने ही अनुवाद से दो अंश उद्धृत करता हूँ । निम्नलिखित दुष्यन्त की उस विचित्र अनुभूति का वर्णन है जिसके वह अधीन है और जो पश्चिमी देशो के भावुक व्यक्तियो के मन के लिये भी अनोखा नही है (अंक ५ अनुवाद पृ० १२१) :—

> प्राय. हमारे सुख के दिनों मे जब विचार शान्त होता है, कोई सुन्दर वस्तु संमुख होती है, या मन्द संगीत का करुणापूर्ण स्वर विचित्र कल्पनाओं को उत्पन्न करता है, तब वह सम्पूर्ण आत्मा को अज्ञात खिन्नता से भर देता है और अस्पष्ट किन्तु उत्कट अभिलाषा का बोध होता है । क्या इसका कारण यह हो सकता है कि बहुत प्राचीन काल की घटनाओ की या दूसरे जन्म मे किये गये प्रेमसंबन्धो की क्षीण स्मृति मन पर उड़ती हुई छाया के समान आ जाती है ?

पाठ है जो मौलिक प्रतीत होते हैं । प्रोफेसर बॉटलिंक का देवनागरी संस्करण का संपादन सर्वविदित है । उसी पाठ के कठिन अंशो का शाब्दिक अनुवाद तथा अलोचनात्मक टिप्पणियो सहित मेरा संस्करण (हर्टफोर्ड के स्टिफेन आस्टिन द्वारा प्रकाशित) अब अप्राप्य है । डा० सी० बर्खर्ड ने एक उपयोगी शब्दकोश के साथ इसका नया संस्करण हाल ही मे निकाला है । बंगला पाठ का एक सुन्दर संस्करण कलकत्ता मे पण्डित प्रेम चन्द्र तर्कवागीश ने तैयार किया था और यह प्रोफेसर ई० बी० कोवेल की देखरेख मे १८६० मे प्रकाशित हुआ था।

यहाँ काव्यीय उपमाओ का उदाहरण दिया जाता है जो समूचे नाटक मे मिलती हैं (अंक ५. अनुवाद पृ० १२९) :

ऊँचे-ऊँचे वृक्ष फलों के भार से विनम्र होकर पृथ्वी पर झुक जाते हैं। वसन्त ऋतु में ऊँचे उड़नेवाले मेघ जलपूर्ण होकर नीचे झुक जाते हैं और पृथ्वी पर अपना भण्डार बिखेर देते है, और यही सच्ची परोपकारिता है; सज्जन कभी भी धन का गर्व नही करते।

कालिदास के अन्य दो नाटक है विक्रमोर्वशीय अर्थात् जिसमे विक्रम से उर्वशी जीती जाती है, तथा 'मालविकाग्निमित्र' अर्थात् मालविका और अग्निमित्र की कथा। इनमे से प्रथम की तुलना मे शकुन्तला के अतिरिक्त कोई अन्य नाटक नही आ सकता। विक्रमोर्वशीय केवल पाँच अंकों में है और इसकी कथा बड़ी सरलता से कही गयी है[१] :—

स्वर्ग की अप्सरा उर्वशी को—जो इस नाटक की नायिका है—एक राक्षस चुरा ले जाता है। नायक पुरूरवस् उसकी रक्षा करता है और उससे प्रेम करने लगता है। सदैव आनेवाली बाधा आती है, और वह यह कि उस राजा की एक पत्नी पहले से ही विद्यमान है। किन्तु अन्त में इन्द्र देवता उस अप्सरा को मनुष्य पुरूरवस् से विवाह करने की आज्ञा देते है। इसके बाद एक शाप के फलस्वरूप उर्वशी एक पौधा बन जाती है और पुरूरवस् विक्षिप्त हो जाता है। बाद मे वह एक जादू की मणि के प्रभाव से अपने वास्तविक रूप में आती है, और उसके पति को पुनः बुद्धि प्राप्त होती है। वे सुखपूर्वक पुन॰ मिलते हैं किन्तु यह आकाशवाणी होती है कि जब उर्वशी के पुत्र को उसका पति देख लेगा तो उर्वशी पुन. स्वर्गलोक चली जायगी। इससे वह अपने पुत्र, आयु, के जन्म को गुप्त रखती है और कुछ वर्षों के लिये उसे एक तपस्विनी के लालन-पालन में कर देती है। सयोगवश पिता और पुत्र मिलते हैं, उर्वशी अपने पति को छोड़कर जाने की तैयारी करती है किन्तु इन्द्र दयापूर्वक भविष्यवाणी के प्रभाव को दूर करते हैं और वह अप्सरा पृथ्वी पर नायक की द्वितीय भार्या के रूप में निवास करती है।

जहाँ तक मालविकाग्निमित्र का प्रश्न है यह भी पाँच अंकों का एक छोटा नाटक है। बर्लिन के प्रोफेसर वेबर द्वारा किया गया एवं १८५६ मे प्रकाशित

---

[१] इस नाटक के अनेक सस्करण प्रकाशित हुए हैं, एक लेन्ज का है और एक मैंने ही निकाला है। निःसन्देह सबसे उत्तम संस्करण डॉ० बोलेन्सेन का है। प्रोफेसर एच० एच० विलसन के प्रवाहपूर्ण पद्यमय अनुवाद से सभी परिचित हैं। इसका गद्य में अनुवाद प्रोफेसर ई० कोवेल ने किया था और वह १८५१ में प्रकाशित हुआ था।

इसके जर्मन अनुवाद तथा डेक्कन कालिज[1] के शंकर पी० पण्डित का १८६९ मे प्रकाशित विद्वत्तापूर्ण संस्करण ने कालिदास की मान्य रचनाओ के साथ इसकी तुलना की सामग्री विद्यार्थियो को प्रदान कर इसकी प्रामाणिकता के विवादग्रस्त प्रश्न को हल कर दिया है। मालविकाग्निमित्र में विचार, शैली तथा भाषा की इतनी अधिक समानतायें प्रकाश मे आयी है कि किसी को उपलब्ध नाटक के नाटककार के विषय मे सन्देह नही हो सकता। इसकी प्रस्तावना के ही एक कथन के अनुसार यह स्पष्ट है कि यह शकुन्तला और विक्रमोर्वशीय के रचयिता की प्रमुख कृति है। तथापि कालिदास दो श्रेष्ठ रचनाओं से इसकी न्यूनता—पर्याप्त काव्यीय एवं नाटकीय गुणो एवं शैली के सौन्दर्य एवं सरलता के होने पर भी—सबको माननी पडेगी। कदाचित् इसका कारण यह माना जा सकता है कि मालविकाग्निमित्र कालिदास की प्रथम नाटय-रचना है। या संभवत. जिन दृश्यों मे नाटकीय क्रिया प्रस्तुत की गयी है उन दृश्यों ने कवि को (अन्य दो नाटकों के समान) प्रकृति के सौन्दर्यो एवं ग्राम्य तथा अरण्य पशुओ के स्वभावों के वर्णन की अनोखी शक्तियो के प्रदर्शन का अवसर नही प्रदान किया। इसका नायक राजा अग्निमित्र निःसन्देह अर्धपुराकथाशास्त्रीय दुष्यन्त तथा पुरूरवस से अधिक साधारण एवं कठोर अर्थों में मानव चरित्रवाला है और यही बात शकुन्तला तथा उर्वशी की तुलना मे मालविका के विषय मे कही जा सकती है। किन्तु तीनो नाटको की कथावस्तुओ मे परस्पर यह समानता है कि वे अपनी रोचकता के लिए समान कठिनाइयो एवं बाधाओ के बीच प्रेम-व्यापार की सफल प्रगति पर आश्रित हैं।

मालविकाग्निमित्र[2] मे राजा अग्निमित्र (मगधराजाओ के शुग वंश के संस्थापक पुष्यमित्र का पुत्र) सयोगवश मालविका नाम की युवती का चित्र देखकर उससे प्रेम करने लगता है जो उसकी रानी धारिणी की परिचारिकाओं मे एक है। जैसा प्रचलित था, विदूषक संदेशवाहक के रूप में भेजा जाता है और वह राजा के सामने चित्र के मूल रूप को उपस्थित करने का बीड़ा उठाता है। ऐसा होता है कि प्रमुख रानी धारिणी मालविका को, संगीत, गान तथा नृत्य की शिक्षा दिलवाती है। अत· दूसरे अंक मे एक प्रकार की संगीत प्रतियोगिता या कौशल परीक्षा की व्यवस्था की जाती है जिसमे मालविका मध्य-

---

[1] इसके पहले एक संस्करण बान में १८४० मे डॉ० टेल्बर्ग ने निकाला था।

[2] मैंने प्रफेसर एच० एच० विलसन के उनके हिन्दू थिएटर पुस्तक के परिशिष्ट मे दिए गये इस नाटक के साराश से सहायता ली है।

मलय नामक एक विशिष्ट गान मे एक कठिन कार्य अद्भुत प्रतिभा के साथ सम्पन्न करती है। यह निश्चय ही राजा को मुग्ध कर लेता है और उसके मन की शान्ति का विनाश कर देता है। दो रानियों धारिणी और इरावती के विरोध के बावजूद तथा अन्य बाधाओ के होते हुए भी वह मालविका से प्रणय व्यापार चलाता रहता है। वह अवैधानिक रीति से उससे विवाह करना नही चाहता और न तो अपनी पत्नियों की इच्छा के विपरीत जाना चाहता है। प्राच्यदेशीय राजाओ के परिवार मे बहुपत्नीत्व को मान्यता दी गयी है। कठिनाई दोनो रानियो को मनाने की है। अन्त मे वह इस कार्य को भी पूरा कर लेता है और अपनी रानियो की स्वीकृति प्राप्त कर लेता है। कथावस्तु के साथ परिव्राजिका या बौद्धभिक्षुणी भी उपस्थित की गयी है, जिसे प्रोफेसर वेबर ने इस ग्रन्थ की प्राचीनता का एक प्रमाण माना है। प्रस्तावना मे भास और सौमिल्ल का कालिदास के पूर्ववर्ती कवियो के रूप मे उल्लेख हुआ है।

मैं, यहाँ प्रस्तावना से एक वैदुष्यपूर्ण उक्ति का उदाहरण देता हूँ। दर्शको को सम्बोधित कर सूत्रधार कहता है :—

> जो वस्तुएँ प्राचीन है वे प्राचीन होने के कारण ही प्रशंसनीय नही होती और जो वस्तुएँ नवीन है वे नयी होने के कारण ही निन्दनीय नही होती। बुद्धिमान् व्यक्ति जब तक स्वय गुणो की परीक्षा नही कर लेते तब तक अच्छे या बुरे का निर्णय नही करते। मूर्ख व्यक्ति दूसरे के निर्णय पर ही विश्वास कर लेता है।

अब मैं एक अधिक अर्वाचीन भारतीय नाटककार, भवभूति, पर आता हूँ जिनका उपनाम् 'श्रीकण्ठ' है अर्थात् जिसकी वाणी प्रवाहपूर्ण है। उनकी ख्याति कालिदास के बाद दूसरे स्थान पर आती है। उनके दो नाटको की प्रस्तावना मे उन्हे नीलकण्ठ नाम के ब्राह्मण का पुत्र बताया गया है (उनकी माता जतूकर्णी थी)। नीलकण्ठ कश्यप के वंशजो मे एक तथा पद्मपुर नामक नगर के निवासी और कृष्णयजुर्वेद के अनुयायी थे। उन्हे बरार जिले मे किसी स्थान पर उत्पन्न बताया गया है तथा यशोवर्मन की सभा मे विद्यमान माना जाता है, जिसने कन्नौज (कन्याकुब्ज) पर प्राय. ७२० ई० मे शासन किया था।[1] कालिदास के समान ही उन्होने तीन नाटक लिखे। उनके नाम है—मालती-

---

[1] प्रोफेसर लासेन के अनुसार उनका समय ७१० वर्ष है। कन्नौज, जो अब खंडहर मात्र है, प्राचीनता मे अयोध्या के बाद आता है। यह उत्तर-पश्चिम मे गंगा की एक धारा कालिन्दी के तट पर फर्रुखाबाद जिले मे स्थित है।

माधव, महावीरचरित और उत्तररामचरित।[१] इन तीनों मे मालतीमाधव, जो दस अंकों में है, अंग्रेजी संस्कृत के विद्वानों को अधिक ज्ञात है। शैली-कालिदास के नाटकों की शैली की अपेक्षा अधिक यत्नकृत एवं कृत्रिम है तथा पद्यों मे प्रयुक्त कुछ छन्द इस प्रकार के मिश्रित रूपवाले हैं जिनका उपयोग परवर्ती संस्कृत कवि अपने कौशल के प्रदर्शन के लिए करते हैं[२]। प्रस्तावना में कवि अपनी ही रचना की प्रशंसा करने की निन्द्य प्रवृत्ति का दोषी है। इसकी कथावस्तु कालिदास के नाटकों की कथावस्तु की अपेक्षा अधिक रोचक है। इसकी क्रियाएं नाटकीय है। इसके गृह्यजीवन तथा व्यावहारों के चित्र सर्वाधिक मूल्यवान हैं, यद्यपि इसमें अति-स्वाभाविक तत्वों का बहुत अधिक प्रयोग है जिससे, जैसा कि हम देख चुके हैं, मृच्छकटिक अपवाद स्वरूप मुक्त है। मालती-माधव की कथा का सुन्दर संक्षेप कोलब्रूक ने किया है[3]। मैं यहाँ रूपरेखामात्र प्रस्तुत करता हूं।

दो निकटवर्ती राजाओ के दो मन्त्री परस्पर यह गुप्त मन्त्रणा करते है कि उनके बच्चे, मालती और माधव, अवस्था आने पर परस्पर विवाह कर लेंगे। उनकी योजना की पूर्ति मे विघ्नस्वरूप एक राजा यह चाहता है कि मालती का पिता अपनी पुत्री का विवाह नन्दन नाम के कुरूप और राजा के प्राचीन प्रियपात्र के साथ करे। राजा की अप्रसन्नता से डरकर मन्त्री अपनी पुत्री का बलिदान करने को सहमत हो जाता है। इसी बीच माधव को उस कामन्दकी नामक बौद्ध भिक्षुणी के यहाँ अध्ययन पूरा करने के लिए भेजा जाता है जो पहले मालती की धाय थी। वह योजना बनाती है कि मालती और माधव का मिलन हो और वे एक दूसरे को प्रेम करने लगें, यद्यपि वे उस समय अपने पारस्परिक अनुराग को प्रकट नही करते। इसके कुछ ही समय बाद राजा मालती का विवाह अपने प्रियपात्र नन्दन के साथ कराने की आज्ञा देता है। जब यह समाचार मालती के पास पहुँचता है तो वह खिन्न हो उठती है। कामन्दकी के बगीचे मे मालती और माधव का दुबारा मिलन होता है। माधव के पीछे बगीचे तक उसका मित्र मकरन्द भी जाता है। इस मिलन के समय ही महान कोलाहल एवं भयपूर्ण चीत्कार सुनायी पड़ता

---

[१] 'चरित' को 'चरित्र' भी लिखा जाता है।

[२] कोलब्रूक ने विशेषत: दण्डक छन्द का उल्लेख किया है जिसके वर्णन के लिये इस ग्रंथ का पृ० १६१ देखिए।

[३] देखिए प्रोफेसर ई० बी० कोवेल का कोलब्रूक के निबन्धो का संस्करण, भाग २, पृ० १२३।

है। एक सिंह लोहे के पिजड़े से निकल गया है और चारो ओर विनाश कर्म कर रहा है। नन्दन की बहिन मदयन्तिका मार्ग से जाती रहती है और उस पर सिंह आक्रमण कर देता है। माधव और मकरन्द दोनो बचाने के लिये दौड़ते है। मकरन्द उस पशु को मार डालता है और अर्धविक्षिप्त अवस्था में मदयन्तिका को एक उपवन मे लाता है। सज्ञा प्राप्त करने पर वह स्वभावत: अपने जीवनरक्षक मकरन्द से प्रेम करने लगती है।

इस प्रकार दोनो जोडे मिलते हैं और वही मालती माधव से विवाह करने का वचन देती है। इसी समय एक सदेशवाहक नन्दन के मालती के साथ विवाह के अवसर पर उपस्थित होने के लिए मदयन्तिका को बुलाने और दूसरा दूत स्वय मालती को राजा के महल मे बुलाने आता है। माधव दु:ख से पागल हो जाता है, और निराश होकर श्मशान मे जाकर प्रेतो को अपने शरीर से जीवित मास काटकर भोजन रूप मे देकर उनकी सहायता प्राप्त करने का असाधारण निश्चय करता है। श्मशान एक भयंकर देवी चामुण्डा (दुर्गा के एक रूप) के मन्दिर के पास है, जिसके अध्यक्ष कपालकुण्डला नाम की डायन तथा उसके गुरु अघोरघण्ट नाम के एक भयकर औघड़ हैं। उन्होने कुछ सुन्दर स्त्रियो को देवी के लिए वलि चढाने का निश्चय किया है और मालती के राजभवन जाने के पूर्व ही, जब कि वह छत पर सोयी हुई थी, तभी उठा लाते है। उसे मन्दिर मे लाकर चामुण्डा की मूर्ति के समुख मार डालने वाले हैं। उसके आर्त्तस्वर से माधव का ध्यान उधर जाता है, जो उस समय प्रेतो के लिए अपने मास की वलि दे रहा है। वह दौड़ता है, उसकी मुठभेड़ जादूगर अघोरघण्ट से होती है और भयंकर द्वन्द युद्ध के बाद वह उसे मार कर मालती को बचा लेता है। मालती अपने परिवार मे लौट आती है। कथा का शेष भाग पाँच अंको को घेरता है और बड़े विस्तृतरूप मे उपस्थित किया गया है जो सर्वथा अनुपयुक्त है। मालती के नन्दन के साथ विवाह की तैयारी चलती रहती है और वृद्ध भिक्षुणी कामन्दकी, जो मालती का उसके प्रेमी माधव के साथ परिणय का पक्ष लेती है, ऐसी व्यवस्था करती है कि राजा की आज्ञा से वधू का वस्त्र उसी मन्दिर मे पहनाया जाय जहाँ वह स्वय प्रधान अध्यक्षा है। तब वह मकरन्द को वधू के स्थान पर वस्त्र धारण करने को कहती है। मकरन्द वधू का वस्त्र धारण करता है, जुलूस के साथ नन्दन के घर ले जाया जाता है और उसके साथ विवाह की विधियाँ पूरी होती है। नन्दन अपनी होने वाली वधू के पुरुषवत् आकार से खिन्न होकर मकरन्द को अन्त:पुर मे छोड देता है और इस प्रकार नन्दन का अपनी प्रेमिका नन्दन की बहन मदयन्तिका से

मिलन होता है। मकरन्द अपने को प्रकट करता है और मदयन्तिका को उस स्थान पर भाग चलने को कहता है जहाँ मालती और माधव छिपे हुए हैं। उनके भागने का भेद खुल जाता है और राजा के चौकीदार उन्हे ढूढने निकल पड़ते हैं। महान् सघर्ष होता है किन्तु माधव की सहायता से मकरन्द अपने विरोधियो को परास्त कर देता है। दोनो युवको की वीरता एव सुन्दर आकृति से राजा का क्रोध दूर हो जाता है और उन्हें विना दण्ड के अपने-अपने मित्रो से मिलने की आज्ञा दे दी जाती है। इस संघर्ष के बीच मालती को डाइन कपालकुण्डला अपने गुरु अघोरघण्ट का बदला लेने के लिये उठा ले जाती है। माधव अपने मिलन मे दूसरी बाधा से फिर निराश हो जाता है किन्तु कामन्दकी पुजारिन की सुदामिनी नाम की शिष्या, जिसे असाधारण तपस्या द्वारा असाधारण आभिचारिक शक्तियां प्राप्त है, उपस्थित होती है। वह मालती को डाइन के चगुल से छुड़ाती है और मालती का माधव के साथ तथा मदयन्तिका का मकरन्द के साथ उल्लासपूर्ण विवाह सम्पन्न कराती है।

मालती के साथ माधव के प्रथममिलन का अग्रोलिखित वर्णन प्रथम अंक से उद्धृत है[1] :—

> एक दिन उत्सुकतावश मैं कामदेव के मन्दिर मे जा पहुँचा। वहाँ मैं इधर-उधर घूमता हुआ चारो ओर दृष्टि डालता रहा। अन्त मे इधर-उधर घूमने से थककर मैं मन्दिर के प्रांगण एवं उपवन मे बकुल वृक्ष की छाया के नीचे एक जलकुण्ड के निकट खडा हो गया। वृक्षो के मधुर पुष्प मधु का रसास्वादन कराने के लिए भौरो के दल को निमन्त्रण दे रहे थे, और उस निर्जन मे समय विताने के लिए मैं लेट गया। मैंने अपने चारो ओर गिरे हुए फूलो की एक माला बनाने के लिए उन्हे बटोर लिया। तभी भीतर के कुञ्जो से एक युवती निकली। उसकी गति मतवाली और सुन्दर थी जैसे विजयी काम अपना झडा विजित पुरुषो के ऊपर फहरा रहा हो। उसके वस्त्रो की शोभा सुन्दर आभूषणो से द्विगुणित हो रही थी और वे उसके राजकुमारी होने का संकेत दे रहे थे। उसकी सखियाँ गर्व के साथ उसके पीछे-पीछे चल रही थी। वह सभी सौन्दर्यों का आगार प्रतीत होती थी या सुन्दरता का कोश थी जिनमे पूर्ण सुन्दर रूप का

---

[1] मेरे सस्करण मे कुछ वाक्य प्रोफेसर एच० एच० विलसन के संस्करण के आधार पर दिये गये हैं किन्तु मैंने अपने वाक्यो को मूल के अधिक समीप लाने का प्रयत्न किया है।

निर्माण करने वाली सभी सुन्दरतम वस्तुएँ संकलित करके रखी हुई थी। अथवा वह प्रेम के मन्दिर की अधिष्ठात्री देवियाँ थी, अथवा विधाता ने उनका रूप प्रकृति के सुन्दरतम उपकरणो—चन्द्रमा, कमल-नाल और अमृत से—रचा था? मैंने उसे देखा और एक क्षण मे मेरी दोनो आखे आनन्द मे डूबने-उतराने लगी। मेरा हृदय उसकी ओर खिचा चला गया जैसे चुम्बक की ओर लोहा खिचा चला जाता है।

भवभूति के अन्य दो नाटक, महावीरचरित तथा उत्तररामचरित, दोनो मिलकर द्वितीय राम या रामचन्द्र की वाल्मीकि के रामायण एवं कालिदास के रघुवंश मे कही गयी कथा का नाट्य रूप प्रस्तुत करते है।

सात अको मे निबद्ध महावीरचरित[1] (जिसके उद्धरण वीरचरित नाम से साहित्यदर्पण मे प्रायः दिये गये है) महावीर राम की कथा को रामायण के प्रथय छः काण्डो के अनुसार ही नाटक के रूप मे उपस्थित करता है, किन्तु कुछ अन्तर भी रखता है:—

प्रस्तावना मे कवि कहता है कि नाटक-रचना का उस का ध्येय श्रेष्ठ चरित्रो मे प्रदर्शित वीर रस (दे० पृ० ४४४ टि०) का वर्णन करना है। अद्भुत रस के वर्णन का भी निर्देश किया गया है और कार्य शैली को भारती[2] कहा गया है। प्रथम पाँच अको मे कथा राम तथा रावण एवं उनकी सेना और राक्षसो के बीच युद्ध प्रारम्भ होने के वर्णन तक पहुँचती है; किन्तु रगमच पर युद्ध नही होता और न दर्शको के समक्ष किसी व्यक्ति के वध का अभिनय किया जाता है। इन्द्र तथा उनके सहचर जीव दृश्य का अवलोकन आकाश से करते है और वे इस दृश्य के विकास का वर्णन दर्शको के समक्ष करते है। उदाहरणार्थ रावण के सिरो का गिरना, राक्षसो का विनाश, राम की विजय,

[1] मेरे पहले के एक बोडेन छात्र तथा कुछ समय तक मद्रास मे प्रोफेसर श्री जान पिकफोर्ड ने इस नाटक का अनुवाद १८५७ के कलकत्ता सस्करण से किया है; और प्रोफेसर एच० एच० विलसन ने अपने 'हिन्दू थिएटर' की परिशिष्ट मे इसका सक्षेप दिया है।

[2] 'भारती' शब्द का अर्थ संभवत 'भाषा' मात्र है। किन्तु हम यहाँ देख सकते हैं कि साहित्यदर्पण मे नाट्य-कार्य की चार वृत्तिया गिनायी गई है—१. कैशिकी—प्रसादयुक्त एव मधुर; २. सात्वती या सात्त्वती—वीर कर्मों के वर्णन से परिपूर्ण एव अद्भुत से युक्त; ३. आरभटी, अति-प्राकृतिक एवं भयकर; ४ भारती, जिसमे प्रायः संस्कृत भाषा का प्रयोग होता है।

तथा सीता की पुनः प्राप्ति। सातवें एवं अन्तिम अंक में राम, लक्ष्मण, सीता, विभीषण, तथा उसके सहचरो की स्वर्गीय विमान पुष्पक मे (जो कभी रावण का था) लङ्का से अयोध्या की आकाशमार्गीय यात्रा का वर्णन है। जब वे आकाशमार्ग से बढते है तो वे अपने पहले के वीरकर्मों के कतिपय स्थानों को पहचानते है और इस स्थल पर अनेक काव्यीय वर्णन दिये गये हैं। एक वार विमान दण्डक वन के ऊपर से गुजरता है और सूर्य के निकट पहुँच जाता है। अन्त मे वह अयोध्या मे उतरता है। राम तथा लक्ष्मण भरत और शत्रुघ्न से पुन: मिलते है और चारों भाई एक दूसरे का अलिङ्गन करते हैं। वसिष्ठ तथा विश्वामित्र राम का राजा के रूप मे अभिषेक करते हैं।

उत्तररामचरित,[1] जो सात अको मे है, इस कथा को चालू रखता है और रामायण के सप्तम काण्ड या उत्तरकण्ड मे वर्णित घटनाओ को नाट्य रूप मे उपस्थित करता है (देखिए पृ० ३३०–३३२)। मै यहाँ संक्षिप्त कथासार देता हूँ[2] :—

“विधिपूर्वक अयोध्या मे राम का अभिषेक हो जाने पर उनका पत्नी के साथ शान्तिपूर्ण एवं आनन्द का जीवन प्रारम्भ करने का समय आता है। किन्तु यह इस संसार मे सुख की दुर्लभता के विषय मे हिन्दू विचारधारा के अनुकूल नही और न आदर्श पुरुष राम की कल्पना से सामञ्जस्य रखता है, जिनका जन्म ही कष्ट झेलने और आत्मत्याग के लिये हुआ था। पहले यह बताया जाता है कि यज्ञ मे भाग लेने के लिए राजधानी छोडने को उद्यत राजपुरोहित वसिष्ठ राम से इस प्रकार कुछ उपदेश वचन कहते हैं: ‘ध्यान मे रखिएगा कि राजा की वास्तविक समृद्धि प्रजा का कल्याण है।’ राम उत्तर देते हैं—‘मैं प्रजा की भलाई के लिये सभी कुछ, सुख, प्रेम, दया और सीता का भी त्याग करने को तैयार हूँ।’ अपने वचन के अनुसार वे (दुर्मुख नामक) गुप्तचर को प्रजा के प्रति अपने व्यवहार के विषय मे प्रजा की राय जानने के लिए भेजते है और दुर्मुख से यह जानकर चकित होते हैं कि प्रजा उनके एक कार्य को छोडकर सभी कार्यो की प्रशंसा करती है। वे दीर्घकाल तक दूसरे के भवन मे निवास (परगृह-वास) करनेवाली सीता को ग्रहण करने की निन्दा करते है। सक्षेप मे वह बताता है कि प्रजा मे अब भी सीता और रावण के संबन्धो के विषय मे अपवाद

---

[1] इस समूचे नाटक का अनुवाद प्रोफेसर एच० एच० विलसन के हिन्दू थिएटर मे किया गया है।

[2] मैंने रेव० के० एम० बनर्जी के ‘इण्डियन एण्टिक्वेरी’, मई १८७२ के लेख से सहायता ली है।

प्रचलित हैं। अत्यन्त न्यायप्रिय एवं जनता के विचारो का अधिक ध्यान रखने वाले राम यद्यपि अग्निपरीक्षा (पृ० ३५०) के उपरान्त सीता के पातिव्रत के विषय मे पूर्ण विश्वास रखते है, और वह माता भी बनने वाली है, तथापि प्रजा मे थोड़ा भी असन्तोष बना रहने देने के लिये स्वयं को असमर्थ पाते है। विरोधी विचारो से व्याकुल होकर वह पत्नी के सोते रहने पर चुपके से उसके पास से चले जाते है और लक्ष्मण को उन्हे वन के किसी एकान्त स्थान मे ले जाकर छोड़ देने का आदेश देते है। यह प्रथम अक है। दूसरे अंक मे पहले बारह वर्ष का समय बीत जाता है और इस बीच सीता की रक्षा दैवी शक्तियाँ करती हैं। इसी व्यवच्छेद मे उनके दो पुत्रो, लव और कुश, का जन्म होता है और वे रामायण के प्रणेता वाल्मीकि की देखरेख में रहते हैं जो उन्हें अपने आश्रम मे शिक्षा देते है। इस द्वितीय अक के प्रारम्भ मे वाल्मीकि के उस श्लोक को भी दे दिया गया है (जो एक पक्षी के जोडे मे एक को व्याध द्वारा हत देखकर शोक से उत्पन्न हुआ था), जिसे रामायण (१.२१८) मे उद्धृत किया गया है। वहाँ उसे प्रथम श्लोक बताया गया है। इस समय एक ऐसी घटना होती है जिससे राम अपने पहले की वनवासभूमि, दण्डकवन, मे पुनः पहुँचते हैं। एक ब्राह्मण का पुत्र सहसा अकारण ही मर जाता है। उसका शरीर राम के द्वार पर डाल दिया जाता है। स्पष्टतः कोई राजकीय पाप ही इस विपत्ति का कारण है और आकाशवाणी यह बताती है कि एक घोर पाप किया जा रहा है, क्योकि शम्बूक नाम का शूद्र द्विजो की सेवा के स्वधर्म का त्याग कर तपस्याएँ कर रहा है (मनु १.९१)। राम तत्काल वन के लिए प्रस्थान करते है, शम्बूक को ढूँढ निकालते है और उसका सिर उडा देते है। किन्तु राम के हाथो मृत्यु पाकर शूद्र अमर हो जाता है और दैवी रूप मे प्रकट होकर राम को इस कृपा के लिये धन्यवाद देता है। अयोध्या लौटने के पूर्व राम वन मे अगस्त्य के आश्रम मे जाते है। सीता अब सम्मुख आती है। उन्हे राम नही देख पाते किन्तु उनके स्पर्श से वे आनन्दित और भावविह्वल हो जाते है। राम के सन्ताप का वर्णन बडे सुन्दर ढंग से किया गया है। वे कहते हैं: 'यह क्या है? ऐसा लगता है कि स्वर्गीय लेप मेरे हृदय पर डाल दिया गया है, एक सुपरिचित स्पर्श मेरी मूर्च्छा को दूर कर रहा है। क्या यह सीता है, या मैं स्वप्न देख रहा हूँ ?' इसके वाद नाटक का अन्तिम अक आता है। अन्त मे पतिपत्नी पुनः मिलते है परन्तु यहाँ अतिप्राकृतिक शक्तियो का उपयोग किया जाता है और पृथ्वी, जिसने सीता को अपने गर्भ मे ले लिया है, पुनः लौटा देती है। वाल्मीकि तब कुश और लव का परिचय राम से कराते है। राम अपने दोनो जुड़वा पुत्रो को पहचान लेते हैं। सम्पूर्ण

परिवार मे पुनः सुख छा जाता है और नाटक यही समाप्त हो जाता है।

यह उल्लेखनीय बात है कि चतुर्थ अङ्क के प्रारम्भ में वाल्मीकि के दो शिष्यो मे एक संवाद होता हैं जो इस बात से प्रसन्न हैं कि उनके आश्रम मे कोई ऐसा अतिथि आया है जिसके आगमन से उत्तम भोजन और मासाहार भी प्राप्त होगा। मनु के नियम (४.४१, देखिए इस ग्रंथ का पृ० २४७) का उद्धरण दिया गया है, जिसके अनुसार गोमास द्वारा मधुपर्क अर्पित किया जाता है क्योकि इन अवसरो पर गृहस्थ गोवत्स, वृषभ और अज का वध कर सकते थे (वत्सतरी महोक्षं वा महाजं वा निर्वपन्ति गृह-मेधिनः)।

इस नाटक के काव्य के उदाहरणस्वरूप मैं यहाँ राम के सीता के प्रति प्रेम का वर्णन उद्धृत करता हूँ (जिसका अनुवाद प्रोफेसर एच० एच० विलसन ने किया है)—

> उसकी उपस्थिति मेरे नेत्रो के लिये अमृत है। उसका स्पर्श मधुर चन्दन है। उसकी प्रिय बाहुओ का मेरे कण्ठ मे आलिङ्गन सर्वाधिक मूल्यवान रत्नों से अधिक मूल्यवान निधि है। वह मेरे घर की स्वामिनी है, मेरे यश और भाग्य की अधिष्ठात्री देवी है। ओह, मैं उससे पुनः वियोग सहन नही कर सकता।

दो अन्य प्रसिद्ध नाटकों, रत्नावली तथा मुद्राराक्षस (दोनो का अनुवाद एच० एच० विलसन ने किया है), का भी उल्लेख कर देना आवश्यक है।

रत्नावली चार अंको का एक छोटा नाटक है जिसे (मृच्छकटिक के समान ही, देखिये पृ० ४६१) एक राजा श्री हर्षदेव[1] की रचना बताया जाता है।

इस नाटक मे कोई अलौकिक बात नही है। इसे एक ऐसा सुखान्त नाटक

---

[1] सभवतः ये नैषध या नैषधीय (पृ० ४४१) के रचयिता श्रीहर्ष से भिन्न हैं। नागानन्द (दे० पृ० ४७९), जो एक हिन्दू एवं बौद्ध नाटक है, इसी कवि का बताया जाता है। हिन्दू कवियो मे इस प्रकार राजाओ एव महान् व्यक्तियो की चाटुकारिता करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। प्रोफेसर इ० बी० कोवेल नागानन्द को धावक नाम के कवि की रचना बताते है जिसका उल्लेख काव्यप्रकाश मे हुआ है और उनका अनुमान है कि कादम्बरी के रचयिता बाण ने रत्नावली की रचना की होगी, जिससे इस नाटक का समय (जैसा डॉ० फिट्ज एडवर्ड हाल ने प्रदर्शित किया है) सातवी शतब्दी ई० मे पड़ता है। काव्यप्रकाश पर एक देशीय टीका मे कहा गया है कि धावक ने रत्नावली की रचना की थी।

कह सकते है जिसमे सभी पात्र मर्त्य पुरुष एवं स्त्रियाँ तथा घटनाएँ बिल्कुल गृह्यजीवन से सबन्धित हैं। नाटक एक प्रसिद्ध कथा के साथ जोड़ा गया है और वह कथा है उदयन नाम के राजा तथा उज्जयिनी की राजकुमारी वसन्तसेना के बीच प्रणयव्यापार। यह कथा कथासरित्सागर मे कही गयी है। कथा सरित्सागर मे राजा का नाम उदयन बताया गया है (विलसन के एसेज मे वर्णन देखिए, डॉ० ब्रुअर का संस्करण भाग १ पृ० १९१) तथा यह कहा गया है कि वह वासवदत्ता को लेकर भाग गया था जो इसमे चण्डमहासेन की पुत्री है किन्तु रत्नावली मे उसे प्रद्योत की पुत्री बताया गया है और उज्जयिनी की राजकुमारी नही कहा गया है। उसी कथा का (शकुन्तला तथा उर्वशी की कथा के साथ) मालतीमाधव के दूसरे अंक के प्रायः अन्त मे उल्लेख किया गया है और प्रो० विलसन के अनुसार कालिदास ने इसका उल्लेख मेघदूत मे उस स्थान पर किया है जब वे उदयन की कथा के उज्जयिनी मे यत्र-तत्र कहे जाने का वर्णन करते है (छन्द ३२)। डॉ० फिट्ज एडवर्ड हॉल ने सुबन्धु के वासवदत्ता की अपनी प्रस्तावना में यह दर्शाया है कि इस प्रेमकथा का रत्नावली की कहानी के साथ नायिका के नाम के अतिरिक्त और कोई साम्य नही है। प्रणय व्यापारो मे रत्नावली की कथावस्तु विक्रमोर्वशीय, मालविकाग्निमित्र आदि की कथावस्तु से मिलती-जुलती है और इन्ही नाटको के समान ही मध्ययुग के हिन्दू समाज का बहुमुल्य चित्र प्रस्तुत करती है। कवि कालिदास की उक्तियों को ग्रहण करने मे हिचकता नही प्रतीत होता। इस नाटक का नायक वत्सराज या वत्स देश का राजा है, जो एक देश या जन था और जिसकी राजधानी कौशाम्बी थी। प्रथम अंक के अन्त मे उसे उदयन कहा गया है और नाटक के प्रारम्भ के पूर्व उसका विवाह वासवदत्ता से हो चुका है। उसके मन्त्री का नाम यौगन्धरायण या योगन्धरायण है। उसके विदूषक का नाम वसन्तक तथा सेनापति का नाम रुमण्वत् है।

प्रथम दृश्य मे वसन्तोत्सव (इस समय होली नाम के उत्सव) पर होने वाली क्रीडाओ तथा परिहासों का वर्णन है। इस अवसर पर सामान्यतः खेल होते थे और भारत के कुछ भागो मे अब भी होते हैं। सागरिका (जिसका नाम रत्नमाला के कारण रत्नावली है) और जो लका की राजकुमारी है, सयोगवश राजा के दरबार मे लायी जाती है। वह राजा से प्रेम करने लगती है और उसका चित्र बनाती है। राजा भी समान रूप से उसकी ओर आकृष्ट होता है। रानी की ईर्ष्या चित्र को देखकर बढ़ जाती है। वह सागरिका को बन्दी बना लेती है, उसके पैरो मे बेडी डाल देती है, और इन साधारण बाधाओं मे भी बढकर प्रणय व्यापार को समाप्त करने की धमकी देती है।

अन्त मे सभी कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं और सामान्य रूप में नाटक की समाप्ति राजा की प्रथम पत्नी के साथ मेल होने एवं दूसरी पत्नी की प्राप्ति के साथ होती है।

एक वीर शत्रु के निधन का समाचार सुनकर नायक द्वारा उक्त वचन का मैं उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ। वह कहता है। 'मृत्युरपि तस्य श्लाघ्यो यस्य रिपवः पुरुषकारं वर्णयन्ति' अर्थात् उस व्यक्ति की मृत्यु भी धन्य है जिसके पौरुष की प्रशंसा शत्रु भी करते है।

विशाखदत्त रचित मुद्राराक्षस[1] सात अंकों का एक राजनीतिक नाटक है जिसे बारहवी शताब्दी का बताया जाता है।

यह नाटक इसलिए उल्लेखनीय है कि इसमे पाटलिपुत्र के राजा सुप्रसिद्ध चन्द्रगुप्त को उपस्थित किया गया है, जिसे स्ट्राबो मे मेगस्थनीज द्वारा सिकन्दर की मृत्यु के तत्काल बाद शासन करनेवाले महान पराक्रमी शासक के रूप मे वर्णित सन्ड्रकोट्स से भिन्न होने का अनुमान बड़े हर्ष के साथ सर डब्ल्यू० जोन्स ने किया है और जिसका समय (प्राय. ३५१ ई० पू०) हिन्दू कालगणना मे एकमात्र निश्चित आरम्भ बिन्दु है। दूसरा प्रमुख पात्र उसका चतुर मन्त्री चाणक्य है जो भारतीय मैक्याविली और नीतिशास्त्र का रचयिता तथा भारत मे प्रचलित अनेक नीतिवचनो एवं राजनीतिक शिक्षाओ का लेखक है। वह नन्द राजा का नाश करता है और चन्द्रगुप्त को सिंहासन प्राप्त करने मे सहायता प्रदान करता है। नाटक का मुख्य लक्ष्य यह वर्णन करना है कि किस प्रकार यह चतुर ब्राह्मण चाणक्य (जिसे विष्णुगुप्त भी कहा गया है) मारे गये नन्द राजा के मन्त्री राक्षस तथा जिन व्यक्तियो की लिए नन्द की हत्या की जाती है उनसे सन्धि करता है। सातवे अक के प्रारम्भ मे एक विलक्षण दृश्य है जिसमे एक चण्डाल एक अपराधी को वध्यस्थान पर ले जाता है। अपराधी के कन्धे पर एक शूल है और उसके पीछे उसकी पत्नी और छोटा बालक चलते है। दण्ड देने वाला कहता है :—

---

[1] यदि यह नाम, मुद्राराक्षस, विक्रमोर्वशी तथा अभिज्ञानशाकुन्तलम् के समान समास है जिसमे मध्यमपदलोप है तो इसका अर्थ 'मुद्रा से जाना गया राक्षस' हो सकता है। किन्तु सम्भवत: यह ऐसा समास है जिसमे पदो को उलटा कर दिया जाता है। कुछ लोग इसे द्वन्द्व समास बताकर इसका अर्थ 'राक्षस और मुद्रा' करते हैं। पाँचवें अंक मे चाणक्य का गुप्तचर, सिद्धार्थ, मन्त्री राक्षस की मुद्रा से चिह्नित पत्र लेकर प्रवेश करता है (अमात्य राक्षसस्य मुद्रालाञ्छितो लेखः)।

'हटो ! हटो ! सज्जनो ! प्रत्येक व्यक्ति जो जीवन, धन तथा परिवार की रक्षा करना चाहता है, राजा को विष देकर उसका विरोध न करे'। (तुलना मृच्छकटिक अंक १०)।

नागानन्द या नागलोक के आनन्द नाम के नाटक के सबन्ध मे मैं इसका वर्णन जानने की इच्छा रखने वाले व्यक्तियो को श्री बॉयड (Boyd) के कुछ ही दिन पूर्व के अनुवाद के साथ दिये गये प्रोफेसर कोवले के आमुख का अवलोकन करने का निर्देश दूगा (देखिए टि० पृ० ४७६)।

कुछ अन्य प्रमुख नाटको का विवरण पहले दिया जा चुका है। उदाहरण के लिये पृ० ३५९ पर विद्यार्थी इनका उल्लेख पायेगे—हनुमन्नाटक जो चौदह अंकों मे है;[१] **बालरामायण** जो दस अको मे राजशेखर रचित महानाटक है (बनारस के पण्डित गोविन्ददेव शास्त्री द्वारा १८६९ मे संपादित); सात अंकों का **प्रसन्नराघव** (उन्ही द्वारा १८६८ मे संपादित); अनर्घराघव तथा वेणीसंहार (पृ० ३८३ टि० ३); हास्यार्णव जो दो अंको मे हास्य तथा व्यंग्यपूर्ण नाटक है प्रोफेसर विलसन के 'हिन्दू थिएटर' की परिशिष्ट मे उल्लिखित है।

हिन्दू रंगमच से विदा लेने के पूर्व मैं एक विलक्षण प्रतीकात्मक एवं दार्शनिक नाटक का उल्लेख करूँगा, जिसके रचयिता है कृष्णमिश्र। इनका समय बारहवी शताब्दी ई० बताया जाता है। इस नाटक का नाम **प्रबोधचन्द्रोदय**[१] अर्थात् यथार्थ बोध या ज्ञानरूपी चन्द्र का उदय है। इसके पात्र हेनरी अष्टम के समय मे अभिनीत हमारी 'मोरेलिटी' के कुछ अंशो की याद दिलाते है, जिनमे नैतिक एव धार्मिक सत्य का प्रतिपादन करने के लिये सद्गुणो या दुर्गुणो को मनुष्यो के रूप मे उपस्थित किया जाता है।

'एव्रीमैन' नाम की एक प्राचीन अग्रेजी मोरेलिटी (नैतिकरचना) मे कुछ मानवीकृत रूप ये है :—ईश्वर, मृत्यु, सामान्यजन (एव्रीमैन), मित्रता (फोलोशिप), सबन्धी (किड्रेड), सत्कर्म (गुड-डीडस), ज्ञान, पापप्रकाशन (कन्फेशन), सौन्दर्य (ब्यूटी), बल (स्ट्रेग्थ), विवेक (डिस्क्रेशन)। हाइक् स्कार्नर (Hycke-scorner) मे—चिन्तन (कण्टेम्प्लेशन), दया (पिटी), कल्पना, स्वतन्त्र इच्छा (फ्री विल) हैं। लस्टी जुवेन्टस (Lusty Juventus) मे—सत्परामर्श (Good Counsel), ज्ञान, दुष्टात्मा (Satan); धर्माडम्बर

---

[१] मेरे पास इस नाटक की एक बहुमूल्य तथा प्राचीन पाण्डुलिपि है। कलकत्ता मे महाराज कालीकृष्ण बहादुर द्वारा १८४० मे प्रकाशित कराया गया सस्करण विशुद्ध पाठ का सस्करणा नही था। दस वर्ष हुए इसका लीथो द्वारा मुद्रण बम्बई मे हुआ था।

(Hypocrisy), मित्रता (Fellowsip), गर्हित जीवन (Abominable living), ईश्वर के दयापूर्ण वरदान हैं। इसी प्रकार हिन्दू नैतिककाव्य (मोरेलिटी) प्रबोधचन्द्रोदय मे श्रद्धा, इच्छा, मत, कल्पना, चिन्तन, भक्ति, शान्ति, मित्रता इत्यादि एक ओर हैं और दोष, आत्माभिमान, दम्भ, प्रेम, वासना, क्रोध, घृणा दूसरी ओर। ये दो प्रकार के पात्र एक दूसरे के विरोधी है एवं नाटक का लक्ष्य यह प्रदर्शित करना है कि किस प्रकार प्रथम-वर्ग द्वितीय वर्ग पर विजयी होता है, बौद्ध एवं अन्य नास्तिक वर्णों को पराजित होने वाले पक्ष का अनुयायी दिखाया गया है।

५. पुराण

अब मैं संक्षेप मे अठारह पुराणों का विवेचन करूँगा। ये जगदुत्पत्ति, अवतार तथा त्रिविध रूप (त्रिमूर्ति, देखिये पृ० ३१५-३१८) के सिद्धान्तों मे प्रदर्शित ब्राह्मण धर्म के परवर्ती पहलुओ से संबद्ध होने के कारण संस्कृत साहित्य के एक प्रमुख विभाग और सच्चे अर्थों मे प्रचलित हिन्दू धर्म के यथार्थ वेद हैं, जिनका लक्ष्य वेदो के गूढ दर्शनो को निम्न वर्णों एव स्त्रियों के लिए सुलभ बनाना है। निःसन्देह इस कारण इन्हे कभी-कभी पञ्चम वेद भी कहा जाता है (देखिये पृ० ३६३ टि० १)। इनके नाम पुराण का अर्थ है 'प्राचीन परम्परागत कथाएँ' एवं अठारह प्राचीन कथासंग्रह जिन्हे यह नाम दिया गया है प्राचीन ऋषि व्यास (जिन्हे कृष्णद्वैपायन तथा बादरायण भी कहते है) द्वारा संकलित बताए जाते है जो वेदो एवं महाभारत (पृ० ३७२ टि० २ साहित) को क्रमबद्ध रूप देने वाले तथा वेदान्तदर्शन की स्थापना करने वाले बताये जाते हैं (पृ० १०७ टि० १)। इनकी रचना प्रधानतः सरल श्लोक छन्द मे हुई है (और कही-कही गद्य के भी अंश हैं) तथा महाभारत के समान इनके भी वर्ण्यविषय का क्षेत्र अगाध है। इन्हे इतिहास के साथ समझ लेने का भ्रम नही करना चाहिए जो मनुष्यो की कहानियाँ होते हं, देवताओं की नही, यद्यपि आगे चलकर इन मनुष्यो को देवता के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया गया है। पुराण वस्तुत. स्वयं देवताओ की कथाएँ हैं जिनके साथ अन्य विषयो पर हर प्रकार की आख्यानात्मक परम्पराएँ मिला दी गई हैं। सम्पूर्ण रूप में इनपर दृष्टिपात करने पर जिस अध्यात्मविद्या का ये उपदेश देते हैं वह 'कथमपि सरल, एकरूप या सामञ्जस्यपूर्ण नही है। नामतः त्रिविध धर्म के अनुयायी होते हुए—जो पृ० ३१८ पर वर्णित हिन्दू धर्म के तीन प्रकार की वृद्धियों के अनुकूल है—पुराणों का धर्म व्यवहारतः बहुदेववादी किन्तु फिर भी अनिवार्यतः विश्वदेवतावादी है। उनकी समूची शिक्षाओ के अन्तस्तल में एक ऊँचा सिद्धान्त देखा जा सकता है जो सामान्यतया हिन्दू अध्यात्मज्ञान के मूल मे स्थित पाया

जाता है—चाहे वह वैदिक हो या पौराणिक और वह सिद्धान्त है—विशुद्ध अपरिवर्तनशील विश्वदेवतावाद। किन्तु इन रचनाओ की मूलतः विश्वदेवतावादी एवं वेदान्ती विचारधारा के साथ गुथी हुई प्राय: ज्ञान के प्रत्येक विषय पर शिक्षाएँ इनमें उपलब्ध है जो अन्य दार्शनिक विचारों (विशेषत: प्रकृति विषयक साख्य सिद्धान्त) के रंग मे रँगी हुई, तथा अनन्त काल्पनिक पुराकथाओ, अध्यात्मवचनो, जगदुत्पत्ति के सिद्धान्तो और पुराकथाशास्त्रीय वशावलियो के कारण अनेक रूपवाली हैं। पुराण अत्यन्त प्राचीन युगों से प्रारम्भ कर सम्पूर्ण विश्व का इतिहास वर्णित करने का दम्भ भरते हैं तथा शास्त्रीय और आध्यात्मज्ञान के देवप्रेरित प्रकाशक होने का दावा करते है। वे भौतिकविज्ञान, भूगोल, पृथ्वी के आकार (दे० पृ० ४०९), ज्योतिष तथा कालगणना पर नियम वनाते हैं। एक या दो पुराणो मे शल्यचिकित्सा, ओषध, व्याकरण एवं युद्धास्त्रो के प्रयोग का भी वर्णन है। यहाँ नितान्त चिन्त्य सर्वज्ञता के चक्र को प्रमुख संवादो के रूप मे व्यक्त किया गया है (जिनमें अनेक गौण संवाद जुड़े रहते हैं) जिनमे कुछ मे पराशर सरीखे सुप्रसिद्ध एवं प्रबुद्ध महर्षि प्रमुख वक्ता हैं और शिष्यो द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देते है, जब कि दूसरे संवादो मे व्यास के शिष्य लोमहर्षण (या रोमहर्षण) कथा कहते हैं। इन्हें 'सूत' या कथावाचक कहा गया है। सूत एक इस प्रकार के व्यक्तियो का वर्ग था जो विशेषतया इतिहास एवं पुराणो की कथाएँ कहा करता था।[१]

प्रत्येक पुराण मे निम्न पाँच विषयो का विवेचन हुआ है—१. विश्व की सृष्टि (सर्ग); २. विश्व का प्रलय और पुनः सृष्टि (प्रतिसर्ग); ३. देवताओं एव ऋषियों की वंशावली (वंश); ४. मनुओ के शासनकाल एवं युग

---

[१] सही अर्थों मे सूत राजा का सारथि होता था और ब्राह्मणी से उत्पन्न क्षत्रिय का पुत्र होता था। उसका कार्य युद्ध मे रथ हाँकते समय या राजकीय अवसरो पर राजा और उसके पूर्वजों के वीरतापूर्ण कार्यों का गुणगान करना था। अतएव उसे महाकाव्यीय कविताओ एव प्राचीन लोककथाओ को कण्ठस्थ रखना पड़ता था जिसमे वीरो की कीर्ति का गान हुआ रहता था और उसे पुराणो की अपेक्षा महाभारत तथा इतिहास के अंशो का उच्चारण करना होता था। महाभारत १.१०२६ मे कहा गया है कि सौति या उग्रश्रवा ने (जो सूत लोमहर्षण का पुत्र था) अपने पिता से महाभारत के एक अंश का गान करने की शिक्षा ली थी। सामान्यत. यह कहा गया है कि लोमहर्षण ने इसकी शिक्षा व्यास के एक शिष्य, वैशम्पायन, से प्राप्त की।

(मन्वन्तर); ५. सूर्यवंशी तथा चन्द्रवंशी राजाओं का इतिहास (वंशानुचरित)[१]।

इस कारण प्राचीनतम देशीय कोशकार अमरसिंह (दे० पृ० १६६), जिसका समय प्रोफेसर एच० एच० विलसन ने प्रथम शताब्दी ई० पू० के अन्त

---

[१] नि.सन्देह राजाओ की वंशावली गिनाना पुराणों का एक प्रमुख अंग है। इसमे केवल नामों का शुष्क विवरण मात्र होता है। इसी प्रकार के विवरण संभवत: प्राचीन ग्रीक इतिहासकारो ने भी लिखे थे (थुक्, १.२१) किन्तु उनका विकास यथार्थ इतिहासो के रूप मे हुआ जो बात भारतीयों के साथ कभी नही घटित हुई। सभा-कवियो का यह कर्तव्य था कि वे अपने स्वामियों की वंशावलियाँ कण्ठस्थ करे, और विवाहो और उत्सवों के समय उनका गान करें। यह कार्य भारत में आज भी भाट लोग करते हैं। रामायण १ ७० १९ मे राजपुरोहित वसिष्ठ दशरथ के पुत्रों का जनक की पुत्रियो के साथ विवाह होने के पूर्व अयोध्या मे राज्य करने वाले सूर्यवंशी राजाओ की वशावली कहते हैं। राजाओ के वंश की शुष्कवशावली को कभी-कभी अनुवंश भी कहा जाता है। अनेक चन्द्रवंश (सोमवंश या ऐलवंश) की समान वशावलियाँ, जिन्होंने पहले प्रतिष्ठानपुर और वाद मे हस्तिनापुर पर शासन किया था, महाभारत में पायी जाती हैं (देखिए गद्य मे लिखित एक वंशावली जिसमे वीच-वीच मे अनुवंशश्लोक नामक श्लोको का प्रयोग है, महाभा० १.३७५९ इत्यादि)। प्रोफेसर लासेन ने अपने इण्ड० अल्ट० भाग १ के अन्त मे उपादेय सूचियाँ दी हैं। यह टाँक लेना चाहिए कि सूर्य तथा चन्द्रवंश दोनो की ही समरूप वंशावली एवं शाखाएँ हैं। सूर्यवंश की एक प्रमुख शाखा में मिथिला या विदेह के राजा आते थे और यह वंश निमि से प्रारम्भ होता था जिनका दुष्टतावश नाश हो गया (मनु ७.४१)। उनका पुत्र मिथि था (जिसके नाम से नगर का नाम पड़ा), और उसके पुत्र से जनक (जिन्हें उस वंश का वास्तविक पिता होने के कारण यह नाम दिया गया है)। महान् और सद्गुणी जनक, जो ब्राह्मणों की विद्या मे दक्ष थे, इसी प्रथम जनक के वंशज प्रतीत होते हैं। चन्द्रवंश, जिस वश से पाण्डव संबद्ध थे, दो प्रमुख शाखाओ मे विभक्त था, एक यादवो की शाखा (जो यदु से प्रारम्भ होती थी एवं जिसमे अर्जुन कार्तवीर्य और कृष्ण हुए थे) और दूसरी मगध के राजाओं की शाखा। यादवो के समानवंश के राजा काशी या वाराणसी मे भी थे। सूर्य तथा चन्द्रवश की वशावलियो के लिए इस ग्रथ का पृ० ३३६ तथा ३६७ देखिए।

मे रखा है, 'पञ्चलक्षण' अर्थात् 'पाच विषयो वाला' शब्द पुराण के पर्यायवाची के रूप मे देता है। इसमे सन्देह नही कि कुछ पुराण उसके पूर्व रहे होगे जैसा कि हम आश्वलायन के गृह्यसूत्रो (दे० इस ग्रथ का पृ० १९६) तथा मनु (दे० इस ग्रन्थ का पृ० २०७ टि० १, तथा पृ० २४६) मे इस शब्द के उल्लेख से पाते है। यह तथ्य कि सम्प्रति विद्यमान पुराणो मे कुछ ही पुराण पञ्चलक्षण नाम के अनुकूल हैं और सभी पुराणो का मत्स्यपुराण मे दिया गया संक्षेप सदैव वर्णित विषयों या परिगणित[1] श्लोको की संख्या की दृष्टि से विद्यमान रचनाओ के साथ मेल नही खाता, इस बात को प्रमाणित करता है कि रामायण और महाभारत के समान ही इनके पहले अधिक प्राचीन रचनाएँ विद्यमान थी। यह तो सभव ही है कि मूल पुराण भी थे जैसे कभी मूल रामायण एव मूल महाभारत भी थे। वस्तुतः भागवतपुराण १२.७,७ मे छः मूल सहिताओ का विशेषरूप से वर्णन है जिसे व्यास ने अपने छ. शिष्य मुनियो को पढाया था; और ये छ संहिताएँ वर्तमान पुराणो का आधार रही होगी जो, जैसा कि हम अभी देखेगे, छः-छः के तीन वर्गों मे विभक्त हैं। किसी भी स्थिति मे यह निश्चित प्रतीत होता है कि पुराणो का एक प्राचीन मूल ग्रथ था जो कुछ दशाओ मे परवर्ती वृहत् ग्रन्थो की रचना के लिये आधार उपस्थित करने के पूर्व विषयो के लुप्त या सक्षिप्त हो जाने से नष्ट हो गया। यह आधार-ग्रन्थ समय-समय पर जोड़ों एवं परिबृंहणो से अधिक या कम बोझिल हो गया। महाकाव्य तथा विशेषत. महाभारत मे तो मुख्य स्रोत मूल रचना के ऊपर क्रमिक परिबृंहणो से ही उत्पन्न हुआ है। फिर भी यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि पुराणो का पुराकथाशास्त्र महाभारत की अपेक्षा अधिक विकसित है, जिसमे (यथार्थ इतिहास और इस हेतु राजाओ एवं वीरों से सम्बद्ध होने के कारण) विष्णु और शिव प्राय· महान् वीरो से अधिक ऊँचा स्थान नही पाते और उन्हें अबतक प्रतिद्वन्द्वी देवता भी नही माना गया है। मध्य काल मे, जब वर्तमान पुराणो का संकलन हुआ था उस समय, विष्णु एवं शिव के भक्तों मे प्रतिद्वन्द्विता पूरे जोश मे थी—उनकी पूजा के जोश का उपयोग ब्राह्मण बौद्धधर्म को निकाल बाहर करने के साधन के रूप मे कर रहे थे—और पुराण

---

[1] इस प्रकार भविष्यपुराण मे भविष्य की घटनाओ का ब्रह्मा द्वारा उद्‌घाटन होना चाहिए था किन्तु इसमे कदाचित् ही कोई भविष्यवाणी है। यह ग्रंथ धार्मिक व्रतो का एक ग्रन्थ है और सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन मनुस्मृति की नकल के अतिरिक्त और कुछ नही। हम यह उल्लेख कर सकते हैं कि शङ्कराचार्य ने प्राय विद्यमान विष्णुपुराण से उद्धरण दिये हैं।

स्वयं हिन्दूधर्म के इस पहलू के अभिव्यञ्जक एवं प्रतिपादक थे। इस कारण हिन्दुओ द्वारा इन ग्रन्थों को अधिक प्राचीन काल का बताने का, यद्यपि इसका यह परिणाम हुआ कि वे जितना पवित्र स्वरूप प्राप्त कर सकते थे उन्होंने उससे अधिक पवित्र रूप प्रदान कर लिया, किन्तु इसकी पुष्टि आन्तरिक या बाह्य प्रमाणों से नही होती। विद्यमान पुराणो मे प्राचीनतम पुराणो को छठी या सातवी शताब्दी ई० से बहुत पहले के समय मे नही रखा जा सकता।

नि:सन्देह, जैसा कि मैंने पहले संकेत दिया है, अधिकाश पुराणों का मुख्य लक्ष्य सम्प्रदायगत है। वे त्रिमूर्ति—ब्रह्मा, विष्णु या शिव में किसी एक को सर्वोच्च स्थान प्रदान करने का ध्येय रखते है। वे जो ब्रह्मा से सम्बद्ध हैं राजसपुराण (उनके रजस् गुण के कारण) कहे जाते है; विष्णु से सम्बद्ध पुराण सात्त्विक (उनके सत्त्वगुण के कारण), और शिव को महत्व देनेवाले तामस (उनके तामस गुण के कारण) कहे जाते है। उन्हे तीन गुणो से सबद्ध करने का कारण पृ० ३१५ का अवलोकन करने से समझा जा सकता है।

मैं अब उपर्युक्त तीन विभाजनो के अनुसार अठारह पुराणो के नाम देता हूँ—

क. राजस पुराण या ब्रह्मा से सम्बद्ध पुराण :—१. ब्रह्म; २. ब्रह्माण्ड; ३. ब्रह्मवैवर्त; ४. मार्कण्डेय; ५ भविष्य; ६. वामन।

ख. सात्त्विक पुराण या विष्णु से सम्बद्ध पुराण :—१. विष्णु; २. भागवत; ३. नारदीय; ४. गरुड़; ५. पद्म; ६. वराह। इन छ: को प्राय: वैष्णवपुराण कहते हैं।

ग. तामस या शिव के प्रतिष्ठा देने वाले पुराण :—१. शिव; २. लिङ्ग; ३. स्कन्द; ४. अग्नि; ५. मत्स्य; ६ कूर्म। इन छ. को प्राय: शैवपुराण कहा जाता है। 'अग्नि' के स्थान पर 'वायु' नाम का सम्भवत: एक प्राचीनतम पुराण भी प्राय. रखा जाता है।

यद्यपि निश्चय ही इन पुराणो का त्रिमूर्ति या त्रिविध अभिव्यक्ति के सिद्धान्त के अनुसार इन तीन वर्गों मे विभाजन करना सुविधाजनक है, फिर भी यह नही समझ लेना चाहिए कि प्रथम या राजस वर्ग के छ: पुराण एकमात्र ब्रह्मा के माहात्म्य के वर्णन मे लगे हुए हैं जिनकी पूजा कभी भी सामान्य या लोकप्रिय न हो सकी (देखिए पृ० ३१८ पर टि० २)।

यद्यपि इन छ: पुराणो मे त्रिमूर्ति के प्रथम देव से सबद्ध आख्यानो का आधिक्य है, तथापि वे विष्णु या शिव की पूजा और विशेषकर प्रेमी कृष्ण के रूप में विष्णु की पूजा को बढ़ावा देने के कारण अन्य दो वर्गों से मिलते-जुलते हैं। प्रोफेसर एच० एच० विलसन के अनुसार उनमे से कुछ शाक्तो

(देखिए इस ग्रन्थ का पृ० ४९१) मे भी लोकप्रिय हैं, क्योकि वे शिव की शक्ति के रूप मे दुर्गा या काली देवी की पूजा को प्रोत्साहित करते हैं।

इनमे मार्कण्डेयपुराण (जैसा प्रोफेसर बनर्जी ने इस ग्रन्थ के सुन्दर संस्करण के आमुख मे दर्शाया है) नितान्त अनिश्चित स्वरूपवाला है।

अतएव मार्कण्डेय पुराण सम्भवतः एक प्राचीनतम—या ईसा की आठवीं शताब्दी का ग्रन्थ है। इसका कुछ अंश ब्रह्मा के प्रति प्रतीत होता है और कुछ विष्णु के प्रति और एक अश मे देवी माहात्म्य या देवियो की स्तुति है। प्रारम्भ मे व्यास के शिष्य, जैमिनि, कुछ पक्षियो से (जो पूर्वजन्म मे ब्राह्मण थे) वार्तालाप करते है और चार अध्यात्म विद्यासम्बन्धी एवं नैतिक समस्याओं का समाधान पूछते जो ये हैं—१ निर्गुण होते हुए भी (दे० पृ० ९३) विष्णु ने मानव शरीर क्यो धारण किया ? २. द्रौपदी पाँच पाण्डवो की समान रूप से पत्नी कैसे हो सकी (दे० पृ० ३७८ टिप्पणी सहित) ? ३. बलराम को मद्यपानजन्य प्रमत्तावस्था मे किये गये ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त क्यों करना पड़ा (दे० पृ० ३८२) ? ४. कृष्ण और अर्जुन के रक्षक होते हुए भी द्रौपदी के पाँच पुत्रो की अकाल मृत्यु क्यो हुई (दे० पृ० ३८१ टि० २ तथा पृ० ३०१) ?

इस वर्ग का दूसरा पुराण, ब्रह्मवैवर्त, बालकृष्ण एवं उनकी प्यारी राधा की भक्ति का प्रतिपादन करता है जो भारत मे अब काफी लोकप्रिय है। इस कारण इस पुराण को उचित रूप से सभी पुराणों मे आधुनिकतम माना जा सकता है।

निश्चय ही पृ० ३२० के विवरण से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पुराणों का दूसरा वर्ग—सात्त्विक या वैष्णव—सर्वाधिक लोकप्रिय है। इनमें भागवत तथा विष्णु, जिन्हें कभी-कभी महापुराण भी कहते हैं, निश्चय ही सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं सम्मानित हैं।

बारह अध्यायो का भागवतपुराण[1] कदाचित् सभी अठारहो पुराणो मे सर्वाधिक प्रचलित है क्योकि यह प्रिय देवता विष्णु या कृष्ण से संबद्ध है जिनका एक नाम भगवत् भी है।

इसकी कथा नैमिष्यारण्य मे सूत जी ऋषियो से कहते हैं (दे० पृ० ४८१); किन्तु वे वस्तुतः वही कथा कहते है जो व्यास के पुत्र शुक ने हस्तिनापुर के राजा और अर्जुन के पौत्र उन परीक्षित से कही थी जिन्हे एक शाप के

---

[1] इसका एक सुन्दर संस्करण पेरिस मे ईउगिने बुरनाफ (Eugine Burnouf) ने कलेक्शन ओरिएन्तले (Collection Orientale) मे प्रारम्भ किया था किन्तु उस महान् विद्वान् की मृत्यु से यह अधूरा रह गया।

फलस्वरूप सर्प के काटने से मृत्यु प्राप्त होनेवाली थी और इस कारण जिन्होंने गंगा के तट पर जाकर मृत्यु की तैयारी की। वहाँ कुछ ऋषि उनसे मिलते हैं जिनमे शुक भी हैं। शुक उनके प्रश्न (कि मनुष्य मृत्यु की सबसे उत्तम तैयारी किस प्रकार कर सकता है ?) का उत्तर भागवतपुराण की उस कथा को कहकर देते है जो उन्होने व्यास से सुनी थी।

कोलब्रूक ने इसे वोपदेव नामक वैयाकरण की रचना माना है (इस ग्रंथ का पृ० १७३)।

इस पुराण का सुन्दर सम्पादन श्रीधरस्वामी की टीकासहित बम्बई मे हुआ है।

इसका सबसे महत्त्वपूर्ण अंश दशमस्कन्ध है, जिसमे कृष्ण के बालजीवन का वर्णन है। इसका हिन्दी रूपान्तर प्रेमसागर है और इसका अनुवाद भारत की प्रायः सभी भाषाओ मे हो चुका है।

इस अंश का संक्षेप पृ० ३२५ पर दिया जा चुका है। पुराणो की शैली के उदाहरणस्वरूप मैं इस ग्रन्थ के पृ० ३२७ पर दी गयी कथा का मूल प्रस्तुत करता हूँ। इसका सक्षेप भागवतपुराण, १०.८९,१ मे इस प्रकार है :—

श्री शुक उवाच । सरस्वत्यास्तटे राजन्नृषयः सत्रमासत वितर्कः समभूत्तेषां त्रिष्वधीशेषु को महान् ॥ तस्य जिज्ञासया ते वै भृगु ब्रह्मसुत नृप । तज्ज्ञप्त्यै प्रेषयामासु. सोऽभ्यगाद् ब्रह्मण. सभाम् ॥ न तस्मै प्रह्वण स्तोत्रम् चक्रे सत्त्वपरीक्षया । तस्मै चुक्रोध भगवान्प्रज्वलन् स्वेन तेजसा ॥ स आत्मन्युत्थितं मन्युमात्म जायात्मना प्रभुः । अशीशमद्यथा वह्नि स्वयोन्या वारिणात्मनः ॥ तत. कैलासमगमत्स तं देवो महेश्वरः । परिरब्धु समारेभ उत्थाय भ्रातरं मुदा । नैच्छत्त्वमस्युत्पथग इति देवश्चुकोप ह । शूलमुद्यम्य तं हन्तुमारेभे तिग्मलोचनः । पतित्वा पादयोर्देवी सान्त्वयामास तं गिरा । अथो जगाम वैकुण्ठं यत्र देवो जनार्दनः । शयान श्रिय उत्स पदा‌ङ्गे वक्षस्यताडयत् । तत उत्थाय भगवान् सह लक्ष्म्या सतां गति. । स्वतल्पादवरुह्याथ ननाम शिरसा मुनिम् । आहते स्वागतं ब्रह्मन्निपीदात्रासमे क्षणम् । अजानतामागतान् वः सन्तुमर्हथ नः प्रभो ॥ अतीव कोमलौ तातचरणौ ते महामुने । इत्युक्त्वा विप्रचरणौ मर्दयन्स्वेन पाणिना ॥ पुनीहि सहलोकं मा लोकपालांश्च मद्गतान् । पादोदकेन भवतस्तीर्थानां तीर्थकारिणा ॥ अद्याहं भगवल्लक्ष्म्या आसमेकान्त भाजनम् । वत्स्यत्युरसिमे भूतिर्भवत्पादहतांहस. ।

उपर्युक्त कथा त्रिमूर्ति के तीन देवो की तुलनात्मक महत्ता के विषय मे उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करती है।

८. ७,४४ में निम्न उक्ति आती है :—

जब दूसरे व्यक्तियो को दु:ख होता है तो सज्जनो को भी हार्दिक कष्ट होता है। दूसरो का इस प्रकार का उपकार मानव जाति के स्रष्टा की सर्वोत्तम पूजा है।

कदाचित् विष्णुपुराण, जो पञ्चलक्षण (पृ० ४८३) विशेषण के पूर्णत: योग्य है, संस्कृत साहित्य के इस विभाग का सर्वोत्तम बोध करा सकता है।

यह छ. अंशो मे है और नि सन्देह विष्णु के माहात्म्य-प्रदर्शन मे संलग्न है, जिनका तादात्म्य यह परमात्मा के साथ दिखाता है। प्रथम अंश मे जगत् की सृष्टि, ब्रह्मा के पुत्र, सात या नौ प्रजापतियो[1], से विश्व के प्राणियो की उत्पत्ति एवं मनुष्यो की वंशपरम्परा, कल्पान्त मे विश्व के प्रलय (दे० पृ० ३२३ टि० ३), इसकी पुन: सृष्टि (प्रतिसर्ग), तथा प्रथम मन्वन्तर मे राजाओं के राज्यो का वर्णन करता है। द्वितीय अंश मे अनेक लोकों, स्वर्गों-नरको एवं ग्रहो का, और सात गोलाकार महाद्वीपो की तथा समान केन्द्र वाले समुद्रो की रचना का वर्णन है, जिनका विवरण इस ग्रन्थ के पृ०४०९ पर दिया जा चुका है। तृतीय अंश मे वेदो, इतिहासो एव पुराणो की व्यास द्वारा रचना और वर्णव्यवस्था तथा वर्ण के नियमो का वर्णन है, जो मनु के वर्णन से मिलता-जुलता है। चतुर्थ अंश मे राजाओ एव राजवंशो का वर्णन है। पञ्चम अश भागवतपुराण के दसवे स्कन्ध से जा मिलता है और कृष्ण के जीवन से संबद्ध है। षष्ठ अंश चौथे युग मे मानव जाति के पतन, ससार के अग्नि एवं जल के द्वारा विनाश और कल्पान्त मे प्रलय का वर्णन करता है।

उपरोक्त इस पुराण की रूपरेखा मात्र है। अन्य पुराणों के समान यह भी अनेक विषयो का विवेचन करता है और दार्शनिक विचारो तथा विलक्षण कथाओ से भरा पडा है। साख्य दर्शन जैसे दर्शन की व्याख्या करने वाला एक अंश इस ग्रन्थ के पृ० ९८ पर उद्धृत किया गया है। व्यास के पिता महर्षि पराशर (देखिये पृ० ३६७ टि० ४) सम्पूर्ण पुराण अपने शिष्य मैत्रेय को सुनाते हैं। कथा इस प्रकार आरम्भ होती है[2]—

---

[1] सात प्रजापतियो या ऋषियो (सप्तर्षय, जिनका कभी-कभी ग्रेट बियर के सात तारो से तादात्म्य दिखाया जाता है) को ब्रह्मा ने मानव जाति के जनको के रूप मे उत्पन्न किया था और वे उनके मानस पुत्र कहलाते है। वे है—मरीचि, अत्रि, अङ्गिरस्, पुलस्त्य, पुलह, ऋतु तथा वसिष्ठ। विष्णुपुराण १.७ मे इनके साथ दो और, दक्ष तथा भृगु, जोड़ दिये गये है। मनु० १ ३५ मे नारद को जोड़कर यह संख्या दस कर दी गयी है।

[2] अपने अनुवादो मे मैंने प्रोफेसर एच० एच० विलसन के ग्रन्थ से सहायता ली है किन्तु मेरे सम्मुख बोडलियन पाण्डुलिपि का मूल है।

'सभी भूतों' के स्वामी विष्णु की आराधना कर, ब्रह्मा एवं अन्य देवो को नमस्कार कर, गुरु को शीश झुकाकर, मैं वेदो के तुल्य महत्व वाले पुराण को सुनाता हूँ ['प्रणम्य विष्णु विश्वेशं ब्रह्मादीन् प्रणिपत्य च । गुरुं प्रणम्य वक्ष्यामि पुराण वेदसम्मितम्', १ ३]

छन्द सामान्यत: सरल श्लोक है जिसमे स्थल-स्थल पर इन्द्रवज्रा' वंशस्थविल आदि आते हैं ।

प्रथम अंश के अध्याय २ के प्रारम्भ मे विष्णु के प्रति पराशर द्वारा की गयी प्रार्थना का रूपान्तर यहाँ दिया जाता है (इसके साथ उपनिपदों एवं भगवद्गीता मे आये हुए परमात्मा विपयक समान वर्णनो के साथ तुलना कीजिए, इस ग्रन्थ का पृ० ४४; १३८-१४१) :

उस सर्वशक्तिमान् भगवान विष्णु को नमस्कार है, जो परमात्मा, विकाररहित, पवित्र, नित्य, तथा ब्रह्मा, हरि, शिव रूपों में विश्व के स्रष्टा, पालनकर्ता एवं सहार करने वाले होते हुए भी सर्वदा एक रूप हैं । वे मोक्ष के साधन हैं, एक होकर भी नाना रूप हैं, जिनका तत्व एक है फिर भी सर्वत्र व्याप्त है; सूक्ष्म होते हुए भी व्यापक हैं; व्यक्त होते हुए भी अज्ञेय है; विश्व के मूल हैं फिर भी विश्वरूप हैं; विश्व के अधिष्ठान हैं;[१] अति सूक्ष्म पृथ्वी के अणुओं से भी सूक्ष्म है; प्रत्येक जीव में विद्यमान हैं, फिर भी निर्दोष, अक्षय और पूर्णज्ञानमय हैं ।

अमृत की उत्पत्ति के लिये समुद्रमन्थन की एक रोचक कथा १.९ मे आती है (इस ग्रन्थ के पृ० ३२० के वर्णन के साथ तुलना कीजिए) । यह उल्लेखनीय है क्योंकि यह रामायण १.४५ मे वर्णित कथा से बहुत भेद रखती है । इस अंश मे दिखाया गया है कि इन्द्र और सभी देवता क्रोधी दुर्वासा के शाप के कारण अपनी शक्ति खो बैठते है—और इस कारण राक्षसो के वशवर्ती हो जाते हैं । अपने कष्ट के समय देवता लोग विष्णु से प्रार्थना करते हैं और ब्रह्मा भी एक लम्बी स्तुति से उनकी आराधना करते हैं । इस कथा के एक अंश का रूपान्तर मैं यहाँ देता हुँ जिसमे एक दो स्थलो पर मूल के क्रम को परिवर्तित कर दिया गया है —

देवताओ ने भगवान् विष्णु से इस प्रकार निवेदन किया .—'युद्ध मे दुष्ट राक्षसो से पराजित होकर हम आप की शरण मे आये है; हे परमात्मन् हम पर दया कीजिए और अपने बल द्वारा हमे मुक्ति दिला-

[१] मूल मे ये तीन विशेपण है '—मूलभूतो जगत:, जगन्मय., तथा आधारभूतो विश्वस्य ।

हुए।' ससार के रचयिता भगवान् हरि इस प्रकार देवो की प्रार्थना सुनकर प्रसन्नता पूर्वक बोले—'देवताओ तुम्हारी शक्ति लौट आवेगी; मैं जो कुछ आज्ञा देता हूँ तुम वैसा ही करो। अपने इन शत्रुओ के साथ सन्धि कर लो, प्रत्येक दिशाओ से सभी वनस्पतियों को एकत्र करो; उन्हे क्षीरसागर मे छोड़ दो; मन्दर पर्वत को मथानी बनाओ, और वासुकि नाग को रज्जु बनाओ; सभी मिलकर अमृत की उत्पत्ति के लिए समुद्र का मन्थन करो जो सभी शक्ति एवं अमरत्व का साधन है। तब मेरी सहायता माँगो, मैं तुम्हारा ध्यान रखूँगा। तुम्हारे शत्रु तुम्हारे साथ परिश्रम करेगे किन्तु इसके फल मे अंश नही प्राप्त कर सकेगे; अमृत-पान नही कर सकेगे।' इस प्रकार देवेश्वर विष्णु का आदेश पाकर देवता असुरों के साथ मिल गये। तत्काल उन्होने अनेक प्रकार की वनस्पतियाँ एकत्र कीं और उन्हे जल मे डाल दिया। तब उन्होने पर्वत को दण्ड तथा सर्प को रज्जु बनाया। समुद्र के बीच स्वयं हरि कच्छप का रूप धारण कर स्थित हुए। उन्होने मन्थन दण्ड को सँभाला और वे क्षीरसागर का मन्थन करने लगे। पहले पहल जल से देवताओ द्वारा पूजित पवित्र गाय सुरभि निकली जो दूध और घृत का अक्षय स्रोत थी। उसके बाद सिद्धो के विस्मित नेत्रो से देखते रहने पर सुरा की देवी वारुणी निकली। तब उस मन्थन से स्वर्गीय वृक्ष पारिजात निकला जो स्वर्ग की ललनाओ के आनन्द का साधन और सम्पूर्ण ससार मे सुगन्ध फैलाता है। इसके बाद अद्वितीय सौन्दर्यवाली अप्सराओ का समूह निकला। तदुपरान्त शीतल किरणोवाला चन्द्रमा उत्पन्न हुआ जिसे महादेव ने ग्रहण कर लिया। उसके बाद भयकर विष निकला, इसे नागराजो ने ले लिया। तब कमल पर बैठी हुई सौन्दर्य की देवी अद्वितीय श्री जल से निकली और उनके साथ श्वेत वस्त्र धारण किये हुए धन्वन्तरि वैद्य निकले जो देवताओ के चिकित्सक हुए। उनके हाथ मे अमृत का कलश था—वह जीवनदायी अमृत जिसको देवता एवं राक्षस दोनो ही प्राप्त करना चाहते थे। राक्षस बलपूर्वक उस अमृत को उठा ले गये होते और उसे पी गये होते किन्तु भगवान् विष्णु ने छल से उसे लेकर देवताओ को दे दिया। क्रुद्ध होकर राक्षसो ने देवताओ पर आक्रमण किया, किन्तु अमृतपान से नयी शक्ति प्राप्त कर देवताओ ने अपने शत्रुओ को मार भगाया और वे सभी सिर के बल नरक के गर्त मे जा गिरे। निम्नलिखित मुचुकुन्द की प्रार्थना का एक अंश है (५.२३) :—

'हे जगदीश्वर, जीवित प्राणियो के एक मात्र आश्रय, दुखो को दूर करने वाले, मानवजन हितकारी, मुझ पर कृपा कीजिए, मेरे दुःखो को दूर कीजिए। हे संसार के रचयिता, भूत, भाव्य, चर-अचर सबकी सृष्टि करने वाले, आप स्वयं मूर्त एवं अमूर्त वस्तुओ के स्वरूप है; असीमित है फिर भी नितान्त सूक्ष्म है, सबके स्वामी हैं, श्लाघनीय है। मैं संसार के सभी विपयो का त्याग करके आपकी शरण में आया हूँ। मैं सुख की कामना करता हूँ और आप मे लीन होने की इच्छा करता हूँ।

कलि या संसार के पतन का निम्नलिखित वर्णन ४.१ से उद्धृत किया जाता है (तुलना इस ग्रन्थ के पृ० ३२३ टि० ३) :—

अब सुनो कि कलियुग मे क्या होगा : वर्ण तथा पद की व्यवस्थाएँ एवं नियम नही रह जायँगे। तीनो वेदो की शिक्षाएँ भी नही रह जायँगी। धर्म का व्यवसाय ही धर्म कहलायेगा और इच्छानुसार व्रत करना एवं तपस्याएँ करना ही धर्म होगा। अधिक सम्पत्तिशाली एवं खुले हाथ धन लुटानेवाले व्यक्ति दूसरो के प्रभु बनेंगे, उच्चपद से कोई स्वामी नही बन पायेगा, स्वेच्छाचारिणी स्त्रियाँ भोगविलास मे लीन रहेगी, महत्वाकांक्षी पुरुप छल से प्राप्त किये गये धन को ही अपना लक्ष्य बनायेंगे स्त्रियाँ क्षुद्र और निर्धन पतियो को छोड़कर उन्ही से प्रेम करेंगी जो उन्हे धन देगे। राजा प्रजा की रक्षा करने के स्थान पर उन्हे लूटेंगे और कर बढाकर व्यापारियों का धन चूस लेंगे। तब संसार के अन्तिम युग मे मनुष्य का कोई अधिकार नही रह जायगा; किसी की सम्पत्ति नही रह जायगी; कोई सुख या समृद्धि चिरकाल तक नही बनी रहेगी।

इन महापुराणो या प्रमुख पुराणो के अधीन अठारह उपपुराण भी हैं, किन्तु चूकि वे अल्प महत्व के हैं इसलिये मैं केवल उनके नाम गिना देता हूँ:—

१. सनत्कुमार; २. नरसिंह या नृसिंह; ३. नारदीय या बृहन्नारदीय[1]; ४ शिव; ५. दुर्वासस; ६. कापिल; ७. मानव; ८. औशनस; ९. वारुण; १०. कालिका; ११. शाम्ब; १२. नन्दि; १३. सौर; १४. पाराशर; १५. आदित्य; १६ माहेश्वर; १७. भागवत (जिसे भार्गव का गलत पाठ

---

[1] राजेन्द्रलाल मित्र के अनुसार एक महापुराण, नारदीय, से इसका भेद दिखाने के लिये इसे बृहत् कहा जाता है। वे अपने 'नोटिसेज आफ मैन्युस्क्रिप्ट्स' के सं० १०२१ मे इसका संक्षेप भी देते हैं।

समझा गया है); १८. वाशिष्ठ । प्रोफेसर विलसन द्वारा दी गयी दूसरी सूची थोडा अन्तर रखती है—१. सनत्कुमार; २. नरसिंह; ३. नन्दा, ४. शिवधर्म; ५. दुर्वासस्; ६. भविष्य; ७. कापिल; ८. मानव; ९. औशनस; १०. ब्रह्माण्ड; ११. वारुण; १२. कालिका; १३. माहेश्वर; १४ शाम्ब; १५ सौर; १६. पाराशर; १७. भागवत; १८. कौर्म ।

जहां तक दूसरे या नरसिंह उपपुराण का प्रश्न है इसकी विषयसूची का संक्षेप राजेन्द्रलाल मित्र की 'नोटिसेज आफ मैन्यूस्क्रिप्ट्स' मे दिया गया है (स० १०२०), जिससे पता चलता है कि इन रचनाओ का सामान्य स्वरूप प्रमुख पुराणो के अनुरूप ही है । उदाहरणार्थ १–५ अध्याय मे सृष्टि की उत्पत्ति; ६ में वशिष्ठ की कथा; १८ मे विष्णु की स्तुति; २२ मे सूर्यवश; २३ मे चन्द्रवश; ३० मे अन्तरिक्ष लोक का वर्णन है । कम से कम पाँच सौ वर्ष पूर्व यह ग्रन्थ सर्वविदित था, यह बात इस तथ्य से प्रमाणित होती है कि माधवाचार्य इसके उद्धरण देते हैं ।

तन्त्र

मैंने तन्त्रो का पहले ही उल्लेख किया है, जो सामान्यत. पुराणो के बाद के हिन्दू धर्म को उपस्थित करते हैं यद्यपि कुछ पुराणो एव उपपुराणो, यथा स्कन्द, ब्रह्मवैवर्त और कालिका, मे प्रकृति या दुर्गा की पूजा को प्रोत्साहित करनेवाले तान्त्रिक सिद्धान्तो की शिक्षा देने की बात कही जाती है ।

तन्त्र अनेक है किन्तु अब तक किसी का भी यूरोप मे मुद्रण या अनुवाद नही हुआ है । शाक्तो या एक देव की पत्नी के रूप मे मूर्त अथवा उसके अर्द्धांश के रूप मे उसकी सक्रिय तथा शक्तिदायी इच्छा (शक्ति) के पुजारियो के लिये ये व्यवहारतः (पुराणो के स्थान पर) पञ्चमवेद हैं ।[१]

यह कह देना चाहिए कि प्रमुख हिन्दू देवताओ के कभी-कभी दो स्वरूप या दूसरे शब्दो मे दो चरित्र बताये गये है एक शान्त दूसरा सक्रिय । सक्रिय को 'शक्ति' कहते हैं ।

कभी केवल आठ शक्तियाँ गिनायी गयी हैं और कभी नौ । वे है—वैष्णवी, ब्रह्माणी, रौद्री, माहेश्वरी, नारसिंही, वाराही, इन्द्राणी, कार्त्तिकी, तथा प्रधाना । कुछ लोग विष्णु की शक्तियो के लक्ष्मी के अतिरिक्त पचास रूप मानते हैं और दुर्गा या गौरी के अतिरिक्त शिव की भी पचास शक्तियाँ बताते

---

[१] जैसा प्रोफेसर एच० एच० विलसन ने प्रदर्शित किया, यह ध्यानार्ह है कि कुल्लूकभट्ट मनु० २ १ की टीका मे कहते हैं—'श्रुतिश्च द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी च' अर्थात् प्रकाशित ज्ञान दो प्रकार का है—वैदिक तथा तान्त्रिक ।

हैं। सरस्वती को विष्णु, रुद्र तथा ब्रह्मा की शक्ति बताया गया है। वायुपुराण के अनुसार रुद्र (शिव) का नारी रूप दो प्रकार का हुआ, आधा असित या श्वेत; और आधा सित या कृष्ण। इनमें से प्रत्येक अनेक प्रकार की हुई। श्वेत या शान्त रूप में उमा, गौरी, लक्ष्मी, सरस्वती आदि शक्तियाँ आती हैं, और कृष्ण या घोर रूप मे दुर्गा, काली, चण्डी, चामुण्डा आदि।

देव की शक्ति को मूर्त रूप देने की यह कल्पना मूलतः ऋग्वेद के दसवें मण्डल के प्रसिद्ध सूक्त (१२९) से उत्पन्न हुई है जिसमें सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि मन के प्रथम बीज (प्रथमं रेतस्) काम ने संसार को उत्पन्न किया (देखिए इस ग्रन्थ का पृ० २३)।

किन्तु किसी भी स्थिति मे तान्त्रिक सिद्धान्तों का विकास पुरुष और प्रकृति (इस ग्रन्थ के पृ० ९३ तथा ९८ पर वर्णित) के दर्शन के प्रचलित होने से हुआ। क्रियाशील जनयित्री शक्ति, चाहे वह सृजन, पालन या संहार मे प्रकट हो—जिसमे प्रत्येक के साथ दूसरे आवश्यक रूप मे जुड़े रहते हैं—हिन्दू धर्म की परवर्ती अवस्थाओ में एक सजीव एवं प्रत्यक्ष मूर्त रूप बन बैठी। अपरञ्च, चूकि संहार, सृष्टि तथा पालन की अपेक्षा अधिक भयंकर था, अतएव शिव की पत्नी, जो संहार की देवी है और जिन्हे काली, दुर्गा, पार्वती, उमा, देवी, भैरवी इत्यादि नाम दिये गये हैं, उन विशाल संख्यावाले पूजकों के लिए सम्पूर्ण देवमण्डल मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देवता बन बैठी जिनका धर्म अन्ध-विश्वास के भयो से परिपूर्ण था। कभी-कभी स्वय देव को दो रूपोवाला माना गया, जिसमे दाहिनी ओर का आधा भाग पुरुष तत्त्व का तथा बाया भाग नारीतत्त्व का प्रतिनिधि होता है[1] और ये दोनो परस्पर संयुक्त और दोनो ही प्रलयोपरान्त सृष्टि के लिये आवश्यक होते हैं। यह सरलता से सोचा जा सकता है कि इस प्रकार के धर्म का, जिसमे पुरुष एवं नारी तत्त्व के सम्मिलन को न केवल प्रजनन और पुन. सृष्टि का आवश्यक कारण अपितु

[1] यह शिव का अर्धनारी अर्थात् आधा पुरुष और आधा स्त्री रूप है। शाक्तों के दो वर्ग हैं—१. दक्षिणाचारी : उचित कर्म करनेवाले अथवा दक्षिणहस्त के पुजारी, या भक्त, जो पार्वती या दुर्गा देवी की खुले रूप में बिना अपवित्र कर्मों के पूजा करते हैं; २. वामाचारी, अथवा वामकर्म करनेवाले वामहस्त के पुजारी या कौल, जो अपने सभी कर्म एकान्त मे करते हैं एवं एक नंगी स्त्री देवी का प्रतिनिधि होती है। प्रथम वर्ग के शाक्तो के पवित्र ग्रन्थ निगम कहलाते हैं, दूसरे वर्ग वालो के आगम। पूजा मे पाँच मकारो मे किसी एक की आवश्यकता पड़ती है जो ये हैं—१. मद्य या शराब; २. मास; ३. मत्स्य या मछली; ४. मुद्रा, रहस्यमय अंगचालन; ५. मैथुन, यौनसम्बन्धी।

बल, ओज तथा सफलतापूर्ण यत्न का स्रोत भी माना था, शीघ्र ही भ्रष्ट एवं अन्धविश्वासपूर्ण आचारो के रूप मे पतन हो गया। वस्तुत. तान्त्रिक सिद्धान्त कुछ अवस्थाओ मे अपवित्रता एवं व्यभिचारपूर्ण पतित सम्प्रदाय के रूप मे पहुँच गये है।

फिर भी, मूल तन्त्र ग्रन्थ, जिनमे केवल देवता की क्रियाशील शक्ति की पूजा का प्रतिपादन किया गया था—यद्यपि वें सन्देहपूर्ण प्रतीकों, विचित्र रहस्यवाद तथा प्रत्येक प्रकार के अभिचारो तथा अन्धविश्वास-पूर्ण कर्मों के आदेशो से भरे हुए है—आवश्यक रूप से भ्रष्ट नही हैं। दूसरी ओर, उनमे जो सर्वोत्तम तन्त्र है वे निम्नकोटि के उल्लेखो से मुक्त हैं, भले ही उनकी शिक्षण की प्रवृत्ति चिन्त्य हो। मैं विश्वास करता हूँ कि सत्य तो यह है कि अब तक योरोपीय विद्वानो ने उनकी पूरी छानबीन नही की है। जब उनकी अधिक छानबीन होगी तो जगदुत्पत्ति सम्बन्धी साख्यदर्शन की लोकप्रचलित एव विकृत विचारधारा तथा सम्भवत: बौद्धधर्म के कतिपय भ्रष्ट रूपो के साथ इनका सम्बन्ध स्पष्ट हो जायगा। इतना तो निश्चित है कि उत्तर के बौद्धो, विशेषत नेपाल मे, शिव एवं दुर्गा के भयंकर रूप की एक प्रकार की पूजा बौद्ध मत के साथ घुली-मिली दिखाई पड़ती है।

निश्चित रूप से, तन्त्रो के रहस्यमय मन्त्र एवं आभिचारिक प्रार्थनाएँ तन्त्रो को अथर्ववेद के साथ उससे अधिक निकट सम्पर्क में ले आती हैं, जितना की अब तक सोचा जाता था।

चूँकि इन रहस्यपूर्ण रचनाओ के विषय मे हमारा ज्ञान अल्प हैं, अतएव सम्प्रति यह निर्णय देना सम्भव नही है कि इनमे सबसे प्राचीन कौन है और इनमे किसी की भी तिथि का निर्णय करना तो और भी दुष्कर हैं। इतना माना जा सकता है कि विद्यमान तन्त्रग्रन्थ, विद्यमान पुराणो के समान ही, प्राचीन रचनाओ पर आधृत हैं, और यदि प्राचीनतम ज्ञात पुराण छठी या सातवी शताब्दी (दे० पृ० ४८३) से अधिक पहले का नही है, तो प्राचीनतम तन्त्र को भी इससे पहले का समय नहीं दिया जा सकता।[1] सम्भवत: रुद्रयमल सर्वाधिक प्रतिष्ठित है। अन्य हैं कालिका, महानिर्वाण (जिन्हे शिव द्वारा रचित कहा जाता है), कुलार्णव (अर्थात् कुलो का ग्रन्थ दे० पृ० ४९२ टिप्पणी), श्यामारहस्य, शारदातिलक, मन्त्र महोदधि, उड्डीश, कामद, कामाख्या।

अब मैं कतिपय उन विषयो का विवेचन करूँगा, जिनका ये वर्णन करते

---

[1] यह देखा गया है कि सबसे प्राचीन देशीय कोशकार अमर सिह तन्त्र शब्द का अर्थ पवित्र ग्रन्थ नही करते जैसा के अन्य लेखकों ने किया है।

है। तन्त्र प्राय: शिव एवं उनकी पत्नी दुर्गा या पार्वती के बीच संवाद के रूप मे हैं जिनमे पार्वती कुछ रहस्यमय क्रियाओ के सही अनुष्ठान की विधि के विषय मे या विभिन्न मन्त्रो, अभिचारों एवं जादू के वचनों के प्रयोग के फल के विषय मे प्रश्न करती है और शिव उन्हे शिक्षा देते हैं।

पुराण के समान तन्त्र में भी वस्तुत: पाँच विषयो का वर्णन होना चाहिए था : १. सर्ग, २. प्रलय, ३. देवताओं की पूजा, ४. सभी इच्छाओं की विशेषत: छ: अतिमानवीय शक्तियो की प्राप्ति, ५. परमात्मा के साथ लयप्राप्ति के चार साधन। अनेक प्रकार के दूसरे विषयों का भी विवेचन किया गया है और व्यावहारिक रूप में बहुत से तन्त्र केवल अभिचार और प्रेतविद्या के ग्रन्थ और अशुभफल उत्पन्न करने तथा दूर करने के लिये मन्त्रों के सग्रह हैं। यदि हम राजेन्द्रलाल मित्र एवं अन्य विद्वानो द्वारा सूचीपत्रों में दिये गये विवरणों के आधार पर निर्णय दें तो कम से कम हम उपर्युक्त निष्कर्ष पर ही पहुँचेंगे। उनके वर्ण्यविषय के उदाहरणस्वरूप मैं निम्नलिखित विषयों को चुनकर प्रस्तुत करता हूँ—

नारी शक्ति की प्रशंसा; वशीकरण के मन्त्र; मोहन के मन्त्र; उच्चाटन के मन्त्र; स्थूल करने, नेत्र ज्योति नष्ट करने, मूक, बधिर, ज्वराकान्त आदि करने के मन्त्र; गर्भपात कराने, फसल नष्ट करने, अनेक प्रकार के अशुभ फलों को दूर करने के मन्त्र; चिड़ियो एवं पशुओं आदि की भाषा, मद्य, मांस, मैथुन आदि के साथ नारी मूर्ति की पूजा।

अन्तिम कामाख्या तन्त्र का विषय बताया जाता है।

६. नीतिशास्त्र

संस्कृत साहित्य के इस विभाग मे पहले तो शुद्ध नीतिशास्त्र या वे ग्रन्थ आते हैं जिनका सीधा लक्ष्य नैतिक उपदेश देना है; और दूसरे महाकाव्यों एवं अन्य रचनाओ के सभी शिक्षात्मक अंश आ जाते हैं।

विशुद्ध नितिशास्त्र का लक्ष्य पारिवारिक, सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन के सभी सम्बन्धो मे सही आचरण (निति) का पथप्रदर्शक बनना है। वे या तो (क) चुने हुए नीति वाक्यों, मार्मिक विचारो तथा वैदुष्यपूर्ण वचनो के छन्दबद्ध पद्यो के रूप मे संग्रह हैं, या (ख) गद्य मे लिखित कथाओ के ग्रन्थ हैं जो पशुओ से सबद्ध कथाओ तथा मनोरञ्जक उपाख्यानों को उनमें दिये गये नैतिक शिक्षा के लिए या छन्दबद्ध उपदेश देने की पृष्ठभूमि बनाने के लिये एक साथ जोडते हैं। दूसरे वर्ग मे प्राय: मौखिक रूप से प्रचलित या नियमित सग्रहो और अन्य स्रोतो से उद्धृत बुद्धिमत्तापूर्ण उक्तियाँ होती हैं।

विशुद्ध नीतिशास्त्र के अतिरिक्त संस्कृत साहित्य का प्राय: प्रत्येक विभाग नैतिक शिक्षा में अपना योगदान देता है।

कोई व्यक्ति, जो श्रेष्ठ हिन्दू रचनाओ का अध्ययन करता है, उनमे सर्वत्र व्याप्त रहनेवाले नैतिक स्वर से मुग्ध हुए बिना नही रह सकता। यद्यपि भारतीय लेखक पिछली पीढ़ियों के इतिहास का ध्यान रखने का कष्ट नही उठाते, तथापि वे मानव जीवन की वर्तमान दशा को पूर्वजन्मो के कर्मों के प्रतिफल के रूप मे उपस्थित करते हैं। अतएव वर्तमान आचरण का उचित मार्ग भविष्य मे सुखदायी होने के कारण सर्वाधिक महत्वपूर्ण विषय बन जाता है, और इसमे हमे चकित होने की आवश्यकता नही यदि नीति या व्यावहारिक ज्ञान का पथप्रदर्शन एवं उपदेश की इच्छा को सन्तुष्ट करने के लिए संस्कृत साहित्य के प्राय: सभी विभाग—ब्राह्मण, उपनिषद्, स्मृतियाँ, महाकाव्य तथा पुराण, अल्पाधिक मात्रा मे शिक्षाप्रद हैं। प्राय. सभी नैतिकता तथा दार्शनिकता का प्रतिपादन करने मे आनन्दित होते हैं, प्राय: सभी मे बुद्धिमत्तापूर्ण वचनो एवं विवेकपूर्ण नियमो की भरमार है। कदाचित् ही किसी प्रकार का कोई ग्रन्थ या कोई कृति होगी जो परमात्मा या उसके सब पर शासन करनेवाले कर्मों के प्रतिनिधिभूत किसी देवता की प्रार्थना किये बिना प्रारम्भ होती हो और जैसे प्रत्येक रचना आगे बढती है, नैतिक तथा धार्मिक विचार, तथा जीवन के कर्तव्यो के ऊपर लम्बे-लम्बे उपदेशो को भी बीच-बीच मे घुसेडने के प्रयोजन से लेखक बार-बार मुख्य विषय को छोड़ देते है या अपने नियत विषय से दूर हट जाते हैं।

समूचे संस्कृत साहित्य मे बिखरे हुए धार्मिक शिक्षाओ, उक्तियो, तथा नीति-वचनो के उदाहरण इस ग्रन्थ मे पहले ही दिये जा चुके है (उदाहरण के लिये पृष्ठ २७४–२८६, ४२९–४३६ देखिए)[1]।

अतएव अब हम उपसंहार में शुद्ध नीतिशात्र के दो वर्गो की ओर मुडते हैं।

क. जहाँ तक नैतिक वचनो, उक्तियो आदि के नियमित संग्रहो का प्रश्न है ये सामान्य रूप से छन्दबद्ध पद्यो में हैं और कभी-कभी इनमे प्राकृतिक वस्तुओं तथा परिवारिक जीवन के मनोहर वर्णन हैं, जिनके बीच-बीच में ईश्वर के स्वरूप, आत्मा की अमर्त्यता पर आकर्षक विचार तथा समाज के विविध सबन्धो एवं दशाओ के विपय मे गंभीर आचारशास्त्रीय शिक्षाएँ हैं। लेखको द्वारा दर्शाया

---

[1] मुझे डॉ० बॉटलिंक के इण्डिश्श स्प्रिश्श जैसे प्रसिद्ध तथा बहुमूल्य ग्रन्थ का उल्लेख करने की आवश्यकता नही प्रतीत होती, जिसमे तीन भागो मे सूक्तियों का एक पूर्ण संग्रह है और जो प्रत्येक सूक्ति के पाठ को आलोचनात्मक दृष्टि से एवं जर्मन अनुवाद सहित प्रस्तुत करता है।

गाया मानव स्वभाव का ज्ञान, उनकी दी गयी चतुरातापूर्ण राय और मानवीय दुर्वलताओ पर किये गये उनके आक्षेप–जो प्राय: तीखे, ओजपूर्ण एवं मुक्तक जैसी भाषा मे हैं—ऐसे वैदुष्य को प्रमाणित करते हैं जो यदि व्यवहार मे लाया गया होता तो उसने हिन्दुओं को पृथ्वी के देशों मे एक वहुत ऊँचे पद पर पहुँचा दिया होता । इस प्रकार के छन्दो का कोई समूचा सग्रह किसी विशिष्ट लेखक की रचना कहा जा सकता है या नही यह सन्देहास्पद है । जिन कारणो का हम पहले वर्णन कर आये हैं उनके फलस्वरूप हिन्दुओं ने सदैव नीतिवचनो मे आनन्द लिया है । अत्यन्त प्राचीन काल से असख्य सावूक्तियाँ वार्तालाप में निर्वाध उद्धृत की जाती रही हैं। इस प्रकार मौखिक रूप से प्रचलित अनेक उक्तियाँ इतनी प्राचीन थी कि उनके रचयिता को निश्चित करना असंभव था । किन्तु समय-समय पर प्रवाहमान सामयिक ज्ञान को अत्यन्त प्रसिद्ध नीतिवचनों एवं व्यक्तियो को हार के गुरियों के समान गूँथकर स्थायित्व प्रदान करने के प्रयत्न किये गये थे, जिनमे प्रत्येक हार एक पृथक् विषय को प्रस्तुत करता है, और एक सम्पूर्ण शृंखला का रचयिता स्वभावत: भर्तृहरि और चाणक्य (पृ० ४७७) सरीखे प्रख्यात ज्ञान वाले व्यक्तियों को उसी प्रकार बना दिया गया, जिस प्रकार पुराणो एवं माहाभारत के लेखक महर्षि व्यास बना दिये गये (पृ० ३६३) । इन संग्रहो मे निम्नलिखित का उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा :—

१. भर्तृहरि[1] की तीन सौ सूक्तियाँ (दे० पृ० ५०२) जिनमे पहले एक सौ श्लोक श्रृङ्गार विषय पर है और इस कारण उपदेशात्मक होने की अपेक्षा गीतात्मक अधिक हैं; दूसरे सदाचार (नीति) पर हैं तथा तीसरे सासारिक विषयो के त्याग (वैराग्य) पर । २. वृद्ध-चाणक्य या राजनीतिशास्त्र । ३. चाणक्यशतक अर्थात् चन्द्रगुप्त के मन्त्री (मुद्राराक्षस के विवेचन मे देखिये पृ० ४७७ पर) चाणक्य के एक सौ (वेवर द्वारा अनूदित संकलन मे, १०९) श्लोक । ४. अमरुशतक अर्थात् अमरू (पृ० ४४१ पर वर्णित) रचित श्रृङ्गार विषयक एक सौ श्लोक । ५. शार्ङ्गधरपद्धति–जिसमे विभिन्न स्रोतो से नीतिपूर्ण वचनो का सग्रह करने का तथा अधिकांश के लेखकों का नाम देने का लक्ष्य रखा गया है और इनकी संख्या प्राय: २४७ है[2] । कुछ श्लोको के लेखको का नाम अज्ञात है ।

उपदेशात्मक तथा श्रृङ्गार विषयक श्लोको के अनेक संग्रह हैं जिनमे से कुछ नितरा अर्वाचीन है, यथा सुभाषितार्णव, शान्तिशतक, नीतिसंकलन,

---

[1] फान वोस्लेन द्वारा लैटिन अनुवाद सहित १८३३ मे संपादित ।

[2] इस पद्धति पर त्सी० गे० के भाग २७ मे लेख देखिए ।

कवितामृतकूप, कवितार्णव, ज्ञानसुधाकर, श्लोकमाला, जगन्नाथ रचित भामिनी-विलास, बिल्हण रचित चौरपञ्चाशिका (भर्तृहरि सहित, फान बोलेन द्वारा सम्पादित) ।

ख. जहाँ तक कथाओ एव उपाख्यानो का सम्बन्ध है ये इस प्रकार की रचना हैं जिनमें भारत के निवासी अपना सानी नही रखते ।

सर वि० जोन्स ने कहा था कि हिन्दूओ ने तीन बातों को जन्म दिया : १. शतरंज का खेल (चतुरंग, देखिए इस ग्रन्थ का पृ० २५४); २. दशमलव के अंक (दे० पृ० १८७); ३ कथाओ से शिक्षा देने की प्रणाली । इनके साथ ४. व्याकरण, (पृ० १६७), तथा ५. तर्कशास्त्र (पृ० ७१) भी जोड़े जा सकते है ।

यह समझा जाता है ग्रीक कथाकार एसोप (Aesop) तथा अरबी लुकमान[1] दोनो ही हिन्दुओं के बहुत ऋणी थे ।

यह बहुत संभव है कि संस्कृत उपाख्यानो का कोई प्राचीन ग्रन्थ, जिसका वर्तमान प्रतिनिधि पञ्चतन्त्र है और जिसका अनुवाद या रूपान्तर भारत की अधिकाश विभाषाओ के साथ हिब्रू , अरबी, सीरियाई, पहलवी, फारसी, तुर्की, इटालियन, फ्रेन्च, जर्मन, अंग्रेजी तथा साहित्यिक जगत् की प्राय: प्रत्येक ज्ञात भाषा में हो चुका है, हेरोडोटस (२ १३४) के समय से प्रायः दो हजार वर्षो से भी अधिक समय से योरप और एशिया मे प्रचलित सभी प्रसिद्ध कथाओं का मूल स्रोत रहा है ।[2]

---

[1] हेरोडोटस और प्लूटार्क के अनुसार एसोप छठी शताब्दी ई० पू० के उत्तरार्द्ध मे हुआ था और वह कभी समोस मे एक दास था । दास जीवन से मुक्त होकर उसने भ्रमण किया और क्रोइसस आदि से मिला । जहाँ तक लुकमान का प्रश्न है इस नाम का व्यक्ति किसी समय था यद्यपि कुछ लोग उसे एक कल्पित व्यक्ति मानते है । उसने जॉब या अब्राहम की अपेक्षा निश्चय ही हिन्दू कथाकारो से अधिक कहानियाँ ली होगी । कुछ अरबी लेखक उसे अब्राहम का भतीजा बताते है । कुरान के ३१ वाँ अध्याय उसके नाम पर है और खुदा के मुख से कहलाया गया है 'हमने उसे ज्ञान दिया है' ।

[2] पञ्चतन्त्र का पहलवी संस्करण इसका प्रथम वास्तविक अनुवाद था । इसकी रचना नूशीर्वान के समय मे ५७० ई० मे हुई थी और अरबो के फारस पर आक्रमण के समय यह अधिकांश पहलवी साहित्य के साथ ही नष्ट हो गया । इसका नाश होने के पूर्व प्राय: ७६० ई० मे इसका अनुवाद अरबी मे हो चुका था और इसे कलील वा दम्न (संस्कृत करटक और दमनक, जो दो शृगालों के नाम हैं) या ब्राह्मण बीदपाय की कथायें नाम दिया गया था । प्रसिद्ध फारसी

यह पञ्चतन्त्र[१]—जो स्वत: इससे अधिक अर्वाचीन प्रसिद्ध पाठ्यग्रंथ हितोपदेश का स्रोत है—पाँच अध्यायो (तन्त्रो) मे विभक्त होने के कारण इस नाम से पुकारा जाता है; किन्तु इसे प्राय: पञ्चोपाख्यान, अर्थात् कथाओं का पाँच संकलन भी कहते है। वर्तगान पञ्चतन्त्र का समय प्राय: पाँचवी शताब्दी का अन्त रखा जाता है, किन्तु इसमे पायी जानेवाली अनेक कथाये ईसा से बहुत पहले के समय की कही जा सकती है।

यह अनुमान किया गया है कि पारिवारिक, सामाजिक, तथा राजनीतिक कर्तव्यो की ऐसी कथाओ के माध्यम से शिक्षा देने की कल्पना जिनमे पशु वक्ता के रूप मे आते हैं, सर्वप्रथम हिन्दू आचारशास्त्रियो के मस्तिष्क मे उस समय आयी जब पुनर्जन्म के सिद्धान्त की भारत मे जड़ जम चुकी थी। हम देख चुके है कि आत्माओ के वृक्षो, पशुओं, एवं मनुष्यों की योनि में भ्रमण करने के सुतरा विकसित सिद्धान्त का प्रतिपादन मनु ने कम से कम ५०० ई० पू० में किया था, जो समय वर्तमान मानवो की स्मृति के लिये हमने स्वीकार किया है (दे० पृ० ६५ टि० १ तथा पृ० २७१)। अतएव इस बात का प्रमाण है कि मनु के समय मे ब्राह्मण संस्कृति के उदय तथा बौद्ध धर्म एवं सांख्य मत सरीखे विरोधी सम्प्रदायो के अनुवर्ती विकास के साथ ही साथ, इन सम्प्रदायो की शिक्षाओं का दृष्टान्त देने के लिए कथाओं का उपयोग सामान्य रूप से होने लगा था। इस प्रकार :

अनवार-ए-सुहैली अर्थात् 'कनोपस की ज्योतियाँ' जो हुसैन वाइज़ का था और पन्द्रहवी शताब्दी के प्रारम्भ मे रचा गया था, पञ्चतन्त्र का ही वृहत् रूप था। अकबर के प्रसिद्ध मन्त्री अबूल फजल ने भी सरल फारसी में इसका अनुवाद किया और उसका नाम इयार-ए-दानिश, 'ज्ञान की कसौटी' रखा। खिरद अफरोज़ अर्थात् बुद्धि का प्रकाशक नाम का संस्करण हफीजुद्दीन अहमद ने १८०३ में बनाया था। हिब्रू संस्करण के लेखक रम्बी जोइल कहे जाते हैं। इसका लैटिन मे अनुवाद कापुआ के जॉन ने पन्द्रहवी शताब्दी के अन्त मे किया था और इस अनुवाद से विविध इटालियन, स्पेनिश, तथा जर्मन अनुवादों की रचना हुई। अंग्रेजी पिल्पे की कथाओ को फ्रेन्च अनुवाद से गृहीत कहा जाता है। सर्वोत्तम तुर्की संस्करण हुमायू नामा की रचना श्री ई० बी० इस्टविक के अनुसार सम्राट् सुलेमान प्रथम के राज्यकाल में 'अली छलबी बिन सालिह ने की थी।

[१] कोसेगार्टन ने १८४८ मे इसका सम्पादन किया और हाल ही में भारत मे प्रोफेसरद्वय बूलहर तथा कीलहॉर्न ने संपादन किया है। विस्तृत भूमिका सहित जर्मन मे अनुवाद १८५९ मे प्रोफेसर बेनफे ने किया है।

साख्यप्रवचन (देखिए पृ० ८७ टि० १) के समूचे चौथे अध्याय मे दार्शनिक तथ्यों का स्पष्टीकरण प्रचलित कथाओं तथा सूक्तियो मे वर्णित पशुओं के स्वभावो के निरन्तर उल्लेखो द्वारा किया गया है (उदाहरणार्थ, 'सर्पवत्', सर्प के समान, ४.१३; भेकीवत्, मेढकी के समान, ४.१६; शुकवत्, तोते के समान ४.२५, इत्यादि)। पुनः, वैयाकरण पाणिनि के नियमो के ऊपर कात्यायन के एक वार्तिक मे (४.२,१०४; तुलना ४.३,१२५) कौओं और उल्लुओ की प्रचलित कथा का एक नाम (काकोलूकिका) दिया गया है और पञ्चतन्त्र के चौथे तन्त्र का शीर्षक 'काकोलूकीय' पाणिनि के दूसरे सूत्र (४.३,८८) द्वारा बनता है। महाभारत के सौप्तिकपर्व (दे० इस ग्रथ का पृ० ३९९) में भी इस आख्यान का उल्लेख है। इसी महाकाव्य में ही दूसरे प्रसिद्ध आख्यानों का भी वर्णन किया गया है। उदाहरण के लिये हितोपदेश के चतुर्थ अध्याय में आने वाली तीन मछलियों की कथा शान्तिपर्व ४८८९ आदि मे तथा सुन्द और उपसुन्द की कथा आदिपर्व ७६१९ मे पायी जाती है।

बताया जाता है कि पञ्चतन्त्र और हितोपदेश की कहानियाँ विष्णुशर्मा नामक विद्वान ब्राह्मण ने कुछ ऐसे युवक राजकुमारों को सुधारने के लिये कही थी जिनके पिता उनकी आवारा एवं उच्छृङ्खल आदतो से बड़े दुःखी थे। वस्तुतः कथाएँ इनमे उक्त शिक्षाओ का माध्यम मात्र हैं। उन्हे एक के भीतर दूसरे को जोड़कर गूँथा गया है जिससे एक की समाप्ति होते-होते दूसरी प्रारम्भ हो जाती है और सभी स्रोतों से नीति सम्बन्धी श्लोक कथा के साथ जोड़ दिये जाते है।

सस्कृत साहित्य मे कथाओ का एक इससे भी बड़ा संग्रह मौजूद है। इसे 'कथासरित्सागर'[1] अर्थात् 'कहानियो की नदियो का समुद्र' कहा जाता है और इसका सकलन काश्मीर के सोमदेव भट्ट ने ग्यारहवी शताब्दी के अन्त मे या बारहवीं शताब्दी के आरम्भ मे बृहत्कथा (जिसे गुणाढ्य रचित बताते हैं) नाम के इससे भी बड़े सग्रह से सुनकर किया था।

कथासरित्सागर मे अट्ठारह लम्बक हैं जिनमें सब मिलाकर १२४तरङ्ग है। दूसरे और तीसरे लम्बको मे उदयन की प्रसिद्ध कथा है (देखिए पृ० ४७७)। सोमदेव के समकालीन कल्हण थे जिन्होने राजतरङ्गिणी, अर्थात् राजाओ की धारा, की प्रायः ११४८ ई० मे रचना की। यह काश्मीर के राजाओ का वंश चरित्र है। सम्पूर्ण सस्कृत साहित्य में यह प्राय· एकमात्र ग्रन्थ है जिसका कुछ

---

[1] सम्पूर्ण ग्रन्थ का सुन्दर सम्पादन डॉ० हरमन ब्रोखहाउस ने किया है। प्रथम पाँच लम्बको के अतिरिक्त शेष सभी रोमन लिपि मे हैं।

ऐतिहासिक महत्व है। इसके अधिकाश भाग की रचना प्रचलित श्लोक छन्द में है और इसमे आठ तरङ्ग हैं।[1]

कथाओं एवं व्याख्यानों के अन्य संग्रह—जो सही अर्थ में नीतिशास्त्र नही हैं—ये हैं :

१. दशकुमार चरित अर्थात् दस राजकुमारों का चरित्र, जो गद्य मे कथाओं का संग्रह है (किन्तु भारतीय विद्वान् इसे काव्य की संज्ञा देते हैं)। इसके रचयिता दण्डिन् हैं जिनका समय ग्यारहवीं शताब्दी है। इसकी शैली यत्नकृत और दुर्बोध है। लम्बे समासो तथा अप्रचलित व्याकरणीय रूपो का प्रयोग किया गया है। इसका सम्पादन प्रोफेसर एच० एच० विलसन ने १८४६ में एक लम्बी भूमिकाके साथ किया था। २. वेतालपञ्चविंशति, या एक दैत्य की पच्चीस कहानियाँ जिसके रचयिता जम्भलदत्त बताये जाते है। यह प्रसिद्धहिन्दी कथासंग्रह 'बैताल पचीसी' का मूल-रूप है। एक वेताल या प्रेत ये कथायें विक्रमादित्य को सुनाता है जो वेताल द्वारा अधिकृत एक शव को छुड़ाने का प्रयत्न करते है। ३. सिंहासन-द्वात्रिंशत् (जिसे कभी-कभी विक्रमचरित भी कहते है) जिसमे राजा विक्रमादित्य के सिंहासन पर लगी हुइ बत्तीस मूर्तियो से सबद्ध कथाएँ हैं। यह सिंहासन भोज की राजधानी, धारा, के निकट खोदकर निकाला गया था। ये कथाएँ भोज को सुनाई जाती है जिनका समय दसवी या ग्यारहवी शताब्दी है। यह बंगाली के 'बत्रिश सिंहासन' का मूल है। ४ शुक सप्तति अर्थात् एक तोते की सत्तर कहानियाँ, जिसका अनुवाद भारत की अनेक आधुनिक विभाषाओ मे हो चुका है (उदाहरणार्थ हिन्दुस्तानी में तोता की कहानी नाम से, फारसी मे भी 'तूती नाम' नाम से अनेक पाठ मौजूद हैं)। ५ कथार्णव, अर्थात 'कथाओं का समुद्र' जो पैंतीस अपेक्षाकृत अर्वाचीन कथाओं का संग्रह है। इन कथाओ के लेखक शिवदास बताये जाते है। ६. भोज प्रबन्ध राजाभोज के चरित्र की प्रशंसा मे बल्लालरचित एक ग्रन्थ है। ७ कादम्बरी, बाण या बाणरचित एक प्रकार का उपन्यास है जो सातवी शताब्दी मे कन्नौज के राजा हर्षवर्धन या शिलादित्य की सभा मे हुये थे। इस ग्रंथ का विश्लेषण प्रोफेसर वेबर ने दिया है (इण्डिश्श स्ट्राइफेन का भाग १ पृ० ३५१)। कलकत्ता से इसके सुन्दर संस्करण निकले हैं। ८. वासवदत्ता—सुबन्धुरचित एक प्रेमाख्यान, जिसकी रचना डॉ० फिटज-एडवर्ड हाल के अनुसार सातवी शताब्दी के प्रारम्भिक भाग के बाद की नही

[1] प्रथम छः तरङ्गो का सम्पादन तथा सम्पूर्ण ग्रन्थ का फ्रेंच में अनुवाद एम० ट्रायर ने १८४० मे किया था तथा इसका विश्लेषण प्रोफेसर एच० एच० विलसन ने किया है। देखिए इस ग्रंथ का डॉ० रोस्ट का संस्करण।

हो सकती (देखिए १८५९ मे प्रकाशित इस ग्रंथ के उनके संस्करण की लम्बी प्रस्तावना)। यह और इसके पहले वाली कथा यद्यपि गद्य में है तथापि (प्रथम के समान) इसे काव्य माना जाता है और राघवपाण्डवीय (पृ० ४५०) के समान इसमे ऐसे शब्द और वाक्य बताये जाते हैं जिनके दोहरे अर्थ निकलते हैं।

मैं भर्तृहरि के नीति वचनो, और पञ्चतन्त्र तथा हितोपदेश से उदाहरण देकर समाप्त करूँगा।

अधोलिखित उदाहरण भर्तृहरि से लिये गये हैं :—

इस ससार मे प्रेम का वास्तविक फल तभी मिलता है जब दो हृदय एक मे मिलते हैं; किन्तु यदि विरोध से प्रेम का नाश हो जाय तो दो मृत शरीरो का मिलन होना श्रेयस्कर है (१२९)

आत्माभिमान से अंधा होकर, मूढ और गज के समान उत्कट वासना से मत्त होकर, मैंने सोचा कि मैं सभी प्रकार का ज्ञान रखता हूँ; किन्तु जब शनैः शनैः मैंने गुरुओ से ज्ञान प्राप्त किया तो मेरा अहंकार रोग के समान दूर भाग गया और अब मैं इस सरल अनुभव के साथ जी रहा हूँ कि मैं कितना मूर्ख हूँ (२.८)।

हाथ का सबसे उत्तम गुण दान देने की तत्परता है; मस्तक का गुण गुरु के सम्मुख विनत रहना; मुख का सुन्दर बचन बोलना; विजेता की भुजाओ का सर्वोत्तम गुण अप्रतिहत शक्ति है; चित्त का गुण नितान्त निर्मल रहना, कानो का सत्य का श्रवण करना—ये सब मनस्वियो के आभूषण हैं जो साम्राज्य के वैभव से बढ़कर होते हैं। (२.५५)।

ऊँचे पर्वत शिखर से गिराया जाना अच्छा है, चट्टानो पर गिर कर चूर-चूर हो जाना अच्छा है, विषधर सर्प के मुख मे हाथ डालना अच्छा है, जलती आग मे कूद जाना अच्छा है किन्तु दुष्कर्म के कलंक से चरित्र को दूषित करना अच्छा नही (२.७७)।

मनुष्य कभी एक बालक होता है, फिर भोग-विलास मे लीन युवक हो जाता है; कुछ समय तक धन-धान्यपूर्ण गृहस्थ का जीवन व्यतीत करता है तो दूसरे क्षण निर्धन हो जाता है, विकलाग बन जाता है, शरीर पर झुर्रियाँ पड जाती हैं। इस प्रकार मनुष्य जीवन के बहुरूप मार्ग के अन्त तक पहुँच जाता है, और एक नाटक के पात्र के समान मृत्यु के पर्दे के पीछे ओझल हो जाता है[1] (३.५१)।

[1] शेक्सपियर मे इसके समानान्तर वर्णन का संकेत देने की आवश्यकता नही।

अब मै एक भारतीत्त उपाख्यान का उदाहरण प्रस्तुत करूँगा जो पञ्चतन्त्र की एक कथा (पञ्चमतन्त्र, आठवी कथा) का प्राय: शब्दश: अनुवाद है :—

दो मस्तकवाला जुलाहा[१]

किसी समय एक स्थान पर एक कौलिक रहता था, जिसका नाम था मन्थर। एक दिन जब वह बुन रहा था तो उसके करघे का सारा काष्ठयन्त्र टूट गया। वह अपनी कुल्हाड़ी (कुठार) लेकर नया करघा बनाने के लिये लकड़ी काटने चल पड़ा, और समुद्र के किनारे एक बड़े सिंशपा का वृक्ष पाकर उसने मन मे सोचा 'इससे मेरे कार्य के लिये पर्याप्त लकडी मिल जायगी।' यह सोच-कर वह उसे काटने लगा। उस वृक्ष मे एक प्रेत (व्यन्तर) रहता था जो कुल्हाडी की पहली चोट लगते ही बोला—'अरे, कौन है ? तू क्या चाहता है ? यह वृक्ष मेरा निवास है और मैं तुझे इसे काटने नही दे सकता, क्योंकि यहाँ मैं समुद्र की फुहार से शीतल हुई मन्दवायु को ग्रहण करता हुआ अत्यन्त आनन्दपूर्वक निवास करता हूँ।' कौलिक ने कहा—'मै क्या करूँ ? जब तक लकड़ी नही मिलती मेरा परिवार भूखो मर जायगा। जल्दी करो और दूसरा निवासस्थान ढूँढ लो, क्योकि मैं तुम्हारे इस निवासवृक्ष को तत्काल अभी काटूँगा।' प्रेत ने उत्तर दिया—'मैं तुम्हारी निर्भीकता से बहुत प्रसन्न हूँ और तुम जो वर चाहो माँग लो; किन्तु इस वृक्ष को चोट मत पहुँचाओ।' कौलिक ने कहा कि वह घर जाकर अपने एक मित्र और अपनी पत्नी से परामर्श लेगा और तब लौटकर बतायेगा कि वृक्ष के बदले कौन-सा उपहार वह चाहेगा। प्रेत राजी हो गया। जब कौलिक घर लौटा तो उसने अपने मित्र, गाँव के नाई (नापित), से भेंट की। उससे उसने सभी घटना का हाल कह सुनाया और बताया कि उसने प्रेत को वर देने के लिये बाध्य कर दिया था। उसने अपने मित्र से पूछा कि क्या वस्तु माँगनी चाहिए। नाई ने कहा—'मेरे भले मित्र, राजा होने का वरदान माँगो, तब मैं तुम्हारा प्रधान मन्त्री बनूँगा और हम इस ससार मे प्रचुर आनन्द उठाकर दूसरे लोक मे भी सुख प्राप्त करेगे। तुमने यह उक्ति नहीं सुनी है :—

'राजा पृथ्वी पर दान देकर यश प्राप्त करता है और मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग मे भी स्वामित्व प्राप्त करता है।' कौलिक ने अपने मित्र का सुझाव मान लिया किन्तु अपनी पत्नी से परामर्श लेने का विचार व्यक्त किया। नाई ने इसका विरोध किया और उसे इस कहावत की याद दिलायी :—

---

[१] मैंने इस कथा के कुछ श्लोको को छोड़ दिया है और थोड़ी स्वतन्त्रता बरती है। अपने कुछ अनुवादो मे मैंने प्रोफेसर एच० एच० विलसन के तथा प्रोफेसर बेनफे के जर्मन अनुवाद से सहायता ली है।

'स्त्रियो को भोजन, वस्त्र, आभूषण एवं सभी उत्तम वस्तुएँ दो किन्तु यदि तुम बुद्धिमान हो तो उनसे कभी अपनी योजनाओ के विषय मे न कहो।'

इसके अतिरिक्त भृगु के विद्वान पुत्र ने भी कहा है :—

'यदि तुम्हे कोई कार्य करना है और तुम उस कार्य को करना ही चाहते हो तो किसी स्त्री से राय मत लो नही तो तुम उस कार्य को नष्ट कर डालोगे।'

कौलिक ने अपने मित्र, नाई, के वचनो की यथार्थता स्वीकार कर ली किन्तु इस बात पर अड़ा रहा कि उसकी पत्नी बिलकुल आदर्श और एकमात्र अपने पति के हितचिन्तन मे लीन रहनेवाली स्त्री है अतएव वह उससे राय लेना आवश्यक समझता है। फलत. वह उसके पास पहुँचा और वृक्ष के प्रेत से प्राप्त किये गये वर की बात बतायी तथा यह भी बताया कि किस प्रकार नाई ने उससे राजा बन जाने का वर माँगने के लिये परामर्श दिया है। तब उसने उससे राय माँगी कि कौन-सा वर लेना चाहिए। उसने कहा—'मेरे स्वामी, आप कभी नाइयो की बात न सुने। वे कोई बात क्या जानें ? आपने तो यह उक्ति सुनी ही है .—

'किसी बुद्धिमान व्यक्ति को नाई, नर्तक, भिक्षुक, और कृपण व्यक्ति को अपना परामर्शदाता नही बनाना चाहिए।'

इसके अतिरिक्त, सभी जानते है कि राजपद पर निरन्तर विपत्तियाँ आती रहती है। शान्ति और युद्ध की चिन्ताएँ–सेना का प्रयाण, शिविरो का निर्माण, मित्र बनाना और फिर उनसे युद्ध करना, आदि, कार्यों से राजा को एक क्षण भी आनन्द के लिये नही मिलता। मैं तो यही कहूँगी कि यदि आप राजा बनना चाहते हैं तो आप एक व्यर्थ वस्तु की कामना करते है। राज्याभिषेक के समय जल पात्र से आपके ऊपर जल की बूँदे और विपत्तियाँ एक साथ आ पडेंगी।

कौलिक ने उत्तर दिया—'प्रिये तुमने जो कुछ कहा वह बिल्कुल ठीक है किन्तु यह बताओ कि मैं कौन-सा वर माँगू।' उसकी पत्नी ने कहा—'मैं यही कहूँगी कि आप अधिक कार्य करने का साधन माँगे। इस शरीर से आप कभी एक समय मे एक से अधिक वस्त्र नही बुन सकते। एक जोडे हाथ और एक सिर और माँग लीजिए, जिससे आप अपने आगे-पीछे दोनों ओर वस्त्र बुन सके। पहले वस्त्र से प्राप्त धन घर के व्ययों के लिये पर्याप्त होगा और दूसरे से प्राप्त धन को आप व्याज पर अपनी जाति बिरादरी मे उधार देकर ऊँची प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेगे।'

धन्य ! धन्य !! पति बोल उठा और अपनी पत्नी के परामर्श से अत्यन्त प्रसन्न हुआ। तत्काल ही वह उस वृक्ष के पास गया और प्रेत को सम्बोधित कर बोला—'चूँकि तुमने मुझे इच्छानुसार वर देने को कहा था अतएव मुझे एक जोड़े हाथ और एक और सिर दो।' कहते ही उसे ये वस्तुएँ प्राप्त हो गई। एक क्षण मे उसके दो सिर और चार बाँहें हो गईं और इस नयी उपलब्धि से अत्यन्त प्रसन्न होकर वह लौटा। ज्यो ही ग्रामवासियों ने उसे देखा वे डर गये और चिल्लाने लगे 'राक्षस आया ! राक्षस !' और फिर उन्होंने उसे डंडो और पत्थरो से मार-मार कर जल्दी ही उसका काम तमाम कर दिया।

अधोलिखित वचन भी पञ्चतन्त्र से ही लिये गये है :—

उपकारी के प्रति दयापूर्ण व्यवहार रखनेवाले कृतज्ञ मनुष्य की सज्जनता की प्रशसा मत करो। बुराई करनेवाले के प्रति भलाई करनेवाला मनुष्य ही वस्तुतः सज्जन कहलाने का अधिकारी होता है (१.२७७)

मूर्ख व्यक्ति धन के लोभ से जिस कृपणता का व्यवहार रखते है वह उस व्यक्ति के कष्टों से सौ-गुना अधिक दु.खदायी होती है, जो नित्य सुख प्राप्ति के लिये यत्न करता है। (२.१२७)।

धर्म का एक सारतत्व सुनो और इस वचन पर विचार करो कि दूसरो के प्रति वह आचरण नही करना चाहिए जो स्वयं को कष्ट पहुँचानेवाला हो। (३ १०४)।

तुच्छ बुद्धि वाले मनुष्य ऐसा विचार करते हैं कि अमुक व्यक्ति अपने परिवार का है या दूसरे ? उदारचित्त वाले महात्मा तो सम्पूर्ण मानव जाति को एक समान ही समझते है (५.३८)

अन्त मे उपसंहार स्वरूप मैं हितोपदेश से कुछ सूक्तियाँ प्रस्तुत करता हूँ : मैंने प्रोफेसर जानसन के सुन्दर संस्करण से अनुवाद किया है :—

लक्ष्मी, सिंह के समान पराक्रमी उस पुरुष के पास जाती है जो शक्ति लगाकर उद्योग करता है; क्षुद्र बुद्धिवाले कायर व्यक्ति भाग्य से ही सुख प्राप्ति की कामना करते हैं। भाग्य की चिन्ता छोड़ दो, पौरुष के साथ अपनी शक्ति भर कर्म करो। प्रयत्न करने पर भी यदि कार्यसिद्धि नही होती तो इसमे तुम्हारा कोई दोष नही है (प्रस्तावना ३१)।

मूर्ख व्यक्ति सुन्दर वस्त्र धारण कर सम्मान प्राप्त कर सकता है

और अज्ञानी व्यक्ति विद्वानो की सभा मे जब तक अपनी जीभ नही हिलाता तभी तक आदर प्राप्त कर सकता है। (प्रस्तावन ४०)

काँच का टुकड़ा भी रत्नों के समान चमकने लगता है यदि उसके नीचे सोने का टुकड़ा रख दिया जाय। इसी प्रकार विद्वानों की संगति से मूर्ख व्यक्ति भी प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकते हैं (प्रस्तावना ४१)।

किसी हानिकारक स्थान से लाभ की अपेक्षा मत रखो। जब पात्र में थोडा भी विष का अश होता है तो अमृत भी, जो देवताओं को अमर बनाता है, मृत्यु प्रदान करनेवाला हो जाता है। (१.५)।

इन्द्रियो के वशीभूत होना विनाश का मार्ग है, और उन्हे वश मे रखना सुख का; जिस मार्ग का चाहो उस मार्ग का का अनुसरण करो (१ २९)

दुर्बल वस्तुओ का संघात भी बड़ा कार्य सिद्ध करने मे समर्थ होता है। कमजोर तिनको से भी बनायी गयी रस्सी मत्त हाथियो को बाँध सकती है। (१ ३५)।

ज्ञानी व्यक्ति परोपकार के लिये अपने धन और प्राणों का भी त्याग कर देता है। जब मृत्यु अवश्यम्भावी है तो उत्तम प्रयोजन के लिये प्राणों का छूट जाना श्रेयस्कर है (१ ४५)।

उस व्यक्ति के पास सभी सम्पत्तियाँ हैं जिसका मन सन्तुष्ट है। जिस व्यक्ति के पाँव जूते से ढके होते है उसके लिए सम्पूर्ण पृथ्वी भी चर्म से आवृत प्रतीत होती है (१.१५२)।

परिवार के लिए एक व्यक्ति की बलि देना उचित है; सम्पूर्ण ग्राम के लिए एक परिवार का त्याग उत्तम है; और सम्पूर्ण देश के लिये एक ग्राम का त्याग उचित है; किन्तु अपने लिये और अपनी आत्मा के लिये सम्पूर्ण संसार का त्याग कर देना चाहिए (१.१५९)।

सम्पत्ति और विपत्ति का सर्वोत्तम उपयोग करो, क्योकि सुख और दु.ख पहिए के चलने के समान ही नियत रूप से आते जाते रहते हैं (१ १८४)।

वृत्ति के लिये अधिक उत्कठा से प्रयत्न न करो, विधाता तुम्हे वृत्ति प्रदान करेगा। ज्यो ही बालक का जन्म होता है त्यो ही माँ के स्तन से दूध की धारा फूट पडती है (१.१९०)।

जिसके हाथो ने हंसो को श्वेत रंग से, शुको को हरे, तथा मयूरों को

विविध रगों से रंगा है, वही जीवन-वृत्ति भी प्रदान करेगा[1] (१.१९१)।

उस धन से वास्तविक सुख कैसे मिल सकता है जिसकी प्राप्ति के लिये कष्ट उठाना पड़ता है, जिसका नाश होने पर सन्ताप होता है और आधिक्य होने पर बुद्धिनाश हो जाता है (१.१९२) ?

एक ऐसा मित्र जिसका दर्शन नेत्रो के लिए शीतल लेप होता है—जो हृदय का आनन्द होता है—सुख-दुःख मे हाथ बँटाता है—विरला ही मिलता है। किन्तु दूसरे मित्रता दिखानेवाले व्यक्ति, जो सुख मे तो साथ रहते हैं, बहुत मिलते हैं। विपत्ति ही मित्रता की सच्ची कसौटी है (१.२२६)।

जो ध्रुव वस्तुओ को छोडकर अध्रुव वस्तुओ के पीछे दौड़ता है वह उन ध्रुव वस्तुओ को भी खो बैठता है (१.२२७)।

एक-एक कर गिरनेवाली जल की बूँदो से घट भर जाता है। इसी प्रकार धन, ज्ञान और पुण्य भी एक-एक कर बढते जाते हैं (२.१०)।

वही व्यक्ति चतुर है जो अवसर के अनुकूल बोलना जानता है, जो प्रत्येक मनुष्य की योग्यता के अनुसार उपकार करता है, और शक्ति के अनुसार ही क्रोध करता है (२.४८)।

क्या कोई वस्तु प्रकृत्या सुन्दर या असुन्दर है ? जो वस्तु जिस व्यक्ति को अच्छी लगती है उस व्यक्ति के लिये वही वस्तु सुन्दर होती है (२.५०)।

असफलता के भय से कार्य प्रारम्भ करने से पराङ्मुख होना कायरता का चिह्न है। क्या कोई व्यक्ति अजीर्ण के भय से भोजन का परित्याग करता है (२ ५४) ?

यदि मुकुटो के अलकरण के लिये काँच लगाया जाय और चरणो के अलंकरण के लिये रत्नो का उपयोग किया जाय तो इसमें दोष रत्न का नही वरन् अलंकृत करनेवाले व्यक्ति की अज्ञानता का ही है[2] (२.७२)।

---

[1] 'तुलना' सेण्ट मैथ्यू ६ २६।

[2] Is such a thing as an emerald made worse than it was, if it is not praised ?' (क्या कभी हीरा जैसी वस्तु की प्रशंसा न करने पर उसका मूल्य पहले से घट जाता है ?)—मार्कस ऑरेलियस—फर्रार का 'सीकर्स आफ्टर गाड' पृ० ३०६।

मनुष्य विपत्ति की कसौटी पर ही कसकर अपने स्वजनों, पत्नी, सेवको और अपने मन एवं चरित्र की परीक्षा ले सकता है (२.७९)।

प्रारम्भ में ही आवेश मे आकर अत्युत्साह का प्रदर्शन सभी सफलताओं के मार्ग मे बाधक होता है। जल चाहे कितना भी शीतल क्यों न हो, धीरे-धीरे पृथ्वी मे प्रवेश कर जाता है (३.४८)।

यदि एक शत्रु भी दया दिखाता है तो उसे स्वजन के समान आदर देना चाहिए और यदि एक स्वजन भी हानि पहुँचाता है तो उसे शत्रु समझना चाहिए। शरीर में बढता हुआ रोग भी कष्ट ही देता है, किन्तु दूर किसी वन से लाई गई ओषधि भी मित्रवत् कल्याण ही करती है (३.१०१)।

पृथ्वी के राजा लोग अपनी सेनाओ और साम्राज्य के वैभव सहित कहाँ चले गये ? इन सबके प्रयाण का अवलोकन करनेवाली पृथ्वी अब भी स्थित है (४.६८)।

जिस प्रकार एक पथिक किसी वृक्ष की छाया में पहुँचकर थोडी देर विश्राम करता है और फिर उससे सदैव के लिये विदा हो जाता है उसी प्रकार मनुष्य मित्रो से मिलता और फिर उनसे हमेशा के लिये वियुक्त हो जाता है।[१] (४.७३)।

तुम स्वयं ही एक नदी के तुल्य हो, जिसकी पवित्रधारा आत्मसंयम है, सत्य जिसका जल है, सद्गुण जिसका तट है, और प्रेम जिसकी लहरे है। इसमें डूबकी लगाओ, केवल जल से अन्तरात्मा कभी शुद्ध नही हो सकता (४.९०)।

---

[१] इस ग्रन्थ के पृ० ४३०, १.११ से तुलना कीजिए।

इन पृष्ठो को पढ़ते समय शिक्षित पाठक को योरोपीय लेखको की रचनाओं के समानान्तर अंश अनायास ही ध्यान में आ जायँगे। मैंने जानबूझकर स्पष्ट तुलनाओं से अपने विवरणो को नही लादा है।

शब्दानुक्रमणिका